मुगलकालीन भारत

डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

1526 से 1803 ई. तक

नवम संस्करण

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं. प्राइवेट लि.

आगरा

मुगलकालीन भारत

[१५२६ से १८०३ ई० तक]

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव
एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्. (लखनऊ), डी. लिट्. (आगरा)
सर जदुनाथ सरकार स्वर्ण-पदक विजेता

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी
पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता : आगरा-3

प्रकाशक

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी

अस्पताल मार्ग, आगरा–3

शाखाएं

चौड़ा रास्ता, जयपुर, [redacted] इन्दौर

मूल्य : २२ रुपये २५ पैसे

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये गये
रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित

मुद्रक : राजीव ऑफसेट प्रेस, आगरा

नवम् संस्करण की भूमिका

अत्यन्त हर्ष की बात है कि 'मुगलकालीन भारत' ने अपनी लोकप्रियता को पिछले लगभग अठारह वर्षों से कायम रखा है और अष्टम् संस्करण के प्रकाशित होने के कुछ समय बाद ही इसका नवम् संस्करण प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत संस्करण वास्तव मे अष्टम् संस्करण का पुनर्मुद्रण है किन्तु पिछले संस्करण की मुद्रण-त्रुटियो को पूर्णरूपेण सुधारने का प्रयत्न किया गया है। सदैव की भाँति लेखक आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने वालों के प्रति उनके सुधार के लिए दिये गये सुझावों के लिए आभारी रहेगा।

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

यह पुस्तक लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'दिल्ली सल्तनत' (The Sultanate of Delhi) की ही परम्परा में है और अनेक विद्यार्थियों तथा अध्यापक बन्धुओं के आग्रह पर लिखी गयी है। इसका संयोजन भी 'दिल्ली सल्तनत' के ढंग पर किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक फारसी, मराठी, अँग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं मे उपलब्ध मूल सामग्री के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त लिखी गयी है, यह इसकी मुख्य विशेषता है। आशा है यह बी० ए०, एम० ए० तथा प्रादेशिक और संघीय प्रतियोगिता परीक्षाओं के लिए तैयारी करने वाले विद्यार्थियो की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी।

हमारे देश के इतिहास का पूर्व मध्ययुग जिसे सल्तनत-युग कहते है, विदेशी सत्ता का इतिहास है। इसके विपरीत मुगल काल भारतीय राष्ट्रवाद तथा इस्लामी प्रभुत्व को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करने वाले प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के बीच संघर्ष का युग है। दयनीय बात यह है कि मध्य एशिया से आने वाली मुगल तथा अन्य जातियों और उसके साथ आयी संस्थाओं के भारतीयकरण की जो प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी, उसका प्रवाह शाहजहाँ के शासनकाल में अवरुद्ध हो गया और औरंगजेब के समय में तो उसका पूर्णरूप से दमन कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सल्तनत-युग की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ पुनः सक्रिय होने लगीं और उन्होंने राष्ट्रवादी तत्त्वों को अभिभूत कर दिया। यदि औरंगजेब इतिहास के रंगमंच पर न आया होता, और उसने भारत को दार-उर-इस्लाम में परिवर्तन करने का प्रयत्न न किया होता तो भारतीय इतिहास किस दिशा में प्रवाहित होता, इस प्रकार की कल्पना करना निरर्थक है। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों ने भी आचरण तथा शासन-व्यवस्था मे उसी के मार्ग का अनुसरण किया और अन्त में वे अपने मन्त्रियो अथवा पेशवा के प्रतिनिधियों के हाथ की कठपुतली बन गये और कुछ हद तक अपनी कट्टरता त्यागने पर बाध्य हुए। आदर्शों के उपरोक्त संघर्षों के बावजूद हमारे देश के इतिहास में प्रथम बार मुगल युग में हिन्दू तथा मुसलमान जनता के लिए जीवन के सभी क्षेत्रों में परस्पर सहयोग करना, एक सुदृढ़ साम्राज्य की नींव डालना तथा सार्वजनिक साहित्य, स्थापत्य, संगीत, चित्रकारी तथा अन्य ललित-कलाओं का विकास करना सम्भव हो सका। भारतवासियों ने प्रशासन, वैदेशिक नीति, साहित्य, कला आदि के विभिन्न मानवीय क्षेत्रों में जो सफलताएँ प्राप्त कीं, प्रस्तुत पुस्तक मे उनका क्रमबद्ध वृत्तान्त देने का

प्रयत्न किया गया है। मराठा-साम्राज्य के उत्थान तथा मुगल-साम्राज्य के पतन पर भी प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत पुस्तक अँग्रेजी का अनुवाद नहीं वरन् यह हिन्दी ही में लिखी गयी है। मेरे पुत्र दयाभानु ने परिश्रम से इसके प्रूफ देखे हैं.

आगरा कॉलिज, आगरा
६ नवम्बर, १९५३ ई०

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

विषय-सूची

अध्याय १.

१५२६ ई० में भारतवर्ष की दशा

राजनीतिक अवस्था

दिल्ली का राज्य

सोलहवीं शताब्दी के प्रथम ढाई दशकों मे हमारे देश की राजनीतिक अवस्था ग्यारहवीं शताब्दी के उन आरम्भिक वर्षों की अवस्था से मिलती-जुलती थी जब भारतवर्ष का विशाल देश आपस में झगड़ने वाले छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। इन दो काल विशेषों की अवस्था में ध्यान देने योग्य एक प्रमुख अन्तर यह था कि ग्यारहवीं शताब्दी मे तो देश पर स्वदेशी शासकों का शासन रहा किन्तु सोलहवीं शताब्दी में देश में बहुत-से विदेशी शासकों का भी शासन हो गया। दिल्ली की सल्तनत, जिसका ह्रास मुहम्मद बिन तुगलक के राज्यकाल से ही आरम्भ हो गया था, अब सारे देश पर प्रभुत्व और प्रभाव जमाये रखने योग्य नहीं रही थी। इब्राहीम लोदी १५१७ ई० में दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। इसका राज्य-विस्तार दिल्ली, आगरा, दोआब, जौनपुर तथा बिहार के कुछ भाग तक था जो बयाना और चन्देरी के आगे नहीं बढ़ सका। इब्राहीम लोदी मूर्ख और हठी राजा था। वह अपने अफगान सामन्तों के चरित्र और स्वभाव को भी न समझ सका था। राज के दैवी अधिकार के सिद्धान्त में विश्वास रखने के कारण उसने अपने दरबार में कठोर राजकीय अनुशासन और रीति-नीति स्थापित करने की चेष्टा की। उन स्वाभिमानी अफगान सरदारों को, जो उसके बाप और दादा के साथ समान भाव से शाही कालीनों पर बैठते आये थे, उसके दरबार में अत्यन्त साधारण एवं क्षुद्र स्थिति में हाथ बाँधे खड़ा रहना पड़ता था। सुल्तान ने यह घोषित कर दिया था कि राजा का कोई सम्बन्धी नही होता और उसके जितने साथी सरदार हैं वे सब उसके मातहत और नौकर है। जब उक्त अफगान सरदार अपने पुश्तैनी अधिकार की बात को लेकर सिर उठाते, तो उन्हें कठोर दण्ड देकर दबा दिया जाता था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ऊँचे रुतबे के बहुत-से लोदी, लोहानी, फरमुली और नियाजी अफगान सरदारों ने सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया; लेकिन यह विद्रोह फौज की सहायता से कुचल दिया गया। इसमें चारों ओर आतंक और अव्यवस्था का वातावरण छा गया। सुल्तान के चाचा आलमखाँ लोदी ने दिल्ली के तख्त पर अपना अधिकार जताया और कुछ असन्तुष्ट विद्रोही सरदारों

का उसे सहयोग-समर्थन भी प्राप्त हुआ। दौलतखाँ लोदी ने, जो पंजाब का सूबेदार था, सुल्तान की शक्ति और अधिकार की अवज्ञा करते हुए अपने को बिना ताज का बादशाह बना लिया। बिहार के बहुत-से सरदार दरियाखाँ लोहानी के झण्डे के नीचे आ गये और उसकी मृत्यु के बाद उसके बेटे बहारखाँ (बहादुरखाँ) ने तो अपने स्वाधीन शासक होने की घोषणा भी कर दी। जौनपुर में भी नासिरखाँ लोहानी और मारूफ फरमूली के नेतृत्व में अफगानों ने विद्रोह खड़ा कर दिया। इस प्रकार लोदी राज्य विद्रोह और अशान्ति की आग से बुरी तरह क्षुब्ध हो उठा और सुल्तान की मान-प्रतिष्ठा भी बहुत कुछ कम हो गयी।

बंगाल

फीरोज तुगलक (१३५१-१३८८ ई०) के समय से बंगाल हुसैनी राजवंश के नीचे एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था। इस राजवंश का पहला राजा अलाउद्दीन हुसैन (१४९३-१५१९ ई०) अत्यन्त सुयोग्य शासक था। उसने अपने राज्य की सीमाएँ उड़ीसा तक बढ़ा लीं और आसाम की सीमा पर स्थित कूच-बिहार के कामतपुर को अपने कब्जे में कर लिया। जौनपुर के हुसैनशाह शर्की को शरण देने के कारण दिल्ली के सिकन्दर लोदी के साथ उसका संघर्ष हो गया; लेकिन शीघ्र ही उसे उससे सन्धि करनी पड़ी और बिहार की पूर्वी सीमा तक दिल्ली राज्य का विस्तार मानने की स्वीकृति दे दी। उसका लड़का नुसरतशाह बाबर का समसामयिक था, उसके साथ भी उसे सन्धि करनी पड़ी थी। नुसरतशाह योग्य शासक था। बँगला साहित्य से उसे विशेष अनुराग था। उसकी आज्ञा से महाभारत का बँगला भाषा में अनुवाद किया गया। प्रान्त सुख और समृद्धि से परिपूर्ण था और जनता सन्तुष्ट कही जा सकती थी।

मालवा

मध्यभारत में तीन प्रमुख राज्य अपनी-अपनी प्रभुता के लिए आपस में झगड़ रहे थे। ये राज्य थे—मालवा, गुजरात और मेवाड़। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में मेवाड़ ने अपनी स्थिति और प्रभाव काफी बढ़ा लिया था, लेकिन मालवा की स्थिति कुछ बिगड़ गयी थी और अब इसकी गणना द्वितीय श्रेणी के राज्यों में की जाती थी। मालवा का राज्य अब दिलावरखाँ गोरी की अध्यक्षता में स्वतन्त्र हो गया था। १४३५ ई० में गोरी के वजीर महमूदखाँ ने राजसिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया और खलजी-राजवंश की नींव डाली। महमूद खलजी एक योग्य और उत्साही शासक था। बाबर का समसामयिक महमूद द्वितीय मालवा का शासक था, लेकिन वह अयोग्य था। इसके राज्यकाल में मालवा पर एक वीर राजपूत सरदार मेदिनीराय का अत्यधिक प्रभाव हो गया और उसे मन्त्रिपद सौंप दिया गया। राज्य में विश्वास और उत्तरदायित्वपूर्ण

अनेक प्रमुख पदों पर उसने अपने साथी-संगियों को ला बिठाया। मेदिनीराय के इस पक्षपातपूर्ण व्यवहार से वहाँ के मुसलमान सरदार भड़क उठे और उन्होंने गुजरात के सुल्तान की सहायता से उसे पराजित कर निकाल बाहर करने का प्रयत्न किया। उधर मेदिनीराय ने भी मेवाड़ के राणा सांगा की सहायता ली। राणा ने महमूद द्वितीय को परास्त कर बन्दी बनाया और चित्तौड़ ले गया, लेकिन राजपूती शान और उदरता के अनुकूल ही वहाँ जाकर उसने अपने राजबन्दी को मुक्त कर दिया और ससम्मान उसका राज्य उसे वापस कर दिया। लेकिन यह उदारता भी मालवा की रक्षा नहीं कर सकी। राज्य के अन्दर अन्तर्विग्रह की आग भड़कती ही रही।

गुजरात

गुजरात प्रान्त ने दिल्ली से अपना सम्बन्ध उस समय विच्छेद कर लिया था जब १४०१ ई० में जफरखाँ, जो मुसलमान धर्म में दीक्षित हुए एक राजपूत बाप का बेटा था, अपने को स्वतन्त्र घोषित कर मुजफ्फरशाह के नाम से तख्त पर बैठा। इस राजवंश का सबसे अधिक योग्य राजा महमूद बेगरा (१४५८-१५११ ई०) था। बाबर के आक्रमण के समय गुजरात का शासक मुजफ्फरशाह द्वितीय था, जो १५११ ई० में महमूद बेगरा का उत्तराधिकारी बना था। अपने शासनकाल में अपने अनेक वैरियों से उसे मोर्चा लेना पड़ा। मेवाड़ के राणा सांगा के साथ भी उसका संघर्ष हुआ और उसे पराजित होना पड़ा। अप्रेल १५१६ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी और उसके बाद कुछ समय तक अशान्ति छायी रही, जिससे गुजरात की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो गयी। जुलाई १५२६ ई० में उसका लड़का बहादुरशाह राजा बना और आगे चलकर यह एक महत्त्वाकांक्षी, सुयोग्य और सफल शासक सिद्ध हुआ।

मेवाड़ (चित्तौड़)

मेवाड़ जिसकी राजधानी चित्तौड़ थी, राजस्थान में विस्तृत और परम शक्तिशाली राज्य था। इस राजघराने के लोग अपने को गुहिलवंशी मानते थे और छठवीं शताब्दी से ही उन्होंने चितौड और इसके समीपवर्ती क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित करना शुरू कर दिया था। इस राजवंश मे बहुत-से श्रेष्ठ और सुयोग्य शासक हुए, जिनमें राणा कुम्भकर्ण (कुम्भा) (१४३३-१४६८ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अपने राज्य की सुरक्षा के निमित्त उसने अनेक किलों का निर्माण कराया और अपनी राजधानी में बहुत-सी शानदार इमारतें बनवाकर इसकी शोभा भी बढ़ायी। उसने मालवा के सुल्तान को पराजित किया और सारे मध्य-भारत में अपना प्रभुत्व जमा लिया। बाबर के आक्रमण के समय चित्तौड़ के सिंहासन पर राणा संग्रामसिंह, जो राणा सांगा के नाम से विख्यात है, विराजमान था। वह एक रण-कुशल और वीर योद्धा था। सौ युद्धों में भाग लेने के फलस्वरूप

नींव डाली थी और स्वयं त्यागपत्र देकर १३९९ ई० में स्वर्गवासी हुआ था। आरम्भ से ही गुजरात का सुल्तान खानदेश पर अपनी सत्ता जमाने के प्रयत्न में था। फलतः ये दोनों राज्य सदैव आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। १५०८ ई० में दाऊद की मृत्यु के बाद खानदेश के सिंहासन के लिए दो विरोधी उत्तराधिकारियों में विग्रह आरम्भ हो गया, जिसके कारण सारे राज्य में घोर अव्यवस्था छा गयी। इन दो उत्तराधिकारियों में एक का समर्थन अहमदनगर कर रहा था और दूसरे का गुजरात। अन्त में गुजरात का सुल्तान महमूद बेगरा अपने उम्मीदवार आदिलखाँ तृतीय को खानदेश के सिंहासन पर बैठाने में सफल हुआ। आदिलखाँ २५ अगस्त, १५२० ई० को मर गया और उसका बेटा महमूद प्रथम उसका उत्तराधिकारी हुआ। दिल्ली से दूर होने तथा इसकी आन्तरिक स्थिति भी ठीक न होने के कारण इस युग की राजनीति में खानदेश का कोई महत्त्वपूर्ण भाग नहीं रहा।

दक्षिण का राज्य

मुहम्मद बिन तुगलक के अत्याचारपूर्ण शासन के विरोधस्वरूप १३४७ ई० में दक्षिण के प्रसिद्ध बहमनी राज्य की स्थापना हुई। इसका विस्तार उत्तर में बरार से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक था। अनेक सुयोग्य शासकों ने बहमनी राज्य पर शासन किया और ये सब दक्षिण में बसे विजयनगर के हिन्दू राज्य से बराबर लड़ते-झगड़ते रहे। १४८१ ई० में महमूद गावाँ नामक सुयोग्य मन्त्री की हत्या के बाद बहमनी राज्य की शक्ति क्षीण होनी आरम्भ हो गयी और इस राज्य के भग्नावशेष पर पाँच स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई। ये राज्य थे—बरार (१४८४-१५२७ ई०); अहमदनगर (१४८९-१६३३ ई०), बीजापुर (१४८९-१६८६ ई०), गोलकुण्डा (१५१२-१६८७ ई०) और बीदर (१५२६-१५९० ई०)।

विजयनगर

विजयनगर का राज्य देश के प्रमुख हिन्दू राज्यों में से एक था। बाबर के समय यहाँ का राजा कृष्णदेवराय था। विजयनगर के जितने राजा हुए, उन सबसे यही महान था और इस युग के सर्वश्रेष्ठ शासकों में इसकी गणना की जाती थी। रण-कुशल वीर योद्धा होने के साथ-साथ उसने अपने विरोधियों को पराजित कर अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया। वह साहित्य और कला का सुसंस्कृत संरक्षक भी था। उत्तरी भारत पर बाबर के आक्रमण के समय विजयनगर का राज्य राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से श्रेष्ठ और सम्पन्न था। विदेशी यात्री और राजदूत यहाँ के धनधान्य और अपार ऐश्वर्य को देखकर चकित रह जाते थे। यद्यपि उत्तरी भारत की राजनीति में विजयनगर का कोई विशेष हाथ नहीं रहा, तथापि दक्षिण की ओर मुसलमान आक्रमणकारियों को बढ़ने से रोकने में इसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इसी कारण यह दक्षिण भारत के प्राचीन धर्म और संस्कृति की रक्षा करता रहा।

उपर्युक्त राज्य महत्त्वाकांक्षी होने के कारण अपनी-अपनी सत्ता और श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए पूर्णरूप से प्रयत्नशील थे और इसी उद्देश्य से वे आपस में बराबर लड़ते-झगड़ते रहे। राणा सांगा के नेतृत्व में राजपूतों की वीरता ने न केवल आन्तरिक रूप से छिन्न-भिन्न दिल्ली सल्तनत के सीमा-विस्तार को रोकने में सफलता प्राप्त की, बल्कि दिल्ली के ऊपर राजपूत राज्य स्थापित करने की इनकी आकांक्षा ने दिल्ली सल्तनत का अस्तित्व ही खतरे में डाल दिया। मेवाड़ के सिसोदियों द्वारा सुल्तान इब्राहीम को इस बुरी तरह पराजित होना पड़ा था कि अपने विजय-अभियान पर आगे बढ़ने के तमाम आयोजन उसे त्याग देने पड़े। मध्यभारत में मालवा और गुजरात के दोनो मुसलमान राज्यों को चित्तौड़ के राणा द्वारा बहुत हानि उठानी पड़ी थी। पूर्व में बंगाल के मुसलमानी राज्य को आसाम और उड़ीसा के हिन्दू राजाओं ने आगे बढने से रोक दिया था और दक्षिण के विजयनगर राज्य ने बहमनी राज्य और उसके बाद स्थापित बरार, बीजापुर आदि उत्तराधिकारी राज्यों को दक्षिण की ओर बढ़ने से सफलतापूर्वक रोक दिया था। इस प्रकार भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में तुर्क-अफगान तथा अन्य देशी मुसलमान शासकों की इस तरह नाकेबन्दी की गयी थी कि उन्हें अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए ही लड़ना पड़ रहा था।

सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था

सामाजिक दृष्टि से इस समय हमारा देश सक्रान्तिकाल में होकर गुजर रहा था। तुर्क-अफगान शासक और उनके अनेक देशी मुसलमान अनुयायियों ने दीर्घकाल से भारतीय लोगों के साथ और भारतीय वातावरण में रहते चले आने के कारण धीरे-धीरे विदेशी रीति-नीति और आचार-व्यवहारों को त्यागकर भारतीयता का बाना पहनना आरम्भ कर दिया था। इस्लाम धर्म में दीक्षित हुए यहाँ के लोगों की संख्या भी बढ रही थी और इनके कारण भी मुसलमान समाज की संख्या का भी निरन्तर विकास हो रहा था। युद्ध और शान्ति के समय तथा शासन-सम्बन्धी राज-कार्यों में सहयोग देने के कारण यहाँ की जनता और शासक-वर्ग के लोगों मे एक-दूसरे को समझने और परस्पर निकट आने का भाव उदय हो रहा था। फीरोज तुगलक की मृत्यु के समय से सिकन्दर लोदी को छोड़कर दिल्ली में ऐसा कोई भी शासक नहीं हुआ जो हिन्दू-मुसलमानों को इस तरह एक-दूसरे के समीप आने से रोक सकता। दिल्ली को छोड़कर अन्य प्रान्तीय राज्यों में इस प्रकार से भाई-चारे का अधिक विकास हो रहा था। विशेष रूप से काश्मीर और बंगाल मे तो यहाँ के सुसंस्कृत सुल्तान धार्मिक सहिष्णुता और संस्कृत तथा अन्य आधुनिक भाषाओं के संरक्षण की नीति बरत रहे थे। काश्मीर के सुल्तान जैनुल आबदीन (१४२०-१४७० ई०) ने न केवल अनेक निर्वासिल ब्राह्मण परिवारों को ही वापस बुलाया, बल्कि उसनें बहुत-से विद्वान पण्डितों को अपनी राजसभा में उचित स्थान भी दिया, उन्हें धर्म सम्बन्धी पूरी

स्वतन्त्रता दे दी और उनसे जजिया कर भी लेना बन्द कर दिया। उसने अपने राज्य में गौ हत्या बन्द करवा दी और अपने दरबार में संस्कृत और हिन्दी के कुछ विद्वानों को भी स्थान दिया। इस सुयोग्य शासक के राज्यकाल में, जिसे 'काश्मीर का अकबर' के नाम से ठीक ही पुकारा जाता है, लोग प्रसन्न और सन्तुष्ट थे और समानता के जीवन का सुख ले रहे थे। इसी तरह बंगाल में भी वहाँ का शासक अलाउद्दीन हुसैनशाह (१४९३-१५१८ ई०) अत्यन्त लोकप्रिय शासक हुआ है, उसने भी हिन्दू-मुसलमान के भेदभाव को आश्रय नहीं दिया। उसका लड़का नासिरुद्दीन नुसरतशाह (१५१८-१५३३ ई०) बँगला साहित्य का बड़ा संरक्षक था और हिन्दू विद्वानों पर वह सदैव अनुकम्पा करता रहा। दूसरे प्रान्तों की अवस्था में भी कोई अधिक अन्तर नहीं था। हाँ, यद्यपि कभी-कभी कोई कट्टर धर्मान्ध मुसलमान शासक पूर्वकाल के दिल्ली सुलतानों का अनुकरण कर धार्मिक भेदभाव और अत्याचारों की नीति भी बरतता था लेकिन इस प्रकार की धार्मिक कट्टरता भी कम होती दिखायी दे रही थी। इसका कारण यह था कि देश के अन्य भागों में हिन्दू राजाओं की शक्ति, सामर्थ्य और प्रभाव तेजी से बढ़ रहा था और पूर्वकालीन तुर्क विजेताओं की भूली हुई कट्टर रीति-नीति और परम्पराओं को सोलहवीं शताब्दी के इस प्रथम चरण में पुनः व्यवहार में लाना खतरे से खाली नहीं था।

दिल्ली सल्तनत की गिरती हुई अवस्था और हिन्दू-मुसलमानों में बढ़ते हुए परस्पर प्रेम-भाव को ध्यान में रखकर सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से कुछ पूर्व हिन्दू धर्म, इस्लाम और उनके अनुयायियों के बीच की खाई को पाटने का एक स्तुत्य प्रयत्न किया गया था। भक्ति-धारा के बाद के सन्त-सुधारकों, जैसे कबीर (पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम ढाई दशक) और नानक (१४६९-१५३८ ई०) ने विशेष रूप से हिन्दू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता पर जोर दिया और लोगों को समझाया कि दोनों धर्म दो रास्ते हैं और अन्त में एक ही जगह ले जायेंगे। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोग उनके अनुयायी थे। इस ऐक्य आन्दोलन द्वारा ही हमारे इतिहास में पहली बार दो पृथक जातियों को परस्पर एक दूसरे के निकट लाने का गुरुतर कार्य आरम्भ हुआ। इस्लाम धर्म के अन्तर्गत सूफी सन्तों ने भक्ति-धारा के सन्तों के उद्देश्य के साथ एकमत हो उपदेश देना आरम्भ किया। बहुत-से हिन्दू मुसलमान सन्तों और फकीरों की सेवा-सत्कार करने लगे और बहुत-से मुसलमान हिन्दू साधु-सन्त और योगियों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने लगे।

सल्तनत के प्रारम्भिक दिनों में भी राजनीति और शासन में पृथकता का भाव अविचारणीय था। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ होने से कुछ समय पहले के दोनों जातियों के पारस्परिक सहयोग-भाव का परिचय उस काल के साहित्य द्वारा भी मिलता है। अन्य प्रान्तों में जिन लोगों ने मुसलमान धर्म अपना लिया था, उन्होंने वहाँ की भाषा को ही अपनी मातृभाषा माना। उत्तर और दक्षिण में तुर्क अफगान शासकों तथा जनता में बोलचाल और व्यवहार का माध्यम उर्दू भाषा हो

गयी। भक्ति, आन्दोलन द्वारा प्रान्तीय और स्थानीय भाषाओं, विशेषकर बंगला, हिन्दी, मराठी और मैथिल के विकास मे बहुत प्रोत्साहन मिला। इस युग में इन भाषाओ मे बहुत सी रचनाएँ लिखी गयी जिन्हें आजकल उच्चकोटि की कृति (क्लासिक) माना जाता है। जहाँ इन प्रान्तीय एवं स्थानीय भाषाओं का संरक्षण हुआ वहाँ इनकी जननी संस्कृत भाषा की भी उपेक्षा नहीं की गयी। कुछ सूबों के मुसलमान राजाओ के दरबारों में ऐसे कई विद्वान पदाधिकारी रहते थे जो संस्कृत में अपनी रचनाएँ लिखा करते थे। उदाहरणार्थ, बगाल के शासक हुसैनशाह के मन्त्री रूप गोस्वामी ने संस्कृत मे कई रचनाएँ लिखी जिनमे "विदग्ध माधव" और "ललित माधव" उल्लेखनीय है। स्थापत्य कला ने भी हिन्दू-मुसलमानों के सहयोग और संयुक्त प्रयत्नों से यथेष्ट उन्नति की। अन्य ललित-कलाओं में भी यही सहयोग-भावना विद्यमान है।

आर्थिक अवस्था

विदेशी आक्रमणकारियो और लुटेरो द्वारा देश की धन-सम्पत्ति अपहरण कर लेने और अपने देशो में ले जाने पर भी सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में हमारा देश धनधान्य से परिपूर्ण था। दिल्ली, आगरा और ग्वालियर को जीतते समय जो अपार धनराशि बाबर के हाथ लगी उसका ध्यान कर हम सचमुच आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि हमारे मध्ययुगीन पूर्व-पुरुषों में धन पैदा करने और उसके संचय की कैसी विलक्षण शक्ति और प्रवृत्ति थी। इस युग मे कृषि की अवस्था भी बड़ी अच्छी थी, यद्यपि बाबर ने यह लिखा है कि हिन्दुस्तान के गाँव थोड़े समय में ही आबाद और बरबाद हो जाते है। जब-जब कृषि की ओर उचित ध्यान और कृषकों को समुचित प्रोत्साहन दिया जाता था, खेतो-खलिहानो में फसलों का अपार वैभव नाचता हुआ दिखायी देता था। किन्तु किसी युद्ध अथवा राज्य-परिवर्तन के समय दूर-दूर तक विनाश और विध्वंस ही दिखायी देता था। साधारण समय में हमारे किसान ऐसी फसलें तैयार करते थे कि अपनी आवश्यकता-पूर्ति के बाद बचा हुआ अनाज विदेशों में भेज दिया जाता था। देश के अन्दर व्यापार-वाणिज्य खूब होता था। चीन, मलाया तथा प्रशान्त महासागर के अन्य देशो से समुद्र के द्वारा हमारा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। मध्य एशिया, अफगानिस्तान, ईरान, तिब्बत और भूटान देशों से भू-मार्ग से व्यापारी आते-जाते थे और बहुत अच्छा व्यापार चलता था। देश के बहुत-से भागो मे अनेक प्रकार के उद्योग जैसे सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े तैयार करना, शक्कर बनाना, अनेक प्रकार की धातुएं और कागज तैयार करना आदि पाये जाते थे। उच्चवर्ग और मध्यवर्ग के लोग सम्पन्न और विलास-प्रिय थे। निम्न श्रेणी के साधारणजन वैसे तो निर्धन थे लेकिन अनाज की कमी न होने और उनकी आवश्यकताएँ सीमित रहने के कारण उन्हें रोटी-कपड़े का कष्ट नहीं था। संक्षेप में, हमारा देश धन-सम्पदा से इस प्रकार भरपूर था कि यहाँ की उष्ण जलवायु और गर्मियों मे चलने वाली भयकर लुओ से परेशान बाबर

जैसे सुरुचि-सम्पन्न शासक ने भी अपनी डायरी में लिखा है कि हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी विशेषता यहाँ की सिक्कों के रूप में अथवा अन्य रूपों में संचित अपार स्वर्ण-राशि में है

सैन्य-स्थिति

धनधान्य से परिपूर्ण होने पर भी हमारे देश की सैन्य-शक्ति निर्बल थी। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भिक पच्चीस वर्षों में देश के अन्दर जो राजनीतिक अव्यवस्था फैली रही उसके परिणामस्वरूप सगठित रूप से देश-रक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं हो पाया। यद्यपि सैनिक-प्रतिभा की हमारे देश में कमी नहीं थी, तथापि दूसरे देशों की सैन्य-सम्बन्धी उन्नति और उनके रण कौशल के सामने हम पिछड़े हुए थे। ईरान और अफगानिस्तान ने गोला-बारूद की कला पश्चिमी देशों से सीख ली थी; लेकिन हमारे यहाँ उत्तरी भारत के किसी भी हिन्दू अथवा मुसलमान राजा ने इस ओर ध्यान नहीं दिया था। लोदी सुल्तानों के अन्तर्गत दिल्ली की फौज का संगठन एक सुसंगठित राष्ट्रीय सेना के रूप में न रहकर फिरकेवाराना ढंग से हुआ था। यह नियम-सा हो गया था कि फौज का सैनिक सुल्तान का आदेश मानने से पहले अपने ऊपर के नायक की बात सुनता और मानता था।

अध्याय २

बाबर (१४८३-१५३० ई०)

जन्म एवं बाल्यकाल (१४८३-६४ ई०)

जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर का जन्म १४ फरवरी, १४८३ ई० को फरगाना मे हुआ था। उसका पिता उमर शेख मिर्जा वहाँ का शासक था। बाबर मध्य एशिया के दो योद्धाओं, तुर्की वीर तैमूर और मंगोल नेता चंगेजखाँ का वंशज था। पितृ-पक्ष की ओर से वह तैमूर का पाँचवाँ वंशज था, और अपनी माता कुतलुगनिगार खानम की ओर से वह चंगेजखाँ का चौदहवाँ वंशज था। उसका कुटुम्ब तुर्की जाति के चतगाई विभाग के अन्तर्गत आता था, किन्तु आमतौर पर वह मुगल ही माना जाता था। उमर शेख मिर्जा असंतोषी व्यक्ति था। फरगाना के अल्प साधनों से वह सन्तुष्ट नहीं था। फरगाना मावरून नहर अथवा ट्रान्स-ऑक्सियाना क्षेत्र का उत्तरी भाग था, जो अब रूस के तुर्की प्रान्त का एक भाग है। अपने बड़े भाई अहमद मिर्जा से, जो समरकन्द और बुखारा का शासक था, उसकी नहीं बनती थी और वह उसके समृद्ध राज्य से ईर्ष्या करता था। अपने साले महमूदखाँ (ताशकन्द, सैरम और शहरूखिया का शासक) और अहमदखाँ (आशकन्द और येल्डुज के बीच के क्षेत्र का शासक) से भी उसकी नहीं बनती थी। जब तक उसके श्वसुर यूनुसखाँ मंगोल जीवित थे, विरोधियों को उसकी सीमा तक आने का साहस नहीं हुआ। इनके मरते ही (१४८६-८७ ई०) अहमद मिर्जा और महमूदखाँ ने फरगाना पर संयुक्त आक्रमण (१४६४ ई०) का आयोजन किया। अहमद मिर्जा ने राजधानी—नगर अन्दिजान—पर आक्रमण किया और महमूदखाँ फरगाना के उत्तर में स्थित अख्शी के पहाड़ी किले की ओर बढ़ा। राजधानी को अपने बड़े लड़के बाबर की देखरेख में छोड़कर उमर शेख अपने साले महमूदखाँ का सामना करने के लिए बढा। एक दिन जब उमर शेख अपने कबूतरों की उड़ान का मजा ले रहा था तो उसके ऊपर मकान गिर पड़ा और तुरन्त ही उसकी मृत्य हो गयी (८ जून, १४६४ ई०)। अपने पिता की अकाल और आकस्मिक मृत्यु के कारण बाबर ११ वर्ष और ४ माह की अल्प आयु में गद्दी पर बैठा।

बाबर ने अपने प्रारम्भिक दिनों का सदुपयोग किया था, क्योंकि बाद में विद्योपार्जन के लिए वह अधिक समय नहीं दे सका, और यह ठीक ही प्रतीत होता है कि अपनी मातृभाषा तुर्की एवं फारसी भाषा पर उसने छोटी अवस्था में ही पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। वह एक अकाल-प्रौढ़ बालक था और उसकी मानसिक शक्तियों का ऐसा सुन्दर विकास हुआ था कि वह राजनीतिक घटनाओं के महत्त्व को आसानी

से समझ लेता था और मानव-चरित्र को सरलता से परख लेता था। यह तथ्य उसके द्वारा लिखे हुए अपने पिता तथा उनके समय के उन प्रमुख व्यक्तियों के शब्द-चित्रों से, जिन्हें अन्तिम बार ग्यारह वर्ष की आयु मे उसने देखा था, स्पष्ट प्रकट होता है। उसने सैन्य-शिक्षा भी प्राप्त की होगी और साथ ही शासन-व्यवस्था और कूटनीति का अनुभव भी प्राप्त किया होगा।

फरगाना के राजा के रूप में (१४६४-१५०२ ई०)

जब बाबर ने ११ वर्ष की अल्प आयु में फरगाना का राज्यभार ग्रहण किया, उस समय दो शत्रु उसके देश पर दो विभिन्न दिशाओं से आक्रमण कर रहे थे। अपनी बुद्धिमती और अनुभवशील दादी ऐसान दौलत बेगम की सहायता से उसने शीघ्र ही अपना राज्याभिषेक कराया और अपने घर की ठीक तौर से व्यवस्था की। इसके उपरान्त उसने आक्रमणकारियों से अपने प्रदेश की रक्षा करने का कार्य हाथ में लिया। सर्वप्रथम उसने अपने चाचा अहमद मिर्जा को इस आशय का एक सन्देश भेजा कि फरगाना को जीतने के उपरान्त आप उसे किसी न किसी के अधीन करेंगे ही, फिर क्यों न इस कार्य को मेरे सुपुर्द कर दें और फिर मैं तो आपका निकट का ही एक रिश्तेदार हूँ, आपके अधीन रहने के लिए मैं सहर्ष तैयार हूँ। बाबर का यह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया और इसके परिणामस्वरूप युद्ध आरम्भ हो गया। किन्तु सौभाग्य से स्वयं अस्वस्थ होने के कारण और एक छोटी-सी नदी पार करते समय अपनी फौजों का ख्याल करके और साथ ही यह देखकर कि बाबर और उसके अनेक स्वामिभक्त अनुयायी डटकर मोर्चा लेने के लिए तैयार हैं, अहमद मिर्जा ने समरकन्द के लिए प्रत्याक्रमण करना ही उचित समझा। बाबर का मामा महमूदखाँ भी घेरे में पड़ी हुई सेनाओं के दृढ़ प्रतिरोध के कारण निरुत्साहित हो गया और अपने देश को वापस चला गया। फरगाना इस प्रकार आक्रमणकारियों से बच गया। बाबर ने अब अपनी स्थिति सुदृढ करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। अपनी सुन्दर शासन-व्यवस्था एवं आकर्षक व्यक्तित्व के कारण वह अपनी प्रजा में बहुत लोकप्रिय हो गया था।

समरकन्द पर दो बार अधिकार और उसका छिन जाना (१४९७-१५०२ ई०)

फरगाना का महत्त्वाकांक्षी युवक शासक बाबर तैमूर की राजधानी समरकन्द पर मोहित था। यह मस्जिदों, विद्यालयों, स्नानगृहों, भव्य मकानों एव मोहक उद्यानों से भरपूर एक बड़ा शहर था। यह तैमूर की राजधानी रह चुका था। बाबर के लिए तैमूर एक आदर्श व्यक्ति था। उसके दिल में अपने इस महान पूर्वज के राजसिंहासन पर बैठने की बड़ी कामना थी। सौभाग्यवश उसका चाचा अहमद मिर्जा जुलाई १४९४ ई० में मर गया और उसके बेटों के बीच गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। १४९६ ई० में उसने समरकन्द जीतने का प्रथम बार प्रयत्न किया, किन्तु वह विफल हुआ। दूसरे वर्ष उसने पुनः प्रयत्न किया और इस बार उसे सफलता प्राप्त हुई। वह तैमूर के राजसिंहासन पर विराजमान हुआ और इस प्रकार उसके जीवन की एक महान साध पूरी हुई। किन्तु लगभग १०० दिन बाद उसे समरकन्द त्यागना पड़ा। यहाँ वह बीमार पड़ गया

था और जब यह समाचार फरगाना पहुँचा तो वहाँ एक विद्रोह खड़ा हो गया। स्वस्थ होने पर बाबर ने विद्रोह को शान्त करने के लिए फरगाना की ओर प्रस्थान किया। किन्तु वहाँ पहुँचने के पहले ही अन्दिजान विद्रोहियों के हाथ में जा चुका था। यहाँ से जब बाबर समरकन्द लौटा तो उसे मालूम हुआ कि अब यह शहर भी उसके हाथ से निकल गया।

बाबर के पास अब खोजन्द नामक एक छोटे-से पहाड़ी प्रदेश के अतिरिक्त कोई राज्य नही रहा। उसके आदमी एक-एक करके खिसकने लगे, यहाँ तक कि उसके पास केवल दो सौ अनुयायी ही रह गये। अब वह एक गृह-विहीन खानाबदोश बन गया। उसने अपनी डायरी मे लिखा है, "मुझ पर बडी विपत्ति का समय आ गया था और मैं बिना रोये रह नहीं सका।" उसने समरकन्द को पुनः जीतने का प्रयत्न किया, किन्तु असफल रहा। अन्दिजान को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न भी व्यर्थ गया। दो वर्षों तक अनेक उलट-फेरों के पश्चात १४९८ ई० में उसने फरगाना पुन. हस्तगत कर लिया। संकट के दिनों में उसने आशा और उत्साह का त्याग नही किया था। परमात्मा के प्रति उसकी अविचल निष्ठा बनी रही और अपने भाग्य के प्रति उसका विश्वास कभी नही डिगा। किन्तु १५०० ई० में फरगाना उसके हाथ से निकल गया और उसे पुनः गृह-विहीन होकर पहाड़ियों के दुर्गम मार्गों में शरण लेते हुए घूमना पड़ा। १५००-०१ ई० में उसने समरकन्द की विजय के लिए उत्कट प्रयत्न किया। समरकन्द इस समय उजबेग सरदार शैबानीखाँ के आधिपत्य में था। बाबर ने शैबानीखाँ को पराजित कर दिया और समरकन्द पर पुनः अधिकार कर लिया। किन्तु इस बार भी वह इसे अधिक समय तक अपने अधिकार में न रख सका क्योंकि शैबानीखाँ को अपनी हार काँटों की तरह चुभ रही थी और वह समरकन्द पर फिर से कब्जा करने पर तुला बैठा था। उसने १५०२ ई० में बाबर को सराय पुल नामक स्थान पर हरा दिया और इस प्रकार आठ महीने में ही समरकन्द बाबर के हाथ से पुनः निकल गया। अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के ख्याल से उसने शैबानीखाँ के साथ अपनी बहन का विवाह कर दिया और तीसरी बार फिर बे-घरबार होकर घूमने-फिरने लगा। इसके बाद तीन वर्ष लुका-छिपी, अभाव और न कोई घर, परन्तु केवल मुट्ठी भर अनुयायी ही उसके साथ थे। कभी-कभी तो अपनी रोटी भी उसे गाँव के लोगों से माँगकर खानी पड़ती थी। ठण्डे मौसम मे नंगे पैरों उसे दुर्गम पहाड़ी मार्गों में होकर गुजरना पड़ता था जिससे उसे तथा उसके अनुयायियो को घोर कष्ट भोगने पड़ते थे। किन्तु जैसा उसने अपने आत्मचरित्र 'बाबरनामा' में लिखा है, उसने बड़ी-बड़ी विपत्तियों में भी उत्साहहीनता और निराशा को स्थान नही दिया। ऐसे समय में भी उसके क्रीड़ा-कौतुक नियमित रूप से चलते रहे।

काबुल का बादशाह (१५०४-१५२६ ई०)

१५०१ ई० में बाबर की पराजय के पश्चात उसके सबसे बड़े शत्रु शैबानीखाँ ने धीरे-धीरे समस्त ट्रान्स-ऑक्सियाना को अपने अधिकार में कर लिया। उसने कुन्दुज के गवर्नर खुसरोशाह को हराया और उसकी सेना भंग कर दी। खुसरोशाह की सेना

के बहुत-से दस्ते बाबर से आ मिले और अब वह चार हजार आदमियों का मुखिया हो गया। अब बाबर ने अपने आपको काबुल की ओर बढ़ने और उसे अपने अधिकार में करने के लिए काफी समर्थ पाया। काबुल पर इस समय मुकीम अरगों का अधिकार था जिसने बाबर के चाचा उलुग बेग मिर्जा के बेटे अब्दुर्रजाक को वहाँ से निकाल बाहर किया था। काबुल विजय का सुयोग १५०४ ई० मे आया। बाबर ने लिखा है, "दूसरी रबी (अक्टूबर १५०४ ई०) के अन्तिम १० दिन मे बिना किसी लड़ाई के, बिना किसी प्रयत्न के और सर्वशक्तिमान परमात्मा की असीम अनुकम्पा से मैंने काबुल और गजनी तथा इनके अन्तर्गत अन्य जिलों पर अधिकार कर लिया।" अगले वर्षों में उसने अपनी सेना बढ़ायी और इस नये राज्य में अपनी स्थिति दृढ करने का प्रयत्न करता रहा। १५०७ ई० में उसने अपने पूर्वजों द्वारा प्रयुक्त 'मिर्जा' की उपाधि त्याग कर 'बादशाह' अर्थात सम्राट की उपाधि धारण की। इसी वर्ष उसने कन्धार जीत लिया; किन्तु वह कुछ ही हफ्तों में फिर उसके हाथों से निकल गया। मार्च १५०८ ई० में उसकी तीसरी पत्नी माहिम के गर्भ से उसके सबसे बड़े पुत्र हुमायूँ का जन्म हुआ।

समरकन्द पर अधिकार और तीसरी बार उसका हाथ से निकल जाना (१५११ ई०)

यद्यपि अफगानिस्तान के नये राज्य में बाबर की शक्ति स्थापित हो चुकी थी किन्तु समरकन्द को पुनः प्राप्त करने की साध अभी तक उसके मन में बनी हुई थी। अपने प्रबल शत्रु शैबानीखाँ को, जिसने तैमूर राजघराने को ट्रान्स-ऑक्सियाना से निकाल बाहर किया था, पराजित करने के लिए वह बहुत उत्सुक था। १५०७ ई० में वह अपने चचेरे भाइयों से हिरात में, जो सुल्तान हुसैन मिर्जा बैकरा की राजधानी थी, इस उद्देश्य से मिलने गया कि शैबानीखाँ को पराजित करने में इन लोगों की सहायता प्राप्त हो जाय। किन्तु उसे वहाँ से निराश होकर लौटना पड़ा। १५१० ई० के अन्तिम दिनों में उसे शैबानीखाँ का ईरान के शाह इस्माईल सफवी से मर्व की लड़ाई में हारने तथा मारे जाने का समाचार प्राप्त हुआ। इस समाचार से बाबर के हृदय में अपने पूर्वजों के प्रदेश को हस्तगत करने की उत्कट लालसा पुनः जाग गयी और इसी उद्देश्य से वह कुन्दुज की ओर चल पड़ा। शाह इस्माइल से उसने सन्धि की और उसकी सहायता से समरकन्द पर विजय प्राप्त की और १५११ ई० में बुखारा और खुरासान अधिकार में कर लिये। उजबेग लोग यहाँ से तुर्किस्तान की ओर चले गये। अब बाबर के राज्य में ताशकन्द, कुन्दुज, हिसार, समरकन्द, बुखारा, फरगाना, काबुल और गजनी के प्रदेश सम्मिलित थे। किन्तु यह ऐश्वर्य अभी स्थायी नहीं बन सका। ईरान के शाह के चले जाने के पश्चात उजबेग सरदार ट्रान्स-ऑक्सियाना को पुनः प्राप्त करने के लिए लौट आये। मई १५१२ ई० में इनके नेता उबेदुल्लाखाँ के साथ कुल-ए-मलिक नामक स्थान पर बाबर की मुठभेड़ हुई और वह हार गया। उसे समरकन्द से हटना पड़ा और अन्त में समूचा ट्रान्स-ऑक्सियाना ही उसे त्यागना पड़ा। १५१३ ई० में वह काबुल लौट आया। समरकन्द से पराजित होकर हटने का मुख्य कारण ईरान के शाह की प्रेरणास्वरूप उसका शिया मत अपनाना था। ट्रान्स-ऑक्सियाना के निवासी

अधिकतर सुन्नी थे और उन्हें यह बात बिलकुल पसन्द नहीं थी। ईरान के शाह के साथ किये गये समझौते के अनुसार उसे अपने नये राज्य में शिया मत का प्रचार करना आवश्यक था। १५१२ ई० में समरकन्द से हटने पर पूर्वजों के राज्य की प्राप्ति के प्रयत्न भी समाप्त हो गये। समरकन्द को उसने तीन बार हस्तगत किया और यह तीनों बार उसके हाथ से निकल गया, अतः उसने इस पर राज्य करने का विचार त्याग दिया। मध्य एशिया में अब बदख्शा ही एकमात्र ऐसा प्रदेश था जो उसके अधिकार में था। इसे बाबर ने खान मिर्जा की देखरेख में छोड़ दिया। काबुल नरेश बाबर अब अपनी झगड़ालू अफगान प्रजा का दमन करने तथा उनसे राजस्व प्राप्त करने के लिए अपने वार्षिक अभियान पर निकल पड़ा।

हिन्दुस्तान में पदार्पण की तैयारी

कभी-कभी आत्मरक्षा हेतु, किन्तु अधिकतर विजय प्राप्त करने की भीषण युद्ध-योजनाओं के कार्यक्रम में संलग्न होकर ग्यारह वर्ष की अल्प आयु से ही बाबर को युद्धों में व्यस्त रहना पड़ा। उसे अपने विरोधियों से अनेक बार मोर्चा लेना पड़ा। ये विरोधी उसी की तरह तुर्क, मंगोल, उजबेग, ईरानी और अफगान थे। इनसे युद्ध करने में उसने उनके अनूठे युद्ध-कौशल और सैनिक चालों को चतुराई के साथ अपनाया। उजबेगों से उसने 'तुलुगमा' का प्रयोग सीखा। तुलुगमा सेना का वह भाग था, जो सेना के दाहिने और बायें भाग के किनारे पर खड़ा रहता था और चक्कर काटकर शत्रु पर पीछे से ध्वंसात्मक हमला करता था। मंगोल और अफगानों से उसने एक ओर तो सेना को छिपाकर रखने की चाल और दूसरी ओर प्रलोभन द्वारा शत्रु को पूर्व-योजनानुसार सेना-सामग्री से सम्पन्न भीषण व्यूह की ओर अग्रसर कर उस पर विभिन्न दिशाओं से आकस्मिक आक्रमण करने की नीतियाँ सीखीं। ईरानियों से उसने बन्दूकों का प्रयोग सीखा। अपने सजातीय तुर्कों से उसने गतिशील अश्वारोहिणी का सफल संचालन सीखा। इस प्रकार अनेक जातियों से सम्पर्क एवं सहयोग होने के परिणामस्वरूप बाबर ने अपनी युद्ध-कला को अति विकसित रूप प्रदान किया, जो वास्तव में अनेक युद्ध-प्रणालियों का वैज्ञानिक समन्वय था और साथ ही मध्य एशिया के निवासियों के लिए एक नयी चीज थी। यह युद्ध-प्रणाली सुनियन्त्रित, दक्ष और गतिशील अश्वारोहिणी सेना, वैज्ञानिक तोपचियों की सेना, चमत्कारपूर्ण चालों का प्रयोग जैसे तुलुगमा तथा सेना के अग्रभाग की रक्षा के लिए जंजीर से बँधी हुई गाड़ियों की कतार से सम्पन्न एक सफल समन्वय का स्वरूप प्रस्तुत करती थी।

इसके अतिरिक्त बाबर के दुर्दिनों ने उसे आरम्भ से ही सहिष्णुता, धीरता, संयम, साहस और मृत्यु से निडरता के महान गुणों का अभ्यास करा दिया था। इन विशेषताओं ने उसे मनुष्य जाति का ऐसा अनुभवी नेता बना दिया जो किसी भी विषम परिस्थिति में आशा और विश्वास का त्याग नहीं करता है। १५१४ और १५१९ ई० के बीच उसे उस्तादअली नामक एक तुर्क तोपची की सेवाएँ उपलब्ध हुईं जिसको उसने अपने तोपखाने का अध्यक्ष बनाया। इस व्यक्ति ने बाबर को तोपखाने के निर्माण और

बन्दूकचियो की सेना खड़ी करने में सहयोग दिया। विस्फोटक अस्त्रास्त्रों का प्रयोग ईरानियो ने कौस्टेंटिनोपल के तुर्कों से सीखा था और बाबर ने इस कला को ईरानियों से ग्रहण किया। कुछ वर्षों बाद उसे मुस्तफा नामक एक अन्य तुर्क तोप-विशेषज्ञ की सेवाएँ प्राप्त हो गयी। इन दोनो तोपचियो की देखरेख मे बाबर ने अपनी सेना के प्रयोग के लिए अनेक तोपें ढलवायी और बन्दूकें तैयार करा ली, और इस प्रकार वह एक शक्तिशाली तोपखाने का स्वामी बन गया। भारत मे सफलता प्राप्त करने का यही एक मुख्य कारण हुआ।

प्रारम्भिक अभियान—पानीपत के प्रथम युद्ध की परिस्थितियाँ : प्रथम आक्रमण

१५०३ ई० में अपने घुमक्कड़ जीवनकाल में जब वह दिखाकाट नामक ग्राम के मुखिया का अतिथि था तो मुखिया की १११ वर्षीय माता से उसने तैमूर के भारत आक्रमण की कथा सुनी। यह वृत्तान्त सुनकर उसकी कल्पना प्रज्ज्वलित हो उठी और अपने पूर्वज के भारत आक्रमण को किसी दिन दुहराने का उसने संकल्प कर लिया। लेकिन दक्षिण में अपने भाग्योदय की खोज के लिए उसने तभी निश्चय किया जब पश्चिमोत्तर प्रदेशों में उसकी आकांक्षा-लता अन्तिम रूप से मुरझा गयी। जब वह काबुल का राजा था उसने भारत-भूमि पर चार अभियान किये। ये अभियान शत्रु की स्थिति और शक्ति को समझने के उद्देश्य से ही किये गये थे। १५१९ ई० के प्रारम्भ में उसने भारत में प्रथम अभियान किया। यह यूसुफजई जाति के विरुद्ध किया गया था, जो बड़ी झगड़ालू थी और केवल तलवार के बल पर राजस्व देने को विवश की जा सकती थी। उन्हें उचित दण्ड देने के पश्चात बाबर बाजौर की ओर बढ़ा और उस पर भयंकर आक्रमण किया। इस विकट संघर्ष में उसके नये तोपखाने की सहायता बड़ी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। बाबर ने यहाँ कत्लेआम की भी आज्ञा दे दी ताकि आसपास की आबादी में एकदम भय छा जाय। बाजौर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया।

यहाँ से वह झेलम के तटवर्ती भेरा नामक स्थान की ओर बढ़ा और उसे भी अपने अधिकार में कर लिया। यहाँ की जनता ने भी बिना किसी प्रतिरोध के पराजय स्वीकार कर ली। खुशाब पर भी अधिकार हो गया। बाबर ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि यहाँ के निवासियों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचायी जाय। उसने पंजाब को अपना ही प्रदेश समझा क्योंकि १३९८ ई० में तैमूर ने इसे अधिकृत किया था। बाबर ने लिखा है, "क्योंकि हिन्दुस्तान पर अधिकार करने की भावना मेरे हृदय में सदा से थी और ये कुछ देश किसी समय तुर्कों के आधिपत्य में रह चुके थे, मैंने इन्हें अपना ही माना और अपने अधिकार में करने का ही संकल्प किया, यह चाहे शान्ति से हो या शक्ति के प्रयोग से।" इन्हीं कारणो से पहाड़ी लोगों के साथ सद्व्यवहार करना अनिवार्य था और उसने आज्ञा दी कि "इनके पशु-पक्षियों को भी हानि न पहुँचाओ; इनकी किसी वस्तु को नष्ट मत करो।" फिर उसने अपना राजदूत यह माँग प्रस्तुत करने के लिए दिल्ली भेजा कि "जो प्रदेश-प्राचीन समय में तुर्कों द्वारा अधिकृत थे, वे अब मुझे सौंप दिये जायँ।" किन्तु दौलतखाँ लोदी ने उसके राजदूत

को लाहौर में बन्दी बना लिया और बाबर को अपने सन्देश का उत्तर प्राप्त न हुआ। भेरा को हिन्दूबेग के उत्तरदायित्व में छोड़कर वह काबुल चला गया। यह अभियान स्थायी महत्त्व का सिद्ध न हो पाया, क्योंकि बाबर के वापस जाते ही जनता ने तुरन्त ही हिन्दूबेग के पैर उखाड़ दिये।

दूसरा आक्रमण

सितम्बर १५१९ ई० मे बाबर भारत की ओर पुन: उन्मुख हुआ। वह खैबर दर्रा से आगे बढ़ा, जिससे कि वह यूसुफजई अफगानो को अपने अधीन कर सके। फिर उसने पेशावर को किलेबन्दी और रसद-संग्रह से सम्पन्न बनाते हुए हमारे देश के विरुद्ध आगामी सैनिक कार्यवाहियों का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति किये बिना ही उसे काबुल लौटना पड़ा, क्योंकि बदख्शां से उपद्रवों की सूचनाएँ आयी थी।

तीसरा आक्रमण

१५२० ई० में बाबर ने भारत पर आक्रमण करने के लिए तीसरा अभियान किया तथा बाजौर तथा भेरा नगर को पुनः अधिकृत कर लिया, जहाँ से १५१९ ई० में उसके प्रतिनिधियों को उखाड़ दिया गया था। वह सियालकोट की ओर बढ़ा और उस नगर ने भी बिना प्रतिरोध के बाबर की अधीनता स्वीकार कर ली। लेकिन सैयदपुर की जनता ने स्वेच्छा से अधीन होना पसन्द नहीं किया, अतएव उन्हें बलपूर्वक पराधीन बनाया गया।

इसी बीच बाबर को कन्धार से उपद्रव होने की सूचनाएँ मिलीं, जहाँ उसकी अनुपस्थिति में शाहबेग अरगो संघर्ष तथा अशान्ति फैला रहा था। बाबर कन्धार की की ओर चल पड़ा, जिससे कि उस नगर को अपने अधिकार में लाकर वह उसकी ओर से निश्चिन्त हो जाय। आगामी दो वर्षों तक वह शाहबेग के विरुद्ध कार्यवाही करने में व्यस्त रहा और १५२२ ई० मे कन्धार के सूबेदार मौलाना अब्दुल बकी के छलपूर्ण सहयोग से उस दुर्ग को जीतने में सफलता प्राप्त की। शाहबेग अरगों, जिसने कन्धार को त्याग दिया था, सिन्ध का शासक बन बैठा।

चौथा अभियान

अब बाबर घर की कठिनाइयों से मुक्त हो गया और भारत पर आक्रमण करने के कार्यक्रम में उसने अपने को पीछे की ओर से सुरक्षित अनुभव किया, क्योंकि कन्धार का अभेद्य दुर्ग अब उसके अधिकार में था। इसी समय उसे पंजाब के गवर्नर दौलतखाँ लोदी का निमन्त्रण प्राप्त हुआ। दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी और दौलतखाँ में तनातनी हो गयी थी। अतः पंजाब का स्वतन्त्र शासक बनने की आशा से उसने बाबर को अपना सम्राट मानने का वायदा किया था। १५२४ ई० [illegible] ने यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और एक शक्तिशाली सेना लेकर लाहौर की ओर चल दिया लगभग इसी समय इब्राहीम लोदी ने दौलतखाँ लोदी को दबाने के लिए एक सेना भेज जिसमें उसने आशातीत सफलता प्राप्त की। दौलतखाँ लोदी पराजित हुआ और उसे

निर्वासित होना पडा। जब बाबर लाहौर के निकट पहुँच गया, तो दिल्ली की सेना ने आक्रमणकारी का मार्ग अवरुद्ध करने का यत्न किया। इस पर बाबर ने आक्रमण करके सेनाओं को छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके बाद उसने लाहौर अधिकृत किया और बहुत-से कस्बों को लूटा और जला दिया। तदुपरान्त वह दीपालपुर की ओर बढ़ा और उसका ध्वंस करते हुए तथा दुर्गरक्षकों को तलवार के घाट उतारते हुए दीपालपुर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार पंजाब का बहुत-सा भाग बाबर के अधिकार मे चला गया। दीपालपुर में दौलतखाँ ने उसका साथ दिया। वह अपने अज्ञातवास से यह आशा लेकर वा... आ गया था कि सम्पूर्ण पंजाब प्रान्त उसे पुनः प्राप्त हो जायगा। किन्तु बाबर ने पंजाब को अपने अधिकार में ही रखा और दौलतखाँ को जालन्धर तथा सुल्तानपुर के ... जिले सौंप दिये। दौलतखाँ को इससे निराशा हुई और उसने सैन्य-विभाजन के लिए बाबर को छलपूर्वक सलाह दी। उसके महत्त्वाकांक्षी पुत्र दिलावरखाँ ने अपने पिता की स्वार्थपूर्ण विद्रोहात्मक योजना का रहस्योद्घाटन बाबर के सामने कर दिया। परिणामस्वरूप बाबर ने सुल्तानपुर दिलावरखाँ को प्रदान कर दिया और जालन्धर दौलतखाँ के हाथों में बना रहने दिया। आलमखाँ इब्राहीम लोदी का एक चाचा था जो दिल्ली राजसिंहासन का उम्मीदवार था। वह अपने भतीजे सुल्तान इब्राहीम के विरुद्ध आयोजित युद्ध में बाबर की सहायता पाना चाहता था। इन व्यवस्थाओं से निश्चिन्त होकर बाबर दीपालपुर, लाहौर और सुल्तानपुर मे अपने दुर्गरक्षक छोड़कर काबुल चला गया। उसने अनुभव किया कि जिस हिन्दुस्तान पर उसका मन मुग्ध हो गया है, उस पर विजय प्राप्त करने के लिए अधिक शक्तिशाली सेना की आवश्यकता है।

जैसे ही बाबर ने पीठ ... ने अपने पुत्र दिलावरखाँ पर आक्रमण कर दिया और सुल्तानपुर हड़प लिया। बाद में दीपालपुर की ओर अग्रसर हुआ और आलमखाँ को मार भगाया। उसने पूरे पंजाब को पुनः अधिकृत करने का भी प्रयत्न किया, लेकिन सियालकोट में बाबर के दुर्गरक्षकों ने उसे हरा दिया। इब्राहीम लोदी इस समय तक निष्क्रिय नहीं बैठा था। उसने विद्रोही के दमन और आक्रमण-कारियों को पंजाब से मार भगाने के लिए एक सेना भेजी। दौलतखाँ ने इस सेना को बिना किसी कठिनाई के हरा दिया और उसे छिन्न-भिन्न कर दिया।

लोदी-राज्याधिकार के उम्मीदवार दौलतखाँ से पराजित होकर आलमखाँ काबुल भाग गया और वहाँ उसने बाबर से सन्धि की। बाबर ने दिल्ली के राज-सिंहासन के लिए आलमखाँ का अधिकार स्वीकार कर लिया और शर्त यह रख दी कि आलमखाँ सम्पूर्ण पंजाब को बाबर की सर्वोच्च सत्ता के अधीन छोड़ देगा। यह शर्त-नामा मुगल सम्राट के लाभ की ही वस्तु थी "क्योंकि उसके अनुसार जो कुछ भी उसने बलपूर्वक जीता था, उस पर उसका वैधानिक अधिकार रहेगा।" इस निश्चय के पश्चात बाबर ने आलमखाँ को लाहौर के लिए रवाना कर दिया और साथ ही अपने दुर्गरक्षकों को उसकी सहायता करने के लिए आदेश भी भेज दिया। बाबर स्वयं तुरन्त नहीं चल सकता था, क्योंकि बलख में उजबेग-विद्रोह उठ खड़ा हुआ था और सुरक्षा के लिए

उसका दमन करना अनिवार्य था। लाहौर आने पर आलमखाँ को फुसलाकर दौलतखाँ ने बाबर से की हुई सन्धि भंग करा दी और अपने लिए पंजाब का आत्मसमर्पण चाहा। इसके पश्चात वे इब्राहीम लोदी से निबटने के लिए दिल्ली की ओर बढ़ चले। सुल्तान् इब्राहीम इन्हें करारी हार देने मे सफल हुआ। जब इन घटनाओ की सूचना बाबर को प्राप्त हुई, तो उसने अन्तिम रूप से भारत पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया।

पानीपत का प्रथम युद्ध (२१ अप्रैल, १५२६ ई०)

उजबेगो की धमकी से छुटकारा पाकर बाबर नवम्बर १५२५ ई० में हमारे देश की ओर बढ़ा। बदख्शां से अपनी सेना लेकर मार्ग मे हुमायूँ भी उससे आ मिला। सियालकोट में उसने आलमखाँ से सन्धि-विच्छेद और दिल्ली आक्रमण में असफलता का समाचार सुना। दौलतखाँ और गाजीखाँ भय से काँप उठे और मिलवात के दुर्ग मे छिपकर बैठ गये। बाबर ने तुरन्त उस दुर्ग के चारों ओर घेरा डाल दिया और दौलतखाँ को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया। उसने दौलतखाँ को अपने सम्मुख उपस्थित किये जाने की आज्ञा दी। बाबर ने हुक्म दिया कि "जिन दो तलवारों को कमर में बाँधकर दौलतखाँ मुझसे लड़ने के लिए तैयार हुआ था उन तलवारों को गर्दन मे लटकाये हुए वह मेरे सामने उपस्थित हो!" जैसे ही दौलतखाँ ने बाबर के सम्मुख झुकने में विलम्ब किया, बाबर ने आज्ञा दी कि उसकी टाँगे खींच ली जायँ जिससे वह झुक जाय और अपने विद्रोही व्यवहार के लिए लज्जित हो। इसके पश्चात उसे भेरा नगर में बन्दी बनाकर भेज दिया गया, किन्तु वहाँ जाते हुए मार्ग में दौलतखाँ की मृत्यु हो गयी। लगभग इसी समय आलमखाँ बड़ी दयनीय दशा में बाबर की शरण में आया। बाबर ने एक बार फिर पंजाब को सुगमता से अधिकृत कर लिया।

अब दूसरा कदम इब्राहीम लोदी से संघर्ष करने का रह गया था। पंजाब की विजय की अपेक्षा यह कार्य अधिक कठिन था, अतः बाबर ने इसके निमित्त हर प्रकार की आवश्यक तैयारियाँ आरम्भ कर दीं और लोदी उम्मीदवार आलमखाँ के प्रति पूरा ध्यान दिया, क्योंकि उसकी उपस्थिति निश्चय ही बड़े राजनीतिक महत्त्व की थी। जैसे ही वह दिल्ली की ओर अग्रसर हुआ, उसे दिल्ली राजदरबार के अनेक सरदारों की ओर से सेना-सहायता के आश्वासन मिले। सम्भवतः इसी समय चित्तौड़ के राणा सांगा ने इब्राहीम पर सम्मिलित आक्रमण करने का प्रस्ताव भेजा। जब आक्रमणकारी की इच्छा स्पष्ट प्रतीत हो गयी, तो इब्राहीम ने एक विशाल सेना एकत्र की और वह पंजाब की ओर उससे युद्ध करने के लिए चल पड़ा। साथ ही दो प्रमुख दस्ते उसने हिसार की ओर भेज दिये। इनमें से एक को हुमायूँ ने मार भगाया। इसी प्रकार दूसरे दस्ते को मुगलों ने मार-पीटकर धकेल दिया। कुछ दूर और बढ़ने के पश्चात बाबर पानीपत पहुँच गया और वहाँ उसने अपना शिविर डाल दिया। बाबर ने अपने आत्मचरित्र 'बाबरनामा' में गर्व के साथ लिखा है कि उसने इब्राहीम लोदी को केवल १२ हजार सैनिकों की सहायता से पराजित किया। उसके प्रशंसक रशब्रुक विलियम्स ने एक कदम और आगे बढ़कर लिखते हुए कहा है कि पानीपत के युद्धक्षेत्र पर उसकी

सेना में आठ सहस्र सैनिकों से अधिक नहीं हो सकते, शायद उससे कम ही रहे हों। किन्तु दौलतखाँ पर विजय प्राप्त करने के बाद उसकी सेना में भारी अभिवृद्धि हो चली थी क्योंकि भारत के सहस्रों धनलोलुप योद्धा उसका साथ देने को पूर्ववत तैयार थे और अनेक प्रतिष्ठित सामन्तों ने पहले से ही उसके साथ सम्मान-लक्ष्य नियत कर लिया था, तो ऐसी स्थिति में उसकी पानीपत की सैन्य-शक्ति २५,००० से कम किसी भी दशा में न रही होगी। बाबर ने सात सौ गतिशील गाड़ियों (अराबा) की पंक्तियों को गीली खाल के रस्सों से आपस मे बाँधकर अपनी सेना की रक्षार्थ फौज के आगे खड़ा कर दिया था। गाड़ियो के बीच उसने काफी रास्ता छोड़ रखा था, जिसमें होकर उसके सैनिक आक्रमण कर सकें। उसने तोपों के प्रत्येक जोड़े के मध्य छह-सात गतिशील बचाव-स्थान (टूरा) खड़े कर रखे थे, जिससे तोपचियों को शरण प्राप्त हो सके। इस रक्षात्मक श्रेणी के पीछे ही तोपखाना व्यवस्थित था। उस्तादअली दाहिनी ओर था और मुस्तफा बायीं ओर। तोपखाने के पीछे उसके अग्रगामी रक्षकों (Advance Guard) का जमाव था, जिसकी कमान खुसरू कोकुल्ताश और मुहम्मदअली जंग के हाथों में थी। इसके पीछे सेना का केन्द्र-स्थल (गुल) था जहाँ बाबर स्वयं संचालक के रूप में उपस्थित था। यह केन्द्र दाहिना केन्द्र और बायाँ केन्द्र के नाम से दो खण्डों में विभाजित था। बाबर की सेना का दाहिना अंग कटे हुए पेड़ों तथा मिट्टी की दीवार और खाइयों से सुरक्षित किया गया था। सेना के दाहिनी अंग की कुछ दूरी पर तुलुगमा नियुक्त किया गया था और सेना के बायें अंग के बायीं तरफ कुछ दूर दूसरे तुलुगमा को स्थान दिया गया था। इस पंक्ति की दाहिनी ओर ठीक सिरे पर किलेबन्दी करने वाला दाहिना दल (दाहिना तलुगमा) अवस्थित था। इनके पीछे अब्दुल अजीज की अध्यक्षता में अनुभवी घुड़सवा... कोशल सेना थी। दाहिना सिरा हुमायूँ और ख्वाजा किलाँ के कमान में था और बायाँ सिरा मुहम्मद सुल्तान मिर्जा और मेंहदी ख्वाजा के कमान में।

बाबर के कथनानुसार इब्राहीम लोदी की सेना में एक लाख सैनिक और एक हजार हाथी थे। किन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि उस काल में प्रत्येक योद्धा के साथ कई एक शिविर-रक्षक और नौकर-चाकर चला करते थे। ऐसी दशा में इब्राहीम की युद्ध-शक्ति चालीस हजार आदमियों से अधिक न रही होगी। इस सेना में ऐसे भी दस्ते थे जिनका संगठन समय की आवश्यकता के विचार से शीघ्रता में कर लिया गया था। ये दस्ते प्रचलित चार खण्डों में विभाजित किये गये थे—अग्रगामी रक्षक-दल, केन्द्रीय दल, दाहिना दल और बायाँ दल। १२ अप्रैल, १५२६ ई० को दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामने आकर खड़ी हो गयीं, किन्तु आठ दिन तक किसी ने भी आक्रमण का श्रीगणेश नहीं किया। २० अप्रैल की रात्रि में बाबर ने अपने ४-५ हजार सैनिकों को आक्रमण करने के लिए अफगान शिविर की ओर भेजा, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली और इस घटना ने इब्राहीम को प्रातःकाल ही पलटन बढ़ाने के लिए प्रेरित किया। २१ अप्रैल को दोनों पक्षों में युद्ध छिड़ गया। इब्राहीम ने

अपनी सेना को क्षिप्र गति से आगे बढ़ने की आज्ञा दे दी, किन्तु उसे बाबर की दुर्ग समान रक्षात्मक पंक्तियों के निकट अकस्मात ठहर जाना पड़ा। "इससे अफगानों की सेना में हलचल मच गयी। इस अवसर को अपने हित में देखकर बाबर ने किलेबन्दी वाली तुलुगमा सेनाओं को तुरन्त घूमकर पीछे से आक्रमण करने की आज्ञा दी। उधर इब्राहीम ने अपनी फौजों को बाबर की सेनाओं के बायें खण्ड पर आक्रमण की आज्ञा दी, जिससे वह घिराव मे आ गयी। बाबर ने तुरन्त अपने केन्द्र से कोतल (reserve) सेना भेजी, जो अफगान सेना के दाहिने खण्ड को खदेड़ने मे सफल रही। इस समय तक दोनों सेनाओं के सभी दस्ते युद्ध में भाग लेते लगे थे और युद्ध इस प्रकार सामान्य स्थिति में आ पहुँचा और बाबर ने अपने तोपचियों को आग बरसाने की आज्ञा दी। इस प्रकार लोदी सेना घेर ली गयी और उसका उफान नष्ट कर दिया गया। उसके सामने तोपखाने के गोलों की वर्षा हो रही थी और पीछे तथा दायें-बायें तीरों की बौछार। शस्त्रास्त्रों की विशेषता और युद्ध-योजना की कुशलता से सम्पन्न न होते हुए भी इब्राहीम के कमान में हिन्दुस्तान की सेना जी-तोड़कर युद्ध करती रही। प्रातःकाल से दोपहर तक युद्ध चलता रहा और बाबर की उत्कृष्ट युद्ध-व्यवस्था तथा सैन्य-संचालन शक्ति ने शत्रु पर विजय पायी। इब्राहीम लोदी अन्त समय तक बहादुरी से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके १५ हजार आदमी युद्ध में धराशायी हुए। इन हताहतों मे ग्वालियर नरेश विक्रमाजीत भी थे, जो सच्चे राजपूत की भाँति इब्राहीम की ओर से लड़ते रहे, यद्यपि इब्राहीम उनका शत्रु रह चुका था। बाबर ने लिखा है, "जब आक्रमण प्रारम्भ हुआ तो सूर्यनारायण ऊँचे चढ़ गये थे। युद्ध दोपहर तक ठना रहा, मेरे सैनिक विजयी हुए और शत्रु को चकनाचूर कर दिया गया। सर्वशक्तिमान परमात्मा की अपार अनुकम्पा से यह कठिन कार्य मेरे लिये सुगम बन गया और वह विशाल सेना आधे दिन में ही मिट्टी में मिल गयी।"

परिणाम

पानीपत का युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। लोदियों की सैन्य-शक्ति पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो गयी और उनका राजा युद्धक्षेत्र में मारा गया। कम से कम गणना के अनुसार उनके २० सहस्र सैनिक हताहत हुए। हिन्दुस्तान की सर्वोच्च सत्ता कुछ काल के लिए अफगान जाति के हाथों में से निकलकर मुगलों के हाथों में चली गयी, जिन्होंने १५ वर्ष के मध्यान्तर से दो शताब्दियों तक उसे हथिया कर रखा। हिन्दुस्तान मे तुर्क-अफगानी शासक-वर्ग पतित हो चुका था और इस कारण उसकी सत्ता खतरे में थी। पानीपत मे बाबर की विजय के फलस्वरूप तुर्क-अफगान शासक-वर्ग में नया रक्त और उत्साह संचारित हुआ। इस प्रकार मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई और उसके द्वारा देश को श्रेष्ठ, सुयोग्य एवं सफल शासक प्राप्त हुए जिनके अधिकार में देश को एक यौगिक संस्कृति के विकास के नवीन प्रयोग प्रारम्भ करने का अवसर मिला। जहाँ तक बाबर का इस युद्ध से सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि उत्तरी भारत को विजय करने के निमित्त उसकी विजय योजनाओं की दूसरी मंजिल पानीपत के युद्ध के साथ

तय हो गयी। बाबर आगरा तथा दिल्ली का स्वामी हो गया, किन्तु अभी एक-दो ही नहीं सैकडों विकट विरोधियों और शक्तिशाली शत्रुओं से मोर्चा लेना बाकी था, तब कहीं हिन्दुस्तान का सम्राट होने की बात सोची जा सकती थी। लेकिन जैसा इतिहासकार रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है, यह ठीक है कि बाबर के इधर-उधर भटकने के दिन बीत गये थे और उसे अब अपने प्राणों की रक्षा के लिए अथवा सिंहासन को सुरक्षित रखने के लिए चिन्तित होने की जरूरत नहीं रही थी, उसे तो अब राज्य-विस्तार के लिए युद्ध-योजनाओं में शक्ति लगानी थी। पानीपत की विजय ने बाबर के दावे को वैधानिकता का जामा पहना दिया। अतः उसकी भविष्य की योजनाएँ तथा प्रयत्न उसी के दावे को कार्य रूप मे परिणत करने के प्रयास-मात्र थे।

सफलता के कारण

बाबर की सफलता और उसके प्रतिद्वन्दी इब्राहीम की हार के अनेक कारण थे। प्रथम तो इब्राहीम की ढिलमिल नीति और अफगान सरदारों के प्रति उसकी सन्देह दृष्टि ने उसकी शक्ति को इतना निर्बल बना दिया था कि वह बाबर से कम भयानक शत्रु के विरुद्ध भी शायद ही सफलता प्राप्त कर पाता। अफगान सरदारों और जनता के सहयोग से वंचित रहकर वह अकेला ही लड़ा। दूसरे, उसकी सेना में अनुभवहीन, उजड्ड सैनिक थे, जिनको जल्दी में भरती किया गया था। सेना में राष्ट्रीय अथवा धार्मिक उत्साह की भावना नही थी। उसका संगठन फिरकों के आधार पर हुआ था और सैनिकगण स्वयं अपने अफसर बने हुए थे, सर्वाधिकारी का नियन्त्रण उन्हें मान्य नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि सैनिक बहादुर थे, किन्तु सैनिक-शिक्षा-सम्पन्न युद्ध-कुशल सैनिकों की विशेषताएँ उनमें नहीं थीं। बाबर ने अपने आत्मचरित्र में ठीक ही लिखा है कि हिन्दुस्तान के सैनिक मरना जानते हैं, लड़ना नहीं। उधर बाबर की सेना भी यद्यपि लोदी सेना की भाँति विभिन्न तत्वों से भरी थी किन्तु बाबर ने उसे सुव्यवस्थित रूप से संगठित कर रखा था। वह सुशिक्षित और अनुशासित सेना थी और धनधान्य से पूर्ण भारत को विजय करने के लिए अपने नेता की आकांक्षा और उत्साह में योग देती थी। तीसरे, यद्यपि पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से तोपखाना और बन्दूक की बारूद हिन्दुस्तान के लिए अपरिचित वस्तुएँ नहीं थीं, किन्तु इब्राहीम के अधिकार में तोपखाने का एक भी दल नहीं था और उसके सैनिक इनके प्रयोग से बिलकुल अनभिज्ञ थे। उधर बाबर तोपखाने के एक शक्तिशाली दल का स्वामी था, जिसमें बड़ी-बड़ी तोपें और छोटी बन्दूकें सम्मिलित थीं और जिसका सारा उत्तरदायित्व दो तोपचियों—मुस्तफा और उस्तादअली के ऊपर था। यदि हिन्दुस्तान में बाबर की अभूतपूर्व सफलता के कारणो में से किसी प्रमुख कारण पर जोर देने की जरूरत है, तो इस दिशा में निश्चित रूप से उसके तोपखानों को ही प्रमुख श्रेय देना पड़ेगा। चौथे, बाबर उस उत्कृष्ट युद्ध कला का आचार्य था, जो मध्य एशिया की अनेक युद्ध-कलाओं के वैज्ञानिक सम्मिश्रण का सुपरिणाम थी। लेकिन इब्राहीम उन दिनों देश में प्रचलित एक पुरानी और दकियानूसी युद्ध-प्रणाली के साथ लड़ा। अन्त में यह कहा जा सकता

है कि जहाँ बाबर अपने समय के सर्वश्रेष्ठ सैन्य-संचालकों में से था, वहाँ इब्राहीम एक अनुभवहीन बहादुर युवक था। अपने महान प्रतिद्वन्द्वी से समता करने की उसमे क्षमता नहीं थी। बाबर ने इब्राहीम के बारे में लिखा है, "......वह अनुभवहीन युवक अपनी गतिविधियों में लापरवाह था। बिना किसी नियम-कायदे के वह आगे बढ़ आता था, बिना किसी ढग के रुक जाता अथवा लौट पड़ता था और कभी-कभी अदूरदर्शिता के साथ बिना विचारे भिड़ पड़ता था।" सुयोग्य और अनुभवशील व्यक्तियो को अपनी फौज में आकर्षित करने के लिए उसने अपने खजाने खोलने की चिन्ता नहीं की। यदि राणा सागा के अन्तर्गत राजपूतों की सहायता प्राप्त करने मे वह सफल रहा होता और अपने समान शत्रु के विरुद्ध सयुक्त प्रयत्न किया होता तो सम्भवतः बाबर को देश से बाहर खदेड़ दिया गया होता।

पानीपत के बाद

अपनी विजय के तुरन्त बाद ही बाबर ने हुमायूँ और ख्वाजा किलाँ की कमान में अपनी सेना का एक अंश आगरा पर अधिकार करने के लिए भेजा। उसी समय उसने दूसरा दल दिल्ली पर अधिकार करने तथा वहाँ के खजानों की सुरक्षा के लिए भेज दिया। फिर वह स्वयं दिल्ली की ओर अग्रसर हुआ और राजधानी में प्रवेश करने से पूर्व मुसलमान वीरों और सन्तों के मकबरों को देखने गया। वहाँ से वह आगरा गया और १० मई को इब्राहीम के राजमहल मे निवास ग्रहण किया। हुमायूँ ने अपने पिता का स्वागत किया और अन्य खजानों के साथ अपने पिता को प्रसिद्ध कोहिनूर हीरा भेंट किया, जिसका मूल्य सारे संसार के दैनिक व्यय का आधा समझा जाता था। किन्तु बाबर ने अपनी स्वाभाविक उदारता के अनुसार वह हीरा हुमायूँ को वापस कर दिया। साथ ही उसकी सेवाओं के उपहार में ७० लाख दाम भी प्रदान किये। उसने इब्राहीम लोदी की माता को आगरा के बाहर एक मकान में रहने की आज्ञा दे दी और उसके खर्चे के लिए एक परगने की मालगुजारी उसके नाम कर दी। उसके अफसरों को छोटी-छोटी जागीरें दे दी गयी। बाबर ने अपने आदमियो को बड़ी उदारतापूर्वक पुरस्कृत किया। उसने प्रत्येक प्रमुख बेग को ६ लाख से १० लाख दाम प्रदान किया। प्रत्येक सैनिक और शिविर-रक्षक से लेकर निकृष्ट व्यक्ति तक को लूट का भाग प्राप्त हुआ। फरगाना, खुरासान, काशगर और ईरान में अपने मित्र-मिलापियों को बाबर ने सोने और चाँदी के उपहार तथा अन्य मूल्यवान वस्तुएँ भेजीं, जिनमे दास भी सम्मिलित थे। मक्का, मदीना, समरकन्द और हिरात जैसे तीर्थस्थानों को अमूल्य भेंटें भेजी गयी। काबुल के प्रत्येक निवासी—स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चे—को एक-एक चाँदी का सिक्का प्रदान किया गया। बाबर ने दिल्ली, आगरा और ग्वालियर की युगों से एकत्र अपार धनराशि को हस्तगत कर ऐसी उदारता से वितरित किया और अपने लिये इतना कम छोड़ा कि मजाक में उसे 'कलन्दर' कहा जाने लगा।

देश पर अधिकार

इस देश में बाबर का वास्तविक कार्य पानीपत के युद्ध के पश्चात आरम्भ हुआ।

इब्राहीम लोदी की मृत्यु के पश्चात जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उससे लाभ उठाकर बहुत-से अफगान सरदारों ने अपनी स्वतन्त्र राजसत्ता स्थापित कर ली और अपने केन्द्र-स्थानों को सुरक्षित बना लिया। कासिम सम्भली सम्भल का शासक बन बैठा। निजामखाँ बयाना का शाह बना, हसनखाँ मेवात का, मुहम्मद जैतून धोलपुर का, तातारखाँ ग्वालियर का, हुसैनखाँ लोहानी रापरी का, कुतुबखाँ इटावा का और आलमखाँ कालपी का शासक बन गया। नासिरखाँ लोहानी, मारूफ फरमूली और कुछ अन्य अमीरों ने कन्नौज और गंगा पार में निकटवर्ती अन्य राज्यों पर अधिकार कर लिया। दरियाखाँ लोहानी का पुत्र बिहारखाँ सुल्तान मुहम्मद के नाम से बिहार का शासक बन बैठा और गुलाम मरगूब महाबन का। जब बाबर आगरा की ओर बढ़ा तो गाँवों की जनता भय से भाग खड़ी हुई और बाबर अपने आदमियों के लिए भोजन-सामग्री तथा पशुओं के लिए चारा बड़ी कठिनाई से प्राप्त कर सका। लोगों ने षड्यन्त्र रचने आरम्भ कर दिये और सड़कें अरक्षित हो गयीं। इस समय ग्रीष्मकाल भी समीप आ पहुँचा था। बाबर के आदमियों ने उससे अनुरोध किया कि उन्हें काबुल वापस जाने को छुट्टी मिलनी चाहिए। इन कठिनाइयों के सामने उसने अपने चरित्र-बल का प्रदर्शन किया। निराश होने के बजाय उसने स्थिति का साहस और दृढ़ता के साथ सामना किया और अपने आदमियों को डटे रहने के लिए प्रोत्साहित किया तथा साहस के अभाव में शानदार अवसर को हाथ से न निकल जाने देने के लिए चेतावनी दी। उसने अपने आदमियों के सामने बड़े ही प्रभावशाली ढंग से भाषण दिया। बाबर लिखता है, "मैंने उन्हें बताया कि साम्राज्य और विजय युद्ध-सामग्री और युद्ध-साधनों के बिना टिक नहीं सकते। शाहंशाही और नवाबी बिना प्रजा और अधीन प्रान्तों के कोई महत्त्व नहीं रखती। कई वर्षों के परिश्रम के बाद भारी कठिनाइयों से गुजरकर, अनेक कठिन यात्राओं को तय करते हुए, अनेक सैन्य-दल खड़े करते हुए, भयानक खतरे की परिस्थितियों से उलझकर परमात्मा की कृपा से मैंने अपने भयंकर शत्रु को परास्त कर दिया है और अनेक प्रान्तों तथा राज्यों पर विजय प्राप्त कर ली है जो इस समय हमारे हाथ में हैं और अब कौनसी शक्ति और किस कठिनाई से बाध्य होकर बिना स्पष्ट कारण के हम अपनी विजयश्री को त्यागकर भाग चलें....? प्रत्येक व्यक्ति जो अपने को मेरा मित्र समझता है, अब से कभी मेरे सामने ऐसा प्रस्ताव न रखें। यदि तुम लोगों में कोई भी ऐसा है जो यहाँ ठहर ही न सके या अपने लौटने का इरादा न बदल सके तो उसे चला जाने दो।"

बाबर की यह अपील काम कर गयी। सभी अधिकारियों और सैनिकों ने बाबर का साथ देने के लिए ठहरने का निश्चय कर लिया। केवल दो-एक आदमी सहमत नहीं हुए और वे काबुल चले गये।

जब यह बात स्पष्ट हो गयी कि बाबर ने इसी देश में रहने और राज्य करने का निश्चय कर लिया है, तो अनेक अफगान तथा अन्य सरदार जो अपनी सीमाओं की रक्षा के लिए तुले बैठे थे, बाबर की शरण में आ गये। कोल (अलीगढ़) का शेख

घूरन, शेख बायजीद, फीरोजखाँ लोहानी और कुछ अन्य प्रमुख सरदारों ने आक्रमणकारी के सम्मुख समर्पण कर दिया। वे अपनी सेना सहित बाबर से मिल गये और उन्हें उनके राज्य-क्षेत्रों मे राज्य करते रहने की मजूरी प्राप्त हो गयी। जो लोग अभी अलग थे, उनके विरुद्ध बाबर ने तुरन्त कार्यवाही की और उनको बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया। उसने अविजित नगरो, दुर्गों और जिलो को अपने प्रमुख पदाधिकारियों मे वितरित करने की बुद्धिमत्तापूर्ण योजना का अनुगमन किया और उनको उनकी सेना के साथ उन स्थानों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए भेज दिया। यह नीति एकदम सफल हुई। हुमायूँ ने सम्भल पर विजय पा ली। मुहम्मदअली जग ने रापरी को जीत लिया, मेंहदी ख्वाजा ने इटावा जीता, सुल्तान मुहम्मद ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया और जुन्नैद बरलास ने धौलपुर पर झण्डा गाढ़ दिया। ग्वालियर को तो हुमायूँ ने पहले ही जीत लिया था। अब केवल दो भयानक विरोधियों से सामना करना शेष था। ये थे अवध और बिहार के अफगान सरदार और राजस्थान का राणा सांगा। बाबर के साथियों की सामान्य धारणा यह थी कि अफगान लोग अधिकभयानक हैं और उनसे तुरन्त ही निबट लेना चाहिए। राजा सागा अधिक दूरी पर है और आगरा पर चढ़कर आने के लिए सम्भवतः उसकी शक्ति कम है। अतएव हुमायूँ को नासिरखाँ लोहानी और मारूफ फरमूली से लड़ने भेजा गया। इन लोगो ने कन्नौज पर अधिकार करके दिल्ली के निकट अपनी जड़ें जमानी शुरू कर दी थीं। हुमायूँ कानपुर के निकट जाजमऊ से २० मील की दूरी पर पहुँचा। दोनों अफगान सरदार बिना लड़े पीठ दिखाकर भाग गये। इस प्रकार कन्नौज मुगलों के हाथो मे आ गया।

खातुवा का युद्ध

जब बाबर काबुल में था, तो कहा जाता है कि राणा सांगा का उससे यह समझौता हुआ कि वह इब्राहीम पर आगरा की ओर से आक्रमण करे और बाबर उत्तर की ओर से। जब आक्रमणकारी ने दिल्ली और आगरा को अधिकृत कर लिया, तो उसने राणा पर अविश्वास का अभियोग लगाया। उधर सागा ने बाबर पर अभियोग लगाया कि उसने कालपी, धौलपुर और बयाना पर अधिकार कर लिया जबकि समझौते की शर्तों के अनुसार ये स्थान उसको (सांगा को) ही मिलने चाहिए थे। किन्तु इन दोनों में फूट पड़ने का वही मुख्य कारण नही कहा जा सकता। राणा सांगा ने सोचा था कि बाबर अपने पूर्वज तैमूर तथा अन्य आक्रमणकारियों की भाँति देश का माल लूटकर वापस चला जायगा, किन्तु यह केवल उसका भ्रम था। जब उसने देखा कि इस मुगल शासक ने देश में ठहरकर राज्य करना निश्चित कर लिया है तो इस खतरे से वह सचेत हो गया। हमारे मध्यकालीन इतिहास मे उत्तरी भारत को अफगानो के हाथ से मुक्त करने के निश्चित उद्देश्य को लेकर राजस्थान के अधिक से अधिक राजाओं को संगठित करने में प्रथम बार राणा सांगा को ही सफलता प्राप्त हुई थी। किन्तु यह देखकर वह चकित रह गया कि बाबर के रूप में एक नये तर्क आक्रमणकारी

सांगा ख्यातिप्राप्त योद्धा था और उसकी बहादुरी के कारनामों से सारा देश परिचित था। उसकी योग्यता और शक्ति, आकांक्षा और देशभक्ति ने आक्रमणकारी को स्वदेश से निकाल बाहर करने के प्रयत्न करने के लिए विवश कर दिया, ताकि देश की गर्दन नयी विदेशी शासन-सत्ता के जुए में न फँस जाय। एक शक्तिशाली सेना एकत्र कर, जिसमे कहा जाता है कि ७ राजपूत राजा और १०४ सरदार सम्मिलित थे, वह बयाना पर चढ़ बैठा और वहाँ के गवर्नर मेहदी ख्वाजा को हरा दिया और दुर्ग की विशाल चहारदीवारी में बन्द रहने के लिए विवश कर दिया। अब राणा के साथ बहुत-से शक्तिशाली सरदार हो लिये, जिनमें रायसीन का सिलहदी, हसनखाँ मेवाती और स्व० सुल्तान इब्राहीम का भाई मुहम्मद लोदी भी सम्मिलित था। राणा ने महमूद लोदी को दिल्ली का सुल्तान स्वीकार कर लिया। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार रशब्रुक विलियम्स ने राणा और हसन मेवाती की सन्धि को अपवित्र सन्धि बताया है। कारण कि वे दोनों भिन्न-मतावलम्बी थे और उनका एकमात्र उद्देश्य बाबर को देश से निकालना था। उक्त विद्वान का यह कथन भ्रमपूर्ण है। विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध संगठित होना तो एक स्वाभाविक-सी बात थी। राजनीतिक सन्धियाँ सर्वत्र स्वार्थ के आधार पर ही होती हैं। बाबर ने, जो कुछ काल पूर्व इब्राहीम लोदी की माँ द्वारा विष दिये जाने से बाल-बाल बचा था, सुल्तान मिर्जा को कुछ तेज अश्वारोहियों सहित बयाना की सहायता के लिए भेजा और स्वयं राजपूतों से अन्तिम युद्ध की तैयारियों में लग गया। बयाना के दुर्गरक्षकों से मुठभेड़ करने में यह सेना असमर्थ रही और भयभीत होकर भाग खड़ी हुई। वापस लौटकर इन सैनिकों ने राजपूतों के अपार शौर्य, साहस और वीरता के किस्से बाबर को सुनाये। इस समय तक बाबर सीकरी पहुँच चुका था और उसने १५०० सैनिकों का एक दल शत्रु की स्थिति का निरीक्षण करने के लिए भेज दिया। ये लोग बुरी तरह पराजित हुए, मार-काटकर वहाँ से खदेड़े गये और अपनी शान किरकिरी कराकर वहाँ से वापस आ गये। अब युद्ध अनिवार्य हो गया था। राणा पहले से ही खानुवा के निकट एक पहाड़ी तक बढ़ आया था जो वर्तमान भरतपुर राज्य का एक ग्राम और आगरा के पश्चिम में ३७ मील दूरी पर तथा सीकरी से १० मील की दूरी पर स्थित है। अब बाबर एक अत्यन्त विषम स्थिति में पड़ गया था। उसकी सेना घबरा गयी और राजपूतों के पराक्रम तथा उनकी बहादुरी से भयभीत होने लगी। काबुल के एक ज्योतिषी ने इस बार बाबर की पराजय की भविष्यवाणी की। इससे मुगल सेना और अधिक भयभीत हुई। अब बाबर के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह किसी तरह अपने साथियों का साहस बढ़ाये और इसलिए नाटकीय ढंग से उसने मदिरा का परित्याग करते हुए अपने अधिकारियों तथा सैन्य-समूह के समक्ष बहुमूल्य मदिरा-पात्र धरती पर उँडेल दिये और उन्हें तोड़-फोड़ डाला। उसने मुसलमानों पर से तमगा नामक कर हटा दिया। इतने पर भी उसके साथियों की हिम्मत इतनी न बढ़ी जितनी वह चाहता था। इस पर उसने अपने फौजी साथियों की एक सभा संयोजित की और उन्हें सम्बोधित करते हुए अपील की, "मेरे साथी सरदारो ! क्या तुम जानते

हो कि हमारे और हमारी जन्मभूमि—हमारी सुपरिचित नगरी—के मध्य कुछ महीनों की यात्रा है ? यदि हमारा पक्ष पराजित होता है (परमात्मा उस कुघड़ी से हमारी रक्षा करे) तो हमारी क्या दशा होगी ? कहाँ हमारी जन्मभूमि होगी ? कहाँ हमारा नगर होगा ? हमें अपरिचितों और विदेशियों से जूझना है। लेकिन हरेक आदमी याद रखे कि जो कोई भी इस संसार में आता है उसका विनाश अवश्य होता है। परमेश्वर ही अविनाशी और अविचल है। जिसने जीवन के सुख और ऐश्वर्य का भोग किया है उसे अन्त में मृत्यु को वरण करना पड़ेगा। कलंकित नाम के साथ जीवित रहने की अपेक्षा शान के साथ प्राण दे देना अधिक अच्छी बात है। अगर मैं शान के साथ मरता हूँ तो यह बड़ा अच्छा हैं। मुझे प्रतिष्ठा छोड़ जाने दो, क्योंकि मेरा शरीर वास्तव में मौत से बचकर नही जा सकता। सर्वशक्तिमान परमेश्वर ने हमारे निमित्त उस भाग्य की स्थापना की है और हमारे सम्मुख यह उत्कृष्ट भवितव्यता रख दी है कि यदि हमारी हार होती है तो हम शहीदों की तरह मरेंगे और यदि हम विजयी होते है तो समझ लो हमने उस परमात्मा के पवित्र उद्देश्य पर विजय प्राप्त कर ली। इसलिए उस सर्वशक्तिमान के नाम पर हमे शपथ ग्रहण करनी चाहिए कि हम ऐसी शानदार मृत्यु से मुख नही मोड़ेंगे और जब तक हमारी आत्माएँ हमारे शरीर से पृथक नही हैं, हमारे शरीर संघर्ष के इन खतरों से कभी पृथक नही होंगे।"

उसने वचन दिया कि विजय के पश्चात जो कोई अपने घर जाना चाहेगा, उसको जाने की अनुमति दे दी जायेगी। उसने राणा के विरुद्ध 'जिहाद' तो पहले ही घोषित कर दिया था। उसने अपने साथियों को पुनः स्मरण कराया कि वह अपने धर्म की मान-प्रतिष्ठा के लिए यह युद्ध लड़ रहा है। इसका उत्तर तुरन्त उत्साह के साथ दिया गया। प्रत्येक ने कुरान पर हाथ रखकर अपनी पत्नी के परित्याग की शपथ लेते हुए कहा कि वे अन्त तक लड़ेंगे और बाबर का साथ देंगे। इस प्रकार उसकी सेना में साहस का पुनः संचार हो गया। बाबर के लड़ाई मोल लेने वाले कुछ सैनिकों ने आगे बढ़कर राणा की सेना के कुछ इक्का-दुक्का लोगो पर जो अपनी सेना से दूर चले गये थे, आक्रमण कर दिया और उनके शीश उतार कर ले आये। इससे मुगलों की हिम्मत बढ़ने में और अधिक सहायता मिली।

अब बाबर खानुवा पहुँच चुका था। राणा वहाँ पहले से ही था और अब दोनों ओर की सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख आ डटी। बाबर के अनुसार राजपूती सेना में दो लाख सैनिक थे, लेकिन असली योद्धा-शक्ति ८०,००० से अधिक न रही होगी। रशब्रुक विलियम्स ने बाबर की सेना के प्रबल योद्धाओं की संख्या ८-१० हजार कही है, जो निस्सन्देह बहुत ही कम अनुमानित है। हम 'बाबरनामा' के अनुसार अधिकृत रूप से कह सकते हैं कि पानीपत के युद्ध के पश्चात अफगानों की कई सहस्र सैना तथा अन्य सेनाएँ भी बाबर से आ मिली थीं और इस प्रकार मुगल फौज की संख्या में काफी वृद्धि हो गयी थी। यह संख्या ४०,००० से कम नहीं रही होगी। रशब्रुक विलियम्स ने काल्पनिक आधार पर ही यह निष्कर्ष निकाला है कि "इस निर्णय की अवहेलना

करना असम्भव प्रतीत होता है कि राजपूतों की पराक्रमी सैनिक-संख्या अपने शत्रु की सैनिक-संख्या से ७ अथवा ८ : १ के अनुपात से बढ़ी-चढ़ी थी। वास्तविक बात तो यह थी कि यह अनुपात २ : १ का था।"

बाबर ने अपनी सेना की व्यूह-रचना पानीपत के ढंग पर ही की। सामने के मोर्चे पर बिना बैल की बैलगाड़ियाँ थी, जो आपस में लोहे की जंजीरों से बँधी हुई थीं। पानीपत की तरह इस बार चमड़े के रस्सों से उन्हें नहीं बाँधा गया था। उसने अपना स्थान मध्य में स्थित किया था। चिन्तैमूर और खुसरू कोकुल्ताश ने उसकी दाहिनी ओर अपने स्थान ग्रहण किये थे। हुमायूँ ने दिलावरखाँ और कुछ अन्य हिन्दुस्तानी नवाबों को लेकर दाहिने पक्ष को सँभाला था। मेहदी ख्वाजा ने बायें पक्ष का काम अपने हाथों मे लिया। दाहिने और बायें सिरों पर घेरा डालने वाले दल थे। गाड़ियों की कतार के पीछे तोपखाने को एक पंक्ति में खड़ा कर दिया गया था और इसकी कमान निजामुद्दीनअली खलीफा के हाथ मे थी। बचाव की दीवारों के बजाय बाबर ने लकड़ी की पहियेदार तिपाइयाँ निर्मित करायी थीं जिन्हें तोपो का आधार बनाया गया था तथा उनसे तोपचियों के बचाव-स्थल का काम लिया गया था। राणा की सेनाएँ चार प्रचलित खण्डों में विभाजित की गयी थीं—अग्रगामी रक्षक, मध्य पक्ष, दाहिना पक्ष और बायाँ पक्ष। १६ मार्च, १५२७ ई० को प्रात: ९ बजे के लगभग युद्ध आरम्भ हुआ। मुगलों के दल को दाहिनी ओर से खदेड़ने के लिए राणा सांगा ने अपने बायें पक्ष को आक्रमण करने की आज्ञा दी। इस प्रकार युद्ध प्रारम्भ हुआ। दाहिने तुलुगमा पर प्रहार का ऐसा आघात हुआ कि वह तितर-बितर होने लगा। किन्तु बाबर ने चिन्तैमूर को उसकी सहायता के लिए भेजा। उसने राजपूतों के बायें पक्ष पर आक्रमण किया और मुगल सैनिक उनकी टुकड़ियों में खलबली पैदा करते हुए भीतर घुस गये। इसी समय मुस्तफा को खुले मैदान में सिपाहियों को बढ़ाने तथा आग के गोले बरसाने का हुक्म मिला। तोपखाने ने अपना कार्य ऐसे सन्तोषजनक ढंग से किया कि मुगलों का साहस सजीव हो उठा। अब मुगलों के दाहिने पक्ष मे लड़ाई का वेग सर्वत्र फैल गया और उसको निर्माण-केन्द्र से सहायता भेजनी पड़ी।

राजपूतों की बहादुरी के होते हुए भी मुगलों के दाहिने पक्ष ने अन्त में राणा के बायें पक्ष को पीछे खदेड़ दिया। इसी समय वामपक्षीय तुलुगमा को घूमकर राजपूत सेना के पिछले भाग पर आक्रमण करने का हुक्म मिला। इससे भी वीर राणा को शत्रु के बायें पक्ष पर भयानक दबाव कायम रखने से न रोका जा सका। बाबर को अब आघात पर आघात सहते हुए बायें पक्ष की रक्षार्थ अपने अश्वारोहियों की चुनी हुई टुकड़ी भेजनी पड़ी। इस समय तक युद्ध सामान्य दशा में आ चुका था। दोनों ओर के सभी सैन्य-खण्ड भयंकर युद्ध में संलग्न थे। मुगल तोपखाने द्वारा भयंकर आग बरसाने पर भी वीर राजपूतों ने "अपने निरन्तर आक्रमणों से बाबर के साथियों के दम फुला दिये थे। विजयश्री एक तुला में लटकी हुई प्रतीत होती थी, और यदि किसी ओर इसका झुकाव दिखायी देता था, तो राजपूतों की ओर ही;

किन्तु निराश हुए बिना बाबर ने एक जनरल की सूझबूझ के साथ अपने चुने हुए निजी अश्वारोहियों के दल को मध्य से लेकर शत्रु के दोनो दलो पर प्रहार करने के लिए छोड दिया। उस्तादअली को इसी अवसर पर जी-तोड़कर प्रयत्न करने की आज्ञा मिली। आक्रमण की यह चाल सफल सिद्ध हुई। राजपूतों के दाहिने और बाये पक्षों में बाबर की तोपों की अग्नि-वर्षा और उसी समय एक साथ ही छूटी हुई उसकी निजी अश्वारोहिणी सेना के प्रहार से खलबली मच गयी। भयंकर गोलाबारी का, जिससे उसके आदमियो का भारी विनाश हो रहा था, ध्यान न करते हुए राणा ने अपने निर्भीक सैनिको को बाबर के दाहिने और बाये पक्षों पर उलट दिया जो उन्हें घेरे में बन्द करने का प्रयत्न कर रहे थे। वास्तव मे अन्तिम प्रहार ऐसा भयकर था कि मुगल-पक्ष अपने घेरे डालने की स्थिति से हटकर अपने केन्द्रीय भाग की पंक्ति मे आ पहुँचे, वे लगभग उस स्थान पर आ पहुँचे जहाँ बाबर स्वयं खड़ा था। बायीं ओर जिधर सबसे अधिक दबाव पड़ रहा था राजपूत बढ़ते हुए चले आ रहे थे।" किन्तु मृत्यु से भी भय न खाने वाले राजपूतो के लिए मुगलों का तोपखाना भयंकर सिद्ध हुआ। वे इसका अधिक समय तक सामना न कर सके और उनका साहस टूटने लगा। इस परिस्थिति में बाबर ने अपने दोनों पक्षों को दूसरा प्रहार करने का हुक्म दिया। राजपूत अब बिखर गये। बाबर, जो विजय की ओर से निराश हो चुका था, युद्ध में विजयी हुआ और इस प्रकार युद्ध समाप्त हुआ।

युद्ध के परिणाम

भारतवर्ष के इतिहास में खानुवा का युद्ध, जो २० घण्टे तक चला अत्यन्त स्मरणीय युद्धों में से एक था। शायद की कोई दूसरा ऐसा घमासान युद्ध हुआ हो जिसका निर्णय अन्त समय तक तुला में लटका रहा। फिर भी सैनिक दृष्टिकोण से यह युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। राणा के पक्ष की भारी हानि हुई। संग्रामसिंह स्वयं घायल हुआ और उसके स्वामिभक्त अनुगामी उसे सुरक्षित स्थान पर ले गये, जहाँ वह अपना भग्नहृदय लेकर जनवरी १५२८ ई० में सदा के लिए सो गया। हसन मेवाती तथा अन्य प्रमुख सरदार वीरगति को प्राप्त हुए। पराजित सेना को बुरी तरह मार-काट डाला गया, किन्तु महमूद लोदी साफ बचकर निकल गया। राजपूतों की सैन्य-शक्ति कुचल तो गयी, किन्तु पूर्णत: नष्ट नहीं हुई। कुछ वर्षों में ही वे पुन: उठ खड़े हुए और गुजरात के बहादुरशाह तथा दिल्ली के शेरशाह को उनसे मुकाबला करना पड़ा। शेरशाह (१५४०-४५ ई०) उनकी वीरता से इतना प्रभावित था कि उसे स्वीकार करना पड़ा कि एक मुट्ठी बाजरे के पीछे उसने हिन्दुस्तान के साम्राज्य को संकटों में डाल दिया था। यह ध्यान देने की बात है कि राणा पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी बाबर की राजस्थान पर आक्रमण करने तथा बहादुर राजपूतों को नाराज करने की हिम्मत नहीं हुई। चन्देरी दुर्ग पर विजय प्राप्त करने के पश्चात राजपूतों से मोर्चा लेने का विचार उसने छोड़ दिया। इस युद्ध के राजनीतिक परिणाम भी महत्त्वपूर्ण रहे। विदेशी राज्य को मिटाने की राजपूतों की आकांक्षा

पूर्णतः समाप्त हो गयी। इसके पश्चात राजस्थान के शासको ने उत्तरी भारत मे हिन्दू राज्य पुन स्थापित करने का सम्मिलित प्रयत्न कभी नही किया। जहाँ तक बाबर का सम्बन्ध था, उसका देश-विदेश मारे-मारे फिरने का जीवन अब समाप्त हो चुका था। अब भारत मे स्थापित उसे अपने नये राज्य और अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए आगे नहीं लड़ना था। अब उसे केवल दो कारणो से ही युद्ध करना था—अपने राज्य की सीमा बढाने के लिए अथवा अपने राज्य के विरोधियो का दमन करने के लिए। रशब्रुक विलियम्स के अनुसार, "अभी तक हिन्दुस्तान पर अधिकार बाबर के शौर्य-कृत्यों का केवल एक अध्याय ही था, किन्तु इसके बाद यह उसके शेष जीवन की सरगर्मियों का एक प्रमुख राग बन गया.........और इस युद्ध के पश्चात उसके जीवन की नयी स्थिति मे एक महत्त्व की बात यह रही कि उसे युद्धो के कारण अपने जीवन और राजसिंहासन को संकट मे नही डालना पड़ा। बाबर द्वारा ग्रहण किये गये परमावश्यक तत्त्वों में यह भी एक महत्त्व की बात रही कि इस विजय के उपरान्त उसकी शक्ति का आकर्षण-केन्द्र काबुल से हटकर हिन्दुस्तान में हो गया।"

खानवा के बाद की सरगर्मियाँ—घाघरा का युद्ध

इस महान विजय के पश्चात बाबर ने मेवात पर आक्रमण किया और ७ अप्रैल, १५२६ ई० को उसकी राजधानी अलवर में प्रविष्ट हुआ। जिन सरदारों और अधीनस्थ राजाओं ने खानुवा के युद्ध से पूर्व उसके प्रति स्वामिभक्त रहने से इन्कार कर दिया था, उनको अपने अधीन करने के लिए बाबर ने विविध दिशाओं में अपने सैनिक-दल भेजने का कदम उठाया। चन्दवार और रापरी पर फिर अधिकार कर लिया गया। इटावा को भी पुनः अधिकृत कर लिया गया। भोपाल के निकट तथा मालवा और बुन्देलखण्ड की सीमा पर स्थित चन्देरी के विरुद्ध बाबर ने स्वयं अभियान किया। चन्देरी इस समय प्रसिद्ध राजपूत सरदार मेदिनीराय के अधिकार में था जिसने मालवा के राजाओं के निर्माता के रूप में अपनी प्रतिष्ठा बना रखी थी। मुगलों ने उसका घेरा डाल दिया। दुर्गरक्षकों ने अधिक समय तक सामना न करने की स्थिति का अनुभव करके अपनी स्त्रियों को मौत के घाट उतार दिया और नंगी तलवार लेकर शत्रुओं पर टूट पड़े और उनमें से प्रत्येक अन्तिम दम तक शत्रु से लड़ता रहा। २६ जनवरी, १५२८ ई० को बाबर ने उस स्थान पर अधिकार कर लिया। अब उसने अपने को सुरक्षित समझा और अपने उन अधिकारियों को काबुल लौट जाने की छुट्टी दे दी जिनका स्वास्थ्य बुरी तरह से बिगड़ गया था। हुमायूँ को बदख्शां का भार सँभालने के लिए भेज दिया गया।

अब बाबर बिब्बन के विरुद्ध बढ़ चला, जिसने मुगलों को अवध से निकाल कर लखनऊ पर अधिकार कर लिया था। गंगा पार करने के पश्चात उसने बिब्बन को पराजित किया और उसे बंगाल तक खदेड़ दिया। इसके कुछ काल पूर्व राणा सांगा की पराजय के पश्चात मुहम्मद लोदी, जो खानुवा से भाग खड़ा हुआ था, बिहार में जाकर बस गया और उसने एक विशाल सेना एकत्र कर ली, जिसकी संख्या अनुमानतः

एक लाख थी। इस सैन्य-शक्ति का प्रमुख संचालक बनकर वह बनारस की ओर बढा और उससे भी आगे बढता हुआ चुनार तक आ पहुँचा। उसने चुनार के दुर्ग पर घेरा डाल दिया, किन्तु ज्योही बाबर उसके विरुद्ध बढा, अफगान लोग भयभीत हो उठे। उन्होने घेरा उठा लिया और पीछे हट गये। बाबर ने उनका पीछा किया और बंगाल तक उन्हें खदेड दिया।

अफगानो के विद्रोह को सदा के लिए समाप्त करने की उत्सुकता से बाबर ने उनसे युद्ध ठानने का निश्चय किया किन्तु बगाल के सम्राट नसरतशाह से उसकी सुलह थी जिसकी शरण मे अफगान सरदार महमूद लोदी के नेतृत्व मे पड़े हुए थे। उसने नसरतशाह से बाते चलायी, किन्तु परिणाम कुछ नही निकला। अतएव अपने अन्तिम चेतावनी-पत्र मे उसने एक मार्ग देने की माँग की और इसके लिए इनकार करने पर परिणामों का उत्तरदायित्व उसी पर ठहराया। उसने ६ मई, १५२९ ई० को घाघरा के तट पर अफगानों से युद्ध किया। इस घमासान सघर्ष में दोनो ओर से तोपखानों और नावो का प्रयोग किया गया। अफगान लोग पराजित हुए। बाबर और नसरतशाह में एक सन्धि सम्पन्न हुई जिसके अनुसार दोनो दलो ने एक-दूसरे की सर्वोच्च सत्ता का आदर किया और नसरतशाह ने बाबर के शत्रुओ को शरण न देना भी स्वीकार कर लिया। बाबर का यह अन्तिम युद्ध था। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप वह बिहार का सर्वोच्च अधिकारी हो गया। अफगान सरदार अपने सैनिक-दलों सहित उससे मिल गये। अब बाबर के अधिकार में इस देश का सिन्धु नदी से बिहार तक और हिमालय से ग्वालियर और चन्देरी तक का भाग था। मुगलो ने मुलतान पर अधिकार जमा लिया था और इसलिए पश्चिमोत्तर कोण मे केवल सिन्ध ही बाबर के अधिकार से बाहर था।

अन्तिम दिन और मृत्यु

सर्वोच्च सत्ता के विषय में बाबर की धारणा

बाबर के सम्मुख अब कोई प्रमुख फौजी समस्या नही रह गयी थी, क्योंकि उत्तरी भारत की विजय पूर्ण हो चुकी थी। किन्तु बाबर को एक राजकीय सिद्धान्त स्थापित करना था। अफगान राजसत्ता के सिद्धान्तानुसार राजा सरदारों का सरदार माना जाता था। यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं था। इससे संकट उत्पन्न होने का डर था, जैसा लोदी-काल में देश को सहना पड़ा। इब्राहीम अपना अधिकार जमाने में असफल रहा था, क्योकि उसकी सरकार 'प्रजा की रिआयत' पर स्थिर थी, दैवी राजसत्ता के आधार पर नहीं। बाबर ने 'सुलतान' की उपाधि को त्यागकर 'बादशाह' अथवा सम्राट की उपाधि धारण की, जिससे लोगों को ज्ञात हो जाय कि वह पूर्व-कालीन सुल्तान-काल के शासकों की तरह नहीं है, बल्कि उसकी सत्ता उनसे कहीं अधिक बढ़कर है। उसका विश्वास था कि राजा को ईश्वर से ही शक्ति और सत्ता प्राप्त हुई है। संक्षेप में, यही कहा जा सकता है कि बाबर राजसत्ता के दैवी अधिकार का समर्थक था जो उस समय के लिए अनुकूल था। बाबर का यह विचार-विश्वास राजा और

राजसत्ता सम्बन्धी हिन्दू विचारधारा से मिलता-जुलता था। जिसके द्वारा राजा की मान्यता एक सामान्य मानव से कही अधिक ऊपर है।

जब बाबर ने हिन्दुस्तान मे ही रहने का निश्चय कर लिया, तो पानीपत की विजय के बाद, फुरसत के समय में, वह आगरा में अपने रहने के लिए एक महल बनवाने में लग गया। दूसरे अन्य स्थानों मे भी उसने इमारते बनवानी शुरू कर दी; विशेष रूप से तो उसने गुसलखानों का निर्माण कराना और सुन्दर-सुन्दर बाग लगवाना आरम्भ कर दिया। वह कहा करता था कि हिन्दुस्तान के तीन अभिशापो—गर्मी, धूल और लू—से इन्ही के द्वारा रक्षा हो सकती है। इब्राहीम लोदी के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों मे जो अव्यवस्था फैल गयी थी, उसे दूर करने के लिए भी उसने समय दिया। उसकी यह नीति थी कि प्रान्तों मे शक्तिशाली फौजी गवर्नर नियुक्त कर दिये जायँ और वे अपने-अपने क्षेत्रों में शान्ति और सुव्यवस्था का प्रबन्ध करें। वह जनता को अधिक से अधिक सन्तुष्ट रखना चाहता था। १५२६ ई० के अन्तिम छह महीनों में वह इसी कार्य मे व्यस्त रहा।

बाबर की बीमारी और मृत्यु

इसी बीच में, हुमायूँ जिसे खानुवा की लड़ाई के बाद बदख्शां का गवर्नर बना कर भेजा गया था, अपने पिता की आज्ञा बिना ही, वहाँ का काम छोड़कर आगरा आ गया। यहाँ से उसे उसकी जागीर सम्भल में जाने की आज्ञा हुई किन्तु वहाँ पहुँचकर वह बीमार पड़ गया। फलतः उसे नाव में बिठाकर आगरा लाया गया। चिकित्सा के सभी सम्भव उपाय काम में लाये जाने पर भी उसकी हालत में कोई सुधार नहीं दीखता था। बाबर ने नामी फकीर अबूबका से सलाह ली तो उसने कहा कि हुमायूँ बस भगवान से ही दुआ की भीख माँगे और अपनी सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु का दान करे। बाबर ने बीच में ही कहा, "हुमायूँ के निकट सबसे मूल्यवान वस्तु मैं ही हूँ....और उसके लिए मैं अपना बलिदान करूँगा। हे परम पिता, स्वीकार करो!" यह कहकर उसने हुमायूँ की चारपाई की तीन परिक्रमाएँ कीं और कहा कि मैंने उसकी बीमारी अपने ऊपर ले ली है। इतिहासकारों ने लिखा है कि इस घटना के थोड़ी देर बाद ही बाबर बीमार पड़ गया और हुमायूँ की हालत सुधरने लगी। अपनी मृत्यु-शैय्या पर ही उसने हुमायूँ को अपना उत्तराधिकारी नामजद कर दिया और अपने अन्य पुत्रों तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों को भी उसके संरक्षण में सौंप दिया। २६ दिसम्बर, १५३० ई० को उसकी मृत्यु हो गयी। प्रोफेसर श्रीराम शर्मा ने 'कलकत्ता रिव्यू' (१९३६ ई०) में प्रकाशित अपने एक विद्वतापूर्ण लेख में लिखा है कि बाबर द्वारा अपने बेटे की बीमारी अपने ऊपर ले लेने और बदले में अपने प्राण त्याग देने की कहानी पर वे विश्वास नहीं करते। आपके विचार से हुमायूँ के ठीक हो जाने के लगभग छह माह बाद बाबर बीमार पड़ा था। शर्माजी के निष्कर्ष को यों नहीं टाला जा सकता। यह कल्पना कर लेना कि वे केवल प्रार्थना द्वारा ही एक व्यक्ति का रोग दूसरे पर आ गया होगा, तर्कसंगत नहीं है और एक अन्धविश्वास-सा प्रतीत होता है।

बाबर की मृत्यु के बाद उसका शव आगरा के आरामबाग में रख दिया गया था और वहाँ से काबुल ले जाकर एक सुन्दर स्थान मे, जिसे स्वय बाबर ने ही अपने लिये चुना था, उसे दफना दिया गया।

बाबर द्वारा भारतवर्ष का वर्णन

किसी चीज को देखने-समझने की बाबर मे असाधारण शक्ति थी। उत्तर भारत की यात्राएँ करते समय वह यहाँ की प्राकृतिक विशेषताएँ, वनस्पति, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति को भी ध्यान से देखता-भालता रहा था और इन सबका उसने अपने 'आत्मचरित्र' मे वर्णन किया है। भारतवर्ष को अच्छी तरह और निकट से देखने पर यह उसके मन नहीं भाया। एक विजेता की दृष्टि मे ही उसने देश-दर्शन किया था। उसके अनुभव उसी के शब्दों में अच्छी तरह व्यक्त हुए है। उसने लिखा है, "भारतवर्ष ऐसा देश है जिसमें बहुत कम आकर्षण है। यहाँ के लोग सुन्दर नहीं हैं। सामाजिक संसर्ग अर्थात एक-दूसरे के यहाँ आने-जाने का यहाँ चलन नही है, न लोगों में किसी प्रकार की प्रतिभा है और न शक्ति ही है, और न वे एक-दूसरे के साथ बरताव करने मे दक्ष ही हैं। यहाँ की दस्तकारी मे रूप-आकृति और नियम-समानता का सौष्ठव नही है। यहाँ न तो अच्छे घोड़े, अच्छे कुत्ते, अच्छे अंगूर, अच्छे खरबूजे (musk melons) ही हैं और न बढ़िया किस्म के फल ही मिलते हैं। बाजारों में बढ़िया रोटी-रसोई नहीं मिलती। गरम पानी के हम्माम नहीं हैं; उच्च विद्यालय नहीं हैं, बत्तियाँ और मशालें नहीं है।

"बत्तियों और मशालों की जगह यहाँ के लोगों के यहाँ गन्दे आदमियों के झुण्ड रहते हैं, जिन्हें ये दीप-व्यक्ति (दीवती) कहते हैं। इन लोगों के बायें हाथ में लकड़ी की छोटी-सी तिपाई होती है जिसके एक कोने मे मोमबत्ती की तरह की कोई चीज लगी रहती है, जिसकी बत्ती इतनी बड़ी होती है जैसे कि अँगूठा। सीधे हाथ में ये लोग तेल की कुप्पी लिये रहते हैं जिसमें जब बत्ती की जरूरत होती है एक पतली नली के जरिये तेल चुआ दिया जाता है। बड़े आदमियों के यहाँ सौ से लेकर दो सौ तक ऐसे 'दीप-व्यक्ति' रहते हैं। मोमबत्तियों और लैम्पों की जगह हिन्दुस्तान में यही प्रयोग में आते हैं। यदि यहाँ के शासकों को रात में कोई काम करने के लिए प्रकाश की जरूरत होती है, तो ये गन्दे 'दीप-व्यक्ति' इन्हीं दीपों को लेकर पास में आ खड़े होते हैं।

"बड़ी-बड़ी नदियों और पहाड़ी झरनों के पानी को छोड़कर यहाँ पानी का अभाव है। यहाँ के निवासियों के निवास-स्थानों और बाग-बगीचों मे पानी बहता दिखायी नहीं देता। यहाँ के निवास-स्थानों में किसी भी तरह का आकर्षण नहीं है। इनके बनाव-कटाव में सुन्दरता-समानता नही है और न वे हवादार ही हैं।

"किसान तथा अन्य निम्न-श्रेणी के लोग नंगे घूमा-फिरा करते हैं। ये लोग इज्जत ढकने के लिए एक चीथड़ा बाँध लेते हैं, यह टूँड़ी से दो बालिश्त नीचे लटका रहता है और एक छोर टाँगों के बीच में से निकालकर पीछे इसी कपड़े में बाँध दिया

जाता है। इस चीज को ये लोग लंगोटा कहते है। औरतें भी इसी तरह एक कपड़े से अपना शरीर ढकती है। उनका आधा वस्त्र तो उनकी कमर के आसपास बाँधा जाता है और आधा सिर को ढक लेता है।

"हिन्दुस्तान की सबसे मजेदार बात तो यह है कि यह बहुत बड़ा मुल्क है और सोने-चाँदी की यहाँ अपार राशि है। बरसात के दिनों में यहाँ हवा बड़ी सुहावनी चलती है। कभी-कभी तो यहाँ दिन भर मे दस, पन्द्रह अथवा बीस बार तक वर्षा हो जाती है। जरा-सी देर मे ही यकायक मूसलाधार वर्षा होने लगती है और वे नदियाँ जिनमें पहले जरा भी पानी नही होता, पानी से भरकर बहने लगती हैं। इधर मेह बरसता रहता है और उधर ठण्डी और मजेदार बरसाती हवा बहने लगती है; सुहावनी और स्वास्थ्यकारी होने मे इससे कोई बाजी नही ले सकता। बस बुरी बात यही है कि यह बरसाती हवा सीली हुई और नम हो जाती है। उन देशों (ट्रान्स-ऑक्सियाना) की कमान पर यदि हिन्दुस्तान की वर्षा उतर जाय, तो चाहे उसे तोड़ ही डालिए, उसे चढ़ाना कठिन हो जायगा। केवल कमान ही नहीं, कवच, किताबें, कपड़े-लत्ते, भाँड़े-बरतनों तक पर वर्षा का असर हो जाता है और इसी कारण यहाँ के मकान भी अधिक दिनों तक मजबूत नही रहते। बरसात मे ही नही, जाड़े और गर्मी में भी हवाएँ बड़ी मजेदार चलती हैं। इन्ही ऋतुओं में कभी-कभी धूल-मिट्टी लिये हुए उत्तरी-पश्चिमी हवा भी चलने लगती है। यह हवा प्रत्येक वर्ष गर्मी के मौसम में, जब वर्षा की शुरूआत होने वाली होती है, बड़े जोर से चलती है। यह इतनी तेज और इतनी धूल-मिट्टी लेकर बहती है कि एक-दूसरे को देखना कठिन हो जाता है। यहाँ के लोग इसे आसमान को काला करने वाली हवा (आँधी) कहते हैं। मौसम गरम रहता है लेकिन असह्य गर्मी नहीं पड़ती और न बलख और कन्धार के समान ही मौसम गरम रहता है और न यहाँ के आधे समय तक इतनी गर्मी ही।

"हिन्दुस्तान में दूसरी अच्छी बात यह है कि यहाँ हर प्रकार के असंख्य, अनगिनती काम करने वाले हैं। प्रत्येक काम को करने वालों की एक पृथक जाति विशिष्ट है और यह जाति उसी काम को बाप से बेटे तक, पीढ़ी-दर-पीढ़ी करती है। मुल्ला शरीफ ने 'जफरनामा' में तैमूर बेग द्वारा बनवायी जाने वाली पत्थर की मस्जिद के बारे में लिखा है कि इसके निर्माण में दो सौ पत्थर काटने वाले लगे थे। ये लोग अजरबेजान, फारस, हिन्दुस्तान आदि देशों से इकट्ठे किये गये थे। लेकिन आगरा की इमारतें बनवाते समय मेरे यहाँ तो रोजाना ६८० कारीगर काम करते थे और पत्थर काटने वाले तो खास आगरा के ही थे। आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर और कोल में बनने वाली मेरी इमारतों के लिए रोजाना १४९१ कारीगर पत्थर काटने का काम करते थे। इसी तरह यहाँ हर काम के असंख्य दस्तकार और कारीगर मौजूद हैं।" (बाबरनामा, पृष्ठ ५१८-२०)

बाबर के वक्तव्य की कुछ बातें तो सरसरी तौर के सामान्य कथन ही कहे जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि वह थोड़े समय तक यहाँ और रहता, तो वह

अपनी बहुत-सी धारणाओं को जरूर बदल लेता। उसने यहाँ जो कुछ देखा-भाला, एक ऐसे विजेता की दृष्टि से ही देखा-भाला जो विजित लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। गाँव-देहात के लोग उसके सामने से भाग गये थे और इसे देखकर उसने धारणा बना ली थी कि हिन्दुस्तान के लोगों में सामाजिक मिलनसारी नही है। यदि उसने मध्यवर्ग अथवा उच्चवर्ग के पढे-लिखे सुसस्कृत व्यक्तियों से सम्पर्क किया होता, तो उसे यह अवश्य मालूम हो जाता कि हमारे पूर्वजों में बुद्धि, वैभव और प्रतिभा की कमी नही थी। इसलिए हमें बाबर की कुछ धारणाओं को यों ही सही नही मान लेना चाहिए।

आत्मचरित्र 'बाबरनामा'

जिस पुस्तक में बाबर ने अपने अनुभव लिखे हैं, वह उसका आत्मचरित्र—'तुजके बाबरी' है। यह बाबरनामा के नाम से भी प्रसिद्ध है। अपनी सुविधा के समय में बाबर ने स्वयं ही इस पुस्तक को अपनी मातृभाषा तुर्की में लिखा था। फारसी में दो बार इसका अनुवाद हुआ। एक अनुवाद तो पायन्दाखाँ ने किया था और दूसरा अब्दुर्रहीम खानखाना ने। कई यूरोपीय भाषाओं—विशेषकर फ्रेंच और अंग्रेजी—में भी इसका अनुवाद हो चुका है। अंग्रेजी मे किये गये तीन बढिया अनुवाद किंग, लीडन और ऐर्स्किन तथा ए० एस० बेवरिज के मिलते हैं। श्रीमती बेवरिज ने अपना अनुवाद मूल तुर्की भाषा से किया है, जबकि पहले दोनों अनुवादकों ने फारसी में किये गये अनुवाद से। इसलिए श्रीमती बेवरिज का अनुवाद सबसे अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक माना जाता है।

बाबर की लेखन-शैली बड़ी स्पष्ट और सुन्दर है। अपने समय के अन्य लेखकों की भाँति वह बात को घुमा-फिराकर नहीं कहता, बल्कि एकदम विषय पर आ जाता है; वह लम्बी-चौडी भूमिका बाँधने का प्रयत्न नही करता, बल्कि स्पष्ट रूप से यथार्थ, संक्षिप्त और सम्पूर्ण वर्णन कर देता है। तुर्की भाषा में अपनी विशुद्ध शैली के लिए वह प्रसिद्ध है। उसकी रचना में सर्वत्र स्पष्टता और सजीवता की छाप मिलती है और ये गुण स्वयं लेखक की निजी विशेषताएँ भी हैं। बाबर ने अपने गुण और दोष दोनों की चर्चा की है। सम्पूर्ण रचना ऐसी रोचक मालूम होती है जैसे कोई रोमान्स हो। पाठक ने इसे पढना आरम्भ किया नही कि बस इसे समाप्त कर डालने की ही सोचने लगता है। किसी भी स्थल पर तो इसकी रोचकता कम नहीं होती। राजनीतिक और फौजी घटनाओं के वर्णन तथा उसके विशिष्ट पुरुषों के शब्द-चित्रों के अतिरिक्त उसने देश की भौगोलिक एवं प्राकृतिक विशेषताओं—यहाँ के जानवर, पक्षी, परिन्दे, फल-फूल और वृक्षों का वर्णन किया है। 'बाबरनामा' पढ़ने से पता चलता है कि प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उसका कितना अगाध प्रेम और विकट आकर्षण था, तथा मानवीय गुण-गरिमा और दोष-दुर्बलता मे उसका चरित्र निर्मित था। यह पुस्तक इस युग के इतिहास का प्रामाणिक ग्रन्थ है। दुर्भाग्यवश इस पुस्तक की कोई भी प्रति सम्पूर्ण अवस्था में प्राप्त नहीं है। इसमें १५०८-१५१६, १५२०-१५२५ और १५२६-१५३० तक की घटनाओं का वर्णन नहीं मिलता है।

चरित्र तथा मूल्यांकन

तत्कालीन तथा आधुनिक युग के प्रायः सभी इतिहासकारों ने एकमत होकर राय प्रकट की है कि बाबर मध्यकाल में एशिया के अत्यन्त प्रतिभाशाली सम्राटों में से एक था। उसके एक कुटुम्बी मिर्जा हैदर ने, जो 'तारीखे-रशीदी' के लेखक हैं उसके बारे में लिखा है कि उसके अन्दर बहुत-से गुण और अनेक विशेषताएँ थीं; वीरता और मानवता के सद्गुण उसमें सर्वोपरि थे। वास्तव में उसके परिवार में उससे पहले ऐसा कोई नहीं हुआ जिसमें ऐसे गुण हों, और न उनकी जाति में ही ऐसा कोई व्यक्ति हुआ था। जिसने ऐसी आश्चर्यजनक वीरता, शौर्य, साहस और पराक्रम का परिचय दिया हो। उसकी लड़की गुलबदन बेगम ने उसके बारे में 'हुमायूँनामा' में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं, और आधुनिक इतिहासकारों में प्रायः सभी ने तत्कालीन इतिहासकारों की ही राय का समर्थन किया है। उदाहरण के लिए, वी० ए० स्मिथ ने लिखा है कि "उस युग के एशियाई शासकों में वह सर्वाधिक प्रतिभाशाली था, और किसी भी देश अथवा युग के राजाओं के क्षेत्र में उसे उच्च स्थान दिया जा सकता है……।" उसके बारे में हैवेल की राय है कि "इस्लाम के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में से वह एक है।" रशब्रुक विलियम्स ने एक व्यक्ति के रूप में और एक राजा के रूप में उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है और इतिहासकार डेनीसन रौस ने भी उस युग के सम्राटों में उसका स्थान ऊँचा रखा है!

व्यक्ति के रूप में—बाबर का व्यक्तिगत जीवन बड़ा ही आदर्शमय था। अपने बाल्यकाल में वह अपने पिता का बड़ा ही आज्ञाकारी और कर्तव्यपरायण पुत्र था। यद्यपि बचपन में ही, जबकि वह ग्यारह वर्ष की अवस्था से कुछ ही बड़ा होगा, उसके पिता का स्वर्गवास हो गया था, लेकिन उनके प्रति उसके हृदय में अपार प्रेम और श्रद्धा थी। वह अपनी माँ, दादी और नानी को अत्यन्त प्रेम करता था और यह प्रेम उनके प्रति अगाध श्रद्धा का ही दूसरा रूप था। यद्यपि अनेक मुसलमान शासक और सरदारों की भाँति ही उसने भी बहु-विवाह किये थे, तथापि अपनी पत्नियों के प्रति वह पूर्णरूप से अनुरक्त था। मित्र भी वह बहुत अच्छा था; अपने बचपन के साथियों को वह केवल याद ही नहीं करता था, बल्कि उनकी मृत्यु पर बहुत रोता था। अपने कुटुम्बीजनों और अन्य रिश्तेदारों के प्रति भी उसका वही प्रेम-भाव था, और जिन लोगों को सहायता की जरूरत होती थी, उनकी वह पूरी मदद करता था। मानवीय स्वभाव की मूल अच्छाइयों में उसका पूरा विश्वास था और उसका हृदय स्वयं इनसे भरा हुआ था। यद्यपि उन दोष-दुर्गुणों से, जो साधारणतया अभिजात्य वर्ग के लोगो में पाये जाते है, वह बिल्कुल मुक्त नहीं था, तथापि अपने व्यक्तिगत जीवन में उसने उच्चकोटि की नैतिकता को स्थान दिया था, जो उसकी जन्मभूमि और उसके युग विशेष में मुश्किल से दिखायी देती है। वह शराब का शौकीन अवश्य था और कभी-कभी बहुत अधिक भी पी लेता था, लेकिन अपने बेटे हुमायूँ की तरह वह नशे का गुलाम कभी नहीं बना। स्त्रियों के प्रति उसके व्यवहार में एक प्रकार का संयम रहता था, जिस संयम से उस

काल में मध्य एशिया के लोग अपरिचित थे। जीवन के ऐश, आराम और विलासिता का गुलाम वह नहीं था। स्वभाव से ही साहसिक कृत्यो के प्रति प्रेम रखने के कारण उसके दिल-दिमाग मे एक अजीब-सी बेचैनी दिखायी देती थी और जीवन की आसामान्य और भयानक स्थितियों का सामना करने में वह बड़ा आनन्द लेता था। आरम्भ से ही कठिनाइयो के विद्यालय मे शिक्षा ग्रहण करने के कारण अभावो से तो वह अभ्यस्त हो गया था और धैर्य, साहस और सहनशीलता आदि विशेषताओ का उसने अपने चरित्र में पूर्णतया विकास किया था। शारीरिक शक्ति उसमें इतनी थी कि बगल मे दो आदमियों को दबाये किले की चहारदीवारी की छत पर वह मंजे से दौड़ लेता था। भारतवर्ष में उसके रास्ते में गंगा को छोड़कर जो भी नदियाँ पड़ी, उन सबको तैरकर ही उसने पार किया और एक बार तो उत्साह में आकर गंगा को भी वह तैरकर पार कर गया।

विद्वान के रूप में—संस्कृति और लोक-शिष्टाचार मे अद्वितीय होने के साथ ही बाबर एक महान पण्डित और ललित कलाओ का प्रेमी था। प्राकृतिक सौन्दर्य की विशेषताओ का वह अद्भुत पारखी था तथा व्यक्ति और जीवन के बहुरंगी रूपों के समझने में वह दक्ष था। वह तुर्की भाषा का एक उच्चकोटि का सुयोग्य लेखक था और उसकी लेखन-शैली विशुद्ध थी। उसकी सुप्रसिद्ध आत्मकथा 'बाबरनामा' ने उसे अमरत्व प्रदान कर दिया है; कवि भी वह उच्चकोटि का था। तुर्की भाषा में उसका दीवान (कविता-सग्रह) काव्य-कला का एक अनुपम उदाहरण है जिसकी प्रशंसा उसके समसामयिक काव्य-प्रेमियों से लेकर आज तक की जाती है। फारसी में भी उसने कविताएँ लिखी थीं और 'मुबइयान' नाम की एक विशेष पद्य-शैली का वह जन्मदाता माना जाता है। एक सुलेखक और ललित- कलाओं—विशेषकर कविता और संगीत—का प्रेमी होने के साथ-साथ उसकी आलोचनात्मक अभिरुचि भी अत्यन्त विशिष्ट थी। 'आत्मचरित्र' लेखकों में उसका स्थान एक राजा की भाँति ही ऊँचा माना जा सकता है। 'बाबरनामा' में अपने कार्यकलापों का उसने ऐसा सजीव चित्रण किया है और भविष्य के लिए वह मनोरंजक सामग्री छोड़ी है कि बस प्रशंसा करते ही बनती है। इन वृत्तान्तों में भ्रमण किये हुए देश-विदेशों का वर्णन है; वहाँ की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक दृश्य, जलवायु, दस्तकारी, उद्योग-धन्धे, लोगों के रहन-सहन, जानवर, पक्षी-परिन्दे, फल-फूल और वृक्षादि का वर्णन है। वैसे तो बाबर में एक विद्वान की सभी विशेषताएँ विद्यमान थीं; फिर भी उसे सैनिक विद्वान कहना ठीक होगा। वह सैनिक पहले था, और विद्वान बाद में। उसकी विद्वता और संस्कृति ने अविश्रान्त सैनिक कार्य-कलापों में कोई बाधा नही डाली और न इनके द्वारा उसके अन्दर उन अतिशय कोमल भावनाओं का ही उदय हुआ, जो प्रायः विद्वता के साथ सम्बन्धित रहती हैं

धार्मिक विचार—वैसे तो बाबर एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था, लेकिन धार्मिक कट्टरता उसमें नही थी और अन्य कट्टरपन्थी सुन्नी मतावलम्बियों की तरह उसने गैर-मुसलमान काफिरों को सताना अपना कर्तव्य नही बना लिया था। सुन्नी मत के प्रति

उसकी श्रद्धा और विश्वास ने दूसरे मत-पंथ के लोगों के साथ मित्रता करने से उसे नहीं रोका। फारस के शिया मतावलम्बी शासक शाह इस्माइल सफवी के साथ भी, जो अपने क्षेत्र में सुन्नियों पर जोर-जुल्म करने के लिए बदनाम था, उसने एक समझौता किया था और समरकन्द में शिया मत को प्रोत्साहन देने के लिए भी वह राजी हो गया था। ईश्वर के प्रति उसका इतना अटूट विश्वास था कि उसे एक 'विशिष्ट धार्मिक व्यक्ति' ठीक ही कहा गया है। वह कहा करता था, "ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता; उसकी शरण में ही रहकर हमें आगे बढ़ना चाहिए।" उसका यह विश्वास था कि ईश्वर ही उसे आगे कदम बढ़ाने के लिए प्रेरित करता है। जब-जब उसे विजय प्राप्त होती थी, वह भगवान को अनेकानेक धन्यवाद देता था और उसे उसकी अनुकम्पा का ही परिणाम मानता था। भारतवर्ष में अपने युग की परिस्थितियों के ऊपर उठना उसके लिए कठिन था। हमारे देश के लोगों के साथ उसने धार्मिक उदारता और सहिष्णुता की नीति नहीं बरती।[1] राणा सांगा के विरुद्ध उसने धर्मयुद्ध (जिहाद) आरम्भ किया था और अपने आदमियों को यह कहकर उसके विरुद्ध लड़ने के लिए भड़काया था कि वह काफिर है और उसके खिलाफ युद्ध करना उनका धार्मिक कर्तव्य है। विजय-प्राप्ति के पश्चात उसने गाजी (काफिरों का नाशक) का खिताब प्राप्त किया था। चंदेरी के मेदिनीराय के विरुद्ध भी उसने ऐसा ही धर्मयुद्ध लड़ा था और एक धर्मान्ध सुन्नी के रूप में व्यवहार किया था। अयोध्या में उसने अपनी मस्जिद ऐसे स्थान पर निर्माण करायी थी जिसे श्री रामचन्द्र जी का जन्म-स्थान मान लाखों हिन्दू पूजते थे। चुंगी-कर हटाने में भी उसने हिन्दू-मुसलमान के भेद-भाव को माना था। मुसलमान व्यापारियों से चुंगी बिल्कुल हटा दी गयी थी जबकि हिन्दुओं से यह पूर्ववत ली जाती थी। लेकिन यह सब होते हुए भी यह कहना उचित ही होगा कि यहाँ की जनता के प्रति बाबर का व्यवहार सल्तनत-युग के अन्य शासकों के व्यवहार की भाँति बुरा नहीं था।

सैनिक और रण-कुशल सेनापति के रूप में—बचपन से लेकर मृत्युपर्यन्त बाबर को अपने जीवन की सुरक्षा, सिंहासन छीनने और अन्य स्थानों पर विजय-प्राप्ति के निमित्त निरन्तर लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। इस प्रकार अपने बाल्यकाल से ही मुख्य रूप से वह एक सैनिक बन गया था। वह "एक प्रशंसनीय घुड़सवार, कमाल का निशानेबाज, बढ़िया, तलवारबाज और एक कुशल शिकारी था।" इसके अतिरिक्त उसके अन्दर अमित शारिरिक शक्ति और अपूर्व साहस था; शौर्य-कृत्यों के लिए उसके मन में विकट उत्साह रहता था और मृत्यु को उसने सदैव उपेक्षा की दृष्टि से देखा। असाधारण धैर्य और सहनशीलता के सद्गुण भी उसके अन्दर थे। वह उच्चकोटि का

---

[1] फारसी भाषा में भोपाल से मिला हुआ फरमान, जिसमें लिखा हुआ है कि बाबर ने अपने पुत्र हुमायूँ को सहनशीलता का बरताव करने का आदेश दिया था, जाली फरमान है और किसी प्रकार भी प्रामाणिक नहीं है।

सेनापति और नेता था । दूसरो के ऊपर कमान करने की उसके अन्दर स्वतः शक्ति और प्रतिभा होने के कारण वह अपने अनुयायियो और सैनिको से सरलता से अपने आदेशो का पालन करा लेता था । स्वभाव से ही सैनिको के साथ निकटता प्राप्त करने का भाव रखने और मानव-चरित्र का पारखी होने के कारण उसके सैनिक और अन्य अधिकारी उसके स्वभाव और चरित्र से अच्छी तरह परिचित हो गये थे, और वह उनमें अत्यन्त लोकप्रिय बन गया था । एक अच्छे नेता की तरह वह उनके दुख-सुख और कठिनाइयो में शामिल होता था । अपनी फौज के साथ मिलकर किसी अभावजन्य कष्ट को सहन करना उसके लिए आनन्द की बात होती थी । उसकी आत्मकथा (बाबरनामा) से पता चलता है कि अपने एक अभियान के समय जब वह अपने फौजी दस्तों के साथ ही एक छोटी-सी पर्वतीय गुफा में शरण लेने के लिए गया, तो किस प्रकार भंयकर हिमपात से उसने अपने प्राणों की रक्षा की थी । इधर-उधर छायी हिम-राशि को अपने हाथो से साफकर गुफा के दरवाजे के निकट उसने अपने बैठने ने लिए स्थान बना लिया था । उसके आदमियों ने उससे गुफा के अन्दर जाकर आराम से बैठने के लिए अपार आग्रह और अनुरोध किया, लेकिन वह राजी नहीं हुआ, क्योकि वह तो उन लोगों के साथ वहाँ का कष्ट भोगना चाहता था । वह लिखता है, "मैने अनुभव किया कि मैं गरमाहट लूँ और आराम से रहूँ और उधर मेरे आदमी हिमपात से गलते रहें, अन्दर मैं आराम से सोता रहूँ और बाहर मेरे आदमी कष्ट और असुविधाएँ भोगते रहें—नहीं, यह एक भले आदमी का काम नही है और बन्धु-भावना से गिरी हुई चीजें है । एक बलवान आदमी को जो सहना चाहिए वह मैं सहूँगा, क्योंकि एक फारसी कहावत है, 'मित्रों की मण्डली में मृत्यु भी एक विवाह-भोज मालूम होता है ।' इस प्रकार मैं अपने हाथों से खोदी हुई गुफा में बरफ और ठण्डी हवा में मार सहन करते हुए बैठा रहा, मेरी खोपड़ी, कान और कमर पर चार हाथ मोटी बरफ की मोटी-मोटी तहें जम गयी थी ।" यद्यपि वह अपने सिपाहियों को इस तरह प्यार करता था; किन्तु जरूरत के समय उसे सख्ती से पेश भी आना पड़ता था । कठोर अनुशासन में विश्वास रखने के कारण वह अपने आदमियों के साथ किये गये परिचय और प्रेम-भाव के कारण अनुशासन में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आने देता था । अवज्ञा और अनुशासनहीनता तो वह बड़ी सख्ती से दबा देता था । वह अपने उन सिपाहियों को जो ज्यादतियाँ करते थे, मौत के घाट उतार देता था । उसने लिखा है, "उनमे में कुछ लोगों को तो मैंने मृत्युदण्ड दिया और कुछ की नाकों में नकेल डालकर इसी हालत में फौजी खेमों में घुमवाया ।" यह दण्ड उन सिपाहियों को दिया गया था, जिन्होने भेरा में लूटमार तथा अन्य ज्यादतियाँ की थीं । एक सेनापति के रूप में बाबर ने मध्य एशिया में विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ लड़ते समय युद्ध-विद्या के जो तौर-तरीके देखे-भाले थे, उन्हें कुशलता से समन्वित किया । एशिया का वह प्रथम शासक था जिसने गोला-बारूद का सफलतापूर्वक प्रयोग किया था । वह उसी के सैन्य-निर्देशन का परिणाम था कि इस देश में अपने विरोधियों की सैनिक-संख्या अधिक होने पर भी उन पर विजय प्राप्त की । लेकिन बाबर

को चगेजखाँ और तैमूर की भाँति जन्मजात सेनानायक नहीं कहा जा सकता, और न राणा सागा की कोटि का निर्भीक तथा शिष्ट योद्धा ही माना जा सकता है। अपने आरम्भिक काल मे शायद ही कोई लड़ाई उसने जीती हो। कई बार उसे पराजित होना पड़ा था और अपने स्वदेश से भी भागना पडा था। रशब्रुक विलियम्स की प्रशसात्मक शब्दावली को एक ओर रखकर यह यहना तो यथार्थ ही है कि युद्धक्षेत्रों की पराजय, साहसपूर्ण घुमक्कडी जीवन और विभिन्न वीर जातियो से सम्बन्ध-सम्पर्क स्थापित करने के अनुभवों पर ही बाबर एक उच्चकोटि का सेनापति बन सका था।

शासन और कूटनीतिज्ञ के रूप में—एक सफल फौजी नेता के लिए जैसा स्वाभाविक होता है, बाबर ने भी एक शक्तिशाली शासक के रूप मे केवल भारतवर्ष मे अपनी विशेषताओं का परिचय नही दिया, बल्कि अपने स्वदेश ट्रान्स-ऑक्सियाना मे भी उसने शान्ति और अनुशासन की स्थापना की थी। अपने सुविस्तृत साम्राज्य मे, जिसका विस्तार बदख्शा से लेकर बिहार की पश्चिमी सीमा तक था, उसने लुटेरों से अपनी प्रजा के जान-माल की रक्षा की व्यवस्था की थी। सुविधा से आने-जाने के लिए उसने अपने क्षेत्र के मुख्य-मुख्य भागों में सडके सुरक्षित करवा दी थीं। उसने यह भी ध्यान रखा कि स्थानीय अधिकारी लोगों के ऊपर जोर-जुल्म न करें। उसका दरबार संस्कृति का ही केन्द्र-स्थल नही था, बल्कि कठोर अनुशासन का भी केन्द्र था। एक शासक के रूप में वह अपने प्रजाजनों की सुख-सुविधा का बड़ा ख्याल रखता था और बाहरी आक्रमण तथा आन्तरिक अशान्ति से उन्हें बचाने की पूरी चेष्टा करता था। लेकिन अपनी प्रजा की नैतिक और भौतिक स्थिति सुधारने का न तो उसका विचार था और न उसमें योग्यता ही थी। वह एक कुशल कूटनीतिज्ञ था। १४९४ ई० में जब वह ग्यारह वर्ष की अवस्था से कुछ ही बड़ा होगा, उसने अपने चाचा अहमद मिर्जा को जो संवाद भेजा था उससे ज्ञात होता है कि यह गुण उसमें स्वाभाविक ही था। शायद उसका यह विश्वास था कि सच्चाई ही सर्वोत्तम कूटनीति है। अपने विरोध पर अभियान आरम्भ करने से पूर्व वह अपने पक्ष का लेखा तैयार कर लेता था। काबुल के लोगों के साथ अपनी कूटनीतिज्ञता का जिस रूप में उसने उपयोग किया, उस रूप में फरगाना और समरकन्द में अपने निकट के लोगों के साथ नहीं कर सका था, और भारतवर्ष में उसने जो सफलता प्राप्त की उनका श्रेय बहुत कुछ उसकी कूटनीति को ही है जिसके द्वारा उसने अपने शत्रुओं में फूट डाल दी थी। डेनीसन रौस के शब्दों में, "जिस नीति से उसने सुल्तान इब्राहीम के विद्रोही सामन्तों को आपस में एक-दूसरे से भिड़ाया, वह मैक्यावेली की योग्यता से कम न थी।"

शासन-प्रबन्धक के रूप में—एक सैनिक और विजेता के रूप में बाबर ने इतनी सफलता अवश्य प्राप्त की, किन्तु शासन-प्रबन्धक वह अच्छा नहीं था। उसमें रचनात्मक बुद्धि का अभाव था। हर जगह उसने पुरानी, जीर्ण और दकियानूसी संस्थाओं को जारी रखा और उनकी जगह समय के अनुकूल एवं नवीन शासन-प्राणाली को व्यवहार में लाने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसा करने में वह अयोग्य था। हमारे देश में उसके

कार्यकलाप विध्वंसात्मक ही रहे, रचनात्मकता उनमें नही थी। मुगलों के आक्रमण से दिल्ली सल्तनत का शासन-तन्त्र ध्वस्त हो गया था, किन्तु बाबर ने इसकी जगह किसी अच्छी शासन-प्रणाली की स्थापना करने की चेष्टा नहीं की। उसने अपने साम्राज्य को अपने सामन्तो तथा अन्य अधिकारियों मे बाँट दिया था और उन्ही को शासन-प्रबन्ध का काम भी सौप दिया गया था। इस प्रकार सारे साम्राज्य मे फौजी गवर्नरों के छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये, जो अर्द्ध-स्वतन्त्र थे। केवल सम्राट का व्यक्तित्व ही उन्हे एकसूत्र में बाँधे हुए था। बाबर का साम्राज्य, जैसा ऐर्स्किन ने लिखा है, "छोटे-छोटे राज्यो का समूह मात्र था, वह एकसे शासन-प्रबन्ध के अन्तर्गत विधिपूर्वक सुसंगठित साम्राज्य नही था। सीमान्त और पर्वतीय जिलो मे से बहुत-से तो नाममात्र के लिए उसकी अधीनता मानते थे।" प्रत्येक स्थानीय गवर्नर शासन-प्रबन्ध मे अपना ही तौर-तरीका बरतता था और अपने क्षेत्र के लोगो के जीवन-मरण का स्वामी था। जब बादशाह की माँग होती थी तो वह अपने फौजी दस्ते भेज देता था और केन्द्रीय कोष को वार्षिक कर जमा कर देता था। बस उसके उत्तरदायित्व की यही तक इतिश्री थी। वैसे वह स्वतन्त्र होता था। साम्राज्य में एकसी लगान-व्यवस्था स्थापित करने की ओर बाबर ने कोई कदम नही उठाया। जमीन की नाप-जोख तथा उसकी पैदावार को ध्यान में रखते हुए एकसे कर की माँग रखने की ओर कोई चेष्टा नही की गयी। न्याय प्रबन्ध भी बड़ा अव्यवस्थित था। इस प्रकार "इस विशाल साम्राज्य के विभिन्न भागों की राजनीतिक स्थिति में बहुत कम समानता थी। राजा की निरंकुश शक्ति को छोड़कर शायद ही ऐसा कोई कानून था जो उस समय सारे साम्राज्य में लागू समझा जाता हो।"

अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं को समझने की योग्यता न होने के कारण बाबर मध्य श्रेणी का अर्थ-सचिव था। उसने यह नही विचारा कि शासन-प्रबन्ध की सफलता खजाने की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति पर आधारित होती है और इसी भूल में दिल्ली और आगरा के खजानों मे अपने सौभाग्य से जो धनराशि उसने प्राप्त की थी, उसे उड़ा दिया। उसकी उदार किन्तु खर्चीली नीति के कारण रुपये-पैसे की बड़ी कमी हो गयी और इस पर भी उसने एक गलत कदम और उठाया। खानुवा की लड़ाई के ठीक पहले सरकारी आय की मुख्य मद—स्टाम्प कर—मुसलमानों से लेना बन्द कर दिया। ऐसी भूलें कर बैठने के बाद शीघ्र ही उसकी समझ में यह बात आ गयी कि रुपये के बिना शासन-प्रबन्ध की गाड़ी नहीं चल सकती और इसलिए विवश होकर उसने कुछ अतिरिक्त कर लगाये, जिससे फौज की साजसज्जा तथा सिपाहियों और शासन-प्रबन्ध के कार्य में लगे अन्य अधिकारियों के वेतन का प्रबन्ध हो सके। इसके आगे उसे सभी सरकारी पदाधिकारियों पर एक बड़ी फीस भी लगानी पड़ी। प्रत्येक अधिकारी को सरकारी कोष में एक निश्चित रकम जमा करनी पड़ती थी। इसका बहुत ही भयंकर परिणाम निकला। लोग रुपये दे-देकर पदों को खरीदने लगे और सरकारी नियुक्तियों में पद के उपयुक्त योग्यता की कोई कसौटी नहीं रही। इन प्रयत्नों के बावजूद

आर्थिक कठिनाई कायम रही । इस आर्थिक सकट के दुष्परिणाम उसके उत्तराधिकारी हुमायूँ को भोगने पडे । सीमित प्रतिभा होने के कारण बाबर शासन-प्रबन्ध की एक ऐसी प्रणाली ही स्थापित कर सका जो केवल युद्धकालीन परिस्थितियों में चल सकती थी । रशब्रुक विलियम्स ने ठीक ही कहा है कि "बाबर ने अपने बेटे के लिए ऐसा राजतन्त्र छोडा, जो केवल युद्धकालीन परिस्थितियों मे ही सुगठित रह सकता था, शान्तिकाल के लिए तो यह निर्बल और निकम्मा था ।" बाबर अपने बेटे हुमायूँ की कठिनाइयों के लिए कम उत्तरदायी नही है ।

इतिहास में बाबर का स्थान

बाबर का एक राजा के रूप मे अपनी मातृभूमि ट्रान्स-ऑक्सियाना के इतिहास मे, जहाँ से उसे अपमानपूर्वक काबुल में शरण लेने के लिए निकाल बाहर किया गया था, कोई प्रमुख स्थान नही है और न अफगान लोग ही उसे श्रद्धापूर्वक याद करते है, क्योकि अफगानिस्तान मे उसने शासन-प्रणाली में ऐसे कोई उपयोगी सुधार नही किये जिनके साथ उसका स्मरण किया जाता । यदि उसके पुत्र हुमायूँ के निष्कासन के बाद मुगलों के हाथ से सारा साम्राज्य हमेशा के लिए निकल गया होता, तो भारतवर्ष के इतिहास में भी उसकी याद शेष नही रहती । किन्तु यह उसका सौभाग्य था कि अकबर जैसा उसका पोता उत्पन हुआ, जिसने मुगल-साम्राज्य की ऐसी गहरी और सुदृढ़ नींव डाली जिससे दो सौ वर्ष से अधिक काल तक यह फलता-फूलता रहा । इसलिए भारतवर्ष मे मुगल-साम्राज्य का स्थापक वास्तव में अकबर को ही माना जाता है, उसके दादा बाबर को नही । बाबर ने तो मुगल-साम्राज्य की नीव का पहला पत्थर ही रखा था, इसलिए भारतीय इतिहास मे उसका स्थान एक विजेता और साम्राज्य का शिलान्यास करने वाले व्यक्ति के रूप मे ही है । इस विशाल मुगल-साम्राज्य को पुनःस्थापित करने और उसे शानदार शासन-प्रणाली द्वारा संचालित करने का श्रेय तो उसके पोते अकबर महान् को ही है ।

यदि बाबर को हिन्दुस्तान पर विजय प्राप्त करने से सफलता नही भी मिली होती और अपने बेटे के लिए उसने साम्राज्य नही छोड़ा होता, तो भी साहित्य जगत में उसकी स्मृति सदैव जीवित रहती । सामान्य पाठक के लिए तो बाबर के राजनीतिक कार्यकलापों की अपेक्षा उसके भव्य व्यक्तित्व का आकर्षण ही अधिक है । विश्व-इतिहास में उसका बडा ही दिलचस्प व्यक्तित्व है । वह उन लोगों में से था "जो मन और शरीर से इतने स्फूर्तिवान होते हैं कि कभी प्रमाद में नहीं रहते और सब कुछ कर लेने के लिए समय निकाल लेते हैं ।" उसके चरित्र में एक महान राजा और एक श्रेष्ठ पुरुष के सद्गुणों का बड़ा सुन्दर मिश्रण था । वह इतना प्रसन्नचित्त, स्पष्ट और साहस-सम्पन्न था कि किसी भी प्रकार की कमी, कठिनाई अथवा आपत्ति उसके स्थिर मन को विचलित नहीं कर सकती थी । साहसिकता उसके जीवन की प्राण-मात्र थी । कभी-कभी स्वभाव से वह बड़ा भयंकर, कठोर और निर्दयी दिखायी देता था, किन्तु यह मनोदशा क्षणिक होती थी और वह पुनः अपने मधुर और सौम्य रूप में आ जाता था ।

स्टेनले लेनपूल ने लिखा है कि "पूर्व देशों के इतिहास में सबसे अधिक आकर्षक व्यक्तित्व शायद बाबर का ही है और यह तथ्य कि उसने यह विशेषता अपने आत्म-चरित्र में भी उतार दी, उसके लिए कम प्रसिद्धि की बात नहीं है। मध्य एशिया और भारतवर्ष, लुटेरे दल और साम्राज्य सरकार, तैमूर और अकबर के मध्य वह एक कड़ी के रूप में अवस्थित है। एशिया को पदाक्रान्त करने वाली दो जातियाँ मंगोल और तुर्क तथा उनके शक्तिशाली प्रतिनिधि चंगेजखाँ और तैमूर का रक्त उसकी धमनियों में मिलकर बह रहा था। खानाबदोश तातारियों के अदम्य और अविश्रान्त शौर्य-प्रेम के साथ उसने फारस की संस्कृति और नागरिकता का समन्वय किया था। साहित्यिक क्षेत्र में तो उसका स्थान उसके आरम्भिक काल के शौर्यपूर्ण कृत्यों और धैर्यपूर्ण प्रयत्नों तथा उसकी मजेदार आत्मकथा 'बाबरनामा' द्वारा, जिसमें उसने इसका वर्णन किया है, निर्धारित है। "....बाबर के शाही वंश की शान-शौकत और शक्ति तो समाप्त हो गयी, किन्तु काल के अस्तित्व को चुनौती देती हुई उसकी साहित्यिक कृति—उसके जीवन का लेखा—अभी तक अविरल रूप में विद्यमान है।"

BOOKS FOR FURTHER READING

1. *Memoirs of Babur* (Translated into English by Mrs. Beveridge).
2. Dughlat, Mirza Haidar : *Tarikh-i-Rashidi* (Translated into English by E D. Ross and N. Elias).
3. Abul Fuzl : *Akbarnama*, Vol I (1921), (Translated into English by H. Beveridge).
4. Erskine, W. : *History of India under Babur and Humayun* (1854).
5. Lanepoole, S : *Babur* (Rulers of India Series).
6. Caldecott : *Life of Babur* (1844).
7. Williams, Rushbrook : *An Empire-Builder of the 16th Century* (1918).
8. Edwards, S. M. : *Babur : Diarist and Despot* (1926).
9. Grenand, Fernand : *Babur, First of the Mughuls* (1930) (Translated into English by Homer White Wand Richard Glaenzer).
10. Haig, Woolseley : *Cambridge History of India*, Vol. VI, Ch. I.

अध्याय ३

हुमायूँ (१५३०-१५५६ ई०)

प्रारम्भिक जीवन (१५०८-१५३० ई०)

नासिरुद्दीन मुहम्मद हुमायूँ का जन्म काबुल में ६ मार्च, १५०८ ई० को हुआ। उसकी माँ माहिम बेगम का विवाह बाबर के साथ १५०६ ई० में हुआ था। शायद यह शिया धर्म को मानने वाली थी। बाबर की स्थिति अफगानिस्तान मे बसने के बाद अच्छी हो गयी थी, इसलिए अनुमान किया जाता है कि उसके ज्येष्ठ पुत्र की शिक्षा-दीक्षा बहुत अच्छे ढंग से हुई होगी। हुमायूँ ने तुर्की, अरबी और फारसी का अध्ययन किया था। किन्तु हुमायूँ हिज्जे तथा शैली में असावधान था अंत: विचारों और साहित्यिक लेखन-शैली में उसे विद्वत्तापूर्ण यथोचता प्राप्त नही हुई। कहते हैं कि उत्तरी भारत पर बाबर की विजय के पश्चात उसने कुछ हिन्दी भी सीख ली थी। साहित्य और काव्य के अतिरिक्त उसे गणित, दर्शनशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, फलित तथा गणित मे भी रुचि थी। सैन्य-शास्त्र भी उसकी शिक्षा का अग था। जब वह बालक ही था, उसके पिता ने सिविल और फौजी शासन-व्यवस्था सँभालने में उसे अनुभव प्राप्त कराया था। पानीपत की लड़ाई से पूर्व हामिदखाँ द्वारा संचालित अफगानों के एक लड़ाकू दल का सामना करने के लिए उसे भेजा गया था। हिसार फीरोजा के निकट हुमायूँ ने हामिदखाँ को हरा दिया। वह उस समय १८ वर्ष का था और युद्ध का यह उसका पहला अनुभव था। आगे चलकर वह पानीपत और खानुवा के युद्धों में लड़ा और अफगानों से अनेक बार मुठभेड़ें की। १५२६ ई० मे हिसार फीरोजा का जिला उसके नाम कर दिया गया और बाद में उसे जागीर के रूप सम्भल दे दिया गया। खानुवा के युद्धोपरान्त उसे बदख्शां का उत्तरदायित्व सँभालने के लिए भेज दिया गया। किन्तु दो वर्ष के बाद उसने इस स्थान को त्याग दिया और १५२८ ई० में आगरा लौट आया। यहाँ से उसे सम्भल की व्यवस्था के लिए भेज दिया गया। किन्तु यहाँ आकर वह बीमार पड़ गया और आगरा ले आया गया। जिन दिनों वह बीमार होकर मृत्यु-शैय्या पर पड़ा था, तभी उसे बाबर का उत्तराधिकारी समझा जाता था और बाबर ने भी उसको अपना उत्तराधिकारी नामजद कर दिया और उसे अपने अधिकारियों को सौंप दिया।

राज्यारोहण (३० दिसम्बर, १५३० ई०)

बाबर की मृत्यु (२६ दिसम्बर) और हुमायूँ के राज्यारोहण (३० दिसम्बर) के बीच चार दिन का अन्तर था, जिसमें उसको गद्दी से हटाने और मेहदी ख्वाजा

को राजगद्दी पर बिठाने का षड्यन्त्र रचा गया था। प्रधानमन्त्री निजामुद्दीन अली-मुहम्मद खलीफा ने, जिसने हुमायूँ के विपक्ष में अपनी धारणा बना ली थी, सोचा कि राज्य का स्वार्थ इसी बात में है कि हुमायूँ के उत्तराधिकार की अवहेलना की जाय और मेहदी ख्वाजा के राज्यारोहण की पुष्टि' उत्तराधिकारियो से करा ली जाय। मेहदी ख्वाजा बाबर का बहनोई था और उसकी बहन, खानजादा बेगम, का पति था। वह अनुभवी और योग्य शासक था। इधर हुमायूँ ने कोई विशेष योग्यता का प्रदर्शन भी नहीं किया था। उसने अपने पिता की आज्ञा के बिना दिल्ली मे खजाने के सन्दूक खोले थे और उनका धन दबा बैठा था। उसने बदख्शां में अपना पद त्याग दिया था जिसके कारण वह अपने कर्तव्यों का उपेक्षक बन गया। इसके साथ ही मानव-स्वभाव के अनुभवी पारखी खलीफा ने यह भी अनुभव किया कि राजकुमार में अध्यवसाय और सूझ-बूझ की कमी है। कामरान, असकरी और हिन्दाल की छोटी अवस्था और उनके अनुभवहीन होने के कारण उन्हें राजसिंहासन के लिए अस्वीकृत कर दिया गया था। बाबर की मृत्यु से पूर्व ही यह षड्यन्त्र अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया था; किन्तु इसके कार्यान्वित होने से पूर्व ही खलीफा ने अपना दृष्टिकोण बदल दिया। 'तबकाते-अकबरी' के लेखक निजामुद्दीन अहमद के पिता मुहम्मद मुकीम उस घटना के साक्षी थे, जिसमें खलीफा ने मेहदी ख्वाजा के हाथों में राजगद्दी सौंपने की योजना को त्याग दिया था। वह कहता है कि एक दिन जब मीर खलीफा मेहदी ख्वाजा के स्थान से चलने लगे तो ख्वाजा ने ऊँची आवाज में कहा, "यदि परमात्मा ने चाहा तो बादशाह के रूप मे मेरा प्रथम कृत्य तुम्हारी और तुम जैसे अन्य विश्वास-घातियों की खालें खींचना होगा।" मुकीम ने इन शब्दों को सुन लिया और प्रधान-मन्त्री से शिकायत कर दी। इस पर खलीफा ने इस योजना का परित्याग कर दिया और षड्यन्त्र का अन्त हो गया। हुमायूँ का राज्याभिषेक संस्कार ३० दिसम्बर, १५३० ई० को सम्पन्न हुआ।

उसकी कठिनाइयाँ

अफगान लोग

हुमायूँ ने दिल्ली के राजसिंहासन को काँटों की सेज के रूप में पाया। मुगल-साम्राज्य, जिसमें मध्य एशिया के बलख, कुन्दुज और बदख्शां प्रान्त सम्मिलित थे और भारत में पंजाब, मुल्तान, आधुनिक अवध और उत्तर प्रदेश, बिहार, ग्वालियर, धौलपुर, बयाना और चन्देरी सम्मिलित थे, एक असंगठित साम्राज्य के रूप में था। साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक शक्तिशाली सरदार, विशेषकर अफगान सरदार, अभी तक सिर उठाये हुए थे। स्वर्गवासी सुल्तान इब्राहीम के भाई महमूद लोदी ने मुगलों के हाथों से अपने पूर्वजों की राजगद्दी को पुनः प्राप्त करने की आशा और आकांक्षा का अभी त्याग नहीं किया था। शेरखाँ सूर अफगानों को एक शक्तिशाली सम्प्रदाय के रूप में ढालने का अवसर ताक रहा था, ताकि उनकी सहायता से वह एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण कर सके। इसके अतिरिक्त बिब्बन और बायजीद जिनको उनके

राज्यों से निकाल दिया गया था, पुनः अपने राज्यो पर अधिकार करने के सुअवसर की प्रतीक्षा मे बैठे थे। बगाल का नुसूरतशाह सक्रिय रूप से अफगानों को सहयोग दे रहा था। बाबर को भारत मे आमन्त्रित करने वाले प्रमुख उत्तरदायी व्यक्तियो मे आलमखा गुजरात के बहादुरशाह के दरबार मे शरणार्थी के रूप में रहता था। बहादुरशाह ने उसे धन दिया और एक बड़ी सेना सगठित करने में भी उसकी सहायता की। यह सेना उसके लड़के तातारखाँ की अध्यक्षता में आगरा पर आक्रमण करने को भेजी गयी थी।

मिर्जा वर्ग

हुमायूँ के सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी उसके निकट के सम्बन्धी थे, विशेषकर वे तैमूरवंशी, जो बाबर से अपने रक्त सम्बन्ध का दावा करते थे और मिर्जा कहलाते थे। इनमें प्रमुख मुहम्मद जमान मिर्जा था। वह हिरात के सुल्तान हुसैन बैकरा का पोता था और हुमायूँ की सौतेली बहन मासूमा बेगम से उसने विवाह किया था। वह एक अनुभवी सैनिक था, किन्तु बड़ा उपद्रवी और चंचल आदमी था। महत्त्वाकांक्षी वह इतना था कि दिल्ली के राजसिंहासन को अधिकृत करने की चाह को अपनी शक्ति से परे नही समझता था। दूसरा प्रमुख मिर्जा मुहम्मद सुल्तान था। वह भी तैमूर की पीढी में से था और हिन्दुस्तान की राजगद्दी का आकांक्षी था। तीसरा मेहदी ख्वाजा था, जिसको बाबर के प्रधानमन्त्री ने राज्याधिकार के लिए चुन लिया था। आत्म-निर्णय के अभाव के कारण वह अवसर को खो चुका था। कुछ भी हो, शाहंशाही सैन्य-खण्ड का कमाण्डर और बाबर का निकट सम्बन्धी होने के कारण उसने स्वयं को हुमायूँ के बराबर ही समझ लिया। कुछ अन्य उच्चाधिकारी भी थे जो चगताई तुर्क थे और मुगल राजवंश से इनका सम्बन्ध था। बड़े-बड़े प्रदेशों के स्वामी और शक्तिशाली सैन्य-दलों के संचालक होने के कारण ये लोग बड़े महत्त्वाकांक्षी थे और नये बादशाह से प्रतिद्वन्द्विता रखने के इच्छुक थे।

उसके बन्धु-बान्धव

मिर्जाओं के अतिरिक्त हुमायूँ को अपने सगे भाइयों से भी संघर्ष करना था। इनमें पहला कामरान था, जो हुमायूँ से छह वर्ष छोटा था। पहले से ही काबुल और कंधार उसके अधिकार में थे। दिल्ली के राजसिंहासन पर उसकी अत्यन्त लालसापूर्ण दृष्टि लगी थी। दूसरा भाई असकरी हुमायूँ से आठ वर्ष छोटा था। तीसरा हिन्दाल था, जो असकरी से दो वर्ष छोटा था। ये लोग भी बड़े झगड़ालू, उपद्रवी और महत्त्वाकांक्षी थे, किन्तु असाधारण योग्यता और चरित्र-बल का इनमें नितान्त अभाव था। लेनपूल का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि "सदा से निर्बल और अस्थिर होने के कारण असकरी और हिन्दाल महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के हाथ के यन्त्र होने के कारण खतरनाक मालूम देते थे।"

बाबर की विरासत

हुमायूँ की कठिनाइयों के लिए बाबर कम उत्तरदायी नहीं था। शासन की

सुन्दर व्यवस्था स्थापित करने मे वह असमर्थ रहा। उसने अपनी प्रजा के हृदय पर विजय पाने का प्रयत्न तक नही किया। प्रजा अभी मुगलो को विदेशी आक्रान्ता के रूप मे ही देख रही थी। उसकी अनुचित और अनावश्यक उदारता के कारण शाही खजाना खाली हो चुका था, जिससे आरम्भ से ही हुमायूँ की शासन-व्यवस्था को आर्थिक सकट का सामना करना पडा। फौजी जागीरो की व्यवस्था द्वारा अनेक बड़े-बड़े सरदार उठ खडे हुए थे, जो नये राजा के सकेत पर चलने को तैयार नही थे, क्योंकि वे जानते थे कि राजा निर्बल और अस्थिर चित्त का व्यक्ति है। हुमायूँ के कानों मे उसके पिता का यह अन्तिम उपदेश भी गूँजा करता था कि चाहे उसके भाई अच्छे व्यवहार के योग्य हो अथवा न हो, किन्तु हुमायूँ को उनके साथ अच्छा व्यवहार ही करना चाहिए। कर्तव्यपरायण पुत्र होने के नाते उसने इस उपदेश की अवहेलना नही की, यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति मे उसके अनुसार चलने के प्रयत्न मे उसे हानि उठानी पड़ती थी। इस प्रकार बाबर ने अपने पुत्र को ऐसी विरासत छोड़ी थी, जो बड़ी डाँवाडोल थी।

बाह्य कठिनाइयाँ

हुमायूँ के बाह्य प्रतिद्वन्द्वियो मे बगाल और गुजरात के राजा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बंगाल के राजा का विश्वास था कि बाबर की मृत्य के पश्चात उसके साथ हुई सन्धि का भी अन्त हो गया। वह बिहार के अफगानो का खुलकर साथ दे रहा था। गुजरात का बहादुरशाह प्रसिद्ध योद्धा था और उसने मालवा तथा मेवाड को जीतने की योजना बनायी थी; किन्तु उसके जीवन की सबसे बड़ी आकाक्षा दिल्ली के राजसिहासन पर अधिकार करने की थी। एक प्रकाण्ड कूटनीतिज्ञ के नाते उसने बिहार के अफगानों से एक समझौता कर लिया ताकि वे मुगलों को हिंदुस्तान से बाहर निकालने के समान प्रयत्न में उसे सहयोग दें।

व्यक्तिगत कठिनाइयाँ

भारत में मुगलों के इतिहास की इस सकटमयी घड़ी में यह आवश्यक था कि उसके शासक उत्कृष्ट सैन्य-संगठन की कुशलता से पूर्ण हों और कूटनीतिक दक्षता तथा राजनीतिक पटुता के साथ किसी भी स्थिति का सामना पूर्ण साहस और अविचल भाव से कर सकें; लेकिन हुमायूँ यद्यपि २३ वर्ष का हो चुका था, तब भी उसमें उक्त योग्यताओं का अभाव था। बौद्धिक योग्यता और साहित्य के प्रति अभिरुचि होते हुए भी उसमें फौजी प्रतिभा और इच्छा-शक्ति का अभाव था। राजनीतिक तथा शासन-व्यवस्था के मामलों में वह बुद्धिमत्ता और अन्तर्दृष्टिविहीन था। इसके अतिरिक्त वह क्रियाशील अध्यवसायी पुरष नहीं था। किसी बात को शीघ्र तय करने और शीघ्र उसे झटपट सम्पादन कर डालने में भी वह कोरा था। लेनपूल ने ठीक ही लिखा है कि "उसमें चारित्रिक बल और संकल्प-शक्ति का अभाव था। डटकर प्रयत्न करना उसकी शक्ति के बाहर था। विजय-प्राप्ति के थोड़ी देर बाद ही वह अपने हरम (अन्तःपुर) में जाकर आनन्द में पड़ा रहता था और अपने अमूल्य समय को अफीमची

के सपनों की दुनिया में नष्ट करता रहता था। इधर उसके शत्रुओं का गर्जन उसके द्वार पर सुनायी दे रहा था। स्वभाव से ही दयालु होने के कारण जहाँ उसे दण्ड देना चाहिए था, वहाँ वह क्षमादान करता था। नम्र स्वभाव और मिलनसार होने के कारण वह ऐसे नाजुक वक्त भी खाने-पीने मे मौज करता नजर आता था, जबकि उस समय उसे युद्धक्षेत्र मे होना चाहिए था। उसके चरित्र मे आकर्षण तो है, लेकिन कोई प्रभाव नही। निजी जीवन में वह प्रसन्नचित्त था और उसकी वृत्तियाँ शुद्ध थी तथा उसका सम्पूर्ण जीवन भलमनसाहत से भरा था, किन्तु बादशाह के रूप में वह असफल रहा।" इस प्रकार हुमायूँ स्वयं अपने लिए ही समस्या बन बैठा और वह स्वय ही अपना सबसे बड़ा शत्रु सिद्ध हुआ।

उसकी भूल

साम्राज्य का विभाजन

अपने शासन के आरम्भ से ही हुमायूँ ने अपनी निर्णयहीनता के कारण हानि उठानी आरम्भ कर दी। साम्राज्य को अपने भाई और चचेरे भाइयों में विभाजित कर उसने पहली भूल की। अपने द्वेषी और प्रतिद्वन्द्वी भाइयो पर कड़ा नियन्त्रण रखने के बजाय उसने उन्हे अपने राज्य का भागीदार बना दिया। सुलेमान मिर्जा को बदख्शां में स्थायी पद दे दिया गया। हिन्दाल को बदख्शां से लौटने पर मेवात का विस्तृत क्षेत्र जागीर में दे दिया गया, जिसमें आधुनिक अलवर, गुड़गाँव और मथुरा के जिले तथा आगरा का कुछ भाग सम्मिलित था, और एक शक्तिशाली सेना का सरदार बनाकर उसे मेवात की राजधानी अलवर भेज दिया। सम्भल का जिला असकरी के नाम कर दिया गया। यह भी मेवात की तरह घना बसा हुआ विस्तृत प्रदेश था। कामरान को, जो कि खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर रहा था, काबुल और कन्धार का स्थायी अधिकारी ही नही बना दिया गया बल्कि पंजाब और हिसार फीरोजा के जिलों पर बलात् अधिकार कर लेने दिया गया। पंजाब और हिसार के अपहरण को स्वीकार करके हुमायूँ ने अपने पिता के साम्राज्य-संगठन की जड़ काट दी। काबुल, कन्धार और सिन्ध के क्षेत्र कामरान के अधिकार में चले जाने से सेना के लिए रंगरूटों की भरती का सबसे अच्छा क्षेत्र हाथ से निकल गया। मुगल मध्य एशिया से अपनी सेना में सैनिकों की भरती किया करते थे। कामरान का पंजाब और अफगानिस्तान का वास्तविक शासक बन जाने की स्थिति मे हुमायूँ का सम्पर्क मध्य एशिया से टूट गया और उसे सिन्धु के पार रंगरूटों की भरती करने से वंचित होना पड़ा। हिसार पर अधिकार करने से कामरान ने पंजाब और दिल्ली के बीच की सदर सड़क पर भी अपना अधिकार सुरक्षित कर लिया। फौजी अधिकारियों को बहुत अधिक मात्रा में भूमि वितरित करने की घातक नीति के दुष्परिणामों को समझने में वह असमर्थ रहा जिसके लिए उसका पिता भी उत्तरदायी था। भाइयों में साम्राज्य को विभाजित करने पर भी मानो उसे सन्तुष्टि न मिली हो, इसलिए उसने अपने प्रत्येक सरदार की जागीरों में अभिवृद्धि कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि उच्च मुगल अधिकारियों को स्वच्छन्द

स्वाधीन होने का प्रोत्साहन मिला और हुमायूँ को अत्यन्त बाधाओं का सामना करना पड़ा ।

कालिंजर का अभियान (१५३१ ई०)

राज्याभिषेक के पश्चात छह मास के भीतर हुमायूँ बुन्देलखण्ड के कालिंजर दुर्ग को घेरने के लिए चल पड़ा । दुर्ग के शासक को अफगानो का शुभचिन्तक समझा जाता था । यह घेरा कुछ महीनो तक पड़ा रहा और अन्त मे हुमायूँ को सुलह करनी पडी। उसने राजा से जन-धन की हानि का मुआवजा लिया ताकि शीघ्र ही पूर्व मे अफगानो के उपद्रव का सामना करने के लिए वहाँ से चल दे । कालिंजर का अभियान एक बड़ी भूल थी । राजा को पराजित न किया जा सका और हुमायूँ अपने लक्ष्य की पूर्ति मे असफल रहा । राजा आसानी से अपनी तरफ मिला लिया जा सकता था और उसको मित्र भी बनाया जा सकता था ।

अफगानों के विरुद्ध प्रथम अभियान : चुनार का प्रथम घेरा (१५३२ ई०)

हुमायूँ को कालिंजर का घेरा उठाने के लिए बाध्य ही होना पड़ा क्योंकि महमूद लोदी के सचालन में बिहार के अफगान मुगल प्रदेश जौनपुर की ओर बढ़े चले आ रहे थे । इस प्रान्त का गवर्नर जुन्नैद बरलास था जो प्रधानमन्त्री खलीफा का छोटा भाई था । जुन्नैद मैदान में न ठहर सका और पीछे हट गया । अफगान लोग बाराबकी जिले के अन्तर्गत वर्तमान नवाबगंज तक बढ़ आये । हुमायूँ और महमूद लोदी की मुठभेड़ दौहरिया में अगस्त १५३२ ई० मे हुई । अफगान लोग पराजित हुए और भयभीत होकर बिहार की ओर भाग खड़े हुए । इसके बाद हुमायूँ ने चुनार का दुर्ग घेर लिया जो शेरखाँ के आधिपत्य में था । यह घेरा चार मास तक पड़ा रहा (सितम्बर से दिसम्बर १५३२ ई०), किन्तु दुर्ग-विजय करने के बजाय अन्त में हुमायूँ ने घेरा उठा लिया और शेरशाह का आत्मसमर्पण स्वीकार कर लिया, जिसके अनुसार शेरखाँ ने अफगान सैनिकों की एक टुकड़ी अपने लड़के कुतुबखाँ के सरक्षण में मुगल सम्राट की सेवा में छोड़ दी । हुमायूँ फिर आगरा लौट आया और इस प्रकार शेरखाँ को अपनी शक्ति-साधन की वृद्धि का अवसर मिल गया । यह हुमायूँ की तीसरी भूल थी।

समय और धन की बरबादी (१५३३-३४ ई०)

यद्यपि गुजरात से, जहाँ बहादुरशाह निश्चिन्त होकर अपने वैभव के उत्कर्ष मे लगा हुआ था, चिन्ताजनक सूचनाएँ बराबर आ रही थीं, तो भी हुमायूँ अगले डेढ़ वर्ष तक आगरा और दिल्ली में आमोद-प्रमोद में समय नष्ट करता रहा । उसका कोष खाली था, फिर भी राजभोगो पर वह बहुत-सा धन व्यय करता । पुरस्कार और सत्कारस्वरूप बहुमूल्य खिलअतों का वितरण अपने सहस्रों राज्याधिकारियों तथा सरदारो मे किया करता था । उसने अपना काफी समय और धन दिल्ली में एक बड़ा दुर्ग बनाने की विशाल योजना में नष्ट किया । इस दुर्ग का नाम उसने 'दीनपनाह' रखा । इस प्रकार उसने बहादुरशाह को सीमा-विस्तार और शक्ति-वृद्धि का पर्याप्त अवसर दिया ।

बहादुरशाह से युद्ध (१५३५-३६ ई०) : मेवाड़ और गुजरात की जीत व हार

समझौता नीति का पालन करते हुए भी हुमायूँ मुहम्मद जमान मिर्जा और मुहम्मद सुल्तान मिर्जा को अपने पक्ष में न कर सका। इन दोनों को क्रमशः बिहार और कन्नौज में जागीरें प्रदान की गयी थीं। मुहम्मद जमान को अपना अभिन्न मित्र और सहयोगी बनाने के लिए हुमायूँ ने उसे बिहार का स्थायी गवर्नर बना दिया। जुलाई १५३४ ई० में दोनों मिर्जाओं ने बलीखूब मिर्जा के साथ मिलकर एक विद्रोह खड़ा कर दिया, किन्तु वे पराजित हुए। मुहम्मद जमान मिर्जा को बन्दी बना लिया गया और उसे अन्धा करने की आज्ञा दी गयी। लेकिन वह बचकर निकल भागा और गुजरात के बहादुरशाह के पास चला गया (नवम्बर १५३४ ई०)। हुमायूँ ने बहादुरशाह से बन्दी को वापस कर देने की प्रार्थना की किन्तु बहादुरशाह ने यह माँग ठुकरा दी। विशेष रूप से तो आलमखाँ लोदी और उसके साथ मुगल शासक के अन्य बहुत-से अफगान शत्रुओं को उसने पहले ही आश्रय दे रखा था और साम्राज्य के प्रति कुचक्रों के संचालन में सहयोग भी दिया था। बहादुरशाह महत्त्वाकांक्षी शासक था। १५३१ ई० में उसने मालवा को अपने राज्य में मिला लिया था, १५३२ ई० में रायसीन का दुर्ग भी अपने अधिकार में कर लिया था, और १५३३ ई० में चित्तौड़ के सिसौदिया शासक को पराजित किया था। बन्दूकचियों का एक दल संगठित करके तथा कुस्तुनतुनिया के प्रसिद्ध तोपची रूमीखाँ की सेवाएँ प्राप्त करके उसने अपनी सैन्य-शक्ति बहुत बढ़ा ली थी। दिल्ली पर अधिकार करके उत्तरी भारत का सम्राट बनने की आकांक्षा उसके मन में जाग उठी थी इसलिए हुमायूँ की माँग पर वह किसी प्रकार भी ध्यान देने की स्थिति में नहीं था। दोनों के बीच दीर्घकालीन कटु पत्र-व्यवहार अन्त में युद्ध की घोषणा के रूप में फलित हुआ। ऐसा होना भी था, क्योंकि गुजरात राज्य के राजस्थान और मध्य भारत की ओर निरन्तर बढ़ाव ने हुमायूँ को अवश्य सावधान कर दिया होगा। साथ ही बहादुरशाह ने आलमखाँ लोदी के पुत्र तातारखाँ को पहले से ही सशस्त्र और सशक्त सेना-संगठन में सहायता देकर मुगलों द्वारा शासित बयाना पर आक्रमण करके अधिकार करने की ओर प्रेरित कर रखा था। हुमायूँ ने अपने भाई असकरी और हिन्दाल को उसके विरुद्ध भेजा, जिन्होंने दुर्ग पर पुनर्विजय प्राप्त की और मण्डरायल में तातारखाँ को हराकर मार दिया (नवम्बर, १५३४ ई०)।

जब बहादुरशाह चित्तौड़ पर दूसरी बार घेरा डालने में संलग्न था, उस समय स्वयं हुमायूँ उसके विरुद्ध लड़ने के लिए चल पड़ा। आपत्तिकाल में चित्तौड़ के विक्रमादित्य की माता करमेती (कर्णवती) ने हुमायूँ से सहायता की प्रार्थना की और उसके पास इस संकेत से साथ राखी भेजी कि वह भाई का कर्तव्य समझकर शत्रु के पंजों से अपनी बहन (रानी) की रक्षा करे। कहा जाता है कि हुमायूँ ने उपहार स्वीकार किया और चित्तौड़ की ओर अग्रसर हुआ, किन्तु वह सारंगपुर में ही रुक गया (जनवरी, १५३५ ई०)। बहादुरशाह सचेत हो उठा किन्तु अपने अनुमान पर ठीक विश्वास करते हुए कि मुगल सम्राट गैर-मुस्लिम से युद्ध करते हुए अपने सधर्मी भाई पर आक्रमण न

करने की मुस्लिम परम्परा का पालन करेगा, उसने घेरा और सुदृढ़ कर दिया। उसका यह अनुमान ठीक ही निकला। राजनीतिज्ञ की अपेक्षा अन्धविश्वासी अधिक होने के नाते हुमायूँ ने बहादुरशाह पर ऐसे समय में आक्रमण करना पाप समझा, जबकि वह राणा जैसे विधर्मी के साथ युद्ध कर रहा था। यह हुमायूँ की एक और महान भूल थी। उसने राजपूतों की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त करने का एक स्वर्ण अवसर खो दिया। "जिसका महत्त्व और मूल्य उसके पुत्र अकबर ने बाद में समझा।" वीरतापूर्ण सामना करने के बाद चित्तौड़ का पतन हो गया (८ मार्च, १५३५ ई०)। स्त्रियाँ जौहर ज्वाला में भस्म हो गयीं और नगर में तीन दिन लूटमार मची रही। यहाँ से हुमायूँ आगे बढ़ा और चित्तौड़ से साठ मील दूर मन्दसौर के निकट पहुँच गया। अपनी विजयी सेना द्वारा मुगलों पर बहादुरी के साथ आक्रमण करने के बजाय बहादुरशाह ने रक्षात्मक स्थिति अपना ली किन्तु वह प्रत्यक्ष रूप से अपने शिविर में घिर गया। उसकी रसद में कमी पड़ गयी और भुखमरी की आशंका उसके सामने थी। ऐसी दशा में वह २५ अप्रैल, १५३५ ई० की रात को छिपकर भाग निकला और माँडू के दुर्ग में जाकर आश्रय प्राप्त किया।

बहादुरशाह के शिविर में कोलाहल मचा और मुगलों को विश्वास हो गया कि शत्रु आक्रमण करने वाला है। फलतः हुमायूँ रात-भर घोड़े की पीठ पर सवार रहा और उसकी सेना लड़ाई के लिए तैयार खड़ी रही। प्रातःकाल वास्तविकता का पता चला और अश्वारोहियों का एक दल बहादुरशाह का पीछा करने को भेज दिया गया। हुमायूँ ने माँडू का दुर्ग शीघ्र ही घेर लिया। बहादुरशाह ने सन्धि-वार्ता के लिए हाथ बढ़ाया। इसी बीच कुछ मुगल लोगों ने नगर की प्राचीरों पर चढ़कर द्वार खोल लिये। इस पर बहादुरशाह ने किले में जाकर शरण ली और वहाँ से चम्पानेर की ओर भाग निकला (१ जून, १५३५ ई०)। यह स्थान बड़ौदा से २८ मील था। सम्पूर्ण मालवा पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात हुमायूँ शीघ्र ही चम्पानेर की ओर बढ़ चला और दुर्ग पर घेरा डाल दिया। बहादुरशाह निराश हो गया और काम्बे भाग गया (१५ जून, १५३५ ई०), जहाँ पहुँचकर उसने पुर्तगालियों से लड़ने के लिए तैयार किया हुआ जल-युद्ध पोत-समूह नष्ट कर दिया। काम्बे से वह ड्यू की तरफ बढ़ गया। हुमायूँ भी उसका पीछा करता ही चला आया और काम्बे पहुँच गया, जहाँ के स्थानीय सरदार ने उसके शिविर पर आक्रमण कर दिया, किन्तु आक्रमणकारियों को मार भगाया गया। काम्बे से हुमायूँ चम्पानेर चला आया (१ जुलाई) जो अभी तक इख्तियारखाँ नामक एक गुजराती अधिकारी के आधिपत्य में था। दुर्ग को, जो एक घने जंगल में अवस्थित था, फिर से घेरने की व्यवस्था की गयी। चार मास व्यतीत हो गये किन्तु मुगलों ने इस घेरे में कोई प्रगति नहीं की। एक दिन हुमायूँ ने जंगल से आते हुए ग्रामीणों को देखा और अनुमान लगाया कि उस ओर की दीवार आदमियों के प्रवेश के लिए अवश्य ही नीची होगी। इसलिए एक रात को उसने दीवार के पत्थरों के बीच के चूने में कीलें गाड़कर दीवार के पार उतरने का उपाय ढूँढ़ निकाला। शत्रु को भ्रम में डालने के लिए दुर्ग के दूसरे भागों पर आक्रमण जारी रखने की आज्ञा दे दी गयी।

और वह अपने साथियों के साथ चाँदनी रात में दीवार पर चढ़ गया। दुर्गरक्षक भयभीत हो गये और घबरा गये। हुमायूँ के सैनिकों ने स्थिति से लाभ उठाकर दुर्ग के द्वार पर अधिकार कर लिया। इख्तियारखाँ को ६ अगस्त, १५३५ ई० को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य होना पड़ा। लूटमार में मुगल सम्राट के हाथों अपार धनराशि आ गयी, क्योंकि गुजरात के बादशाह का खजाना चम्पानेर में सुरक्षित था।

माँडू और चम्पानेर पर अधिकार होना मुगलों की एक महान विजय थी। लेकिन हुमायूँ ने वहाँ अपने शासन को सुव्यवस्थित करने की कोई व्यवस्था नहीं की, और अनेक सप्ताह आमोद-प्रमोद में नष्ट कर दिये। चम्पानेर में जो कोष उसके हाथ लगा था, उसको उसने मुक्तहस्त से खर्च कर दिया। गुजरात की शासन सम्बन्धी उलझनों के कारण बहादुरशाह को अपने विश्वासपात्र हाकिम इमादुलमुल्क को अहमदाबाद में मालगुजारी एकत्र करने के लिए भेजने का सुअवसर प्राप्त हुआ। शासन-व्यवस्था की पुनःस्थापना के लिए इमादुलमुल्क ने काफी काम किया। वह एक बड़ी सेना लेकर गया और मालगुजारी के धन को खर्च करके उसने एक शक्तिशाली सैन्य-दल खड़ा कर लिया। अब हुमायूँ की नींद खुली। उसने इमादुलमुल्क का सामना करने के लिए अपने भाई असकरी को भेजा। इमादुलमुल्क ने असकरी को वैसे तो चकित कर दिया किन्तु विजय असकरी की हुई। इसी बीच हुमायूँ अपने भाई की सहायता के लिए आ पहुँचा था और उसने अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया (अक्टूबर, १५३५ ई०)। अब उसने गुजरात का गवर्नर असकरी को नियुक्त किया और उसकी सहायता के लिए हिन्दू बेग नामक एक अनुभवशील हाकिम को तैनात कर दिया और वह स्वयं ड्यू पर जहाँ बहादुरशाह ने शरण ले रखी थी, आक्रमण करने के लिए चल दिया। लेकिन इस कार्य को सम्पन्न करना असम्भव प्रतीत हुआ, क्योंकि मालवा से चिन्ताजनक सूचनाएँ आयी थीं, जहाँ संगठित शासन-व्यवस्था के अभाव में विद्रोहियों ने मुगल सेना को उज्जैन की ओर ठेल दिया था। हुमायूँ को माँडू लौटना पड़ा (२२ फरवरी, १५३६ ई०)। यहाँ आकर वह फिर प्रमाद और आलस्य में पड़ गया। इसी बीच गुजरात में पुनः उलझनें खड़ी हो गयीं। उसका वहाँ से हटना ही विद्रोह का संकेत हो गया। बहादुरशाह ने, जिसके अधिकार में जलपोत का एक बेड़ा था, पुर्तगाली और अफ्रीकी गुलामों से सहायता ली और मुगलों से अनेक नगर छीन लिये। असकरी घबरा गया और प्रान्त की रक्षा की चिन्ता करने से पहले वह अपनी रक्षा की चिन्ता में पड़ गया। स्थानीय गुजराती सरदारों ने, जो मुगल-शासन से असन्तुष्ट थे, बहादुरशाह को वपिस आने का निमन्त्रण दिया। वह एक सेना संगठित करने लगा और अहमदाबाद की ओर बढ़ चला। इस संकटमय स्थिति में जबकि असकरी हुमायूँ से कोई सहायता न पा सकता था, उसकी सेना विभाजित हो गयी। उसके कुछ सलाहकारों ने सुझाया कि यदि वह अपने को हुमायूँ से स्वतन्त्र होने की घोषणा कर दे तो सम्भव है इस बात से उसकी सेना को प्रोत्साहन मिले। इस बीच बहादुरशाह अहमदाबाद के निकट आ पहुँचा। थोड़े-से संघर्ष के बाद असकरी के पैर उखड़ गये और वह चम्पानेर

की ओर भाग निकला (अप्रैल १५३६ ई०)। यहाँ के गवर्नर टर्दीबेग की स्वामिभक्ति ने चम्पानेर दुर्ग का कोष अधिकृत करने और अपने को स्वतन्त्र घोषित करने की उसकी योजना को असफल कर दिया। वह आगरा की ओर चल पड़ा (२१ अप्रैल, १५३६ ई०)। इसी समय बहादुरशाह चम्पानेर के निकट आ पहुँचा और टर्दीबेग को दुर्ग छोडकर भागना पड़ा (२२ अप्रैल, १५३६ ई०), और जो कुछ भी माल वह ले जा सकता था, उसे लेकर माँडू लौट पडा। इस प्रकार साल भर से कुछ अधिक समय तक मुगलों द्वारा अधिकृत रहने के बाद गुजरात उसके हाथ से निकल गया। (१५३५-३६ ई०)। हुमायूँ को भी मालवा पर अधिकार कायम रखने की सम्भावना दिखायी न दी क्योंकि साम्राज्य के अन्य भागो से उपद्रवों और अव्यवस्था के भयप्रद समाचार उसे बराबर प्राप्त हो रहे थे। इसलिए उसने मई १५३६ ई० के मध्य में माँडू छोड दिया और आगरे की ओर चल दिया, जहाँ वह ९ अगस्त को पहुँच गया। इस प्रकार समस्त मालवा प्रदेश उसके हाथ से निकल गया। इस प्रदेशीय राज्य के पूर्व-राजाओं के एक उत्तराधिकारी मल्लूखाँ ने यहाँ पर अपना अधिकार जमा लिया।

शेरखाँ से संघर्ष (अक्टूबर १५३७—जून १५४० ई०)

चुनारगढ़ का दूसरा घेरा (अक्तूबर १५३७—मार्च १५३८ ई०)

जबकि मुगल लोग ऐसी नाजुक घड़ी में होकर गुजर रहे थे हुमायूँ ने असकरी से झगडना व्यर्थ समझा। उसने असकरी के राजद्रोह और अपनी सर्वोच्च सत्ता प्रदर्शित करने के अपराध को भी क्षमा कर दिया। उसके आगरा में प्रवेश करने के कुछ काल पूर्व मुहम्मद सुल्तान मिर्जा नामक एक अभ्यस्त विद्रोही को, जिसने बलपूर्वक कन्नौज से जौनपुर तक का प्रदेश अधिकृत कर लिया था, हिन्दाल ने मार-पीटकर बंगाल भगा दिया था। हुमायूँ साल भर तक आगरा मे ही डटा रहा (अगस्त १५३६-जुलाई १५३७ ई०) और उसने इस बात पर ध्यान नही दिया कि मुगल-साम्राज्य के पूर्वी भाग में शेरखाँ तीव्र गति से बढ़ा चला आ रहा है। १५३२ ई० मे जब से उसने हुमायूँ की अधीनता स्वीकार की थी, उसने दिल्ली मे कोई राज-भेंट नही भेजी थी। उसका लड़का कुतुबखाँ, जिसको सम्राट जमानत के रूप मे ले आया था, अपनी सेना सहित अपने पिता के पास भाग गया था। जिस समय हुमायूँ गुजरात के अभियान मे लगा हुआ था, शेरखाँ ने बिना किसी मुगल विरोध के दक्षिणी बिहार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उसने बगाल के शाह को १५३४ और १५३६ ई० में दो आक्रमणो मे पराजित कर दिया था और अपनी प्रतिष्ठा एवं साधनों में भारी वृद्धि कर ली थी। हुमायूँ ने १५३७ ई० की बरसात तक इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि अफगान सरदार इतना प्रबल हो गया है। मालवा और गुजरात पर पुन: अधिकार करने तथा अपने सामाजिक जीवन की रंगरेलियो मे व्यस्त रहकर उसने पूरा साल मूर्खता में नष्ट कर दिया। (अगस्त १५३६—जुलाई १५३७ ई०)। विश्वासघाती मुहम्मद जमान मिर्जा को, पंजाब में विद्रोह खड़ा करने के प्रयत्न तथा अपने लिये गुजरात की राजगद्दी हड़पने में असफल होकर लौटा था, मूर्खता से क्षमा प्रदान

कर हुमायूँ २७ जुलाई, १५३७ ई० को चुनारगढ की ओर बढ़ चला। उसने चुनारगढ़ का दुर्ग घेर लिया। यह दुर्ग शेरखाँ को वहाँ के पूर्व गवर्नर ताजखाँ की विधवा पत्नी लाड मलिका से विवाह के द्वारा प्राप्त हुआ था। इस दुर्ग को शेरखाँ ने अपने पुत्र कुतुबखाँ की अधीनता मे रखा हुआ था। कुतुबखाँ ने अपनी सेना का एक भाग पड़ोस की पहाड़ियों मे तैनात कर दिया, जिससे वह घेरा डालने वालो को हैरान कर सके। यह घेरा छह माह तक बना रहा (अक्टूबर १५३७–मार्च १५३८ ई०) और रूमीखाँ, जो अपने पहले स्वामी बहादुरखाँ को छोड़कर मन्दसौर की लड़ाई से कुछ समय पूर्व ही हुमायूँ से मिल गया था (अप्रैल १५३५ ई०) के प्रयत्नो के बावजूद दुर्ग पर अधिकार न हो सका। इसलिए उसने एक चाल चली। एक अफ्रीकी गुलाम लड़के को बुरी तरह कोडो से पीटकर दुर्ग मे यह जानने के लिए भेजा गया कि दुर्ग के किस भाग पर आक्रमण किया जा सकता है। वह देखभाल कर कई दिनों बाद बाहर आ गया। उसने बताया कि नदी की ओर दीवार पर आक्रमण किया जा सकता है। अब रूमीखा तैरता हुआ अपना तोपखाना बढ़ा लाया और दुर्ग के भेज भाग पर गोलाबारी का संचालन करने लगा। दीवार में दरार पड गयी। इसके बाद उसने आक्रमण का हुक्म दे दिया और दुर्ग अधिकृत कर लिया गया। सैकड़ों अफगान तोपचियो के हाथ काटने की आज्ञा देकर मुगलो ने क्षमादान का वचन भग कर दिया। रूमीखाँ को दुर्ग का शासक नियुक्त कर हुमायूँ ने शेरखाँ का पीछा करने का निर्णय किया जो इस बीच बगाल तक बढ गया था और लगभग उसे जीत चुका था। यद्यपि चुनार पर अधिकार एक महत्त्वपूर्ण सैन्य-कौशल था, फिर भी हुमायूँ को इससे कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि चुनार से किसी आसपास के भू-भागों पर नियन्त्रण नहीं हो सकता था। दूसरी ओर छह माह का जो अमूल्य समय इन्होंने घेरा डाले रहने में नष्ट किया था, उसी का शेरखा ने सदुपयोग किया। इस स्वर्ण अवसर से लाभ उठाकर उसने बगाल के अभियान म सफलता प्राप्त की और बगाल का अधिकांश राजकोष गौड़ से उठाकर रोहतास ले गया।

बंगाल पर अधिकार (१५३८ ई०)

चुनार से हुमायूँ बनारस की ओर बढ़ गया, जहाँ वह कुछ समय तक ठहरा रहा। शेरखाँ अभी तक सन्धि करने के विरुद्ध नहीं था। उसके साथ लम्बी वार्ता के परिणामस्वरूप यह निश्चय किया गया कि अफगान सरदार बिहार का समर्पण कर दे और मुगलों के लिए एक जागीरदार के रूप में उसे बंगाल का अधिकारी रहने दिया जाय, जिसके बदले में वह १० लाख रुपये वार्षिक राज-भेंट चुकाता रहे। शेरखाँ ने इन शर्तो को स्वीकार कर लिया, लेकिन हुमायूँ ने, जो बंगाल के महमूद से पत्र-व्यवहार कर रहा था और उस समय मनेर तक पहुँच गया था, सन्धि की पुष्टि में हिचकिचाहट दिखायी। वह असमंजस मे पड़ गया कि शेरखाँ से सन्धि करे अथवा बंगाल-विजय की योजना बनाये? अन्त में उसने बंगाल-विजय करने का ही निश्चय किया।

जिस समय शेरखाँ की सेना उसके जनरल खवासखाँ के नेतृत्व में बंगाल पर आक्रमण कर रही थी, वहाँ के राजा गियासुद्दीन महमूद ने हुमायूँ से सहायता की प्रार्थना

की; किन्तु उसके पास कहीं से भी कुमुक नहीं पहुँची और वह हाजीपुर भाग गया और उसकी राजधानी गौड़ अफगानों के हाथ चली गयी (६ अप्रैल, १५३८ ई०)। असहाय महमूद का पीछा शेरखाँ ने किया, किन्तु वह अपने प्राण बचाकर भागा और मनेर में हुमायूँ के शिविर मे पहुँचकर बंगाल पर पुनः अधिकार करने की उससे प्रार्थना की। हुमायूँ को उस पर दया आ गयी। उसने शेरखाँ के साथ हाल ही मे किया हुआ समझौता भग कर दिया और गौड की ओर चल पड़ा। बंगाल का भूतपूर्व राजा महमूद घावो से बुरी तरह क्षत-विक्षत था और इन्ही के कष्टो मे खलगाँव (कोलगाँव) मे वह मर गया। किन्तु हुमायूँ बढ़ता ही गया और मई के अन्त तक तेलियागढ़ी पहुँच गया। गौड़ जाने वाली सड़क को जलालखाँ ने रोक दिया, जिसको उसके पिता ने उस मार्ग की रक्षा के लिए तैनात किया था। जैसे ही मुगल लोग इस स्थान पर पहुँचे, जलालखाँ ने उन पर आक्रमण कर दिया। मुगलो की भारी हानि हुई। उधर एक भारी तूफान भी आ गया, जिससे हुमायूँ की प्रगति कई दिनो तक रुकी रही। जलालखाँ को जब यह सूचना मिली कि उसके पिता ने गौड का कोष रोहतास रवाना कर दिया है, तो उसने तेलियागढ़ी को छोड दिया और वह शेरखाँ से जा मिला। यह देखकर कि अफगान सेना पीछे हट गयी है, हुमायूँ बंगाल में प्रविष्ट हुआ और गौड पहुँच गया (१५ अगस्त, १५३८ ई०)। उसने इस स्थान को बिलकुल उजडा हुआ पाया। सड़कों पर लाशों के ढेर पड़े थे; फिर भी उसने वहाँ ठहरना पसन्द किया और उस स्थान का नाम जन्नताबाद रखा। यही पर वह लगभग ८ माह तक रगरेलियाँ और आनन्द-उत्सव मनाता रहा। उसके अधिकारियो और सैनिको ने भी इस दिशा मे उसका अनुकरण किया और सभी कोई राग-रग मे डूब गया।

बादशाह ने आगरा और दिल्ली से सम्बन्ध-सम्पर्क रखने का कोई प्रबन्ध नहीं किया था। आगरा और गौड़ के मध्य मे उसने केवल हिन्दाल को तिरहुत मे नियुक्त कर रखा था। गौड से पश्चिम मे ३५० मील की दूरी पर मुगल प्रदेश में बनारस सबसे निकटतम स्थान था परन्तु बनारस से भी मुगल सम्राट कोई सम्पर्क स्थापित नहीं कर सका। ऐसी प्राथमिक और सामान्य सैनिक सावधानी न रखने का परिणाम यह हुआ कि शेरखाँ ने मुगल राजधानी से उसका (हुमायूँ का) सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। काँटेदार जगलो से घिरे हुए दक्षिण बिहार के झारखण्ड नामक पर्वतीय प्रदेश को सैनिक आधार बनाकर शेरखाँ ने सैनिको को तेलियागढी से कन्नौज तक का सम्पूर्ण प्रदेश विजय करने के निमित्त भेजने की एक श्रेष्ठ योजना तैयार की। वह शीघ्रता से बढता चला गया और बनारस पर अधिकार कर लिया। उसके लड़के जलालखाँ ने जौनपुर घेर लिया और चुनारगढ़ पर घेरा डाल दिया। अफगानो ने कडा, बहराइच, कन्नौज और सम्भल पर अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार जनवरी १५३९ ई० के मध्य तक कोसी और गंगा के बीच का सम्पूर्ण भाग शेरखाँ के अधिकार में आ गया। हुमायूँ का भाई हिन्दाल उत्तरी बिहार मे अपना स्थान पहले ही छोड़कर आगरा चला गया था। आगरा आकर वह सम्राट बनने के स्वप्न

देखने लगा और तदनुसार योजनाएँ भी बनाने लगा। अपनी माँ की सलाह के विरुद्ध भी उसने सम्राट की पदवी धारण कर ली, और शेख बहलोल को मार डाला। हुमायूँ बहलोल से बड़ा स्नेह रखता था। ये समाचार हुमायूँ के कानो तक न सही, उसके अधिकारियो के पास तो देर-अबेर पहुँचते ही रहते थे और वे इन्हें सुनकर टाल जाते थे। जब भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने लगा तो मुगल अधिकारी, जो अब तक इन विपत्तिकारक और चिन्ताजनक समाचारो को बादशाह से छिपाये हुए थे, स्वय सावधान हुए और उन्होने राज्य हाथ से निकल जाने का समाचार हुमायूँ को कह सुनाया। बादशाह ने जहाँगीर कुली बेग को ५००० सैनिक देकर गौड़ की रक्षा का भार उसके सुपुर्द कर दिया और स्वय मार्च १५३९ ई० के अन्त मे पटना की ओर लौट पडा।

चौसा की लड़ाई (२६ जून, १५३९ ई०)

अपनी फौज को दो भागो मे बाँट देने के पश्चात उसने पहले भाग का नेतृत्व असकरी को सँभालने और आगे बढने की आज्ञा दी। दूसरा भाग जो स्वय उसके नेतृत्व मे ही था, कुछ मील पीछे-पीछे चला। मुगेर पर ये दोनों भाग पुनः मिल गये और अनुभवी अधिकारियो की उचित सलाह के विरुद्ध हुमायूँ ने गगा के दक्षिणी तट को पार करके आगरे वाली ग्राण्ड ट्रक रोड पकड ली। यह एक भयंकर भूल थी। यद्यपि हुमायूँ को अच्छी सडक का सहारा मिल गया था किन्तु यह मार्ग दक्षिण बिहार मे होकर निकलता था जो शेरखाँ के प्रभाव और अधिकार में था। सतर्क अफगानी जासूस मुगल सेना की गतिविधि के समाचार शीघ्रता से अपने शासक शेरखाँ के पास पहुँचा रहे थे। हुमायूँ की इस भूल के कारण शेरखाँ ने उससे खुल्लमखुल्ला मुठभेड़ करने का निश्चय कर लिया। बादशाह ग्राण्ड ट्रक रोड पर भी आगे न बढ़ सका और वर्तमान भोजपुर जिले के अन्तर्गत बिहिया नामक स्थान के समीप पहुँचकर उसे उत्तरी किनारे पर गंगा पार करनी पडी। जैसे ही वह कर्मनासा नदी (जो बिहार और उत्तर प्रदेश की सीमा निर्धारित करती है) से थोडी दूर पर स्थित चौसा नामक स्थान पर पहुँचा, उसे समाचार मिला कि शेरखाँ भी पास मे ही आ पहुँचा है। हुमायूँ के अधिकारियो की राय थी कि कई दिनो की लम्बी यात्रा से हारे-थके अफगानियों पर तुरन्त आक्रमण करना अधिक लाभप्रद होगा। किन्तु उसने मूर्खता से यह प्रस्ताव ठुकरा दिया और निश्चय किया कि दक्षिण की ओर नदी को फिर पार किया जाय और वहाँ पहुँचकर एकदम आक्रमण करने के बजाय कुछ समय तक इन्तजार किया जाय। मुगलों की इस देरदार से शेरखाँ को अपने शिविर को सुदृढ करने और अपने सैनिको को आराम देने का पर्याप्त समय मिल गया। उसके झण्डे के नीचे अफगान सैनिकों की एक बड़ी फौज एकत्रित हो गयी। इसके विपरीत, हुमायूँ को अपने भाइयों से कोई सहायता प्राप्त नही हुई। हिन्दाल आगरे मे प्रत्यक्ष रूप से एक राजा की तरह कामकाज कर रहा था और असकरी के दिल मे भी राज-विद्रोह की भावना काम कर रही थी। हुमायूँ के बहुत-से सैनिक बीमारी, कठिनाइयो तथा शत्रु के भय से उसे छोड़कर

चले गये । अब बचाव का कोई रास्ता नही था । शेरखाँ ने आगरे वाली सड़क की नाकेबन्दी कर दी थी । इस प्रकार अब तो केवल युद्ध द्वारा ही उनका झगड़ा तय हो सकता था । दोनो ओर की सेनाएँ एक-दूसरे का सामना किये हुए तीन महीने (अप्रैल से २६ जून, १५३९ ई०) तक पडी रहीं, किन्तु किसी ओर से भी आक्रमण का श्रीगणेश करने की नौबत नही आयी । शेरखाँ तो जानबूझकर देर कर रहा था क्योकि उसके अनुसार बरसात का मौसम आ जाने से मुगल सेना बडी मुसीबत में पड सकती थी । वह वर्षाऋतु का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहता था । इन्ही दिनो दोनो पक्षों मे सुलह की बातचीत भी चली, किन्तु शेरखाँ को लगभग एक वर्ष पहले हुमायूँ द्वारा तोडे गये समझौते का बडा कटु अनुभव था ' इसलिए शान्ति सम्बन्धी इन वार्ताओ की सफलता की आशा कम ही थी । वह स्वय सतर्क रहते हुए शत्रु-सेना को आक्रमण की सम्भावना से बे-खबर रखना चाहता था । और जब वर्षा आरम्भ हो गयी तो उसने अपने हाथ दिखाने शुरू किये । मुगल-शिविर कर्मनासा और गगा नदी के बीच एक नीचे एक स्थान पर था । वह स्थान बाढ के पानी से भर गया जिससे मुगलो को बड़ी कठिनाई का सामना करना पडा । उनका सारा प्रबन्ध अस्तव्यस्त और नियन्त्रणहीन हो गया । २५ जून, १५३९ ई० को शेरखाँ के अपनी फौजो को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा दी, लेकिन प्रत्यक्ष मे महारथ चेरो नामक एक स्थानीय सरदार पर आक्रमण करने का बहाना किया । यह चेरो योद्धा बिहार के शाहाबाद जिले के अन्तर्गत आदिवासियो के एक फिरके का सरदार था । मुगलो ने अफगानी फौजो को आदि-वासियों के प्रदेश की ओर जाता देख यह बात सच मान ली और वे बे-खबर हो गये । किन्तु शेरखाँ आधी रात के बाद लौट पडा और मुगलो की बे-खबर सोती हुई फौजो पर अचानक आक्रमण कर दिया । अफगानी फौज ने, जो स्वयं, उसके लडके जलालखाँ और उसके महान् सेनापति खवासखाँ के नेतृत्व मे तीन भागो में विभक्त थी, तीन ओर से मुगलो पर आक्रमण करना शुरू कर दिया । मुगलो मे खलबली मच गयी और वे बुरी तरह भयभीत हो गये । शोरगुल सुनकर हुमायूँ जाग पड़ा और घोड़े पर चढकर अपने सैनिको को एकत्र करने लगा, लेकिन उसके अधिकाश सैनिक प्राण-रक्षा हेतु बहुत पहले भाग खड़े हुए थे । वह स्वयं अपने खेमे तक भी नही पहुँच सका, किन्तु उसके कुछ परखे हुए स्वामिभक्त अनुयायियो ने उसे खतरे से निकलवा दिया । जब हाथी पर सवार होकर भी वह गंगा पार न कर सका, तो वह निजाम नाम के एक भिश्ती की मशक पर सवार होकर कुशलतापूर्वक नदी के दूसरे किनारे पहुँच गया । उसका सारा कैम्प जिसमे उसके हरम की कुछ महिलाएँ भी थी शेरखाँ के हाथ लगा। मुगल सेना तो लगभग सम्पूर्ण नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थी । हुमायूँ कुछ लोगों की देखरेख में जान बचाकर आगरा भाग आया ।

चौसा की लड़ाई मे आठ हजार मुगल सैनिक तथा बहुत-से मुगल सरदार काम आये । मुहम्मद जमान मिर्जा भी इनमे एक था । हुमायूँ की दो रानियाँ और एक लड़की या तो मार डाली गयी अथवा नदी मे डूब गयी । उसकी पटरानी बेगा बेगम

और उसके साथ बहुत-सी अन्य मुगल महिलाएँ बन्दी बना ली गयी। शेरखाँ ने उनकी रक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया और बाद मे उन्हे अपने सैनिको की देखभाल में हुमायूं के पास सुरक्षित पहुँचा दिया।

बिलग्राम की लड़ाई (१७ मई, १५४० ई०)

आगरा मे हुमायूं और उसके भाई आपस मे मिले और काफी समय तक विचार-विनिमय करते रहे। इन लोगो के सामने इस समय अपने शत्रु का नाश करने की समस्या प्रमुख थी। चौसा की लड़ाई में मुगलो को पराजित कर शेरखाँ का साहस बहुत बढ गया और अब वह शेरशाह की उपाधि धारण कर सिंहासन पर विराजमान था। कामरान, जो हुमायूं की अनुपस्थिति मे ही आगरा आ पहुँचा था, अपने स्वार्थ-साधन की चिन्ता में था और इसी उद्देश्य से उसने अपनी २०,००० की फौज के साथ अफगान-शासक शेरशाह के विरुद्ध लड़ने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित की; किन्तु हुमायूं उसके स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को समझता था। उसने यह प्रस्ताव इसलिए और अस्वीकृत कर दिया कि इसको स्वीकार कर लेने पर मुगल सम्राट की हैसियत से उसकी प्रतिष्ठा पर बट्टा लगता था। शत्रु की ओर से इतना बड़ा खतरा उपस्थित था कि मुगलो का ऐश्वर्य और साम्राज्य तक खतरे मे था। ऐसी नाजुक घड़ी में बाबर के चचेरे भाई मिर्जा हैदर दुगलात के सद्प्रयत्नो के बावजूद हुमायूं और उसके भाई शत्रु से मोर्चा लेने के लिए संयुक्त संगठन पर एकमत न हो पाये। कामरान अपनी मूर्खता से यह समझे बैठा था कि यदि वह अपने बड़े भाई को इस समय सहायता नहीं देगा तो शेरशाह उसे पजाब और हिसार फीरोजा मे शान्तिपूर्वक राज्य करने देगा। कुछ समय पहले वह आगरे में बीमार पड़ गया था और उसके दिमाग में यह बात घर कर गयी थी कि उसकी बीमारी का कारण उसे जहर देना है जो हुमायूं ने दिलवाया था। असकरी ने सोचा कि हुमायूं में दृढ़ता और सकल्पशक्ति का नितान्त अभाव है और इसलिए वह भी निरपेक्ष बन गया। इन वार्तालापों में बहुत-सा समय व्यर्थ चला गया और कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हुआ। उधर शेरशाह के सम्मुख चौसा की लड़ाई के बाद सबसे पहला काम था सम्पूर्ण बंगाल पर अधिकार करना और गौड़ नामक स्थान पर हुमायूं द्वारा छोड़े गये फौजी दस्तों को नष्ट करना। यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न करके वह पश्चिम की ओर लौट आया था और एक शक्तिशाली सेना का नेतृत्व करते हुए आगरा की ओर बढ़ रहा था। उसके सैनिको ने लखनऊ और कन्नौज पर पहले ही अधिकार कर लिया था और अब वह स्वय भी कन्नौज आ पहुँचा (फरवरी १५४० ई०)। अब तो मुगलो को एक मिनट भी नष्ट नही करना चाहिए था। हुमायूं ने कामरान से सहायता के लिए अनुनय-विनय की किन्तु उसने अपनी फौज देने से इन्कार कर दिया और लाहौर लौट गया। मुगलों ने नये सिरे से सेना संगठन करने की जी-तोड़ कोशिश की। चौसा की लड़ाई के बचे-खुचे सैनिक भी, जो आगरा आ पहुँचे थे, इसमे शामिल किये गये और इन सबकी संख्या ९०,००० हो गयी। किन्तु इनमें से अधिकांश लोग निरे रगरूट थे जिन्हें युद्ध और लड़ाई का कोई अनुभव न था। इस

तरह जी-तोड कोशिश के बाद तैयार की गयी सेना को लेकर हुमायूँ शेरशाह से भिडने के लिए कन्नौज के समीप भोजपुर नामक स्थान पर आ पहुँचा और यहाँ उसने अपना शिविर डाल दिया। शेरशाह ने, जो पहले ही इधर आ पहुँचा था, गगा के इस तरफ हुमायूँ के शिविर से लगभग २३ मील दूर कन्नौज के सामने अपने खेमे गाड़ दिये। हुमायूँ की सेना मे बराबर अभिवृद्धि हो रही थी और अब उसकी सैनिक-सख्या २ लाख तक पहुँच गयी थी। अप्रैल १५४० ई० का पूरा महीना निकल गया किन्तु किसी भी ओर से आक्रमण न हुआ। हाँ, हुमायूँ ने यह सरगरमी जरूर दिखायी कि उसने बिल-ग्राम की ओर गंगा पार कर ली। उसने बिलग्राम के निकट गगा से तीन मील की दूरी पर अपना शिविर लगाया।

१५ मई के दिन बडी भयंकर वर्षा हुई जिसके फलस्वरूप मुगल कैम्प मे पानी भर गया। इसके कारण सैनिक-शिविर पास ही मे एक ऊँचे स्थान पर स्थापित करने का निश्चय किया गया। दूसरे दिन १७ मई को जब मुगल सैनिक अपने-अपने कैम्पो से यह देखने-समझने के लिए बाहर निकले कि अगले दिन अपने शिविर को यहाँ से हटाकर ऊँचे स्थान पर किस तरह ले जाया जायगा, तो शेरशाह ने अपने सैनिको को मैदान मे उतर आने और शत्रु पर हमला बोल देने की आज्ञा दे दी। इस तरह हुमायूँ की तोप-बन्दूको का प्रयोग करने का भी अवसर न मिला। मुगल सैनिक लड़ाई के लिए तैयार भी नही थे कि उनके ऊपर अचानक ही यह हमला बोल दिया गया था। हुमायूँ ने मिर्जा हैदर को अपना प्रधान सेनापति नियुक्त कर रखा था, जिसके निर्देशन में शीघ्रता से मुगल फौजें मोर्चा बनाकर तैयार हो गयी। हुमायूँ और मिर्जा हैदर ने केन्द्र की बागडोर सँभाली। बाम पक्ष, जो नदी की ओर था, हिन्दाल के नेतृत्व में रखा गया और दाहिनी ओर का मोर्चा यादगार नासिर मिर्जा के नेतृत्व मे। असकरी अग्रगामी सैनिक दल का नेतृत्व कर रहा था। सेना का अग्रभाग तो ५००० बन्दूकधारी सैनिको द्वारा सुरक्षित हो गया था, किन्तु इधर-उधर कोई रक्षक दल नही था और न रिजर्व मे ही कुछ सैनिक दल थे। मुगलो की लड़ने वाली संख्या ४०,००० थी।

यद्यपि मिर्जा हैदर के अनुभव से अफगान सेना की संख्या १५,००० थी, किन्तु लड़ने वाले अफगानो की कुल संख्या ४०,००० से कम न रही होगी। शेरशाह ने अपनी सेना को सात भागो (डिवीजनों) में बाँट रखा था और स्वय बीच मे खड़ा होकर सैन्य-संचालन कर रहा था। सेना के मध्य भाग का बचाव उसके सामने एक खाई खोदकर किया गया था। सुरक्षित फौजी दस्तो के अतिरिक्त उसने दाहिने और बायें बाजुओं पर भी फौजी दस्ते तैनात किये थे। मुगलों को एकदम भयभीत करने और नदी की ओर से तथा मध्य केन्द्र की ओर से उनका सम्बन्ध-विच्छेद करने के विचार से उसने हुमायूँ के बायें बाजू पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। इस ओर हिन्दाल नेतृत्व कर रहा था। पहले आक्रमण का तो उसने बडी बहादुरी और कुशलता से सामना किया और जलालखाँ को जख्मी भी कर दिया; किन्तु शेरशाह ने उपयुक्त समय पर काफी सहायता भेज दी, जिससे उसका लड़का जलालखाँ शक्ति और साहस से पुनः

आक्रमण करने लगा। शेरखाँ की फौज के अग्रगामी दल ने भी शत्रु से टक्कर ली और असकरी को पीछे खदेड़ दिया। युद्ध ने यकायक ऐसी तेजी पकड़ी थी कि मुगल तोपों को रणक्षेत्र तक लाना कठिन था, और इसलिए इस लड़ाई में गोला-बारूद का प्रयोग न किया जा सका। मिर्जा हैदर ने लिखा है, "एक गोली तक नही चलायी गयी······· गोला-बारूद का कतई काम नही पड़ा।" अफगानों का आक्रमण ऐसा भयंकर था कि मुगलो के छक्के छूट गये, प्रगति रुक गयी और वे भाग निकले। भगदड़ के कारण शिविर के नौकर लोग भेड़िया-धसान के समान सैनिकों के सामने आ गये जिससे सैनिकों को रोके रखने के हुमायूँ के सारे प्रयत्न व्यर्थ गये। उसे भी लाचार होकर युद्धक्षेत्र छोड़कर आगरा की ओर भागना पड़ा। बड़ी कठिनाई से वह नदी पार कर सका। उसके बहुत-से आदमी डूब गये और बहुत कम लोग उसके साथ रह गये। रास्ते में मैनपुरी जिले मे भोगाँव के लोगों ने भी इन पर आक्रमण कर दिया और ये बड़ी कठिनाई से प्राण बचाकर आ पाये।

दर-दर की खाक छानने वाला हुमायूँ (१५४० ई०)

आगरा में भी हुमायूँ को चैन से बैठना कठिन था। यहाँ समाचार पर समाचार आ रहे थे कि अफगानों का एक दल उसका पीछा करता हुआ यहाँ आ रहा है। हुमायूँ ने आगरा छोड़ दिया और लाहौर की ओर चल पड़ा। पंजाब की वर्षा की बाढ़ से भरी हुई नदियाँ बड़ी कठिनता से उसने पार की। वह मुश्किल से लाहौर पहुँचा ही होगा कि उसे समाचार मिला कि अफगानों ने दिल्ली और आगरा पर बिना किसी मुकाबले के अपना अधिकार कर लिया है। हुमायूँ के भाई उसे लाहौर में मिले किन्तु वहाँ भी वे सब मिलकर अपने शत्रु के विरुद्ध कोई योजना न बना सके। कामरान को अफगानिस्तान और पजाब की पड़ी थी। हुमायूँ को सहायता देकर वह शेरशाह की नाराजी मोल नहीं लेना चाहता था। इसी बीच शेरशाह पजाब आ पहुँचा और उसने भूतपूर्व मुगल सम्राट हुमायूँ के इस प्रस्ताव को कि सरहिन्द तक दोनों के राज्यों की सीमाएँ सीमित रहे, अत्यन्त उपेक्षापूर्वक अस्वीकृत कर दिया। यहाँ से भी भागकर जाने के सिवाय हुमायूँ के पास दूसरा रास्ता न रहा। वह बड़े असमंजस में पड़ा हुआ था। एक ओर मिर्जा हैदर की सलाह थी कि उसे काश्मीर चला जाना चाहिए और वही से पुन. हिन्दुस्तान विजय के आयोजन करने चाहिए। दूसरी ओर हिन्दाल और यादगार मिर्जा की राय थी कि सिन्ध में होकर गुजरात तक उसे हट जाना चाहिए और यहाँ से दिल्ली-विजय का कार्यक्रम सचालित करना चाहिए। अभी ये वार्ताएँ चल ही रही थी कि ज्ञात हुआ कि कामरान शेरशाह के साथ गुप्त पत्र-व्यवहार कर रहा है। यह भी पता चला कि कामरान ने शेरशाह को इस शर्त पर सहायता देने का वचन दिया है कि वह पजाब और काबुल उसी के अधिकार में छोड़ दे। यह देखकर हुमायूँ ने वार्तालाप समाप्त कर दिया और मिर्जा हैदर की सलाह मानकर काश्मीर चलने की तैयारी करने लगा; किन्तु कामरान द्वारा अस्त्र-शस्त्रों के बल पर काश्मीर का मार्ग अवरुद्ध करने पर उसे यह कार्यक्रम भी त्यागना पड़ा। ऐसे संकट में हिन्दाल भी उसे

छोड़कर सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए चला गया। हुमायूँ ने काश्मीर चले जाने के लिए एक और प्रयत्न किया, किन्तु इस बार भी उसके विश्वासघाती भाई कामरान ने उसका रास्ता रोक दिया। बदख्शां जाना भी उसके लिए कठिन था, क्योंकि कामरान के मन में यह शंका उत्पन्न हो गयी थी कि कहीं वह उससे काबुल न छीन ले और इस प्रकार कामरान ने तीसरी बार उनका मार्ग रोक दिया। हुमायूँ को मजबूर होकर सिन्ध की ओर बढ़ना पड़ा, जहाँ वह अपने भाई हिन्दाल से मिल गया (दिसम्बर १५४० ई०)। खुशाब के समीप कामरान से झगड़ा होने के पुनः आसार दिखायी दिये, क्योंकि वह एक तंग दर्रे से नमक के पहाड़ की ओर पहले निकलना चाहता था। किन्तु एक धार्मिक पुरुष के बीच में पड़ने से यह संकट टल गया। इसके बाद हुमायूँ सिन्ध की ओर बढ़ चला।

हुमायूँ के भागने के कारण

यहाँ यह विचार करना उचित होगा कि हुमायूँ के अपने राज्य से भागने के क्या कारण थे? यद्यपि अपने पिता से उसे डाँवाडोल सिंहासन और खाली खजाना ऐसी परिस्थिति में प्राप्त हुआ था कि किसी भी सुयोग्य शासक के लिए इनसे सर-दर्द होना स्वाभाविक था, किन्तु यदि उसने बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का अनुसरण किया होता, तो उसकी आरम्भिक उलझनें और कठिनाइयाँ दूर हो गयी होतीं। जिन परिस्थितियो के पैदा होने पर उसे अपना राजसिंहासन छोड़कर भागना पड़ा, उनमें से अधिकांश उसकी अपनी मूर्खता और कमजोरियों का परिणाम थी। सर्वप्रथम उसने अपने धूर्त और विश्वासघाती भाइयों में साम्राज्य बाँटकर महान भूल की। इस समय सबसे बड़ी जरूरत यह थी कि दूर तक फैले हुए सम्पूर्ण मुगल-साम्राज्य का एकीकरण करके उसकी बागडोर केन्द्र के हाथ में होती जिससे बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं से डटकर मोर्चा लिया जा सकता। कामरान को पंजाब और काबुल सौंप देने से आवश्यकता और संकट के समय वह इधर से रंगरूटों की भरती करने में भी असमर्थ हो गया और इस प्रकार उसकी शक्ति का मुख्य आधार जो फौजी शक्ति पर निर्भर था, टूट गया। दूसरे, जहाँ उसे साम्राज्य-संगठन और राज्य-सुधारों की ओर रचनात्मक प्रयत्न करने थे, जिससे प्रजा को वह अपनी ओर खींच सकता, वहाँ आरम्भ से ही उसने युद्ध योजनाओं की नीति अपनायी। कालिंजर के राजा पर उसने जो चढ़ाई की वह अनुचित थी, क्योंकि यदि यह राजा अफगानों का शुभचिन्तक मान भी लिया जाता, जिसमें सन्देह है, तो क्या उसे नीति-कुशलता से अपने पक्ष में नहीं किया जा सकता था? कालिंजर के सुदृढ़ दुर्ग के सामने हुमायूँ कुछ न कर सका और इससे उसकी प्रतिष्ठा कम ही हुई, चाहे कालिंजर नरेश ने हरजाने के रूप में कितना ही धन उसे क्यों न दिया हो। तीसरे, हुमायूँ शेरशाह की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई शक्ति का अनुमान तक नहीं कर सका। १५३९ ई० तक तो शायद वह यही विचार किये बैठा रहा कि अफगान सरदार शेरशाह ने तो कल ही प्रभुता प्राप्त की है अतः वह थोड़े ही परिश्रम से ही परास्त किया जा सकता है। उसने शेरशाह की हस्ती मिटाने के लिए कोई दृढ़ उद्योग नहीं किया। १५३२ ई० में चुनार पर पहला घेरा डालने के पश्चात उसने मूर्खता से उससे अधूरी सुलह कर ली

यह कभी तय न कर सका कि उसे बंगाल पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए या बिहार मे शेरखाँ की शक्ति समाप्त कर देनी चाहिए। गौड़ की ओर बढ़ते समय हुमायूँ पुनः भोग-विलास और प्रमाद में फँस गया और इस प्रकार आठ महीने से अधिक का समय उसने नष्ट कर दिया। शेरखाँ बड़ा ही नीति-कुशल था। उसने इस अमूल्य समय और अवसर का सदुपयोग किया। उसने मुगल सेना का आगरा से सम्बन्ध-विच्छेद ही नही किया बल्कि तेलियागढ़ी से लेकर कन्नौज तक का प्रदेश अपने अधिकार मे कर लिया। क्या किसी ऐसे शासक की कल्पना की जा सकती है जो पूरे आठ महीने तक अपनी राजधानी से कोई समाचार प्राप्त न कर सके और सोचता यही रहे कि वहाँ सब ठीक है? आगरा वापस लौटते समय भी उसने बड़ी ही दुविधा और हिचकिचाहट का परिचय दिया जो उसकी जैसी स्थिति वाले शासक के लिए शोभा नहीं देता था। वह यह निर्णय ही नही कर पाता था कि कौन-सा मार्ग उसे ग्रहण करना चाहिए। तीन बार उसने गंगा पार की और शेरखाँ के हाथों में खेलता रहा। चौसा मे भी यह जानकर कि शेरखाँ हिन्दू चेरो अधिकारियो से लड़ने जा रहा है, उसने उस पर आक्रमण न करने की ठीक वैसी ही गलती दुहराई, जैसी कि चित्तौड़ पर बहादुरशाह द्वारा घेरा डालते समय उस पर आक्रमण न करने की गलती वह पहले कर चुका था। सातवें, जून १५३९ ई० में चौसा की लड़ाई मे हार जाने के बाद उसने शेरखाँ के आदमियों से कन्नौज से लेकर बनारस तक का प्रदेश छीनने का कोई प्रयत्न नहीं किया और केवल आगरा में अपनी सुरक्षा के ही स्वप्न देखता रहा। अपने साम्राज्य के पूर्वी भाग को तो वह हाथ से गया हुआ ही समझ बैठा था। इस नीति का प्रभाव और परिणाम जनता के ऊपर बुरा पड़ा होगा और उसकी दृष्टि मे हुमायूँ के पतन का नक्शा खिच गया होगा। आठवें, विजयी शेरखाँ से लडने के लिए वह अनुभवी सैनिकों के दलों को परस्पर मिलाये न रख सका और कन्नौज की लड़ाई में तो वह बड़ी भारी भूल कर बैठा। सैनिक-शिविर स्थापित करने के लिए नीचा स्थान पसन्द करना, दो महीने तक अकर्मण्य बने रहना, शिविर को दूसरे स्थान पर हटाते समय अच्छा प्रबन्ध न करना, तोपगोलों के दल को युद्ध के समय पीछे छोड़ देना और भयभीत होकर भागते हुए सेना के कर्मचारियों की रोकथाम न करना आदि बातें उसकी असफलता, पराजय और अन्त में युद्धक्षेत्र से उसके भागने के लिए उत्तरदायी हैं। नवें, अपने दस वर्षों के राज्य-काल मे उसने नेतृत्व-शक्ति और अपने सैनिकों एवं अधिकारियो को नियन्त्रण में रखने की योग्यता का नितान्त अभाव प्रदर्शित किया था। उसके सेनापति और सेनाध्यक्ष बड़े ही नाजुक समय में बार-बार विद्रोह खड़ा करते रहे। हुमायूँ की कमजोरियों को देखते हुए उन्हें यह विश्वास था कि यदि उन्हें दुबारा हुमायूँ की नौकरी मे आना पड़ेगा तो वह उन्हें क्षमा कर देगा। दसवें, अपने धूर्त भाइयों के प्रति अत्यधिक नरमी का बरताव करना भी उसकी मुसीबतों और पतन के लिए कम उत्तरदायी नही है। हुमायूँ के तीनों ही भाइयों ने विद्रोह किया। कभी-कभी तो ये राजसत्ता तक हथिया बैठें और उसके लिए अनेक मुसीबतें खड़ी कर दीं, किन्तु हुमायूँ उन्हें बार-बार क्षमा

प्रदान करता रहा। पहली बार जब उन्होंने राजद्रोह किया था, यदि उसी समय उन्हें ठीक कर दिया जाता तो उसे ये मुसीबतें न भोगनी पड़तीं। अस्तु, हम यह तो देख ही चुके है कि हुमायूँ मे दृढतापूर्वक कार्य करने की क्षमता नहीं थी। उसकी यह आदत-सी पड गयी थी कि पहले तो वह सैनिक सरगर्मियाँ दिखा देता था, परन्तु थोडी-बहुत सफलता प्राप्त कर लेने के पश्चात राग-रंग आदि आलस्य-प्रमाद मे डूब जाता था। मदहोशी त्यागकर वह फिर कार्यक्षेत्र मे आ जाता था और कुछ समय बाद फिर इसी मे गर्क हो जाता था। इस प्रकार कभी चैतन्य हो जाना और कभी शिथिल हो जाना ऐसे अवसर पर जबकि उसे सजग-सचेष्ट होकर सैन्य-संचालन में संलग्न रहना चाहिए था, अपने हरम मे रँगरेलियाँ मनाना और आराम करने का उसका यह स्वभाव उसकी असफलताओं का प्रमुख कारण समझा जाना चाहिए।

निर्वासित हुमायूँ (१५४१-१५५५ ई०)

अकबर का जन्म (१५ अक्तूबर, १५४२ ई०)

खुशाब से चलकर, यात्रा के अनेक कष्ट और अभावों को सहते हुए, हुमायूँ सिन्ध नदी के किनारे रोहरी नामक स्थान पर आ पहुँचा। यह स्थान भक्खर के द्वीप-दुर्ग से अधिक दूर न था और सिन्ध राज्य के राजा शाहहुसैन अरगों के अधिकार में था। हुमायूँ ने दुर्ग पर घेरा डाल दिया। हिन्दाल और यादगार मिर्जा सेहवान पर अधिकार प्राप्त करने के लिए आगे बढ गये। दुर्ग पर घेरा डाले काफी समय व्यतीत हो गया किन्तु कोई फल न निकला। इधर शाहहुसैन ने भक्खर के समीपवर्ती क्षेत्रों को इस विचार से उजाड़ दिया कि हुमायूँ की फौजो को रसद उपलब्ध न हो सके। इस प्रकार मुगलो के कष्टों का वारापार न था। अपने भाई की निष्क्रियता से तंग आकर हिन्दाल ने भी सेहवान पर घेरा डाल दिया और हुमायूँ भी उसके साथ मिल जाने के लिए वहाँ चल दिया। जब वह हिन्दाल के कैम्प में ठहरा हुआ था, तो वहाँ उसने हमीदा बेगम को देखा। हमीदा बेगम हिन्दाल के आध्यात्मिक गुरु फारस के शिया मीरबाबा दोस्त उर्फ मीरअली अकबर जामी की पुत्री थी। हुमायूँ ने बेगम से निकाह करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु हिन्दाल ने इसको बहुत बुरा माना, क्योंकि हमीदा बेगम को वह अपनी धर्म-बहन मानता था और स्वयं हमीदा बानू ने भी जो इस समय चौदह वर्ष की थी इस सम्बन्ध से बड़ी अनिच्छा प्रकट की। हमीदा का कहना था कि उसके हाथ मुश्किल से ही हुमायूँ के गले तक पहुँच सकते है। किन्तु हरम की अन्य महिलाओं ने अन्त में उसे समझा-बुझाकर इस शादी के लिए राजी कर लिया। इस प्रकार २९ अगस्त, १५४१ ई० को हुमायूँ और हमीदा बेगम वैवाहिक-सूत्र में बँध गये। इसके बाद ही हुमायूँ को भक्खर लौट आना पड़ा और हिन्दाल कन्धार चला गया।

तदुपरान्त हुमायूँ बादशाह हुसैन की राजधानी थट्टा पर आक्रमण करने की तैयारी में लग गया; लेकिन बीच ही में उसे सेहवान पर पुनः घेरा डालना पड़ा। शाह हुसैन हुमायूँ के साथी-संगियों में वैर-विरोध पैदा करने की योजना बना रहा था और इसीलिए उसने यादगार मिर्जा को अपनी लड़की ब्याह देने और गुजरात-विजय के लिए

सहायता देने का वचन देकर अपनी ओर फोड लिया। शाह हुसैन की इस सफल कूटनीति के सामने हुमायूँ की कुछ न चली और उसे सेहवान से घेरा उठाकर भक्खर की ओर हट जाना पड़ा। यादगार मिर्जा को साथ छोड़ते देख और उसे अपना कट्टर विरोधी जान हुमायूँ अपने भविष्य से भी निराश हो चला और अब वह सांसारिक जीवन से विरक्त हो मक्का शरीफ की यात्रा करने की सोचने लगा।

ठीक ऐसे समय मे हुमायूँ को मारवाड़ (जोधपुर) के राजा मालदेव का निमन्त्रण प्राप्त हुआ, जिसमे राजा ने उसे सहायता देने का आश्वासन दिया था। फलतः हुमायूँ जोधपुर के लिए चल दिया; लेकिन जब वह मारवाड की राजधानी के निकट पहुँचा तो उसे ज्ञात हुआ कि मालदेव के आश्वासन का अब कोई अर्थ न रहा था क्योंकि अब उसने अपना इरादा बदल दिया है। परिस्थितिवश अब मालदेव उसे गिरफ्तार कर शेरशाह को सौंप देना चाहता था। शेरशाह ने इसके लिए राजा मालदेव को बाध्य किया था। ऐसी विकट परिस्थिति में पड़कर हुमायूँ वापस लौट जाने के सिवाय और क्या कर सकता था? वह सिन्ध की ओर लौट पड़ा। एक ओर भरपूर निराशा और यात्रा की अनगिनत कठिनाइयाँ और दूसरी ओर भयंकर गर्मी मे राजपूताना का रेगिस्तान नापते हुए हुमायूँ को अकथनीय कष्ट भोगने पड़े। एक अवसर पर तो उसके आदमियो को तीन दिन तक पानी की एक बूँद मुँह में डाले बिना ही चलते रहना पड़ा और जब ये लोग एक कुएँ पर पहुँचे, तो इन्होंने और इनके घोड़ों ने भयंकर प्यास मे इतना पानी पी डाला कि उनमें से बहुत-से प्राण छोड़ बैठे। हुमायूँ ने सिन्ध मे (२२ अगस्त, १५४२ ई०) अमरकोट (सोधा राजपूतों का एक छोटा राज्य) के राणा के यहाँ आकर शरण ली। राणा ने बड़े सत्कार के साथ उसका स्वागत किया और सिन्ध के दक्षिण-पूर्वी भाग को जीतने के लिए रुपये-पैसे और सैनिकों की सहायता देने के लिए भी वह तैयार हो गया। राणा वीरसाल ने (प्रसाद नहीं, जैसा बहुत-से लेखकों ने गलत समझा है), मुगल महिलाओं को अपने दुर्ग के अन्दर महल में सम्मानपूर्वक ठहरा दिया। ११ [illegible] १५४२ ई० को हुमायूँ राणा वीरसाल की सहायता प्राप्त कर सिन्ध विजय के लिए निकल पड़ा और वह अभी पन्द्रह मील ही तय कर पाया होगा कि उसे अमरकोट मे हमीदा बेगम के गर्भ से पुत्र-जन्म का शुभ समाचार प्राप्त हुआ। यही नवजात शिशु आगे चलकर अकबर महान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हुमायूँ ने उसका नाम जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर रखा। उस समय हुमायूँ के पास फूटी कौड़ी भी नहीं थी और ऐसे शुभ समाचार प्राप्ति के अवसर पर अपने साथी-सरदारों को एक साधारण-सी दावत देने के लिए उसे दूसरों से रुपया उधार माँगना पड़ा। सिन्ध पर अधिकार प्राप्त करने में उसे सफलता नहीं मिली और सबसे बुरी बात यह हुई कि उसके अनुयायी राणा वीरसाल के आदमियों से किसी बात पर झगड़ बैठे, जिससे राणा जैसे अपने नये [illegible] की कृपा और अनुकम्पाओं से भी उसे वंचित होना पड़ा। लेकिन सौभाग्य से उसे कन्धार तक चले जाने के लिए निष्कंटक मार्ग मिल गया। शाह हुसैन अरगो इन भूखे आक्रमणकारियों की उपस्थिति से तंग आ गया था। इनसे छुटकारा पाने के लिए उसने

हुमायूँ को अपने राज्य में से होकर निकल जाने के लिए मार्ग दे दिया । रास्ते के लिए रसद और रुपये-पैसे की भी उसने सहायता कर दी । इस प्रकार हुमायूँ ने हिन्दुस्तान से विदा ली और कन्धार की ओर चल दिया । उधर कामरान ने जो एक स्वतन्त्र राजा के रूप मे राज्य कर रहा था और जिसने कन्धार का राज्य-प्रबन्ध अपनी ओर से असकरी को सौप रखा था, फौजें भेजकर हुमायूँ का रास्ता रोक दिया और उसे गिरफ्तार करना चाहा । हुमायूँ स्वयं तो बाल-बाल बच गया, किन्तु जल्दी में भागते हुए उसे लगभग एक वर्ष के बेटे अकबर को वहीं छोड आना पड़ा । कन्धार का मार्ग छोड़कर वह फारस पहुँच गया, जहाँ शाह तहमास्प ने उसका बड़ा स्वागत-सत्कार किया । फारस का यह कट्टर शिया धर्मावलम्बी शासक अपने अतिथि हुमायूँ को भी शिया मत में दीक्षित करने के लिए उत्सुक था और यदि हुमायूँ इसके लिए तैयार नहीं होता तो उसे बल-प्रयोग द्वारा ऐसा करने के लिए बाध्य किये जाने की छिपी हुई धमकी दी गयी थी । हुमायूँ अपमानजनक व्यवहार धैर्यपूर्वक सहता रहा । अन्त में १५४४ ई० में फारस के शाह ने हुमायूँ को इन शर्तों पर सैनिक सहायता देनी स्वीकार कर ली कि वह स्वयं शिया मतावलम्बी बनकर इस मत को अपने क्षेत्र मे फैलाने का सद्प्रयत्न करेगा और यदि कन्धार पर उसे विजय प्राप्त होती है, तो उसे फारस के शाह को भेंट करेगा । इस सेना का नेतृत्व करते हुए हुमायूँ कन्धार पहुँचा । असकरी को उसने हरा दिया और दुर्ग पर अपना अधिकार कर लिया । असकरी को बाद में क्षमा प्रदान कर दी गयी और कन्धार फारस के शाह को सौंप दिया गया । जब फारस के राजा के लड़के की मृत्यु हो गयी, तब हुमायूँ ने कन्धार पर अपना अधिकार कर लिया और काबुल पर घेरा डालने के लिए चल पड़ा । शीघ्र ही काबुल भी उसके अधिकार में आ गया और यहाँ नवम्बर १५४४ ई० में उसने अपने बिछुड़े हुए दो वर्ष के बेटे अकबर को गले से लगाया । कामरान पहले गजनी भाग गया था और गजनी से वह सिन्ध की ओर चला गया ।

कन्धार पर अधिकार हो जाने से हुमायूँ को अफगानिस्तान में पैर टेकने की जगह जरूर मिल गयी, किन्तु उसकी विपदाओं के दिन अभी समाप्त नहीं हुए । हिन्दू-कुश के पार किसी अभियान के समय जब वह बीमार पड़ गया, तो इस अवसर से लाभ उठाकर कामरान अचानक काबुल में आ पहुँचा और १५४६ ई० में उसे अपने अधिकार में कर लिया । हुमायूँ के बहुत-से सरदार इस डर से कामरान के साथ मिल गये कि कहीं काबुल में पहुँचकर वह उनके परिवार के सदस्यों का वध न कर दे ।

बीमारी से छुटकारा पाकर हुमायूँ ने काबुल को घेर लिया । कहते हैं कि कामरान ने बालक अकबर को किले की दीवार पर बैठाकर हुमायूँ की आग उगलती हुई तोपों के सामने कर दिया था । काबुल को और अधिक सख्ती से चारों ओर से घेरा गया और अन्त में १५४७ ई० में इसको कब्जे में कर लिया गया । कामरान दण्ड-भय से कहीं भाग गया । कुछ समय बाद वह फिर वापस लौटा और अपने भाई से

युद्ध किया, किन्तु हार गया (१५४८ ई०)। हुमायूँ ने पुनः उसे क्षमा प्रदान कर दी और उसे औक्सस के उत्तरी प्रदेश का गर्वनर बना दिया। १५४६ ई० में कामरान ने पुनः अपने भाई के साथ विश्वासघात किया और काबुल को अपने कब्जे मे कर लिया। इस बार अपने धूर्त भाई से युद्ध करते समय हुमायूँ बुरी तरह घायल हुआ और एकान्त स्थान मे जाकर उसने अपनी जान बचायी। लोगो का यह भी विचार था कि वह बुरी तरह घायल ही नही हुआ है, जान से भी हाथ धो बैठा है। किन्तु बदख्शा के सुलेमान की सहायता से वह कामरान से युद्ध करने के लिए युद्धक्षेत्र मे पुन उपस्थित हुआ और उसे हराकर काबुल पर अपना अधिकार कर लिया। कामरान लड़ाई से भाग खड़ा हुआ और भारतवर्ष में इस्लामशाह (१५४५-१५५३ ई०) के पास शरण लेने के लिए भाग गया किन्तु वह पकड़ लिया गया और हुमायूँ के सामने ला खड़ा किया गया। ऐसे धूर्त और विश्वासघाती व्यक्ति को मौत की सजा देने की उसके सरदारो की राय होते हुए भी हुमायूँ ने अपने भाई को फिर माफ कर दिया; किन्तु इस बार उसने उसकी आँखें निकलवाकर उसे अन्धा अवश्य करवा दिया। कामरान के साथी सरदार अब उसे छोड़ गये और वह स्वयं भी अपनी पतिव्रता पत्नी के साथ मक्का को हज करने चल दिया, जहाँ १५५७ ई० मे वह मर गया। हुमायूँ के और दूसरे भाई-बन्धु तो पहले ही मर चुके थे। कामरान से अन्तिम लड़ाई लड़कर और हारकर असकरी भी बन्दी बना लिया गया और उसे मक्का भेज दिया गया जहाँ से वह फिर वापस नही लौटा। हिन्दाल एक अफगान के हमले से मर गया था। इस प्रकार हुमायूँ ने अपने इन विकट प्रतिद्वन्द्वियो से मुक्ति पायी—ये लोग ही उसके निष्कासन और आपदाओं के कारण थे।

हुमायूँ पुनः राजसिंहासन पर

हुमायूँ के निर्वासन की अवधि में उसका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी शेरशाह जिसने उसे हिन्दुस्तान से भगाकर अपने सुशासन द्वारा वहाँ एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लिया था, मई १५४५ ई० में मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसके पश्चात उसका बेटा इस्लामशाह तख्त पर बैठा और वह भी अपने पिता की श्रेष्ठ शासन-नीति पर स्थिर रहकर प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखता रहा। किन्तु अफगान सरदारों को वह अपने वश में नही रख सका, और जब ३० अक्तूबर, १५५३ ई० में उसकी मृत्यु हुई, तो अफगान-साम्राज्य पतन के पथ पर जा रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात उसके बारह-वर्षीय पुत्र की हत्या उसके मामा मुबारिजखाँ ने कर दी। मुबारिजखाँ बाद में मुहम्मद आदिलशाह (अदली नाम से वह प्रसिद्ध है) के नाम से गद्दी पर बैठा। यह व्यक्ति भोग-विलास प्रवृत्ति का था। शासन-सम्बन्धी शुष्क बातों से तबियत हटाकर इसने शासन-सूत्र अपने एक हिन्दू वजीर हेमू को सौप दिया और स्वयं निश्चिन्त होकर चुनार में जाकर रहने लगा। इब्राहीमशाह और सिकन्दरशाह नाम के दो व्यक्तियों ने अपने को सूरशाही राजवंश से सम्बन्धित बताकर आदिलशाह के अधिकार को चुनौती दी। वे दोनों व्यक्ति आपस में भी कई बार भीषण युद्ध कर चुके थे। शेरशाह सूर

द्वारा इतने परिश्रम, अध्यवसाय और नीति-कुशलता से निर्माण किये गये अफगान साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना अब थोड़े ही समय की बात रह गयी थी। हुमायूँ हिन्दुस्तान की इस बिगड़ती हुई अवस्था का बारीकी से अध्ययन कर रहा था और यहाँ आने के लिए उपयुक्त समय और अवसर की टोह मे था, जिससे वह अपने खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा कर सके। नवम्बर १५५३ ई० मे इस्लामशाह की मृत्यु हो जाने के ठीक बाद ही यह अवसर भी उसे प्राप्त हो गया। ज्योतिषशास्त्र में श्रद्धा रखने के कारण एक दिन जिन तीन आदमियो से वह सबसे पहले मिला था, उनके नाम से उसने कुछ शकुन विचारा, और इसका समर्थन उसने हाफिज की कविताओ से दूसरा शकुन विचार कर किया। हिन्दुस्तान की ओर बढने और उसे दुबारा जीत लेने के उसके विचार से ये शकुन पूरी तरह अनुकूल पड़ते थे; और क्योंकि वह अपने धूर्त एवं विश्वासघाती भाइयों से छुटकारा पाकर अफगानिस्तान में अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर चुका था, इसलिए अब ऐसी कोई बात भी नहीं थी जो उसके मार्ग में बाधा बनकर खडी हो जाती। जल्दी-जल्दी तैयारियाँ पूरी कर काबुल से चलकर वह २५ दिसम्बर, १५५४ ई० को पेशावर आ पहुँचा। जब उसने सिन्धु नदी पार कर ली, तो कन्धार से उसका परम विश्वासपात्र अधिकारी बैरमखाँ अन्य सैनिक अधिकारियों के साथ उससे आ मिला। गक्खर-सरदार सुल्तान आदम से सहयोग और सहायता प्राप्त करने के लिए बातचीत चल रही थी, किन्तु सिकन्दरशाह सूर से पहले ही उसने सन्धि कर ली थी, इसलिए उसने मुगलों का प्रस्ताव ठुकरा दिया। परहाला के रास्ते चलकर हुमायूँ पूर्वी पंजाब के गुरुदासपुर जिले में कलानूर नामक स्थान पर आ पहुँचा। यहाँ पर उसने अपनी फौज को तीन भागों में विभाजित किया। उसमे से एक को उसने शिहाबुद्दीन के नेतृत्व मे लाहौर भेजा और दूसरे को बैरमखाँ तथा कुछ अन्य सरदारों के साथ नसीबखाँ अफगान से मोर्चा लेने भेजा। नसीबखाँ एक अफगान था और इसके अधिकार में हरियाना का इलाका था। लाहौर बिना किसी संघर्ष के ही मुगलों के अधिकार में आ गया। कुछ दिन बाद (२४ फरवरी, १५५५ ई०) हुमायूँ भी यहाँ चला आया और वह नगर एवं जिलों की सुव्यवस्था के प्रबन्ध में लग गया। उधर शहबाजखाँ अफगान से कुछ दिनों तक भयंकर युद्ध करके मार्च के महीने में मुगलों ने दीपालपुर पर अधिकार कर लिया। लगभग उन्हीं दिनों बैरमखाँ ने नसीबखाँ को खदेड़कर हरियाना के परगने पर भी अधिकार कर लिया। वहाँ से वह जालन्धर चल दिया और जालन्धर से बैरमखाँ तथा कुछ अन्य सरदार लुधियाना से १९ मील पूर्व सतलज के किनारे मच्छीवारा नामक स्थान के लिए चल दिये। यहाँ पर मुगल और अफगानों के मध्य विकट मोर्चा डटा। अफगान फौजें नसीबखाँ, तातारखाँ तथा कुछ अन्य प्रमुख सरदारों के नेतृत्व में थीं। यह घमासान युद्ध उस दिन (१५ मई) आधी रात से ऊपर तक चलता रहा। सौभाग्य से अफगान फौजों की ओर कहीं आग लग गयी और इसकी लपटों के प्रकाश में मुगलों ने अफगान फौजों की सारी स्थिति देख-समझ ली, जिससे उन्हें अपनी तोपो पर तीर कमानों का ठीक निशाना बनाने में बड़ी सहायता और

सफलता मिली । खूब जी-तोड़कर लड़ने पर भी अफगानी फौजी दस्तों की कतारें सुबह होते-होते टूटने लगीं और सैनिक युद्धक्षेत्र से भाग खड़े हुए । बैरमखाँ ने सरहिन्द अधिकृत करने की शीघ्र ही तैयारी कर डाली ।

मच्छीवारा की लड़ाई के फलस्वरूप मुगलों ने लगभग सम्पूर्ण पंजाब पर अपना अधिकार कर लिया और सिकन्दर सूर को, जो हिन्दुस्तान मे अपनी श्रेष्ठता जताने वाले तीन सूर बादशाहो मे से एक था, बुरी तरह भयभीत कर दिया । सरहिन्द को पुन. प्राप्त कर लेने के इरादे से २७ अप्रैल, १५५५ ई० को अस्सी हजार सिपाहियों की फौज लेकर सिकन्दर सूर दिल्ली से चला, और क्योंकि इस बार मुठभेड़ होने की आशंका थी, इसलिए बैरमखाँ की प्रार्थना पर लाहौर से हुमायूँ भी उसके साथ आ मिला । सरहिन्द के निकट ही दोनों ओर की फौजों में २२ जून को एक भयंकर लड़ाई छिड़ गयी । सिकन्दर की इस विशाल फौज को देखकर जिसके आगे-आगे हाथियों की पंक्ति खड़ी थी, पहले तो मुगल सहम गये, किन्तु बैरमखाँ के सफल नेतृत्व से उन्हे अन्त मे विजयश्री प्राप्त हुई । सिकन्दर को बुरी तरह खदेड़ दिया गया और वहाँ से वह पहले मानकोट और मानकोट से उत्तर-पश्चिम पजाब की पहाड़ियों मे जा छिपा । इस स्मरणीय विजय-लाभ के पश्चात हुमायूँ ने सरहिन्द मे पदार्पण किया और यहाँ से वह सोमना गया, जहाँ उसने कुछ दिन बिताये । इसके बाद वह दिल्ली के लिए चल पड़ा और २० जुलाई, १५५५ ई० को वहाँ पहुँच गया । २३ जुलाई की शुभ घड़ी में उसने दिल्ली शहर मे प्रवेश किया और पन्द्रह वर्ष के बाद पुनः दिल्ली के तख्त पर बैठा । उसने सरहिन्द से ही कुछ फौजी दस्ते सिकन्दर सूर का पीछा करने के लिए भेज दिये थे । अब बादशाह ने अपने बेटे अकबर को जो कुछ समय पहले ही युवराज घोषित कर दिया गया था, उसके शिक्षक बैरमखाँ के संरक्षण में पंजाब का गवर्नर नियुक्त कर दिया । यह कार्य इसलिए और आवश्यक था कि पंजाब की ओर सिकन्दर सूर की उछल-कूद जारी थी और उसकी सैनिक-संख्या भी काफी बढ़-चढ़ गयी थी । बादशाह ने अलीकुलीखाँ शहबानी को कम्बर बेग नामक एक विद्रोही को दबाने के लिए बदायूँ भेजा, जिसे उसने आसानी से हरा दिया । आगरा तथा इसके समीपवर्ती जिलों पर अधिकार करने की तैयारियाँ भी शुरू कर दी गयीं । इस प्रकार थोड़े-से महीनों में ही हुमायूँ ने उन क्षेत्रों के बहुत-से भागों पर अपना अधिकार कर लिया जो पहले उसी के कब्जे में थे ।

अन्तिम दिन और मृत्यु

सिंहासन पर पुनः आसीन होते समय बादशाह के सम्मुख अनेक जटिल तथा महत्त्वपूर्ण कार्य थे । पन्द्रह वर्ष पहले के राज्यक्षेत्र का थोड़ा-सा भाग ही अभी उसके अधिकार में आया था, और इस सीमित क्षेत्र में भी ऐसे विद्रोही सरदारो की सख्या कम न थी, जिन्हें दबाना आवश्यक था । इन विद्रोहियों मे अफगान सरदार ही अधिक थे । सबसे अधिक कठिन एवं महत्त्वपूर्ण कार्य था एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था

की स्थापना करना और प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करना। हुमायूँ विद्रोही सरदार को दबाने के काम मे जुट गया। साथ ही वह मुगल-सत्ता की पुनःस्थापना की तैयारियाँ भी करता रहा। लेकिन उसने शेरशाह सूर की श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था को पुनःस्थापित करने का प्रयत्न नही किया। शेरशाह का यह शासन-तन्त्र उसके उत्तराधिकारियों के पारस्परिक संघर्ष तथा मुगलों के आक्रमण के कारण बहुत छिन्न-भिन्न हो गया था। बादशाह का अन्त समय भी अब निकट आ रहा था। २४ जनवरी, १५५६ ई० के संध्या समय वह दीनपनाह नामक भवन-समूह जिसे बाद में शेरमण्डल भी कहा जाता था, के अन्तर्गत अपने पुस्तकालय की छत पर बैठकर अपने कुछ विशिष्ट सरदारों और ज्योतिषशास्त्रवेत्ताओं से विचार-विमर्श कर रहा था कि नक्षत्र के उदय होने पर एक दरबार का आयोजन किया जाय। इसी समय उसने पास वाली मस्जिद मे मुल्ला को अजाँ देते हुए सुना और साँझ की नमाज पढ़ने के लिए वह उठा और ढालू सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आने लगा; किन्तु दुर्भाग्यवश उसका बेंत हाथ से छूट गया और वह सीढियों से गिर पड़ा। उसकी खोपड़ी की हड्डी टूट गयी। यहाँ से उसे महल में ले जाया गया। होश आने पर उसे ज्ञात हुआ कि उसे गहरी चोट पहुँची है और हालत अच्छी नही है। इसलिए उसने अकबर को बुला भेजा और उसे अपना उत्तराधिकारी भी नियुक्त कर दिया। २७ जनवरी, १५५६ ई० को वह इस संसार से कूच कर गया। इस प्रकार जैसा इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है "हुमायूँ गिरते-पड़ते इस जीवन से मुक्त हो गया—ठीक उसी तरह जिस तरह तमाम जिन्दगी-भर वह गिरते-पड़ते चलता रहा था।"

चरित्र

हुमायूँ को एक भद्र पुरुष मानने में दो रायें नही है। तत्कालीन तथा आधुनिक इतिहासकार इस बात पर एकमत हैं कि व्यक्ति के रूप में उसका चरित्र लगभग पूर्ण-सा था। यह अत्यन्त आज्ञाकारी पुत्र था। अपने पिता के जीवनकाल में और उसके बाद भी उसने उसकी आज्ञा-आदेश पालन में कभी किसी तरह की हिचकिचाहट नहीं की। बाबर के अन्तिम वचन उसके कानों में सदैव गूँजते रहते थे और इनका पालन उसने इस दृढ़ता से किया कि एक या दो बार नहीं, कई बार अपने धूर्त एवं विश्वासघाती भाइयों को किसी तरह की हानि न पहुँचाने के विचार से, उसका सिंहासन ही नहीं, उसका जीवन तक संकट में पड़ गया। अपनी माता माहिम बेगम के प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा थी। अपने अनेक सम्बधियो के साथ उसका बड़ा ही प्रेमपूर्ण-बरताव रहता था। बहु-विवाह की प्रथा के अनुसार यद्यपि उसकी बहुत-सी पत्नियाँ थी तथापि उन सबके साथ उसका बड़ा ही स्नेह-सम्बन्ध था। अपने बच्चों को, और विशेषकर अकबर को, वह जी-जान से प्यार करता था। मुहम्मद जमान मिर्जा, मुहम्मद सुल्तान मिर्जा तथा ऐसे ही अनेक सम्बन्धियों के निरन्तर विद्रोह करते रहने पर भी उन्हें बार-बार क्षमा प्रदान करता रहा और उन्हें ऊँचे से ऊँचे उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर भी बैठाता रहा। अपने पिता की भाँति ही वह अपने

अधिकारियों और सेवकों के साथ घुलता-मिलता था, उनके दुःख-सुख में शामिल होता था। विद्वानो के सत्संग का वह बड़ा प्रेमी था और इनके साथ समय-समय पर वह संस्कृति एवं धर्म-सम्बन्धी अनेक विषयों पर चर्चा करता था। स्वयं एक विद्या-प्रेमी होने के साथ-साथ, तुर्की-फारसी साहित्य, गणित, ज्योतिष तथा मुस्लिम-धर्मशास्त्र में उसकी अच्छी गति थी। सुप्रसिद्ध विद्वानों को भी आदरपूर्वक अपने यहाँ रखता था और उनकी जो कुछ सहायता वह कर सकता था, अवश्य करता था। लेकिन यह ध्यान रखने की बात है कि हुमायूं मे बाबर के समान यथोचता नही थी। भाषा-शैली और शुद्ध शब्द लिखने मे वह कभी-कभी लापरवाही कर जाता था। लच्छेदार और अस्पष्ट भाषा उसे बहुत पसन्द था। यह प्रवृत्ति उसके जीवन में काफी दिनों तक बनी रही। यह सब होते हुए भी वह अत्यन्त सुसंस्कृत व्यक्ति था। दूसरो से वार्तालाप करते समय वह बडा ही विनम्र रहता था और बड़े ध्यान से उनकी बाते सुनता था। उसका व्यवहार अत्यन्त आकर्षक और रूप-स्वरूप बडा ही भव्य था। फरिश्ता ने लिखा है, "वह बड़े शानदार डील-डौल का आदमी था। रंग उसका ताम्रवर्ण का-सा था। हुमायूं के चरित्र मे उदारता और कोमलता की मात्रा इतनी अधिक थी, जितनी इन सद्गुणों में सम्भव हो सकती है। दान-दक्षिणा और उदारता की सद्वृत्तियो से वह पूर्ण सम्पन्न था।"

हुमायूँ एक निष्ठावान मुसलमान था। सुन्नियो जैसी कट्टरता उसके स्वभाव में नहीं थी। पाँचों वक्त की नमाज वह नियमित रूप से पढ़ता था और इसके साथ अन्य धार्मिक रीति-रिवाजो का भी पालन करता था। अपने पिता की भाँति वह भी साम्प्रदायिक कट्टरता से दूर था और शिया-मतावलम्बियों के प्रति उसके हृदय में द्वेष-भाव नहीं था। उसकी पटरानी हमीदा बानू बेगम शिया थी और इसी तरह उसका अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक बैरमखाँ भी शिया ही था। उन दिनों की प्रचलित रीत-नीति के विरुद्ध उसने विधर्मी मुसलमानो पर अत्याचार करने से इन्कार कर दिया, और जब वह फारस मे था तो शिया-मत के रीति-रिवाजों को भी मानता रहा, यद्यपि यह उसके स्वभाव और विचार-विश्वासो के अनुकूल नही था। किन्तु जहाँ तक हिन्दुओं के साथ उसके व्यवहार की बात है, वह अपने समय से ऊपर नहीं उठ सका। कुछ आधुनिक इतिहासकारो का मत है कि बाबर ने हुमायूं को आदेश दिया था कि हिन्दुओं के साथ सहनशीलता का बरताव करे। चाहे यह आदेश ठीक हो या जाली हो, हुमायूँ अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के धर्म-कर्म मे उसी तरह छेड़-छाड़ करता रहा जिस तरह मुगलो के पहले मुसलमान सुल्तान करते थे। अपने धर्मावलम्बियों का वह बहुत ही पक्षपात करता था और यद्यपि उसकी यह नीति सदैव हानिकारक सिद्ध हुई, फिर भी यदि विपक्षी हिन्दुओं से युद्ध करते समय उनकी ओर के किसी मुसलमान सैनिक से उसका सामना हो जाता था, तो वह उस पर वार नहीं करता था। कालिंजर में उसने हिन्दुओं के मन्दिर तोड़े। उनके धार्मिक विचार-विश्वासों पर चोट पहुँचाने से भी वह नहीं चूका। किन्तु इतना जरूर है कि

वह कोई निर्मम प्रताडक नही था और न हिन्दू धर्म को नष्ट करने की कोई सुनिश्चित नीति ही उसने अपनायी थी ।

शारीरिक दृष्टि से काफी शक्ति-सम्पन्न तो वह था ही, सैनिक भी वह बुरा नही था। युद्ध करते समय वह बड़े साहस से काम लेता था और युद्धक्षेत्र में प्रायः अपने जीवन तक को खतरे मे डाल देता था। संकट के समय वह बड़े धैर्य से काम लेता था और किसी भी तरह के दुख-दर्द, कष्ट, अभाव को वह मजे से सहन कर लेता था। युद्ध-कौशल मे वैसे तो वह बहुत निपुण था किन्तु अपने पिता बाबर तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी शेरशाह की तुलना में वह नही ठहरता था। एक श्रेष्ठ सेनापति की विशेषताएँ उसके अन्दर नही थी और न एक श्रेष्ठ नेता का आकर्षण ही उसके व्यक्तित्व में था। वे ही सैनिक और फौजी दस्ते जो उसके पिता बाबर का अनुगमन करते हुए विजय पर विजय प्राप्त करते हुए चले जाते थे, उसके एक संकेत-मात्र पर चलते थे, हुमायूं के विरुद्ध बार बार विद्रोह खड़ा करते रहे। वही मुगल फौज जो बाबर के समय मे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर चुकी थी, अब एक शक्तिहीन शक्ति के रूप में रह गयी। हुमायूँ के राज्यकाल मे इनके अन्दर अनेक दोष-दुर्गुण घुस आये और आन्तरिक कलह ने तो इसकी शक्ति को काफी क्षीण कर दिया। रण-कौशल के मुगल तरीकों को हुमायूं ठीक प्रकार से काम मे नही ला सका और न वह अपनी फौजों को ही वीरता के लिए प्रेरित कर सका। कमाण्डर के रूप मे उसने मुश्किल से ही कभी अपने दुश्मन की कठिनाइयो से लाभ उठाया होगा; इसके विपरीत वह सदैव उन्हें अपने विरुद्ध युद्ध-शक्ति को संगठित करने के लिए अवसर ही देता रहा।

हुमायूं को एक अच्छा प्रबन्धक और सुयोग्य शासक भी नहीं कहा जा सकता। रचनात्मक नीतिज्ञता का अभाव होने के कारण अपने अधिकृत क्षेत्रो में एक श्रेष्ठ और सुदृढ़ शासन-व्यवस्था स्थापित करने की बात ही उसे नही सूझती थी। प्रायः यह कहा जाता है कि शासन-व्यवस्था मे सुधार करने के लिए उसे समय नहीं मिला, लेकिन यह तर्क मिथ्या है। भारत से निष्कासन और निर्वासन से पहले उसने लगभग दस वर्षों तक राज्य किया था लेकिन उस समय भी जनता की नैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति में वह कोई सुधार नही कर सका। सत्य तो यह है कि इस प्रकार के कार्य सम्पन्न करने की उसमे क्षमता नही थी। पुनर्राज्य-प्राप्ति के पश्चात लगभग एक वर्ष के शासनकाल मे भी उसने शेरशाह सूर की श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था को फिर से जमाने के लिए भी कोई प्रारम्भिक प्रयत्न नही किये। जो थोड़े से नियम-कायदे उसने अपने शासन-काल मे सोचे-विचारे, वे बडे ही घटिया थे। अपने सामन्तों और अधिकारियों को उसने जिस रूप से तीन वर्गों मे विभाजित किया, वह उसकी स्वच्छन्द इच्छा का ही निरर्थक परिणाम था। शासन के लिए इससे कोई मतलब सिद्ध नही हुआ। एक अन्य लेखक के अनुसार हुमायूं ने अपने सरकारी अधिकारियों को १२ भागों में विभक्त किया था और प्रत्येक श्रेणी एक तीर चिह्न से बोधित होती थी। यह भी बादशाह के मस्तिष्क की एक विचित्र कल्पना थी। सप्ताह के सातों दिन सात तरह की पोशाक

पहनने का भी उसने एक नया नियम अपनाया था। उदाहरण के लिए, रविवार को वह पीले कपड़े पहनता था, शनिवार को काले और सोमवार को सफेद। इसी तरह शेष चार दिन भी वह चार विभिन्न रगों की पोशाके पहनता था। सम्भवतः ज्योतिष के विचार से ही वह ऐसा करता हो, लेकिन शासन-कार्य से तो इस बात का कोई सम्बन्ध नही था। बादशाह के कुछ ऐसे ही अनेक विचित्र से नियम-कायदों का लेखा तत्कालीन लेखको की पुस्तको में है, लेकिन किसी भी लेखक ने लगान सम्बन्धी अथवा शासन की किसी अन्य दिशा मे कोई ठोस कार्य करने का श्रेय उसे नही दिया। उसकी सबसे बडी कमी यह थी कि किसी भी बात की सुनिश्चित और सुविचारपूर्ण योजना उसके सामने नही रहती थी और एक काम को सफलतापूर्वक सम्पन्न किये बिना दूसरे काम मे हाथ डाल देने की तो उसकी आदत ही पड़ गयी थी। असल मे शासन सम्बन्धी शुष्क बातो में उसका मन नही लगता था। चाहे वह कथन कितना ही विचित्र जान पड़े लेकिन यह सत्य है कि जिम्मेदारी सँभालने और निभाने का भाव बादशाह के अन्दर नही था।

राज्याधिकार के सम्बन्ध में उसकी धारणा शेरशाह सूर से बिलकुल भिन्न थी; शेरशाह यह मानता था कि राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की भलाई करते रहना है। अपने अधिकारियो और अपनी फौजो मे हुमायूँ किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नही रख सका और यही कारण है कि अपने पिता की भाँति ही वह उनसे आज्ञापालन नही करा सकता था, और इसके बिना कोई भी सरकार सफलतापूर्वक नही चल सकती थी। सबसे बड़ा दुर्गुण उसके अन्दर प्रमाद का था, और कभी-कभी वह ऐशो-आराम की जिन्दगी में डूब जाता था। अफीम खाने और भोग-विलास में बुरी तरह लिप्त रहने से उसकी बहुत-सी मौलिक प्रतिभा विनष्ट हो गयी। अपने भाई-बन्धु एवं सगे-सम्बन्धियों के प्रति अतिशय उदारता का व्यवहार बरतने और उन्हें बार-बार क्षमा प्रदान करने की प्रवृत्ति सुव्यवस्थित एवं सुनियन्त्रित रूप से सरकार चलाने में एक बड़ी बाधा सिद्ध हुई।

यद्यपि नाम उसका हुमायूँ था, जिसका अर्थ होता है भाग्यशाली; किन्तु दरअसल था वह एक बदकिस्मत बादशाह। दूसरों के प्रति उदार, सहृदय और भला व्यवहार करने के बावजूद वह एक शासक के रूप में असफल ही सिद्ध हुआ। लेकिन फिर भी यह उसका सौभाग्य था कि अपने जीवन के अन्तिम समय मे दिल्ली का ताज उसे पुनः प्राप्त हो गया, जिसके बिना हमारे देश के इतिहास मे उसका कोई महत्त्व-पूर्ण स्थान नही माना जा सकता था। इन सबसे अधिक सौभाग्य की बात उसके लिए यह थी कि अकबर जैसा उसका पुत्र था, जिसने आगे चलकर भारतवर्ष के अधिकांश भाग पर अधिकार प्राप्त कर लिया, देश मे एक ऐसी श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था स्थापित की जिसकी गणना उस समय संसार की सर्वोत्तम शासन-प्रणालियों मे की जाती थी, और हुमायूँ तथा मुगल-राजवंश के नाम और उसकी कीर्ति को आगे बढ़ाया।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. *Memoirs of Babur* (Translated into English by Mrs. Beveridge).
2. Gulbadan Begum, *Humayun-nama* (Translated into English by Mrs. Beveridge).
3. Jauhar, *Tazkirat-ul-Waqayat* (Translated into English by C. Stewart).
4. Elliot & Dowson, *History of India etc.*, Vol. V.
5. Erskine, W., *History of India under Babur and Humayun.*
6. Banerji, S. K., *Humayun Padshah*, Vols. I and II.
7. Haig, Woolseley, *Cambridge Hisrory of India*, Vol. IV., Ch. II.
8. Ray, Sukumar, *Humayun in Persia.*
9. Prasad, Ishwari, *Humayun and His Times.*

अध्याय ४

शेरशाह सूर और उसके उत्तराधिकारी

हुमायूँ का राज्यकाल लगभग पन्द्रह वर्षों के अन्तर से दो भागों मे बँट गया था। इस अन्तर-काल में सूर-राजवंश ने, जिसकी स्थापना महान अफगान सरदार शेरशाह ने की थी, उत्तरी भारत के अधिकांश भागों पर अपना अधिकार जमा लिया। यह अन्तर-काल दो कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, इसलिए कि अन्तिम बार इस काल में एक अफगानी राजवंश दिल्ली के सिंहासन पर विराजमान हुआ, और इसी केन्द्र स्थान से इसने उत्तरी भारत पर शासन-संचालन किया। द्वितीय, इसलिए कि इस राजवंश ने देश की प्राचीन शासन-व्यवस्था को पुनर्जीवित किया, और साथ ही उसमें उपयोगी और आवश्यक सुधार एवं संस्कार भी किये, जिनसे जनता को शान्ति, सुव्यवस्था और समृद्धि प्राप्त हुई। यही उत्तम व्यवस्था आगे चलकर हुमायूँ के उत्तराधिकारियों को एक अमूल्य विरासत के रूप मे भी उपलब्ध हुई।

हुमायूँ का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी शेरशाह अत्यन्त साधारण स्थिति से उठा था। फरीद, जिस नाम से उसे आरम्भ में पुकारा जाता था, इब्राहीम सूर का पोता था और इब्राहीम गोमल नदी के किनारे पेशावर के निकटवर्ती पहाड़ी-प्रदेश रोह का रहने वाला था और घोड़ों के क्रय-विक्रय का व्यवसाय करता था, किन्तु जब उसे इस व्यवसाय में कोई सफलता नहीं मिली, तो वह भारतवर्ष में नौकरी-चाकरी की तलाश में चला आया। यह बहलोल लोदी के शासन का आरम्भिक समय था। इब्राहीम सूर और उसके बेटे हसन ने पंजाब के होशियारपुर जिले के अन्तर्गत हरियाना और बखाला के जागीरदार महाबतखाँ सूर और दाऊद साहूखैल के यहाँ नौकरी कर ली और होशियारपुर से दो मील दक्षिण-पूरब में बजवाड़ा नामक स्थान में टिक गये। इसी जगह हसनखाँ की एक पत्नी के गर्भ से १४७२ ई०[1] में फरीद (शेरशाह) का जन्म हुआ। इसके जन्म के कुछ दिनों बाद इब्राहीम और हसन ने जमालखाँ सारंगखानी और खानेअलम उमरखाँ सरवानी के यहाँ क्रमशः नौकरी कर ली। कुछ समय बाद हसन जमालखाँ की सेवा में चला गया, और जब सिकन्दर लोदी ने जमालखाँ की बदली जौनपुर कर दी, तो हसन को जो अपने मालिक के साथ बिहार चला आया था, सहसराम, खवासपुर

[1] शेरशाह की इस जन्म-तिथि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और सैयद अहमदखाँ जैसे १९वीं शताब्दी के लेखक परिचित थे। किन्तु डॉ० कानूनगो ने शेरशाह का जन्म-काल १४८६ ई० में बताया है।

और टाँडा के परगनो का जागीरदार बना दिया गया। सोन नदी के किनारे सहसराम मे ही फरीद ने अपनी तरुणावस्था के प्रारम्भिक वर्ष व्यतीत किये थे।

हसन एक योग्य सैनिक तो अवश्य था, किन्तु गृह-प्रबन्ध में वह असफल रहा। उसने चार स्त्रियो से शादी की थी, जिनसे उसके आठ लड़के पैदा हुए थे। फरीद और निजाम पहली पत्नी से, और सुलेमान तथा अहमद सबसे छोटी पत्नी से उत्पन्न हुए थे। यह सबसे छोटी पत्नी सम्भवत: हसन की कोई रखैल रही होगी लेकिन हसन सबसे ज्यादा इसी को चाहता था और इसी का सबसे अधिक उसके ऊपर प्रभाव भी था। स्पष्ट है कि फरीद की शैशवावस्था सुख से व्यतीत नही हुई। उसका पिता उसकी कोई देखभाल नही करता था और उसकी विमाता उससे जलती थी। ऐसे वातावरण और व्यवहार से तंग आकर बाईस वर्ष की अवस्था में उसने सहसराम छोड़कर कही अन्यत्र जाकर भाग्य अजमाने का निश्चय किया। उन दिनों जौनपुर इस्लामी संस्कृति और विद्या का केन्द्र बना हुआ था और 'भारत का शीराज' समझा जाता था। फरीद ने इस शिक्षण-केन्द्र मे प्रवेश पा लिया और यहाँ अरबी और फारसी साहित्य के पठन-पाठन में जुट गया। उसने अरबी, व्याकरण पढ़ी और फारसी के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ-रत्न 'गुलिस्ताँ', 'बोस्ताँ' और 'सिकन्दरनामा' का भी अध्ययन किया। वह बड़ा ही कुशाग्र-बुद्धि और असाधारण प्रतिभा का विद्यार्थी था और इसी कारण, अनेक लोगों का ध्यान सहज ही उसकी ओर आकर्षित होता था। उसके अनेक प्रशंसको में उसके पिता के संरक्षक जमालखां का नाम प्रमुख था, जिसने पिता-पुत्र मे समझौता करा दिया और हसन को अपनी जागीर का प्रबन्ध फरीद के हाथ में सौपने के लिए आज्ञा दी।

अपने पिता की जागीर के प्रबन्धक के रूप में

जौनपुर से अपनी शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर फरीद सहसराम में आकर अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध करने लगा और एक-दो वर्ष नही लगभग २१ वर्षों तक (१४९७-१५१८ ई०) वह यह कार्य योग्यतापूर्वक करता रहा। इसी समय में उसने शासन-प्रबन्ध की शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया था। जिन जमींदारों ने जरा भी सिर उठाया, उन्हें उसने दबा दिया। दीवानी और फौजदारी अधिकारियों को उसने कड़े नियन्त्रण में रखा और प्रजा को शान्ति और सुव्यवस्था प्रदान की। इस समय का उसका सबसे प्रमुख काम लगान सम्बन्धी एक श्रेष्ठ व्यवस्था की स्थापना करना था। यह व्यवस्था जमीन की विधिवत नाप-जोख, उसके वर्गीकरण और उसमें होने वाली पैदावार पर आधारित थी। कृषकों के हितों का उसने पूरा-पूरा ख्याल रखा। भ्रष्टाचारी लगान अधिकारियों को उसने सजाएँ दी। प्रत्येक के साथ न्यायोचित व्यवहार किया जाय, यह उसका परम उद्देश्य था और इसकी पूर्ति के लिए उसने उद्धत अफगानी सैनिकों के साथ किसी प्रकार की रियायत नही की। उस समय इन कामों को करते हुए उसे शायद स्वप्न में भी यह ख्याल नही था कि इस प्रकार वह उत्तरी भारत का एक श्रेष्ठ और सबल शासक बनने की तैयारी कर रहा है।

फरीद ने जिस योग्यता और सफलता से शासन-प्रबन्ध किया उसे देखकर उसकी

सौतेली माँ उससे और अधिक जलने लगी। फलतः १५१८ ई० मे उसे अपने पिता के पास से पुनः हटना पड़ा। वह सुल्तान इब्राहीम लोदी के दरबार में पहुँचा और उससे प्रार्थना की कि उसके पिता की जागीर उसे सौंप दी जाय। किन्तु सुल्तान के ऊपर उसका अच्छा प्रभाव इसलिए नहीं पड़ा कि वह अपने पिता की ही शिकायत उससे करने पहुँचा था और इसी कारण जागीर उसे प्रदान नही की गयी। सयोगवश कुछ दिनों के बाद हसन की मृत्यु हो गयी और अब सुल्तान इब्राहीम को फरीद की प्रार्थना स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। सहसराम, खवासपुर, टांडा की जागीर उसे सौंप दी गयी। इस प्रकार यह महत्त्वाकांक्षी नवयुवक शाही फरमान लेकर दक्षिण बिहार में लौट आया और १५२०-२१ ई० के आसपास सहसराम में आकर बस गया।

सुल्तान मुहम्मदशाह की सेवा : आपत्ति का समय

सुल्तान द्वारा फरीद को उसके पिता की जागीर दिये जाने पर भी उत्तराधिकार का झगड़ा समाप्त नहीं हुआ और इन्हीं झगड़े-टण्टो के कारण वह अधिक दिनो तक जागीर का सुख नहीं भोग सका। उसके सौतेले भाई सुलेमान ने जो हसन के अन्तिम दिनों में जागीर की देखभाल करने लगा था, बिहार के शाहाबाद जिले के अन्तर्गत चौंद (वर्तमान चैनपुर) के मुहम्मदखाँ सूर को उत्तराधिकार के इस झगडे मे हस्तक्षेप के लिए निमन्त्रित किया। मुहम्मदखाँ हसन से वैमनस्य रखता था अतः उसने भाइयों के झगडे से लाभ उठाना चाहा और जागीर को दो भागों में बाँट देने का प्रस्ताव रखा। लेकिन फरीद ने इस विभाजन को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इब्राहीम लोदी ने तो जागीर केवल उसी को प्रदान की थी। दूरदर्शी तो वह था ही, उसने दक्षिण बिहार के शासक बहारखाँ लोहानी के यहाँ नौकरी कर ली, और इस प्रकार सहज ही में उसे अपने हकों का समर्थक और संरक्षक बना लिया (१५२२ ई०)। बहारखाँ उसकी सेवाओं से प्रसन्न था और एक दिन शिकार में एक शेर को बिना किसी अस्त्र-शस्त्र के मार देने के पुरस्कारस्वरूप उसने फरीद को शेरखाँ की उपाधि से विभूषित किया। कुछ दिनों बाद ही उसे बहारखाँ के छोटे लड़के जलालखाँ का शिक्षक नियुक्त कर दिया गया और इसके बाद उसकी नियुक्ति दक्षिण बिहार के डिप्टी-गवर्नर के उच्च पद पर कर दी गयी।

शेरखाँ को इस प्रकार तेजी से बढ़ते-चढ़ते देख दक्षिण बिहार के लोहानी तथा अन्य पठान सरदार उससे जलने लगे। जब शेरखाँ किसी आवश्यक कार्य मे अपनी जागीर में गया हुआ था तो उसके एक प्रतिद्वन्द्वी ने उसके खिलाफ बहारखाँ के कान भर दिये। यह समय बड़ा नाजुक था, विशेषकर अफगानो के लिए, क्योंकि उनका राजा इब्राहीम लोदी हाल ही में पराजित होकर पानीपत की लड़ाई में मारा गया था और हिन्दुस्तान की सर्वोच्च सत्ता भी अफगानों के हाथों में से निकलकर मुगलो के हाथों में चली गयी थी। बहारखाँ, जिसने सुल्तान मुहम्मदशाह की उपाधि धारण कर अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था, इस समय अपने आदमियों को एकत्र कर रहा था और बड़ी सावधानी से 'प्रतीक्षा करो और देखो' की नीति पर चल

रहा था। शेरखाँ के शत्रुओं ने मुहम्मदशाह के कान भरे कि वह इब्राहीम लोदी के भाई महमूद लोदी के साथ, जो दिल्ली मे अफगान शासन-सत्ता को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न कर रहा था, मिलने की तैयारी में है। यह बात मुहम्मदशाह के विरुद्ध पड़ती थी क्योंकि उस हालत मे उसे महमूद लोदी की अधीनता मे रहने का डर था। फलत. उसने चौद के मुहम्मदखाँ सूर को शेरखाँ और सुलेमान के उत्तराधिकार के झगड़े को तय करने के लिए पच नियुक्त कर दिया। शेरखाँ अब भी जागीर के विभाजन के लिए तैयार नही था; वह तो सम्पूर्ण पैतृक जागीर पर अपना ही अधिकार रखने के लिए आग्रह कर रहा था। सुलेमान की ओर से मुहम्मदखाँ सूर ने परगनों पर बलात् अपना अधिकार कर लिया और शेरखाँ को वहाँ से निकाल बाहर किया। शेरखाँ पुनः बे-घरबार होकर नौकरी की तलाश में निकल पडा। इस समय उसे बाबर से ही, जो उत्तरी भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर चुका था, सहायता प्राप्त करने की आशा थी, जिससे मुहम्मदखाँ सूर से वह अपनी जागीर पुन: प्राप्त कर सके। इसी विचार से उसने कड़ा और मानिकपुर के मुगल गवर्नर जुन्नैद बरलास से सम्पर्क स्थापित किया और उसके द्वारा अप्रैल १५२७ ई० में मुगल सेना में एक स्थान प्राप्त कर लिया। जब बाबर ने बिहार के अफगानों पर चढाई की, तो शेरखाँ की सेवाएँ और सहायताएँ काफी लाभदायक सिद्ध हुईं और मार्च १५२८ ई० में उसकी जागीर उसे पुन' सौंप दी गयी। मुहम्मदखाँ सूर को उसने चौद, जिस पर मुगलों का अधिकार हो गया था, वापस कर दिया और इस प्रकार अपनी सफल कूटनीति और न्यायोचित व्यवहार के द्वारा उसे (मुहम्मदखाँ सूर) अपना कृतज्ञ बना लिया।

बिहार का डिप्टी गवर्नर

मुगलों के साथ कुछ समय तक रहने के कारण शेरखाँ ने उनके शासन-प्रबन्ध और सैनिक संगठन में कुछ ऐसे दोषों का पता लगा लिया था जिनसे उसे विश्वास हो गया था कि अफगानों को अपने राज्य को पुनः प्राप्त कर लेना असम्भव नही है। मुगलों का गैर-मुगलों के प्रति अपमानजनक और उनके अभिमानसूचक व्यवहार भी शेरखाँ की तेज नजर से नहीं छिपे। १५२८ ई० के अन्त मे वह मुगलों की नौकरी छोड़कर बिहार मे इसलिए नहीं चला आया था कि यहाँ बाबर के विरुद्ध अफगानों को सगठित करे (कुछ आधुनिक लेखकों का यही मत है); बल्कि मुगलों के साथ उसका निर्वाह कठिन था। एक बार पुनः वह दक्षिण बिहार के सुल्तान मुहम्मदशाह के दरबार में पहुँचा और उसे जलालखाँ का शिक्षक और अभिभावक नियुक्त कर दिया गया। इसके बाद सुल्तान मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गयी (१५२८ ई०) और उसके पीछे उसका उत्तराधिकारी जलालखाँ रह गया, जो अभी नाबालिग था। सुल्तान मुहम्मदशाह की विधवा पत्नी दूदू बीबी नये सुल्तान की संरक्षिका नियुक्त हुई। उसने शेरखाँ को अपना सहायक अथवा 'वकील' नियुक्त किया। डिप्टी गवर्नर की हैसियत से शेरखाँ ने शासन-व्यवस्था का पुनः संगठन किया, फौजों के अनेक दोषों को दूर किया और शिशु-शासक के प्रति स्वामिभक्ति और सेवा-भाव रखते हुए अपनी स्थिति को भी सुदृढ़ बनाया।

अपने निजी स्वार्थों को भी उसने विस्मरण नहीं किया; बल्कि अपने साथ परखे हुए अफगानों का एक दल एकत्र कर लिया। उसके ये अनुयायी अधिकतर सूर फिरके के ही लोग थे, जो उनके लिए जरूरत पड़ने पर अपनी जान तक देने को तैयार थे।

एक वर्ष के अन्दर ही शेरखाँ का भाग्य फिर गोते खाने लगा (१५२९ ई०)। बिहार के कुछ प्रमुख अफगानों के निमन्त्रण पर इब्राहीम लोदी का छोटा भाई महमूद लोदी यहाँ आ उपस्थित हुआ। राना सग्रामसिंह, जिसकी ओर से वह खानुवा की लड़ाई (मार्च १५२७ ई०) लडा था, की पराजय के पश्चात वह मेवाड चला गया था; किन्तु हिन्दुस्तान पर अपनी सत्ता स्थापित करने के उसके इरादे अभी खत्म नही हुए थे। उसके बिहार में आ जाने पर अफगान सरदारो ने आपस मे मिलकर सलाह की और मुगलों से मोर्चा लेने की योजना बनायी। लगभग सभी अफगान उसके झण्डे के नीचे आ गये और उसने दक्षिण बिहार का शासन-सूत्र शिशु सुल्तान जलालखाँ से इस आश्वासन पर अपने हाथ मे ले लिया कि अफगानों के शत्रु बाबर पर विजय प्राप्त कर यह प्रान्त पुनः उसे (जलालखाँ को) सौंप दिया जायगा।

शेरखाँ महमूद लोदी की अयोग्यता और उसके प्रमुख अनुयायियों की पारस्परिक कटुता से भलीभाँति परिचित था। महमूद लोदी के नेतृत्व मे होने वाली इन तैयारियों के प्रति उसने विशेष उत्साह प्रदर्शित नहीं किया और यह बहाना बनाकर वह अपनी जागीर में चला आया कि वहाँ यह अभियान की तैयारियाँ करेगा। वास्तव में, बात तो यह थी कि वह बाबर के विरुद्ध मोर्चे में सम्मिलित नही होना चाहता था किन्तु महमूद लोदी, जो सभी अफगान नेताओं के सहयोग के लिए उत्सुक था, शेरखाँ से इस राष्ट्रीय कार्य में पूर्ण सहयोग प्राप्त करना चाहता था और इसी उद्देश्य से उसने अपनी फौजों को सहसराम में होकर ले जाना निश्चित किया, जिससे वह शेरखाँ से अन्य अफगान अनुयायियों के साथ फौज मे सम्मिलित हो जाने के लिए आग्रह कर सके। पहले तो शेरखाँ हिचकिचाया किन्तु कुछ सोच-समझकर वह तैयार हो गया और महमूद के सहसराम आगमन पर उसने उसका शाही स्वागत-सत्कार किया तथा अपने सैनिक-दल के साथ उसके साथ सम्मिलित भी हो गया। अभियान के आरम्भ में तो अफगानों को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई। ये लोग गाजीपुर तक बढ़े चले आये और बनारस अपने अधिकार मे कर लिया। किन्तु मुगल फौजो के वहाँ आ पहुँचने पर ये भयभीत हो गये और अभियान को छोड़ बैठे। महमूद लोदी तो युद्धक्षेत्र मे शत्रु से मोर्चा लिये बिना ही भाग खड़ा हुआ। अफगान सरदारों में से बहुतों ने जिनमे, शेरखाँ भी शामिल था, बाबर की अधीनता स्वीकार कर ली। दक्षिण बिहार का शिशु सुल्तान जलालखाँ, जो महमूद लोदी के आगमन पर बगाल चला गया था, वापस आ गया। १६ मई, १५२९ ई० को उसने बाबर से भेंट की। इन शर्त पर उसका अधिकार भाग सौंप दिया गया कि वह बाबर को वार्षिक कर चुकाता रहेगा। शेरखाँ को भी उसकी जागीर दे दी गयी और वह भी बाबर का अधीनस्थ हो गया।

जलालखाँ की माँ दूदू बीबी ने बाबर के आगरा चले जाने और अपने बेटे के

पुनः राज्य प्राप्त कर लेने पर शेरखाँ को फिर से उसका संरक्षक और बिहार का डिप्टी-गवर्नर नियुक्त कर दिया। बंगाल और दिल्ली के शक्तिशाली राज्यों के मध्य स्थित होने के कारण दक्षिण बिहार के लिए यह बड़ा भय था कि कहीं उसे इन राज्यों के झगड़ों में न फँसना पड़े और इनकी नाराजगी का शिकार बनना पड़े। इसके साथ ही इस प्रान्त की शासन-व्यवस्था और आर्थिक-स्थिति भी कमजोर हो गयी थी क्योंकि बाबर और महमूद लोदी के संघर्ष का यह रण-स्थल बन गया था। दूदू बीबी का यह विचार बिलकुल ठीक था कि शेरखाँ की कोटि का प्रबन्धक ही इस प्रान्त को इसकी पूर्व-समृद्धि तक ला सकता है। नियुक्ति के पश्चात शेरखाँ प्रान्त के शासन-सुधार और उसे व्यवस्थित करने में जी-जान से लग गया। इसके कुछ समय बाद दूदू बीबी का स्वर्ग-वास हो गया और सम्पूर्ण शासन-सत्ता शेरखाँ के ही हाथ में आ गयी। जलालखाँ अभी नाबालिग और नाममात्र का ही शासक था। इन परिस्थितियों में शेरखाँ को सेना पर अपना प्रभाव और प्रभुत्व स्थापित करने और उसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तैयार करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया। उसने अपने परखे हुए विश्वासपात्र आदमियों को शासन और सेना में महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया और वह स्वयं हर प्रकार से अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा बढाने में लग गया।

इस समय दक्षिण बिहार के सामने सबसे आवश्यक समस्या बंगाल के नुसरतशाह (१५१८-३२ ई०) से अपने सम्बन्ध ठीक करने की थी। नुसरतशाह अपने पड़ोसी राज्य का कुछ भी ख्याल न करके अपना राज्य-विस्तार करना चाहता था। शेरखाँ ने अनुभव किया कि बंगाल की ओर से इस बढते हुए खतरे को दूर करने के लिए किसी शक्तिशाली दोस्त की तलाश होनी चाहिए। उसने नुसरतशाह के बहनोई और हाजीपुर के गवर्नर मखदूमे आलम से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। मखदूमे आलम की नुसरतशाह से नहीं बनती थी और इसी बात को समझकर शेरखाँ ने उसे समातोलन के रूप में रखकर नुसरतशाह के विरुद्ध भिड़ाना चाहा। जब यह बात नुसरतशाह को मालूम हुई तो वह बहुत बिगड़ा। अपने बहनोई पर उसने चढ़ाई कर दी और उसे मौत के घाट उतार दिया। उधर शेरखाँ ने मखदूमे आलम द्वारा एकत्र किया हुआ एक बड़ा खजाना अपने अधिकार में कर लिया। मखदूमे आलम पर विजय-लाभ करने से उत्साहित होकर नुसरतशाह ने दक्षिण बिहार पर भी चढ़ाई कर दी, किन्तु शेरखाँ ने १५२९ ई० में उसे बुरी तरह पराजित किया। अपने शक्तिशाली पड़ोसी पर विजय प्राप्त करने से शेरखाँ की प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा काफी बढ़ गयी। लेकिन उसको इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते देख लोहानी जल गये। जो आदमी कभी उनके सरदार का नौकर रह चुका था, वह इस प्रकार प्रतिष्ठा पाये, यह उनके लिए असह्य था। इन लोगों ने जलालखाँ के कान भर दिये और उसे शेरखाँ के विरुद्ध भड़का दिया। इतने से भी सन्तुष्ट न होकर इन लोगों ने शेरखाँ की हत्या करने का षड्यन्त्र रचा, किन्तु यह सफल नहीं हो सका। अपने विरुद्ध इतने लोगों को देखकर शेरखाँ ने यही निश्चय किया कि सत्ता सँभालने में लोहानियों का भी हाथ रहे, किन्तु उसका यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया।

इसके विपरीत, लोहानियों ने शेरखाँ से सत्ता छीनने मे सहायता देने के लिए बगाल के नुसरतशाह को निमन्त्रण दिया। जब उन्हें इसमे भी सफलता नही मिली तो ये लोग अपने नाबालिग सुल्तान जलालखाँ के साथ नुसरतशाह के पास भाग गये और बंगाल में जाकर शरण ली।

दक्षिण बिहार से जलालखाँ के चले जाने से शेरखाँ वहाँ का वास्तविक राजा बन गया। किन्तु उसने कोई राजसी उपाधि धारण नही की और 'हजरते आला' की साधारण पदवी लेकर ही राजकाज चलाने लगा। चुनार के एक पूर्व गवर्नर ताजखाँ की विधवा पत्नी लाड मलिका से शादी कर लेने पर उसे चुनार दुर्ग प्राप्त हो गया, जिससे उसकी सैनिक और आर्थिक स्थिति और मजबूत हो गयी। इस शादी-सम्बन्ध से दो प्रत्यक्ष लाभ हुए। एक तो चुनारगढ जैसा अभेद्य दुर्ग उसे प्राप्त हो गया, दूसरे यहाँ की जमीन में छिपा हुआ एक बहुत बडा खजाना भी उसके हाथ लगा। इन सफलताओं से उसकी विजय-लालसा एवं महत्त्वाकांक्षाएँ और अधिक प्रज्ज्वलित हो उठीं। अब वह एक स्वतन्त्र शासक बनने के सुख-स्वप्न देखने लगा और उत्कर्ष की योजनाओं को कार्यान्वित करने लगा।

हुमायूँ से प्रारम्भिक संघर्ष

इन सफलताओं के बावजूद शेरखाँ के लिए सत्ताधारी शासक बनना सरल कार्य नहीं था। उसे जल्दी ही दुर्भाग्य ने आ घेरा, जिससे कुछ दिनो के लिए उसकी महान योजनाओं की गति रुक गयी। यद्यपि लोहानी सरदार बगाल भाग गये थे और दक्षिण बिहार में वह नाम से न सही, काम से सर्वसत्ताधारी शासक बना हुआ था और प्रयत्न कर रहा था कि भारतीय अफगान संगठित हो जाये, उनकी आर्थिक और नैतिक स्थिति ठीक हो जाय; फिर भी उसकी जाति में ही विरोधी तत्त्वों की कमी नहीं थी, जिनको शान्त करना उसके लिए अनिवार्य था। शेरखाँ छोटी स्थिति से उठते हुए एक शासक के परम उच्च पद पहुँच गया था। उसका यह उत्कर्ष बहुत-से अफगान अधिकारियों को फूटी आँख भी नही सुहाता था। वे तो उसे एक छोटी-सी स्थिति से बढ़ा हुआ आदमी समझते थे। १५३० ई० में इन असन्तुष्ट अधिकारियों ने महमूद लोदी को, जो घाघरा की लड़ाई में हारकर एक शरणार्थी बना हुआ अपने दिन काट रहा था, निमन्त्रित किया। उसने यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और बिहार आ गया। हिन्दुस्तान से मुगलों को भगाने और यहाँ पर पुनः अफगानी सत्ता जमाने के लिए यह समय भी अनुकूल जान पड़ता था। मुगल साम्राज्य का युवराज हुमायूँ बुरी तरह बीमार पड़ा हुआ था। किन्तु अपने बेटे के लिए बाप ने अपना बलिदान किया और मुगल-साम्राज्य का स्थापक बाबर दिसम्बर १५३० ई० में स्वर्ग सिधार गया। अफगानी लोग मुगलों की कठिनाइयों से लाभ उठाना चाहते थे। महमूद लोदी के बिहार में आ जाने से शेरखाँ को अपनी जागीर में जाना पड़ा क्योंकि वह इस लोदी सरदार की अधीनता में रहकर काम नहीं करना चाहता था। महमूद उसे खुश करके अपनी ओर मिलाना चाहता था और इसी उद्देश्य से उसने उसे लिखित आश्वासन दिया कि मुगलों पर

विजय प्राप्त करने के पश्चात दक्षिण बिहार का सम्पूर्ण प्रदेश उसी को वापस कर दिया जायगा। महमूद शेरखाँ की जागीर में भी गया और उससे सहयोग करने के लिए प्रार्थना की जिससे मुगलों के ऊपर मिलकर चढ़ाई की जा सके। शेरखाँ पहले तो इसके लिए राजी नहीं हुआ किन्तु बाद मे अनिच्छापूर्वक इस आक्रमण-योजना में सहयोग देने के लिए उसने अपनी स्वीकृति दे दी और अफगान संगठन का सदस्य बन गया।

कई महीनों की तैयारियों के पश्चात आक्रमण की एक योजना बनायी गयी। महमूद के नेतृत्व मे अफगानों ने बनारस पर अधिकार कर लिया और जौनपुर की ओर बढ़ चले। मुगल गवर्नर जुन्नैद बरलास वह स्थान छोड़कर आगरे की ओर हट गया। इस सफलता से उत्साहित होकर अफगान लोग लखनऊ की ओर बढ़े और उसे अपने अधिकार में कर लिया। इस समय हुमायूँ कालिंजर का घेरा डाले पड़ा था। अपनी फौज के पराजित होने के समाचार सुनकर उसने कालिंजर के राजा के साथ सुलह कर ली और पूरब की ओर अफगानों के बढ़ाव को रोकने के लिए चल दिया। दोनों ओर की फौजें अवध के बाराबंकी जिले की नवाबगंज तहसील के दोनरुआ नामक स्थान पर आमने-सामने आकर खड़ी हो गयीं और अगस्त १५३२ ई० में इन दोनों के मध्य बड़ी जोरों की लड़ाई हुई जिसमें अफगान बुरी तरह हार गये और उनका नेता महमूद लोदी उड़ीसा भाग गया, जहाँ वह अपना शेष जीवन व्यतीत करते हुए १५४२ ई० में मर गया। अफगानों की इस आक्रमण-योजना में शेरखाँ अनिच्छापूर्वक सम्मिलित हुआ था। इसके असफल होने पर उसने दक्षिण बिहार को पुनः हस्तगत कर लिया और इसका पुनः शासक बन बैठा।

दोनरुआ में महमूद लोदी पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात हुमायूँ शीघ्र ही आगरा नहीं लौटा; उसने चुनारगढ़ के दुर्ग पर, जो शेरखाँ को १५३० ई० में लाड मलिका के साथ विवाह करने के फलस्वरूप प्राप्त हुआ था, घेरा डाल दिया। दुर्ग के समीप जब मुगल फौजें दिखायी देने लगीं, तो शेरखाँ ने इसकी रक्षा का भार अपने दूसरे लड़के जलालखाँ को सौंप दिया और स्वयं बिहार के देहातों में चला गया। चुनारगढ़ पर मुगल घेरा चार महीने (सितम्बर से दिसम्बर १५३२ ई० तक) पड़ा रहा। हुमायूँ के लिए जलालखाँ को अपने अधीन बना लेना सरल काम नहीं था। परिस्थितियों ने भी मुगल सेनाओं से भिड़ने में सहायता दी। घेरा डालने के पश्चात हुमायूँ को चिन्ताजनक समाचार मिला कि गुजरात का बहादुरशाह सिर उठा रहा है और मुगलों से भिड़ने के लिए तैयारियाँ कर रहा है। इन परिस्थितियो में हुमायूँ ने सुलह करने का निश्चय कर लिया, जैसा पहले भी कालिंजर के राजा के साथ उसने किया था। उसने चुनार के दुर्ग पर शेरखाँ का अधिकार इस शर्त पर रहने दिया कि वह पाँच सौ सैनिकों का एक दल अपने तीसरे लड़के कुतुबखाँ की कमान में मुगल सेना के साथ रखेगा। ये शर्तें दोनों को ही मान्य थीं इसलिए सन्धि हो गयी और जनवरी १५३३ ई० में बहादुरशाह से निबटने के लिए हुमायूँ आगरा लौट गया।

बंगाल से संघर्ष (१५३३-३७ ई०)

(हुमायूँ के आगरा लौट जाने पर शेरखाँ चुनार के समीप से दक्षिण बिहार लौट आया। (चुनारगढ़ पर घेरा डालते समय, बंगाल के शासक ने बिहार के साथ शत्रुता का व्यवहार किया था। अब शेरखाँ ने उसका प्रत्युत्तर देने का निश्चय किया और इस उद्देश्य से उसने बंगाल पर आक्रमण की तैयारियाँ आरम्भ कर दी। उसने अपनी सेना की शक्ति बढ़ायी और हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों से, विशेषकर उत्तर-पश्चिमी भागों और रोह से, अफगानों को एकत्र किया और उनके मनचाहे वेतन पर उन्हें नौकर रख लिया। जब उसकी तैयारियाँ पूरी हो गयीं तो १५३३ ई० में बंगाल के नये शासक गियासुद्दीन महमूद के ऊपर उसने चढ़ाई कर दी। शेरखाँ अपने मार्ग में मिट्टी की खाई खुदवाकर अपने आपको सुरक्षित रखता था जिससे उस पर अचानक आक्रमण न हो सके। बंगाल की सेना उस समय के सुप्रसिद्ध कमाण्डर इब्राहीमखाँ के नेतृत्व में थी। यह कुतुबखाँ का पुत्र था। सूरजगढ़ मे दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामने आ गयी और १५३४ ई० में वहाँ बड़ी भयंकर लड़ाई लड़ी गयी। शेरखाँ ने चतुराई से बंगाल की सेना को एक गुप्त स्थान की ओर आकर्षित कर लिया और तब उसके ऊपर आक्रमण करके उसे हरा दिया) बंगाल की सेना की अपार क्षति हुई और उसके हजारों सैनिक बुरी तरह कत्ल कर दिये गये। सूरजगढ़ की लड़ाई का परिणाम वही हुआ, जिसकी शेरखाँ ने अनुमान लगाया था। "सम्पूर्ण कोष, हाथी और गोला-बारूद शेरखाँ के हाथ लगा। यह युद्ध-सामग्री प्राप्त कर वह बिहार और इसके अतिरिक्त अन्य प्रदेशों का मालिक बन बैठा।" (सूरजगढ़ की लड़ाई में प्राप्त सफलता से उसके दिल में महत्त्वाकांक्षाओं का अपार सागर लहराने लगा और उज्जवल भविष्य का द्वार उसके सामने खुल गया)

सूरजगढ़ के विजय-लाभ से शेरखाँ की विजय-लालसा और बढ़ गयी। इस सफलता के बाद उसने बंगाल पर पुनः चढ़ाई की, इस समय तक हुमायूँ गुजरात के बहादुरशाह के विरुद्ध ही मोर्चा खड़ा किये हुए था। शेरखाँ ने गियासुद्दीन महमूद को लगातार कई बार हराया और तेलियागढ़ी के दर्रे के निकट का उसका सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार बुरी तरह हारते हुए और शत्रु-सेना से घिरकर बंगाल का शासक चिनसूरा के पुर्तगालियों की सहायता लेने के लिए मजबूर हो गया। बंगाल और पुर्तगालियों की संयुक्त सेना ने तेलियागढ़ी और सिकरीगली के दर्रे को बचाने के लिए प्रयत्न किया, किन्तु शेरखाँ मित्र फौजो से कहीं अधिक चतुर था। दर्रों की ओर हटकर वह चतुरता से मित्र फौजों का चक्कर काटते हुए बंगाल की राजधानी गौड़ की ओर जा निकला और १५३६ ई० में उस पर आक्रमण करने की धमकी दे दी। गियासुद्दीन के पुर्तगाली साथी यहाँ उसके सहायक सिद्ध नहीं हो सकते थे। उसके सामने इसके सिवाय अब दूसरा रास्ता नहीं था कि वह शेरखाँ से सन्धि-चर्चा चलाये और तेरह लाख रुपयों की कीमत की स्वर्ण-राशि उसे भेंट कर आक्रमण को अस्थायी रूप से टलवाये।

इस सन्धि से महमूद को केवल अस्थायी आराम मिला, क्योंकि शेरखाँ के मन मे बंगाल-विजय की लालसा बड़ी प्रबल हो चुकी थी। वह यह भी जानता था कि यह सफलता प्राप्त करना कोई कठिन कार्य नही है, क्योंकि बगाल की फौजों को वह सूरजगढ और गौड दो स्थानो पर हरा चुका था। साथ ही उसे महमूद और पुर्तगालियो के बीच चलती हुई वार्ताओ का भी पता था और वह इन दोनो के मध्य किसी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को रोकने के लिए चिन्तित था। सन्धि के एक वर्ष के अन्दर ही उसने बंगाल पर पुनः चढाई करने की तैयारियाँ आरम्भ कर दी (१५३७ ई०)। आक्रमण का एक बहाना भी निकाल लिया गया। महमूद वार्षिक कर चुकाने में असमर्थ रहा था और साथ ही अभी तक उसने शेरखाँ को शत्रु समझने की नीति नही त्यागी थी। महमूद शेरखाँ का मुकाबला ही क्या कर सकता था! उसे मजबूर होकर गौड़ के दुर्ग में जाकर शरण लेनी पड़ी। यहाँ से उसने ऐसे संकटकाल में हुमायूँ से शीघ्र ही सहायता करने की अपील की। शेरखाँ यह भली प्रकार जानता था कि यदि उसे सफलता प्राप्त करनी है तो तुरन्त कार्यवाही करनी चाहिए। उसने अपने लड़के जलालखाँ और सबसे योग्य एवं स्वामिभक्त जनरल खवासखाँ को गौड़ पर घेरा डालने और हुमायूँ की सहायता पहुँचने के पहले ही बगाल को जीत लेने के लिए भेज दिया। इसी समय उसने अपनी फौज का एक भाग सुदूर-स्थित चिटगाँव आदि जिलों पर अधिकार कर लेने के लिए भेज दिया। बगाल का पतन अब कुछ ही दिनो की बात रह गयी।

हुमायूँ की शेरखाँ पर चढ़ाई : चुनार का पतन (१५३७-३८ ई०)

(बंगाल की ओर शेरखाँ को इस प्रकार तेजी से बढ़ते हुए और प्रदेशों को जीतते हुए देख हुमायूँ सावधान हुआ और उसने हिन्दू बेग को जौनपुर वहाँ की स्थिति का अध्ययन करने और शीघ्रातिशीघ्र तत्सम्बन्धी जानकारी की सूचना देने के आदेशों सहित भेजा।) इस मुगल सरदार ने, जिसका शेरखाँ के साथ मित्र-भाव जान पड़ता था, रिपोर्ट भेजी कि पूरबी सरहद में सर्वत्र शान्ति है और इधर अफगान सरदार शेरखाँ की कोई सरगरमी दिखायी नहीं देती। इसके कुछ समय बाद हुमायूँ को बंगाल के बादशाह महमूद का पत्र मिला जिसमें उसने सहायता की याचना की थी। इसके बाद उसे वह चिन्ताजनक समाचार भी प्राप्त हुए कि लगभग सम्पूर्ण बंगाल शेरखाँ के हाथ में जाने वाला है।) फलतः मुगल सम्राट ने आगरा में एक साल (अगस्त १५३६ से जुलाई १५३७ ई० तक) नष्ट करने के उपरान्त चुनार की ओर चलने की तैयारियाँ शुरू कर दीं। उसने आगरे की सरकार मीर मोहम्मद बख्शी और दिल्ली की मीर फखअली को सौंप दी और यादगार नासिर मिर्जा को कालपी में, नूरुद्दीन को कन्नौज में और हिन्दू बेग को जौनपुर में तैनात कर दिया तथा स्वयं २७ जुलाई, १५३७ ई० को आगरे से चल पड़ा। नवम्बर में चुनार पहुँचने पर उसने दुर्ग को घेर लेने के लिए आज्ञा दे दी। शेरखाँ ने दुर्ग को अपने लड़के कुतुबखाँ और ग़ाजीखाँ सूर की देखरेख में छोड़ रखा था। दुर्ग पर आसानी से अधिकार नहीं किया जा सका और पूरे छह महीने तक (अक्तूबर १५३७ ई० से मार्च १५३८ ई० तक) घेरा पड़ा रहा। किन्तु

रूमीखाँ ने बड़ी चतुराई से उस पर अधिकार कर लिया। दुर्ग को रूमीखाँ के प्रबन्ध में छोडकर बादशाह बनारस की ओर बढा। वह अभी यही निश्चय नही कर पाया था कि उसे महमूद की सहायता के लिए गौड पहुँचना चाहिए अथवा शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने के लिए दक्षिण बिहार चलना चाहिए। उसने चुनारगढ के घेरे में छह महीने नष्ट कर दिये थे; किन्तु इस पर अधिकार हो जाने से कोई लाभ नही निकला, क्योकि यहाँ से स्थलमार्गों पर नियन्त्रण नही रखा जा सकता था। चुनार दुर्ग के लिए तो वह अपनी फौज के कुछ दल छोड सकता था जो दुर्ग के अफगान रक्षकों पर निगाह रखते। इस अवधि मे शेरखाँ ने मुगेर और गौड़ के मध्य का बगाल प्रदेश जीत लिया था (जुलाई से अक्तूबर १५३७ ई०) और महमूद की राजधानी पर घेरा डाल दिया था।

हुमायूँ जब बनारस मे ही डेरा डाले हुए था, तो उसने शेरखाँ से सन्धि की बातचीत चलायी थी। शेरखाँ जलालखाँ और खवासखाँ के हाथो मे गौड़ का घेरा छोड़कर बिहार चला आया था। शेरखाँ के राज्य-प्रदेश के अत्यन्त निकट पहुँचने के विचार से हुमायूँ सोन नदी के किनारे मानेर तक बढ गया। हुमायूँ ने शेरखाँ को आदेश दिया कि तुम चुनारगढ, जौनपुर या रोहतासगढ मे से किसी एक को बतौर जागीर के ले लो तथा बिहार और बंगाल के शेष सब भागो को छोड दो। हुमायूँ की यह माँग शेरशाह द्वारा अस्वीकृत होनी स्वाभाविक थी। अब हुमायूँ ने दूसरी माँग की जिसमें बिहार को वापस माँगा गया। किन्तु अन्त में वह इतने पर ही राजी हो गया कि शेरखाँ बंगाल पर अपना अधिकार रखे और १० लाख रुपये वार्षिक-कर मुगल खजाने में पहुँचाता रहे। शेरखाँ इन शर्तों को मानने के लिए तैयार हो गया और हुमायूँ ने उसके लिए खिलअत और एक घोडा भेजा। दोनो के मध्य झगड़े का अन्त होता हुआ दिखायी देने लगा।

रोहतासगढ़ पर शेरखाँ का अधिकार

सन्धि-वार्ताओं के आरम्भ होने के कुछ पहले शेरखाँ ने, जिसे सम्भवत हुमायूँ के इन इरादों का आभास था, बड़ी चतुराई से बिहार मे रोहतासगढ के सुदृढ दुर्ग पर अपना अधिकार कर लिया था। यह दुर्ग सोन नदी के ऊपर पहाड़ों और जगलों से ढके हुए एक विस्तृत भू-प्रदेश मे स्थित था और कहा जाता था कि राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व ने इसका निर्माण कराया था। यह एक हिन्दू राजा के अधिकार मे था, जिसके ब्राह्मण मन्त्री चूड़ामणि के साथ शेरखाँ ने मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। शेरखाँ इस सुदृढ दुर्ग को अपने परिवार और खजाने की सुरक्षा के विचार से अपने अधिकार मे चाहता था। उसने किस प्रकार इस दुर्ग पर अधिकार प्राप्त किया, इसके बारे में दो कथन प्रचलित हैं। कहा जाता है कि रोहतासगढ के राजा से शेरखाँ ने यह प्रार्थना की कि वह अपने दुर्ग में उसके परिवार की महिलाओं को शरण देने की कृपा करे और जब राजा इसके लिए तैयार हो गया, तो शेरखाँ ने बडी चालबाजी से परदे वाली पालकियों में स्त्रियों का वेश धारण किये हुए शस्त्रों में सुसज्जित बहुत-से

अफगान सैनिकों को घुसा दिया। इस प्रकार दुर्ग में प्रवेश पा लेने के उपरान्त ये लोग जनाने कपड़े उतार और शस्त्र हाथों में लेकर अपने असली रूप में प्रकट हो गये और राजा और उसके आदमियों को मार भगाया। आधुनिक लेखकों ने इस वृत्तान्त को गलत बताया है। दूसरा वृत्तान्त अधिक विश्वसनीय है। इसके अनुसार शेरखाँ ने राजा के मन्त्री को लोभ-लालच और घूंस देकर दुर्ग में शरण प्राप्त करने के लिए वचन ले लिया था। यद्यपि राजा ने इस प्रकार का वचन देने के प्रति नाराजगी प्रकट की किन्तु मन्त्री चूड़ामणि के कहने पर कि मैं वचनबद्ध हूँ और यदि मेरी बात टलती है तो मेरी प्रतिष्ठा भी चली जायगी, राजा को शरण देने के लिए राजी होना पड़ा। दुर्ग मे प्रवेश करने के थोड़ी देर बाद ही अफगानों ने राजा के सैनिकों को वहाँ से निकाल बाहर किया और दुर्ग पर अपना अधिकार कर लिया (१५३८ ई०)। रोहतासगढ़ पर जो देश के सबसे सुदृढ़ दुर्गों में से एक था, शेरखाँ का अधिकार हो जाने से उसे अपने परिवार के लिए एक अत्यन्त सुरक्षित स्थान ही नही प्राप्त हुआ, बल्कि यहाँ पर हिन्दू राजाओं द्वारा युगो से एकत्र किया हुआ एक बहुत बड़ा राजकोष भी उसके हाथ लगा। अपनी स्त्रियों और बच्चों को इस सुरक्षित स्थान मे छोड़कर शेरखाँ अब हुमायूँ से निबटने के लिए निश्चिन्त और तैयार था।

गौड़ पर अफगानों की विजय

जबकि हुमायूँ अभी इसी दुविधा में ही फँसा था कि शेरखाँ से सुलह करूँ अथवा बंगाल पर चढ़ाई करूँ, जलालखाँ और खवासखाँ; जिन्हें शेरखाँ ने गौड़-विजय के लिए छोड़ रखा था, बंगाल की राजधानी पर घेरा डालकर और अधिक दबाव डालने मे सफलता प्राप्त कर रहे थे। वे लोग गोलाबारी कर दुर्ग को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न कर रहे थे। शेरखाँ ने अपने लड़के के पास यह आवश्यक सन्देश भेजा कि वे लोग गौड़ पर विजय प्राप्त कर बंगाल-अभियान को जल्दी से जल्दी सफलतापूर्वक समाप्त करें, क्योंकि सुल्तान महमूद की सहायता के लिए हुमायूँ के वहाँ पहुँच जाने की सम्भावना है। खवासखाँ ने दुगुने प्रयत्नों से मोर्चा बाँधना शुरू किया। आसपास के क्षेत्रों को उसने तबाह कर दिया और दुर्ग में रसद-सामग्री पहुँचने के तमाम रास्ते रोक दिये, जिससे दुर्गरक्षक बड़े सकट में पड़ गये। बुरी तरह घिर जाने के कारण महमूद अपनी राजधानी छोड़कर उत्तर बिहार की ओर भाग गया। अफगानों ने उसका पीछा किया और उसे हरा दिया। लड़ाई में वह बुरी तरह घायल हुआ था लेकिन फिर भी उसी प्रकार हाजीपुर की ओर विक्षिप्त मानसिक स्थिति मे बचकर भाग आया। दोनो अफगानी जनरलों ने गौड़ पर अधिकार कर लिया और शेरखाँ की शासन-सत्ता बंगाल में जमा दी। शेरखाँ इस विजय से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपने लड़के जलालखाँ के पास सन्देश भेजा कि हुमायूँ के बंगाल की पश्चिमी सीमा तक पहुँचने से पहले बंगाल के राजकोष को रोहतासगढ़ भेज दो।

हुमायूँ से झगड़ा : बंगाल पर मुगलों का अधिकार

इसी समय हुमायूँ से बंगाल के महमूद ने अत्यन्त कातरतापूर्वक सहायता प्रदान

करने की प्रार्थना की और कुछ दिनों बाद स्वयं भी मानेर के मुगल शिविर में इसी निमित्त आ उपस्थित हुआ। हुमायूँ ने, जो शेरखाँ से सन्धि कर चुका था, अपना विचार बदल दिया और सन्धि-शर्तों को तोड़ते हुए बंगाल जाकर उसे विजय करने का निश्चय कर लिया। शेरखाँ ने हुमायूँ द्वारा सन्धि को तोड़ते देख यह उचित ही समझा कि मुगल बादशाह पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उसने अपने अफगान सैनिको को यह कहकर उत्तेजित किया कि अपनी ओर से अफगानों का केन्द्र-स्थल छोड़ देने और मुगलों को वार्षिक कर चुकाने या उनके अधीनस्थ होने की स्वीकृति दे देने पर भी मुगल बादशाह ने सन्धि को ठुकरा दिया है और अब वह अफगान जाति को ही नष्ट करने पर तुला है। उसके आदमियो ने उसका पूरा-पूरा साथ देने और अफगान जाति की रक्षा के लिए अन्तिम दम तक लड़ने का उसे आश्वासन दिया।

हुमायूँ ने अब पूरब की ओर अपनी यात्रा आरम्भ कर दी। यद्यपि महमूद खलगाँव (कोलगाँव) में ही मर गया तथापि हुमायूँ गौड़-विजय के लिए आगे बढ़ता गया। शेरखाँ ने जो इस समय बंगाल के खजाने को रोहतासगढ़ में लाने के लिए प्रबन्ध कर रहा था, अपने लड़के जलालखाँ को सन्देश भेजा कि वह अपनी फौज के साथ तेलियागढ़ी की ओर बढ़ जाय और वहाँ पहुँचकर मुगलों के प्रदेश से दर्रे की रक्षा करे, जिससे खजाना आसानी से इधर लाया जा सके। तेलियागढी नामक स्थान जो (ई० आई० आर० लूप लाइन पर) वर्तमान साहबगंज से ७ मील पूरब में स्थित है, उन दिनों 'बंगाल की कुंजी' समझा जाता था। जलालखाँ वहाँ पहुँचकर केवल रक्षात्मक कार्य से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ बल्कि मुबारकखाँ के नेतृत्व में उसने मुगलों के अग्रगामी दल पर हमला कर दिया। इस दर्रे पर उसने मुगलों को इस सफलता से रोके रखा कि हुमायूँ को एक माह का विलम्ब हो गया और इस अवधि में शेरखाँ ने गौड़ का खज़ाना आसानी से रोहतासगढ़ में पहुँचा दिया। जब यह कार्य सम्पन्न हो गया तो उसे तेलियागढ़ी से वापस बुला लिया गया और उसने यह स्थान इतनी शान्ति से छोड़ा कि मुगलों को वहाँ से उसके चले जाने का समाचार दूसरे दिन प्राप्त हुआ। हुमायूँ अब गौड़ की ओर बढा और शेरखाँ ने भी बिना किसी रोकथाम के उसे आगे बढ़ने दिया। जैसे ही मुगलों ने गौड़ में प्रवेश पाया, शेरखाँ ने यातायात का सम्बन्ध-विच्छेद करने की तैयारियाँ कर दीं। उसने अफगानों के दल बनारस, जौनपुर, कालपी और कन्नौज इस विचार से भेज दिये कि वहाँ जाकर ये मुगल अफसरों को निकाल बाहर करें। अफगानों ने तिरहुत पर अधिकार कर लिया और बनारस के गवर्नर मीर फजली को मारकर यहाँ भी अधिकार जमा लिया। इसके पश्चात जौनपुर पर उनका कब्जा हो गया और यहाँ से ये लोग कन्नौज की ओर बढ़े। हिन्दाल तो पहले ही अपना स्थान छोड बैठा था और आगरा में भाग आया था, जहाँ वह स्वयं राजा बन बैठा। उसने हुमायूँ के श्रद्धापात्र शेख बहलोल को मार दिया और प्रमुख मुगल सरदारों एवं मुगल राजपरिवार के व्यक्तियों से भी शत्रुता मोल ले ली। तेलियागढ़ी से कन्नौज तक का सम्पूर्ण प्रदेश शेरखाँ के हाथों में आ गया। उसने मुख्य-मुख्य स्थानों पर अपने

अधिकारी नियुक्त कर दिये और शासन-व्यवस्था तथा कर-वसूली का भी उचित प्रबन्ध कर दिया।

उधर हुमायूँ इस समय प्रमोद और विलास मे डूबा हुआ था और जब उसे इस चिन्ताजनक समाचार का पता चला कि तेलियागढी से लेकर कन्नौज तक का सम्पूर्ण प्रदेश अफगानो के हाथ में चले जाने से दिल्ली और आगरे से यातायात का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है, तो आठ महीने की सुस्ती के पश्चात उसकी नीद खुली। बगाल पर अधिकार जमा रखने के लिए पाँच हजार सैनिको को जहाँगीर कुली बेग के नेतृत्व मे छोडकर उसने आगरे की ओर शीघ्रता से क़दम बढाये।

चौसा की लड़ाई (२६ जून, १५३६ ई०)

असकरी अग्रगामी दल का नेतृत्व करते हुए आगे-आगे चला और हुमायूँ एक अन्य डिवीजन का नेतृत्व सँभाले उसके कुछ मील पीछे-पीछे चला। मुंगेर पर दोनो भाई मिल गये और उत्तर की ओर गगा नदी पार कर पुरानी ग्राण्ड ट्रक रोड पर चलने लगे, जो शेरखाँ के राज्य मे होकर जाती थी। सतर्क अफगानी भेदिये मुगल फौज की गतिविधि के समाचार शेरखाँ के पास पहुँचा रहे थे। उसने मुगलो से खुली लड़ाई मे ही मोर्चा लेने का निर्णय किया। मुगल बादशाह ग्राण्ड ट्रक रोड पर आगे नही बढ सका और उसे बिहिया नामक स्थान पर गगा नदी पुनः उत्तरी किनारे की ओर पार करनी पड़ी। उसकी इन गलतियों से शेरखाँ को शान्त रहकर बैठे रहने की नीति त्यागने का अवसर प्राप्त हुआ और वह संघर्ष के लिए तैयार हो गया। उसने मुगल फौज को चारों ओर से घेर लिया, हर तरह से उसे तग किया और कुछ छोटी-मोटी लड़ाइयाँ करने के लिए भी मजबूर किया। इस प्रकार अफगानो द्वारा तग होते हुए हुमायूँ चौसा नामक स्थान पर पहुँचा। यह स्थान बक्सर से दक्षिण-पश्चिम मे दस मील पर है और कर्मनासा नदी से थोडी ही दूर पर स्थित है। यह नदी बिहार और वर्तमान उत्तर प्रदेश की सीमा निर्धारित करती है। यहाँ से मुगलो ने दक्षिण की ओर पुन गंगा पार की। अब शेरखाँ भी प्रकट हो गया और मुगलों को बिना किसी रुकावट के गगा पार कर लेने देने के विचार से कुछ दूर पर हट गया। मुगल बादशाह के लिए अफगान फौजों पर आक्रमण करने का यह सबसे उपयुक्त समय था क्योंकि कई दिनो की लगातार और तेज यात्रा के कारण ये लोग थके हुए थे। जो समय मुगलो ने गगा पार करने मे लगाया, उसका उपयोग शेरखाँ ने अपने सैनिको को आवश्यक आराम देने और अपने शिविर की किलेबन्दी करने मे किया। इसके अतिरिक्त बिहार के अफगानो का एक बड़ा दल उससे आ मिला। शेरखाँ ने भी मुगलो पर अपनी ओर से आक्रमण नही किया और दोनो ओर की फौजे एक-दूसरे का सामना किये हुए तीन महीने तक पड़ी रही। शेरखाँ ने अपनी ओर से जानबूझकर आक्रमण नही किया था, क्योंकि उसकी चाल बरसात का मौसम आ जाने पर मुगलो की असुविधाओं एवं उनके संकटों से लाभ उठाकर उनसे युद्ध करने की थी।

इसी बीच मे हुमायूँ ने लड़ाई टालने और शेरखाँ से शान्तिपूर्ण तरीकों से

झगडे निबटाने का प्रयत्न किया। उसने अफगान-शिविर मे अपने एक दूत को यह सन्देश लेकर भेजा कि यदि शेरखाँ उसकी अधीनता स्वीकार करके उसके नाम का खुतबा पढवाये और अपने सम्पूर्ण राज्य मे उसी के नाम का सिक्का चलवाये तो बगाल और बिहार के प्रान्त उसी के अधिकार मे छोडे जा सकते है, किन्तु अन्य प्रदेशो को उसे त्यागना पड़ेगा। शेरखाँ ने इन शर्तों के प्रति रजामन्दी दिखाने का बहाना किया और प्रस्ताव रखा कि बगाल और बिहार के साथ-साथ चुनारगढ पर भी उसी का अधिकार रहने दिया जाय। हुमायूँ इसके लिए तैयार न था और इस प्रकार सन्धि-चर्चा टूट गयी। किन्तु अपनी कमजोरियो का ख्याल करके मुगल सम्राट ने चौसा की लड़ाई से कुछ पूर्व किसी समझौते तक पहुँचने का एक और प्रयत्न किया। उसने साधु-स्वभाव मुल्ला और मुहम्मद परघरी को शेरखाँ के पास वैर-विरोध त्याग देने के लिए समझाने-बुझाने के लिए भेजा। शेरखाँ ने भी अपनी ओर से वैसे ही साधु-स्वभाव के एक व्यक्ति शेख खलील को सन्धि-शर्तें तय करने के लिए मुगल-शिविर मे भेजा। हुमायूँ इस अफगान-दूत से बहुत अधिक प्रभावित हुआ और अपनी ओर से भी सन्धि-शर्तें तय करने का कार्य उसी को सौंप दिया। जब शेख ने शेरखाँ को मुगल सम्राट से हुई अपनी बातचीतों का आशय बताया, तो उसने (शेरखाँ ने) बडी नीतिज्ञता से उसके सम्मुख यह बात रखकर उसकी राय जाननी चाही कि क्या अफगानों को अपने स्वत्व-रक्षा के लिए लड़ना चाहिए अथवा मुगलो से सुलह कर लेनी चाहिए ? शेख खलील ने अपनी राय प्रकट की कि उन्हे लडना चाहिए। शेरखाँ तो यही चाहता था। शेख ने अपनी पूरी बात खतम भी न की थी कि शेरखाँ ने घोषणा कर दी कि सन्धि-वार्ताएँ समाप्त हो गयी।

जैसे ही वर्षा आरम्भ हुई, शेरखाँ ने युद्ध के लिए तैयारियाँ शुरू कर दी। मुगल शिविर मे, जो गगा और कर्मनाशा नदियों के मध्य एक नीचे स्थल पर स्थित था, बाढ का पानी आ गया, जिससे मुगलो को बड़े सकट और घोर अव्यवस्था का सामना करना पडा। २५ जून, १५३९ ई० को शेरखाँ ने अपनी फौजो को तैयार होने की आज्ञा दी, किन्तु निकट मे बिहार के शाहाबाद जिले के अन्तर्गत आदिवासियो के सरदार महारथ चैरो पर आक्रमण करने जाने का बहाना किया। इस समाचार को सत्य मानकर मुगल बे-खबर हो गये। शेरखाँ वस्तुतः चैरो के प्रदेश की ओर चल पड़ा, किन्तु आधी रात के बाद लौट पडा और सोते हुए मुगलो के ऊपर यकायक उसने आक्रमण बोल दिया। अफगान फौज ने, जो क्रमशः शेरखाँ, उसके लड़के जलालखाँ और उसके महान जनरल खवासखाँ के नेतृत्व मे तीन भागो मे विभक्त थी, तीन ओर से मुगलों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। ये लोग (मुगल) भयभीत हो गये। शोरगुल सुनकर हुमायूँ जाग पड़ा और घोड़े पर चढकर अपने सैनिको को एकत्र करने लगा, किन्तु उसके अधिकांश सैनिक अपने-अपने प्राणो की रक्षा के लिए तितर-बितर होकर भाग खड़े हुए थे। हुमायूँ अपने खेमे तक भी पहुँचने मे असमर्थ रहा, लेकिन कुछ विश्वासपात्र अनुयायियो की सहायता से इस सकट-क्षेत्र से बाहर निकल आया।

शेरखाँ ने लड़ाई जीत ली और मुगलो की पराजय हुई। हाथी पर सवार होकर भी हुमायूँ गंगा पार नही कर सका। विवश होकर उसे निजाम नामक एक भिश्ती की मशक पर सवार होकर नदी पार करनी पड़ी। सामान-सज्जा से सुसज्जित उसके कैम्प शेरखाँ के हाथ लगे। उसके हरम की बहुत-सी महिलाएँ और उनके साथ ही उसकी प्रमुख रानी बेगा बेगम भी कैम्पो मे रह गयीं। अफगान-विजय इतनी पूर्ण रही कि सम्पूर्ण मुगल-सेना तहस-नहस हो गयी और उसका नामोनिशान तक वहाँ नही रहा। स्वयं हुमायूँ अपने कुछ सेवकों के साथ आगरा भाग आया।

चौसा की विजय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। इसका पहला प्रभाव शेरखाँ के ऊपर यह पडा कि उसके जीवन का उद्देश्य एकदम बदल गया। "उसकी महत्त्वाकांक्षाओ का क्षितिज बहुत विस्तृत हो गया था।" डॉ० कानूनगो की यह राय उचित ही है कि "चौसा की लडाई से पूर्व यदि बंगाल मे उससे छेड़छाड़ न की जाती तो वह मुगलों के अधीन रहने में सन्तुष्ट रहता। एक ही झटके में उसने बंगाल और बिहार के साथ जौनपुर को भी अपनी स्वतन्त्र राजसत्ता में कर लिया और अब वह मुगल बादशाह से भी बराबरी का दावा कर सकता था।" अब उसकी प्रबल आकांक्षा यह थी कि मुगलों को भारत से निकाल बाहर किया जाय और स्वयं दिल्ली के राजसिंहासन पर बिराजे। चौसा की लड़ाई मे विजय प्राप्त करने के पश्चात उसने गंगा को पार किया और कन्नौज तक का सम्पूर्ण प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। उसने अपने अधिकृत प्रदेशो को व्यवस्थित करने और उन्हें एक राज्य के रूप में संगठित करने का प्रयत्न किया।

बंगाल और बिहार का राजा शेरखाँ (१५२६-४० ई०)

चौसा की विजय से शेरखाँ एक प्रकार से बगाल और बिहार का राजा बन गया था, सिर्फ गौड़ के दुर्ग से दुर्गरक्षकों को निकालकर बाहर करना था, जिन्हें हुमायूँ अपने पीछे छोड़ आया था। इतने विस्तृत प्रदेश पर अपना अधिकार जमाकर भी शेरखाँ अभी साधारण व्यक्ति की हैसियत में था। राजा बनने का अभी उसे कानूनी दर्जा प्राप्त नही हुआ था। इसलिए अपने आदमियों की अधिक स्वामिभक्ति प्राप्त करने के विचार से राज्याभिषेक की रस्म को शीघ्र ही पूरा करना उसके लिए आवश्यक था और यही उसकी स्थिति को बढ़ाने के साथ-साथ उसे देश के अन्य शासकों के समकक्ष बिठा सकता था। शेरखाँ यह भूला नही था कि योग्यता और सफलता के होते हुए भी किस प्रकार वह दो बार दुत्कार दिया गया था और लगभग सभी अफगान महमूद लोदी जैसे निकम्मे व्यक्ति के झण्डे के नीचे इसलिए चले गये थे कि वह बहलोल लोदी का वशज था और अपने भाई इब्राहीम लोदी की मृत्यु के पश्चात उसने सुल्तान की उपाधि धारण कर ली थी। इसलिए उसने भी यथार्थ रूप से तथा नाम से भी राजा बनने का निश्चय कर लिया। लेकिन अपने अफगान अनुयायियों की प्रजासत्तात्मक मनोवृत्ति को ध्यान में रखकर वह बड़ी सावधानी से इस ओर कदम उठाना चाहता था। इस महान विजय के तुरन्त बाद अफगान सरदारों की एक सभा में 'फतहनामा'

लिखने का प्रस्ताव रखा गया। इस पर शेरखाँ ने बड़ी चतुराई से यह विचार प्रकट किया कि फतहनामे तो किसी राजा के नाम से ही लिखे जा सकते हैं। इस पर अपने सरदार की मनोगत इच्छा को समझते हुए मसनदेआली ईसाखाँ ने प्रस्ताव रखा कि उनके नेता शेरखाँ को ही राजा की उपाधि धारण कर लेनी चाहिए। इस प्रस्ताव का अनुमोदन आजम हुमायूँ सरवानी और बिब्बन लोदी ने किया। अन्य उपस्थित सरदारों ने भी इस प्रस्ताव का सहर्ष स्वागत किया। अफगान सैनिक दल ने तो यह आग्रह किया कि राज्याभिषेक का उत्सव शीघ्र से शीघ्र होना चाहिए। इस पर शेरखाँ ने "ज्योतिषियों को कोई शुभ घड़ी निश्चित करने की आज्ञा दी।" राज्याभिषेक का उत्सव साधारण था। शेरखाँ एक सिंहासन पर विराजमान हुआ और एक शाही छत्र उसके ऊपर रखा गया। उसने शेरशाह की उपाधि धारण की और उसी के नाम के सिक्के ढाले गये और उसके नाम का खुतबा पढ़ा गया। इस संस्कार के पश्चात फतह-नामे लिखे गये और उन्हें राज्य के विभिन्न भागों में भेज दिया गया।

राज्याभिषेक संस्कार (जो चौसा मे सम्पन्न हुआ जान पड़ता है) के तुरन्त बाद ही शेरशाह ने एक फौज इसलिए गौड़ भेजी कि वहाँ जाकर वह दुर्ग के मुगल रक्षको को निकाल बाहर करे। इस सेना ने जहाँगीर कुलीबेगखाँ को पराजित किया और उसके अन्य साथियों के साथ उसे मौत के घाट उतार दिया गया। सम्पूर्ण बंगाल अब शेरशाह के हाथ आ गया। उसके पश्चात कन्नौज और कालपी तक भी, जो चौसा की लड़ाई से पूर्व ही अधिकृत हो चुके थे, रक्षकों को नियुक्त करने का प्रबन्ध किया गया। नये राजा ने शान्ति और न्याय-व्यवस्था तथा लगान वसूली के लिए अधिकारियो को नियुक्त कर जीते हुए प्रदेशों को सुव्यवस्थित करने की चेष्टा की।

एक नये राज्य की स्थापना और सुव्यवस्था के साथ शेरशाह ने हुमायूँ का पीछा करने के लिए भी कदम उठाये। यह स्मरण रखने योग्य है कि हुमायूँ के हरम की बहुत-सी महिलाएँ चौसा की लड़ाई में शेरशाह के हाथ लगी थीं। उसने उन महिलाओं के आराम और उनकी रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर दिया था। अपने राज्याभिषेक संस्कार के पश्चात उसने इन महिलाओं को रक्षक-दल के साथ हुमायूँ के पास भिजवा दिया। हुमायूँ का पीछा निरुत्साह से किया गया। यदि शेरशाह ने भागते हुमायूँ का अच्छी तरह पीछा किया होता तो वह इस तरह सुरक्षित आगरा नहीं पहुँच सकता था। लेकिन शेरशाह ने मालवा और गुजरात के शासकों के पास यह सन्देश अवश्य भेजा कि हुमायूँ को शरण न दें और यदि वे उस पर आक्रमण करना चाहेंगे तो "मैं मदद करूँगा।" गुजरात की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला क्योंकि वह अभी हाल की अव्यवस्था से ही नही उभर सका था, लेकिन मालवा के मल्लूखाँ ने, जो कादिरशाह की उपाधि धारण कर राजा बन बैठा था, सन्तोषजनक उत्तर भेजा।

कन्नौज अथवा बिलग्राम की लड़ाई (१७ मई, १५४० ई०)

इसी बीच में चौसा से भागकर अनेक कष्टों को झेलते हुए हुमायूँ आगरा पहुँच गया था और यहाँ उसने अपने भाइयों से सलाह-मशविरा किया था, किन्तु वे

लोग किसी एक बात पर निश्चित नही हो सके थे। अनेक कठिनाइयो के होते हुए भी हुमायूँ ने एक नयी फौज का सगठन कर लिया था, जिससे शेरशाह को जो आगरे की ओर तेजी से बढा आ रहा था, रोका जा सके। शेरशाह ने अपने लड़के कुतुबखाँ को माडू मे कादिरशाह के पास इस उद्देश्य से भेजा कि वह उसके पास जाकर उसे सहयोग देने के लिए राजी करे और उधर से पीछे की ओर से हुमायूँ पर हमला कर दे। हुमायूँ को जब यह बात मालूम हुई तो उसने असकरी और हिन्दाल को कुतुबखाँ के विरुद्ध भेजा। जिससे वे उसे कादिरशाह से साँठ-गाँठ करने से पहले ही घेर ले। कादिरशाह ने कुतुबखाँ से आ मिलने का कोई प्रयत्न नही किया और वह (कुतुबखाँ) कालपी के निकट मुगल फौजो द्वारा पराजित हुआ और मार डाला गया। असकरी और हिन्दाल हुमायूँ से आ मिलने के लिए वापस लौट आये। हुमायूँ शेरशाह स मुकाबला करने के लिए कन्नौज की ओर रवाना हुआ। शेरखाँ वहाँ पहले ही पहुँचकर नदी के पूरबी किनारे पर अपना शिविर स्थापित कर चुका था। मुगल सेना की संख्या दो लाख बतायी जाती है, किन्तु असली लड़ने वालों की सख्या चालीस हजार थी। मिर्जा हैदर के अनुसार शेरशाह की सैनिक-सख्या पन्द्रह हजार रही होगी। कुछ कारण ऐसे है जिनसे विश्वास किया जा सकता है कि अफगान सेना की सख्या हुमायूँ की सैनिक-संख्या से कम नहीं रही होगी। दोनों विपक्षी दल एक-दूसरे के सामने पडे रहे किन्तु दोनो मे से एक ने भी युद्ध की कार्य-वाही प्रारम्भ नही की। शेरशाह ने चौसा की लडाई की तरह अपने शत्रु पर बरसात आरम्भ होते ही यकायक आक्रमण कर देने की योजना बनायी। यह योजना सफल हुई। जब बरसात से तग आकर मुगल सैनिक अपने खेमो को किसी अच्छे स्थान पर हटाने में लगे हुए थे तब उसने १७ मई को उन पर आक्रमण कर दिया और उन्हें तोपखाने का प्रयोग करने से सफलतापूर्वक वचित कर दिया। मिर्जा हैदर द्वारा मुगल फौज को इस आक्रमण से मोर्चा लेने का प्रयत्न करने पर भी हुमायूँ ने सरलता से हार मान ली और वह आगरा भाग आया।[२]

हिन्दुस्तान का राजा (१५४०-१५४५ ई०)

हुमायूँ का पीछा किया जाना

इस महान विजय के पश्चात शेरशाह ने नदी पार की और कन्नौज पर अधिकार कर लिया। यही से उसने बरमजीद गौड को हुमायूँ का पीछा करने और उसे देश से निकाल बाहर करने के लिए भेजा; किन्तु उसे युद्ध मे सलग्न करने के लिए आज्ञा नही दी गयी थी। एक अन्य फौज ग्वालियर पर घेरा डालने के लिए भेजी गयी और कुछ सैनिक-दल सम्भल और गगा के उत्तर मे स्थित प्रदेश को जीतने के लिए भेजे गये। बरमजीद ने हुमायूँ का आगरे तक पीछा किया और यहाँ पहुँचकर उसने बहुत-से मुगलो को तलवार के घाट उतार दिया। विजित प्रदेशो को व्यवस्थित

२ विस्तार से देखिए अध्याय १९

करने के पश्चात और हुमायूँ के वहाँ से भाग जाने के कुछ दिनो बाद जब शेरशाह आगरे पहुँचा, तो बरमजीद की उसके नृशस कृत्यो के लिए भर्त्सना की और खवासखाँ को हुमायूँ का पीछा करने के लिए भेजा। जब तक हुमायूँ लाहौर पहुँचा, उसका पीछा करने वाले अफगान सुल्तानपुर आ पहुँचे थे (जुलाई १५४० ई०)। वर्षा आरम्भ हो जाने के कारण खवासखाँ को इसी स्थान पर लगभग तीन महीने ठहरना पडा। इसी बीच मे शेरशाह ने दिल्ली मे प्रवेश किया और यहाँ की शासन व्यवस्था ठीक करने का उचित प्रबन्ध किया। यहाँ से वह पंजाब की सरहद तक भागते हुए मुगल सम्राट की गतिविधियो को निकट से देखने-समझने हेतु पहुँच गया।

लाहौर में पहुँचकर हुमायूँ को पूरे तीन महीने का सुविधाजनक समय मिला; किन्तु फिर भी अपने भाइयो को संगठित करने एव अफगानो के विरुद्ध एक सुदृढ मोर्चा स्थापित करने में वह असफल सिद्ध हुआ। कामरान सोचता था कि यदि उसने हुमायूँ को पजाब में स्थायी रूप से रुक जाने दिया तो अन्त मे काबुल और कन्धार उसके हाथों से निकल जायेंगे। इसलिए उसने शेरशाह से इस मिथ्या धारणा पर कि पंजाब को उसी को (शेरशाह को) सौप देना सुरक्षित रहेगा, बातचीतें चलायीं। जब अफगानों ने अक्तूबर १५४० ई० के तीसरे सप्ताह में सुल्तानपुर के समीप नदी पार कर ली, तो हुमायूँ को लाहौर से भी हटना पड़ा। झेलम के किनारे खुशाब नामक स्थान पर हुमायूँ और कामरान के मध्य झगड़ा होता दिखायी दिया क्योकि वह (कामरान) उसे अफगानिस्तान में होकर गुजरने नही देना चाहता था। इस स्थान से हुमायूँ ने सिन्ध की ओर का रास्ता पकड़ा और कामरान भी पंजाब छोड़कर काबुल चल दिया। जिस घडी हुमायूँ ने हिन्दुस्तान की सीमा छोड़ दी, खवासखाँ ने भी उसका पीछा करना छोड़ दिया और झेलम नदी के पश्चिमी किनारे पर रुक गया। इस समय तक शेरशाह, जो सरहिन्द से ही अपने सैनिको का संचालन कर रहा था, लाहौर आ पहुँचा और यहाँ अधिक समय तक न रुककर चिनाब की ओर चल पड़ा और खुशाब आ पहुँचा। यहाँ से उसने दो दल—एक खवासखाँ के नेतृत्व में और दूसरा कुतुबखाँ के नेतृत्व मे—मुगलों का पीछा करने और राज्य की सीमा से उन्हें निकाल बाहर करने के लिए रवाना किये। खवासखाँ ने उच्छ के पश्चिम में पंचनद नदी तक हुमायूँ का पीछा किया और उसे खदेड दिया। यहाँ से वह शेरशाह के पास खुसाब लौट आया।

गक्खर प्रदेश की विजय

शेरशाह कुछ महीने खुसाब मे ही ठहरा रहा और इस्लामखाँ, फतेहखाँ, गाजीखाँ जैसे बलोच सरदारों तथा चिनाब और सिन्धु नदी के-प्रदेशों को विजय करने के बाद वह गक्खर को जो झेलम और सिन्धु नदी के उत्तर में स्थित एक पहाड़ी प्रदेश था, विजय करने के लिए चल दिया। दिल्ली के बादशाह के लिए इस प्रदेश पर अधिकार करना आवश्यक था क्योंकि इसकी स्थिति बड़ी ही महत्त्वपूर्ण थी। शेरशाह

ने इस पहाड़ी प्रदेश का दौरा किया और गक्खर सरदारों पर चढ़ाई कर दी। इनके प्रदेश को उसने बुरी तरह रौंद तो दिया किन्तु उन्हें पूरी तरह अपने काबू में नहीं कर पाया। इनके कुछ सरदारो, विशेषकर रायसारंग गक्खर ने उसकी सत्ता स्वीकार करने से इनकार कर दिया और उसके शत्रु बने रहे। अफगान बादशाह ने वहाँ एक किला बनवाना निश्चित किया जिससे वहाँ उत्तरी सीमा की रक्षा और गक्खरों की रोकथाम कर सके। झेलम कस्बे के १० मील उत्तर की ओर पहाड़ों में उसने एक स्थान पसन्द किया और यहाँ एक विशाल दुर्ग बनवाया, जिसका नाम बिहार के विशाल दुर्ग के नाम पर रोहतास रखा। हैबतखाँ नियाजी और खवासखाँ जैसे श्रेष्ठ सेनापतियों के नेतृत्व मे उसने दुर्ग मे ५०,००० अफगान सैनिको को दुर्गरक्षको के रूप मे तैनात किया। काँची नामक चक्क का समर्थन करके उसने काश्मीर से मिर्जा हैदर को हटाने का भी प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। इसी समय जब उसे यह सूचना मिली कि बंगाल के गवर्नर ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया है, तो गक्खरों को अपनी अधीनता मे लाने का काम अपने सरदारों पर छोड़कर विद्रोही खिज्रखाँ को दबाने के लिए वह मार्च १५४१ ई० में बंगाल की ओर चल दिया।

बंगाल का नया शासन

शेरशाह की एक वर्ष से अधिक की अनुपस्थिति में बंगाल के गवर्नर खिज्रखाँ ने स्वतन्त्र होने के स्वप्न देखने आरम्भ कर दिये थे। उसने बंगाल के भूतपूर्व एवं स्वर्गीय सुल्तान महमूद की लड़की से इसलिए विवाह कर लिया था कि इस राजवंश के लोगों के प्रति सहानुभूति रखने वालों का उसे सहज ही सहयोग प्राप्त हो जायगा। अब वह एक स्वतन्त्र राजा की तरह व्यवहार करने लगा। शेरशाह इन समाचारों को सुनकर चिन्तित हुआ और शीघ्रता से गौड़ की ओर खिज्रखाँ को दबाने के लिए चल पड़ा। उसने उसे बर्खास्त कर दिया और बन्दी बना लिया। ऐसे किसी भावी उपद्रव से बचने के विचार से उसने फौजी गवर्नर की नियुक्ति को समाप्त करने का निश्चय किया और बंगाल का एक नये ढंग से शासन-प्रबन्ध किया। उसने प्रान्त को कई 'सरकारों' (जिलो) में विभक्त कर दिया और प्रत्येक सरदार में 'शिकदार' की नियुक्ति की। शिकदार एक सैनिक अधिकारी था और इसके पास शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए छोटा-सा सैनिक दल भी रहता था। शिकदारों की नियुक्ति बादशाह करता था और वे केवल उसी के प्रति उत्तरदायी थे। अधिकारियों के काम की देखभाल करने और उनके आपसी झगड़ों को निबटाने के लिए उसने काजी फजीलत नामक एक व्यक्ति को प्रान्त का प्रमुख भी नियुक्त कर दिया था। इस अधिकारी के हाथों में किसी शक्तिशाली सेना का काम नहीं जान पड़ता था। उसका काम तो यह देखना-मात्र था कि सब जिलों में शासन-प्रबन्ध ठीक हो रहा है, सरकारी लगान नियमित रूप से केन्द्रीय कोष में भेजा जा रहा है और जिले के अधिकारी किसी षड्यन्त्र में शामिल तो नहीं हैं अथवा बादशाह के प्रति विद्रोह तो खड़ा नहीं कर रहे हैं। इस व्यवस्था ने "प्रान्तीय शासन के सैनिक स्वरूप को एकदम बदल दिया और पुरानी व्यवस्था के

स्थान पर एक नवीन शासन-तन्त्र की स्थापना कर दी, जो सिद्धान्त रूप से मौलिक और कार्य की दृष्टि से सुगम एवं सुविधाजनक थी।"

मालवा की विजय (१५४२ ई०)

बंगाल से शेरशाह आगरा लौट आया। १५४२ ई० में उसने मालवा पर चढाई कर दी क्योंकि राज्य की सुरक्षा और एकता के लिए इसके ऊपर अधिकार रखना आवश्यक था। मल्लूखाँ ने जिसने १५३७ ई० में मांडू, उज्जैन और सारंगपुर पर अपना अधिकार कर लिया था और जो कादिरशाह की उपाधि धारण कर स्वतन्त्र राजा बन बैठा था, शेरशाह से बराबरी का दावा कर बडा अपराध किया था। मुगलों के विरुद्ध उसके लड़के कुतुबखाँ को सहायता न देने का भी उसने वचन पूरा नहीं किया था जिससे असकरी और हिन्दाल ने १५४० ई० में उसे घेरकर मार डाला था। इन्हीं कारणो से शेरशाह ने मालवा पर चढ़ाई करना आवश्यक समझा। ग्वालियर ने अफगान फौजों द्वारा लम्बे समय तक घेरा डाले रहने पर भी आत्मसमर्पण नही किया किन्तु शेरशाह के यहाँ पहुँचने पर उसे दुर्ग के गवर्नर से अधीनता स्वीकार कर लेने का समाचार मिल गया। यहाँ से वह सारंगपुर की ओर बढ़ा। उधर कादिरशाह अफगान बादशाह की शक्ति के सामने अपने को शक्तिहीन अनुभव कर उज्जैन से चलकर सारंगपुर में शेरशाह की सेवा में आ उपस्थित हुआ। अफगान बादशाह ने उसके प्रति सौजन्य-भाव प्रकट करते हुए उसका स्वागत किया और इन दोनों ने मालवा की तत्कालीन राजधानी उज्जैन में प्रवेश किया।। शेरशाह ने यहाँ पर अपना अधिकार कर लिया, कादिरशाह को लखनौती का गवर्नर नियुक्त कर दिया (एक अन्य सूत्र से लखनौती के स्थान पर कालपी का पता चलता है) किन्तु कादिरशाह अफगान बादशाह के इरादों से सशंकित हो एक रात को अपने परिवार के साथ वहाँ से निकल भागा और गुजरात के महमूद तृतीय के यहाँ जाकर शरण ली। मालवा का बहुत बड़ा भाग शेरशाह ने अपने राज्य में मिला लिया और शुजातखाँ को वहाँ का गवर्नर नियुक्त कर दिया। कुछ समय पश्चात कादिरशाह ने शुजातखाँ पर आक्रमण किया; किन्तु उसे मार भगाया गया।

उज्जैन से आगरा वापस लौटते समय शेरशाह रणथम्भौर होकर गुजरा और वहाँ के दुर्ग के अधिकारी को दुर्ग उसके हाथ में सौंप देने के लिए उसने सफलतापूर्वक राजी कर लिया। वह एक वर्ष तक आगरा मे रहा और इस अवधि में अपने राज्य का शासन-प्रबन्ध व्यवस्थित करने में ही व्यस्त रहा।

रायसीन की विजय (१५४३ ई०)

हुमायूँ के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में मध्य भारत की रायसीन नामक रियासत एक महत्त्वपूर्ण स्थिति को प्राप्त हो गयी थी। इसके राजा पूरनमल ने जो चौहान राजपूत राय सिलहदी का पुत्र था, चन्देरी पर विजय प्राप्त कर ली थी और उन बहुत-से मुस्लिम परिवारों को जिनके पास काफी जमीन-जायदाद थी, उसने बेघर-बार बनाकर छोड़ दिया था। १५४२ ई० में पूरनमल शेरशाह की सेवा में उपस्थित हुआ

था और राजसी भेंट प्रदान कर उसका सम्मान किया गया था। किन्तु अफगान बादशाह तो रायसीन की समृद्धिशाली रियासत पर आँखे गड़ाये हुए था। साथ ही उसे यह सूचना भी मिली थी कि पूरनमल ने प्राचीन सामन्ती मुस्लिम परिवारो को अपने अधीन कर रखा है, उनमें से कुछ तो अत्यन्त गरीब बना दिये है और उनकी महिलाएँ गुलाम बनाकर नर्तकियों का पेशा अपनाने के लिए मजबूर की गयी है। इन कारणो से शेरशाह पूरनमल को सजा देना चाहता था क्योंकि उसकी दृष्टि मे उसके ये कृत्य इस्लाम के विरुद्ध घोर अपराध थे। १५४३ ई० मे आगरा से चलकर मांडू और माडू से रायसीन पहुँचा और इसे घेर लिया। पूरनमल सम्भवत इस सघर्ष के लिए तैयार जान पड़ता था क्योंकि घेरा बहुत दिनो तक पडा रहा। शेरशाह को इसके सिवाय कोई दूसरा मार्ग दिखायी नही दिया कि वह किले मे रसद पहुँचाना रोक दे और दुर्गरक्षको को भूखा मार डाले। लेकिन वहाँ के वीर राजपूतो ने इस पर भी आत्मसमर्पण नहीं किया। किन्तु जब शेरशाह ने कुरान पर हाथ रखकर राजपूत राजा और उसके आदमियो की जान-माल की रक्षा का आश्वासन दिया तो पूरनमल ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे शेरशाह के समीप ही एक खेमे मे ठहरा दिया गया। कहा जाता है कि शेरशाह पहले तो अपने वचन का पालन करना चाहता था, किन्तु चन्देरी की उन मुस्लिम विधवाओ की अपील पर जिन्हें पूरनमल ने अनेक कष्ट पहुँचाये थे, उसने अपना विचार बदल दिया। लेकिन उसकी समझ मे यह नहीं आ रहा था कि कुरान पर हाथ रख कर ली हुई शपथ की जिम्मेदारी से किस प्रकार पीछा छुडाया जाय। कट्टर काजियों ने इस मामले में उसकी सहायता की। उन्होने बताया कि जो शपथ नहीं लेनी चाहिए थी, उसे न मानने में भी कोई हर्ज नही है और न ही कोई बन्धन है। मुल्ला और काजियों की इस व्यवस्था में शेरशाह के मन की बात प्रतिध्वनित हुई और उसने पूरनमल पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। उसने अपने हाथियो को आक्रमण के लिए तैयार रखा और रात मे राजपूत खेमो के चारों ओर अपनी फौज के आदमियों को तैनात कर दिया। जब दिन निकला तो पूरनमल ने देखा कि उसके ऊपर आक्रमण की तैयारियाँ पूरी कर ली गयी हैं और हमला होने ही वाला है। इस पर उसने अपनी स्त्रियों को अपने ही हाथों से मार दिया और अपने अनुयायियों को भी अपने परिवार के व्यक्तियों को इसी तरह स्वर्गधाम पहुँचा देने का परामर्श दिया जिससे उनकी रक्षा के विचार से निर्भय और निश्चित होकर वे अफगानो से डटकर लड़ें और मृत्यु का सामना करें। जिस समय राजपूत लोग अपने स्वजनों की हत्या में लगे हुए थे उसी समय अफगान उनके ऊपर टूट पड़े। पूरनमल और उसकी वीर सेना ने महान साहस और वीरता का अपूर्व परिचय दिया। एक मुसलमान इतिहासकार के शब्दो में 'वे खाड़ी के सुअरो की तरह लड़े' लेकिन शत्रु के सामने इनकी संख्या ही कितनी थी ? वे बुरी तरह पराजित हुए और उनका एक आदमी भी जीवित नहीं छोड़ा गया। जो थोड़ी-सी राजपूत स्त्रियाँ और बच्चे जीवित रह गये, उन्हें गुलाम बना लिया गया। पूरनमल के विरुद्ध शेरशाह का यह विश्वासघात 'उसके नाम पर एक बहुत बड़ा धब्बा है।'

मुल्तान और सिन्ध का अफगान राज्य में मिलाया जाना

बंगाल मे विद्रोह उठ खड़े होने पर जब शेरशाह को खुशाब से बंगाल जाना पड़ा तो पंजाब के शासन-प्रबन्ध और गक्खरों की रोकथाम के लिए वह अपने पीछे खवासखाँ और हैबतखाँ को छोड़ गया था। जब ये दोनो अधिकारी मिलकर काम नहीं कर सके तो शेरशाह ने खवासखाँ को यहाँ से हटा दिया और हैबतखाँ नियाजी को यह आदेश देते हुए प्रान्त का गवर्नर बना दिया कि वह विद्रोही सरदारो को कुचल दे और निकटवर्ती प्रदेशों को अधिकार मे कर ले। नये गवर्नर को दो विद्रोही सरदारो का सामना करना पड़ा। इन विद्रोहियो मे प्रथम फतेहखाँ जाट था, जिसकी लूटपाट ने दिल्ली और लाहौर का रास्ता अरक्षित बना दिया था और दूसरा विद्रोही था बख्शू लंगाह, जिसने अपने आपको मुल्तान का स्वतन्त्र शासक बना लिया था। हैबतखाँ ने अजोधन (पाकपट्टन) पर चढ़ाई की जो फतेहखाँ का केन्द्र-स्थान था। जाट सरदार वहाँ से भाग खड़ा हुआ किन्तु एक मिट्टी के किले में उसे घेर लिया गया। कुछ समय बाद उसे हरा दिया गया। आत्मसमर्पण करने के लिए उसे बाध्य किया गया और बन्दी बना लिया गया। इसके बाद हैबतखाँ मुल्तान की ओर बढ़ा और उसे अधिकार में कर लिया। शेरशाह इन सफलताओं से बहुत प्रसन्न हुआ और हैबतखाँ को पुरस्कृत किया। उसने अपने गवर्नर को आदेश दिया कि वह मुल्तान को फिर से आबाद करने की कोशिश करे क्योंकि वहाँ से आदमी भाग गये थे, साथ ही लगाहों की रिवाज के अनुसार जमीन की नाप-जोख न कराकर तमाम पैदावार का केवल चौथाई भाग ही लगान के रूप में वसूल करे। फतेहखाँ जाट और हिण्डू बलोच को जिन्हे बन्दी बना लिया गया था, मार दिया गया। शेरशाह ने बख्शू लंगाह और उसके लड़के को जीवित रहने दिया। उसने बख्शू लंगाह के लड़के को जमानत के रूप में रख लिया और उसे उसकी जमीन दे दी। फतेहजंगखाँ को मुल्तान का शासन सौंप दिया गया। १५४१ ई० में खुशाब में ठहरते समय शेरशाह ने सिन्ध को अपने अधिकार मे कर लिया था और इस्लामखाँ नाम के एक स्थानीय सरदार को यहाँ का शासक नियुक्त कर दिया था। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम मे शेरशाह के राज्य के अन्तर्गत पंजाब प्रान्त के अतिरिक्त मुल्तान और सिन्ध भी सम्मिलित था।

मालदेव से युद्ध : राजस्थान पर अधिकार

मेवाड़ के राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात मारवाड़ के राज्य ने, जिसकी राजधानी जोधपुर थी, राजस्थान के स्वतन्त्र राज्यों में प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया था। इसका राजा मालदेव राठौर, जो अपने पिता राव गंगाजी की मृत्यु के पश्चात १५३१ ई० में राजसिंहासन पर बैठा था, मध्य भारत का सबसे प्रमुख राजा था। एक श्रेष्ठ सैनिक और चतुर कूटनीतिज्ञ तो वह था ही; अपनी सरकार की बागडोर संभालने के पश्चात तुरन्त ही विजय-यात्राओं पर निकल पड़ा और सोजत, नागौर, अजमेर, मेरठा, जयतरण, बिलारा, भद्राजस, मल्लानी, सिवाना, दीदवाना, पचभादरा और बाली पर विजय प्राप्त कर ली। उसने बीकानेर रियासत पर भी चढ़ाई की और

इसका आधे से अधिक भाग अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद वह जयपुर के विरुद्ध लड़ा और जालौर, टोंक टोडा, मलपुर तथा बहुत-से अन्य स्थानों पर अधिकार कर लिया। दिल्ली से लगभग तीस मील की दूरी पर बसे हुए झज्जर नाम के स्थान को भी अपने राज्य में मिलाकर उसने अपनी सीमा का और अधिक विस्तार कर लिया। एक महत्त्वाकांक्षी कूटनीतिज्ञ होने के कारण जून १५४१ ई० में उसने हुमायूँ के पास यह निमन्त्रण भेजा कि आप जोधपुर आइए और मेरी सहायता से दिल्ली के सिंहासन पर पुनः अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए। यह निमन्त्रण भेजने में मालदेव का उद्देश्य साफ यह था कि दिल्ली के सिंहासन पर एक ऐसा राजा बैठ जाय जो उसका साथी और मित्र हो। किन्तु हुमायूँ जोधपुर के निकट इस निमन्त्रण की प्राप्ति के तेरह माह पश्चात उस समय उपस्थित हुआ जब देश की राजनीतिक स्थिति बहुत कुछ बदल चुकी थी और शेरशाह उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर अधिकार कर अपने को संगठित कर चुका था। साथ ही कुछ राजपूत सरदार, मुख्य रूप से बीकानेर के राव कल्याणमल, जो मालदेव द्वारा पराजित और प्रताड़ित हुए थे, शेरशाह से आ मिले थे और मारवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए जोर डाल रहे थे। फलतः शेरशाह ने मालदेव को लिखा कि वह हुमायूँ को आश्रय न दे, बल्कि उसे गिरफ्तार करके मेरे हाथ सौंप दे। मालदेव बड़ी दुविधा और संकट मे पड़ गया। वह यह नहीं तय कर पा रहा था कि क्या करना चाहिए? उसकी राजपूती अतिथि-सत्कार और वीरता की भावना शाही भगोड़े हुमायूँ को जिसे स्वयं उसी ने निमन्त्रण देकर बुलाया था, गिरफ्तार कर लेने के अप्रिय उत्तरदायित्व से संघर्ष कर रही थी। दूसरी ओर शेरशाह, जिसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित करने के लिए अपनी शक्ति का बहुत अधिक विकास कर लिया था, राजस्थान के सरदारों को अपने अधीन होने और राजस्व देने के लिए राजी कर रहा था। इसके अतिरिक्त मालदेव के राजपूत शत्रु मारवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए उस पर दबाव डाल रहे थे। ऐसी विकट परिस्थितियों में मारवाड़ के शासक ने शक्तिशाली शेरशाह को नाराज न करने के विचार से तटस्थ रहना ही उचित समझा। जब हुमायूँ जोधपुर से लगभग ६० मील की दूरी पर स्थित फालौदी नामक स्थान तक आ पहुँचा, तो मालदेव ने उसके पास सत्कारस्वरूप कुछ फल भेजे किन्तु सैनिक सहायता का कोई निश्चित वचन नहीं दिया। हुमायूँ ने अपने विश्वासपात्र दूतों को जोधपुर भेजा कि वे जाकर मालदेव के इरादों का पता लगायें और यह भी जानें कि मेरे बारे में उसका क्या रुख है। जोधपुर में ही हुमायूँ के दूतों में से एक शम्सुद्दीन अतकाखाँ ने शेरशाह के दूत को देखा जिससे उसे किसी भावी विश्वासघात और षड्यन्त्र की आशंका हो उठी। इस आशंका की पुष्टि अन्य दूतों ने भी की। फलतः हुमायूँ को अगस्त १५४२ ई० में सिन्ध की ओर हटना पड़ा। रास्ते में राठौर सैनिक-दलों ने उसे काफी कष्ट पहुँचाया।

शेरशाह मालदेव के व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं था; वह तो उससे अभिन्न मैत्रीभाव और अधीनता चाहता था और इस सबके ऊपर वह मालदेव से यह भी

चाहता था कि वह हुमायूँ को गिरफ्तार करके उसके (शेरशाह) हाथो मे सौप दे। दूसरे, मालदेव जैसे शक्तिशाली शासक का होना, जिसके राज्य मे नागौर और अजमेर (जो पहले दिल्ली सल्तनत के भाग थे) ही नही वरन् दिल्ली से ३० मील की दूरी पर स्थित झज्जर नामक स्थान तक आ गया था, अफगान बादशाह के लिए चिन्ता का विषय था। मारवाड का राज्य स्वयं उसके लिए बडा खतरा सिद्ध होने की सम्भावना थी। शेरशाह और मालदेव मे युद्ध छिड़ना अवश्यम्भावी था। शेरशाह ने जो मारवाड की ओर हुमायूं के जाने के समय मे मालदेव से अपना हमेशा के लिए मामला तय करने को तैयार नही था, अब उसे आतंकित करने की नीति अपनायी। उसने अपनी फौज को अगस्त १५४२ ई० तक तैयार करने की आज्ञा दे दी ताकि मारवाड़ की सीमा पर उनका जमाव किया जाय। शेरशाह की इस गतिविधि के कारण ही मालदेव को हुमायूँ को मारवाड़ के बाहर भगाने के लिए राजपूत फौजों की नियुक्ति के लिए बाध्य होना पड़ा था। १५४३ ई० के अन्त मे जब शेरशाह रायसीन के अभियान से छुट्टी पा चुका तो उसने मारवाड-विजय का निश्चय किया और ८०,००० सैनिकों को लेकर मालदेव पर चढ़ाई कर दी। इतनी विशाल और शानदार सेना को वह पहली बार युद्धक्षेत्र में ले गया था। आगरा से चलकर यह दीदवाना पहुँचा और वहाँ से जोधपुर रवाना हुआ। उसका विचार था कि मालदेव के अजमेर से लौटकर वापस आने से पहले ही उसकी राजधानी पर चढ़ाई कर दे। मालदेव के राज्य में पहुँचने पर उसने यह सावधानी बरती कि पड़ाव के किसी भी स्थान पर अपने शिविर को सुरक्षित करने के लिए वह उसके आसपास बालू के बोरे चिनवा देता था। जब वह जोधपुर से ७० मील उत्तर-पूरब में और अजमेर से ४२ मील पश्चिम में स्थित मेरठा नामक स्थान पर पहुँच गया तो मालदेव को बड़ी घबराहट हुई और ४०,००० की फौज लेकर अपनी राजधानी को बचाने और शत्रु से टक्कर लेने के लिए चल पड़ा।[3] दोनों ओर की सेनाएँ एक-दूसरे का सामना किये हुए जयतरण के समीप सुमेल नामक गाँव पर एक माह तक पड़ी रहीं। शेरशाह को बड़े संकट का सामना करना पड़ा क्योंकि वह अपनी फौजों के लिए रसद सामग्री और घोड़ों के लिए दाना-चारा भी कठिनाई से एकत्र कर पाता था। मालदेव के हाथों में फँसा हुआ शेरशाह इस समय किंकर्तव्यविमूढ़ बना हुआ था। ऐसी विकट स्थिति से निकलने के लिए उसने एक चाल चली। मालदेव के साथी सरदारों के नाम से अपने लिए इस आशय के जाली पत्र लिखवाकर कि वे राठौर राजा को गिरफ्तार करने का वचन देते है और इन पत्रों को 'खरीता' में बन्द करवाकर मालदेव के खेमे के पास इस तरह डलवा दिया, जैसे वे संयोग से ही वहाँ गिर पड़े हो। मालदेव के वकील ने इस खरीते को उठा लिया और अपने स्वामी के पास पहुँचाया। मालदेव इन्हें देखकर भौचक्का रह गया और अपने ही सरदारों द्वारा इस प्रकार विश्वासघात किये जाने की आशंका में उसने शेरशाह से युद्ध

---

[3] यह सूचना सीतामऊ के महाराजकुमार डॉ. रघुवीरसिंहजी के द्वारा उपलब्ध हुई है।

राजाओं के साथ बरती गयी शेरशाह की इस नीति के बारे मे डॉ० कानूनगो ने लिखा है, "शेरशाह ने हिन्दुस्तान के अन्य भागो की तरह राजस्थान में स्थानीय राजाओं और शासकों को उनके स्थानो मे विस्थापित करने और उन्हे नितान्त परवश बनाने की चेष्टा नहीं की । ऐसा करना उसने खतरनाक और निरर्थक समझा । उसने इन राजाओं की स्वतन्त्रता को बिलकुल समाप्त कर देने की चेष्टा नही की, बल्कि कोशिश यह की कि इन राज्यों और रियासतों का राजनीतिक और भौगोलिक पृथक्कीकरण ही रहे, जिससे ये अफ़गान सत्ता के विरुद्ध संगठित होकर विद्रोह के लिए खड़े न हो जायँ । संक्षेप में, यह सत्ताधिकार उत्तर-पश्चिम के कबाइलियो पर ब्रिटिश शासन द्वारा किये गये उस अधिकार की तरह था, जिससे मिलने-मिलाने को कुछ नही रखा था, किन्तु भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए जरूरी था।" इसलिए शेरशाह ने प्रमुख महत्त्वपूर्ण स्थान पर अपनी चौकियाँ स्थापित की और यहाँ से राजस्थान के अन्य स्थानो से मिलने वाले आवागमन के मार्गों पर कड़ा नियन्त्रण रखा । अजमेर, जोधपुर, माउण्ट आबू और चित्तौड के दुर्गों की किलेबन्दी की गयी और इन्हे अफगान सैनिक-दलो के अधिकार में छोड़ दिया गया ।

बुन्देलखण्ड-विजय : शेरशाह की मृत्यु (मई १५४५ ई०)

राजस्थान के अभियान की सफल समाप्ति के पश्चात शेरशाह कालिंजर की ओर चल दिया । रीवां का राजा वीरभान बघेला, जिसे दरबार मे बुलाया गया था, कालिंजर के राजा कीरतसिंह के यहाँ शरण पाने के लिए चला गया था । शेरशाह ने कालिंजर के राजा से प्रार्थना की थी कि राजा वीरभान को उसे सौंप दिया जाय किन्तु उसकी यह प्रार्थना ठुकरा दी गयी, जिससे अफगान बादशाह को उसके विरुद्ध कार्यवाही करने का अवसर प्राप्त हुआ । उसे (कालिंजर के राजा को) सजा देने के लिए शेरशाह कालिंजर की ओर तेजी से बढा और नवम्बर १५४४ ई० मे दुर्ग पर घेरा डाल दिया । सभी सम्भव उपाय करने के बावजूद दुर्ग पर उसका अधिकार नहीं हुआ और घेरा लगभग एक वर्ष तक पड़ा रहा । अन्त मे दुर्ग की दीवारों को गोला-बारूद से उड़ा देने के सिवाय शेरशाह को कोई अन्य मार्ग दिखायी नहीं दिया । फलतः बारूद का जाल बिछाने और गोलाबारी करने के लिए बुर्ज बनाने की आज्ञाएँ जारी कर दी गयीं । इसके साथ ही आक्रमण करने वालो के बचाव के लिए 'साबत' (ढकी हुई नालियाँ) तैयार कराने की भी व्यवस्था की गयी । शीघ्र ही इनका निर्माण हो गया और बुर्ज इतना ऊँचा बना कि यहाँ से दुर्ग का भीतरी भाग स्पष्ट दिखायी देता था। २२ मई, १५४५ ई० को शेरशाह ने दुर्ग पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी और स्वयं आक्रमणकारियो के आगे बढ़ा । वह बुर्ज पर चढ़ गया और अपने आदमियों को बारूद के पलीते लाने के लिए आज्ञा दी, जिन्हे दुर्ग के अन्दर फेंका जाय । इन पलीतों को जब फेंका गया तो इनमें से एक नगर-द्वार से टकराकर फटा और लौटकर गोला-बारूद की ढेरी मे, जो शेरशाह के खड़े होने के स्थान के नीचे

थी, आ गिरा, जिससे भयंकर विस्फोट हुआ और शेरशाह बहुत बुरी तरह जल गया। शीघ्र ही उसे उसके खेमे मे ले जाया गया किन्तु उसने अपने आदमियों को आक्रमण जारी रखने की आज्ञा दी। आक्रमण सफल हुआ और दिन छिपने तक कालिंजर का दुर्ग अफगानों के अधिकार मे आ गया। जब दुर्ग पर अधिकार होने और दुर्गरक्षकों के कत्लेआम का समाचार शेरशाह को सुनाया गया तो "प्रसन्नता और सन्तोष के चिह्न उसके चेहरे पर प्रकट होने लगे।" इसके तुरन्त बाद ही वह मर गया (२२ मई, १५४५ ई०)।

शासन-प्रबन्ध

शेरशाह व्यवस्था सुधारक था, व्यवस्था-प्रवर्तक नहीं

शेरशाह का शासन-प्रबन्ध बहुत दिनो से वाद-विवाद का विषय बना हुआ है। आज से लगभग ३५ वर्ष पहले मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्येता शेरशाह को मुख्य रूप से एक सैनिक और गौण रूप से साधारण योग्यता का शासन-प्रबन्धक मानते थे। यद्यपि १८५४ ई० में इतिहासकार ऐर्स्किन ने अपनी "History of India under the First Two Sovereigns of the House of Timur, Vol. II" नामक पुस्तक में यह लिखा था कि शेरशाह में एक सफल सैनिक-शौर्यवीर की अपेक्षा शासन-व्यवस्थापक और प्रजापालक के गुण कहीं अधिक विद्यमान थे, तो भी इतिहास के विद्यार्थियो ने उनके बारे में अपनी राय तब तक पूरी तरह नहीं बदली जब तक कि डॉ० कालिकारंजन कानूनगो ने अपनी विद्वतापूर्ण पुस्तक द्वारा इस अफगान शासक के बारे मे पूर्व-सिद्धान्तों को एकदम मेटकर यह नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया कि वह अकबर महान से अधिक रचनात्मक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति और उससे बड़ा राष्ट्र-निर्माता था। वर्तमान शताब्दी के तृतीय दशक में शेरशाह के सम्बन्ध में पूर्व-विचारधाराओं के प्रति प्रतिक्रिया हुई और डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी तथा डॉ० परमात्मा सरन जैसे इतिहास के विद्वानों ने शेरशाह की शासन-संस्थाओं का अच्छी तरह परीक्षण कर यह राय प्रकट की कि उसके (शेरशाह के) हृष्टत्वों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया है और वास्तव में वह एक व्यवस्था-सुधारक था, मौलिक व्यवस्थापक नहीं था। इतिहास के विद्वानों और विद्यार्थियों के पूर्व-मान्यता प्राप्त मत अब इसी सुनिश्चित तथ्य पर आ गये हैं कि शेरशाह मध्यकालीन भारत के महान शासन-प्रबन्धकों में से एक था। नयी शासन-संस्थाओं को उसने जन्म नहीं दिया, उसने तो पुरानी संस्थाओं को नये रूप ही दिये थे और इस कार्य में उसने इतनी सफलता प्राप्त की कि मध्यकालीन भारतीय शासन-व्यवस्था का लगभग सारा रूप ही बदल दिया और इसे जनता के हित-साधन में नियोजित किया। उसने किन्हीं नये विभागों की सृष्टि नहीं की, उसके प्रबन्ध-विभाग और उप-विभाग प्राचीन व्यवस्था पर ही आधारित थे और इसी तरह उसके अधिकारियों के पदों और उपाधियों के नाम भी प्राचीनकाल से लिये गये थे। उसके सेना सम्बन्धी सुधार अलाउद्दीन खलजी द्वारा स्थापित व्यवस्था पर आधारित थे। उसके लगान सम्बन्धी सुधार तक नितान्त

मौलिक नहीं कहे जा सकते । किन्तु सबसे बड़ी सफलता तो उसकी यही थी कि उसने इन प्राचीन साधन-संस्थाओं में नवीन सुधार-संस्कार कर उन्हे लोक-कल्याण का महत्त्वपूर्ण साधन बना दिया ।

उसके साम्राज्य का विस्तार

दिल्ली विजय करने से पूर्व शेरशाह ने बंगाल और बिहार के प्रान्त अपने अधिकार में कर लिये थे । हुमायूं पर अन्तिम रूप से विजय प्राप्त करने के कुछ ही वर्षों के अन्दर उसके साम्राज्य के अन्तर्गत आसाम, काश्मीर और गुजरात को छोड़कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत आ गया था । यह पूरब में सोनारगाँव (जो अब पूरबी बंगाल मे है) तक और पश्चिम मे गक्खर प्रदेश तक फैला हुआ था । उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत तक यह सीमित था । उसके साम्राज्य में सिन्धु नदी, मुल्तान और सिन्ध तक पंजाब का अधिकांश भाग सम्मिलित था । दक्षिण की ओर जैसलमेर को छोड़कर राजस्थान, मालवा और बुन्देलखण्ड को साम्राज्य में मिला लिया गया था । बीकानेर के कल्याणमल ने उसकी सत्ता स्वीकार कर ली थी और अपनी रियासत १५४४ ई० में मालदेव के हार जाने के बाद उसने वापस ले ली थी । गुजरात अफगान साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया जा सका, क्योंकि शेरशाह ने उसे जीतने की कभी चेष्टा नहीं की ।

केन्द्रीय शासन प्रबन्ध

दिल्ली सल्तनत के अन्य शासकों की भाँति शेरशाह भी एक निरंकुश शासक था और उसकी शक्ति एवं सत्ता अपरिमित थी । किन्तु अपने पूर्व-शासकों के विपरीत वह एक प्रजावत्सल शासक था जो शासनाधिकार को प्रजा की भलाई के लिए काम में लाता था । फिर भी शासन-नीति और दीवानी तथा फौजदारी संचालन की शक्तियाँ उसी के हाथों में केन्द्रित थीं । उसके मन्त्रिगण केवल राजकाज के दैनिक कार्यों को ही सम्पादित कर सकते थे, शासन-नीति निर्धारण करने अथवा शासन-तन्त्र मे किसी प्रकार का स्वतन्त्र परिवर्तन करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं था । इतने विशाल साम्राज्य की देखभाल मन्त्रियों की सहायता के बिना एक ही व्यक्ति द्वारा करना मानव-शक्ति-सम्पर्क की दृष्टि से असम्भव था । इसलिए शेरशाह को भी सल्तनत काल की व्यवस्था के आधार पर चार मन्त्रि-विभाग करने पड़े थे । ये विभाग (१) दीवाने वजारत, (२) दीवाने आरिज, (३) दीवाने रसालत, और (४) दीवाने इंशा कहलाते थे । इनके अतिरिक्त बहुत-से छोटे पद थे, जिनमें से दो—प्रमुख काजी और संवाद-विभागीय संचालक—का पद बहुत ऊँचा समझा जाता था । कुछ लेखकों ने तो इन्हें मन्त्रियों की श्रेणी में भी रखा है । इससे ज्ञात होता है कि शेरशाह के आन्तरिक केन्द्र का शासन-तन्त्र ठीक वैसा ही था जैसा दिल्ली सल्तनत के गुलाम-वंश के राजाओं के काल से लेकर तुगलक-वंश के राजाओं के समय में रहा ।

दीवाने वजारत

इसके प्रमुख को वजीर ही समझना चाहिए । यह वित्त और लगान का मन्त्री

था और इसलिए साम्राज्य का आय और व्यय सम्बन्धी प्रबन्ध उसी की देखरेख मे होता था। इसके साथ ही अन्य मन्त्रियों के कार्य की देखभाल करने का अधिकार भी उसे प्राप्त था। मालगुजारी विभाग की कार्य-पद्धति से पूर्णरूपेण परिचित होने के कारण शेरशाह इस विभाग मे विशेष दिलचस्पी रखता था। अकबर के समय के इतिहासकारो के अधिकृत लेखे के अनुसार शेरशाह प्रतिदिन राज्य के आय और व्यय सम्बन्धी चिट्ठे को देखता था, वित्त सम्बन्धी आवश्यक बातो की पूछताछ करता था और यह जानकारी भी रखता था कि परगनों से अभी क्या लेना शेष है।

दीवाने आरिज

आरिजे ममालिक के मातहत था। इस अधिकारी को आधुनिक सेना-सचिव के समकक्ष ही समझना चाहिए। यह सेना का प्रधान सेनापति नही होता था, किन्तु इसकी भरती, इसके संगठन और इसके नियन्त्रण का कार्य उसी के सुपुर्द था। सैनिकों तथा सैनिक अधिकारियों के वेतन-वितरण का प्रबन्ध भी उसे ही करना होता था और युद्धक्षेत्र में सेना की स्थिति की देखभाल करना भी उसी के सुपुर्द था। शेरशाह स्वयं भी सेना-विभाग में दिलचस्पी लेता था इसलिए दीवाने आरिज के काम की वह प्रायः देखभाल करता था और आवश्यकता पड़ने पर हस्तक्षेप भी करता था। तत्कालीन ऐतिहासिक वृत्त लेखकों के लेखों के अनुसार पता चलता है कि वह रंगरूटों की भरती के समय स्वयं उपस्थित रहता था, प्रत्येक सैनिक का वेतन निश्चित करता था और उनकी सुख-सुविधा का ख्याल रखता था।

दीवाने मोहतसिब अथवा दीवाने रसालत

इस विभाग के मन्त्री को विदेश मन्त्री कहा जा सकता है। विदेशो से आने वाले और वहाँ भेजे जाने वाले दूत और राजदूतों से निकट सम्पर्क रखना इसका प्रमुख कर्तव्य था। कूटनीतिक पत्र-व्यवहार भी इसे ही संभालना होता था और कभी-कभी दान-पुण्य का विभाग भी इसी को संभालना पड़ता था।

दीवाने इंशा

चौथा मन्त्रि-विभाग दीवाने इंशा कहलाता था। इसे विभाग के मन्त्री को शाही घोषणाओं एवं आज्ञा आदेशों को लिखना पड़ता था। गवर्नरों तथा स्थानीय अधिकारियों से भी पत्र-व्यवहार करना इसका काम था और सरकारी रिकार्डों की व्यवस्था भी इसी को करनी पड़ती थी।

दूसरे अन्य विभाग, जिनकी गणना भी मन्त्रि-विभागों के समान होती थी, दीवाने काजा और दीवाने बरीद थे। प्रमुख काजी दीवाने काजी का प्रधान अधिकारी होता था। अभियोग की सुनवाई करने, उस पर विचार करने, चाहे वे पहली बार पेश हुए हों अथवा वे प्रान्तीय काजी की अदालत की अपील हों, के साथ ही सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था की देखभाल भी उसी को करनी होती थी। बरीद ममालिक गुप्तचर विभाग का प्रधान होता था और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना का समाचार बादशाह तक पहुँचाना उसी का कार्य था। उसके नीचे संवाद-लेखकों और गुप्तचरों का बड़ा दल रहता था जिन्हें

नगरों, बाजारा तथा अन्य महत्त्वपूर्ण बस्तियों मे तैनात कर दिया जाता था। शाही डाक लाने ले जाने के लिए विभिन्न स्थानों पर हरकारो का प्रबन्ध भी इसी को करना पडता था।

राजमहल तथा उससे लगे हुए विभिन्न कारखानों का प्रबन्ध करने के लिए भी एक बडा अधिकारी अवश्य रहा होगा। उसके सुपुर्द बादशाह के व्यक्तिगत गृह-प्रबन्ध का काम था और उसे राजमहल के सैकड़ों नौकर-चाकरो पर निगाह रखनी पडती थी। बादशाह के निकट सम्पर्क में रहने के कारण उसकी मान-प्रतिष्ठा भी बहुत थी।

प्रान्तीय शासन-प्रबन्ध

शेरशाह के राज्यकाल में साम्राज्य के शासन-प्रबन्धीय विभाजन के बारे में दो मत हैं। डा० कानूनगो की राय है कि शेरशाह के राज्य में 'सरकारों' से ऊँचे विभाजन नहीं थे। प्रान्त और प्रान्तीय गवर्नरों की सृष्टि तो अकबर ने की थी। डॉ० सरन का इससे मतभेद है। उनकी राय है कि शेरशाह के समय मे फौजी गवर्नरों की प्रथा थी और अकबर से बहुत पहले भारत में प्रान्तों का अस्तित्व था। इन मतों मे से कोई भी मत पूरी तरह सही नहीं मालूम देता। सल्तनत काल में यहाँ तक कि शेरशाह और उसके लड़के इस्लामशाह के राज्यकाल में भी प्रान्तों के समान ही शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से विभाग मौजूद थे, किन्तु आय और सीमा-विस्तार की दृष्टि से ये एकसे नहीं थे। इन विभागों को सूबे अथवा प्रान्त कहकर नही पुकारा जाता था बल्कि इन्हें 'इक्ता' कहा जाता था और ये प्रमुख अधिकारियो के प्रबन्ध में रख दिये जाते थे। इनके अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी स्वतन्त्र हिन्दू रियासतें और राज्य थे, जिन्होने दिल्ली के सुल्तानों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। ऐसे राज्यों और इक्तों का न तो एकसा राजनीतिक दर्जा ही था और न इनमें समान शासन-प्रणाली ही व्यवहार में लायी जाती थी। किन्तु जहाँ दिल्ली के प्रारम्भिक सुल्तानो के राज्यकाल मे सुल्तानों के ऊपर केन्द्रीय सरकार का नाममात्र का नियन्त्रण था, वहाँ शेरशाह के समय में यह नियन्त्रण कड़ा और वास्तविक था। उपर्युक्त बातों से यह पता चलता है कि शेरशाह के समय मे भी फौजी गवर्नरों की नियुक्तियाँ होती थीं; उदाहरणार्थ, लाहौर, मालवा और अजमेर में गवर्नर नियुक्त किये गये थे। इन प्रान्तों के प्रधान अधिकारी बड़ी-बड़ी सेनाओ के सेनापति भी थे। इसी समय मे शेरशाह ने बंगाल में एक नवीन प्रकार का प्रान्तीय शासन स्थापित किया था, जिसके अनुसार प्रान्त को कई 'सरकारो' में विभाजित कर दिया गया था और प्रत्येक 'सरकार' एक बड़े अफगान अधिकारी के सुपुर्द थी। सारे प्रान्त के ऊपर उसने एक नागरिक अधिकारी की नियुक्ति की, जिसके नीचे एक छोटा-सा सैनिक-दल भी होता था। इस अधिकारी का काम 'सरकारों' के अधिकारियों के काम की देखभाल करना और उनके झगड़ों को निबटाना था। इस प्रकार की व्यवस्था को चालू करने का मुख्य उद्देश्य किसी राज-विद्रोह को खड़ा न होने देना था। प्रान्तों मे गवर्नर होते थे और कुछ अन्य अधिकारी भी थे, जिन्होने विभिन्न प्रान्तों में गवर्नर के समान ही दर्जा पाया था। किन्तु इसको छोड़कर इनके शासन-तन्त्र और प्रणाली में कोई

समानता नहीं थी। विभिन्न प्रान्तो मे नियुक्त किये गये अधिकारियो के पद, उनके नाम और उनकी संख्या जानने का हमारे पास कोई साधन-सूत्र नही है और न हमे यह मालूम है कि गवर्नर ही अपने सहयोगियों की नियुक्ति कर लेता था अथवा इनकी नियुक्ति शेरशाह द्वारा होती थी। असल बात यह है कि शेरशाह की प्रान्तीय शासन-व्यवस्था उसकी 'सरकारो' और 'परगनो' की व्यवस्था की भाँति ही अच्छी तरह संगठित नही थी।

सरकारें (जिले)

प्रत्येक प्रान्त कई-कई सरकारो (जिलों) में विभाजित था। प्रत्येक सरकार में दो प्रमुख अधिकारी होते थे—शिकदार-शिकदारान (प्रमुख शिकदार) और मुन्सिफ-मुन्सिफान (प्रमुख मुशी)। शिकदार-शिकदारान का पद बहुत ऊँचा और महत्त्वपूर्ण समझा जाता था और उसके नीचे एक अच्छा सैनिक-दल रहता था। अपनी सरकार (जिले) में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना तथा विद्रोही जमींदारों का दमन करना उसका कर्तव्य था। अपनी सरकार के अन्तर्गत परगना के शिकदारो के काम की देखभाल भी उसे ही करनी पड़ती थी। मुन्सिफ-मुन्सिफान मुख्य रूप से एक न्यायाधीश होता था। दीवानी मुकदमों का उसे निर्णय करना पड़ता था। साथ ही परगनों के अमीनों के कार्य का निरीक्षण भी उसे ही करना पड़ता होगा। इन दोनों अधिकारियों के नीचे सहायता देने के लिए बड़े-बड़े दफ्तर, बीसियों क्लर्क और एकाउण्टेण्ट आदि भी रहते होगे।

परगने

प्रत्येक सरकार में कई-कई परगने होते थे। ये परगने ही शासन की सबसे छोटी इकाई थी। शेरशाह ने प्रत्येक परगने मे एक शिकदार, एक अमीन (मुन्सिफ), एक फोतदार (खजांची) और दो कारकुन (लेखक) नियुक्त किये थे। इनके अतिरिक्त एक कानूनगो भी होता था, जो अर्द्ध-सरकारी अधिकारी माना जाता था और परगनों के लगान सम्बन्धी मामलों की पूरी-पूरी जानकारी रखता था। शिकदार एक सैनिक अधिकारी होता था जिसके नीचे एक छोटा-सा सैनिक-दल रहता था। उसका मुख्य कर्तव्य शान्ति कायम रखना था किन्तु विद्रोहियों को दण्ड देने मे उसे अमीन की सहायता भी करनी पड़ती थी। अमीन का काम भूमि की पैमाइश करवाना तथा लगान के बन्दोबस्त का प्रबन्ध करना होता था। फोतदार परगने का खजांची होता था। दोनों कारकुन हिसाब-किताब लिखते थे—एक फारसी में तथा दूसरा हिन्दी में।

शेरशाह ने बुद्धिमत्तापूर्वक ग्रामीण जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को माना था और गाँव के पटवारी एवं चौकीदारों के द्वारा वह इनसे सम्बन्ध सम्पर्क रखता था। गाँव में एक पंचायत होती थी, जिसके सदस्य गाँव के वयस्क और बुजुर्ग लोग होते थे। यह पंचायत गाँव की सुरक्षा, प्रारम्भिक शिक्षा, सफाई, सिचाई आदि बातों का प्रबन्ध करती थी। गाँव वालों के आपसी झगड़े भी पंचायत द्वारा निबटाये जाते थे।

सेना

यद्यपि शेरशाह ने अपना जीवन एक नागरिक के रूप में ही आरम्भ किया था, तथापि एक श्रेष्ठ सैनिक-संगठन की स्थापना के महत्त्व को उसने भली प्रकार समझा

था। अन्य अफगान राजाओं की भाँति ही उसने भी सम्पूर्ण भारतवर्ष और अफगानिस्तान से अफगानों को बुलाया था और उनकी योग्यता एव स्थिति के अनुसार उन्हें अपने यहाँ नियुक्त किया था। इसलिए उसकी सेना में अफगानों की संख्या अधिक थी। किन्तु अन्य जातियों के लोग, यहाँ तक कि हिन्दू भी, उसकी सेना में मौजूद थे। सामन्ती सेना के ढंग को नापसन्द करते हुए उसने अलाउद्दीन खलजी द्वारा व्यवहृत स्थायी सेना रखने की नीति अपनायी थी। इस सेना के वेतन आदि व्यय का भुगतान कुछ तो जागीरें देकर होता था और कुछ शाही खजाने से नगद रुपया देकर; किन्तु प्रत्येक दशा में सेना में योग्य और स्वयं शेरशाह द्वारा छाँटे हुए अधिकारियों की ही नियुक्ति होती थी। इतिहास-वृत्त लेखको के लेखों से पता चलता है कि वह (शेरशाह) स्वयं सेना में बड़ी दिलचस्पी लेता था, रंगरूटों की वही भरती करता था और स्वयं अच्छी तरह देखभालकर योग्यतानुसार उनका वेतन निश्चित करता था। जिस सेना की भरती राजधानी में होती थी, उसी में बादशाह की निजी देखरेख सम्भव हो सकती थी; प्रान्तीय राजधानी की सैनिक भरती के लिए उसने अपने अधिकारियों को आवश्यक आदेश देकर बिना उससे पूछे रंगरूटों की भरती करने की आज्ञा दे दी होगी। शेरशाह ने घोड़ों पर दाग लगाने की अलाउद्दीन की नीति को ही अपनाया था। सरकारी घोड़ों पर दाग लगाने का उद्देश्य यह था कि सैनिक-दल इन्हें बेच नहीं सकें और आवश्यकता पड़ने पर जब घोड़ों की माँग हो तो सरकारी घोड़ों की जगह मरियल टट्टू लाकर खड़े नहीं कर दिये जायँ। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सैनिक की हुलिया रजिस्टर में लिखी जाती थी जिससे युद्ध के समय अथवा सैनिक-पर्यवेक्षण के समय अनुपस्थित सैनिकों की ओर से उनके साथी-संगी उनकी खानापूरी न करा दें। इन सुधारों के कारण सेना में प्रचलित बहुत-से दोष-दुर्गुण दूर हो गये और अब यह एक शक्तिशाली सैनिक संगठन बन गया। एक सैनिक और उसके ऊपर के अधिकारी के मध्य अब केवल पारस्परिक प्रेम-भाव का ही सम्बन्ध नहीं रहा, बल्कि अनुशासन और नियन्त्रण पर आधारित सम्बन्ध अब अफसर और मातहत के सम्बन्ध मे बदल गया। सैनिको की तरक्की उनकी योग्यता अथवा सेवाओं पर ही निर्भर थी, कमाण्डिग अफसर की मरजी पर ही इस कार्य को नहीं छोड़ दिया गया था। हाँ, बादशाह सैनिकों के बारे में उनकी राय पर पूरा-पूरा ध्यान अवश्य देता था। यह समझना गलत होगा कि शेरशाह ने जागीर-प्रथा समाप्त कर दी थी और सैनिकों एवं सैनिक अधिकारियों का वेतन नकद दिया जाता था। सैनिकों का वेतन तो प्रायः नकद ही दिया जाता था, किन्तु अफसर और सरदार तो पहले की भाँति ही जागीरों का लाभ प्राप्त करते थे। फिर भी शेरशाह ने एक अच्छा सुधार किया; अब प्रत्येक सैनिक को उसका वेतन सीधा दिया जाने लगा, पहले की तरह कमाण्डिग अफसर अथवा किसी सरदार द्वारा नहीं।

शेरशाह की सेना में अधिकतर घुड़सवार थे। पैदल सैनिक-दल भी था जिसे बन्दूकें दे दी गयी थीं। उसका तोपखाना भी बहुत बड़ा था। इस दल के पास कई तरह की श्रेष्ठ तोपें थीं। उसके बन्दूकचियों का दल अपनी निपुणता के लिए प्रसिद्ध

था। राजधानी में १,५०,००० घुड़सवार, २५,००० पैदल सेना और ३०० हाथी थे। इसके अतिरिक्त सारे राज्य में प्रमुख-प्रमुख स्थानों पर टुकड़ियाँ तैनात कर दी गयी थीं। शेरशाह की सेना की कुल संख्या निश्चित रूप से नही बतायी जा सकती लेकिन इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि विविध प्रान्तो मे नियुक्त सेनाओं की संख्या भी राजधानी की सैनिक संख्या के बराबर ही रही होगी। उन दिनो नियमित ट्रेनिंग और ड्रिल की व्यवस्था नही थी। सैनिक शिविर के अनुकूल नियन्त्रण अनुशासन रखने का भी लोगों को ज्ञान नही था। लेकिन शेरशाह ने अपनी सेना को कई भागों (डिवीजन) मे विभाजित कर दिया था और प्रत्येक भाग एक अनुभवी एवं योग्य सेनापति के सुपुर्द था। सेना-सगठन, उनकी सामान-सज्जा और उसके नियन्त्रण में स्वयं दिलचस्पी लेने तथा उसके साथ निकट-सम्पर्क होने के कारण सेना मे भरती किये हुए निरे रंगरूट एक वर्ष मे ही कुशल सैनिक बन जाते थे। यातायात और रसद-सामग्री का प्रबन्ध सैनिकों और सेनाध्यक्षों पर ही छोड़ दिया जाता था। वर्तमान काल की-सी व्यवस्था मध्ययुग में नही थी। बजारे लोग जो सेना की भोजन-सामग्री तथा उसकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे, आसानी से मिल जाते थे, क्योंकि मध्ययुग की सेनाओं के साथ तो व्यापारी भी चलते थे।

वित्त व्यवस्था

साम्राज्य की आय के बहुत-से साधन थे। इन्हें दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—(१) केन्द्रीय आय, और (२) स्थानीय आय। स्थानीय आय कई प्रकार के करों द्वारा जो 'अबवाब' कहलाते थे, प्राप्त होती थी। ये कर उत्पादन और उपभोग के विभिन्न व्यापारों और पेशों तथा मुख्य रूप से आवागमन पर लगाये जाते थे। केन्द्रीय आय के स्रोत लावारिस सम्पत्ति, व्यापार, टकसाल, भेंट, नमक, चुंगी, जजिया, खम्स और ज़मीन पर लगाये गये कर थे। सरकार की ओर से कच्चे और तैयार माल के आवागमन पर भी कर लगाया जाता था। शाही टकसाल भी आय का एक अच्छा साधन था। जिन सम्पत्तियों पर किसी का हक नही रहता था अथवा किसी के मर जाने के बाद उसकी सम्पत्ति का कोई दावेदार नहीं होता था, तो वह धन-सम्पत्ति सरकार की हो जाती थी। सभी अधीनस्थ राजाओं, सरदारों, अधिकारियो और विदेशी यात्रियों को बादशाह को भेंट देनी पड़ती थी। ये बहुमूल्य भेंटें भी सरकार के लिए काफी लाभ के स्रोत थे। नमक-कर द्वारा भी काफी आय होती थी। जजिया भी जो हिन्दुओं से वसूल किया जाता था, सरकारी आय का एक अच्छा साधन था। खम्स अथवा लड़ाई में लूट का पाँचवाँ भाग सरकारी कोष मे भेज दिया जाता था। इससे सरकार को बहुत बड़ी आय होती थी। सरकारी आय का सबसे बड़ा स्रोत जमीन पर लगाया हुआ कर था, जो लगान कहलाता था।

शेरशाह द्वारा की गयी लगान सम्बन्धी व्यवस्था सल्तनत काल की व्यवस्था से कहीं अच्छी थी और यही उसकी इतनी प्रसिद्धि का कारण है। बिहार में अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध करते हुए लगान-प्रणाली का उसे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ था।

अपने राज्याभिषेक के पश्चात उसने उसी लगान-व्यवस्था को चालू किया, जिसे वह स्वयं सहसराम, ख़वासपुर और टांडा में अच्छी तरह तैयार करके परीक्षणोपरान्त देख चुका था। एक समान पद्धति पर सम्पूर्ण जमीन की पैमाइश की जाती थी और प्रत्येक गाँव में खेती के योग्य भूमि का ब्यौरा रखा जाता था। पैदावार योग्य सारी जमीन तीन श्रेणियों में विभाजित कर दी गयी थी—अच्छी, साधारण और खराब। इन तीनों तरह की जमीनों पर की जाने वाली पैदावार निश्चित की जाती थी। इसको जोड़कर और तीन से भाग देकर प्रति बीघा जमीन की औसत पैदावार निकाल ली जाती थी। पैदावार का एक-तिहाई भाग सरकारी हिस्सा समझा जाता था। सरकारी लगान नकद अथवा जिन्स के रूप में, दोनों प्रकार अदा किया जा सकता था; लेकिन नकद लगान लेना ही अधिक पसन्द किया जाता था। अनाज के प्रचलित भाव के अनुसार सरकारी हिस्सा नकद देना पड़ता था। प्रत्येक स्थान के लिए प्रत्येक प्रकार के अनाज के लिए पृथक-पृथक दरें थीं। प्रत्येक स्थान की जमीन और उसकी पैदावार भिन्न होने के कारण जमीन की औसत पैदावार की एकसी दरें रखना असम्भव था। इस प्रकार पैदावार के सरकारी हिस्से को नकदी में बदलने के लिए भिन्न-भिन्न दरें रही होंगी। सरकार प्रत्येक किसान को पट्टा देती थी, जिसमें सरकार की माँग अर्थात जो लगान उसे अदा करना पड़े, निर्धारित होती थी। प्रत्येक किसान को कबूलियत (शर्तनामे) पर दस्तखत करने पड़ते थे, जिसका आशय होता था कि वह निर्धारित लगान देना स्वीकार करता है। इन दोनों पत्रकों में किसान के अधिकार में जमीन का रकबा इत्यादि दर्ज रहता था। यह समझना कि शेरशाह ने अपने राज्य में सर्वत्र एकसमान लगान की दर निश्चित की थीं, उचित नहीं है। सरकारी आलेखों से ज्ञात होता है कि मुल्तान में उसने जमीन की पैमाइश के अनुसार लगान निश्चित करने पर जोर नहीं दिया था। इसी तरह राजस्थान मे भी जमीन की सर्वे (नाप) करना असम्भव था। इसलिए यह विचार करना उचित है कि लगान निश्चित करने की तीनों प्रणालियों को ही उसने यथापूर्वक चलने दिया होगा। ये तीनों प्रणालियाँ इस प्रकार थी (१) गल्ला-बक्सी अथवा बटाई, (२) नश्क अथवा मुकताई या कनकूत, (३) नकदी अथवा जब्ती या जमई। बटाई का अभिप्राय पैदावार का किसान के साथ हिस्सा-बाँट करने से था। इस प्रकार सरकारी हिस्से को निर्धारित करने की परिपाटी अत्यन्त प्राचीन है और सभी कालों में प्रचलित एवं लोकप्रिय रही है। बटाई तीन प्रकार की होती है—(१) खेत-बटाई, (२) लाँक-बटाई, और (३) रास-बटाई। खेत-बटाई का अभिप्राय यह है कि खड़ी फसल से अथवा खेत बोने के तुरन्त बाद ही जमींदार का हिस्सा, खेत बाँट कर निर्धारित करना। लाँक-बटाई का अर्थ यह है कि खेत काटने के बाद किसान फसल को खलिहान में लाता है, जहाँ अनाज में से भूसा अलग निकाले बिना, उसका किसान और जमींदार में हिस्सा-बाँट हो जाता है। रास-बटाई से अभिप्राय यह है कि जब अनाज से भूसा अलग कर लिया जाय तब हिस्सा निश्चित कर लिया जाय। नश्क अथवा कनकूत से मतलब जमीन की मोटे तौर पर पैदावार आँकने से है। लगान निश्चित करने

की यह प्रणाली किसान के लिए बड़ी झंझटपूर्ण और अलाभकारी है। नकदी, जमई अथवा जब्ती से आशय किसान और जमींदार अथवा सरकार के मध्य उस समझौते से है जिसके अनुसार तीन वर्ष या उससे अधिक समय तक प्रति बीघा प्रतिवर्ष के हिसाब से लगान निश्चित हो जाता है, चाहे खेत में कितनी ही पैदावार हो अथवा न हो। इसकी दर जमीन की उपज-शक्ति और उसकी स्थिति पर निर्भर रहती है। किसान अपनी जमीन पर एक से अधिक फसल भी तैयार कर सकता है। साथ ही सूखा पड़ने, अधिक वृष्टि होने अथवा अन्य किसी प्राकृतिक प्रकोप के कारण जो हानि उसे उठानी पड़ती है, उसके लिए उसे माफी नही मिल सकती और न समझौते की अवधि मे सरकार लगान ही बढ़ा सकती है। इन तीनो प्रणालियों मे से नकदी अथवा जमई को ही किसान अधिक पसन्द करते हैं और कनकूत बिलकुल पसन्द नहीं करते। लगान के ऊपर सरकार किसान से जमीन का सर्वे करने वालों का मेहनताना भी वसूल करती थी। ये अतिरिक्त चार्ज जो जरीवाना (सर्वे करने वाले की फीस) और महासिलाना (कर एकत्र करने वाले की फीस) कहलाते थे, प्रत्येक को अदा किये हुए लगान पर २½% से ५% तक देने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक किसान को सम्पूर्ण लगान पर २½% कर और देना पड़ता था। इसे बीमा फण्ड की तरह का ही समझना चाहिए। यह कर अनाज के रूप मे ही लिया जाता था। इस प्रकार जो खाद्य-पदार्थ सरकारी खत्तियो में जमा होता था, उसे दुर्भिक्ष तथा अन्य प्राकृतिक प्रकोपों के अवसर पर सस्ते भाव पर जनता को बेच दिया जाता था।

कृषको की भलाई का शेरशाह ने पूरा-पूरा ध्यान रखा था। फीरोज तुगलक को छोड़कर मध्ययुगीन भारत के किसी अन्य शासक ने यहाँ के किसानों का इतना ख्याल नहीं रखा, जितना इस अफगान बादशाह ने रखा था। उसका विश्वास था कि कृषकों का हित साधन करने से सरकार को सदैव लाभ पहुँचता है। अपने अधिकारियों को उसने आज्ञा दी थी कि लगान निश्चित करते समय तो वे नरम रहे लेकिन वसूली के समय किसी प्रकार की रिआयत करने की जरूरत नहीं है। जो लोग कृषकों को सताते थे, उन्हें दण्ड देने से वह कभी नहीं चूका। सेनाओं के जाने-आने के समय यदि खड़ी फसलों को किसी प्रकार की हानि पहुँचती थी, तो वह इसका मुआवजा देने के लिए सदैव तैयार रहता था।

इस व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य तीन तरह की जमीन की औसत पैदावार एक-तिहाई वसूल करना था। तीसरी श्रेणी की जमीन से ज्यादा कर वसूल किया जाता था, जबकि पहली श्रेणी की जमीन से कम वसूल किया जाता था। किन्तु, जैसा मोरलैण्ड ने लिखा है, इस प्रकार की असमानता शायद "फसलों की बदल द्वारा ठीक हो सकती थी।" दूसरे, सरकार द्वारा पैदावार पर एक-तिहाई वसूली के साथ सर्वे करने वाले की फीस, लगान वसूल करने वालों की फीस और २½% की अतिरिक्त अन्न वसूली अधिक जँचती थी। तीसरे, वार्षिक बन्दोबस्त होने के कारण किसानों तथा साथ ही सरकारी अधिकारियों को भी बड़ी असुविधा रहती होगी। चौथे, यह समझ

लेना भी उचित नही है कि मालगुजारी विभाग मे सभी प्रकार का भ्रष्टाचार एकदम समाप्त हो गया था। इस विभाग के कर्मचारियों की आमदनी अन्य विभागो के कर्मचारियो की आमदनी से कही अधिक रहती थी और इसी कारण शेरशाह इनकी बदली हर दूसरे-तीसरे साल कर देता था जिससे "आमीलदारी के लाभ और सुविधाओं को ज्यादा से ज्यादा लोग भोग सकें।" पाँचवे, जागीर-प्रथा अभी भी प्रचलित थी और इस बात पर मुश्किल से ही विश्वास किया जा सकता है कि जागीरदार अपनी जागीरों का प्रबन्ध गुमाश्तों द्वारा नही कराते थे। राज्य के प्रत्येक भाग मे जागीरें होने के कारण यह स्वाभाविक है कि जागीरी क्षेत्रो के किसानो को हानि उठानी पड़ती होगी।

लेकिन, सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उस समय काश्तकारो को अधिक कष्ट नही था; क्योकि शेरशाह स्वयं उनकी भलाई और उन्नति का ध्यान रखता था तथा उन लोगों को कठोर दण्ड देता था जो किसी भी रूप में इन्हे तंग करते अथवा तकलीफ पहुँचाते थे। उसने बीच के मुखियाओ के अस्तित्व को यदि बिलकुल मेट नही दिया, तो कम से कम उनके अधिकारों को तो समाप्त ही कर दिया था। वास्तव मे उसने प्रत्येक किसान और सरकार के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की व्यवस्था की थी। उसकी मालगुजारी व्यवस्था को रैय्यतवारी कहा जाता है, जमींदारी नही।

व्यय की मुख्य मदे शाही घराने के खर्च और नागरिक तथा सैनिक-संस्थाओ के विविध खर्चे थे। आय का एक बहुत बड़ा भाग इमारतें, सड़के, सरायें तथा अन्य चीजो के निर्माण मे व्यय किया जाता था। अपने सम्पूर्ण राज्यकाल मे निरन्तर युद्धो में संलग्न रहने के कारण शेरशाह ने इनमे (युद्धों मे) भी काफी व्यय किया होगा। दान पर चलने वाली सस्थाओ को भी शाही खजाने से काफी सहायता मिलती होगी। केवल क्षेत्र अथवा लगर (charity kitchen) के लिए ही, जैसा कि हमने अन्यत्र भी जिक्र किया है, खजाने से १८,२५;००० रुपये वार्षिक दिया जाता था।

मुद्रा-व्यवस्था

शेरशाह का दूसरा बड़ा काम मुद्रा सम्बन्धी सुधारों का श्रीगणेश करना था। राज्य-प्राप्ति के पश्चात उसे ज्ञान हुआ कि धातु की कमी, प्रचलित सिक्कों की घिसावट और खोटापन तथा विभिन्न धातुओं के सिक्कों के बीच कोई निश्चित अनुपात न होने के कारण मुद्रा-प्रणाली एकदम बिगड चुकी है। एक दूसरी कठिनाई यह भी थी कि सभी युगों के सिक्के—गत शासको के सिक्के भी—उन दिनों चल रहे थे। शेरशाह ने चाँदी के बहुत-से नये सिक्के निकलवाये जो 'दाम' कहलाते थे। चाँदी के रुपये और ताँबे के दाम के आधे, चौथाई, आठवें और सोलहवें भाग के सिक्के भी निकलवाये थे। इसके बाद उसने सब प्रकार के पुराने सिक्कों तथा मिश्रित धातु की मुद्रा-प्रणाली को समाप्त कर दिया। चाँदी और ताँबे के सिक्कों में उसने अनुपात निश्चित कर दिया। चाँदी का रुपया १८० ग्रेन का था जिसमें १७५ ग्रेन विशुद्ध चाँदी थी। यदि शेरशाह की अंकित छाप का ध्यान न रखे, तो हम कह सकते हैं कि उसका सिक्का मुगलकाल में भी चलता था और १८३५ ई० तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भी चालू माना

गया। इतिहासकार वी० ए० स्मिथ ने ठीक ही लिखा है कि "यह रुपया वर्तमान ब्रिटिश मुद्रा-प्रणाली का आधार है।" शेरशाह का नाम, उसकी पदवी और टकसाल का स्थान भी अरबी लिपि में सिक्कों के ऊपर अंकित रहता था। कुछ सिक्कों पर नागरी लिपि में भी शेरशाह का नाम अंकित रहता था। कुछ सिक्के ऐसे भी थे जिन पर बादशाह के नाम के अतिरिक्त प्रथम चार खलीफाओं के नाम भी अंकित रहते थे। विशुद्ध धातु के सोने के सिक्के भी विभिन्न तोल के—१६६·४ ग्रेन, १६७ ग्रेन और १६८·५ ग्रेन—ढाले जाते थे। रुपया और दाम में १ और ६४ का अनुपात था। सोने और चाँदी के भिन्न-भिन्न सिक्कों के बीच स्थायी आधार पर अनुपात स्थिर किया गया था। मुद्रा सम्बन्धी ये सुधार बड़े लाभदायक और सुविधाजनक सिद्ध हुए। इनसे जनसाधारण, विशेषकर व्यापारी-वर्ग, की अनेक असुविधाएँ दूर हो गयीं। आधुनिक मुद्राशास्त्रियों ने शेरशाह के इन सुधारों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उदाहरणतः एडवर्ड टॉमस ने लिखा है कि "शेरशाह के राज्यकाल ने भारतीय मुद्रा इतिहास में एक प्रमुख स्थान केवल टकसालों के किये गये सुधारों द्वारा ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि पूर्वकालीन राजाओं की मुद्रा-व्यवस्था के उत्तरोत्तर ह्रास को रोककर उन सुधारों में से बहुतों को जारी करते हुए प्राप्त किया जिन्हें आने वाले मुगल शासकों ने अपना बताया।"

व्यापार-वाणिज्य

शेरशाह ने उन बहुत-से महसूलों की जिन्हें प्रत्येक प्रान्त और जिले की सीमा पर तथा प्रत्येक घाट और प्रत्येक प्रमुख मार्ग पर वसूल किया जाता था, हटाकर व्यापार और वाणिज्य को बहुत प्रोत्साहन दिया। उसने यह तय कर दिया कि बिक्री के लिए आने-जाने वाली वस्तुओं पर केवल दो चुंगियाँ लगायी जायेंगी। एक चुंगी तो तब वसूल की जाती थी जबकि व्यापारिक वस्तुएँ उसके राज्य की सीमा में पूर्वी बंगाल के सोनारगाँव नामक स्थान अथवा पंजाब के रोहतासगढ़ या अन्य किसी प्रान्त की सीमा से प्रवेश करती थीं और दूसरी चुंगी इन वस्तुओं के बिक्री के स्थान पर लगायी जाती थी। यह चुंगी कितनी लगती थी, इसका कोई निश्चित पता नहीं है। ऐसा अनुमान है कि यह महसूल वस्तु के मूल्य का २½ प्रतिशत होता था। राज्य के अन्दर चुंगी वसूल करने के शेष सभी स्थान उसने बन्द कर दिये थे। इन सुधारों से देश के अन्दर व्यापार-वाणिज्य को बहुत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और यथेष्ट व्यापारिक समृद्धि हुई।

न्याय-व्यवस्था

शेरशाह मध्ययुग का अत्यन्त न्यायप्रिय शासक समझा जाता है। अपनी प्रजा की भलाई करते रहने के उसके व्यक्तिगत गुण और विशेषताओं पर ही उसकी प्रतिष्ठा आधारित नहीं थी, बल्कि एक श्रेष्ठ न्याय-व्यवस्था की स्थापना द्वारा भी उसने लोगों के दिलों में ऊँचा स्थान प्राप्त किया था। सुदीर्घकाल से प्रचलित प्रथा के अनुसार वह साधारण मुकदमे भी सुनता था और उनकी अपीलें भी सुनता था। बुधवार के दिन संध्या समय उसकी कचहरी लगती थी। उसके नीचे प्रमुख काजी होता था, जो न्याय विभाग का प्रधान था और न्याय-व्यवस्था के सुप्रबन्ध की जिम्मेदारी भी इसी के ऊपर

होती थी। प्रमुख काजी की कचहरी मुख्य रूप से अपील सुनवाई की कचहरी थी, किन्तु पहले-पहल के मुकदमों के भी यहाँ फैसले किये जाते थे। प्रत्येक जिले मे और सम्भवतः प्रत्येक प्रमुख नगर मे काजी होता था। प्रमुख मुन्सिफ के ऊपर जिले में दीवानी न्याय-व्यवस्था का सुचारु रूप से प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व था और परगनो में यही कार्य 'अमीन' करते थे। सम्भवतः काजी फौजदारी के मुकदमे करता था और मुन्सिफ तथा अमीन दीवानी के मुकदमे। एक अन्य न्याय अधिकारी भी था, जो मीर-आदिल कहलाता था।

शेरशाह की न्याय-व्यवस्था उच्च आदर्शों पर अवलम्बित थी। निर्धन और निर्बलों को अनाचार एवं अन्याय से बचाने में वह विशेष रुचि लेता था। अधिकतर वह इस सिद्धान्त का पालन करता था कि निर्धन और निकृष्ट जनो की अपेक्षा सरकारी अफसरों और सम्मान-प्राप्त व्यक्तियो के प्रति ही अधिक कठोरता का व्यवहार किया जाय। यहाँ तक कि न्याय-सम्पादन के समय वह अपने निकट सम्बन्धियो को भी कोई महत्त्व नही देता था। इस सम्बन्ध मे लिखे हुए एक चुटकुले से ज्ञात होता है कि एक सुनार की पत्नी पर अपने घर मे स्नान करते हुए पान का पत्ता फेंकने के अपराध में शेरशाह ने अपने भतीजे को दण्ड दिया था। जब शाहजादा अपने हाथी पर घर के पास से गुजर रहा था, उसी समय यह घटना घटी थी। सरदारो द्वारा उक्त दण्ड का विरोध किये जाने पर भी शेरशाह अपने न्यायपूर्ण निर्णय मे विचलित नही हुआ। शेरशाह के सतर्क और निष्पक्ष मालवा के गवर्नर शुजातखाँ ने अन्यायपूर्वक २,००० सैनिको की जागीरों के एक भाग पर अपना अधिकार कर लिया था। जब शेरशाह ने यह बात सुनी तो उसने उचित दण्ड की आज्ञा निकाल दी, यद्यपि इस बीच जागीरें वापस देकर शुजातखाँ ने अपनी भूल का सुधार कर लिया था। हम पहले ही लिख चुके हैं कि किसानों की भलाई के निमित्त शेरशाह विशेष रूप से उदार था। युद्धकाल मे वह सेना द्वारा रौंदी हुई फसलों की क्षतिपूर्ति भी करता था। न्यायप्रिय बादशाह होने के नाते शेरशाह की पूर्ति उसकी मृत्यु तथा उसके वश के पतनोपरान्त भी बनी रही। तबकाते अकबरी के लेखक निजामुद्दीन अहमद ने सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे लिखा था कि शेरशाह के शासनकाल मे कोई भी सौदागर रेगिस्तान में यात्रा करते हुए सो सकता था और लुटेरो द्वारा माल-असबाब के लूटे जाने का उसे कोई भय नहीं था। शेरशाह के भय और न्याय-प्रेम के कारण चोर और लुटेरे तक सौदागरो के माल की निगरानी करते थे।

पुलिस

शेरशाह के राज्यकाल में पुलिस का कोई अलग विभाग नही था। सेना को दुहरे कर्तव्यों का पालन करना पडता था। विदेशी आक्रमणों और आन्तरिक विद्रोहो से देश की रक्षा तथा मनुष्य-मात्र के बीच शान्ति स्थापना का कार्य सेना को ही करना पड़ता था। प्रमुख शिकदार का कर्तव्य था कि वह सरकार में शान्ति और व्यवस्था कायम रखे। असल में वह अपने अधिकार-क्षेत्र में शान्ति सरक्षक था। परगने के

शिकदार पर भी यही कार्यभार था। इन अफसरो को अपने-अपने क्षेत्रो के चोरो, लुटेरो और बदमाशो पर कड़ी नजर रखनी पडती थी और अपराधियो को दण्ड भी देना पड़ता था। जहाँ तक ग्रामो का सम्बन्ध था शेरशाह ने स्थानीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का प्रयोग किया था और इस प्रकार, गाँव मे होने वाले अपराधो की जिम्मेदारी वहाँ के मुखिया पर रहती थी। मुखिया को समय दिया जाता था कि वह अपराधी को पेश करे अथवा चुराये या लूटे गये माल की क्षतिपूर्ति करे। यदि वह इस कार्य मे सफल नही होता तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। यदि कुछ गाँवो की एक सरहद पर कोई अपराध किया जाता था, तो उन गाँवो से सम्बन्धित मुखियो की जिम्मेदारी होती थी कि वे अपराध की छानबीन करे और क्षतिपूर्ति का प्रबन्ध करें। यह पद्धति ग्रामीण मनोविज्ञान के सही ज्ञान तथा मध्यकालीन जनता की दशा पर आधारित थी। आमतौर पर तो मुखिया लोग अपने गाँव के बदमाशों को अच्छी तरह जानते थे और शायद ही कोई अपराध होता था जिसकी जानकारी उन्हें नही होती थी; किन्तु अपराधी को खोज निकालने की असफलता पर मृत्युदण्ड देना हमारी समझ मे बहुत ही कठोर नियम था। डा० कानूनगो ने इस नियम की पुष्टि की है क्योंकि मध्यकाल के लिए यह अत्यन्त उपयुक्त था।

मध्यकाल के प्रायः सभी इतिहासकारो ने शेरशाह के पुलिस-शासन की प्रशंसा ही की है। अब्बास सरवानी ने लिखा है, "शेरशाह के राज्यकाल में राहगीर अपनी चीज-बस्तों की निगरानी रखने की परेशानी से मुक्त थे। रेगिस्तान में भी उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं था। बस्ती हो या विजन स्थान, वे कही भी निर्भय होकर पड़ाव डाल देते थे। वे अपना माल खुली जगह मे भी छोड देते थे। जानवरो को चरने के लिए खुला छोड़ देते थे और [illegible]चत भाव से चैन की नींद सोते थे, मानो वे अपने घर में ही हों। जमीदार लोग उनके माल की चौकसी रखते थे क्योंकि उन्हें डर रहता था कि कहीं कोई दुर्घटना हो गयी तो गिरफ्तारी का दण्ड उन्हीं को भुगतना पड़ेगा। शेरशाह के राज्य में निर्बल और वृद्धा स्त्री तक अपने सिर पर स्वर्णाभूषणों की पोटली रखकर यात्रा के लिए निकल सकती थी, किन्तु चोर और लुटेरे उसके पास नहीं फटक सकते थे, क्योंकि शेरशाह के दण्ड का आतंक उन पर सवार रहता था।" (**ईलियट, भाग ४, पृ० ४३२-३३**)

नगरों की पुलिस-व्यवस्था के विषय में कुछ पता नहीं चलता। मुगलकालीन कोतवाल की हैसियत का एक हाकिम प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नगर में शान्तिस्थापनार्थ तथा अनुशासनहीन व्यक्तियों को नियन्त्रित रखने के लिए अवश्य ही रहा होगा। राजधानी में पुलिस की समुचित व्यवस्था रही होगी। इस सम्बन्ध में कोई विस्तृत जानकारी नहीं है।

सड़कें और सरायें

शेरशाह ने कई बड़ी-बड़ी सड़कों का निर्माण कराया। प्राचीन हिन्दू राजाओं के चरण-चिह्नों पर चलकर उसने बहुत-सी सड़कें बनवायीं ताकि राज्य के अनेक भागों का सम्बन्ध राजधानी से जुड़ सके। उसकी चार सड़कें बहुत प्रसिद्ध हैं। पहली

सडक पूरबी बंगाल में सोनारगाँव से आरम्भ होकर आगरा, दिल्ली और लाहौर होती हुई सिन्धु नदी पर समाप्त हुई। यह सड़क १५०० कोस लम्बी थी और सड़क-ए-आजम नाम से पुकारी जाती थी। आजकल इसी का नाम ग्राण्ड ट्रंक रोड है। दूसरी सड़क आगरा से बुरहानपुर गयी थी। तीसरी आगरा से जोधपुर और चित्तौड़ तक गयी थी और चौथी लाहौर से मुल्तान तक गयी थी। ये सभी सडके विशेष योजना के साथ तैयार की गयी थी और देश के महत्त्वपूर्ण नगरो को अपने मार्ग मे जोड़ती हुई चली गयी थी। ये सडके अत्यन्त प्राचीन थी। शेरशाह ने इन्हे स्वय नही बनवाया था बल्कि इनको ठीक अवस्था मे रखने का प्रयत्न किया था। सड़कों के दोनो ओर शेरशाह ने फलों के वृक्ष लगवायें। सड़को के किनारे हिन्दू और मुसलमानो के लिए अलग-अलग कक्षो सहित १७०० कारवाँ सरायें बनायी गयी थी। डाक अथवा सूचना विभाग के कर्मचारियों के लिए अश्व-पड़ावो की भी व्यवस्था की गयी थी। हर सराय मे एक कुआँ और एक मस्जिद थी, जिसमे एक इमाम और मुअज्जिन भी थे। प्रत्येक सराय पर चोरी-चारी को रोकने और शान्ति स्थापित रखने के निमित्त एक पुलिस अफसर (शिकदार) नियुक्त रहता था। ये सरायें विशेष रूप से डाक विभाग के कर्मचारियों और हरकारों के लिए जो कि शाही डाक ले जाते थे, विश्रामशालाओं का प्रयोजन पूरा करती थीं। इन कर्मचारियो के लिए यहाँ भोजन-सामग्री की व्यवस्था रहती थी और क्योंकि इस वर्ग में हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही सम्मिलित थे, अतएव उनके लिए भोजन का पृथक-पृथक प्रबन्ध रहता था। सरायों के आसपास की कुछ भूमि सराय के खर्च की पूर्ति के लिए दे दी गयी थी। डॉ० कानूनगो के शब्दों मे ये सरायें "साम्राज्यरूपी शरीर की धमनियाँ थीं" और ये सड़कें व सरायें "शेरशाह के शासन की सफलता के लिए इसलिए और आवश्यक थी क्योंकि प्राय. अधिकारियो का स्थान-परिवर्तन, व्यवसाय-संचालन और सैन्य-दलों का निरन्तर आना-जाना बना रहता था।" सड़कें और सरायें केवल सैन्य-दलों के यातायात के लिए ही उपयुक्त नहीं थीं, बल्कि ये डाक-विभाग अथवा डाक-चौकियों का काम भी करती थीं। वे राज्य के सुदूर भागों के समाचार सरकार तक पहुँचाती थीं। यह पद्धति इस देश के लिए नयी नहीं थी बल्कि शेरशाह ने इसको फिर से सचालित किया था और इसमें आवश्यक सुधार भी किये थे।

गुप्तचर विभाग

शेरशाह ने अलाउद्दीन खलजी की डाक-चौकी और गुप्तचर-पद्धति को ही पुनः संचालित किया था। उसने उक्त विभाग के अध्यक्ष पद पर दरोगा-ए-डाक चौकी की नियुक्ति की थी। उसके अन्तर्गत समाचार लेखकों और समाचार-वाहको की नियुक्ति की गयी थी, जो साम्राज्य के प्रत्येक भाग की प्रमुख घटनाओं का संकलन करते थे। हम ऊपर लिख चुके हैं कि सरायों पर नियुक्त हरकारे शाही डाक पहुँचाने का काम करते थे। शेरशाह अपने सूचना विभाग द्वारा राज्य के प्रत्येक भाग से परिचित रहता था। बाजार की वस्तुओं के मूल्यों की दैनिक रिपोर्ट बादशाह तक पहुँचती थी।

समाचार-वाहक और गुप्तचर समस्त प्रमुख नगरों और बाजारों मे नियुक्त थे और इनको आदेश प्राप्त थे कि जो भी सूचना शाहंशाह के सामने पेश होनी आवश्यक हो वह तुरन्त दरबार मे भेज दी जाय। यह विभाग ऐसी कुशलता से कार्य करता था कि प्रान्त मे नियुक्त सैनिको के असन्तोष की सूचनाएँ और जमीदार तथा बड़े जागीरदारो की विद्रोहपूर्ण चेष्टाओं का पता उन क्षेत्रों के जानकारों से पूर्व ही शाहंशाह को चल जाता था। शुजातखाँ द्वारा २,००० सैनिकों की जागीरों का एक भाग हड़पने का मामला और उन सैनिको का असन्तोष शुजातखाँ की जानकारी से पूर्व ही गुप्तचरो द्वारा शेरशाह को मालूम हो चुका था। शेरशाह की शासन-व्यवस्था की सफलता का बहुत कुछ श्रेय उसकी गुप्तचर प्रणाली को प्राप्त है।

धार्मिक नीति

शेरशाह की धार्मिक नीति के विषय में आधुनिक विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत हैं। डॉ० कानूनगो ने हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की समझदारीपूर्ण नीति बरतने के लिए उसकी प्रशंसा की है। उनके अनुसार हिन्दू धर्म के प्रति शेरशाह का झुकाव घृणापूर्ण सहिष्णुता से ओतप्रोत नही, बल्कि आदरपूर्ण व्यवहार था। उधर प्रो० श्रीराम शर्मा ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि शेरशाह का धार्मिक दृष्टिकोण दिल्ली सल्तनत के तुर्क-अफगान शासकों से अच्छा नहीं था। उक्त दोनों इतिहासकारो सहित यह सबने स्वीकार किया है कि शेरशाह अपने व्यक्तिगत जीवन में एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था। नित्य पाँच बार की नमाज पढने, रमजान का उपवास करने और अपने विश्वास के अनुसार बहुत-से धार्मिक कृत्यों में भाग लेने में वह नियमित रूप से सतर्क रहता था। वास्तव मे वह इस देश में इस्लाम की शान और महत्ता का प्रबल समर्थक था। राजपूत राजाओं के विरुद्ध धर्म-युद्ध (जिहाद) छेड़कर उसने अनेक बार अपने मुस्लिम अनुयायियो की धार्मिक भावनाओं का सफलतापूर्वक पोषण किया। रायसीन के राजा पूरनमल को दण्ड देने के लिए जो युद्ध छेड़ा गया, उसे उसने जिहाद कहकर घोषित किया। जोधपुर के राजा मालदेव के ऊपर जो चढ़ाई की गयी थी, वह यद्यपि राजनीतिक और सैनिक कारणों द्वारा प्रेरित थी, तथापि साम्प्रदायिक मनोवृत्ति भी उसके पीछे काम कर रही थी और विजय-प्राप्ति के उपरान्त शेरशाह ने जोधपुर के किले के अन्दर मन्दिर को ढहवा दिया और उसके स्थान पर मस्जिद का निर्माण कराया। इसी प्रकार कालिंजर के घेरे के समय भी उसने ऐसी ही धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया था। यह कहना उचित न होगा कि शेरशाह धार्मिक पक्षपात से बिलकुल रहित था और हिन्दू धर्म के प्रति उसका दृष्टिकोण 'श्रद्धापूर्ण उपेक्षा' से प्रेरित था। किन्तु इसके साथ ही उसको दिल्ली के उन सुल्तानों की श्रेणी में बैठाना भी उचित नहीं है जो हिन्दुओं को तुच्छ और उनके धर्म को अमान्य और गया-बीता समझते थे। शेरशाह के व्यक्तिगत विचारों को पृथक रखकर देखा जाय तो वह एक सहिष्णु शासक प्रतीत होता है और धार्मिक अत्याचार की नीति को बरतना वह बुद्धिमानी नहीं समझता था। हिन्दुओं को उसने तंग नहीं किया। उन्हें अपने धर्म

का पालन करने मे पूरी-पूरी छूट दी। जहाँ तक सम्भव होता था, वह राजनीति को धर्म से पृथक ही रखता था। एक हिन्दू शासक के ऊपर आक्रमण करते समय जो धार्मिक कट्टरता का नमूना सामने आया, उसे छोडकर उसके समूचे राज्यकाल में मन्दिर-मूर्तियाँ तोड़ने और हिन्दुओ के विरुद्ध सगठित प्रचार करने के प्रयत्न कभी नही किये गये। वैसे तो आठवी शताब्दी से ही, सिन्धु मे जब से अरब-शासन स्थापित हुआ था तभी से राजकाज के लिए मुसलमान शासको के यहाँ हिन्दुओ को नौकर रखा गया था और शेरशाह के यहाँ भी सेना और मालगुजारी विभाग मे हिन्दू नियुक्त किये गये थे, किन्तु इस बात को ही उसकी धार्मिक सहिष्णुता का सबूत मान लेना उचित नही है। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उसकी पैदल सेना में अधिकांश सैनिक हिन्दू थे। मालगुजारी और गुप्तचर विभाग के अधिकांश छोटे कर्मचारी भी हिन्दू रहे होंगे। इन्ही तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि शेरशाह अपनी वहुसख्यक हिन्दू प्रजा के धर्म और विश्वासो के प्रति सहिष्णु था।

इमारतें

इमारतें बनवाने का शेरशाह को बहुत शौक था। वह एक महान निर्माता था। उत्तर-पश्चिमी सीमा को और अधिक सुरक्षित बनाने के विचार से झेलम पर उसने एक विशाल और शानदार दुर्ग बनवाया और उसका नाम रोहतासगढ़ रखा। डॉ० कानूनगो का कहना है कि "प्रत्येक 'सरकार' में वह एक-एक किला बनवाना चाहता था और मिट्टी की बनी हुई सरायों को पक्के मकानो मे बदलकर इन्हे रास्तों की हिफाजत करने की चौकियाँ बनाना चाहता था, किन्तु उसके राज्यकाल की अवधि थोड़ी होने के कारण वह इन कार्यों को सम्पन्न नही करा सका। दिल्ली का पुराना किला शेरशाह का बनवाया हुआ ही माना जाता है। इसी किले के अन्दर उसने एक ऊँची मस्जिद का निर्माण भी कराया था जो भारतीय और इस्लामी स्थापत्य-कला का अच्छा उदाहरण है। फर्ग्यूसन के कथनानुसार "उसकी इमारतो मे यह सबसे अधिक पूर्ण है।" शेरशाह की निर्माण-कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण बिहार के अन्तर्गत सहसराम मे उसी का मकबरा है। भारतवर्ष मे यह अपने ढंग की निराली शानदार इमारत है। वी० ए० स्मिथ ने लिखा है, "सूर-राजवंश को, जिसमे शेरशाह जैसा विशिष्ट शासक पैदा हुआ, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए इतना कठिन सघर्ष करना पड़ा था कि निर्माण-कार्य की ओर अधिक ध्यान देने को इससे आशा ही नही की जा सकती; फिर भी कुछ श्रेष्ठ इमारतों के निर्माण के लिए सूर-वंश को श्रेय प्राप्त है। सहसराम मे शेरशाह का मकबरा जो एक झील के बीच मे एक चबूतरे पर बना हुआ है, एक श्रेष्ठ डिजाइन होने के कारण ही भारत की श्रेष्ठ इमारतो मे से एक है। अपनी शोभा-श्री के लिए उत्तर भारत की प्रारम्भिक इमारतो मे यह मकबरा अपनी सानी नही रखता। कनिंघम ने तो दबी जबान से इसको ताज से भी अधिक पसन्द किया है। इस (स्थापत्य) प्रणाली को तुगलककालीन इमारतो की धार्मिक सादगी और शाहजहाँ की श्रेष्ठ कला-निधि की स्त्री-सुलभ कमनीयता के बीच की प्रणाली कहा

जा सकता है।" (History of Fine Arts in India and Ceylon, pp. 405-406) । हावैल के अनुसार यह मकबरा शेरशाह के व्यक्तित्व और चरित्र का चित्र है। डॉ० कानूनगो लिखते हैं, "इस मकबरे का बाहरी भाग जो कुछ रूखा-सा लगता है, शेरशाह के बाबरी भृकुटि चढ़े रूप को प्रकट करता है और इसका भीतरी सुन्दर भाग यह दर्शाता है कि उसका दिल कितना सुन्दर और दया-भाव से भरा-पूरा था।" पर्सी ब्राउन ने भी शेरशाह की इमारतो के सुन्दर कला-रूपो, उनके उत्कृष्ट बनाव-कटाव और उनकी कलात्मक शोभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । सूर-स्थापत्य शैली को उसने सैय्यदो और लोदियों की निर्माण-शैली से बढ़ा-चढ़ा ही नही माना बल्कि मुगलो की श्रेष्ठ और शानदार स्थापत्य-कला का आधार भी माना है ।

शेरशाह का चरित्र

उसका दैनिक कार्यक्रम—उत्तरी भारत के मुसलमान शासकों में शेरशाह ही ऐसा था, जो दिल्ली के राजदरबार से कोई विशेष सम्बन्ध न रखते हुए भी इतने ऊँचे राजपद तक पहुँचा गया। उसने अपना जीवन-कार्य अपने पिता की जागीर के प्रबन्धक के रूप मे आरम्भ किया था किन्तु अपनी योग्यता के बल-बूते ही वह हिन्दुस्तान का सम्राट बन बैठा। राज्यारोहण के समय भारतवर्ष के किसी भी शासक को शासन सम्बन्धी विभिन्न विभागों को इतनी अच्छी जानकारी नहीं थी, जितनी उसे थी। शेरशाह ६८ साल की उम्र मे राजा बना। एक बार कहते हैं, उसने यह कहा था कि ईश्वर ने जीवन के संध्या-काल में मुझे राजपद प्रदान किया है। किन्तु देखने की बात तो यह है कि वृद्धावस्था उसके उत्साह और उसकी आकांक्षाओं को ठण्डा नही कर सकी, बल्कि जिस शारीरिक और मानसिक स्फूर्ति का उसने प्रदर्शन किया वह पच्चीस साल के युवा के लिए स्पृहणीय हो सकता है। इस राय पर सभी इतिहासकार एकमत है कि शेरशाह सोलह घण्टे प्रतिदिन राजकाज में लगाता था। अशोक, चन्द्रगुप्त मौर्य अथवा अकबर की भाँति उसका भी यही आदर्श वाक्य था कि महान व्यक्ति को सदैव चैतन्य रहना आवश्यक है। अब्बास सरबानी और रिजकुल्ला मुश्ताकी दोनो ने ही लिखा है कि "रात के तीसरे पहर ही निद्रा त्यागकर वह उठ बैठता था। स्नान और नमाज आदि से निवृत्त होकर वह राजकाज में लग जाता था। सबसे पहले विभिन्न विभागों के सचिव उसके पास आते थे और वे अपने-अपने विभागों के कामों की रिपोर्ट उसे पढकर सुनाते थे । चार घण्टे तक वह देश के मामलों की रिपोर्ट और सरकारी कार्यालयों अथवा संस्थाओ की रिपोर्टें सुनता था। जो आज्ञाएँ वह देता था, उन्हें लिख लिया जाता था । तत्पश्चात उनके अनुसार कार्यवाही करने के लिए उन्हें भेज दिया जाता था; आगे उस पर किसी प्रकार की बहस की जरूरत नही थी। इस प्रकार, वह सुबह होने तक व्यस्त रहता था ।" (**वाकयात मुश्ताक; ईलियट द्वारा अनुवित, भाग ४, पृ० ५५०**) प्रातःकाल की प्रार्थना के पश्चात वह अपनी सेना का निरीक्षण करने के लिए चला जाता था। उसके सामने सेना की कवायद होती थी, सैनिको की हाजिरी ली जाती थी और नये रगरूटों की भरती होती थी। उनका हुलिया रजिस्टर

मे दर्ज किया जाता था। घोड़ों को दागा जाता था। इसके पश्चात वह नाश्ता करता था। नाश्ता करने के पश्चात दरबार लगता था और वहाँ वह दोपहर तक राजकाज का काम करता था। दरबार मे उसका मुख्य काम सरदारो, अधीनस्थ राजाओ और विदेशी दरबारो के राजदूतों से भेंट करना होता था। विभिन्न परगनों से आये हुए कर और लगानो के धन का भी वह निरीक्षण करता था और आय-व्यय के हिसाब-किताब की जाँच करता था। इसके बाद वह दोहपर के बाद की नमाज पढ़ता था और फिर आराम करने चला जाता था। जब तक कोई आवश्यक कार्य, जिसमे उसकी व्यक्तिगत देखरेख आवश्यक होती थी, सामने न आ जाता तब तक वह संध्या समय कुरान पढ़ने और विद्वानो का सत्सग करने में व्यतीत करता था। यह उसके जीवन का कार्यक्रम था। चाहे वह राजधानी में हो अथवा किसी सैनिक कार्यवाही में सलग्न हो, इस कार्यक्रम मे मुश्किल से ही कोई हेर-फेर करना पड़ता था।

व्यक्ति के रूप में—वैभव की गोद मे उत्पन्न न होने और निरन्तर कठिनाइयो के बीच आगे बढ़ने के कारण शेरशाह मे किसी अभिजात पुरुष की-सी सुसंस्कृति और व्यक्तिगत आकर्षण नही था। समकालीन फारसी इतिहास-लेखक हसनअलीखाँ ने अपनी पुस्तक 'तारीर-ए-दौलत शेरशाही' मे लिखा है कि जवानी मे शेरशाह का नैतिक चरित्र एक भ्रष्ट युवक जैसा था। उसे एक आज्ञाकारी पुत्र भी नही कह सकते क्योंकि पिता से उसकी बहुत अनबन रहती थी। कारण यह था कि शेरशाह का पिता उसकी सौतेली माँ से अधिक प्रेम करता था। अपनी माँ के प्रति उसका कैसा भाव था, इस बारे में अधिक जानकारी नही है। किन्तु ऐसा अनुमान है कि माँ-बेटे के बीच यथेष्ट हार्दिक प्रेमभाव रहा होगा क्योंकि दोनों ही अपने अभिभावक के पक्षपातपूर्ण दुर्व्यवहार से समान दुखी थे। यद्यपि मुगल सम्राट बहुपत्नीक थे तथापि वे अपनी सभी पत्नियों से ऐसा प्रेम करते थे जिससे उनका नाम इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है। किन्तु शेरशाह मे यह गुण प्रतीत नही होता है। इस बात का भी कोई सबूत नही मिलता कि वह अपने बच्चो के प्रति भी विशेष प्रेम रखता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका उपयोगितावादी दृष्टिकोण किसी से भी अधिक लगाव रखने मे बाधक था।

यद्यपि शेरशाह एक सुशिक्षित व्यक्ति था, अरबी और फारसी का अच्छा ज्ञाता था, इतिहास से भी उसे शौक था, तथापि उसे एक विद्वान नही कहा जा सकता। इतिहास और साहित्य का अध्ययन उसके निकट अपने मे साध्य नही था। इनकी व्यावहारिक उपयोगिता के लिए ही उसने इन्हे अपनाया था। वह प्रतिदिन कुरान इसलिए पढता था क्योकि एक धार्मिक मुसलमान के लिए इसका पढ़ना जरूरी है। जिस प्रकार दिल्ली के अन्य तुर्क-अफगान शासक विद्वानो के प्रशसक और संरक्षक रहे, वह भी इनका आदर-सत्कार और संरक्षण करता था। किन्तु इसके राज्यकाल में किसी भी विद्वान ने इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र पर कोई विशिष्ट रचना तैयार नही की। आधुनिक इतिहास के विद्वानों ने शेरशाह द्वारा विद्या को संरक्षण दिये जाने की बात की प्रशंसा की है। किन्तु प्रशसा करने से पहले उन्होने यह जानने

की कोशिश नही की कि विद्या के इस प्रकार के सरक्षण द्वारा विद्या के प्रचार मे और उच्चकोटि का रचनाएँ तैयार होने मे[४] कहाँ तक सहायता प्राप्त हुई। उसकी व्यक्तिगत विशेषताओ मे सबसे बडी विशेषता यह थी कि वह एक महान निर्माता था और स्थापत्य-कला की उसकी शैली पूर्व-सुल्तानो की शैलियो से अधिक उन्नत थी।

सैनिक के रूप में—जैसा बताया जा चुका है, शेरशाह व्यवसाय से ही सैनिक नही था; किन्तु एक सैनिक कमाण्डर का पुत्र होने के कारण तथा उन दिनो की आवश्यकतानुसार आत्मरक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्रो का उपयोग जानने के विचार से शैशवावस्था से ही उसने सैनिक-शिक्षा प्राप्त करनी आरम्भ कर दी होगी। अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध करते समय विद्रोही जमीदारो के विरुद्ध उसने जो अभियान किये थे, उनसे ज्ञात होता है कि एक श्रेष्ठ सैनिक के गुण और विशेषताएँ उसके अन्दर थी और सैनिक-कार्य को वह अच्छी तरह समझता भी था। एक सैनिक के रूप मे उसके अन्दर अमित साहस, अपूर्व शक्ति और असाधारण धैर्य था। एक जनरल के रूप मे भी उसने प्रत्येक सैनिक कार्यवाही मे अपनी श्रेष्ठ प्रतिभा और चातुर्य का परिचय दिया था। किसी सैनिक अभियान के समय उसे जहाँ-जहाँ ठहरना पडता था, वहाँ वह व्यूह-रचना करता था और अपने आसपास खन्दके खुदवाता था जिससे किसी सम्भावित अचानक आक्रमण से पूर्व सुरक्षा रहे। उसने अपने शत्रु पर कभी सामने से आक्रमण नही किया। जो सैनिक चाले वह प्राय: व्यवहार मे लाता था वे थीं शत्रु को बे-खबर रखना, उस पर अचानक हमला बोल देना, उसे झाँसा देकर किसी छिपे हुए मार्ग की ओर से ले जाना और वहाँ उस पर कई ओर से आक्रमण करना। उसकी सैनिक कार्यवाहियाँ बड़ी शीघ्रता से संचालित होती थी और वह हमेशा इस ताक में रहता था कि शत्रु की सैनिक तथा मौलिक अवस्था से यथासम्भव लाभ उठाया जाय। राजपूतों की भाँति वह एक ही लड़ाई के परिणाम पर अपना सब कुछ निछावर नही कर देता था। हाँ, एक बार जोधपुर के मालदेव के साथ लडाई मे वह यह भी कर बैठा। किन्तु यहाँ भी वह एक चतुर चाल से साफ निकल आया। तुर्कों और अफगानो की भाँति वह भी विजय करने के विचार से युद्ध करता था और उसका यह विश्वास था कि अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए बुरे-भले सभी साधन व्यवहार मे लाने चाहिए। सैनिक अभियानों की कठिनाइयों और अभावों को तथा भविष्य के सुख-दुखो को अपने सैनिको के साथ भोगने के लिए वह सदा तैयार रहता था। वह अपने सैनिको से अलग-अलग नही रहता था बल्कि उनके साथ घनिष्ठता रखता था।

चौसा की लडाई के पूर्व जब हुमायूँ के दूत उससे मिलने गये थे तो उन्होने शेरशाह को बाँहें चढ़ाकर एक खाई खोदते हुए पाया। एक नेता मे जो गुण और

---

४ सुप्रसिद्ध सूफी हिन्दी कवि मलिक मुहम्मद जायसी शेरशाह के समय में ही हुआ है, किन्तु राजदरबार से उसे कोई संरक्षण प्राप्त नहीं था।

विशेषताएँ होनी चाहिए, वे उसमें थी। किसी नेता के आकर्षक व्यक्तित्व की तरह उसका व्यक्तित्व भी काफी आकर्षक था। उसके सैनिक भी उसके प्रति स्वामिभक्ति और सेवा-भाव रखते थे।

प्रबन्धक के रूप में—शेरशाह रचनात्मक प्रतिभासम्पन्न एक उच्च कोटि का व्यक्ति था। अकबर की भाँति ही उसमे शासन के मौलिक सिद्धान्तो के साथ छोटी से छोटी जानकारी को ग्रहण करने की क्षमता थी। भूमि-व्यवस्था की प्राचीन उपयोगी संस्थाओ को पुनर्जीवित करने का ही श्रेय उसे प्राप्त नही है, बल्कि इनके सुप्रबन्ध, सुधार और सस्कार का श्रेय भी उसी को प्राप्त है। शासन-व्यवस्था के पुनर्संगठन, भूमि का बन्दोबस्त, लगान, मुद्रा और व्यापार-वाणिज्य मे उसके द्वारा किये गये सुधार-संस्कारो के कारण मध्यकाल के महान शासक-प्रबन्धको में उसकी गणना की जाती है। शासक के रूप मे शेरशाह की विशेषता उस भाव के कारण थी जिसके द्वारा वह सस्थाओ का सुचारु रूप से सचालन करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन प्रबन्ध-सस्थाओ को ही जनता का अधिक से अधिक हित करने के लिए परिवर्तित कर लिया गया। शेरशाह एक सफल राजनीतिज्ञ था। मुगलो की शासन-व्यवस्था मे उसने अनेक दोष देख लिये थे जिनसे बाद मे पूरा-पूरा लाभ भी उसने उठाया था। उसने इस बात को समझने और देखने की चेष्टा की कि देश की शक्ति किन वर्गों के हाथ मे है और उसने इन्ही वर्गों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की। जहाँ तक अफगानो का प्रश्न था, उसने इनके मध्य चलने वाले फिरकेवारान ईर्ष्या-संघर्ष को समाप्त कर दिया था और इनके जोश-खरोश को उचित नियन्त्रण में रखा था। उसने इन लोगो से समान आदर्श और आकांक्षाओ को ग्रहण करने की प्रेरणा ली थी और इन्हे अपने कुटुम्ब-कबीलों के हित को त्यागकर राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखने को प्रोत्साहित किया था। उसके पूरे शासनकाल मे अफगानो की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति नियन्त्रण मे रही। शेरशाह की भाँति किसी अन्य अफगान शासक ने ऐसे कठिन काम मे इतनी बडी सफलता प्राप्त नही की थी। शासक के रूप मे उसने जनता की भलाई का पूरा-पूरा ख्याल रखा और कृषक-वर्ग की हित-रक्षा के निमित्त बहुत परिश्रम किया। कृषकों के ऊपर किसी भी तरह का अत्याचार-अन्याय नही हो सकता था, उनके अधिकारो का अपहरण किया जाना बादशाह को क्षम्य नही था, और यदि काश्तकारो की खड़ी फसलो को हानि पहुँचाती भी तो उसका मुआवजा देने का पूरा-पूरा ख्याल रखा जाता था। यद्यपि वह अपने धार्मिक विश्वासों के प्रति कट्टर था और शक्तिशाली हिन्दू राजाओं से युद्ध करते समय प्रायः अपने मुसलमान सैनिकों की धर्मान्धता से लाभ उठाता था तथापि हिन्दू प्रजा के प्रति उसने किसी प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता का परिचय नही दिया। धर्म को राजनीति अथवा शासन-प्रबन्ध से पृथक रखने की राजनीतिक समझदारी उसके अन्दर पर्याप्त थी। उसने बहुत पहले ही यह समझ लिया था कि हिन्दुओं की उपेक्षा करना असम्भव है इसलिए सामान्य शासन और सैनिक शासन में उसने इनका सहयोग प्राप्त किया था।

शेरशाह के चरित्र में सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता थी न्याय के प्रति उसका श्रद्धा-भाव। वह कहा करता था, "न्याय करना धर्म है; यह बात मुसलमान तथा अन्य धर्मावलम्बी शासकों के लिए बराबर मान्य है।" वादी-प्रतिवादी के विषय मे अमुक बात में सत्य क्या है, इसकी छानबीन करना वह अपना कर्तव्य समझता था। सबके लिए सदैव ही उसने एकसी न्याय-नीति बरती। अत्याचार करने वालो के प्रति, फिर चाहे वे उसके सगे-सम्बन्धी अथवा साथी-सरदार ही क्यो न हों, उसने कभी रू-रियायत नही की। आगरे मे एक सुनार की पत्नी के प्रति शेरशाह के भतीजे ने जो बुरा भाव प्रदर्शित किया था और उसे शेरशाह ने जो दण्ड दिया था, उसका जिक्र हम पहले कर चुके है। यह हो सकता है कि यह बात अक्षरशः सत्य न हो, लेकिन फिर भी जनता का यह विश्वास कि शेरशाह न्याय-कर्तव्य पालन करने मे, फिर चाहे उसे अपने सगे-सम्बन्धियो को ही सजा क्यो न देनी पड़े, अत्यन्त कठोर था।

प्राचीन भारत के राजाओ की भाँति ही शेरशाह भी दरिद्रों और अपाहिजों के प्रति अत्यन्त सुहृदय व्यवहार करता था। वह बहुत-सा रुपया दान करता था। ज्ञात हुआ है कि वह एक रजिस्टर रखता था, जिसमे गरीब लोगो के नाम-पते लिखे जाते थे और इन लोगो के जीवन-निर्वाह का उचित प्रबन्ध किया जाता था। शेरशाह ने 'दान का लगर' अपनी राजधानी मे स्थापित किया, जिस पर पाँच सौ तोला स्वर्ण प्रतिदिन व्यय किया जाता था। उसके दरबार में जो भी जाता था उसे भोजन दिया जाता था। केवल इस प्रकार के दान में प्रतिवर्ष १८,२५,००० रुपये व्यय होते थे। छाया देने वाले और फलदार वृक्षो से ढकी हुई सड़कें और यात्रियों की सुविधा के लिए बनवायी गयी सरायों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। इस प्रकार से जनोपयोगी कार्य उसने अपनी बहुसंख्यक प्रजा की सुविधा के विचार से ही किये थे। शाही फौजो के आने-जाने तथा शाही डाक जल्दी लाने और पहुँचाने में भी इनसे बहुत सहायता मिलती थी।

शेरशाह का उत्कर्ष और उसकी सफलताएँ ऐसी चकाचौंध करने वाली थी कि अधिकाश इतिहास लेखक उसके चरित्र के दूसरे पहलू को देखने में असमर्थ रहे है। सामान्य रूप से लोग यह अनुभव नही करते थे कि वह बड़ा ही चलता हुआ राजनीतिज्ञ था और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह चालबाजियों और धोखाधड़ियों को प्रायः व्यवहार मे लाता था। चुनार का दुर्ग उसने छल-छद्म से ही अपने अधिकार मे किया था। अपनी वचनबद्धता को धता बताकर ही उसने रोहतासगढ पर अपना कब्जा कर लिया था। औरगजेब की तरह वह भी छलपूर्ण नीति से अपने काम निकालता था। अपने प्रतिद्वन्द्वी मालदेव को उसने जाली पत्र तैयार करवाकर और उसके सरदारो मे फूट डलवाकर पराजित किया था। एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से शेरशाह के उत्कर्ष का कारण केवल उसकी योग्यता ही नही किन्तु उसकी चालाकी तथा सिद्धान्तहीनता भी है।

इतिहास में शेरशाह का स्थान

शासन-प्रबन्ध-पटुता, चारित्रिक दृढ़ता और सम्पन्न किये कार्यों की दृष्टि से

शेरशाह मध्यकालीन भारत के शासकों मे एक विशेष स्थान रखता है। उसकी तुलना मध्यकालीन भारत के महान सत्ताधिकारी अलाउद्दीन खलजी से की जा सकती है। शासक-प्रबन्धक और विजेता के रूप मे अलाउद्दीन उससे निश्चय ही बढा-चढ़ा था, किन्तु रचनात्मक राजनीतिज्ञता में वह उससे घटिया था। शेरशाह की संस्थाएँ जनोपयोगी थी और उनके द्वारा निर्माण करने वालो का नाम भारतीय इतिहास मे अमर हो गया। अकबर के साथ शेरशाह की तुलना करना अनुपयुक्त है क्योकि एक व्यक्ति के रूप में अथवा एक शासक के रूप मे अकबर उससे कही अधिक श्रेष्ठ था।

यह कहना तो अत्युक्तिपूर्ण ही होगा कि शेरशाह ही वह प्रथम मुसलमान सम्राट था जिससे अकबर महान के समान ही विरुद्ध मतावलम्बियो को एकता के सूत्र में बाँधकर भारत राष्ट्र के निर्माण का प्रयत्न किया था। इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नही है कि शेरशाह भारत मे एक राष्ट्र स्थापित करना चाहता था। सच बात तो यह है कि वह जानता ही नही था कि राष्ट्र का अर्थ क्या है। यह तर्क ठीक नही है कि चूँकि सिकन्दर लोदी के राज्य का वातावरण अभी तक विद्यमान था, अतः जजिया और गौहत्या के उन्मूलन का प्रयोग उस समय अनुपयुक्त था। यह स्मरण रहने योग्य है कि शेरशाह के सौ वर्ष पहले काश्मीर के जैन-उल-आबदीन (१४२०-१४७० ई०) नामक सम्राट ने अपने धर्मान्ध तथा मूर्ति-विनाशक पिता की मृत्यु के बाद जजिया तथा गौहत्या को हटा दिया था, अत. कृतज्ञ जनता ने उसे काश्मीरी अकबर की उपाधि से विभूषित किया था। सच बात तो यह है कि शेरशाह ने भारत राष्ट्र के निर्माण का कभी स्वप्न भी नहीं देखा था। यह कहना अकबर के साथ अन्याय करना होगा कि उसके राज्याभिषेक के समय की अपेक्षा उसकी मृत्यु के समय हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्ध अधिक बिगडे हुए थे अतः अकबर की नीति हानिकारक तथा अन्यायपूर्ण थी। यह सभी जानते हैं कि जब सत्य-अहिंसा तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता के पुजारी महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा था उस समय हिन्दू-मुसलमानो के सम्बन्ध अच्छे नही थे। इस समय की अपेक्षा तो उस समय ही इन दोनो के सम्बन्ध अच्छे थे जब ब्रिटिश सत्ता अपनी चरम सीमा पर थी और देश मे निराशा तथा भय का वातारण छाया हुआ था। किन्तु इतिहास का कोई भी पक्षपात-रहित विद्यार्थी ऐसा नही होगा जो इसके लिए महात्मा गाँधी को दोषी ठहराये।

हिन्दू-मुसलमानो के सम्बन्धो के अच्छे न होने का उत्तरदायित्व मुसमलमानो पर है क्योकि ये लोग अधिक साम्प्रदायिक, अधिक हड़प्पू और अधिक झगड़ालू हैं और सबसे परे वे भारत की अपेक्षा मुस्लिम देशो से अधिक प्रेम करते है। मुसलमान जाति जब तक अपनी पुरानी प्रभुता रखने में या नये तौर पर अपनी प्रभुता स्थापित करने मे समर्थ रहती है तब तक वह समझौते मे विश्वास नही करती है। शेरशाह राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की अपेक्षा उच्चकोटि की स्वार्थ-भावना से अधिक प्रेरित था किन्तु कुछ

आधुनिक[५] इतिहासकारों ने उसको इसके विरुद्ध समझ लिया है। इस बात का कोई प्रमाण नही मिला है कि अकबर के अतिरिक्त कोई भी भारतीय मुसलमान शासक ऐसा रहा होगा जिसमे इस देश की राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावना भरी हो। इसके अतिरिक्त एक बात और है कि भारत शेरशाह की मातृभूमि नही थी और हम देखते हैं कि दूसरे अफगान सम्राटो के समान उसने भी अपने देशवासियों को अफगानिस्तान से बुलाया था और केवल अपनी शक्ति बढाने के लिए ही नही अपितु कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर भी देश की भूमि को उनके बीच बाँट दिया था।

अथक परिश्रम, कर्तव्यपरायणता, अनेक सुधार तथा न्यायप्रियता के कारण शेरशाह का नाम भारतीय इतिहास मे प्रसिद्ध है। अकबर महान् को छोडकर किसी भी मध्यकालीन भारतीय सम्राट को इतना अधिक जन-कल्याण करने का श्रेय प्राप्त नही है। मनुष्यो के नेता, सस्थाओ के निर्माता, प्रशासक अथवा प्रवक्ता के रूप मे वह अपने पूर्ववर्ती सम्राटो से श्रेष्ठ था। यद्यपि कुछ अफगान लेखको तथा आधुनिक इतिहासकारो ने शेरशाह की प्रशंसा की है तो भी उसका प्रशासन पूर्ण नही था, अतः वह आलोचना के परे नही है। फिर भी यह सर्वमान्य है कि उसने प्रजा के हित-साधन का यथासम्भव प्रयत्न किया था। लेखक वूल्जले हेग की इस सम्मति से सहमत नही है कि "वह भारत के मुसलमान सम्राटो मे सबसे महान था।" हाँ, इतिहास मे उसका स्थान अवश्य ही बहुत ऊँचा है। उसका स्थान अकबर के दूसरे नम्बर पर है और डॉ० कानूनगो ने ठीक ही लिखा है कि इतिहास मे अकबर का स्थान शेरशाह के स्थान से अधिक ऊँचा है।

इस्लामशाह (१५४५-१५५३ ई०)

प्रारम्भिक जीवन

इस्लामशाह का असली नाम जलालखाँ था और वह शेरशाह का दूसरा लड़का था। राज्यारोहण के समय वह एक सुशिक्षित व्यक्ति और फारसी का अच्छा कवि समझा जाता था। इससे अनुमान है कि प्रारम्भिक वर्षों में उसे काफी उच्च शिक्षा दी गयी होगी। किन्तु मुख्य रूप से तो वह एक सैनिक ही था। राजपद प्राप्त करने से पूर्व ही उसने अपनी उत्कृष्ट सैनिक योग्यता का कई अवसरो पर अच्छा परिचय दिया था। १५३१ ई० मे चुनारगढ की उसने इस वीरता से रक्षा की थी कि मुगल सम्राट हुमायूँ उससे अत्यधिक प्रभावित हुआ था और जब दोनो पक्षो मे सुलह हो गयी तथा शेरशाह ने मुगल सम्राट के समक्ष अफगानी सैनिक-दल की सेवाएँ अर्पित की तो सम्राट ने इस सैनिक-दल का चार्ज जलालखाँ को ही सँभालने का आग्रह किया। १५३७ ई० मे गौड़ के घेरे मे उसने प्रमुख भाग लिया और उसके बाद उसे बगाल के प्रवेश-द्वार तेलियागढ़ी की रक्षा करने के लिए भेज दिया गया, जहाँ उसने मुगल सेना को करारी हार दी। १५३६ और १५४० ई० मे चौसा और कन्नौज के युद्ध-क्षेत्रों में शेरशाह

५ एस० आर० शर्मा कृत क्रेसेण्ट इन इण्डिया

की सेना की मुख्य टुकडी का नेतृत्व उसे सौंपा गया था। इन दोनों युद्धो-क्षेत्रो मे ही उसने अपूर्व पराक्रम और उत्कृष्ट सैनिक योग्यता का परिचय दिया। रायसीन और जोधपुर के शासकों के ऊपर किये गये आक्रमणों मे भी उसने अपने पिता के साथ सहयोग किया था। जब शेरशाह कालिंजर के घेरे मे व्यस्त था, तो उस समय जलालखाँ को ही रीवा-विजय करने के लिए भेजा गया था; लेकिन शेरशाह की आकस्मिक मृत्यु के कारण यह कार्य सम्पन्न नही हो सका।

राज्यारोहण से पूर्व इस्लामशाह के शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों का हमे ठीक प्रकार ज्ञान नही है। लेकिन यह निश्चित है कि उसके पिता ने साम्राज्य की सुव्यवस्था और सुधार-योजनाओ को कार्यान्वित करने में उससे भी सहयोग-सहायता ली होगी और इसलिए १५४५ ई० से पूर्व ही उसने प्रबन्ध सम्बन्धी यथेष्ठ ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर लिया होगा।

राज्यारोहण और आदिलखाँ से संघर्ष

जब शेरशाह की २२ मई, १५४५ ई० को कालिंजर मे बुरी तरह जल जाने से मृत्यु हो गयी, तो उसका ज्येष्ठ पुत्र आदिलखाँ रणथम्भौर मे था और कनिष्ठ पुत्र जलालखाँ कालिंजर से ८५ मील उत्तर-पूरब में स्थित रीवा में था। यद्यपि शेरशाह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को ही अपना उत्तराधिकारी नामजद किया था तथापि उसके सरदारों ने जलालखाँ को उसके लिए उपयुक्त समझा, क्योंकि जहाँ आदिलखाँ आराम-पसन्द और भोग-विलासी था, वहाँ जलालखाँ परिश्रमी और अस्त्र-शस्त्र तथा सैन्य-संचालन मे कुशल था। साथ ही बादशाह की मृत्यु के समय कालिंजर के अधिक निकट भी वही था और यह विचारा गया था कि वर्तमान स्थिति में राजपद अधिक समय खाली नहीं रखा जा सकता, इसीलिए ईसाखाँ हाजिब के नेतृत्व में सरदारो ने उसी को सम्राट बनाना निश्चित किया। फलस्वरूप जलालखाँ के पास शीघ्र ही यह सन्देश लेकर एक दूत भेज दिया गया कि आप यथाशीघ्र यहाँ पधारिए और अपने पिता का स्थान ग्रहण कीजिए। जलालखाँ २७ मई, १५४५ ई० को कालिंजर आ पहुँचा और उसी दिन उसका राज्याभिषेक सम्पन्न हो गया और उसने इस्लामशाह की पदवी धारण कर ली।

राजपद-प्राप्ति के पश्चात ही उसने कालिंजर के चन्देल शासक कीरतसिंह और उसके ७० प्रमुख अनुयायियों को मौत के घाट उतार दिया। अपने राज्याभिषेक के बाद वह आगरा पहुँचा। अपनी सेना को खुश रखने और उसका सहयोग-समर्थन प्राप्त करने की दृष्टि से उसने सैनिको और सैनिक कर्मचारियो को दो मास का वेतन नकद बाँट दिया। इसमें एक माह का वेतन सबको पुरस्कारस्वरूप दिया गया था। इसके पश्चात उसने अपने निजी सेना के ६,००० सैनिको की तरक्की कर दी, जिससे साधारण सैनिक अफसर बन गये और जो अफसर थे उन्होंने अमीर का दर्जा प्राप्त कर लिया। इस्लामशाह के इस अविचारपूर्ण कार्य से पुराना अमीर-वर्ग बहुत असन्तुष्ट हुआ। इन असन्तुष्ट अमीरों में से कुछ आदिलशाह से गुप्त रूप से जा मिले।

इस्लामशाह ने सशंकित होकर अपने भाई आदिलशाह को आगरा पधारकर राज-सिंहासन का अधिकारी होने के नाते साम्राज्य की बागडोर सँभालने के लिए लिखा। कुतुबखाँ नायब, ईसाखाँ नियाजी, खवासखाँ और जलालखाँ जुलवानी जैसे प्रमुख सरदारो के आश्वासन पर आदिलशाह रणथम्भौर से आगरा के लिए चल पड़ा। आगरा मे इस्लामशाह ने उसकी हत्या करने का एक षड्यन्त्र रचा जो असफल सिद्ध हुआ। यह स्थिति देखकर आदिलशाह ने अपने लिए किसी छोटे-से प्रान्त का गवर्नर बनना ही उपयुक्त समझा और वह बयाना, जो सम्राट ने उसे ही सौप दिया था, चला आया। इस ऊपरी मेल-मिलाप के होने पर भी दोनो भाइयो मे पारस्परिक विद्रोह की भावना काम करती रही और इस्लामशाह ने एक हत्यारे को आदिलशाह की हत्या करने के लिए बयाना भी भेज दिया। वे चारों सरदार, जिन्होने आदिलशाह को आगरा आते समय उसकी जीवन-रक्षा का आश्वासन दिया था, बादशाह के इस प्रकार विश्वासघात करने से असन्तुष्ट होकर आदिलशाह की ओर हो गये। आदिलशाह ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, किन्तु नगर से बाहर ही उसे लड़ाई में हरा दिया गया और वह भागकर पन्ना चला गया। इसके बाद उसका कोई भी समाचार सुनने को नही मिला। उसके समर्थक खवासखाँ और ईसाखाँ मेवात (अलवर) चले गये। इस्लामशाह ने एक सेना इन विद्रोही सरदारों का पीछा करने के लिए भेजी, किन्तु मेवात में फीरोजपुर नामक स्थान में यह हार गयी। इसके बाद बादशाह ने एक और सेना भेजी जिसने खवासखाँ को वहाँ से भगाकर कुमायूँ की पहाड़ियों में वहाँ के राजा की शरण में जाने के लिए विवश कर दिया।

पुराने सरदारों का दमन

इस्लामशाह पुराने सरदारों की ओर से भी सशंकित था। चुनार के रास्ते में उसने जलालखाँ जुलवानी और उसके भाई खुदादादखाँ को मार दिया। कुतुबखाँ, जो आदिलशाह का समर्थक था; भयभीत होकर लाहौर भाग गया और प्रान्त के गवर्नर हैबतखाँ नियाजी की शरण ली। हैबतखाँ ने उसे बादशाह के सुपुर्द कर दिया। अन्य पुराने सरदारों के साथ उसे (कुतुबखाँ को) भी बादशाह ने बन्दी बनाकर ग्वालियर के किले में भेज दिया, जहाँ इन लोगों को बारूद से उड़ा दिया गया। बादशाह के इन कृत्यों से अन्य सरदारो के दिलों में भी डर बैठ गया।

नियाजी विद्रोही

आदिलशाह के साथ विद्रोह खड़ा करने में जिन लोगों के ऊपर शक किया गया, उनके साथ किये इतने सख्त व्यवहार से पुराने अमीर और सरदार सावधान हो गये और उनके अन्दर कबाइली अन्तर-विग्रह की भावना, जिसे शेरशाह ने सफलता-पूर्वक शान्त कर रखा था, पुन: भड़कने लगे। नियाजी लोग विशेष रूप से असन्तुष्ट हो गये। सईदखाँ नियाजी बादशाह से विक्षुब्ध होकर अपने भाई हैबतखाँ नियाजी के पास भाग गया, जो उस समय लाहौर का गवर्नर था और उससे इस्लामशाह के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करने का आग्रह किया। खवासखाँ भी इस विद्रोही दल में आ मिला।

इन सबसे स्थिति इतनी भयावह हो गयी कि इस्लामशाह को स्वयं इन विद्रोहियो को दबाने के लिए आना पड़ा। विद्रोही-दल ने बादशाह से अम्बाला मे आकर सामना किया (१५४७ ई०)। लडाई से कुछ समय पूर्व ही खवासखाँ नियाजियो से पृथक हो गया; क्योकि वह तो आदिलशाह का समर्थक था, और नियाजी सरदार राजा बनने की महत्त्वाकांक्षा मे उत्साहित होकर यह घोषित कर रहा था कि "ताज तलवार का पुरस्कार है।" युद्ध मे नियाजी हार गये और इस्लामशाह ने उन्हे झेलम तक खदेड़ दिया। पंजाब मे एक सेना छोडकर वह आगरा वापस आ गया। इसी सेना ने सिन्धु नदी पर दुनगौट (धनगौट) नामक स्थान पर विद्रोहियो को पुन. पराजित किया और नियाजियों को गक्खरो की शरण लेने के लिए मजबूर कर दिया। हैबतखाँ जो अपनी पूर्व-स्थिति को प्राप्त करने के लिए अभी खम ठोक रहा था, सिन्धु नदी की ओर प्रकट हुआ; लेकिन उसे फिर हरा दिया गया और उसकी माँ तथा बेटी को बन्दी बना लिया गया। इस्लामशाह ने दो वर्ष तक उनका अपमान एव बेइज्जती की और बाद में उन्हे जान से मार दिया। उन नियाजियो को भी जिन्होने गक्खरों के पास जाकर शरण ली थी, दो वर्ष की लडाई के पश्चात नष्ट कर दिया गया। सौभाग्य से हैबतखाँ बच निकला और काश्मीर भाग गया। काश्मीर के तत्कालीन राजा मिर्जा हैदर और चक फिरके के लोगो के मध्य झगड़े में उसने हस्तक्षेप किया। चक लोगो ने मिर्जा हैदर को हराकर हैबतखाँ पर धावा बोल दिया। नियाजी लोग बड़ी वीरता से लड़े किन्तु अन्त मे पराजित हुए और मार डाले गये।

इस्लामशाह का गक्खरो से जिन्होने नियाजियो को शरण दी थी, सघर्ष हो गया था। गक्खर सरदार सुल्तान आदम हुमायूँ का दोस्त था और इसी कारण यह आशंका थी कि हुमायूँ, कामरान और मिर्जा हैदर का इस्लामशाह के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा न बन जाय। इस्लामशाह ने ऐसे संगठन को न बनने देने के लिए अथक परिश्रम किया और बचाव के लिए किलों की शृंखला (चिनाब के पूरबी किनारे पर और सियालकोट के ६० मील उत्तर में) तैयार करायी और इसका नाम मानकोट रखा। यद्यपि गक्खरों को पूरी तरह पराजित नही किया जा सका, फिर भी इस्लामशाह को यह तो सन्तोष हुआ ही कि नियाजियों का खात्मा हो गया और उसके शत्रु उसके विरुद्ध कोई संगठित मोर्चा नहीं बना सके। इन चिन्ताओं से मुक्त होकर अब उसने दूसरी समस्याओं पर ध्यान दिया।

शुजातखाँ का विद्रोह

नये बादशाह की सन्देह करने की नीति तथा उसके अत्याचारों से असन्तुष्ट होकर शुजातखाँ, जो एक उच्चकोटि का सरदार और शेरखाँ के समय से मालवा का गवर्नर था; विद्रोही हो चला था। महत्त्वाकांक्षी लोगों की तरह वह भी स्वतन्त्र होना चाहता था; किन्तु अम्बाला मे नियाजियों को शाही सेना द्वारा परास्त होते देख वह कुछ सहम गया था और इस्लामशाह से उसने मित्रता करने की चेष्टा की थी। ग्वालियर में वह उसकी सेवा में भी उपस्थित हुआ था। यहीं पर उस्मान नाम के

व्यक्ति ने उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह सिर्फ जख्मी हो गया। इस षड्यन्त्र मे बादशाह का हाथ समझते हुए वह उससे बिना आज्ञा लिये ही अपने प्रान्त में चला आया। इस्लामशाह ने मालवा पर चढ़ाई कर दी, किन्तु शुजातखाँ बिना युद्ध किये ही पीछे हट गया। वह बाँसवाडा भाग गया और वहाँ से डूँगरपुर मे जाकर शरण ली। पंजाब मे नियाजी विद्रोह अभी शान्त नही हुआ था, इसलिए इस्लामशाह ने इस समय शुजातखाँ से सन्धि करना ही ठीक समझा। दौलतखाँ उजियाला (जो शुजातखाँ का लडका और बादशाह का अभिन्न मित्र था) के प्रार्थना करने पर इस्लामशाह ने उसे (शुजातखाँ) माफ कर दिया और उसके प्रान्त का अधिकाश भाग उसे वापस भी कर दिया; केवल मालवा प्रमुख उसके अधिकार से लेकर एक-दूसरे अधिकारी को दे दिया गया।

खवासखाँ की मृत्यु

शेरशाह के समय का एक दूसरा प्रमुख सरदार खवासखाँ था। वह एक श्रेष्ठ सैनिक और सूर-राजवंश का सबसे बड़ा समर्थक था। उसने आदिलशाह के अधिकार का समर्थन किया और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह पहले नियाजियों से मिल गया, किन्तु अम्बाला में उनके लक्ष्य को भिन्न पाकर उसने उनका साथ छोड़ दिया—इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इसके पश्चात खवासखाँ ने कमायूँ के राजा के यहाँ जाकर शरण ली। इस्लामशाह ने कमायूँ के राजा के इस भगोड़े सरदार को उसे सौंप देने के लिए कहा। किन्तु जब राजा ने ऐसा करना अस्वीकृत कर दिया, तो इस्लामशाह ने खवासखाँ से सीधा सम्पर्क स्थापित किया। उसके अपराधों को क्षमा कर देने का वचन देकर उससे उसे अपने दरबार मे आने के लिए प्रेरित कर लिया। खवासखाँ उसकी सेवा में उपस्थित होने के लिए चल पड़ा। किन्तु जब वह सम्भल से छह मील की दूरी पर स्थित सिरसी नामक स्थान तक आ पहुँचा तो इस्लामशाह की प्रेरणा से सम्भल के गवर्नर ताजखाँ करारानी ने रात में उसी के खेमे मे उसकी हत्या कर दी (१५४६ ई०)।

अन्तिम दिन और मृत्यु

अपने दरबार के बड़े-बडे सरदारों के दमन और उनकी हत्याओं से भी इस्लामशाह सन्तुष्ट नही हुआ। वह अपने पिता के समय के प्रान्तों के कुछ शक्तिशाली गवर्नरों को भी कुचलना चाहता था। शुजातखाँ को उसने किस प्रकार परास्त किया, इसकी चर्चा हम कर चुके है। उसने बंगाल की गवर्नरी से काजी फजीलत को हटा दिया और उसके स्थान पर महमूदखाँ सूर की नियुक्ति कर दी। अन्य प्रान्तों मे भी उसने अपने पिता के समय के गवर्नरो को हटाकर अपने आदमियो को उनके पद पर नियुक्त कर दिया। पूरबी बंगाल को भी उसने अपने अधिकार मे कर लिया। १५५३ ई० में हुमायूँ ने अपने कृतघ्न भाई कामरान से छुटकारा पाकर हिन्दुस्तान पर पुनः अधिकार प्राप्त करने के विचार से काश्मीर की ओर कदम बढ़ाये थे। इस समय इस्लामशाह दिल्ली मे बीमार पड़ा था। हुमायूँ द्वारा सिन्धु नदी पार कर लेने का समाचार पाकर उसने अपने गले में से जोंकों को हटा दिया और बीमारी की हालत में

ही आक्रमणकारी से सामना करने के लिए चल पड़ा। हुमायूँ अपने पुराने शत्रु के बेटे की इस तत्परता से सहम गया और निराश होकर काबुल लौट गया। अफगानो के ऊपर से संकट टला जान इस्लामशाह भी अपनी मनपसन्द जगह ग्वालियर चला आया। यहाँ पर कतिपय असन्तुष्ट सरदारो ने उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया; किन्तु यह षड्यन्त्र पकड़ा गया और इसमें भाग लेने वाले व्यक्तियो को समाप्त कर दिया गया। इस्लामशाह की जान लेने का यह दूसरा षड्यन्त्र था, पहला षड्यन्त्र शासन के आरम्भिक काल में किया गया था। अपने राज्यकाल के अन्तिम दिन इस्लामशाह ने खूब ऐश-आराम में काटे। इसके कुछ दिनों पश्चात ही उसके गुप्तांगों मे गाँठ पड जाने से उसे बहुत कष्ट हुआ और चिकित्सा से कोई लाभ नहीं निकला। ३० अक्तूबर, १५५३ ई० को वह इस दुनिया से कूच कर गया।

शासन-प्रबन्ध

अपने पिता से प्राप्त किये हुए साम्राज्य में इस्लामशाह ने पूरबी बगाल का प्रदेश भी मिला लिया था। इसके अतिरिक्त उसने काश्मीर से भी अपनी अधीनता स्वीकार करा ली थी। १५५३ ई० में उसकी मृत्यु के समय सूर-साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में सिन्धु नदी से लेकर पूरब में आसाम की पहाड़ियों तक और उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण में विंध्याचल तक फैला हुआ था। बीकानेर और जैसलमेर की रियासतें तथा गुजरात और काठियावाड के प्रान्त उसके साम्राज्य मे सम्मिलित नही थे।

इस्लामशाह एक कुशल शासन-प्रबन्धक था। उसने उन सभी सरदारों की शक्ति कुचल दी, जिन्होने अपनी स्थिति और अपने अधिकारो मे वृद्धि कर ली थी और राजसत्ता को ढक-सा दिया था। राजपद का उसका सिद्धान्त उसके पिता के सिद्धान्त से भिन्न था। साथी अफ़गानों में अफगान-साम्राज्य को बाँट देने की नीति मे वह विश्वास नही करता था। उसका आदर्श राजा को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि मानने वाली अफगान विचारधारा की अपेक्षा मुगलों के दैवी राजसत्ता सम्बन्धी विचार-विश्वासों से अधिक मिलता था, क्योकि वह बड़े से बडे सरदार को भी राजा की इच्छा के प्रति अनन्य आज्ञाकारी चाहता था। उसने यह आज्ञा जारी कर दी थी कि कोई भी अमीर हाथी नहीं रख सकेगा। एक दूसरी आज्ञा द्वारा नर्तकियों को भी इनसे छीन लिया गया था। लाल खेमों का प्रयोग में लाना भी उसने निषेध करवा दिया था क्योकि लाल रंग को वह बादशाह की बपौती समझता था। इन बन्धनों से अमीरों और सरदारों की मान-प्रतिष्ठा बहुत गिर गयी और उनकी शान-शौकत भी कम हो गयी। नियम-उपनियम से भरे हुए ८० पृष्ठों के विधान को भी उसने प्रत्येक जिले और प्रत्येक परगने में घुमवाया। उसने शासन-सम्बन्धी बहुत-से कानून-कायदे जारी किये और अधिकारियों की सहायता के लिए विस्तारपूर्वक निर्देशन भी दिये। प्रत्येक विभाग और लगभग प्रत्येक राज्य के कार्यकलाप से इन नियमों का सम्बन्ध था। वह इस बात के लिए बहुत उत्सुक रहता था कि लोग अपने अधिकारों के साथ-साथ अपने कर्तव्यों को भी भली प्रकार समझें। इस बात का बदायूँनी के इस वक्तव्य द्वारा भी समर्थन होता

है कि "बादशाह में सभी निर्देश चाहे वे मुसलमान धर्म के विरुद्ध ही क्यों न हों, पत्रको में लिखे गये थे। शाही आदेशों का काजी या मुफ्ती के पास निर्णय के लिए भेजना अनावश्यक घोषित कर दिया गया था और यह ठीक ही था।" उसने अपने पिता के शासन-तन्त्र को ही जारी रहने दिया, कही-कही आवश्यकतानुसार इसमें सुधार भी कर दिये। उसके साम्राज्य के अन्तर्गत प्रत्येक जिले में प्रति शुक्रवार को एक दरबार लगता था, जिसमे जिले के सभी अधिकारी और अमीर एक शामियाने के नीचे एक सिंहासननुमा ऊँचे तख्त पर रखे इस्लामशाह के जूतों और तरकश का अभिवादन करने हाजिर होते थे। इस्लामशाह की आज्ञाएँ और आदेश मन्त्री द्वारा पढ़कर सुनाये जाते थे। कानून की प्रतिष्ठा का निरादर किसी को नही करने दिया जाता था। इतिहासकार बदायूँनी, जब वह बच्चा था, को भी बजवाड़ा मे ऐसे ही एक दरबार को देखने का अवसर मिला था और उसने इस बात को लिखा है कि ऐसे ही दरबार इस्लामशाह के सम्पूर्ण राज्यकाल में किये जाते थे।

अपने पिता द्वारा स्थापित सैनिक-व्यवस्था और इसमे किये गये सुधारों को तो उसने पूर्ववत जारी रखा, लेकिन सैनिक संगठन मे श्रेणी-प्रणाली (जो आगे जाकर मुगलों की मनसबदारी परम्परा का आधार बनी) का प्रचलन कर इसे और अधिक व्यवस्थित और दृढ़ बना दिया। सबसे छोटी टुकड़ी में ५० सैनिक, उससे बड़ी में २००, तीसरी बड़ी टकडी में २५० और चौथी में ५०० सैनिक होते थे। सेना के बड़े-बड़े भाग (डिवीजन) भी थे; जैसे ५,००० १०,००० और २०,००० का।

सड़क के किनारे प्रत्येक चार मील की दूरी पर शेरशाह ने सरायें बनवायी थीं। इस्लामशाह ने प्रत्येक दो सरायो के बीच में एक-एक सराय और बनवा दी। इन सरायों मे तैयार रसोई का सामान, डाक के हरकारों तथा सम्भवतः यात्रियों के लिए भी उपलब्ध होता था। प्रत्येक कोस पर एक-एक सराय का निर्माण जनता के रुपये की अनावश्यक बरबादी थी। इन सरायो पर दान बाँटने की प्रथा भी, जैसा वूल्जले हेग ने लिखा है, शायद अपने पिता की ख्याति में ईर्ष्यावश अथवा अपनी प्रसिद्धि-लाभ की दृष्टि से ही इस्लामशाह ने चालू की थी।

चरित्र

इस्लामशाह एक योग्य सैनिक था। किन्तु अपने मातहतों के प्रति वह अत्यन्त कठोर, निर्दयी और धोखेबाज था। यद्यपि अपने अमीरों और सरदारों की शक्ति को खत्म करने की उसकी नीति निर्दोष और उत्तम थी, किन्तु चतुराई और कुशलता से इसको नहीं बरता गया। इसके द्वारा अफगान सरदारों में व्यर्थ में असन्तोष पैदा हुआ और उनके अन्दर फिरकेवाराना ईर्ष्या व द्वेष की दुर्भावनाएँ भी जाग गयीं। इस्लामशाह की निर्दयता, सन्देह करने और बदला लेने की दुष्प्रवृत्ति तथा मानसिक संकीर्णता द्वारा उसके विरुद्ध विद्रोहों की अग्नि बराबर भड़कती रही। किन्तु इसके साथ ही उसके अन्दर एक सफल जनरल की आवश्यक विशेषताएँ भी थीं जिनकी बदौलत वह अमीर-वर्ग का दमन कर सका।

एक सफल सैनिक होने के अतिरिक्त उसके अन्दर कुछ अन्य विशेषताएं भी थी। वह एक उच्चकोटि का कुशल शासन-प्रबन्धक था। यह बताया जा चुका है कि उसने शासन-सम्बन्धी बहुत-से नियम जारी किये थे, बिना इस बात का विचार किये कि वे उस समय की धार्मिक जड़ मान्यताओं के अनुकूल बैठे या नहीं। दिल्ली के सुल्तानों के बीच उसे एक व्यवस्थापक का स्थान दिया जा सकता है। जो नियम बादशाह द्वारा निकाले जाते थे उनकी घोषणा प्रत्येक जिले में प्रति शुक्रवार के दिन होने वाले दरबारों में कर दी जाती थी और उनका कठोरता से पालन कराया जाता था। इस सम्बन्ध मे एक चुटकुला प्रसिद्ध है। एक दिन उसके एक अमीर शाह मुहम्मद फरमूली ने मजाक में इस्लामशाह से कहा, "जहाँपनाह रात मैंने एक मजेदार ख्वाब देखा कि आसमान से तीन बोरियाँ आकर गिरीं। एक में धूल थी, दूसरी में सोना था और तीसरी में कागज थे। धूल सैनिकों के सिरो पर गिरी, सोना हिन्दू दफ्तरियों (क्लर्कों) के घर में चला गया और खाली कागजों का ढेर शाही खजाने में रह गया।" इस्लामशाह अपने अमीर का संकेत समझ गया और वायदा किया कि ग्वालियर लौट कर वह सैनिकों के हिसाब-किताब को देखेगा और उन्हे वेतन के रूप में स्वर्ण-मुद्राएँ देगा। (**बदायूंनी, जिल्द १, पृष्ठ ३८७**) यह संकेत करता है कि उस समय सैनिकों का जीवन कठिनाई और परिश्रम का जीवन था और एक दृढ़ शासक के नीचे ऐसा होना उचित भी था। इस वृत्तान्त से यह भी ज्ञात होता है कि उन दिनों अफगान लोग हिन्दू क्लर्कों की सुख-समृद्धि से कैसी ईर्ष्या रखते थे और किस प्रकार इस्लामशाह की सरकारी नौकरशाही को शासन-प्रबन्ध मे बे-हिसाब लिखा-पढ़ी करनी पड़ती थी।

इस्लामशाह एक सुसंस्कृत शासक था। उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी और वह फारसी में कविता भी करता था। स्थापत्य-कला से भी उसे प्रेम था और कुछ इमारतों का निर्माण भी उसने कराया था। कभी-कभी वह धर्म-सम्बन्धी वाद-विवादों में भी भाग लेता था। अपने व्यक्तिगत जीवन मे वह बड़ा ही पक्का मुसलमान था, किन्तु वह कोई कट्टरपन्थी धर्मान्ध नहीं था।

प्रोफेसर निरोधभूषण राय के अनुसार इस्लामशाह के समय में राजपद का सामन्ती स्वरूप समाप्त हो गया और अब उसने आधुनिक रूप धारण कर लिया। लेकिन यह भी कहना ही पड़ेगा कि सम्राट के अपरिचित उत्साह और प्रबन्ध सम्बन्धी उत्कृष्ट विशेषताओं के बावजूद वह कभी-कभी बड़ा कठोर, निर्दयी तथा प्रतिशोधक बन जाता था। उसने अफगानों के कबाइली ईर्ष्या-विद्वेष को पुनः जगा दिया और अपने राजवंश के पतन का मार्ग भी तैयार कर दिया।

इस्लामशाह के उत्तराधिकारी (१५५३-१५५५ ई०)

फीरोजशाह (१५५३ ई०)

इस्लामशाह के बाद १२ वर्ष की उम्र का उसका लड़का फीरोज गद्दी पर बैठा। राज्यारोहण के तीन दिन बाद ही उसके मामा मुबारिजखाँ ने उसकी हत्या कर दी। मुबारिजखाँ शेरशाह के छोटे भाई निजामखाँ का पुत्र था। इस्लामशाह

मुबारिजखाँ के इरादों को भलीभाँति जानता था और चाहता था कि उसे समाप्त करके अपने बेटे का मार्ग निष्कंटक कर दे, किन्तु अपनी पत्नी बीबी बाई के कारण वह ऐसा न कर सका। मुबारिजखाँ ने तख्त पर कब्जा कर लिया और मुहम्मद आदिलशाह की पदवी धारण की। अदली के नाम से ही वह अधिक प्रसिद्ध था।

मुहम्मद आदिलशाह (१५५३-१५५७ ई०)

मुहम्मद आदिलशाह ने सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात अमीर-वर्ग में धन-दौलत बाँटकर उसे खुश करने की चेष्टा की। उसने खवासखाँ के भाई शमशेरखाँ को अपना व र नियुक्त किया किन्तु उसका असली विश्वास हेमू से ही था, जो रेवाड़ी की सड़कों पर किसी समय नमक चेचता था; किन्तु बाद मे इस्लामशाह के यहाँ एक अत्यन्त विश्वस्त पद पर काम करने लगा था। मुहम्मद आदिलशाह निहायत निकम्मा शासक था। उसे किसी बात की सूझ-समझ न थी और न उसमे किसी प्रकार की योग्यता ही थी। निम्नकोटि के लोगों की सोहबत मे वह अपना समय नष्ट करता रहता था। भोग-विलास और व्यभिचार में वह इतना लिप्त रहता था कि राजकाज देखने के लिए उसके पास समय ही नही था। उसकी इस उदासीनता ने ही अमीरों को उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा करने के लिए उकसाया। पहला विद्रोही खवासखाँ की हत्या करने वाला ताजखाँ करारानी था। यद्यपि उसे वर्तमान हरदोई जिले के अन्तर्गत छिबरामऊ नामक स्थान पर पराजित कर दिया गया किन्तु वह बचकर भाग निकला और बिहार में पहुँचकर उसने काफी उत्पात मचाया। इसके बाद इब्राहीमखाँ सूर ने जो गाजीखाँ सूर का लड़का और बादशाह का बहनोई था, विद्रोह खड़ा किया। किन्तु जब बादशाह की बहन को अपने भाई आदिल के इरादों का पता चला तो उसने अपने पति को चुनार से भाग जाने मे सहायता की। इब्राहीमखाँ बयाना भाग आया और बादशाह की एक सेना को जो उसे दबाने के लिए भेजी गयी थी, हरा दिया। इस विजय से उत्साहित होकर वह दिल्ली की ओर बढा और उस पर अधिकार कर लिया। राजा की पदवी भी उसने यहाँ धारण कर ली। आदिल ने दिल्ली को पुनः प्राप्त करने का एक दुर्बल प्रय किया, किन्तु उसे सफलता नही मिली। इब्राहीमखाँ ने अब आगरा पर भी कब्जा कर लिया।

तीसरा विद्रोह खड़ा करने वाला बादशाह का एक और बहनोई तथा लाहौर का गवर्नर अहमदखाँ सूर था। उसने सिकन्दरशाह की पदवी धारण की थी। चौथा प्रमुख विद्रोही अमीर बंगाल का मुहम्मदखाँ सूर था। इसने शम्सुद्दीन मुहम्मदशाह गाजी की पदवी धारण की थी। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तरी भारत चार राज्यों में विभक्त हो गया। पंजाब सिकन्दरशाह के अधिकार में, दिल्ली और आगरा इब्राहीमशाह के अधिकार में, आगरा से बिहार तक का प्रदेश आदिलशाह के अधिकार में तथा बंगाल मुहम्मदशाह के अधिकार में हो गया। इन चारों शासकों में से प्रत्येक एक-दूसरे पर अपनी सत्ता स्थापित करना चाहता था। इन लोगों में निरन्तर पारस्परिक संघर्ष और विद्वेष के कारण देश में घोर अव्यवस्था और अराजकता का साम्राज्य फैल गया।

बयाना के गाजीखाँ सूर, अलवर के हाजीखाँ और सम्भल के याहिया तुरानी जैसे छोटी स्थिति के सरदार भी अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य बनाने के इच्छुक थे।

लाहौर के सिकन्दरशाह ने जिसके मन मे दिल्ली को अपने अधिकार में करने की उत्कट लालसा थी, इब्राहीम के ऊपर चढाई कर दी और इब्राहीम भी लडाई के मैदान मे ८०,००० सैनिकों की सेना लेकर उतर आया। आगरा के २० मील उत्तर में फरह नामक स्थान पर दोनों के बीच युद्ध हुआ, जिसमें इब्राहीम हार गया (१५५५ ई०)। वह इटावा भाग गया और सिकन्दर ने दिल्ली-आगरा पर अपना अधिकार जमा लिया।

अफगानों के पारस्परिक वैमनस्य और संघर्ष से लाभ उठाकर हुमायूँ, जो अब तक अपनी स्थिति बहुत सँभाल चुका था, नवम्बर १५५४ ई० मे भारत पर पुनः अधिकार प्राप्त करने के लिए चल पड़ा। हुमायूँ द्वारा सिन्धु नदी के पार होने की खबर पाते ही तातारखाँ काशी जो झेलम नदी पर स्थित रोहतासगढ़ का सिकन्दरशाह की ओर से अफसर था, उस किले से भाग निकला। हुमायूँ ने २४ फरवरी, १५५५ ई० को बिना किसी प्रतिरोध के लाहौर पर अपना अधिकार कर लिया। जिस समय मुगल भारतवर्ष पर दुबारा चढ़ाई करने में सलग्न थे, उस समय सिकन्दर और इब्राहीम आगरे के पास आपस मे लड रहे थे। यही कारण था कि हुमायूँ को वे आगे बढ़ने से न रोक सके। जब मुगल पंजाब पर अधिकार जमाकर दिल्ली की ओर बढ़े तो सिकन्दर सावधान हुआ और उसने शत्रु का सामना करने के लिए दीपालपुर पर एक सेना भेजी, जो हार गयी। एक दूसरी अफगान सेना भी मच्छीवाड़ा नामक स्थान पर पराजित हुई। अब सिकन्दर स्वयं शत्रु से मोर्चा लेने के लिए चला, किन्तु २२ जून, १५५५ ई० को सरहिन्द नामक स्थान पर वह भी हार गया और पंजाब की पहाड़ियों की ओर भाग गया। मुगलों ने दिल्ली पर पुनः अधिकार कर लिया।

भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में एक ओर तो ऐसी घटनाएँ हो रही थी और उधर इब्राहीम हाल ही में परास्त होकर भी शान्त नहीं हुआ था और आदिलशाह से संघर्ष छेड़ने में संलग्न था। आदिलशाह ने उसके विरुद्ध हेमू को भेजा जिसने उसे कालपी मे हराया और बयाना तक खदेड़ दिया गया। वह फिर हेमू से खन् [illegible] ा करने के लिए आया किन्तु इस बार भी हरा दिया गया। हेमू ने इस बार [illegible] बयाना के किले में उस समय तक घेरे रखा जब तक कि उसके स्वामी आदिलश[illegible]। बंगाल के मुहम्मदशाह द्वारा आक्रमण की सम्भावना के कारण उसे अपने पास न बुला लिया। बंगाल के शासक ने जौनपुर तक का प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया था अ[illegible] तेजी से कालपी की ओर दिल्ली पर अधिकार करके सम्पूर्ण भारत का [illegible] ा के उद्देश्य से बढ़ रहा था। हेमू आदिलशाह से कालपी में आकर [illegible] र उसने बंगाल के शासक को कालपी से २० मील की दूरी पर स्थित [illegible] नक स्थान पर हरा दिया। मुहम्मदशाह (बंगाल का शासक) भाग खड़ा हुआ और आदिलशाह ने बंगाल पर अधिकार करके शहबाजखाँ को वहाँ का गवर्नर नियुक्त कर

दिया। यहाँ से वह चुनार चला आया और इसी स्थान को अपना निवास-स्थान बना लिया।

उत्तरी भारत की दशा इस समय अत्यन्त शोचनीय थी। लड़ाइयों का क्रम निरन्तर चलते रहने के कारण देश के विभिन्न स्थानों में बहुत-से शौर्यवीर पैदा हो गये थे। इन लोगों द्वारा किये गये अत्याचारो और लूटमार से कृषक-वर्ग ऐसी बुरी दशा में था कि पैदावार एकदम समाप्त-सी हो गयी थी। फलतः इस अन्न-संकट से दुर्भिक्ष भी पैदा हो गया। दिल्ली और आगरा के आसपास तो इस दुर्भिक्ष ने बड़ा भयंकर रूप धारण किया। संघर्षरत लोगों के ऊपर प्रकृति का प्रकोप भी कम नही था। उन दिनों वर्षा बहुत ही कम हुई थी। अन्न का मिलना मुश्किल हो गया। ज्वार रुपये सेर तक बिक जाती थी और कभी-कभी तो इसका मिलना भी कठिन हो जाता था। लोग जगली घास और पेड़-पौधो की जड़ें तक खाने के लिए बाध्य हो गये थे। इन्ही दिनों एक भयंकर बीमारी भी फैल गयी जिससे लोग घोर संकट मे पड़ गये। देश की आबादी घटने लगी। दुर्भाग्यवश आगरा के पुराने किले में एक दिन भयंकर विस्फोट भी हो गया, जिससे शहर की नींव तक हिल गयी और बहुत-से लोग मर गये। हुमायूँ द्वारा दिल्ली के पैतृक सिंहासन पर पुनः अधिकार करते समय भारतवर्ष की ऐसी दुर्दशा थी।

BOOKS FOR FURTHER READING

Persian Language

1. Sarwani, Abbas : *Tarikh-i-Shershahi alias Tuhfa-i-Akbarshahi.*
2. Niamat-ullah : *Ta... i-Afghani.*
3. Abdullah : *Tarikh-i-Daudi.*
4. Mushtaqi, Riq-ullah : *Waqayat-i-Mushtaqi.*
5. Yadgar, Ahmad : *Tarikh-i-Salntin-Afghana.*
6. *Memoirs of Babur* (Translated into English by Mrs. Beveridge).
7. Dughlat, Mirza Haider : *Tarikh-i-Rashidi* (Translated into English by E. D. Ross and N. Elias).
8. Gulbadan Begum : *Humayun-nama* (Translated into English by Mrs. Beveridge).
9. Jauhar : *Tazkirat-ul-Waqayat* (Translated into English by C. Stewart).
10. Ahmad Nizam-ud-din : *Tabqat-i-Akbari* (Translated into English by B. De.).
11. Badayuni, Abdul Qadir : *Muntakhab-ut-Tawarikh* (Translated into English by Ranking).

12. Abul Fazal : *Akbarnama* (Translated into English by H. Beveridge).
13. Abul Fazal : *Ain-i-Akbari* (Translated into English by Blackmann and Jarrett).
14. Farishta, Hindu Beg : *Tarikh-i-Farishta* (Translated into English by Briggs).

Modern Works :

1. Erskine, W. : *History of India under Babur and Humayun*, Vols. I and II (1854).
2. Qanungo, K. R. : *Sher Shah* (1920).
3. Saran, P. : *The Date and Place of Sher Shah' s Birth* (*vide* Journal of Bihar and Orissa R. Society, 1934).
4. Banerji, S. K. *Humayun Padshah*, Vols. I and II.
5. Saran, P. : *The Provincial Administration of the Mughals.*
6. Roy, N. B.,: *The Successors of Sher Shah.*
7. Srivastava, A. L. : *Sher Shah and His Successors.*

अध्याय ५

अकबर महान् (१५४२-१६०५ ई०)

जन्म और बाल्यकाल

अकबर का जन्म अमरकोट (सिन्ध के थार और पारकर जिले मे) के राना वीरसाल के महल मे १५ अक्तूबर,[१] १५४२ ई० को हुआ था। उसके माता-पिता हुमायूं और हमीदाबानू बेगम ने यहाँ के राजपूत राजा के यहाँ आकर शरण ली थी। राजा ने भी उदारतापूर्वक हुमायूं को सामान-सज्जा द्वारा सहायता देकर थट्टा और भक्खर पर चढ़ाई करने में मदद की। अक्तूबर १५४२ ई० के दूसरे सप्ताह मे हुमायूं इस विजय-यात्रा पर चल पड़ा। जब वह रास्ते मे ही था तो तरदीबेगखाँ ने उसके पुत्र-जन्म का सुसंवाद उसे आकर सुनाया। उस समय हुमायूं बड़ी ही खस्ता हालत में था और अपने साथी-सहयोगियों को इस शुभ अवसर पर यथोचित पुरस्कार आदि बाँटने मे असमर्थ था; फिर भी उसने एक तश्तरी मँगायी और उसमें कस्तूरी के टुकड़े कर उन्हें अपने साथियों में बाँटते हुए कहा, "अपने पुत्र-जन्म के इस अवसर पर केवल यही भेंट इस समय मैं आप लोगो को दे सकता हूं। मैं आशा और कामना करता हूं कि जिस तरह इस खेमे में इस कस्तूरी की सुगन्ध फैल रही है, उसी तरह मेरे पुत्र का यश-सौरभ किसी दिन संसार भर मे फैलेगा।"

अकबर का बाल्यकाल बड़े ही संकटों में व्यतीत हुआ था। उसके पिता थट्टा और भक्खर की चढ़ाई में बहुत थोड़ी प्रगति कर पाये। उधर हुमायूं के आदमियों ने मूर्खतावश अपने उदार आश्रयदाता राना वीरसाल से झगड़ा पैदा कर लिया, जिससे हमीदाबानू और अकबर को अमरकोट से ७५ मील की दूरी पर स्थित जून नामक स्थान (जहाँ हुमायूं ठहरा हुआ था) पर ८ दिसम्बर को ले आया गया। छह महीने तक सिन्ध-विजय के निष्फल प्रयत्नों के बाद हुमायूं ने फारस जाने और वहाँ के शाह से सहायता माँगने का निश्चय किया। जब वह अपनी पार्टी के साथ क्वेटा के दक्षिण में स्थित मुस्तान (मस्तंग) नामक स्थान पर पहुँचा तो खबर मिली कि असकरी आक्रमण करने के लिए आ रहा है। उससे सामना करने मे असमर्थ होने के कारण हुमायूं ने अपनी बेगम हमीदाबानू को घोड़े पर बैठाया और एक साल के शिशु अकबर

---

[१] बी० ए० स्मिथ ने २३ नवम्बर लिखा है, जो गलत है। देखिए आगरा कालेज की हिस्ट्री एण्ड पोलिटिकल साइन्स जनरल, जिल्द २ (१९५५)। इसमे मैंने अपने लेख में स्मिथ की दी हुई तारीख को स्वीकार न करने के कारण दिये हैं।

को वही छोड कन्धार की ओर भाग गया। असकरी ने आकर अकबर को अपने साथ ले लिया और उसे कन्धार ले गया। यहाँ इस बच्चे की देखभाल दूसरी पत्नी ने बडी अच्छी तरह की। बहुत दिनों तक इधर-उधर चक्कर काटने के उपरान्त हुमायूँ फारस पहुँचा और शाह से मदद लेकर उसने कन्धार पर चढाई कर दी और सितम्बर १५४५ ई० मे अपने भाई असकरी से उसे जीत लिया। १५ नवम्बर को उसने कामरान से काबुल को भी जीत लिया और अपने बेटे अकबर को, जो १५४४-४५ ई० के जाडों मे यहाँ से ले आया गया था, अपने पास बुला लिया। अकबर उस समय लगभग तीन वर्ष का था। अबुल फजल के लेखानुसार इतने दिनो बाद भी अपनी माँ को देखते ही वह उसकी गोद मे चला गया। मार्च १५४६ ई० मे उसके खतने के अवसर पर वह पहली बार जनता के सम्मुख उपस्थित किया गया। स्मिथ लिखता है कि उसका जन्म का नाम बदरुद्दीन था किन्तु इस अवसर पर उसका नाम बदलकर जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर रखा गया। यह कहना सर्वथा निराधार है।

जैसा राजकुमारों के साथ आमतौर पर होता है, अकबर की भी बहुत-सी धाएँ और आयाएँ थी। उनमें से कुछ उसे स्तन-पान कराती थी और कुछ उसकी टहल करती थी। इन आयाओ मे सर्वप्रमुख जीजी अनगा थी जिसके पति शम्सुद्दीन ने १५४० ई० मे कन्नौज की लड़ाई मे पराजित होकर भागते हुए हुमायूँ को डूबने से बचाया था और जिसे बाद में अतगा (अतखा) खाँ की उपाधि प्रदान की गयी थी। माहम अनगा बड़ी आया थी और उसका लडका आदमखाँ बहुत बदनाम था।

अपने भाइयों के बैर-भाव के कारण हुमायूँ को अनेक कष्ट उठाने पड़े थे और काबुल तो एक-दो बार नही, कई बार उसके हाथ से निकल गया और फिर उसके पास आ गया। एक बार जब वह कन्धार पर आक्रमण कर रहा था तो कामरान ने बालक अकबर को किले की दीवार के सामने लटकाकर हुमायूँ की अग्नि-वर्षा करती हुई तोपो के सम्मुख कर दिया था। अपने पिता के संकटकाल मे अकबर को भी भाग्य के सहारे जीवित रहना पड़ा था।

नवम्बर १५४७ ई० मे जब अकबर पाँच वर्ष का था तो उसे पढ़ाने-लिखाने की व्यवस्था की गयी थी। एक को बदलकर दूसरा, इस प्रकार कई शिक्षक नियुक्त किये गये किन्तु वे सब उसे पढ़ाने मे असमर्थ रहे क्योकि वह तो पढ़ने-लिखने की अपेक्षा खेल-कूद और ऊँट, घोडे, कुत्ते और कबूतर इत्यादि जानवरों के प्रेम में अधिक लिप्त रहता था। बचपन से ही उसकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त तीव्र थी, किन्तु वर्णमाला के अक्षर सीखने के लिए वह तैयार नही था। लेकिन फिर भी घुड़सवारी, तलवार चलाने आदि अनेक शौर्यपूर्ण कलाओं मे वह पूर्ण कुशल हो गया। हुमायूँ ने जो स्वयं एक अच्छा विद्वान था, अकबर को कुछ समय पढ़ाई-लिखाई में लगाने के लिए ताड़ना भी दी, किन्तु पिता के इस प्रकार कहने-सुनने का उस पर कोई असर नहीं हुआ।

नवम्बर १५५१ ई० में हिन्दाल की मृत्यु हो जाने पर गजनी की सूबेदारी अकबर को सौंप दी गयी और हिन्दाल की लड़की के साथ ही उसकी सगाई भी कर

मर रहे थे। "राजधानी तो बिलकुल बरबाद हो चुकी थी; थोड़े-से मकानों के सिवाय अब वहाँ कुछ भी न रहा था। इसके साथ ही महामारी प्लेग का आक्रमण हुआ और इसका असर हिन्दुस्तान के बहुत-से शहरो मे फैल गया। असंख्य आदमी मर गये और आदमी आदमी का भक्षण करने लगा। इक्के-दुक्के आदमी को अकेला पाकर पकड़ लेने के लिए नरभक्षियो के दल सगठित हो गये।"

अकबर की संकटपूर्ण दशा

तीन सूर विरोधियो के अतिरिक्त अकबर का सबसे बड़ा शत्रु मुहम्मद आदिलशाह का हिन्दू प्रधानमन्त्री हेमू था। यह मुगलो को भारत से निकाल बाहर करने पर तुला हुआ था। अकबर को अपने ही कुछ सरदारों के असन्तोष और विद्रोह को भी शान्त करना था। इन सरदारों में सबसे प्रमुख अब्बुलमाली था। हुमायूँ द्वारा इसका विशेष ध्यान रखने के कारण इस सनकी-से आदमी का दिमाग आसमान पर चढ गया था। १४ फरवरी के दिन जो राज्यारोहण दरबार हुआ था, उसमे इसने सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया था और इस अशिष्टता से पेश आया था कि बैरामखाँ ने इसे पकडवाकर लाहौर के किले में कैद करवा दिया। नये शासक की अनिश्चित और संकटपूर्ण स्थिति होने के कारण फौज की वफादारी भी असदिग्ध नही थी। यद्यपि अकबर की अवस्था तेरह वर्ष से कुछ ही अधिक होगी, तथापि वह एक बड़ा ही समझदार और असाधारण प्रतिभासम्पन्न बालक था। उसने साहस के साथ सम्पूर्ण स्थिति का सामना करने का निश्चय किया और इस कार्य में उसके संरक्षक बैरामखाँ ने उसकी पूरी-पूरी मदद की।

हेमू की सफलता

आदिलशाह ने, जिसने चुनार को अपनी राजधानी बनाया था, हेमू को मुगलों को हिन्दुस्तान से निकाल बाहर करने के लिए भेज दिया। हेमू रेवाड़ी का निवासी धूसर वैश्य कुलोत्पन्न व्यक्ति था। अपने आरम्भिक दिनों में वह अपने नगर की सड़कों पर नमक बेचा करता था। राज्य की सेवा में वह सर्वप्रथम, बाजार में तोल करने वाले के रूप में नियुक्त किया गया था। किन्तु इसकी अनुपम योग्यता और चतुराई के कारण इस्लामशाह ने इसे तरक्की देकर अपने दरबार में एक गुप्त पद पर नियुक्त कर दिया था। आदिलशाह के राजा बनते ही हेमू को एक और महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। इस प्रकार, उसे अब अपनी सैनिक तथा सामान्य शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी असाधारण योग्यता को प्रकट करने का अवसर प्राप्त हो गया। यद्यपि वह एक छोटी-सी हैसियत से उठा था और शरीर भी उसका दुर्बल था, तथापि उसके अन्दर एक सैनिक के समान साहस और धैर्य था। सैन्य-संचालन की योग्यता भी उसकी यथेष्ट थी। अपने गुणों और स्वामिभक्ति के कारण ही उसे प्रधानमन्त्री का सम्मानित पद प्राप्त हुआ था। मुसलमानी युग में हेमू के अतिरिक्त केवल एक और हिन्दू अर्थात टोडरमल ही राज्य के मुख्यमन्त्री के पद पर पहुँचा और हेमू के अतिरिक्त दूसरा कोई हिन्दू दिल्ली के राजसिंहासन पर नहीं बैठ सका था। हिन्दुओं के अतिरिक्त अफगान

और तुर्कों द्वारा निर्मित एक विशाल सेना का वह सचालक था। अपने सैनिको का विश्वास उसे प्राप्त था; वे उसकी प्रशंसा करते थे। मालिक के लिए उसने २४ लडाइयाँ लड़ी थी और इन २४ मे से २२ लड़ाइयो मे विजय प्राप्त की थी। उसने आदिलशाहा के प्रतिद्वन्द्वी इब्राहीम सूर को कई बार हराया और बंगाल के मुहम्मदशाह को भी पराजित किया। जबकि वह आगरा पर आक्रमण करने के लिए बढ रहा था तो उन्ही दिनो हुमायूँ की मृत्यु हो गयी। इससे लाभ उठाने के लिए वह ग्वालियर से आगर की ओर बढ़ा। यहाँ का गवर्नर इस्कन्दरखाँ उजबेग डर गया और हेमू से सामना किये बिना ही दिल्ली की ओर भाग गया। इस भगदड़ मे उसके ३,००० आदमी मारे गये। हेमू ने आगरा पर अधिकार कर लिया और यहाँ की सारी सम्पत्ति उसके कब्जे मे आ गयी। यहाँ से वह दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली के गवर्नर तरदीबेगखाँ ने ७ अक्तूबर, १५५६ ई० को तुगलकाबाद मे हेमू का सामना किया। यह स्थान कुतुबमीनार से पूरब मे ५ मील दूर है। इस युद्ध मे तरदीबेगखाँ पराजित हुआ और इस्कन्दरखाँ के साथ सरहिन्द की ओर भाग गया। सम्भल का शासक अलीकुलीखाँ भी अपना पद छोड़कर भगोड़ों के साथ हो लिया।

इस प्रकार ग्वालियर से सतलज नदी तक का सम्पूर्ण क्षेत्र हेमू के अधिकार में आ गया। अब उसने स्वयं को एक स्वतन्त्र शासक बनाने तथा महाराज बनने के लिए विक्रमादित्य के नाम से दिल्ली के किले मे अपना राज्यारोहण-संस्कार मनाया। इस प्रकार मध्यकालीन भारत में वही प्रथम और एकमात्र हिन्दू राजा हुआ, जिसने इस प्रकार दिल्ली के राजसिंहासन पर अपना अधिकार जमाया। आधुनिक यूरोपीय इतिहासकारों ने मध्यकालीन इतिहास-लेखकों की भाँति हेमू की विडम्बना की है। ऐसे लेखकों के लिए उन हिन्दू राजनीतिज्ञों की विडम्बना करना तो स्वाभाविक ही है जिन्होंने अपने देश को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न किया हो। किन्तु इतिहास का कोई भी निष्पक्ष विद्यार्थी हेमू की सफल नेतृत्व-शक्ति की सराहना किये बिना नहीं रह सकता कि उसने देश से विदेशी शासन-सत्ता को समाप्त करने की किस तत्परता से चेष्टा की, यद्यपि दुर्भाग्य से उसकी यह सफलता अस्थायी सिद्ध हुई। यदि हुमायूँ तथा शेरशाह सूर के उत्तराधिकारी जैसे विदेशी भारत की शासन-सत्ता पर अपना अधिकार जमा सकते हैं, तो हेमू को भी जो यहीं का रहने वाला था, अपने पुरखों के स्थान पर अपना राज्याधिकार स्थापित करने का अधिक नहीं तो उन्ही (विदेशियों) के समान न्यायोचित अधिकार तो था ही। यदि हेमू को विदेशियों को भारतवर्ष से निकाल बाहर करने में सफलता प्राप्त हो जाती तो इतिहासकारों ने उसके सम्बन्ध में दूसरी ही राय कायम की होती। यह तथ्य कि अकबर अन्त में एक 'राष्ट्रीय शासक' सिद्ध हुआ इस दलील का आधार नहीं होना चाहिए कि इसी से १५५६ ई० में दिल्ली के सिंहासन पर उसका न्यायोचित अधिकार था। अदली ने अपने भतीजे को गला घोंटकर मार डाला था और उसके सिंहासन पर अपना अधिकार जमाया था। ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध यह कहना कि हेमू ने उसके साथ विश्वासघात किया था, बे-बुनियाद है। हेमू ने तो उसकी (अदली) सत्ता मानने

से ही इनकार किया था, जबकि विदेशी शासन को समाप्त करने के लिए तो क्रान्ति—यहाँ तक कि सशस्त्र क्रान्ति—करने का भी न्यायोचित अधिकार माना गया है। ३५० वर्षों के विदेशी शासन को देश से उखाड़ फेंकने और दिल्ली मे स्वदेशी शासन को पुनः स्थापित करने के हेमू के साहसपूर्ण प्रयत्न की जितनी भी प्रशसा की जाय थोड़ी है।

पानीपत की लड़ाई (५ नवम्बर, १५५६ ई०)

दिल्ली और आगरा के पतन के समाचार से मुगल सहम गये। उन्होने अपने बादशाह को सलाह दी कि काबुल को चल दिया जाय, क्योकि इनकी (मुगलो की) संख्या २०,००० से अधिक नही थी, जबकि दूसरी ओर हेमू की सेना मे एक लाख सैनिक थे जो इस समय उत्साह से चूर थे। किन्तु बैरामखाँ ने दिल्ली को पुनः प्राप्त करने का निश्चय किया और अकबर ने हृदय से अपने संरक्षक के निश्चय से सहमति प्रकट की। खिज्र ख्वाजा को लाहौर में ही सिकन्दर सूर से भुगतने के लिए छोड़कर अकबर १३ अक्तूबर को हेमू से मोर्चा लेने के लिए जालन्धर से चल पड़ा। सरहिन्द और आगरा, दिल्ली और सम्भल के तीनो भगोड़े गवर्नर, अकबर से आ मिले और उन्होंने भी उसे काबुल लौट चलने की सलाह दी। बैरामखाँ ने इन लोगो को चुप करने की इच्छा से अकबर की अनुमति से तरदीबेगखाँ को तलवार के घाट उतार दिया। यद्यपि तत्कालीन इहिासकारों ने बैरामखाँ के इस कृत्य को तरदीबेगखाँ के प्रति किसी व्यक्तिगत वैमनस्य का आधार बताकर अनुचित और बुरा बताया है, तथापि यह मानना पड़ेगा कि सेना मे से निराशा और नाउम्मीदी की भावना निकालकर उसमे पुनः विश्वास और साहस का संचार करने के लिए यह काम आवश्यक था और इसका परिणाम भी अच्छा निकला। मुगल सेना दिल्ली की ओर बढती गयी।

इस समय तक हेमू ने अपनी स्थिति दृढ कर ली थी और अपने अफगान सैनिक अफसरों में दिल्ली और आगरा से प्राप्त सम्पत्ति बाँटकर उन्हे अपने काबू मे कर लिया था। अब वह मुगल सेना को आगे बढने से रोक देने के प्रयत्न में लग गया। उसने गोला-बारूद के साथ अपनी सेना का अग्रगामी दल अकबर की सेना से, जो अलीकुलीखाँ के नेतृत्व में आगे बढ रही थी, भिड़ने के लिए भेजा। सौभाग्य से अलीकुलीखाँ ने इस अग्रगामी दल को हरा दिया और इनका गोला-बारूद छीन लिया। एक-दो सप्ताह के अन्दर ही दोनों ओर की सेनाएँ ५ नवम्बर, १५५६ ई० के दिन पानीपत की ऐतिहासिक रणभूमि पर आमने-सामने आ गयीं। अलीकुलीखाँ ने सेना के मध्य भाग का संचालन अपने हाथो मे लिया और सिकन्दरखाँ उजबेग को सेना का दायाँ तथा अब्दुल्लाखाँ उजबेग को बायाँ भाग सौंपा गया। अकबर तथा बैरामखाँ मुख्य सेना के साथ पाँच मील पीछे थे। हेमू की सेना में ३०,००० राजपूत और अफगान घुड़सवार तथा १,५०० हाथी थे। हाथी जिरहबख्तर पहने हुए थे और उनकी पीठ पर बन्दूकची बैठे हुए थे। किन्तु हेमू के पास कोई तोपखाना नही था। हेमू ने अपनी सेना के मध्य में स्थान ग्रहण किया और दायें अंग की सेना शादीखाँ कक्कड़ की अधीनता मे तथा बायाँ अंग अपने भानजे रमैया की अधीनता में रखा। हेमू मुगल सेना के मध्य भाग

को पूरे तौर से नहीं तोड़ सका और मुगल सेना के हारे हुए दायें और बायें अगों के सिपाही हेमू की सेना के दाये और बायें अगों के पीछे जाकर गोलाबारी और तीर-वर्षा करने लगे। हेमू की सेना के मध्य भाग के सामने एक बड़ा गहरा खार था जिसके कारण उसकी सेना आगे न बढ सकी। अलीकुलीखाँ ने इस प्राकृतिक स्थिति का लाभ उठाया और हेमू की सेना के पीछे जाकर उस पर आक्रमण कर दिया। किन्तु हेमू शत्रु पर प्रहार करता रहा। गोला-बारूद न होने पर भी हेमू ने पहली मुठभेड में बड़ी वीरता के साथ शत्रु सेना के बायें और दाये पक्ष को तहस-तहस कर दिया। अब वह मध्य भाग की ओर उन्मुख हुआ और अपने १,५०० लड़ाकू हाथियों द्वारा आक्रमण बोल दिया। मुगल सेना बड़ी वीरता से लडी, किन्तु फिर भी उसकी हिम्मत टूटने लगी और हेमू की विजय निश्चित दिखायी देने लगी। इसी बीच में शत्रु का एक तीर हेमू की आँख मे आकर लगा और वह बेहोश हो गया। उसकी सेना उसे मरा हुआ जानकर भयभीत हो गयी और छिन्न-भिन्न होकर चारो ओर भागने लगी। हेमू के हाथी का महावत अपने मालिक को किसी सुरक्षित स्थान में ले जाने का प्रयत्न कर रहा था कि मुगल सेना के एक अधिकारी शाहकुली महरम ने उसे पकड़ लिया और हेमू को पकड़कर अकबर के पास ले आया। बैरामखाँ ने अकबर को सलाह दी कि इस काफिर को अपने ही हाथों कत्ल कर 'गाजी' की उपाधि कारण कीजिए। अबुल फजल ने लिखा है कि बालक बादशाह ने इस तर्क पर कि मरते हुए को मारना वह पसन्द नहीं करता, इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। मुहम्मद आरिफ कन्धारी और अहमद यादयार ने लिखा है कि उसने (अकबर ने) बैरामखाँ की बात मान ली और हेमू की गर्दन पर तलवार का वार किया और बैरामखाँ ने उसकी गर्दन धड़ से अलग कर दी। यही बात सत्य प्रतीत होती है।

पानीपत की दूसरी लड़ाई के परिणाम बड़े ही महत्त्वपूर्ण रहे। मुगलों की जीत पक्की हो गयी। हेमू के पतन के पश्चात उसकी सेना छिन्न-भिन्न हो गयी और उसकी पत्नी तथा पिता दिल्ली से मेवात भाग गये। इस लड़ाई के राजनीतिक परिणाम और भी अधिक व्यापक सिद्ध हुए। हिन्दुस्तान की राजसत्ता पर अफगानों का अधिकार जताना सदैव के लिए समाप्त हो गया। विजेताओ ने ६ नवम्बर को दिल्ली मे प्रवेश किया। दिल्ली के राजकोष का बहुत-सा भाग हेमू की पत्नी अपने साथ लेकर भाग गयी थी। आगरा पर भी मुगलों का बड़ी जल्दी अधिकार हो गया। हेमू के वृद्ध पिता को पकड़कर मुसलमान बनने को बाध्य किया गया और उसके ऐसा न करने पर उसे कत्ल कर दिया गया। सिकन्दर सूर को दबाने के लिए भी शीघ्र व्यवस्था की गयी और उसे मई १५५७ ई० मे आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया गया। उसे बिहार मे कोई पद देकर भेज दिया गया किन्तु कुछ समय पश्चात अकबर ने उसे निकाल बाहर किया। इधर-उधर भटकते हुए बंगाल में वह मर गया (१५५८-१५५९ ई०)। दिल्ली सिंहासन का एक दूसरा सूर-प्रतिद्वन्द्वी मुहम्मद आदिल बंगाल के गवर्नर से मुंगेर नामक स्थान पर लड़ते हुए मारा गया और तीसरे सूर-प्रतिद्वन्द्वी

इब्राहीम ने उडीसा मे जाकर आश्रय ग्रहण किया। इस प्रकार पानीपत की विजय के पश्चात दो वर्ष के अन्दर ही सूर-वश के प्रतिद्वन्द्वियो मे से ऐसा एक व्यक्ति शेष न रहा जो हिन्दुस्तान की शासन-सत्ता पर अकबर के अधिकारों को चुनौती देता।

बैरामखाँ का संरक्षण

संरक्षक के रूप मे बैरामखाँ की सबसे बडी सफलता हेमू को पराजित करना और अकबर के प्रतिद्वन्द्वियो को नष्ट करना थी। अब जिस प्रमुख समस्या को उसे हल करना था, वह थी पानीपत की लड़ाई के पश्चात अकबर के अधिकार मे आये हुए प्रदेशों मे शासन-व्यवस्था स्थापित करना। समय की आवश्यकता के अनुसार शान्ति-व्यवस्था के स्थापनार्थ तथा मालगुजारी वसूल करने के लिए एक साधारण और कामचलाऊ सरकार स्थापित कर दी गयी। सिकन्दर सूर का अभी तक पीछा किया जा रहा था तथापि अकबर की माँ तथा परिवार की अन्य महिलाएँ काबुल से उसके पास मानकोट मे आ गयी थी। जालन्धर मे अकबर ने सार्वजनिक रूप से अपने संरक्षक बैरामखाँ के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए उसे अपनी (अकबर) बुआ की लड़की से विवाह करने की स्वीकृति दे दी। अक्तूबर १५५८ ई० मे आगरा लौट आने पर बैरामखाँ ने अकबर की शिक्षा का प्रबन्ध किया और मीर अब्दुल लतीफ को उसका शिक्षक नियुक्त किया। अब्दुल लतीफ एक उच्चकोटि का विद्वान था और अपने धार्मिक विश्वासो में इतना उदार था कि अपनी जन्मभूमि फारस मे उसे लोग सुन्नी कहते थे, जबकि उत्तरी भारत में यहाँ के अधिकतर सुन्नी मुसलमान उसे शिया समझते थे। इतना महान शिक्षक भी अकबर को पढ़ाने-लिखाने मे असमर्थ रहा। अकबर अपना समय शिकार खेलने, हाथियो की लड़ाई देखने तथा ऐसी ही कुछ अन्य बातो में व्यतीत करता रहा। शासन की बागडोर बैरामखाँ के हाथ में ही रही और यह कार्य वह सुचारु रूप से सम्पादित भी करता रहा।

नये अधिकृत क्षेत्रों मे शासन-व्यवस्था स्थापित करने के अतिरिक्त उसने ग्वालियर और जौनपुर पर चढ़ाई करने के लिए फौजें भेजी। राजाराम शाह को जो अपनी पैतृक राजधानी को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था, निकाल बाहर किया गया। ग्वालियर के किले पर १५५७ ई० मे अधिकार कर लिया। अलीकुलीखाँ ने, जिसे खानजमाँ की उपाधि मिली थी, सम्भल पर पुनः अधिकार कर लिया और लखनऊ-सम्भल के बीच के प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया। राजस्थान में अजमेर को भी जीत लिया गया। किन्तु रणथम्भौर और चुनार पर चढ़ाई करने के लिए भेजी गयी फौजों को सफलता नही मिली। अकबर और बैरामखाँ के सम्बन्धों में तनाव आ जाने के कारण मालवा-विजय करने के लिए भेजी गयी फौजों को वापस बुला लिया गया।

बैरामखाँ का पतन

बैरामखाँ का संरक्षण, जिसने मुगल शासन की पुनः स्थापना करने में सफलता प्राप्त की थी, केवल चार साल तक ही रहा। १५६० ई० के आरम्भ में ही बैरामखाँ

को उसके पद से हटा दिया गया और अकबर ने उसे मक्का की तीर्थयात्रा पर जाने को कहा, जिसका मतलब उन दिनो निर्वासन समझा जाता था। बैरामखाँ जैसे महान् व्यक्ति के पतन की घटनाओं द्वारा तत्कालीन इतिहासकारो के दिलो मे इस सम्बन्ध में दिलचस्पी उठनी स्वाभाविक थी। इन लोगो ने घटनाओ को विस्तार से लिखा है। बैरामखाँ यद्यपि एक बडा ही स्वामिभक्त और सफल शासक तथा सरक्षक था तथापि वह मुगल दरबारियों मे लोकप्रिय नही बन सका। वह शिया मतावलम्बी था जबकि बादशाह और उसके पारिवारिक-जन सुन्नी थे। दूसरे, यद्यपि वह साम्राज्य के प्रति निष्ठावान था तथापि उसके निर्णय बडे ही निरंकुश और उसका स्वभाव क्रोधी तथा ईर्ष्यालु था। उसे बालक बादशाह के निकट सम्भावित प्रतिद्वन्द्वियों की उपस्थिति सह्य न थी। तीसरे, अकबर जैसे-जैसे आयु प्राप्त करता गया और राजकाज में दिलचस्पी लेने लगा, यह स्वाभाविक था कि इससे संरक्षक का प्रभाव कम होने लगे। इससे बैरामखाँ थोड़ा-सा अधैर्यशाली हो गया और स्थिति को सँभालने मे उसने समझदारी से काम नहीं लिया। उसके शत्रु उसके दुर्गुणो को बढा-चढ़ाकर प्रकट करने तथा उसके अभिप्रायो को तोड-मरोडकर बादशाह के सामने रखने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। चौथे, अकबर अब वयस्क होता जा रहा था। संरक्षण के बन्धन तोड़कर स्वयं अपनी सत्ता जताने के लिए वह उत्सुक था। उसे अपने निजी खर्च के लिए रुपया नहीं मिलता था और उसके परिवार के लिए भी इतना अच्छा प्रबन्ध नही था, जितना अच्छा बैरामखाँ के परिवार तथा उसके अधीनस्थों का था। पाँचवें, बादशाह के निकट परिचारक तथा परिचारिकाएँ जैसे उसकी धाय-माँ माहम अनगा और उसका बेटा आधमखाँ तथा दामाद शिहाबुद्दीन अपने संरक्षक बादशाह के बढ़ते हुए साम्राज्य की समृद्धि मे अपना भी लाभ देखने तथा कुछ शक्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे और इस दिशा में बैरामखाँ को अपने मार्ग की रुकावट समझकर बादशाह अकबर और उसकी माँ के कान भरते रहते थे। इन कारणों से बैरामखाँ और अकबर के मध्य कुछ तनाव पैदा हुआ जो बाद में कुछ घटनाओं के कारण पारस्परिक सम्बन्धो के टूटने में परिवर्तित हो गया। बैरामखाँ द्वारा तरदीबेगखाँ को कत्ल किये जाने और शेख गदायी नाम के एक शिया को सदरे-सदर के प्रमुख पद पर नियुक्त किये जाने से मुगल दरबार के बहुत-से सरदारो ने जिनमे अधिकतर सुन्नी थे, अपनी धार्मिक भावनाओ की हत्या होते हुए समझा। एक दिन ऐसा हुआ कि अकबर जिस समय हाथियों की लड़ाई का मजा ले रहा था कि उनमे से एक हाथी बैरामखाँ के खेमे के रस्सों को तोड़ता हुआ चला गया। बैरामखाँ को यह बहुत बुरा लगा। उसने महावत को सजा दी, यद्यपि बादशाह ने उसे यह विश्वास दिलाया था कि किसी ने जानबूझकर यह हरकत नहीं की और न किसी तरह की बेहूदगी करने का इरादा ही था। एक दूसरे दिन जबकि वह जमुना में नौका-विहार कर रहा था, शाही हाथी ने बैरामखाँ की नाव को डुबाने का प्रयत्न किया। अकबर ने उस हाथी के महावत को बन्दी के रूप में संरक्षक के पास भेजा, जिसने उसे कठोर दण्ड दिया। बैरामखाँ ने अकबर के शिक्षक मुल्ला पीर मुहम्मद

को नौकरी से अलग कर दिया जो अकबर को बुरा लगा। ऐसे ही कुछ और छोटी-मोटी घटनाएँ हुई जिनसे बैरामखाँ और अकबर के बीच गहरी दरारे पड गयी। अकबर के हरम की बहुत-सी महिलाएँ बैरामखाँ के विरुद्ध उसके कान भरती रहती थी और चाहती थी कि बादशाह सरक्षक को पृथक कर दे। फलस्वरूप बैरामखाँ के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा गया। १५५६ ई० के आरम्भ मे एक दिन जबकि बैरामखाँ आगरा मे था और बादशाह नगर के पास मे ही शिकार खेलने गया हुआ था तो उसे (अकबर को) समाचार प्राप्त हुआ कि उसकी माँ बीमार है। बैरामखाँ के पास यह समाचार भेजकर अपनी माँ को देखने के लिए वह दिल्ली चल पडा। यहाँ माहम अनगा तथा हरम की अन्य महिलाएँ उसके चारो ओर एकत्र हो गयी और बैरामखाँ की बड़े कटु शब्दों में शिकायत करने लगी। उन्होने बैरामखाँ पर राजद्रोहात्मक आरोप लगाये। महिलाओ के इस दल को दिल्ली, लाहौर और काबुल के गवर्नरो का भी समर्थन प्राप्त था। उन्होने राजधानी की सुरक्षा के निमित्त किलेबन्दी को और अधिक दृढ करने के सुझाव भी बादशाह को दिये। जब उन षड्यन्त्रकारियो ने यह अनुभव किया कि बादशाह पर उनकी बातों का कुछ असर हुआ है तो हरम-दल की प्रमुख माहम अनगा ने एक चाल और चली। उसने बादशाह से मक्का जाने की इजाजत चाही, क्योंकि वह बैरामखाँ के क्रोध से भलीभाँति परिचित थी और उससे डरती थी। यह चाल बादशाह पर काम कर गयी और उसने बैरामखाँ को पृथक करने का निश्चय कर लिया। उसने अपने शिक्षक अब्दुल लतीफ के हाथो यह सवाद भेजा, "चूँकि अब तक आपकी ईमानदारी और वफादारी पर मुझे पूर्ण भरोसा था और इसीलिए मै राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण कार्य आपकी देखरेख मे छोडकर अपने आनन्द में मस्त था; किन्तु अब मैंने निश्चय किया है कि राज्य की बागडोर अपने हाथ मे ले लूं। यह वाछनीय है कि आप मक्का की यात्रा के लिए चले जायँ, जिसका कि आपका बहुत दिनो से इरादा था। हिन्दुस्तान के कुछ परगनों में से कुछ हिस्सा आपको दे दिया जायेगा, जिसका लगान आपको आपके एजेण्टों द्वारा मिलता रहेगा।"

अपने मित्रों की सलाह के बावजूद बैरामखाँ ने मुगल राजपरिवार के प्रति जीवनपर्यन्त की अपनी स्वामिभक्ति तथा सेवा पर धब्बा डालना उचित नहीं समझा और कुछ सोच-विचार के पश्चात बादशाह की आज्ञा का पालन करते हुए अपने पद की मुहर बादशाह के पास भेज दी और पंजाब की ओर रुकते-टिकते चल पड़ा; जहाँ से (सरहिन्द और लाहौर में) उसे अपना गुप्त खजाना लेना था। उधर उसके दरबारी विरोधियों ने मुल्ला पीर मुहम्मद की अध्यक्षता मे एक बड़ी फौज इसलिए रवाना कर दी कि वह बैरामखाँ को भारतवर्ष से शीघ्र ही निकाल बाहर कर दे। दरबारियों के इस कृत्य से बैरामखाँ उत्तेजित हो उठा और अपने परिवार को भटिण्डा के दुर्ग में छोड़कर स्वयं जालन्धर की ओर मुड़ पड़ा और निश्चय किया (यद्यपि पूरे मन से नहीं) कि इन लोगो का वह सशस्त्र सामना करेगा। व्यास नदी के किनारे तिलवाडा नामक स्थान पर उसे मुगल फौज ने हरा दिया और मुनीमखाँ, जिसे खानखाना की उपाधि

देकर सरक्षक बना दिया गया था, उसे लेकर बादशाह अकबर के सम्मुख उपस्थित हुआ। अकबर ने अपने पूर्व-सरक्षक को क्षमा कर दिया और उसके सामने तीन सुझाव रखे। प्रथम, यह कि वह कालपी और चन्देरी का गवर्नर बन जाय। दूसरा, यह कि वह राजदरबार मे बादशाह का गुप्त मामलों का सलाहकार बन जाय और तीसरा यह कि वह मक्का की तीर्थयात्रा पर चला जाय। बैरामखाँ, ने जो अपनी पूर्व-प्रतिष्ठा के पद से कोई भी नीचा पद स्वीकार करने के लिए तैयार न था, मक्का चले जाने का ही निश्चय किया। वह राजस्थान मे होकर पाटन (अन्हिलवाडा) की ओर चल पडा, जहाँ पर अफगानो के एक दल ने उस पर हमला बोल दिया और मुबारकखाँ नाम के एक व्यक्ति ने जिसके बाप को १५५५ ई० मे मच्छीवाडा की लडाई मे मार दिया गया था, उसे कत्ल कर दिया। उसके परिवार को बडी बुरी हालत मे अहमदाबाद लाया गया। अकबर ने इन लोगो को अपने दरबार मे बुलाया और उनका स्वागत किया। उसने बैरामखाँ की विधवा सलीमा बेगम से विवाह कर लिया और उसके बच्चे अब्दुर्रहीम का अपने सरक्षण मे पालन-पोषण किया। यही बालक आगे जाकर ऊँचे पद पर पहुँचा और १५८४ ई० मे अपने पिता के समान ही इसने खानखाना की उपाधि प्राप्त की। सत्ता के मद में चूर लोगों की भाँति बैरामखाँ ने अपने को अनिवार्यत: आवश्यक समझ रखा था, अतएव उसका पतन देर-अबेर निश्चित ही था। दरबारी-दल जो सरक्षक को हटाकर स्वय सत्ता हड़पना चाहता था, बैरामखाँ को इस बुरी तरह निकाल बाहर करने के लिए दोषी और उत्तरदायी है, क्योकि अकबर ने तो अपने सरक्षक को उदारतापूर्वक क्षमा किया और उसकी उन सेवाओं की सराहना की, जिनके कारण मुगल साम्राज्य की पुनर्स्थापना हुई थी।

प्रारम्भिक सुधार

युद्धबन्दियों को गुलाम बनाना बन्द (१५६२ ई०)

बीस वर्ष की अवस्था प्राप्त करने के पश्चात ही अकबर ने अपनी विशाल-हृदयता का परिचय देना आरम्भ किया। यह वह गुण था जिससे उससे पूर्व भारत के मुसलमान शासक वंचित थे और ऐसे गुणो के कारण उसकी गणना भारतवर्ष मे सर्वश्रेष्ठ मुसलमान शासक के रूप में की जाती है। १५६२ ई० के आरम्भ से ही उसने आज्ञा जारी करके युद्धबन्दियों को गुलाम बनाने की प्रथा पर रोक लगा दी। मध्यकाल में यह प्रथा थी कि जो सैनिक युद्ध मे पकड़े जाते थे, उन्हें गुलाम बनाकर रखा जाता था और उनको इस्लाम धर्म मे बलात दीक्षित किया जाता था। बादशाह की इस आज्ञा के द्वारा न केवल यह अमानवीय प्रथा ही दूर हुई, साथ ही इतने बड़े पैमाने पर होने वाले धर्म-परिवर्तन से भी हिन्दू धर्म की रक्षा हुई।

आधमखाँ की मृत्यु और अकबर का हरम के दल से छुटकारा (१६ मई १५६२ ई०)

अपनी धाय-माँ से छुटकारा पाने की इच्छा से अकबर ने मुनीमखाँ की जगह अपनी धाय के पति शम्सुद्दीन अतगाखाँ को नवम्बर १५६१ ई० में अपना प्रधानमन्त्री नियुक्त किया था। यह नियुक्ति माहम अनगा, आधमखाँ, मुनीमखाँ, शिहाबुद्दीन

अहमदखाँ तथा हरम-दल के कतिपय अन्य प्रभावशाली सदस्यों को बहुत बुरी लगी। आधमखाँ, जो अपने अधिकार और प्रभाव को कायम रखने के लिए चिन्तित था, १६ मई, १५६२ ई० को अपने कुछ साथियो के साथ महल मे जा पहुँचा और सरकारी काम करते हुए अतगाखाँ की उसने हत्या कर दी। इसके बाद वह महल के शाही भाग की ओर बढा जहाँ अकबर सो रहा था। उधर जाने का उसका उद्देश्य बादशाह से माफी माँगकर सुलह करना ही था; किन्तु एक ख्वाजा ने कमरे के दरवाजे बन्द कर उसका रास्ता रोक दिया। शोर-गुल से अकबर जाग गया और हरम के बाहर निकल आया। उसने आधमखाँ से मन्त्री की हत्या किये जाने का कारण जानना चाहा। उत्तर मे आधमखाँ ने व्यर्थ के बहाने ही नही बनाये, बल्कि जब बादशाह ने उसे अस्त्र-शस्त्र-विहीन करना चाहा, तो उसने उसका हाथ पकड़ने तथा उसकी तलवार छीनने का दुस्साहस भी किया। उसकी इस उद्दण्डता और उद्धतता पर बुरी तरह क्रोधित होकर अकबर ने एक घूँसा उसके मुँह पर दे मारा जिससे वह बेहोश हो गया। बादशाह की आज्ञा से आधमखाँ के हाथ-पैर बाँध दिये गये और महल की मुडेरो से दो बार उसे नीचे फेंका गया जिससे तुरन्त ही वह मर गया। आधमखाँ के साथी-संगी, मुनीमखाँ, शिहाबुद्दीन तथा अन्य लोग सजा के डर से भाग गये। अकबर ने सारी घटना माहम अनगा को, जो बीमार पड़ी थी, सुनायी। सुनकर उसने कहा, "शाहंशाह, आपने ठीक ही किया है।" अपने बेटे की मौत के चालीस दिन बाद वह मर गयी। अकबर ने इस प्रकार हरम-दल के दुष्प्रभावों से अपने आपको स्वतन्त्र कर लिया। दिल्ली में आधमखाँ की कब्र पर उसने एक सुन्दर मकबरा बनवा दिया तथा मुनीमखाँ को क्षमा ही प्रदान नहीं की बल्कि उसे पुनः अपना प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया।

तीर्थ-यात्री कर का उन्मूलन (१५६३ ई०)

अकबर जब बीस वर्ष का हुआ तो उसे अपने अन्दर एक अनुपम आध्यात्मिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा, जिसका अपनी प्रजा के प्रति उसके व्यवहार और कर्तव्य पालन में बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ा। अकबर ने कहा है, "बीस वर्ष की आयु पूरी करने पर मुझे अपने अन्दर कुछ कटुता का अनुभव होने लगा और किसी आध्यात्मिक समाधान के अभाव में मेरी आत्मा दुख-पीडा से तड़पने लगी।" इस समय तक नवयुवक बादशाह ने स्वय अपने आपको मालिक बनाने का निश्चय कर लिया था। किसी अन्य बात का ख्याल किये बिना ही अब उसने अपने परिवार और देश की भलाई की दृष्टि से स्वयं निश्चय की हुई नीति बरतना ही निश्चित किया। युद्ध-बन्दियों को गुलाम बनाने की प्रथा पर पाबन्दी लगाने की आज्ञा तो भविष्य में नवयुवक बादशाह के मस्तिष्क से धीरे-धीरे उद्भूत होने वाली उदार नीति की भूमिका-मात्र थी। इस उदार नीति का दूसरा दृष्टान्त १५६३ ई० में सामने आया जबकि साम्राज्य में सर्वत्र यात्री-कर उठा लिये जाने की आज्ञा जारी की गयी। उस वर्ष जब बादशाह मथुरा में ठहरा हुआ था तो उसको बताया गया कि उसकी सरकार उन यात्रियों पर

कर लगाती है जो हिन्दू तीर्थ-स्थानो की यात्रा पर जाते है। उसने अनुभव किया कि ईश्वरराधना के लिए जाने वाले लोगो से कर वसूल करना तो ईश्वर की इच्छा के बिलकुल विरुद्ध है, चाहे ईश्वरराधना की उनकी विधि गलत और भ्रमपूर्ण ही क्यो न हो।

जजिया-कर का बन्द करना (१५६४ ई०)

दूसरे वर्ष (१५६४ ई०) के आरम्भ मे ही अकबर ने अपने साम्राज्य मे से जजिया-कर, जो सभी गैर-मुसलमानो को अदा करना पडता था और जिसे लोग बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे, बन्द कर दिया। हिन्दुओ के ऊपर तो यह कर भारस्वरूप था और यह उन्हे अपने प्रति किये जा रहे ओछे बरताव की याद दिलाता रहता था। अकबर ने, जो अपनी प्रजा के विभिन्न सम्प्रदायो के साथ किसी भी तरह का भेदभाव बरतना नही चाहता था, अपने राजकोष की आय को हानि पहुँचाते हुए भी इस कर को बन्द कर दिया, लेकिन इस सुधार द्वारा सम्पूर्ण देश के एक विशाल बहुमत की सहानुभूति और शुभ कामना उसे प्राप्त हो गयी।

ख्वाजा मुअज्जम की मृत्यु (१५६४ ई०)

मार्च १५६४ ई० मे अकबर ने अपने मामा ख्वाजा मुअज्जम को सख्त सजा दी और अपने सम्बन्धियो के अनुचित प्रभाव से अपने को मुक्त कर लिया। मुअज्जम एक सनकी-सा आदमी था जिसने बहुत-सी हत्याएँ तथा अन्य भयंकर अपराध किये थे। वह अपनी पत्नी को मारना चाहता था। इस समाचार को पाकर अकबर आगरा से समीप ही देहात में ख्वाजा के मकान की ओर चल पड़ा। देर से वहाँ पहुँचने के कारण यद्यपि अकबर उस महिला की जान तो नही बचा सका, क्योकि ख्वाजा ने उसके पहुंचने से पहले ही उसकी हत्या कर दी थी, किन्तु फिर भी उसने इस धूर्त को उसके नौकर-चाकरों के साथ यमुना में डुबो देने की आज्ञा दी। लेकिन जब ऐसा करने पर भी वह नहीं डूब पाया तो उसे बन्दी बनाकर ग्वालियर भेज दिया गया, जहाँ वह कुछ समय बाद मर गया। इस घटना के बाद दरबार के किसी भी सदस्य ने स्वार्थवश किसी बुरे विचार से बादशाह को प्रभावित करने की चेष्टा नहीं की। जैसा कि इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है, "अकबर अपनी माता के प्रति अपेक्षित श्रद्धा तो बराबर प्रदर्शित करता रहा, किन्तु उसने अपने नीति-निर्णयों में उसके प्रभाव से अपने को सर्वथा मुक्त रखा। जिन सिद्धान्तों पर अकबर की नीति निर्भर थी वे अकबर की माता को पसन्द नहीं थे।"

साम्राज्यवादी नीति का आरम्भ : अकबर की विजय

बैरामखाँ को निकाल बाहर करने के पश्चात दो वर्ष (१५६०-१५६२ ई०) तक, जब तक कि अकबर स्वयं सत्ताधिपति नही बना, माहम अनगा एक प्रकार से साम्राज्य का मन्त्रित्व सँभालती रही। शासन-प्रबन्ध में बादशाह कोई दिलचस्पी नही लेता था और हरम-दल को ही उसने राजकाज सँभालने की खुली छूट दे रखी थी, लेकिन इस अल्पकाल मे भी उसने उत्तरी भारत को विजय करने तथा सही अर्थों में देश का शाहंशाह बनने की महत्त्वाकांक्षी योजना तैयार की थी। उसकी साम्राज्य-

वादी नीति, जो उसके राज्यकाल के उत्तरार्द्ध की विशेषता है, के बीज इसी काल मे बोये गये थे। अबुल फजल के अनुसार अकबर की विजय-नीति का उद्देश्य स्थानीय शासकों के निरकुश शासन से पीडित प्रजा को सुख-शान्ति एवं सुरक्षा प्रदान करना था। किन्तु अकबर की आरम्भिक विजयो पर विचार करते हुए यह बात ठीक नही कही जा सकती। अपने राज्यकाल के आरम्भिक दिनो मे तो उसकी विजय-लालसा के पीछे राज्य-विस्तार की भावना तथा धन-दौलत और सत्ता प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा ही थी और उसने पास-पड़ोस राज्यो को अपने राज्यान्तर्गत कर लेने का निश्चय किया था जिसे उसने छिपाया भी नही था। वह कहा करता था, "एक राजा को विजय के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए नहीं तो पड़ोसी शासक उसके विरुद्ध शस्त्र उठाने की चेष्टा करते है।" वह यह भी कहा करता था कि "फौज को सदैव युद्धों मे व्यस्त रखना चाहिए क्योकि युद्धाभ्यास के अभाव मे वे (सैनिक) प्रमादी और विलासी हो जाते हैं।" अकबर की यह नीति देश-प्रेम और मानववादी भावनाओ से तभी अनुप्राणित हो गयी थी जबकि वह उत्तर भारत के अधिकाश भाग का स्वामी बन गया। अपने शासनकाल के उत्तरार्द्ध में वह प्राचीन हिन्दू आदर्शो से प्रेरित होकर सम्पूर्ण देश को राजनीतिक दृष्टि से एकसूत्र मे बाँधने और प्रजाजन को सुख-शान्ति एव सुरक्षा प्रदान करने की ओर प्रयत्नशील हुआ था।

मालवा-विजय (१५६१ ई०)

बैरामखाँ के चले जाने के पश्चात पहली विजय मालवा प्रान्त की हुई। यहाँ का शासक बाजबहादुर था। इसका पिता शुजातखाँ शेरशाह तथा उसके पुत्र इस्लाम-शाह के राज्यकाल मे यहाँ का गवर्नर था। बाजबहादुर सगीत का अत्यन्त प्रेमी था और नाचने-गाने वालो की पार्टियाँ उसके यहाँ ठहरती रहती थी। इन्ही गाने वालियो में उसकी एक प्रेयसी रूपमती भी थी जो अपने सौन्दर्य तथा अपनी कवित्व-प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध थी। प्रान्त का शासन-प्रबन्ध उचित देखभाल न होने के कारण कमजोर पड़ गया था। माहम अनगा का बेटा आधमखाँ अपनी माँ के प्रभाव-प्रयत्न द्वारा ही मालवा की तत्कालीन राजधानी सारंगपुर पर चढाई करने के निमित्त सेना का नेतृत्व करने के लिए चुना गया था। जब तक शत्रु सारगपुर के बीस मील तक न आ पहुँचा तब तक बाजबहादुर सचेत ही नहीं हुआ। किन्तु जब जान पर ही आ बनी, तब वह 'प्रेम-संगीत' के स्वप्न त्यागकर जाग्रत हुआ और भ्रष्ट तथा असन्तुष्ट सैनिकों की एक फौज लेकर सारगपुर से तीन मील दूरी पर २९ मार्च, १५६१ ई० को शत्रु से जा भिड़ा। इस युद्ध में वह बुरी तरह पराजित होकर मैदान से भाग खड़ा हुआ। बाजबहादुर की सम्पूर्ण सम्पत्ति, यहाँ तक कि उसकी प्रेयसी रूपमती भी विजेताओ के अधिकार मे आ गयी। आधमखाँ रूपमती को अपने वश मे करना चाहता था, किन्तु उसने विष खाकर अपने सतीत्व की रक्षा की। मालवा प्रदेश की प्रजा पर आधमखाँ और पीर मुहम्मद ने खुलकर अत्याचार किये।

सारंगपुर की जीत के अधिकाश माल का, जिसमे धन-दौलत के अतिरिक्त

स्त्रियाँ और हाथी इत्यादि भी थे, आधमखाँ ने स्वयं पचाकर थोड़ा-सा हिस्सा अकबर के पास भेज दिया। इस धूर्तता तथा मालवा प्रदेश की जनता पर अत्याचार करने के संवाद से बादशाह बुरी तरह भड़क गया और २७ अप्रैल को आधमखाँ को सजा देने के लिए मालवा की ओर चल दिया और २३ मई को सारंगपुर जा पहुँचा। आधमखाँ बादशाह को वहाँ देखकर घबरा गया और अपनी गलतियो के लिए माफी माँगने लगा। इसी बीच आधमखाँ की माँ माहम अनगा भी वहाँ आ पहुँची और अपने बेटे के लिए बादशाह से क्षमा प्रदान करने के लिए प्रार्थना करने लगी। उसने बाज-बहादुर के हरम की दो महिलाओं का वध करवा दिया, जिससे वे बादशाह को आधमखाँ द्वारा अपने तथा दूसरों पर किये गये अत्याचारों की दुखभरी कहानी न कह सुनायें। कुछ दिनों बाद सारंगपुर का गवर्नर आधमखाँ को ही बनाकर अकबर आगरा लौट आया।

आगरा वापस लौटने की यह यात्रा बड़ी जल्दी और घोर गरम मौसम में बादशाह को करनी पड़ी थी। किन्तु सिकन्दर की भाँति ही अकबर में भी सहनशक्ति थी और गरमी-सर्दी के कष्टों की उसे परवाह नहीं रहती थी। खतरे के समय अपूर्व साहस का प्रदर्शन करना उसका विशेष गुण था। आगरा लौटते समय नरवर के समीप उसने तलवार के एक वार से ही एक शेरनी का शिकार किया था। जंगली हाथी तथा ऐसे ही अन्य हिंसक पशुओं को वश में करने में उसे आनन्द मिलता था।

जौनपुर में विद्रोह और चुनार पर अधिकार (१५६१ ई०)

जिस समय आधमखाँ मालवा की विजय करने में संलग्न था, उसी समय जौनपुर मे जो उस समय अकबर के राज्य का सुदूरपूर्वी भाग था, विद्रोह खड़ा हो गया। स्वर्गीय मुहम्मद आदिलशाह सूर के बेटे शेरखाँ ने २०,००० घुड़सवारों, ६०,००० पैदल सेना और ५०० हाथियों की एक फौज एकत्र कर जौनपुर पर आक्रमण कर दिया। इससे लोगो मे बड़ा आतंक फैल गया, किन्तु वहाँ के गवर्नर खानजमाँ (अलीकुलीखाँ) ने आक्रमणकारी का डटकर सामना किया और कुछ समय के अन्दर ही उसे शाही कुमुक भी प्राप्त हो गयी। यद्यपि शत्रु-सेना की संख्या अधिक थी फिर भी इसे बुरी तरह हरा कर भगा दिया गया। इस विजय के पश्चात खानजमाँ ने भी विद्रोह खड़ा करने की प्रवृत्ति दिखायी। आधमखाँ की भाँति वह भी शत्रु के बहुत-से हाथी तथा अन्य प्रकार की सामग्री स्वयं हजम कर गया और बहुत थोड़ा-सा भाग आगरा भेजा। अकबर ने इस गवर्नर को सजा देना उचित समझा और अपनी स्वाभाविक तत्परता से जुलाई के बुरे मौसम मे भी जौनपुर की ओर चल पड़ा। खानजमाँ और उसका भाई बहादुर भयभीत हो गये और कड़ा नामक स्थान पर बादशाह से आकर मिले और उसके सम्मुख सारे हाथियों को हाजिर करते हुए उससे क्षमायाचना करने लगे। बादशाह ने अपनी स्वाभाविक उदारता से खानजमाँ को क्षमा कर दिया और उसे पुनः जौनपुर का गवर्नर नियुक्त कर दिया। इसी समय बादशाह ने आसफखाँ को अफगानों से चुनारगढ़ छीन लेने के लिए भेज दिया। अगस्त १५६१ ई० में चुनार पर अधिकार कर लिया गया और वह स्थान पूरब में मुगल-साम्राज्य के रक्षक दुर्ग के रूप में बन गया।

जयपुर अधीनता में और उससे सन्धि (१५६२ ई०)

नवम्बर में शम्सुद्दीन अतगाखाँ को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया। वर्ष के अन्त मे आधमखाँ को जिसका शासन बहुत ही अत्याचारपूर्ण था, मालवा से बुला लिया गया और उसके स्थान पर पीर मुहम्मद को गवर्नर बनाकर भेज दिया गया। जनवरी १५६२ ई० मे अकबर ने पहली बार अजमेर मे शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के दरगाह की यात्रा की। रास्ते मे आमेर (जयपुर) के राजा भारमल से उसकी भेंट हुई। यह पहला राजपूत राजा था जिसने उसकी अधीनता स्वीकार की थी। मुगल सम्राट ने भारमल की बेटी से विवाह करना भी स्वीकार कर लिया। विवाह आगरा वापस आते समय साँभर नामक स्थान पर जनवरी माह के अन्त मे सम्पन्न हुआ। इसी राजपूत राजकुमारी ने जहाँगीर को जन्म दिया तथा अकबर और उसकी नीति को भी बहुत कुछ प्रभावित किया। यह विवाह पूर्वकालीन मुसलमान सुल्तानो द्वारा हिन्दू स्त्रियों के साथ किये गये शादी-सम्बन्धो की तरह नही था, बल्कि स्वेच्छा से हुआ था। इस विवाह द्वारा दिल्ली और जयपुर के राजघरानों मे पारस्परिक मैत्री-सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ हो गये। अकबर ने राजा भारमल के दत्तक पुत्र भगवानदास तथा उसके पोते मानसिंह को अपने यहाँ उच्च पदों पर नियुक्त किया और उन्हे अपने सम्बन्धियों की भाँति ही समझकर आदर किया।

मेरटा पर अधिकार (१५६२ ई०)

लगभग इस समय एक प्रमुख पदाधिकारी शरफुद्दीन को, जिसकी जागीर अजमेर के निकट थी, मेवाड़ में मेरटा के दुर्ग को जीत लेने के लिए भेजा गया। यह दुर्ग जयमल के अधिकार में था। यह जयमल वही था जिसने आगे चलकर चित्तौड़ की रक्षा की थी। यह मेवाड़ के राजा उदयसिंह का अधीनस्थ था। कुछ समय तक घेरा डालने के पश्चात ही मेरटा दुर्ग का समर्पण कर दिया गया और दुर्गरक्षकों को इस शर्त पर छोड़ देने का वचन दिया गया कि दुर्ग में एकत्र किया हुआ गोला-बारूद तथा अन्य सामान उन्हें सौप दिया जायेगा। देवदास के नेतृत्व मे कुछ राजपूतों ने शत्रु का सामना किया, सैन्य भण्डार में आग लगा दी और मुगलों पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उसकी इस वीरता के बावजूद वह हार गया और उसके २०० साथियों सहित उसे भी तलवार के घाट उतार दिया गया। मेरटा दुर्ग अब मुगलों के हाथ में आ गया।

मालवा का विद्रोह (१५६२ ई०)

मालवा के नये गवर्नर मुल्ला पीर मुहम्मद के अत्याचारों से मुगल शासन की प्रतिष्ठा को बड़ा बट्टा लगा। मुल्ला ने निस्सहाय प्रजाजनों पर बाल-वृद्ध, बड़े-छोटे, स्त्री-पुरुष का बिना विचार किये, घोर अत्याचार किये। बाजबहादुर जो १५६१ ई० मे मालवा से भागकर खानदेश जा पहुँचा था, प्रान्त के दक्षिणी जिलों पर छुटपुट हमले करता रहा था। अब उसने अपने आश्रयदाता मुबारक द्वितीय और बरार के तुफैलखाँ के साथ सन्धि करके मुल्ला के ऊपर आक्रमण कर दिया। पीर मुहम्मद आक्रमणकारी

से भिड़ने के लिए विवश हुआ किन्तु वह हार गया और पीछे खदेड दिया गया। नर्मदा नदी पार करते समय उसके घोड़े को एक ऊँट ने उलट दिया और वह नदी मे डूब गया। इस प्रकार बाजबहादुर को अपना राज्य पुनः प्राप्त हो गया। किन्तु उसकी यह सफलता स्थायी सिद्ध नही हुई। अकबर ने अब्दुल्लाखाँ उजबेग के नेतृत्व मे एक सेना भेजी, जिसने बाजबहादुर को वहाँ से निकाल बाहर किया और मालवा पर फिर से अधिकार कर लिया। सहायता प्राप्त करने के लिए राजाओ के द्वार खटकाने और दर-दर की ठोकरे खाने से तग आकर बाजबहादुर ने अकबर के राज्यकाल के पन्द्रहवे वर्ष मे उसकी अधीनता स्वीकार करने में ही अपनी भलाई समझी। फलतः मुगल दरबार मे उसे एकहजारी 'मनसबदार' बनाया गया और बाद मे द्वि-हजारी मनसबदारी के पद पर उसकी तरक्की कर दी गयी।

गोंडवाना की विजय (१५६४ ई०)

१५६४ ई० मे अकबर ने आसफखाँ को दस शताब्दी पुराने गढ कतंग गोंड राज्य को विजय करने के लिए भेजा। वह राज्य पूरब मे रतनपुर से पश्चिम मे रायसीन तक और उत्तर मे रीवा से दक्षिण मे दक्षिण की सरहद तक फैला हुआ था। वर्तमान मध्य प्रदेश के उत्तरी जिले इसके अन्दर शामिल थे। इस राज्य की शासक रानी दुर्गावती थी। वह महोबा की एक चन्देल राजकुमारी थी और अपने पुत्र वीर नारायण की सरक्षिका का कार्य-सम्पादन कर रही थी। यद्यपि वीर नारायण बालिग हो चुका था, फिर भी राज्य का शासन-प्रबन्ध उसने अभी अपनी माता को ही सँभालते रहने की प्रार्थना की थी। रानी दुर्गाबती अत्यन्त बहादुर और योग्य शासिका थी। उसके अधिकार मे २०,००० घोड़ो, १००० हाथियों तथा बहुत-से पैदल सिपाहियो की एक बड़ी सेना थी और इसी सेना के बल पर उसने बाजबहादुर तथा अफगानो से अपने राज्य की रक्षा की थी। अपनी विजय-नीति का अनुसरण करते हुए अकबर ने अकारण ही गोंडवाना पर आक्रमण करने की योजना बनायी थी। आसफखाँ के नेतृत्व मे आक्रमण हेतु जो फौज तैयार की गयी, उसमे ५० हजार सैनिक थे, किन्तु रानी दुर्गाबती ने इस बिशाल फौज के मुकाबले अपनी कम सेना से ही गढ़ के उत्तर मे नरही नामक स्थान पर दो दिन तक शत्रु का डटकर सामना किया। इसमे वीर नारायण घायल हो गया और अपनी माता के कहने से उसे युद्धक्षेत्र से भी हट जाना पड़ा, जिससे रानी की सीमित सैनिक शक्ति क्षीण हो गयी। कुछ समय बाद वीरतापूर्वक सामना करती हुई रानी के भी दो तीर आकर लगे, जिनसे वह घायल हो गयी। अपने आपको शत्रु द्वारा पकड़े जाने तथा अपमानित होने की आशंका से रानी ने छुरा भोंककर स्वय अपनी हत्या कर ली। विजेताओ का दल अब चुनारगढ़ की ओर बढ चला, जहाँ वीर नारायण ने इनका बहादुरी से सामना किया और अन्त में पराजित हुआ और मारा गया। उसके राजमहल की महिलाओ ने जौहर-ज्वाला मे जलकर अपने सतीत्व की रक्षा की। आसफखाँ के हाथों लूट का बहुत-सा सामान लगा, जिसमें सोना, चाँदी, हीरे-जवाहरात तथा १००० हाथी थे। उसने केवल २०० हाथी बादशाह के

पास भेजे और शेष सामान-सामग्री वह स्वयं पचा गया। इस समय अकबर इतना समर्थ नही था कि आसफखाँ की इस दुष्टता के लिए उसे दण्ड देता।

चित्तौड़ का घेरा (१५६७-६८ ई०)

सितम्बर १५६७ ई० मे अकबर ने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड को विजय करने का निश्चय कर लिया। मेवाड का राणा उदयसिंह मुगल सम्राट को एक 'म्लेच्छ विदेशी' समझता था और आमेर के राजपूत राजा भारमल को, जिन्होंने अकबर बादशाह की केवल अधीनता ही स्वीकार नही कर ली थी बल्कि उसके साथ वैवाहिक-सम्बन्ध भी स्थापित किये थे, बडो अनादर की दृष्टि से देखता था। इसके अतिरिक्त राणा ने मालवा के भूतपूर्व राजा बाजबहादुर को भी आश्रय दिया था। मेवाड़ दिल्ली से गुजरात जाने के मार्ग पर स्थित था और दिल्ली-अहमदाबाद के बीच का यातायात तब तक सुरक्षित नही रह सकता था जब तक चित्तौड़ पर बादशाह का अधिकार न हो जाय। किन्तु प्रस्तावित विजय-अभियान का सर्वप्रमुख कारण राजनीतिक ही था। मेवाड को, जो राजस्थान की प्रमुख रियासत थी और जिसके राजा को सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजपूत राजे अपना सिरमौर मानते थे, अपने अधीन किये बिना अकबर उत्तरी भारतवर्ष पर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित नहीं कर सकता था। मेवाड का तत्कालीन शासक उदयसिंह, जिसकी इतिहासकार टॉड ने एक सुयोग्य पिता का अयोग्य पुत्र कहकर अवहेलना की है, सैनिक गुण और विशेषताओं से एकदम शून्य नहीं था; उसने अपने राज्य की सुरक्षा के लिए सुन्दर व्यवस्था की। अकबर २३ अक्तूबर को इस दैत्याकार दुर्ग के सम्मुख उपस्थित हुआ और इसकी दीर्घ सुविस्तृत परिधि को हिस्सों मे बाँटकर अपने अधिकारियो के सुपुर्द कर दिया तथा बहुत-से स्थानो पर गोला-बारूद के अड्डे स्थिर किये।

दुर्ग पर घेरा डालने मे एक महीना लगा और यह घेरा काफी समय तक पड़ा रहा क्योकि दोनों ही पक्ष अपने-अपने उद्देश्य की पूर्ति में सलग्न थे—अकबर दुर्ग पर विजय करने और सिसौदिया शत्रु को पीछे खदेड़ देने के लिए कटिबद्ध था। मुगल सेना में २०० सैनिको की प्रतिदिन क्षति होने से अकबर ने बारूद की सुरगें बनाने का निश्चय किया। सुरग खोदने वालों की रक्षा के लिए अकबर ने 'साबित' (रक्षा के लिए दीवारे) बनाने का आदेश दिया। १७ दिसम्बर को दो सुरगो मे भडाका कर दिया गया; किन्तु दुर्ग रक्षको ने शीघ्रता से दुर्ग की टूट-फूट की मरम्मत कर डाली और आक्रमणकारियो को पीछे धकेल दिया, जिसमे शत्रु-पक्ष के २०० आदमी मारे गये। घेरा शीघ्र ही उठा लेने के आसार भी कम दिखायी देने लगे। सयोग से २३ फरवरी, १५६८ ई० को अकबर ने दुर्ग की प्राचीरो पर खड़े हुए एक प्रमुख व्यक्ति पर जो दुर्ग की सुरक्षा-व्यवस्था तथा दीवारो मे हुई दरारो की मरम्मत के लिए निर्देशन कर रहा, बन्दूक से निशाना मारा। यह व्यक्ति और कोई नही जयमल ही था, जिसको राजपूत सरदार-सामन्तो ने दुर्ग की सुरक्षा का दायित्व सौप रखा था और साथ ही, उन्होने अकबर के दृढ़ निश्चय को जानकर घेरा डाले जाने के कुछ

समय पश्चात राणा उदयसिंह को अरावली पहाडियो मे सुरक्षित स्थान पर भेज दिया था। जयमल के बुरी तरह घायल हो जाने से सिसौदिया निराश हो चले और रात्रि मे उनकी स्त्रियो ने जौहर- अग्नि प्रज्ज्वलित कर अपने को भस्म कर डाला। चिताओं से उठती हुई अग्नि की लपटो को देखकर अकबर को विश्वास हो गया कि उसके निशाने से जयमल ही घायल हुआ है। दूसरे दिन प्रात काल राजपूतो ने अपनी ओर से आक्रमण करने का निश्चय किया। प्रचलित रण-रूढि के अनुसार आक्रमण का नेतृत्व करने के लिए बुरी तरह घायल होते हुए भी जयमल को ही घोड़े पर ले जाया गया। युद्धक्षेत्र मे उसके चल बसने के उपरान्त सेना का नेतृत्व और संचालन का भार केलवा के नवयुवक सरदार फतेहसिंह पर आ पडा। फत्ता ने (जिस प्रकार कि प्राय: लोग फतेहसिंह को नाम लेकर पुकारते थे) केसरिया बाना पहन लिया और अपनी माँ और पत्नी को साथ लेकर आक्रमण का नेतृत्व करने लगा; किन्तु ये रण-बाँकुरे राजपूत शत्रु-पक्ष की सैन्य सख्या के सम्मुख अधिक नहीं टिक सके और इनमे से प्रत्येक ने लड़ते-लडते अपनी मातृभूमि की रक्षार्थ अपने-अपने प्राणो की आहुति दे दी।

दूसरे दिन अकबर ने दुर्ग में प्रवेश किया और राजपूतो द्वारा इस कड़ाई से सामना करने से क्रोधित होकर उसने दुर्ग के अन्दर शेष व्यक्तियो के कत्लेआम की आज्ञा दे दी और, इस प्रकार ३०,००० आदमी कत्ल किये गये। अकबर का यह अनावश्यक नृशसतापूर्वक कृत्य उसके नेक नाम पर एक बड़ा धब्बा है। अपने इस अपराध का थोड़ा-बहुत प्रायश्चित उसने जयमल और फत्ता की अनुपम वीरता की स्मृति कायम रखते हुए आगरा के किले के दरवाजे पर हाथियो पर बैठे हुए इनकी प्रस्तर मूर्तियाँ स्थापित कराकर किया। २० फरवरी को वह आसफखाँ को मेवाड़ का गवर्नर नियुक्त करने के पश्चात स्वयं आगरा लौट आया। मेवाड़ का अधिकांश भाग तो अभी राणा ही के अधिकार मे था। चित्तौड़ के पतन के पश्चात बादशाह अकबर को एक और सुखदायी समाचार प्राप्त हुआ। पटना के शासक सुलेमान करारानी ने उसे अपना सम्राट स्वीकार कर लिया था और अपने प्रदेश मे उसके नाम का खुतबा पढ़े जाने और उसी के नाम के सिक्के ढलवाने का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया था।

रणथम्भौर पर विजय (१५६९ ई०)

अप्रैल १५६८ ई० मे अकबर ने एक सेना रणथम्भौर को विजय करने के लिए भेज दी। रणथम्भौर का शासक राजा सुरजनराय बूंदी का हाड़ा राजपूत था तथा मेवाड़ का अधीनस्थ था। किन्तु गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के पूर्व ही सेना को वापस बुला लेना पड़ा क्योंकि मालवा पर विद्रोही मिर्जा ने आक्रमण कर दिया था। फरवरी १५६९ ई० में रणथम्भौर के दुर्ग पर अपनी देख-रेख मे घेरा डालने देने की सुविधा और समय मिल गया। सुरंगें बिछा दी गयी, 'साबित' तैयार करायी गयी और बड़ी-बड़ी तोपे दुर्ग-द्वार के सामने स्थापित कर दी गयी, जहाँ से भयंकर अग्नि-वर्षा होने लगी। यह घेरा लगभग डेढ महीने तक पड़ा रहा और दोनों ही पक्षों को धन-जन की अपार क्षति पहुँची। १८ मार्च, १५६९ ई० के दिन दुर्ग मुगलों को अधिक

कर दिया गया। रणथम्भौर का पतन किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्धो मे दो मत हैं। टॉड के अनुसार सुरजनराय ने ऐसा प्रबल प्रतिरोध किया कि अकबर को यह निश्चय करना पडा कि इस संघर्ष को और अधिक दिनो तक नही बढाना चाहिए और हाड़ा सरदार को समझा-बुझाकर किला उससे ले लेना चाहिए।

आमेर के भगवानदास सुरजनराय से भेट करने गये और उनके साथ एक साथी के रूप मे छद्मवेश धारण किये बादशाह अकबर भी था। राजपूतो ने अकबर को पहचान लिया। इस पर अकबर ने अपने आपको प्रकट कर दिया और सन्धि की बातचीत स्वयं करने लगा। यह वृत्तान्त इतिहासकार स्मिथ ने माना है। दूसरा मत इतिहासकार बदायूंनी का है जिसे वूल्जले हेग ने माना है। बदायूंनी के अनुसार सुरजनराय को जब यह बात स्पष्ट हो गयी कि जब चित्तौड़ जैसा सुदृढ दुर्ग मुगल आक्रमणो को अधिक समय तक बर्दाश्त नही कर सका तो यह असमान संघर्ष जारी रखने से भी कोई लाभ नही है। इसलिए उसने अपने दोनो बेटों—दण्ड और भोज—को अकबर की सेवा में भेज दिया। सुरजनराय चित्तौड़ के राणा का अधीनस्थ था, जिसकी राजधानी भी मुगलों के हाथ मे चली गयी थी, इसलिए बदायूंनी का वृत्तान्त ही अधिक विश्वसनीय माना जा सकता है। सुरजनराय से सन्धि की शर्तें नियत कर अकबर आगरा लौट आया। ये शर्तें काफी उदार थी।

कालिंजर का पतन (१५६९ ई०)

चित्तौड़ और रणथम्भौर के दुर्गों के पतन द्वारा सम्राट अकबर की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ गयी। उस समय उत्तरी भारतवर्ष मे जो दूसरा अन्य दुर्ग अभेद्य समझा जाता था वह था कालिंजर का दुर्ग, जो वर्तमान उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में स्थित है। इस दुर्ग से शेरशाह, जूझकर हार गया था और इस समय रीवा के राजा रामचन्द के अधिकार मे था। अगस्त १५६९ ई० में मजनूंखां काकशाह को उसके विरुद्ध रवाना कर दिया गया। रामचन्द, चित्तौड और रणथम्भौर के साथ जो कुछ हुआ था, उससे परिचित था; इसलिए उसने विशेष दृढता से प्रतिरोध नहीं किया और शीघ्र ही आत्मसमर्पण कर दिया। राजा को इलाहाबाद के पास एक जागीर दे दी गयी और कालिंजर को मजनूंखां के अधिकार मे रख दिया गया।

मारवाड़ पर आधिपत्य (१५७० ई०)

नवम्बर १५७० ई० मे अकबर ने नागौर की यात्रा की, जहाँ जोधपुर और बीकानेर के शासकों की ओर से उसकी अधीनता स्वीकार कर ली गयी। मालदेव का बेटा तथा जोधपुर का तत्कालीन राजा चन्द्रसेन अकबर की सेवा मे उपस्थित हुआ। बीकानेर के राय कल्याणमल और उसके बेटे रायसिंह ने भी सम्राट से भेट की। जैसलमेर के रावल हरराय ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर ने बीकानेर के राजघराने की लड़की से विवाह किया तथा एक दूसरा विवाह जैसलमेर के हरराय की लड़की से भी किया। इस प्रकार १५७० ई० के अन्त मे मेवाड़ तथा उसके

अधीनस्थ राज्य डूंगरपुर, बाँसवाडा और प्रतापगढ़ को छोडकर सम्पूर्ण राजस्थान ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

गुजरात विजय (१५७१-७२ ई०)

मुगल सम्राट ने अब अपना ध्यान गुजरात पर लगाया, जिसे वह जीतकर अपने राज्य में मिलाना चाहता था। यह प्रान्त कुछ समय के लिए उसके पिता के अधिकार मे भी रहा था। गुजरात बहुत अच्छा व्यापार केन्द्र था। यहाँ से तुर्की, सीरिया, फारस, ट्रान्स-ऑक्सियाना तथा यूरोप के अन्य देशो से व्यापार होता था और इसीलिए यह बहुत सम्पन्न और समृद्धिशाली था। इसके अतिरिक्त गुजरात मक्का के रास्ते मे भी पड़ता था और अकबर हज-यात्रियों को सुरक्षित मार्ग प्रदान करने के कारण इसे अपने राज्य के अन्तर्गत करना चाहता था। इस समय प्रान्त की दशा अत्यधिक बिगडी हुई थी। मुजफ्फरखाँ तृतीय, जो यहाँ का नाममात्र का राजा था, बड़ा ही शक्तिहीन शासक था। इसी कारण उसके अमीर और सरदार सत्ता प्राप्ति के लिए आपस में भयंकर संघर्ष कर रहे थे। अकबर के विद्रोही सम्बन्धियों, मिर्जा इत्यादि ने आकर यहाँ शरण ली थी और इसी समृद्धिशाली प्रान्त मे बस गये थे। इन्हीं कारणों से अकबर के लिए गुजरात विजय करना नितान्त आवश्यक हो गया। सौभाग्य से उन्ही दिनों वहाँ एक गृह-युद्ध छिड़ गया और इतमादखाँ के नेतृत्व मे एक दल ने अकबर से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। इस सुअवसर से लाभ उठाने के उद्देश्य से अकबर ने अभियान की तैयारी आरम्भ कर दी और खानकलाँ की अध्यक्षता मे १०,००० अश्वारोही सैनिक पहले ही रवाना कर दिये और सितम्बर १५७२ ई० मे स्वयं भी वहाँ के लिए चल दिया। मुगल सेना का कोई विशेष कडा सामना नहीं किया गया और नवम्बर में अकबर ने अहमदाबाद अपने अधिकार मे कर लिया। मुजफ्फरखाँ तृतीय एक अनाज के खेत में छिपा हुआ पकड़ा गया और बन्दी बना लिया गया। इतमादखाँ तथा अन्य प्रमुख अमीर भी बादशाह की सेवा मे उपस्थित हुए। बादशाह ने खान आजम (मिर्जा अजीज कोका) को गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया। अहमद-नगर से अकबर कम्बे के लिए चल पड़ा जहाँ उसने तुर्की, सीरिया, फारस, ट्रांस-ऑक्सियाना और पुर्तगाल के व्यापारियो से भेंट की। यहाँ से वह सूरत लौट आया और दिसम्बर १५७२ ई० मे सरनाल की लडाई में इब्राहीम मिर्जा को पराजित किया। इसके पश्चात सूरत पर घेरा डाला गया और यह भी फरवरी १५७३ ई० में उसके अधिकार में आ गया। इस सफलता प्राप्ति के पश्चात वह आगरा लौट आया।

गुजरात में विद्रोह (१५७३ ई०)

गुजरात से जैसे ही अकबर ने पीठ मोड़ी वैसे ही मुहम्मदहुसैन मिर्जा, जो दौलताबाद भाग गया था, गुजरात वापस चला आया। असन्तुष्ट अमीरो से साँठगाँठ करके उसने गुजरात के गवर्नर खान आजम को अहमदाबाद मे घेर लिया। खानआजम इन विद्रोहियों का सामना करने मे असमर्थ था, इसलिए समाचार पाकर अकबर २३ अगस्त, १५७३ ई० को फतेहपुर सीकरी से चल पड़ा और २ सितम्बर को अहमदाबाद

पहुँच गया। फतेहपुरसीकरी से अहमदाबाद तक ४५० मील से अधिक लम्बा मार्ग इसने केवल ११ दिन मे तय किया था। विद्रोहियो ने बादशाह के सहसा आगमन के समाचार को सत्य नही माना किन्तु जब उन्होंने फतेहपुर सीकरी से आयी हुई सहायक सेना की अध्यक्षता बादशाह को करते देखा तो वे स्तम्भित रह गये। अपने सतर्क अफसरों की सलाह न मानकर भी अकबर ने तुरन्त ही साबरमती नदी पार कर ली और शत्रु पर धावा बोल दिया।

लडाई मे उसका घोडा घायल हो गया और वह स्वय खतरे मे पड़ गया। फिर भी उसने विद्रोहियो को पराजित कर दिया और मुहम्मदहुसैन मिर्जा को बन्दी बना लिया। एक अन्य प्रमुख विद्रोही इख्तियारुल मुल्क जो खान आजम को घिरे हुए देखकर भी अलग रहा था, मुगल सेना से मोर्चा लेने के लिए मैदान मे आया, किन्तु मारा गया। अब विद्रोह शान्त हो गया। विद्रोहियो में से शाह मिर्जा बचकर निकल भागा था। वह आश्रयविहीन होकर इधर-उधर टक्करे खाता रहा। इस महान सफलता के उपरान्त सम्राट ५ अक्तूबर, १५७३ ई० को फतेहपुरसीकरी वापस आ गया। इतिहासकार स्मिथ ने अकबर के द्वितीय गुजरात-अभियान को उचित ही 'ऐतिहासिक द्रुतगामी आक्रमण' कहा है। गुजरात विजय के द्वारा अकबर के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा समुद्र तक फैल गयी जिससे पुर्तगालियो के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित हुआ और उन्होने उसके साथ शान्ति-सन्धि की। यह बड़े दुख की बात है कि इतना होने पर भी मुगल सम्राट ने साम्राज्य की सुरक्षार्थ तथा विदेशो के साथ व्यापार करने की दृष्टि से नौ-सेना का निर्माण नही किया।

बिहार और बंगाल की विजय (१५७४-७६ ई०)

सुलेमान करारानी, जो शेरशाह के शासनकाल मे बिहार का गवर्नर रह चुका था और सूर-वंश के पतन के पश्चात उसने अपने को स्वाधीन कर लिया था तथा १५६८ ई० के आरम्भ में अकबर को अपना सम्राट मान लिया था, १५७२ ई० में मर गया। उसने बंगाल और उड़ीसा के प्रान्त भी अपने अधिकार में कर लिये थे और टाँडा को अपनी राजधानी बनाया था। लेकिन उसके बेटे दाऊद ने अपनी स्वाधीनता पुनः घोषित कर दी और जमानिया पर (उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में) जो उस समय मुगल-साम्राज्य का पूरबी रक्षक-स्थल था, आक्रमण करके अकबर को नाराज कर दिया। १५७४ ई० में अकबर ने इस उद्दण्ड युवक के ऊपर चढ़ाई कर दी और उसे बिहार से बाहर निकाल दिया और इस प्रान्त को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। दाऊद बंगाल से उडीसा की ओर भाग गया। अकबर बंगाल-अभियान का नेतृत्व मुनीमखाँ को देकर फतेहपुरसीकरी लौट आया। मुनीमखाँ ने दाऊद को ३ मार्च, १५७५ ई० के दिन स्वर्णरेखा नदी के पूरबी तट के समीप तुकरोई स्थान पर पराजित किया और टाँडा को अपना केन्द्र बनाया। किन्तु उसने इसमे लाभ नही उठाया जिसके परिणामस्वरूप बंगाल का कुछ भाग स्थानीय सुल्तान के हाथ में रह गया। अक्तूबर में दाऊद ने पुनः बंगाल को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। फलतः उसके ऊपर एक

नया आक्रमण किया गया और जुलाई १५७६ ई० मे राजमहल के निकट एक लड़ाई में वह अन्तिम रूप से हार गया और मारा गया। बंगाल अब मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत मिला लिया गया। लेकिन कुछ स्थानीय सरदार जिनमे विक्रमपुर के केदार राय और बकरगज के कन्दर्प नारायण, जैसोर के प्रतापदित्य तथा पूरबी बगाल के ईसाखाँ आदि प्रमुख थे, कुछ वर्षों तक बराबर उपद्रव मचाते रहे।

मेवाड़ विजय के लिए प्रयत्न : हल्दीघाटी लड़ाई (१८ जून, १५७६)

यद्यपि मेवाड़ की राजधानी चित्तौड पर फरवरी १५६८ ई० मे मुगलो का अधिकार हो गया था, तथापि राज्य का एक बड़ा भाग अभी तक राणा उदयसिंह के अधिकार मे रह गया था। उसके पराक्रमी एवं प्रतापी पुत्र राणाप्रताप ने जिसका ३ मार्च, १५७२ ई० के दिन उदयपुर के उत्तर-पश्चिम से १९ मील दूर गोगुण्डा नामक स्थान पर बडी निराशाजनक परिस्थितियों मे राज्याभिषेक किया गया था, मुगलो का बड़ी दृढ़ता से सामना करने का निश्चय किया। सीमित साधन, अपने ही आदमियों के असन्तोष और अपने सगे भाई शक्तिसिंह की शत्रुता की परवाह न करते हुए उसने उस आदमी का सामना करने का निश्चय किया जो धरती के परदे पर "सर्वाधिक सम्पन्न और समृद्धिशाली शासक गिना जाता था।" अकबर का भी इसी तरह मेवाड़ के शेष भाग को वीरवर राणा के हाथों से छीन लेने का इतना ही दृढ़ निश्चय था। अप्रैल १५७६ ई० में उसने आमेर के कुँवर मानसिंह तथा आसफखाँ की अध्यक्षता मे एक शक्तिशाली सेना मेवाड़ के शेष भाग पर आक्रमण करने के लिए भेजी। पूरबी मेवाड़ के मांडलगढ़ से कुँवर मानसिंह मोहीनगर के मार्ग से गोगुण्डा की ओर चले और बनास नदी के दक्षिण तट पर स्थित खमनौर नामक गाँव और अरावली पहाड़ की हल्दीघाटी नामक शाखा के बीच के मैदान में घेरा डाला। यहाँ शाही सेना पर राणाप्रताप ने आक्रमण किया, जो १८ जून, १५७६ ई० को गोगुण्डा से चलकर आक्रमणकारी शत्रु के आगे बढ़ने से रोकने के लिए यहाँ आया हुआ था। दन्तकथा के अनुसार राणा की सेना में २०,००० घुड़सवार थे और मानसिंह की सेना में ८०,०००। वास्तव मे मेवाड़ी सेना मे ३००० से अधिक घुड़सवार और कई सौ भील प्यादो से अधिक नहीं थे। मानसिंह की सेना मे १०,००० घुड़सवार थे। इनमें ४,००० कछवाहा राजपूत थे। १,००० अन्य जातियों के हिन्दू तथा शेष मध्य एशिया के तुर्क, उजबेग, कज्जाम, बारह के सैयद और फतेहपुरसीकरी के शेखजादे थे। मेवाड़ की छोटी-सी सेना के अगले दस्ते में लगभग ८०० घुड़सवार थे और यह दस्ता हकीमखाँ सूर, भीमसिंह डोडिया, जयमल के पुत्र रामदास राठौर तथा कुछ अन्य वीरों की देखरेख में रखा गया था। उसके बायें अंग में ५०० घुड़सवार थे और ये ग्वालियर के रामशाह तवर और भामाशाह की अधीनता में थे। इस सेना का बायाँ अंग बीदा के माना की अधीनता में था और बीच के भाग की अध्यक्षता स्वयं राणा के हाथ में थी। पुंजा के भील तथा कुछ सैनिक इस सेना के पिछले भाग में नियुक्त किये गये थे। शाही सेना की अगली पंक्ति के सामने सैय्यद हाशिम बारह की अध्यक्षता में कुछ

आगे-बढ़ने वाले लोग नियुक्त किये गये थे । जगन्नाथ कछवाह् और आसफअलीखाँ सेना के अगले दस्ते में थे । उनके निकट एक अगला कोतल-दस्ता माधोसिंह कछवाहा की अधीनता मे नियुक्त किया गया था । सेना के बाये अंग मे बारह के सैय्यद थे । दायाँ अंग मुल्ला काजीखाँ बदख्शी और राव लूनकरन की अध्यक्षता मे था और बीच का दस्ता स्वयं मानसिंह की अध्यक्षता मे था । हल्दीघाटी से आगे बढ़कर राणा ने मुगल सेना पर सीधा आक्रमण किया । उस समय मुगलों की सेना हल्दीघाटी के प्रवेश-स्थान की पगडण्डी के उत्तर-पश्चिम के मैदान मे लड़ने के लिए खड़ी थी । राणा का आक्रमण ऐसा जबर्दस्त था कि मुगलो के आगे की सेना का अगला और बाये अग का दस्ता दोनो के दोनो तितर-बितर हो गये और उनका दाहिना और बीच का दस्ता सकट मे पड गये । राणा की सेना बहुत छोटी थी । उसके पास न तो कोतल सेना थी और न पीछे का कोई दस्ता था, जो उसकी आरम्भिक सफलता का लाभ उठाता । अतः शत्रु के मध्य की सेना तथा बाये अग की सेना को हराने के लिए उसने उन पर हाथियो से प्रहार किया क्योकि दूसरी ओर से आते हुए तीर और गोलियो से मौत की परवाह न करने वाले सिसौदिया वीरो के भी छक्के छुड़ा दिये थे । अब कछवाहा तथा सिसौदिया योद्धाओ ने आगे बढकर निकट का युद्ध आरम्भ किया । मुसलमानो ने बिना सोचे-विचारे कि राजपूत उनके पक्ष के हैं तथा राणा के, उन पर तीर तथा गोलियाँ बरसाना आरम्भ कर दिया । राजा रामसहाय तवर राणाप्रताप को बचाने के लिए उनके आगे चल रहा था । उसे जगन्नाथ कछवाहा ने मौत के घाट उतार दिया । अब शाही कोतल सेना आगे बढी और यह अफवाह फैल गयी कि अकबर मानसिंह की सहायता के लिए स्वय आ रहा है । अब शत्रु सेना ने राणा को चारों ओर से घेर लिया और यह प्रतीत होने लगा कि वह मारा जायगा । इस समय बीदा झाला ने राणाप्रताप के मुकुट को उसके माथे से उतार लिया और स्वय को राणा घोषित कर दिया । शत्रुओ ने उसे चारो ओर से घेर लिया और इस प्रकार प्रताप बच गया । उस संकटपूर्ण समय में कुछ स्वामिभक्त सैनिको ने आगे बढ़कर राणा के घोड़े की बागडोर पकड़ ली और उसे पीछे सुरक्षित स्थान में ले गये । इस समय राणा के सैनिकों की हिम्मत टूट गयी और वे युद्धक्षेत्र से भाग निकले । उनमें से बहुत-से मारे गये । मानसिंह को हल्दीघाटी के युद्ध में सफलता प्राप्त हुई । दोनों ओर के बहुत-से सैनिक मारे गये और राणा की तो आधी सेना बिलकुल ही नष्ट हो गयी । शाही सेना इतनी थक गयी कि वह राणा का पीछा करने में असमर्थ थी । यही नहीं; उसे बड़ा डर था कि कहीं राणा रात में उन पर छापा न मारे । वास्तव में दूसरे दिन जब तक प्रभात नहीं हुआ वे अपनी सफलता की गहराई को नाप नहीं सके । राणाप्रताप ने गोगुण्डा को खाली कर दिया और मानसिंह ने उसको अपने अधिकार में रखने का प्रबन्ध किया ।

अपने श्रेष्ठ प्रयत्नों के बावजूद राजा मानसिंह मेवाड़ के उस भाग पर अधिकार नहीं कर सके जो अभी राणा के अधीन था । यह मेवाड़ का उत्तर-पश्चिमी भाग था जिसमें कुम्भलगढ़ और देवसूरी के दुर्ग सम्मिलत थे । गोगुण्डा पर भी उसका

अधिकार चिरकाल तक नही रह सका क्योकि उसके पास रसद की कमी थी और वहाँ की जनता उसके विरुद्ध थी। न तो उसकी धमकियाँ और न उसके अत्याचार ही राणा को वश मे कर सके। स्वाभिमानी सिसौदिया राणा को यद्यपि कई अवसरो पर भूखो तक मरना पडा था तथापि अकबर की अधीनता उसने स्वीकार नही की, उसके साथ शादी-सम्बन्ध करने का विचार तो उठ ही नही सकता था। मेवाड में असफल होने के कारण मानसिंह को अकबर की कृपादृष्टि से वचित होना पडा और उसे वापस बुला लिया गया। यह विचार गलत है कि अकबर ने अपने महान प्रतिद्वन्द्वी राणा के प्रबल पराक्रम के प्रति श्रद्धानत होकर ही शेष जीवन के लिए उसके साथ छेड़छाड़ बन्द कर दी। बल्कि सत्य तो यह है कि उसने (अकबर ने) राणा को अपने अधीन करने के लिए अपने प्रयत्नो मे ढिलाई नही की। लेकिन ये सारे प्रयत्न असफल रहे और राणाप्रताप अपने पूर्वजो के राज्य के अधिकाश भाग को पुन: प्राप्त करने मे सफल हुआ। १९ जनवरी, १५९७ ई० को राणाप्रताप की मृत्यु हो जाने से अकबर को मेवाड़ पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ किन्तु उस समय दूसरे स्थानों पर व्यस्त होने के कारण वह इस सुअवसर से लाभ नही उठा सका। यद्यपि उसने कई बार राणाप्रताप के उत्तराधिकारी अमरसिंह के विरुद्ध सेनाएँ भेजी, किन्तु वह न तो मेवाड़ को जीत सका और न अपने राज्य मे मिला सका।

काबुल पर विजय (१५८१ ई०)

१५८० ई० मे बगाल और बिहार के बहुत-से प्रमुख मुसलमान सरकारी अधिकारी जो अकबर की धार्मिक उदारता तथा सहनशीलता की नीति के विरुद्ध थे और जिनको उसके प्रशासन, अर्थ तथा सेना सम्बन्धी सुधारों से बहुत हानि पहुची, विद्रोही बन गये। वे उसे हटाकर उसके सौतेले भाई काबुल के मिर्जा मुहम्मद हकीम को सम्राट बनाने का षड्यन्त्र रचने लगे। धार्मिक बहसो मे दूसरे धर्मावलम्बी की अपेक्षा मुसलमानो के साथ विशेष बरताव किया जाता था। ये लोग विभिन्न धर्म-सम्प्रदायो को इस्लाम के साथ ही समान रूप से समझने की अकबर की नीति से असन्तुष्ट थे और यह मिथ्या धारण बना ली थी कि उनका धर्म अब खतरे मे है। जौनपुर के काजी मुल्ला मुहम्मद याजदी ने एक 'फतवा' जारी किया कि अकबर के प्रति राजद्रोह करना एक धार्मिक कर्तव्य है।

काकशाल तुर्क जो बगालो मे ऊँचे पदों पर आसीन थे, बिहार के अपने सह-धर्मियो का, जिन्होंने अकबर के प्रति विद्रोह का झण्डा उठाया, अनुसरण करने लगे और उन्होने मिर्जा हकीम के नाम का खुतवा पढ़ना आरम्भ कर दिया। इन्होने गवर्नर मुजफ्फरखाँ को टाँडा में घेर लिया और जो शाही सेना उसकी सहायता के लिए वहाँ पहुँची, उसे हरा दिया। अब यह विद्रोह दोनो प्रान्तो मे सर्वत्र फैल गया। अकबर ने तुरन्त ही समझ लिया कि इस विद्रोह का मूल स्रोत काबुल में है और उसका सौतेला भाई ही उसके लिए खतरे का साधन बना हुआ है। इसी विचार से उसने काबुल पर आक्रमण करने के लिए सैनिक तैयारियाँ कर डाली और साथ ही

बिहार और बगाल मे और अधिक सेनाएँ विद्रोहियो को कुचलने के लिए भेज दीं, जिससे ये लोग मिर्जा हकीम की सहायता के लिए काबुल न दौड़ पड़ें। अपने दरबार मे उसने उन विश्वासघातियो के विरुद्ध सख्त कार्यवाही की जो उसके भाई मिर्जा हकीम से गुप्त पत्रव्यवहार कर रहे थे। कुछ लोगो को तो उसने बन्दी बना लिया और कुछ को, जिनमें उनका नेता शाह मसूर भी था, मौत की सजाएँ दी जिससे अन्य सम्भावित विद्रोहियो के दिलो मे भय पैदा हो जाय। हकीम मिर्जा सिन्धु नदी पार करके लाहौर की ओर बढा, किन्तु उसे प्राप्त सूचनाओं के प्रतिकूल यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि पंजाब के मुसलमान उसे कोई भी सहायता देने के लिए तैयार नहीं है। ८ मार्च, १५८१ ई० को अकबर के मच्छीवाडा पहुँचने से पूर्व ही मिर्जा हकीम काबुल की ओर प्रत्याक्रमण कर गया। अकबर शीघ्र ही सिन्धु नदी तक पहुँच गया और मानसिंह की अध्यक्षता मे उसने एक फौज काबुल पर अधिकार करने के लिए भेज दी तथा स्वय भी उसी के पीछे-पीछे चलता गया। हकीम काबुल से गुरबन्द भाग गया। अकबर ने १० अगस्त को काबुल मे प्रवेश किया। भयाक्रान्त मिर्जा हकीम ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेने का संवाद भेजा और उसे क्षमा प्रदान कर दी गयी। अकबर ने मिर्जा की बहन बख्तुन्निसा बेगम को काबुल का गवर्नर नियुक्त कर दिया और स्वय फतेहपुरसीकरी लौट आया। मुगल सम्राट के वहाँ से चले आने के बाद मिर्जा ने शासन-प्रबन्ध पुन. स्वयं सँभाल लिया, उसकी बहन अधिकृत रूप से किन्तु नाममात्र के लिए ही काबुल की गवर्नर बनी रही। जुलाई १५८१ ई० मे मिर्जा हकीम की मृत्यु हो गयी और तब काबुल मुगल-साम्राज्य में मिला लिया गया।

१५६० ई० मे राजसत्ता प्राप्त करने के पश्चात १५८१ ई० का समय अकबर के जीवन मे बहुत ही नाजुक बताया गया है। किन्तु अकबर की साधनसम्पन्नता, चतुराई और योग्यता ने उसे इस संघर्षकाल से सुरक्षित निकल जाने में पूरा योग दिया और अब वह पहले से भी अधिक शक्तिशाली हो गया।

काश्मीर पर अधिकार (१५८५ ई०)

काश्मीर पर अधिकार प्राप्त करने की अकबर की बहुत दिनों से लालसा थी। कूटनीति द्वारा और इसके असफल होने पर आक्रमण द्वारा वह काश्मीर पर अधिकार करना चाहता था। यद्यपि काश्मीर के सुल्तान यूसुफखाँ ने १५८१ ई० में अपने तृतीय पुत्र और १५८५ ई० मे अपने ज्येष्ठ पुत्र को उसकी सेवा में भेजा था, किन्तु वह स्वयं अकबर के दरबार में नहीं आया था। काश्मीर सुल्तान को अधीन करने तथा काबुल को मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत एक प्रान्त के रूप में शामिल करने के लिए वह १५८५ ई० के पतझड़ में फतेहपुरसीकरी से लाहौर चल पड़ा। दिसम्बर के आरम्भ में वह रावलपिण्डी आ पहुँचा और यहाँ से अटक के लिए चल दिया। उसने जैनखाँ कोकलताश, राजा बीरबल और हकीम अबुल फतेह को युसुफजई तथा सरहद के मांदर फिरके के लोगों को प्रताड़ित करने के लिए भेजा, क्योंकि ये लोग

बडा उत्पात मचा रहे थे। किन्तु इन कबाइली लोगो के साथ युद्ध मे शाही सेना सफलता प्राप्त नही कर सकी और इसमें राजा बीरबल मारे भी गये। इससे अकबर को बहुत दुख पहुँचा। उसने जैनखाँ और अब्दुलफतेह को उनकी पराजय तथा राजा बीरबल के शव को कबाइलियों से न छीन लेने के लिए बहुत बुरा-भला कहा। राजा टोडरमल ने, जिन्हे इस पराजय का बदला लेने के लिए भेजा गया था, कबाइलियों को हरा दिया और उन्हे वश मे कर लिया। मानसिंह ने, जिनको राजा टोडरमल से आकर मिलने को आज्ञा दी गयी, खैबर के दर्रे मे हुई लडाई मे अफगानो को हरा दिया। यद्यपि कबाइली लोग पूरी तरह वश मे तो नही किये जा सके किन्तु इन्होने फिर उत्पात नही मचाया।

उसी समय जब कबाइलियों के ऊपर चढ़ाई की गयी थी, अकबर ने काश्मीर पर अधिकार करने का कार्य कासिमखाँ, राजा भगवानदास तथा अन्य सैन्य-संचालकों के सुपुर्द कर दिया था। १५८६ ई० के आरम्भ मे शाही सेना ने श्रीनगर की ओर कूच किया किन्तु वर्षा तथा हिमपात के कारण आगे बढकर शत्रु से लड़ने का इनका साहस ही नही हुआ और सुल्तान यूसुफखाँ के साथ जो स्वयं को शक्तिहीन समझ रहा था, सन्धि-चर्चा चलाने के लिए मुगल सेनाध्यक्ष राजी हो गये। यूसुफखाँ ने अकबर को अपना सम्राट मान लिया और उसके नाम का खुतबा पढवाने तथा उसी के नाम के सिक्के ढलवाने के लिए तैयार हो गया। टकसाल का प्रबन्ध करने, केसर की खेती सँभालने, शाल-दुशालों के निर्माण की व्यवस्था करने तथा शिकार का प्रबन्ध करने को भी शाही अधिकारियो की अधीनता मे रखने के लिए यह राजी हो गया; किन्तु अकबर ने यह सन्धि-शर्तें पसन्द नही की और जब सुल्तान यूसुफखाँ और उसका बेटा याकूबखाँ उसकी सेवा मे उपस्थित हुए, तो उसने सुल्तान को गिरफ्तार कर लेने की आज्ञा दे दी। किन्तु याकूबखाँ बचकर श्रीनगर भाग गया और मुगलों से सामना करने की तैयारियाँ करने लगा। इस पर अकबर ने एक सेना काश्मीर भेजी, जिसने याकूबखाँ को आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया। काश्मीर अब मुगल-साम्राज्य में मिला लिया गया और यह काबुल प्रान्त का सरकार (जिला) बन गया। युसुफखाँ कुछ समय बाद मुक्त कर दिया गया और ५०० का मनसब भी उसे प्रदान किया गया।

सिन्ध-विजय (१५९१ ई०)

अकबर ने भक्खर का दुर्ग तो १५७४ ई० में ही अधिकृत कर लिया था। अब सिन्धु नदी के मुहाने पर सिन्ध के दक्षिणी भाग पर अधिकार करने की उसकी उत्कट अभिलाषा थी, क्योंकि बिना इस प्रदेश पर अधिकार किये उत्तर-पश्चिमी भारत पर उसका आधिपत्य पूर्ण नहीं कहा जा सकता था। साथ ही इस स्थान को वह अपना एक सैनिक अड्डा बनाना चाहता था जहाँ से कन्धार पर जो इस समय फारस के शाह अब्बास के अधिकार में था, सैनिक कार्यवाही कर सके। १५९० ई० में बादशाह ने अब्दुल रहमान खानखाना को मुल्तान का गवर्नर नियुक्त किया और यह आदेश दिया कि वह थट्टा के राज्य को तुर्कमान राजा मिर्जा जानी बेग से जीत ले।

मिर्जा ने अपने प्रदेश की रक्षा के लिए दो बार युद्ध किया किन्तु हार गया और अपना सम्पूर्ण प्रदेश, जिसमें थट्टा और सेहवान के दुर्ग भी शामिल थे, उसे त्याग देने के लिए बाध्य होना पड़ा। बाद मे वह मुगल-साम्राज्य की नौकरी में आ गया और तीनहजारी मनसबदार बना दिया गया। 'दीन इलाही' सम्प्रदाय का वह एक सदस्य भी बन गया था।

उड़ीसा की विजय (१५९२ ई०)

१५९० ई० में बिहार के गवर्नर राजा मानसिंह ने उड़ीसा पर चढाई की और कुतुलूखाँ लोहानी पर जिसने अपने आपको स्वतन्त्र बनाकर इस सुदूर प्रान्त का शासक घोषित कर दिया था, आक्रमण करने की तैयारियाँ की। कुतुलूखाँ मानसिंह से युद्ध में सामना करने से पूर्व ही मर गया। उसके लड़के निसारखाँ ने मामूली-सा सामना करने के पश्चात हथियार डाल दिये। बाद में उसे उड़ीसा प्रान्त का ही गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। किन्तु दो वर्ष बाद उसने सन्धि-शर्तों को अस्वीकार कर पुरी और जगन्नाथ को जिन पर मुगल-साम्राज्य का अधिकार था, छीन लिये। राजा मानसिंह ने इस बार इसे पुनः पराजित किया और राज्य से निकाल बाहर किया। उड़ीसा का प्रान्त अब मुगल-साम्राज्य में मिला लिया गया और यह बंगाल के सूबे का एक भाग बन गया।

बलूचिस्तान की विजय (१५९५ ई०)

फरवरी १५९५ ई० में मीर मासूम को बलूचिस्तान विजय करने के लिए भेजा गया। उत्तरी भारत मे बलूचिस्तान ही एक ऐसा राज्य था, जिसने अभी तक मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। सुयोग्य सेनाध्यक्ष मीर मासूम ने क्वेटा के उत्तर-पूरब में सीबी के किले पर आक्रमण किया और पन्नी अफगानों को पराजित कर उन्हें बलूचिस्तान का सम्पूर्ण प्रदेश जिसमे मकरान भी सम्मिलित था, मुगल-साम्राज्य को सौप देने के लिए बाध्य किया।

कन्धार पर अधिकार (१५९५ ई०)

अप्रैल १५९५ ई० में कन्धार के फारसी गवर्नर मुजफ्फरहुसैन मिर्जा ने जिसके तेहरान के अधिकारियों के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं थे, कन्धार का सुदृढ़ दुर्ग शाह बेग को समर्पित कर दिया, जिसे अकबर ने इसी कार्य को सम्पादित करने के लिए वहाँ भेजा था। तत्पश्चात मुगल दरबार मे मुजफ्फरहुसैन मिर्जा का खूब स्वागत किया गया और उसे ५,००० का मनसब तथा सम्भल की जागीर प्रदान की गयी। कन्धार के मुगल-साम्राज्यान्तर्गत आ जाने से मेवाड़ के छोटे-से भाग को छोड़कर शेष सम्पूर्ण उत्तरी भारत अकबर के अधिकार में हो गया।

अकबर की दक्षिण-नीति—खानदेश और अहमदनगर की विजय (१५९३-१६०१ ई०)

सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधिकार में करने से पूर्व ही अकबर ने दक्षिण के चारों राज्यों को जो प्राचीन बहमनी राज्य के टूट जाने पर बन गये थे, जीत लेने का विचार किया था। अगस्त १५९१ ई० मे उसने चार दूत-मण्डल खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा चारों स्थानों पर उसे राजस्व अर्पित करने के लिए

राजी करने और यहाँ के शासकों को बादशाह अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए भेजे। खानदेश के राजा अलीखाँ ने तो जिसका राज्य अकबर के राज्य की दक्षिणी सीमा के बिलकुल निकट था; मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार कर ली। राजस्व अदा करने के लिए भी वह राजी हो गया। किन्तु शेष तीनों राज्यों के शासकों ने अकबर के प्रस्ताव को बड़ी नम्रतापूर्वक टाल दिया। फलतः १५९३ ई० में अकबर ने अब्दुर्रहीम खानखाना को अहमदनगर जीत लेने के लिए रवाना किया। उसके साथ अकबर का द्वितीय पुत्र मुराद भी भेज दिया गया था। खानखाना ने अहमदनगर पर घेरा डाल दिया, किन्तु इस दुर्ग की बड़ी ही सुन्दर सुरक्षा-व्यवस्था बीजापुर की रानी तथा अहमदनगर के तत्कालीन राजा मुजफ्फर की बुआ चाँदबीबी ने की थी। अपने ही यहाँ कुछ आपसी मतभेदों के कारण मुगल सेनाध्यक्षो ने घेरा उठाना ही उचित समझा और १५९६ ई० मे सुलह भी कर ली, जिसके अनुसार बुरहानुलमुल्क के पोते बहादुर को जो उस समय एक बालक ही था, अकबर की अधीनता मे अहमदनगर का सुल्तान मान लिया गया। नये शिशु-सुल्तान ने बरार मुगल-साम्राज्य को अर्पित कर दिया और सम्राट के पास बहुमूल्य उपहार भी आगरा भेजे।

यह सन्धि अल्पकालीन सिद्ध हुई। अहमदनगर की सरकार ने सन्धि की शर्तें तोड़ दी और बरार को पुनः हस्तगत करने का प्रयत्न किया। फलतः १५९७ ई० में खानखाना को दुबारा इधर आना पड़ा, किन्तु खानखाना और मुराद में पुनः मतभेद हो जाने के कारण मुगल पक्ष कमजोर पड़ता दिखायी देने लगा। इसलिए अकबर ने इन दोनों के ही वापस बुला लेने और इनके स्थान पर अबुल फजल को भेजने का विचार किया। किन्तु बाद में वह स्वयं भी दक्षिण की ओर चल पड़ा। दौलताबाद का तो उसके पहुँचने के पूर्व ही पतन हो गया (१५९९ ई०)। उसके पश्चात अहमदनगर पर घेरा डाला गया और १६०० ई० में उस पर अधिकार कर लिया गया। शिशु-सुल्तान बहादुर निजामशाह को बन्दी बनाकर ग्वालियर भेज दिया गया; किन्तु अहमदनगर के अमीरों ने एक अन्य कठपुतली को राजा घोषित कर दिया और वे मुगलों से मोर्चा लेते रहे।

अहमदनगर के पतन से पूर्व खानदेश के राजा मीरन बहादुरशाह ने जिसका पिता राजा अलीखाँ अहमदनगर की लड़ाई में मुगलों की अधीनता में लड़ते हुए मारा गया था, मुगलों की सत्ता को धता बतायी और असीरगढ़ के अपने दुर्ग में अपनी रक्षा करने को तैयार हो गया। अकबर ने भी उस पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। १५९९ ई० के आरम्भ में उसने खानदेश में प्रवेश किया और यहाँ की राजधानी बुरहानपुर पर अधिकार करने के उपरान्त असीरगढ़ के दुर्भेद्य दुर्ग पर जो गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री से पूर्ण सम्पन्न था, घेरा डाल दिया। यह घेरा काफी अरसे तक पड़ा रहा और अबुल फजल को आक्रमण-व्यवस्था का निर्देशन करने तथा घेरा डालने वालों को उत्साहित करने के लिए यहाँ भेजा गया। मुगलों ने आक्रमण में बड़ी कुशलता दिखायी, इससे भयभीत होकर मीरन बहादुर ने २१ दिसम्बर, १६०० ई० को अकबर

के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। दुर्गरक्षकों ने कुछ दिनो तक सामना अवश्य किया, किन्तु ६ जनवरी, १६०१ ई० को उन्होंने भी गढ़ का समर्पण कर दिया। इस प्रकार खानदेश भी मुगल-साम्राज्य में मिला लिया गया। मीरन बहादुर को बन्दी बनाकर ग्वालियर भेज दिया गया और जीवन-निर्वाह के लिए ४,००० अशर्फियाँ वार्षिक बतौर भत्ते के उसे मंजूर की गयीं। विंसेण्ट स्मिथ ने अकबर पर मीरनबहादुर के प्रति किये दुर्व्यवहार का आरोप लगाया है, किन्तु वूल्जले हेग ने उचित ही कहा है कि मीरन बहादुर भी उतना ही दोषी है, जितना अकबर; क्योंकि वे दोनों 'एक-दूसरे को चकमा देना चाहते थे'। असीरगढ दुर्ग के घेरे के सम्बन्ध मे अकबर का मुख्य अपराध तो यह था कि उसने दुर्ग के कमाण्डर के बेटे मुकर्रब को बिना किसी कारण कत्ल करने की आज्ञा दी थी। यह अकबर की अन्तिम विजय थी।

विजित प्रदेशों की सुव्यवस्था

विजित प्रदेशों मे शासन-व्यवस्था स्थापित करने की नीति का अकबर ने सदैव अनुसरण किया। जैसे ही किसी राज्य पर अथवा किसी प्रान्त पर वह अधिकार प्राप्त करता था, वैसे ही वहाँ पर शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने तथा मालगुजारी-बन्दोबस्त के लिए दीवानी अफसरों की नियुक्ति करता था। विजित क्षेत्रों मे धार्मिक सहनशीलता और उदारता का भी बादशाह परिचय देता था। सामाजिक, धार्मिक, तथा प्रशासन सम्बन्धी अनेक सुधार किये जाते थे और प्रजा की सामाजिक, नैतिक तथा भौतिक भलाई के लिए पूरी चेष्टा की जाती थी। जैसा अगले पृष्ठो मे बताया जायगा, अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों यहाँ तक कि शेरशाह तक की प्रणाली के विरुद्ध, अकबर ने अपने साम्राज्य के सभी प्रान्तों में एकसमान शासन प्रणाली स्थापित की और इस प्रकार, देश में राष्ट्रीयता के विकास का मार्ग तैयार करने में सहयोग दिया।

अब्दुल्लाखाँ उजबेग का विद्रोह (१५६४ ई०)

बहुत-से मुगल राज्याधिकारी, जो हुमायूँ के राज्यकाल से ही उच्च सरकारी नौकरियो मे थे, अकबर की केन्द्रीकरण की नीति से असन्तुष्ट हो गये। ये लोग अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र शासन-प्रबन्ध ही नही चाहते थे, बल्कि जो मन मे आये सो करने के अधिकारों के साथ अर्द्ध-स्वतन्त्र शासन-सत्ता प्राप्त करने के इच्छुक थे। आधमखाँ, पीर मुहम्मद और खानजमाँ ने ठीक इस प्रकार का व्यवहार किया था, मानो वे अपने-अपने प्रान्तों में स्वतन्त्र शासक हो। मालवा का गवर्नर अब्दुल्लाखाँ उजबेग भी इन्हीं लोगों के पदचिह्नों पर चला और विद्रोह खड़ा करने की तैयारी करने लगा। जुलाई १५६४ ई० में अकबर उसे दण्ड देने के लिए चल पड़ा। लगभग एक पखवाड़े तक रास्ते मे घनघोर वर्षा के कारण उसे चम्बल नदी के किनारे ही रुक जाना पड़ा। उसके यहाँ पहुँचने पर अब्दुल्लाखाँ माँडू से भाग खड़ा हुआ, किन्तु अकबर ने उसका पीछा किया और उसे हरा दिया। अब्दुल्लाखाँ की स्त्रियाँ और बहुत-से हाथी उसके हाथ लगे। कड़ा के बहादुरखाँ को अब मालवा का गवर्नर बनाया गया। खानदेश के मुबारकशाह द्वितीय से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने और उसकी लड़की से विवाह कर

लेने तथा गुजरात के शासक को अपने प्रदेश से विद्रोही अब्दुल्लाखाँ को खदेड़ देने के लिए प्रेरित करने के उपरान्त अकबर अक्टूबर मे आगरा लौट आया।

उजबेग विद्रोह (१५६४-६७ ई०)

अकबर के राजदरबार मे प्राचीन अमीर-वर्ग के अन्तर्गत उजबेगो का दल अत्यन्त प्रभावशाली तथा उत्पाती था। इन लोगो के नेता जौनपुर के गवर्नर खानजमाँ (अलीकुलीखाँ), उसका भाई बहादुर, इनके चाचा इब्राहीमखाँ, अवध के गवर्नर खानआलम (इस्कन्दरखाँ) और हाल ही मे मालवा से खदेड़े गये अब्दुल्लाखाँ थे। ये लोग अच्छे-अच्छे पदों पर आसीन थे और शक्तिशाली सैनिकदलों का कमान भी इनके हाथो मे था। खानजमाँ और खानआलम ने बैरामखाँ को उत्तरी भारतवर्ष मे मुगल-साम्राज्य की पुनर्स्थापना मे अच्छा योग दिया था। यह सोचते हुए कि उनकी सेवाओ का उन्हें उचित पुरस्कार नही मिला, ये दोनो नवयुवक बादशाह से असन्तुष्ट थे। साथ ही, ये अकबर की केन्द्रीकरण की नीति भी पसन्द नही करते थे और न उसके फारसी ढंग के तौर-तरीके ही उन्हे पसन्द थे। उनकी यह अभिलाषा थी कि उनका अर्द्ध-स्वतन्त्र स्तर उन्हें प्राप्त रहे और मनमानी करने का उनका अधिकार भी बना रहे। एक ही वंश से उत्पन्न होने, पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्ध बने रहने तथा बादशाह के प्रति इनका एकसा असन्तोष होने के कारण ये लोग साथ ही साथ मरने-जीने के लिए तैयार थे। इन लोगों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और अकबर के खिलाफ विद्रोह का आयोजन किया। इन्होंने निश्चय किया कि इब्राहीमखाँ और खानआलम कन्नौज पर हमला करेंगे और उसी समय खानजमाँ और बहादुर मानिकपुर पर अधिकार करेंगे। खानजमाँ और उनके भाई ने शाही सैनिक दल को पराजित कर मानिकपुर पर अधिकार कर लिया। खानआलम और इब्राहीमखाँ ने मई १५६५ ई० मे एक और शाही सेना को परास्त कर दिया जिससे स्थिति इतनी भयप्रद हो गयी कि स्वयं बादशाह को ही मैदान में कूदना पड़ा। उसने लखनऊ के समीप खानआलम पर यकायक आक्रमण किया और उसे भगा दिया। खानआलम भागकर खानजमाँ से आ मिला, जो मानिकपुर का घेरा डाले हुए था। किन्तु जब उन्हें यह समाचार प्राप्त हुआ कि अकबर ने लखनऊ पर अधिकार कर लिया है, तो उन्होने घेरा उठा लिया और बहराइच के दलदल मे भाग गये और फिर यहाँ से बिहार में हाजीपुर चले गये। यह विद्रोह दो वर्ष से अधिक समय तक चलता रहा। इस बीच अकबर ने इन विद्रोहियो को कई बार क्षमा कर देना ही उचित समझा। किन्तु जब ये लोग अपनी सामन्ती श्रेष्ठता और उच्चता की भावना को त्याग नहीं सके, तो अकबर को एक बार और मैदान में कूदना पड़ा और उजबेगो को अन्तिम रूप से कुचलना पड़ा। जनवरी मे खानजमाँ मारा गया और उसके मरते ही उजबेग विद्रोही शान्त हो गये। अब अकबर सम्पूर्ण सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित करने और प्राचीन अमीर-वर्ग को सरकारी कर्मचारी-मात्र के स्तर तक पहुँचा देने के लिए बिलकुल स्वतन्त्र था। इन लोगों को अपनी इच्छानुसार वह जब चाहे नौकर रख सकता था और जब चाहे बरखास्त कर सकता था।

भारतवर्ष पर मिर्जा हकीम का आक्रमण (१५६६-६७ ई०)

उजबेग विद्रोह के उत्साहित होकर अकबर के सौतेले भाई काबुल के गवर्नर मिर्जा हकीम ने पंजाब पर आक्रमण किया। उसे आशा थी कि पजाब का विद्रोही-वर्ग उसका साथ देगा क्योकि उजबेग विद्रोह के नेतागण उससे पत्र-व्यवहार द्वारा सम्पर्क स्थापित किये हुए थे। भेरा के रास्ते वह लाहौर की ओर बढा जहाँ खानकलाँ ने उसका सामना किया। आक्रमण का समाचार प्राप्त कर अकबर भी १६ नवम्बर, १५६६ ई० को आगरा से चल पडा और जैसे ही वह दिल्ली पहुँचा, मिर्जा हकीम शीघ्र ही पीछे हट गया। अकबर फिर भी आगे बढता गया और जनवरी के अन्त मे लाहौर पहुँच गया। मिर्जा का पीछा करने के लिए सैनिक-दल भेजा गया। मिर्जा हकीम के सिन्धु नदी के उस पार हो जाने पर ये लोग वापस लौट आये।

मिर्जाओं का विद्रोह

अकबर जिस समय लाहौर मे ही था, उसे समाचार मिला कि सम्भल और आजमपुर जिलों मे मिर्जाओ ने विद्रोह खडा कर दिया है। विद्रोहियों मे इब्राहीम हुसैनी मिर्जा, मुहम्मद हुसैन मिर्जा, मासूद हुसैन मिर्जा और आकिल हुसैन मिर्जा थे। इन्हीं के साथ इनके दो भतीजे सिकन्दर मिर्जा और महमूद मिर्जा (शाह मिर्जा) भी आ मिले थे। ये लोग तैमूर के द्वितीय पुत्र के वशज थे और अकबर के साथ इनका रक्त सम्बन्ध था। इनके विद्रोह का सम्भवतः यह कारण था कि इनके विचारानुसार राजवंश के साथ रक्त-सम्बन्ध होने के कारण इन्हें जीविका-निर्वाह के लिए अधिक अच्छे साधन उपलब्ध होने चाहिए। हुमायूँ के समय के मुहम्मदजमाँ मिर्जा और मुहम्मद सुल्तान मिर्जा का अनुकरण कर इन लोगों ने भी अपने आसपास की शाही जमीन हथिया ली थी। मुनीमखाँ के इन लोगों को पराजित किया और इन्हें मालवा मे खदेड़ दिया। किन्तु गुरिल्ला युद्ध-प्रणाली व्यवहार में लाने के कारण ये लोग स्थान-स्थान पर भागते रहे और १५७३ ई० तक पूरी तरह दबाये नही जा सके। यही समय उजबेग विद्रोह का भी था और इन्ही लोगो ने मिर्जा हकीम को हिन्दुस्तान आने और अकबर पर दूसरा आक्रमण करने के लिए निमन्त्रण भेजा था। किन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं, इन लोगों का नेता, खानजमाँ, लड़ाई मे मारा गया और उसके भाई बहादुरखाँ को फाँसी दे दी गयी। उजबेग उपद्रव शान्त होने के साथ ही मिर्जाओं का विद्रोह भी लगभग उसी समय समाप्त हो गया। मिर्जाओ को मालवा से खदेड़ दिया गया और यहाँ से ये लोग गुजरात भाग गये। १५७३ ई० मे अकबर ने इस प्रान्त मे जब दूसरा अभियान आरम्भ किया तो इन विद्रोहियों को अन्तिम रूप से कुचल दिया गया। इसके बाद इसका नामोनिशान भी न रहा। अन्तिम विद्रोह १५८० ई० मे हुआ। यह उन सामन्तों का विद्रोह था थो उसके पिता के समय से राजघराने से निकट सम्बन्ध रखते थे। यह विद्रोह इतना फैल गया कि अकबर के जीवन और राजसिंहासन को भी खतरा पैदा हो गया था। साथ ही यह उन सरदारों द्वारा आरम्भ किया गया था जो उसके राजपरिवार के अत्यन्त निकट थे। किन्तु जैसा हमें ज्ञात है, यह विद्रोह भी

१५८१ ई० मे सफलतापूर्वक शान्त कर दिया गया और इसके बाद अकबर को अपने सरदारो मे किसी प्रकार के विरोध-विद्रोह की आशंका नही रही।

राजपूतों के प्रति अकबर की नीति

राजपूतों के प्रति अकबर का व्यवहार किसी अविचारशील भावना का परिणाम नहीं था और न राजपूतों की धीरता, वीरता, स्वदेश-भक्ति और उदारता के प्रति सम्मान का ही परिणाम था। उसका यह व्यवहार एक सुनिर्धारित नीति का परिणाम था और यह नीति स्वलाभ, योग्यता की स्वीकृति तथा न्याय-नीति के सिद्धान्तो पर आधारित थी। आरम्भ में ही अकबर ने यह अनुभव किया था कि उसके मुसलमान कर्मचारी तथा अनुयायी, जो विदेशी भाड़े के टट्टू होने के कारण अपनी स्वार्थ-सिद्धि से ही मुख्यत. प्रेरित होते थे, पूर्णतः भरोसा करने के योग्य नही थे। लगभग अपने राज्यारोहण के समय से ही उसे अपने घर तथा दरबार मे विद्रोहियो का सामना करना पड़ा था। शाह अबुलमाली से लेकर शाह मसूर तक मुसलमान विद्रोहियों की एक बडी सूची बन जाती है, जिन्होंने अकबर से विद्रोह किया और मिर्जा हकीम को राजगद्दी देने के लिए षड्यन्त्र रचा। इन सबको अकबर ने उच्च पदों पर नियुक्त किया था। शाह अबुलमाली ने तो उद्धत व्यवहार का प्रदर्शन करते हुए अकबर के राजतिलक (१६ फरवरी, १५५६ ई०) मे सम्मिलित होने से इनकार कर दिया था और शाह मंसूर यद्यपि प्रधानमन्त्री के पद तक पहुँच गया था तो भी उसने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। बैरामखाँ ने भी शाहशाह के प्रति असन्तोष प्रकट करते हुए उसके विरुद्ध खड़े होने का प्रयत्न किया (यद्यपि पूरे दिल से नही) और सम्राट के प्रति अपने जीवन भर की स्वामिभक्तिपूर्ण सेवाओं के नाम पर बट्टा लगा लिया। माहम अनगा भी सिद्धान्त-हीन और स्वार्थलिप्सा मे ही लिप्त दिखायी दी। उसके बेटे आधमखाँ ने अकबर के सत्ताधिकार की अवहेलना की (१५६१ ई०) और मालवा की लूट के बहुत-से माल को स्वयं ही पचा गया। कुछ दिन बाद ही प्रधानमन्त्री अतगाखाँ की हत्या कर डाली और अकबर द्वारा इस कृत्य के लिए फटकारे जाने पर उसने बादशाह का हाथ पकड़ने का दुस्साहस भी कर डाला (१५६२ ई०)। आसफखाँ प्रथम और अब्दुल्लाखाँ उजबेग के विद्रोह (१५६४ ई०) के पश्चात खानजमाँ का विद्रोह आरम्भ हुआ और खानजमाँ के अपने उजबेग साथी-संगियो के साथ अकबर के जीवन और राजसिंहासन के लिए ही खतरा पैदा कर दिया (१५६५-६७ ई०)। इसके पश्चात बादशाह के सम्बन्धी-मिर्जाओं ने विद्रोह आरम्भ किया जो १५७३ ई० के बाद भी चलता रहा। उसे यही विद्रोह हुमायूँ को अपने धूर्त भाइयो और सम्बन्धियों (मिर्जा लोगों) द्वारा दी गयी मुसीबतों की याद दिलाता था। अपने लोगों ही द्वारा, जिनके ऊपर विदेश में शासनाधिकार की सुरक्षा के लिए भरोसा किया जा सकता था, इस प्रकार समय-समय पर विद्रोह खड़ा करते देख अकबर को आरम्भ मे ही यह बात स्पष्ट हो गयी कि यदि उसे भारतवर्ष मे अपने राज्याधिकार को सुरक्षित रखना है तथा अपने राजवंश को आगे बढाना है तो उसे यहीं से प्रमुख-प्रमुख राजनीतिक तत्त्वों का सहयोग-समर्थन

प्राप्त करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त एक बात और थी। अभी तक अफगानो का विरोध भी पूरी तरह शान्त नही हुआ था, अफगान मुगलो को उनके (अफगानों के) जन्मसिद्ध अधिकार छीन लेने वाले समझते थे। अफगान जाति के लोग अभी तक विहार, बगाल और उडीसा के बहुत-से भू-भागो पर अपना प्रभाव और अधिकार जमाये हुए थे, काबुल तथा सीमान्त प्रदेश मे तो इनका पूरी तरह प्रभाव था ही। स्वार्थी सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह का पुत्र शेरखाँ आधुनिक उत्तर प्रदेश के पूरबी भाग मे से मुगल-सत्ता को उखाड़ फेंकने की तैयारी मे लगा हुआ था और सुलेमान करारानी भारतवर्ष में अफगानो का नेता बनने की जी-तोड कोशिश कर रहा था, किन्तु अकबर ने अपनी दूरदर्शिता से उस तथ्य को हृदयगम कर लिया जिसे समझने में उसके पिता और पितामह ने भूल की थी। अकबर ने यह भली प्रकार समझ लिया कि राजपूतो के ऊपर जिनके अधिकार मे विस्तृत भू-प्रदेश है, असख्य सैनिक-दल है, जो अपनी बात के पक्के है तथा अपने पौरुष-पराक्रम के लिए प्रसिद्ध है, विश्वास किया जा सकता है और उन्हे मित्र बनाया जा सकता है। फलतः उसने इन लोगो का सहयोग प्राप्त करने का निश्चय किया और यह भी तय किया कि स्वार्थसिद्धि करने वाले मुगलों, उजबेगों तथा अफगानी सरदार और अफसरो के विरुद्ध उन्हें भिडाया जाय। इस नीति का अनुसरण करते हुए उसने आमेर (जयपुर) के राजा भारमल को अपने अधीन बनाना स्वीकार कर लिया और कछवाह राजपूत-राजवंश के साथ जनवरी १५६२ ई० मे वैवाहिक-सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया। उसने भगवानदास और मानसिह को ऊँचे पदों पर राजकर्मचारी नियुक्त कर दिया और उसे यह शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि ये लोग उसके अनेक उच्चपदस्थ मुसलमान कर्मचारियो से कही अधिक स्वामिभक्त है। इन कछवाये राजपूतो की स्वामिभक्ति परखने के पश्चात ही अकबर ने अन्य राजपूत राजाओं को उसे अपना सम्राट मानने तथा ऊँचे से ऊँचे मुसलमान सरदारों एवं कर्मचारियों के साथ समानता तथा स्वाभिमान के साथ उसके यहाँ कार्य करने के लिए प्रेरित किया था। उसने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि यदि उन्ही के अधिकार मे उनके राज्य स्वतन्त्र छोड़ दिये जायँ और उनको अपेक्षित मान-प्रतिष्ठा दी जाय, तो ये लोग उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लेंगे। उसकी यह धारणा सत्य सिद्ध हुई। एक के बाद एक, इस प्रकार राजस्थान के प्राय. सभी राज्यो ने उसके साथ सन्धि कर ली और इन शासको को मुगल दरबार मे मनसबदार बना दिया गया। किन्तु यह परिणाम केवल सन्धि-वार्ताओ द्वारा ही उपलब्ध नही हो गया, इसके लिए सैनिक कार्यवाहियाँ भी करनी पड़ी तथा लडाइयाँ भी लडी गयी। मेरटा का पतन १५६२ ई० से हुआ और रणथम्भोर का १५६८ ई० मे। १५७० ई० में मारवाड़, बीकानेर और जैसलमेर ने बिना सामना किये ही मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार कर ली। राजस्थान और मध्यभारत की अन्य रियासतो ने भी इन्ही का अनुसरण किया। अकेले मेवाड़ ने ही इस प्रस्ताव को अपमानजनक समझते हुए अस्वीकार कर दिया और लम्बी लड़ाई के पश्चात राजधानी चित्तौड़ के भी शत्रु के हाथो मे चली जाने और डूंगरपुर,

बाँसवाड़ा और प्रतापगढ के सजातीय राजवंशो द्वारा मुगल अधीनता स्वीकार करलेने पर भी वह इसके पृथक रहा। अकबर ने उदारतापूर्वक बहुत-से राजपूत राजाओ को उसके साथ युद्ध करने पर भी क्षमा कर दिया और इन लोगो को भी उसने वैसा ही मान-सम्मान प्रदान किया जैसा उनको जिन्होने बिना युद्ध किये ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। धार्मिक कट्टरता से मुक्त होने के कारण उसने दिल्ली के पूर्व-सुल्तानो के प्रतिकूल राजपूतों को काफिर तथा राजनीतिक दृष्टि से हीन घोषित नही किया था और न इन सुल्तानो की भाँति उसने मन्दिरों और मूर्तियो के विनाश करने की नीति ही अपनायी थी। सच तो यह है कि जिन-जिन राजपूत राजाओ ने उसके साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये थे, उन्हें उसने सदैव अपना सम्बन्धी समझा। इसका परिणाम यह निकला कि वे राजपूत राजे जो ३५० वर्षों से दिल्ली के तुर्क-अफगान सुल्तानों से जूझते आये थे, मुगल सिंहासन के प्रबल समर्थक ही नही बन गये, बल्कि देश में मुगल शासन को फैलाने के साधन भी सिद्ध हुए। अकबर के शासनकाल मे जो सैनिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक उन्नति हुई, उसमें इन्होंने यथेष्ट योगदान किया। इसके सहयोग से मुगल शासन को सुरक्षा और स्थायित्व ही प्राप्त नही हुआ, बल्कि देश मे अपूर्व समृद्धि एवं सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियो का समन्वय हुआ, जो मुगल शासन की एक अमूल्य देन है।

अकबर की धार्मिक नीति का विकास—

अकबर का जन्म और पालन-पोषण अपेक्षाकृत अधिक उदारतापूर्वक वातावरण में हुआ था। उसके पिता सुन्नी थे, उसकी माता फारस की शिया थी और उसका जन्म एक हिन्दू सरदार के घर मे हुआ जहाँ उसे एक महीने तक रहना पड़ा था। यद्यपि हुमायूँ अपने धार्मिक विचारों मे बहुत कट्टर था, तथापि शिया मत के साथ ऊपरी रूप से उसे समझौता करना पड़ा था। उसका अत्यन्त स्वाभाविक सरदार बैरामखाँ पक्का शिया था। बैरामखाँ ही जो बाद मे अकबर का सरक्षक बना, उसकी (अकबर की) धार्मिक नीति-निष्ठा और व्यवहार के लिए उत्तरदायी है। अकबर के सुयोग्य शिक्षक अब्दुल लतीफ ने जो अपने धार्मिक-विश्वासों मे इतना उदार था कि फारस जैसे शियामतावलम्बी देश में लोग उसे सुन्नी समझते थे और उत्तर भारत के सुन्नी प्रभाव-क्षेत्र में लोग उसे शिया मानते थे, उसे सबसे शान्ति रखने के सिद्धान्त (सुलहकुल) का पाठ पढाया था। इस सिद्धान्त को अकबर कभी नही भूला। इस प्रकार वंशानुगत संस्कार तथा वातावरण ने अकबर की धार्मिक नीति-निष्ठा को उदारपंथी बनाने मे बहुत योग दिया। धार्मिक कट्टरता और मतान्धता के तो वह स्वभावतः प्रतिकूल था। बैरामखाँ के पश्चात आने वाले कुछ वर्षों में कतिपय प्रमुख धर्मान्ध मुसलमानों के विरुद्ध उसे सख्त कदम उठाने के लिए प्रेरित किया गया, किन्तु फिर भी उसने किसी प्रकार की धार्मिक कट्टरता का परिचय नहीं दिया। बीस वर्ष की आयु पूरी करने से पूर्व ही उसने युद्ध में सैनिकों को बन्दी बनाने और बाद में उन्हें मुसलमान बनाने के

बुरे नियम को बन्द करवा दिया था। वैसे यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो वह अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति था; जीवन और मृत्यु की समस्याओ पर प्राय: गम्भीर विचार किया करता था और बीस वर्ष की आयु पूरी करने पर तो धर्म और राजनीति में समन्वय और सामजस्य न स्थापित कर पाने के कारण उसका मन गहरी पीड़ा का अनुभव करने लगा। अकबर ने लिखा है, "बीस वर्ष की आयु पूरी करने पर मै आन्तरिक कटुता का अनुभव करने लगा था और अपनी अन्तिम यात्रा के लिए किसी आध्यात्मिक समाधान के अभाव मे मेरा मन अत्यन्त खिन्न हो चला था।" अकबर की यह आध्यात्मिक चेतना ही उसके द्वारा १५६३ ई० मे 'यात्री-कर' के बन्द किये जाने के लिए उत्तरदायी है। यह कर तीर्थ-स्थानो की यात्रा करने वाले हिन्दुओं पर लगाया जाता था। दूसरे वर्ष एक और क्रान्तिकारी कदम उठाया गया। 'जजिया' कर जो गैर-मुसलमानो पर लगाया जाता था और जिसे पूर्वकालीन तुर्क-अफगान सुल्तानों, यहाँ तक कि अकबर के पिता और पितामह ने भी वसूल करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझा, समाप्त कर दिया गया। यद्यपि इन बातों द्वारा अकबर की धार्मिक नीति मे मूलतः परिवर्तन का आभास मिलता है, तथापि अपने व्यक्तिगत जीवन में सम्राट बहुत वर्षों तक एक निष्ठावान किन्तु उदार मुसलमान था। तत्कालीन इतिहास-लेखक बदायूँनी के वृत्तान्तानुसार हमें पता चलता है कि अकबर दिन मे न केवल पांच बार 'नमाज' ही पढता था, बल्कि वह राज्य, धन-दौलत और मान-प्रतिष्ठा प्रदान करने की भगवान की अपार अनुकम्पा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के निमित्त प्रतिदिन प्रातःकाल ईश्वर का चिन्तन करता था और 'या-हू या-हादी' का ठीक मुसलमानी ढग से उच्च स्वर से पाठ करता था। वह मुसलमान धार्मिक पुरुषो का सत्संग-लाभ करता था और प्रत्येक वर्ष अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह की भक्ति-भाव से यात्रा करता था और इसी उद्देश्य से १५७५ ई० के आरम्भ मे फतेहपुरसीकरी मे उसने एक इबादतखाना (पूजागृह) का निर्माण करवाया था, जिसमे प्रति बृहस्पतिवार की संध्या समय नियमित रूप से धार्मिक विचार-विमर्श हुआ करता था। आरम्भ मे यह धार्मिक वाद-विवाद केवल मुसलमान शेख-सैय्यद और उलेमाओं तक ही सीमित था और केवल मुसलमान अमीर ही इसमे निमन्त्रित किये जाते थे। सुल्तानपुर के मुल्ला अब्दुल्ला, जिन्हें मखदूम-उल-मुल्क को उपाधि प्राप्त थी, तथा प्रमुख सदर शेख अब्दुल नबी इन विवादों में प्रमुख भाग लिया करते थे; किन्तु आपस में इनमे मत-भिन्नता होने के कारण अकबर के ऊपर इनका प्रभाव कम होने लगा। मखदूम-उल-मुल्क और अब्दुल नबी इस्लामी धर्मशास्त्र सम्बन्धी सैद्धान्तिक प्रश्नो पर परस्पर लड़ बैठे और एक-दूसरे के तर्क-कुतर्क के प्रति अवांछनीय असहिष्णुता का खुला प्रदर्शन भी करने लगे। कुछ विद्वानो ने तो अपने विरोधियों को बुरा-भला कहा और एक-दूसरे की नीतियों पर हमला भी कर डाला। बदायूँनी लिखता है, "एक रात उलेमाओं की गर्दनों की नसें आवेश में तन गयी और भयकर कोलाहल मचने लगा। शाहंशाह उनके इस व्यवहार से बहुत क्रोधित हुआ।" इस प्रकार की घटनाएँ इबादतखाने में कई बार

घटित हुई थी। "यह सुनने पर कि हाजी इब्राहीम ने पीली और लाल रंग की पोशाकें पहनने को न्यायसंगत घोषित करते हुए 'फतवा' जारी किया है, मीर आदिल सैय्यद मुहम्मद ने बादशाह की उपस्थिति में उसे धूर्त और मक्कार कहा और उसे मारने के लिए अपना डण्डा भी उठा लिया....।" इन लोगों के इस प्रकार के उत्तरदायित्व-शून्य व्यवहार, इस्लाम की तात्त्विक दृष्टि से विवेचना करने की असमर्थता तथा इन लोगों के व्यक्तिगत स्वार्थों को देखकर अकबर ने यह समझ लिया कि सत्य की खोज इन लोगो की आपसी तू-तू मैं-मै से बाहर ही की जानी चाहिए।

अकबर के धार्मिक विचार-विश्वासों के विकास का द्वितीय दौर अब आरम्भ होता है। कट्टर इस्लाम में उसका विश्वास हिल गया था। अब उसने इबादतखाने के द्वार दूसरे धर्म-सम्प्रदायों; जैसे हिन्दू, जैन, पारसी, ईसाई के लिए भी खोल दिये थे। २२ जून, १५७९ ई० के दिन फतेहपुरसीकरी की प्रमुख मस्जिद की वेदी पर चढ़कर उसने कवि फैजी द्वारा कविता मे रचित 'खुतबा' पढा। सितम्बर मे फैजी और अबुल फजल के पिता शेख मुबारक ने बादशाह के कहने से 'मजहर' (प्रपत्र) पेश किया जिसके द्वारा सारे देश में इस्लाम सम्बन्धी विवादो में अकबर को पंच-फैसले का अधिकार दिया गया। इस प्रपत्र पर प्रमुख मुसलमान धार्मिक पुरुषो ने, जिनमें मखदूम-उल-मुल्क और अब्दुल नबी भी शामिल थे, हस्ताक्षर किये। इस प्रपत्र का मसौदा निम्न प्रकार था :

"चूंकि हिन्दुस्तान अब शान्ति और सुरक्षा का केन्द्र तथा न्याय-नीति का स्थान बन गया है, जिससे उच्च और निम्न वर्ग के लोगों और मुख्यतः आध्यात्मिक विद्या-विशारद विद्वान और वे लोग जो ज्ञान-विज्ञान का प्रचार-विस्तार करते हैं तथा मुक्ति के मार्गप्रदर्शक बने हुए हैं, अरब और फारस देशों से यहाँ आकर बस गये हैं; अब प्रमुख उलेमा ने, जो केवल कानून के विभिन्न अंगो के ही विशेषज्ञ और ज्ञाता नहीं, तर्क और प्रमाण पर आधारित नियमों से परिचित ही नहीं बल्कि अपनी सच्चाई और सदाशयता के लिए भी प्रसिद्ध हैं, प्रथम तो कुरान की आयत— "ईश्वर की और पैगम्बर की और उनकी जिन्हें सत्ता प्राप्त है आज्ञा-पालन करो", दूसरे, "जो आदमी कयामत के दिन खुदा का प्यारा होता है वही असली नेता होता है; और जो अमीर की आज्ञा-पालन करता है, वह मेरी आज्ञा-पालन करता है; और जो इसके प्रति विद्रोह करता है, वह मेरे प्रति विद्रोह करता है" के सिद्धान्त और तीसरे, तर्क और प्रमाणों पर आधारित अन्य अनेक सबूतों का अच्छी तरह से मर्म समझ लिया है और इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि न्यायप्रिय राजा का स्थान ईश्वर की दृष्टि मे मुजतहिद (धार्मिक नेता) से कही ऊँचा होता है।

"आगे हम यह घोषित करते हैं कि इस्माम धर्म का राजा, मानवता का आश्रय स्थल, स्वामिभक्तों का सेनापति, संसार मे ईश्वर का स्वरूप, अबुलफतेह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर, बादशाहे गाजी, सबसे अधिक न्यायप्रिय और बुद्धिमान राजा है और उसे ईश्वर का ज्ञान प्राप्त है।

"इसलिए यदि भविष्य में ऐसे धार्मिक प्रश्न उठ खड़े हों, जिन पर मुजतहिदों

की रायें भिन्न-भिन्न हो, तो सम्राट अपनी सूक्ष्म-दृष्टि और बुद्धिमता के अनुसार सुव्यवस्था की दृष्टि से देश की भलाई के लिए इन विरोधी मतो मे से किसी एक को स्वीकार करने की कृपा करेंगे और यह मत हीं उसकी सारी प्रजा पर लागू समझा जायगा।

"यदि सम्राट कुरान के अनुसार तथा देश के हित मे कोई नयी आज्ञा जारी करना उचित समझेंगे तो सभी लोग उसे मानने के लिए बाध्य समझे जायेंगे और इसका विरोध करने पर उन्हे इस लोक में धार्मिक अधिकार तथा धन-सम्पदा से वंचित होना पड़ेगा तथा दूसरे लोक मे कष्ट मिलेगा।

"यह प्रपत्र विशुद्ध भावनाओं के साथ ईश्वर की कीर्ति और इस्लाम के प्रचार के लिए लिखा गया है तथा इस्लाम के प्रमुख उलेमा और प्रमुख धर्मशास्त्रियो द्वारा रजब के महीने में हिजरी ६८७ (अगस्त-सितम्बर १५७६ ई०) इस पर हस्ताक्षर हुए हैं।"

उपर्युक्त प्रपत्र द्वारा जिसे गलती से 'अचूक आज्ञापत्र' कहकर पुकारा गया है, अकबर को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह मुस्लिम धर्मशास्त्रियो के विरोधी मतों में से किसी एक को स्वीकार करे तथा मतभेद-विहीन मामलो पर किसी भी नीति को निर्धारित करे, बशर्ते कि वह कुरानविहित हो। इस प्रकार अब अकबर ने स्वयं यह अधिकार प्राप्त कर लिये जो अब तक उलेमाओं और विशेष रूप से प्रमुख सदर के अधिकार माने जाते थे। अब से वह मुसलमान प्रजाजनो के लिए धार्मिक सत्ताधिपति भी बन गया। यह कहना (जैसा आधुनिक इतिहासकार स्मिथ और वूल्जले हेग ने कहा है) कि अकबर पोप भी बन गया और राजा भी, उचित दिखायी नही देता।

यद्यपि इबादतखाने मे धार्मिक विचार-विमर्श होते रहते थे, किन्तु अकबर ने अन्य मतों और सम्प्रदायों के विद्वानो को बुलाकर निजी बैठकें आयोजित करनी भी आरम्भ कर दीं। सूफी मत में उसकी दिलचस्पी समाप्त हो जाने के पश्चात वह शिया विद्वानों की ओर आकर्षित हुआ। गिलान के श्रेष्ठ विद्वान हकीम अबुल फतेह ने अकबर को विशेष रूप से प्रभावित किया। एक अन्य शिया मुल्ला मुहम्मद याजदी तो सम्राट के अत्यन्त निकट आ गये और इन्होंने सम्राट को शिया बनाने का प्रयत्न भी किया; किन्तु अकबर को शिया-मत में कोई शान्ति और समाधान प्राप्त नहीं हुआ और वह सूफियों की ओर आकर्षित हुआ। शेख फैजी और बदख्शां के मिर्जा सुलेमान ने जो ईश्वरद्रष्टा (साहिबे हाल) समझे जाते थे, अकबर को सूफी-मत के सिद्धान्तों और क्रियाओं—जैसे ईश्वर से साक्षात्कार करना—के रहस्य से परिचित कराया। यद्यपि अकबर स्वभाव से ही रहस्यवादी था और कई बार उसे रहस्यानुभूतियाँ हुई थीं, किन्तु सूफी-मत अपने उद्देश्य के लिए उसे पर्याप्त और सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता था। इसलिए उसने अन्य धर्मों में समाधान ढूंढने की चेष्टा की और हिन्दू साधु-संन्यासियों, ईसाई पादरियों तथा पारसी विद्वानों का सत्संग करना आरम्भ कर दिया। सत्य तक पहुँचने के लिए उसकी जिज्ञासा-वृत्ति इतनी अधिक और तीव्र थी कि रात्रि

में आराम और नीद त्यागकर भी वह अपने शयन-कक्ष मे ब्राह्मण विद्वान पुरुषोत्तम और देवी तथा अन्य मत-सम्प्रदायों के धर्मशास्त्रियों के साथ विचार-विमर्श करता रहता था, किन्तु हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी और ईसाई कोई भी मत उसके सुविस्तृत अन्तर्प्रदेश को पूरी तरह प्रभावित नही कर सका।

एक सच्चे जिज्ञासु की भाँति अकबर वैज्ञानिक भाव से सत्य की खोज करने मे लगा ही रहा। बदायूँनी लिखता है, "रात और दिन लोग ज्ञान-विज्ञान के गूढतम प्रश्नों, इतिहास की विचित्रताओ, प्रकृति के आश्चर्यो और ईश्वरीय ज्ञान सम्बन्धी तत्त्वो की खोजबीन करते ही रहते थे....। सम्राट ने इन सभी पक्षो को देखा-भाला है। सभी तरह कि धार्मिक-क्रियाओ और मत-विश्वासो को भी देखा-समझा है और अपनी संग्रह बुद्धि तथा इस्लाम के सिद्धान्त के प्रतिकूल खोजबीन की भावना से उन चीजों का संग्रह कर लिया है, जिन्हे लोग पुस्तको द्वारा प्राप्त कर सकते है।" जीवन-भर की उसकी खोजबीन का यह परिणाम हुआ कि अकबर यह विश्वास करने लगा था कि "सभी धर्मों मे समझदार लोग होते है और वे स्वतन्त्र विचारक भी होते है....जब सत्य सभी धर्मो मे है तो यह समझना भूल है कि सच्चाई सिर्फ इस्लाम धर्म तक सीमित है, जबकि इस्लाम धर्म अपेक्षाकृत नवीन है जिसकी आयु केवल हजार वर्ष की ही होगी।" (आइने अकबरी, भाग १, पृष्ठ १७९)

अकबर का तर्कसम्मत विश्वास इस्लाम के परम्परागत स्वरूप मे पहले ही हिल गया था। कयामत के इस्लामी सिद्धान्तों को उसने मानने से इनकार कर दिया और इलहाम की बात तो उसने एक ओर ही रख दी थी। उसे यह विश्वास ही नही होता था कि कोई स्वर्ग कैसे जाता है, वहाँ से लम्बी बातचीत करके इतनी जल्दी वापस आ जाये कि उसका बिस्तर गरम का गरम मिले। बहुत-सी हिन्दू और फारसी रीतियों और विश्वासों को भी उसने अपना लिया था, जैसे पुनर्जन्म का सिद्धान्त और सूर्य-उपासना। इस प्रकार इस्लाम से उसकी विरक्ति आरम्भ हुई। आधुनिक इतिहासकारों में से बहुतों का यह विचार है कि अकबर जीवन-भर और अन्त समय तक भी मुसलमान ही रहा। किन्तु इस पुस्तक का लेखक उनके विचारों से सहमत नहीं है। हिन्दू धर्म के प्रतिकूल इस्लाम एक सुनिश्चित धर्म है और जो व्यक्ति इस धर्म के पाँच मूलभूत सिद्धान्तों—कलमा (ईश्वर की एकता, मुहम्मद की पैगम्बरी), पाँच नमाजों, रमजान के रोजों, जकात और हज—में विश्वास नहीं रखता, मुसलमान नहीं कहा जा सकता। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास तथा सूर्य की उपासना, चाहे वह यह समझकर ही की जाय कि सूर्य प्रकाश का स्रोत है, मुसलमानी धर्म के मूल सिद्धान्त के बिलकुल विरुद्ध है। इस्लाम धर्म का दावा है कि सत्य पर केवल उसी का एकाधिकार है, अन्य धर्मों में सत्य नहीं है और जो कुछ पहले पैगम्बरों ने शिक्षा दी थी। वह सब मुहम्मद की शिक्षा द्वारा रद्द हो गयी है क्योंकि मुहम्मद सबसे अन्तिम और सबसे बड़े पैगम्बर हुए हैं। इसके विपरीत, अकबर तो मुहम्मनद को केवल एक पैगम्बर ही मानता था, उसे सर्वश्रेष्ठ पैगम्बर नहीं मानता था। हमारे पास तत्कालीन

कोई ऐसा प्रमाण नही है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अकबर अपने बाल्यकाल के धर्म मे निष्ठा रखे रहा। बोर्टेल्हो और पैरुशिची, जिनकी यही धारणा थी, उस काल के इतिहासकार नही थे और उन्होंने जो अपनी राय प्रकट की है वह केवल जैसुइट पादरियो के लेखो पर आधारित है। १५८६ ई० में अब्दुल्लाखाँ उजबेग को अकबर द्वारा लिखे गये पत्र को भी, जिसमें उसने लिखा था कि वह मुसलमान है, इस सम्बन्ध मे प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत और स्वीकार करना भी उचित नही है। वह तो केवल कूटनीतिक पत्रव्यवहार था जिसमे सत्य की प्रतिष्ठा नही थी। यद्यपि अकबर ने इस्लाम धर्म को छोड दिया था, तथापि मुसलमानी सभ्यता की सभी बातो को छोड़ना उसके लिए असम्भव था क्योकि उसका बाल्यकाल उसी सभ्यता में व्यतीत हुआ था।

'दीन-इलाही'

धार्मिक रूढियों और सत्ता से असन्तुष्ट होकर अकबर ने तर्क को ही धर्म का मूलाधार बताया और अपने साम्राज्य मे प्रत्येक मत-सम्प्रदाय को धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता प्रदान की। धर्मान्ध व्यक्तियो द्वारा एक-दूसरे के प्रति घृणा के भाव फैलाते देख अकबर को अत्यन्त क्लेश पहुँचता था और इसी धार्मिक विद्वेष को दूर करने के विचार से उसने सभी मतो का समन्वय करने का प्रयत्न किया और इसका नाम 'तवहीदे-इलाही' अर्थात दैवी एकेश्वरवाद रखा। यह एक सामाजिक-धार्मिक भ्रातृ-सम्प्रदाय था जिसका सगठन विभिन्न जातियों को एक-दूसरे के अधिक से अधिक निकट लाने के विचार से किया गया था। इसकी रचना सर्वजनीन सहिष्णुता (सुलहे कुल) के सिद्धान्त पर की गयी थी और स्वय सम्राट ने सभी धर्मों मे से अच्छी बातें संगृहीत करके इसमे रखी थी। यह नया सम्प्रदाय ईश्वर की एकता मे विश्वास रखता था। हिन्दू, जैन और पारसी धर्मों के कुछ प्रमुख सिद्धान्त भी इसमें सम्मिलित किये गये थे।

इतिहासकार बदायूँनी और जैसुइट लेखक बारटोली के अनुसार १५८२ ई० मे काबुल-अभियान से लौट आने के उपरान्त अकबर ने अपने प्रमुख दरबारियों और अधिकारियों का एक सम्मेलन बुलाया और इनके सम्मुख 'दीन-इलाही' का स्वरूप प्रस्तुत किया। उसने विभिन्न मत सम्प्रदायों के पारस्परिक विद्वेष का हवाला दिया और इस बात की आवश्यकता पर जोर दिया कि "इन्हें एकता में इस तरह समन्वित करना चाहिए कि भिन्न रहते हुए भी वे एक रहें। साथ ही, एक सम्प्रदाय में जो अच्छाई है उसके लाभ से वंचित न हों तथा दूसरे सम्प्रदायों में जो अच्छाइयाँ हैं उसे भी ग्रहण करें।" राजा भगवानदास के सिवाय सभी दरबारी सम्राट की राय से सहमत हो गये। कुछ दरबारी तो नये सम्प्रदाय के सदस्य बन गये। दीन-इलाही का पृथक विधि-विधान था। जब कोई व्यक्ति इसका सदस्य होना चाहता था तो अबुल फजल, जो इस सम्प्रदाय के प्रधान पुरोहित थे, उसका परिचय देते थे। तब वह व्यक्ति अपनी पगड़ी अपने हाथ मे सँभालते हुए अपना सिर बादशाह के कदमों में

करना ही आरम्भ कर दिया था, उचित नही है। निस्सन्देह अकबर अपने आपको अपने प्रजाजनो का धार्मिक और भौतिक अधिनायक समझता था। राजपद के सम्बन्ध में उसकी धारणा पिता-परक थी और वह स्वयं को अपनी प्रजा का पिता समझता था।

अकबर और ईसाई धर्म

विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन मे रुचि रखने के कारण अकबर ने गोआ से पुर्तगाली मिशनरियो को बुला भेजा, जिससे वे उसे ईसाई धर्म के सिद्धान्तो से भलीभाँति अवगत करा सकें। उसका निमन्त्रण स्वीकार कर तीन बार ईसाई मिशन विभिन्न तिथियों मे भारत आये और उन्होने अपने धर्म के सिद्धान्त से बादशाह को परिचित कराया। पहला ईसाई मिशन जिसमे रिडोल्फ अक्वैविवा, एण्टोनी मौनसेरेट और एनरिक्वेज सम्मिलित थे, १९ फरवरी, १५८० ई० को फतेहपुरसीकरी आ पहुँचा। अप्रैल १५८२ ई० तक ये लोग बादशाह के अतिथि के रूप मे यहाँ ठहरे। दूसरा मिशन जिसमे ऐडवर्ड लैटोन और क्रिस्टोफर-डि-वागा थे, १५९१ ई० से १५९२ ई० तक दरबार मे रहा। तीसरा मिशन जिसमें जैरोम, जुँवियर, पिनहैरो और वैनेडिक्ट-डि गोएज सम्मिलित थे, मई १५९५ ई० मे लाहौर आया। इन्हीं दिनो बादशाह अकबर भी लाहौर मे ठहरा हुआ था। मिशन के प्रमुख पादरी अकबर की मृत्यु (१६०५ ई०) के उपरान्त भी मुगल दरबार में ठहरे रहे। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों से पूर्ण परिचय प्राप्त करने का उत्कृष्ट अभिलाषी होने के कारण अकबर ने इन पादरियो के प्रति अपेक्षित श्रद्धा और शिष्य-भाव का ही प्रदर्शन नही किया, बल्कि ईसाइयो की ईसामसीह और मेरी आदि की मूर्तियों के प्रति भी यथेष्ट श्रद्धा प्रकट की। इन पादरियों के गिरजाओ मे भी वह प्राय: आया-जाया करता था और उनके त्यौहारो में भी सम्मिलित होता था। आगरा और लाहौर में केवल गिरजाघर बनाने के लिए ही उसने इनको आज्ञा प्रदान् नहीं की थी, बल्कि सार्वजनिक रूप से पूजा-पाठ करने, त्यौहार-उत्सव मनाने तथा हिन्दू-मुसलमानो को ईसाई धर्म मे दीक्षित करने की आज्ञा भी इन्हें दे दी थी। इन ईसाई पादरियो को उच्च श्रेणी का सरकारी अतिथि मानते हुए अकबर ने इन्हें प्रत्येक प्रकार की सुख-सुविधाएँ ही प्रदान नही की, बल्कि इनके आने-जाने तथा अन्य प्रकार के सारे खर्चों को भी स्वय उठाया। उसने अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि वे इन पाददियो से पुर्तगाली भाषा पढ़े और ईसाई धर्म की जानकारी प्राप्त करे। बादशाह के ऐसे आतिथ्यपूर्ण व्यवहार तथा ईसाई धर्म के प्रति इतनी जिज्ञासा देखकर ईसाई मिशनरियाँ यह समझने लगी कि वह ईसाई धर्म स्वीकार करने की ओर अग्रसर हो रहा है और इसी धारणा के आधार पर इन लोगो ने गोआ और लिस्बन मे अपने उच्च अधिकारियों को अतिरजित समाचार भेजने शुरू कर दिये। जैसे सम्राट ने सारे साम्राज्य मे से इस्लाम धर्म की समाप्ति कर दी है, मस्जिदों को अस्तबलो मे परिवर्तित कर दिया है और आदमियों को मुहम्मद अहमद नाम रखने की भी निषेध-आज्ञा जारी कर दी है। किन्तु इन मिशनरियों को शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि अकबर का हिन्दू, जैन अथवा पारसी धर्म को धारण करने की तरह

ईसाई धर्म को अपनाने का भी कोई विचार नहीं है। असन्तुष्ट मिशनरियो ने फिर यह कहना शुरू किया कि सम्राट अहंकारी है, अपने को पैगम्बर समझे हुए है, अपनी असख्य पत्नियो का परित्याग करके केवल एक के साथ रहने में असमर्थ है, इसलिए वह ईसाई धर्म स्वीकार नही कर सकता। इन पुर्तगाली मिशनरियों की ऐसी ऊट-पटाँग बातो को कुछ आधुनिक यूरोपियन इतिहासकारो ने सत्य समझ लिया है। वी० ए० स्मिथ तथा वूल्जले हेग ने बिना किसी ठोस तर्क और प्रमाण के यह निष्कर्ष निकाला है कि दूसरे धर्म-सम्प्रदायों की अपेक्षा ईसाई धर्म के प्रति अकबर की कही अच्छी राय थी तथा राजनीतिक कठिनाइयों के कारण ही वह इस धर्म को नही अपना सका। सत्य तो यह है कि तर्क-प्रिय होने के कारण अकबर किसी ऐसे धर्म में विश्वास ही नही कर सकता था जो इस्लाम तथा सत्ता पर आधारित हो।

अकबर और जैन-धर्म

ईसाई धर्म की अपेक्षा जैन धर्म ने अकबर को अधिक प्रभावित किया था। जयपुर के राजवंश के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण ऐसा मालूम होता है कि बादशाह जैन धर्म के विद्वानों के सम्पर्क में बहुत पहले ही आ गया था। १५६८ ई० मे कहा जाता है कि उसने जैन धर्म के दोनों पक्षो के मध्य शास्त्रार्थ करवाया था। १५८२ ई० में गुजरात से तप-गच्छ के महान जैनाचार्य हीरविजय सूरी को जैन धर्म के सिद्धान्त समझाने के लिए निमन्त्रण देकर बुलवाया था। सम्राट ने इनका अपूर्व स्वागत किया। इनके अगाध ज्ञान, गम्भीर चिन्तन तथा साधु-स्वभाव से प्रभावित होकर अकबर ने वर्ष में कुछ दिनों के लिए स्वयं माँस-भक्षण करना बन्द कर दिया, बहुत-से बन्दियो को छोड दिया और पशु-पक्षियों के वध पर रोक लगा दी। हीरविजय सूरी मुगल राज-दरबार में दो वर्ष तक रहे। इन्हें 'जगतगुरु' की उपाधि दी गयी और अबुल फजल ने अकबर के दरबार में उन सर्वोच्च २१ विद्वानों मे, जिनके लिए यह कहा जाता था कि ये लोग 'दोनों लोको का रहस्य जानते है', इन्हें भी रखा। इनके पश्चात कुछ अन्य जैनाचार्यों ने भी सम्राट से भेंट की। इन लोगो मे शान्तिचन्द्र, विजयसेन सूरी, भानुचन्द्र उपाध्याय, हर्ष सर और जय सोमा उपाध्याय प्रमुख थे। कुछ उच्चकोटि के जैनाचार्य तो दरबार में स्थायी रूप से रहने लगे थे। खरतर-गच्छ सम्प्रदाय के जैना-चार्य जिनचन्द्र सूरी की विद्वत्ता और साधु-स्वभाव की महिमा सुनकर १५९१ ई० में अकबर ने इन्हें अपने दरबार में निमन्त्रित किया था। कैम्बे से लाहौर तक जैन-विधान के अनुसार पैदल-यात्रा करते हुए ये १५९१ ई० मे लाहौर पधारे और अकबर ने इनका बड़े आदर के साथ स्वागत किया। हीरविजय सूरी की भाँति इन्होंने भी बहु-मूल्य भेंटों को स्वीकार नही किया और बादशाह को जैन धर्म के सिद्धान्तों को सफलता के साथ समझाया कि उसने प्रसन्न होकर इन्हे 'युग-प्रधान' की उपाधि प्रदान की। जिनचन्द्र सूरी ने लाहौर में चातुर्मास व्यतीत किया और १५९२ ई० मे अकबर के साथ काश्मीर चल दिये। बादशाह के ऊपर इनका प्रभाव भी हीरविजय सूरी के प्रभाव की भाँति स्थायी सिद्ध हुआ।

जैन-मुनियों के उपदेशों का अकबर के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने शिकार खेलना, जिसका वह बेहद शौकीन रहा था, बन्द कर दिया और माँस खाना भी लगभग बन्द कर दिया। साल के आधे दिनों मे उसने जानवरों और पक्षियों की हत्या करना बिलकुल बन्द करवा दिया। निषेध दिनों पर पशु-पक्षियों का वध करने पर मौत की सजा देने का विधान था। इन आज्ञाओं का कठोरतापूर्वक पालन करने के लिए सभी प्रान्तों के गवर्नरों और स्थानीय अधिकारियो के नाम 'फरमान' जारी कर दिये गये थे।

अकबर और पारसी धर्म

अकबर को पारसी धर्म जैन धर्म से भी अधिक पसन्द आया। १५७३ ई० मे सूरत मे उसने उस समय के महान् पारसी पुरोहित नवसारी के दस्तूरजी मेहरजी राणा से भेंट की थी। १५७८ ई० मे सम्राट ने इन्हें दरबार में निमन्त्रित किया और पारसी धर्म के सिद्धान्तों का इनसे ज्ञान प्राप्त किया। इबादतखाने के धार्मिक वाद-विवादों में मेहरजी राणा ने प्रमुख भाग लिया और धर्म के सिद्धान्त इस खूबी के साथ समझाये कि बादशाह ने पारसी धर्म के कुछ विधानों को व्यवहार में लाना आरम्भ कर दिया। दस्तूरजी राणा को २०० बीघे जमीन जीविका-निर्वाह के लिए प्रदान की गयी। उन्हें अधिकार था कि वे इस जमीन को बाद मे अपने लड़को के नाम भी कर जायें। एक वर्ष से अधिक समय तक मुगल दरबार मे रहने के पश्चात पारसी पुरोहित मेहरजी राणा १५७९ ई० में सूरत लौट गये। पारसी धर्म के कई विधि-विधानों को सम्राट ने व्यवहार में लाना आरम्भ कर दिया था। पारसी-विधान के अनुसार ही राजमहल में पवित्र 'अग्नि प्रज्ज्वलित की गयी थी और अबुल फजल की देखरेख में यह बराबर जलती रहती थी। बादशाह अग्नि, सूर्य और प्रकाश के प्रति पूजाभाव प्रकट करने लगा। संध्या व्यतीत होने पर जिस समय बत्तियो में प्रकाश किया जाता था तो सारे दरबार को श्रद्धा-भाव से खड़ा हो जाना पड़ता था। सूर्य के सम्मुख साष्टांग प्रणाम के द्वारा अकबर ने सूर्य-उपासना भी आरम्भ कर दी थी। पारसी त्यौहारों एवं पारसी सम्वत् को वह बड़े उत्साह से मनाता था। प्राचीन पारसी-पत्रों को भी उसने व्यवहार में लाना आरम्भ कर दिया।

अकबर और हिन्दू धर्म

उन सब धर्मों मे, जिनकी जानकारी उसने प्राप्त की थी और जिनकी उसने आलोचनात्मक जाँच भी की थी, सम्भवत: हिन्दू धर्म ने उसे सबसे अधिक प्रभावित किया था। हिन्दू विद्वानों और साधु-संन्यासियों को बुलाने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि सम्राट आरम्भ से ही इन लोगों के निकट सम्पर्क में रहा था और हिन्दू धर्म के बहुत-से सिद्धान्त-विधानों से वह परिचित भी था। किन्तु श्रुति और स्मृतियों में बताये हुए हिन्दू धर्म-सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से उसने हिन्दू विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया। इन विद्वानों में पुरुषोत्तम और देवी प्रमुख थे। रात्रि के समय ये लोग बादशाह के शयन-कक्ष के झरोखों के समीप उपस्थित होते थे और यहाँ

हिन्दू धर्म-सिद्धान्तो को विशद् व्याख्या करते थे। सम्राट ने हिन्दू धर्म के बहुत-से विश्वासो और विधानो को अपना लिया था; उदाहरणार्थ, पुनर्जन्म और कर्मवाद के सिद्धान्त। हिन्दू रहन-सहन को भी उसने अपनाया था। रक्षाबन्धन, दशहरा, दिवाली और बसन्त आदि हिन्दू त्यौहारों को वह बड़े उत्साह से मनाता था। कभी-कभी वह अपने मस्तक पर हिन्दुओं की भाँति तिलक भी लगाया करता था। हिन्दू राजाओं के विधान के अनुसार उसने भी प्रतिदिन प्रात.काल अपनी प्रजा को झरोखे द्वारा दर्शन देना आरम्भ कर दिया था। अपनी माता के स्वर्गवास पर उसने हिन्दुओ की भाँति ही अपना मुण्डन करवाकर शोक मनाया था। यदि हिन्दू पण्डितों और राजाओ में इतनी उदारता होती कि वे मुसलमान राजा को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने को तैयार होते और उस समय मूर्ति-पूजा तथा जात-पाँत को दूर करने की चेष्टा करते, तो सम्भव था कि अकबर हिन्दू धर्म ग्रहण कर लेता। यह बड़े दुख की बात है कि सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमारे पूर्वजों ने अकबर को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने को वाछनीय नही समझा। द्वेष-भाव के होते हुए भी केवल हिन्दू जनता ही नही, बल्कि विद्वान पण्डित एवं राजा भी अकबर को अपने में से ही एक समझते थे और हिन्दू धर्म के प्रति उसका जो श्रद्धा-भाव था उसके सम्बन्ध में उन्होंने एक कहानी भी गढ़ डाली थी। यह परम्परा मुर्तजा हुसैन बिलग्रामी की 'हदिकतुल अकालीम' में दर्ज है, जिसे लेखक ने अपने पूज्य पिता से सुना था। कहा जाता है कि अकबर पूर्वजन्म मे मुकन्द ब्रह्मचारी नाम का एक सन्यासी था, जिसने प्रयाग मे इस उद्देश्य से तपश्चर्या की थी कि वह दूसरे जन्म में एक शक्तिशाली क्षत्रिय राजा बने और भारतवर्ष से इस्लाम को विनष्ट कर दे। किन्तु दुर्भाग्य से तपश्चर्या में किसी प्रकार की कोई भूल रह जाने के कारण उसने मुसलमान घर मे ही जन्म लिया। फिर भी अपने पूर्व-संस्कारो के कारण अकबर एक हिन्दू राजा की भाँति व्यवहार करता था और हिन्दू धर्म-संस्कृति का पूरा-पूरा ख्याल रखता था। बहुत-से हिन्दू तो अकबर के दर्शन किये बिना कलेवा भी नही करते थे। कुछ चापलूस पण्डितों ने तो यह कहना भी शुरू कर दिया था कि अकबर सारे संसार का अधिपति है और सारे धर्मों का आदि-स्रोत है। अकबर ने भी हिन्दू विचारधारा तथा हिन्दुओं का-सा रहन-सहन अपनाने का प्रयत्न करते हुए लोगों के ऐसे विचारो की बहुत कुछ पुष्टि ही की थी।

अकबर पाखण्डी नहीं था

जैसा असन्तुष्ट मिशनरियों तथा कुछ अन्य धर्मान्ध व्यक्तियो की राय रही है, अकबर विभिन्न मत-सम्प्रदायो में दिलचस्पी रखने के बावजूद पाखण्डी नहीं था। निस्सन्देह वह सत्य का सच्चा अन्वेषक था। बदायूँनी का प्रमाण कि फतेहपुर-सीकरी में वह अपना समय ईश्वर की पूजा में व्यतीत किया करता था और १५७८ ई० तक वह एक निष्ठावान मुसलमान था, पहले ही दिया जा चुका है। अबुल फजल के लेख से ज्ञात होता है कि उसका विशाल हृदय विभिन्न मत-सम्प्रदायों को एक-दूसरे के प्रति संकीर्णतावश घृणा प्रसारित करते देख अत्यन्त दुखी होता था। वह प्रायः प्रश्न

किया करता था कि "क्या धार्मिक और सांसारिक प्रवृत्तियों मे समावेश नही हो सकता ?" (**आईने अकबरी, भाग १, पृ० १६२**) जब वह मुसलमान नही रहा था, तभी वह निजी रूप से दिन मे चार बार—सूर्योदय के समय, दोपहर में, सूर्यास्त के समय और अर्द्ध रात्रि मे—प्रार्थना किया करता था और इन प्रार्थनाओ में पर्याप्त समय लगाता था। जीवन के उत्तर-पक्ष मे इन प्रार्थनाओं ने सूर्य, अग्नि और प्रकाश की भक्ति-उपासना का रूप ले लिया था। जहाँगीर अपने आत्मचरित्र मे लिखता है कि उसके पिता "एक क्षण के लिए भी ईश्वर को नही भूलते थे।" (**तुजके जहाँगीरी, भाग १, पृ० ३७**) इन धार्मिक विधि-विधानों का पालन करने के अतिरिक्त अकबर का सम्पूर्ण जीवन ही ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धो की खोज करने की चेष्टा में संलग्न हुआ जान पडता है। उसकी बहुत-सी उक्तियो से ईश्वर की सत्ता मे उसके अमिट विश्वास और उसकी पवित्रता का सच्चा प्रमाण मिलता है। वह कहा करता था कि "इस बात पर विवाद करने मे कोई लाभ नही है कि प्रकृति मे खला (vacuum) असम्भव है; ईश्वर सर्वव्यापी है।" अन्य उक्तियों मे उसने कहा है, "जन्मदाता और जीव में एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित है, जिसे शब्दो द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता।" एक स्थान पर उसने कहा है, "जो निराकार है, उसे न जागते हुए देख सकते है और न सोते हुए; किन्तु उसे स्वानुभूति द्वारा अनुभव कर सकते हैं। अनुभूति द्वारा इसी को ईश्वर-दर्शन समझना चाहिए।" (**आईने अकबरी, भाग ३, पृ० ३८०**) ऐसी ही अनेक उक्तियाँ और प्रस्तुत की जा सकती हैं; किन्तु उपर्युक्त उक्तियाँ ही काफी हैं जिनसे ज्ञात हो जायगा कि अकबर एक विशुद्ध धार्मिक व्यक्ति था। प्राचीन हिन्दू राजा जनक की भाँति ही (जिन्हें राजर्षि की उपाधि प्राप्त थी) अकबर भी इसी सिद्धान्त पर चलता था कि एक सच्चा धार्मिक होने के साथ ही कोई व्यक्ति सांसारिक कर्तव्यो को भी सफलतापूर्वक सम्पन्न करता रह सकता है। वह कहा करता था कि सांसारिक कार्यों मे संलग्न रहते हुए भी मनुष्य को भगवान का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए। मन की यह दशा केवल वांछनीय ही नही है, बल्कि व्यावहारिक भी है। इसी बात को वह एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया करता था कि जिस प्रकार स्त्रियाँ छोटे-छोटे झुण्डों में कुएँ-तालाबों से पानी लेने जाती हैं और सिर पर दो-दो, तीन-तीन गगरी रखे हँसी-दिल्लगी करती हुई चली आती है, किन्तु पानी की एक बूँद भी छलकने नहीं देतीं, उसी प्रकार समस्त कार्य करते हुए भी मनुष्य यदि चाहे तो अपने मन से ईश्वर के विचार को एक क्षण के लिए भी पृथक नही कर सकता।

युवराज सलीम का विद्रोह (१५९९-१६०४ ई०)

अकबर के प्रिय पुत्र सलीम ने जिसे वह शेखो बाबा कहकर सम्बोधित किया करता था, अपने विद्रोह के कारण अपने पिता के अन्तिम दिनों को दुखमय बना दिया था। बड़ी मनौतियाँ मनाने और प्रार्थनाओं के पश्चात अकबर को सन्तान-प्राप्ति हुई थी। सलीम का जन्म ३० अगस्त, १५६९ ई० को फतेहपुरसीकरी में शेख सलीम-चिश्ती की कुटिया मे राजा भारमल की बेटी, कछवाहा राजकुमारी के गर्भ से हुआ

था। पुत्र-जन्म के समय अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के दरगाह की पैदल-यात्रा की जो प्रतिज्ञा अकबर ने की थी, उसे खुशी से उसने पूरा किया। अत्यन्त लाड़-प्यार और देखभाल के साथ पालन-पोषण किये जाने पर भी इसी सुपुत्र ने बालिग होने पर अपने पिता को हटाकर राजसिंहासन पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। अकबर की आशा-अभिलाषाओं के प्रतिकूल सलीम एक उद्धत और आरामपसन्द राजकुमार के रूप में विकसित होने लगा। १५९९ ई० में जब सम्राट खानदेश के मीरन बहादुर के विरुद्ध चढाई करने की तैयारी कर रहा था, तो सलीम को अजमेर का गवर्नर नियुक्त किया गया और मेवाड़ के राणा अमरसिंह को, जो अपनी कुल-परम्परा के अनुरूप ही अपने पैतृक राज्य की रक्षा के लिए वीरता के साथ जबर्दस्त संघर्ष कर रहा था, परास्त करने का कार्य सौंपा गया। मेवाड़ की पहाडियो और जंगलो मे कष्ट सहते हुए शत्रु से भिडना सलीम को नापसन्द था, इसलिए वह राणा के विरुद्ध कुछ भी करने में सफल नही हुआ। इस पर अकबर उससे नाराज हो गया और वह अपने तृतीय पुत्र दानियाल पर अधिक कृपादृष्टि रखने लगा। (द्वितीय पुत्र मुराद अधिक सुरापान करने के कारण १२ मई, १५९९ ई० को चल बसा था।) अबुल फजल भी सलीम के विलासी स्वभाव से असन्तुष्ट था; वह भी उसके विरुद्ध ही अपना प्रभाव काम में लाया। इन्हीं कारणों से सलीम भी; जो बहुत दिनों से राजसिंहासन प्राप्त करने की प्रतीक्षा करता आ रहा था; उद्विग्न हो उठा और उसने विद्रोह करने का निश्चय कर डाला। अजमेर के शहबाजखाँ कम्बू के मर जाने के पश्चात सलीम ने उसकी सारी धन-दौलत पर अपना अधिकार कर लिया और इलाहाबाद जाने के लिए आगरा की ओर चल दिया। उसकी दादी यह समाचार पाकर उससे मिलने और विद्रोही योजनाओं को त्याग देने के लिए उसे समझाने हेतु आगरा से चली, किन्तु उससे बचकर सलीम ने जल्दी ही यमुना नदी पार की और इलाहाबाद की ओर चल दिया। मार्ग में बिहार आते हुए ३० लाख रुपयों के शाही खजाने को भी उसने छीन लिया। इलाहाबाद, अवध और बिहार में उसने अपने निजी अफसरों को नियुक्त कर दिया और स्वयं एक स्वतन्त्र राजा के रूप में व्यवहार करने लगा। अकबर इस समय खानदेश मे असीरगढ़ के घेरे मे व्यस्त था। अपने लड़के द्वारा विद्रोह खड़ा कर देने के समाचारों पर अविश्वास प्रकट करने का बहाना करते हुए सम्राट ने सलीम को अपनी उच्छृङ्खलता समाप्त करने का पत्र भेजा। सलीम से टालमटोल-भरा उत्तर भेज दिया और पूर्ववत आचरण करता रहा। इसके पश्चात अकबर ने सलीम के सहपाठी शरीफ को उसे समझाने के लिए भेजा, किन्तु सलीम ने उसे अपने ही पक्ष में कर लिया और उसे अपना मन्त्री भी नियुक्त कर दिया।

असीरगढ़ के पतन के पश्चात अकबर ने दानियाल को दक्षिण का जिसके अन्तर्गत खानदेश और बरार तथा अहमदनगर का कुछ भाग था और जिनकी राजधानी दौलताबाद थी, वायसराय नियुक्त किया और स्वयं सलीम के विरुद्ध उचित कार्यवाही करने के लिए आगरा वापस चल दिया। २३ अगस्त, १६०२ ई० को वह राजधानी

में आ पहुँचा और अपने बेटे से बातचीत शुरू कर दी, किन्तु सलीम की माँगें इतनी विचित्र थी कि इन्हें पूरा नही किया जा सकता था। अकबर द्वारा थोडी सख्ती से पेश आने का इतना परिणाम अवश्य हुआ कि सलीम जो एक बडी फौज के साथ इटावा तक बढ आया था, इलाहाबाद वापस लौट गया। उसने बंगाल और उडीसा की गवर्नरी स्वीकार नही की और कहा जाता है कि अपने नाम के सिक्के ढलवाने भी आरम्भ कर दिये। अकबर ने अपने सबसे योग्य और परम प्रिय मित्र अबुल फजल को दक्षिण से बुला भेजा, जिससे सलीम के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के विषय में सलाह ली जा सके। किन्तु सलीम ने अबुल फजल की, जबकि वह नरवर के आसपास आ पहुँचा था, १९ अगस्त, १६०२ ई० को ओरछा के विद्रोही बुन्देला सरदार वीरसिंह देव द्वारा हत्या करवा दी। इस दुखद समाचार को पाकर अकबर क्रोध और दुख से भर गया और उसने वीरसिंह देव को पकड लेने और मार डालने की आज्ञा जारी कर दी। किन्तु बुन्देला सरदार किसी प्रकार बचकर निकल भागा और जहाँगीर की कृपा-दृष्टि प्राप्त करते रहने के लिए जीवित रहा। सलीमा बेगम ने सलीम को समझाने का व्रत लिया और उसे इलाहाबाद जाने की आज्ञा दे दी गयी। उसने सलीम को आगरा चलकर अपने पिता के प्रति झुक जाने के लिए राजी कर लिया। सलीम की दादी ने उसे बादशाह के सम्मुख पेश किया। सलीम ने आँसू बहाते हुए पिता के चरणो मे सिर रख दिया और अपने अपराधों के लिए उससे क्षमा माँगी। बादशाह के लिए अब कोई चारा नही था। उसने उसे उठाकर प्यार से आलिंगन किया और उसे क्षमा प्रदान कर दी। १२,००० स्वर्ण-मुद्राओं तथा ७०० हाथियों की भेंट भी उसने स्वीकार कर ली। यह सब फरवरी १६०३ ई० में हुआ। अक्तूबर मे सलीम को मेवाड़ के ऊपर चढ़ाई करने के लिए भेजा गया। वह फतेहपुरसीकरी तक तो चला गया, किन्तु यहाँ से उसने सम्राट के पास समाचार भेजा कि उसे इलाहाबाद जाने की आज्ञा दी जाय, जिससे जरूरत के लिए गोला-बारूद काफी मात्रा मे वहाँ से लाये। यह जानते हुए भी कि राजपूताने पर चढाई करने के लिए सलीम की इच्छा नही है, अकबर ने उसे इलाहाबाद जाने की आज्ञा दे दी। इलाहाबाद मे शाहजादा सलीम शराब का बेहद पियक्कड बन गया और वहाँ कई बडे जघन्य कृत्य भी उसने कर डाले। १६०३ ई० में उसकी पहली पत्नी ने जो मानसिंह की बहन थी, उसके दुर्व्यवहार से तंग आकर अफीम खाकर आत्महत्या कर डाली। इस घटना से सलीम और मानसिंह के मध्य स्नेह-सम्बन्ध बिलकुल समाप्त हो गया। सलीम ने एक संवाद-लेखक की, जिसने अकबर के पास उसके नृशस कृत्यों का समाचार भेजा था, जीवित अवस्था में ही खाल खिचवा ली। क्रोध में आकर उसने अपने एक नौकर को पीटते-पीटते जान से मार दिया और अपने पिता के एक और अन्य नौकर को निर्जीव नपुंसक बना दिया। अकबर इन समाचारों को पाकर अत्यन्त क्रोधित हुआ और सलीम को सजा देने के लिए स्वयं इलाहाबाद चल पड़ा, किन्तु उसे प्रथम तो नाव में पानी भर जाने, दूसरे भयंकर वर्षा और तीसरे अपनी बीमार माता की चिन्ताजनक अवस्था के कारण वापस लौटना पड़ा। उसकी

माँ ७७ वर्ष की अवस्था मे १० सितम्बर, १६०४ ई० को चल बसी। इसी वर्ष अकबर का तीसरा बेटा दानियाल भी कम्प-उन्माद से बुरहानपुर मे अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ। अकबर को इन विपत्तियो के कारण अत्यन्त सन्ताप पहुँचा और सम्भवत ऐसे समय मे सलीम के ठीक रास्ते पर आ जाने की उसकी उत्कट अभिलाषा होगी। सलीम १६ नवम्बर के दिन दो उद्देश्यो से आगरा आया। एक तो अपने पिता से मातमपुरसी करने और दूसरे इस विचार से कि कही माँ और बेटे की मृत्यु के धक्के से बादशाह चल बसे, तो समय पर वह उनके पास ही रहे। जब दरबार मे सलीम हाजिर हुआ तो बादशाह ने बिलकुल ही अप्रसन्नता प्रकट नही की, किन्तु बाद मे उसने उसे गिरफ्तार कराकर राजमहल के अपने कक्ष मे बुलाया। यहाँ पर उसने सलीम को उसके दुर्व्यवहार पर बहुत फटकारा, उसके मुँह पर एक तमाचा भी दे मारा और उसे राजा सालिवाहन की देखरेख मे स्नानागार मे बन्दी करवा दिया। राजा सालिवाहन एक उच्चकोटि का चिकित्सक था। ऐसा करने मे अकबर का शायद यह विचार था कि सलीम को मानसिक रोग है और इस चिकित्सक की देखरेख मे सम्भवत. वह ठीक हो जायगा। सलीम के प्रमुख-प्रमुख साथी-संगियों और अनुयायियों को भी गिरफ्तार करवाकर बन्दीगृह मे बन्द करवा दिया गया था। दस दिन तक शराब और अफीम से वंचित रखे जाने के पश्चात सलीम को मुक्त किया गया और उसे रहने के लिए उपयुक्त मकान दिया गया। सलीम की बुद्धि ठिकाने आ गयी और वह अपने पिता के प्रति आज्ञाकारी बन गया—इस विचार से कि कही सम्राट अधिक अप्रसन्न होकर उसके लड़के खुसरो को अपना उत्तराधिकारी न बना दें। यह भय निराधार नही था, क्योंकि उसने स्वय अपनी प्रतिष्ठा इतनी गिरा ली थी कि मानसिंह और खानआजम मिर्जा कोका जैसे प्रमुख सरदार खुले रूप मे खुसरो का समर्थन कर रहे थे। इस समय खुसरो की अवस्था सत्रह वर्ष की थी और वह बड़ा होनहार और लोकप्रिय लडका था। सलीम ने पश्चिमी प्रान्तो की गवर्नरी, जिस पर दानियाल की मृत्यु के बाद किसी को नियुक्त नहीं किया गया था, बिना किसी ऐतराज के स्वीकार कर ली और अपने प्रतिनिधियो को सरकारी कामकाज चलाने के लिए उसने वहाँ भेज दिया और स्वयं सम्राट की मृत्यु तक आगरा में ही रहा।

अकबर की मृत्यु

३ अक्तूबर, १६०५ ई० को अकबर बीमार पड़ा। उसे पेचिस अथवा किसी प्रकार के अतिसार की शिकायत थी। सलीम और उसके बेटे खुसरो के मध्य कटु सम्बन्ध पैदा होने के कारण जिससे दरबार के कुछ लोग उसकी ओर और कुछ दूसरी ओर विभाजित होकर षड्यन्त्र और कुचक्र रच रहे थे, बादशाह को और भी अधिक क्लेश पहुँचा और उसकी दशा बिगड़ती चली गयी। यह कहा जाता है कि मानसिंह और अजीज कोका सलीम को गिरफ्तार करवाकर उसकी जगह खुसरो को सिंहासन पर बैठाना चाहते थे। सम्राट का चिकित्सक हकीम अली उसके रोग का ठीक ठीक निदान ही नहीं कर सका और इसी कारण आठ दिन तक उसने कोई दवा बादशाह

को न दी। उसके पश्चात पेचिस को रोकने के लिए उसने तेज अवरोधक औषधि दी, जिससे बादशाह को बुखार हो गया और पेशाब भी रुक-रुककर आने लगा। ११ अक्तूबर को उसकी दशा अत्यधिक गिर गयी और उसने सलीम को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। उस दिन जब सलीम रुग्ण सम्राट की सेवा मे उपस्थित हुआ तो बोल सकने मे असमर्थ होने के कारण बादशाह ने सकेत से उसे शाही पगडी पहनने और हुमायूँ की तलवार कमर मे लटकाने के लिए कहा। उसी दिन पेचिस का दौरा और बढा और २५-२६ अक्तूबर, १६०५ ई० को अर्द्धरात्रि को मुगल सम्राट के प्राण निकल गये। बोटेल्हो के अनुसार वह अन्त समय तक मुसलमान बना रहा। किन्तु इस बात की पुष्टि करने के लिए कोई सबूत नहीं है। मृत्यु से चार-पाँच दिन पहले ही अकबर का बोल बन्द हो गया था, इसलिए इस बात का कि अन्त समय मे उसने अपनी भूलो को स्वीकार कर लिया था (जैसा कुछ धर्मान्ध लेखको ने लिखा है) कोई सबूत नही मिलता। अकबर का जनाजा मुसलमानी ढंग से निकाला गया और आगरा से ५ मील की दूरी पर सिकन्दरा मे उसे दफना दिया गया।

अकबर का शासन-प्रबन्ध

राजपद का सिद्धान्त

धार्मिक नीति की भाँति ही अकबर की राजपद सम्बन्धी नीति भी सहज विकास का परिणाम है। शासनकाल के आरम्भिक वर्षों मे अपनी स्थिति के सम्बन्ध मे उसके विचार-विश्वास कट्टरपंथी मुसलमान शासको के समान ही थे। उस समय वह मुसलमानो का सेनानायक (अमीरुल-मोमिनीन), धर्मरक्षक और इस्लाम का प्रचारक था। कुरान मे निहित ईश्वर की आज्ञाओ का पालन करना ही उसका मुख्य कर्तव्य था और ईश्वर के प्रति ही वह उत्तरदायी था। अन्य मुसलमान शासको की भाँति ही वह कम से कम सिद्धान्त रूप मे तो अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण मुसलमान जनसंख्या (मिल्लत) के अधीन था। 'मिल्लत' अथवा मुसलमान भ्रातृदल का जनमत मुसलमान धर्म के पण्डित, जिन्हे उलेमा कहते थे, द्वारा सचालित होता था। बाद में ये लोग ही सरकार की नीति को नियन्त्रित करने का अपना अधिकार जताने लगे थे और जनता तथा सरकार पर इन्होने काफी प्रभाव भी स्थापित कर लिया था। अकबर ने अपने ऊपर से इन बन्धनो को हटाने की चेष्टा की और 'मिल्लत' अथवा उलेमाओ से बिना सचालित हुए भी अपने प्रजाजनो का सर्वोच्च सत्ताधिपति बनने का प्रयत्न किया।। इस उद्देश्य की ओर सितम्बर १५७९ ई० मे उसने 'निर्भूत घोषणा' (महजर) द्वारा कदम बढ़ाये थे। उलेमाओं ने उसे साम्राज्य के हित मे दो विरोधी मतो मे से किसी एक मत को स्वीकार करने तथा प्रजा की भलाई में स्वेच्छापूर्वक उचित नीति का अनुसरण करने का अधिकार दे दिया, बशर्ते कि वह नीति-निर्णय मे कुरान के समर्थन-प्राप्ति की दृष्टि से इसकी एक-दो आयतें प्रस्तुत कर सके। व्यवहार मे इसका अर्थ यह हुआ कि धार्मिक सत्ता तथा शासनिक शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित हो गयीं। उसने यह अनुभव किया था कि इन दोनों सत्ताओं के पृथक्कीकरण से सरकार और राज्य-शक्ति शिथिल पड़

गयी। इसके बाद उसने अपने आपको अपने प्रजाजनों का, चाहे वे हिन्दू हों अथवा मुसलमान, निष्पक्ष शासक स्थापित करने की दिशा मे कदम उठाये। इसमे गैर-मुसलमानों को धार्मिक सहिष्णुता तथा शासन-सेवाओं मे मुसलमानो के साथ ही समान स्तर पर नियुक्ति के आधार पर नागरिक समानता का भाग निहित था। इस प्रकार की नीति बरतने से कट्टर सुन्नी उलेमाओ तथा मुसलमान अमीर-वर्ग के साथ उसका सघर्ष होना निश्चित था, जिन्होने अब तक राज्य मे यथेष्ट सुख-सुविधाओ का उपभोग किया था। इन दोनो वर्गों ने ही आगे चलकर सम्मिलित रूप से विद्रोह की अग्नि भडकायी थी। किन्तु राजपूत और ईरानियों के सहयोग-समर्थन तथा अधिकाश सुन्नी-प्रजाजनों के विश्वास के बल पर अकबर ने इस सघर्ष मे विजय प्राप्त की। इस घटना से उसकी समझ मे यह अच्छी तरह आ गया कि उसके लिए उचित मार्ग इसी मे है कि राजपद के संकीर्ण इस्लामी सिद्धान्त की परवाह न करते हुए साम्राज्य के सभी धर्म और जातियो की भलाई और सफलता के सिद्धान्त पर आधारित राजपद की एक नवीन मान्यता को वह अपनाये। इस विचारधारा का परिणाम उसके सुयोग्य मन्त्री अबुल फजल द्वारा प्रतिपादित राजपद का ईश्वरीय अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त था। अबुल फजल ने इस सिद्धान्त में यह बात सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि राजा एक सामान्य मानव से कहीं अधिक है, वह पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है, ईश्वर का रूप है (जिल्ले-आलही) और उसे एक सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा बुद्धि-विवेक का ईश्वरीय वरदान अधिक मात्रा में प्राप्त है।

अबुल फजल ने लिखा है, "राजपद ईश्वर का एक उपहार है और यह तब तक प्रदान नही किया जाता जब तक कि एक व्यक्ति मे हजारों महान गुणों और विशेषताओं का समन्वय न हो जाय। इस महान पद के लिए जाति, धन-सम्पत्ति तथा लोगों की भीड़-भाड़ ही काफी नहीं है।" (अकबरनामा, भाग २, पृष्ठ ४२१) अकबर का विचार था कि "राजाओं का दर्शन-मात्र ही ईश्वर-भक्ति का अग माना गया है। इन्हें सचमुच ईश्वर के रूप (जिल्ले आलही) कहकर पुकारा गया है और इसका दर्शन-लाभ दिल मे ईश्वर की याद जगाने का साधन है।" अकबर के अनुसार एक राजा अपनी प्रजा का सबसे बड़ा हितचिन्तक और संरक्षक होता है। उसे न्यायप्रिय, निष्पक्ष और उदार होना चाहिए। उसे अपनी प्रजा को अपने बच्चे की तरह ही समझना चाहिए और रात-दिन उसकी भलाई मे दत्तचित्त रहना चाहिए। अकबर कहता है कि "शासको की दैवी पूजा, उसकी न्याय-नीति तथा सुशासन-व्यवस्था में निहित है। प्रत्येक राजा के लिए और विशेषत: उस राजा के लिए जो ससार का संरक्षक है, अनीति और अत्याचार करना नियम-विरुद्ध है।" अकबर का विश्वास था कि राजा को प्रत्येक धर्म और जाति के प्रति पूर्ण सहिष्णु होना चाहिए और अपने साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति स्थापित करनी चाहिए। आदर्श राजा में क्या-क्या गुण और विशेषताएँ होनी चाहिए, यह बताने के बाद अबुल फजल ने अपने कथन को इस प्रकार समाप्त किया है, "इन विशेषताओं के होने पर भी यह इस महान पद के लिए तब तक योग्य नहीं है, जब तक कि वह

सर्वजनीन शान्ति और सहिष्णुता स्थापित न करे। यदि वह मानवता की सभी जातियों और धर्म-सम्प्रदायो को एक आँख से नही देखता और कुछ लोगो के साथ माता का-सा और कुछ के साथ विमाता का-सा व्यवहार करता है, तो वह इतने महान् पद के लिए योग्य नहीं हो सकता।" (**अकबरनामा, भाग २, पृष्ठ ४२१**) इन्ही विचारो को अकबर ने फारस के शाह अब्बास को लिखे गये एक पत्र मे इस प्रकार व्यक्त किया है "प्रत्येक धर्म में विश्वास के साथ ईश्वरीय दया सन्नद्ध है और व्यक्ति को सबके साथ शान्ति (सुलहकुल) की सदाबहार पुष्प-वाटिका मे लाने की महती चेष्टा करनी चाहिए।"

राजपद के ईश्वरीय उद्गम सिद्धान्त को जनता के एक विशाल बहुमत ने स्वीकार किया था। हिन्दुओ ने इसे इसलिए स्वीकार किया था कि यह सिद्धान्त प्राचीन हिन्दू राजपद के सिद्धान्त से मिलता-जुलता था तथा उन्हें संरक्षण, न्याय और समान व्यवहार का आश्वासन दिया गया था। बदायूँनी जैसे कुछ कठमुल्लों को छोडकर मुसलमानो ने भी इस सिद्धान्त में आस्था प्रकट की थी, यद्यपि यह मुसलमानी सिद्धान्त से इस रूप मे भिन्न था कि इसने कुरान के नियम-विधानों को अपना आधार न मानकर "राजा के सहज ज्ञान, जिसके द्वारा ईश्वरीय इच्छा प्रकट होती" को आधार माना था। यह सिद्धान्त उदार स्वेच्छाचारिता का ही एक रूप था और समय की अवस्था और परिस्थितियो के लिए बहुत अनुकूल था।

राजा, उसके अधिकार और कर्तव्य

अकबर एक सर्वशक्तिमान राजा था। वह स्वेच्छाचारी शासक तो था, किन्तु उदार और सुसंस्कृत था। राज्य का वह प्रमुख था, सेना का सर्वोच्च सेनापति था, प्रमुख व्यवस्थापक था और नियम-विधान निर्माण करने का सर्वोच्च अधिकार भी उसी को प्राप्त था। न्याय का आदि-स्रोत भी वह था और इसीलिए स्वय ही मुकदमों का फैसला करता तथा लोगों के झगड़ों को तय करता था। वह अपने प्रजाजनों का पिता के समान संरक्षक था। इतने विस्तृत अधिकार और सत्ता प्राप्त होने पर भी प्राचीन हिन्दू राजाओं की भाँति अकबर जनमत का आदर करना अपना परम कर्तव्य समझता था और मुश्किल से ही जनहित के विरुद्ध कभी कोई आचरण करता था। किन्तु यह बहुत कुछ शासक की व्यक्तिगत सूझ-समझ और विवेक-बुद्धि पर ही आधारित होता था। उस समय ऐसा कोई स्वीकृत विधान नही था जो राजा के कर्तव्यों को बताये, उसके अधिकारों की सीमाएँ निर्धारित करे और उसके स्वेच्छाचारी शासन पर अकुश रखे। जनता द्वारा विद्रोह खड़ा कर देने के भय तथा कुछ परम्परागत नियम-विधानों को छोड़कर वह किसी नीति-नियम को मानने के लिए बाध्य नहीं था।

अपने राज्य और सरकार का प्रमुख होने के कारण अकबर अपने विविध कर्तव्यों का पालन करने की पूरी चेष्टा कठिन परिश्रम के साथ करता था। उसके दैनिक-कार्यक्रम की झलक हमें अबुल फजल द्वारा रचित 'अकबरनामा' में मिलती है। राजकाज के लिए वह दिन में तीन बार दरबार में आता था। सूर्योदय के समय वह झरोखा-दर्शन में अपनी प्रजा को दर्शन के लिए उपस्थित हो जाता था। यहाँ पर वह

साधारण से साधारण व्यक्ति की फरियाद सुनता था और अन्य प्रकार के आवश्यक कार्य सम्पादित करता था। इसके पश्चात लगभग ४½ घण्टे तक उसका आम दरबार होता था। "यहाँ पर बड़ी भीड इकट्ठी हो जाया करती थी और बडी चहल-पहल रहती थी।" (बदायूँनी, भाग २, पृष्ठ ३२५-२६; अकबरनामा भाग ३, पृष्ठ २३७)। सभी वर्ग और श्रेणियो के स्त्री-पुरुषो को फरियाद करने और अपनी पैरवी स्वय ही करने की आज्ञा दी थी और वही पर मुकदमे को सुनने के पश्चात बादशाह मामले को तय कर देता था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी वह अन्य कार्य भी सम्पादित करता था, जैसे मनसबदारो के सैनिक-दलों का निरीक्षण करना। लगभग ४½ घण्टे राजकाज करने के पश्चात बादशाह अन्तःपुर मे चला जाता था। तीसरे पहर वह पुनः उपस्थित होता और इस समय 'दीवाने आम' मे फिर दरबार जुड़ता था। यहाँ पर वह दैनिक सरकारी कामकाजो की देखभाल करता था। सेना और कारखानो से सम्बन्धित बहुत-से कार्यों का निरीक्षण भी करता था। मनसबदारो की नियुक्ति और तरक्की तथा जागीरो की तरक्की भी इसी समय की जाती थी। यह दरबार लगभग डेढ़ घण्टे से अधिक समय तक चलता था। संध्या समय तथा प्रायः रात्रि में 'दीवाने खास' मे वह अपने मन्त्रियो और सलाहकारो से भेट करता था। यहाँ पर विशिष्ट जैसे विदेश और शासन-सम्बन्धी मामलों पर विचार किया जाता था। रात्रि में काफी समय बीतने पर युद्ध अथवा परराष्ट्र सम्बन्धी गुप्त मामलों पर वह अपने मन्त्रियो से सलाह करता था। यह मीटिंग दौलतखाना नाम के एक कमरे मे होती थी। शाही स्नानागार के निकट होने के कारण जहाँगीर के समय में इसी कमरे को गुसलखाना भी कहा जाने लगा था। अबुल फजल लिखता है, 'सम्राट रात्रि का समय दीवाने खास मे व्यतीत करना पसन्द करते हैं। विद्वान दार्शनिक और धर्मात्मा सूफियों को बुलाया जाता है तथा इसी सभा में कुछ निष्पक्ष इतिहासकार भी उपस्थित रहते है········किसी-किसी अवसर पर साम्राज्य और मालगुजारी से सम्बन्ध रखने वाले मामले भी पेश किये जाते हैं और किस मामले में क्या करना चाहिए, इस बात के लिए बादशाह आवश्यक आदेश-निर्देश देते हैं।" राजकाज सम्बन्धी कार्यों को देखने-भालने और निबटाने में अकबर प्रतिदिन लगभग १६ घण्टे लगाता था। उसने बहुत-सा कार्य तो अपने मन्त्रियों के पक्ष मे ही छोड़ रखा था। नीति निर्णय करने, आदेश-आज्ञा जारी करने तथा यह देखने के लिए कि सब कार्य नियम, काल और व्यवस्था के अनुसार किये जा रहे है या नहीं बादशाह इन सबको स्वय देखता था और सतर्क रहता था। शासन के प्रत्येक विभाग के काम का निरीक्षण वह स्वयं किया करता था। अकबर कहता है, "जो कार्य प्रजा द्वारा सम्पन्न किये जा सकते हैं, उन्हें स्वयं राजा को नही करना चाहिए। दूसरों की गलतियों को सुधारने की जिम्मेदारी तो उसकी (राजा की) है, किन्तु यदि उसकी भूलें हैं तो उन्हें कौन ठीक कर सकता है।"

मन्त्रिगण

अकबर के अधीन केन्द्रीय सरकार के चार विभाग थे। प्रत्येक विभाग की

अध्यक्षता एक मन्त्री करता था। मन्त्रिगण इस प्रकार थे—(१) प्रधानमन्त्री (वकील), (२) वित्तमन्त्री (दीवान या वजीर), (३) मुख्य वेतनाध्यक्ष (मीर बख्शी), (४) प्रमुख सदर (सदरुस सदर)। अकबर के शासनकाल के आरम्भिक वर्षों मे मन्त्रियो की नियुक्ति प्रधानमन्त्री करता था। इनकी कोई संख्या निश्चित नही थी। राज्य की बागडोर अपने हाथो मे लेने पर अकबर ने प्रधानमन्त्री को इस अधिकार से वंचित कर दिया। अब वह स्वयं ही मन्त्रियों की नियुक्ति करता और इन्हे पदच्युत करता था। उनके कार्यकाल की कोई निश्चित अवधि नहीं थी और न इनकी तरक्की के लिए ही कोई निश्चित नियम थे। प्रधानमन्त्री भी सम्राट के कहने मे पूरी तरह चलता था। अपनी इच्छानुसार वह उसे रखता था, अन्यथा बर्खास्त कर देता था। अन्य मन्त्रिगण निश्चय ही प्रधानमन्त्री के नीचे होते थे। मन्त्रियों की कोई संगठित परिषद नहीं थी। उनके विभागों से सम्बन्धित मामलों पर विचार करने के लिए उन्हें पृथक-पृथक बुलाया जाता था। कभी-कभी बादशाह प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा से ही किसी विभाग विशेष के मामले में कार्यवाही कर देता था और उस विभाग के मन्त्री को न बुलाकर किसी उच्चाधिकारी को ही बुला लिया जाता था। मुगल-राज्य के मन्त्रिगण आधुनिक काल के मन्त्रियों की भाँति मन्त्रिपरिषद के रूप में संगठित नही थे। उन्हें मिनिस्टर न कहकर सेक्रेटरी कहना उचित होगा क्योंकि नीति-संचालन सम्राट के साथ मे होता था, मन्त्रियो के हाथ मे नही।

प्रधानमन्त्री

अकबर के प्रधानमन्त्री को 'वकील' कहा जाता था। कभी-कभी उसे 'वकीले-मुतलक' भी कहते थे। पहले वह केन्द्रीय सरकार के समस्त विभागो का एक तरह से अध्यक्ष होता था और अपने अधीन मन्त्रियों को नियुक्त और पदच्युत करने का उसे अधिकार प्राप्त था। किन्तु बैरामखाँ को हटाये जाने के उपरान्त 'वकील' को इन अधिकारों से धीरे-धीरे वंचित कर दिया गया। सर्वप्रथम वित्त-विभाग उसके हाथों से छीन लिया गया और इस विभाग के लिए एक पृथक मन्त्री की नियुक्ति की गयी, जिसे 'दीवान' कहते थे। कुछ समय में ही 'दीवान' इतना प्रभावशाली बन गया कि वह 'वकील' के अधिकार और सत्ता को ढकता हुआ नजर आने लगा। आगे चलकर शाहजहाँ के राज्यकाल में दीवान ही प्रधानमन्त्री हो गया और इसके बाद 'वकील' का कोई पद नही रहा।

वित्तमन्त्री

अकबर के समय में वित्तमन्त्री को 'दीवान' अथवा 'वजीर' कहते थे। मुजफ्फरखाँ को प्रथम 'दीवान' नियुक्त किया गया था, किन्तु उसने बादशाह से स्वतन्त्र रहकर कार्य करने का विचार किया अतएव उसे पदच्युत कर दिया गया और उसके स्थान पर राजा टोडरमल को नियुक्त किया गया। मुजफ्फरखाँ, टोडरमल और शाह मंसूर—ये तीन वित्तमन्त्री हुए। ये तीनो ही उच्चकोटि के वित्त-विशारद तथा सुयोग्य शासन-प्रबन्धक थे।

वित्त विभाग का अध्यक्ष होने के नाते दीवान साम्राज्य की आय और व्यय का अध्यक्ष होता था। उसके मुख्य कर्तव्य मालगुजारी बन्दोबस्त के लिए नियम निर्माण करना, अन्य प्रकार के कर निश्चित करना तथा रुपये-पैसे के लेन-देन की देखभाल करना थे। लगभग सभी सरकारी कागजात उनके निरीक्षण के लिए उसके पास भेजे जाते थे। सभी प्रमुख सरकारी लेन-देनों के हिसाब-किताब का वह बारीकी से निरीक्षण करता था। प्रान्तीय दीवानों की नियुक्ति के लिए वह सलाह देता था तथा इन्हे समय-समय पर निर्देशन देते हुए अपने नियन्त्रण में रखता था। सभी प्रमुख मालगुजारी के कागज-पत्रों पर जिनमें बिना लगान की जागीरो के कागज-पत्र भी होते थे, उसे अपनी मुहर लगानी पड़ती थी।

दीवान को विस्तृत अधिकार प्राप्त थे। उसका काम बहुत भारी था, इसी कारण उसकी सहायता के लिए सहायक नियुक्त किये जाते थे। इन सहायको मे से एक दीवान खालसा कहलाता था, जो खालसा (बादशाह की रक्षित भूमि का कारिन्दा) होता था। दूसरा दीवाने-जागीर होता था, जो सेवा के उपहार मे दी हुई जागीरों की देखभाल करता था। तीसरा साहिबे-तौजीह कहलाता था, जो सेना सम्बन्धी हिसाब-किताब का कारिन्दा होता था। एक चौथा सहायक दीवाने-बयुतूत कहलाता था जिनका काम विभिन्न कारखानो के हिसाब-किताब की देखभाल करना होता था। सरकारी खजाना भी जो 'मुशिरफे खजाना' के प्रबन्ध मे होता था, दीवान के ही नियन्त्रण में था। इन सभी अधिकारियों की सहायता के लिए मुनीम, लेखक और चपरासी आदि कर्मचारियों को नियुक्त किया जाता था।

शासन-प्रबन्ध में वित्त विभाग की एक विशेष स्थिति और प्रमुखता होने के कारण अकबर स्वयं इसके संगठन में दिलचस्पी लेता था। उसने पाँच विशेषज्ञों की समिति नियुक्त कर दी थी जो समय-समय पर इस विभाग की कार्यविधि और प्रगति का निरीक्षण करती थी।

मीर बख्शी

'बख्शी' शब्द संस्कृत के 'भिक्षु' शब्द से निकला प्रतीत होता है। मीर बख्शी का पद सल्तनत-युग के दीवाने-आरिज के पद के समान था। दीवान के वाद इसी का दर्जा था। इस अधिकारी को एक रजिस्टर रखना होता था, जिसमें मनसबदारों के नाम, उसका दर्जा तथा उसको मिलने वाला वेतन दर्ज रहता था, सभी अधिकारियो का वेतन मीर बख्शी के कार्यालय से ही दिया जाता था। सभी दर्जे के मनसबों के नियुक्ति-पत्र उसी के कार्यालय से जारी किये जाते थे। शाही दरबार में उसे हाजिर रहना पड़ता था और वह सिंहासन के दाहिनी ओर खड़ा होता था। सैनिक-विभाग की नौकरी के लिए आने वाले उम्मीदवारों को वही पेश करता था तथा मनसबदारों के सैनिको और घोड़ो का बादशाह द्वारा निरीक्षण करना भी उसी का कार्य था। उसका एक प्रमुख कर्तव्य था बादशाह के महल की निगरानी करने वाले रक्षकों

सूची बनाना । इन रक्षकों में सभी बड़े-बड़े मनसबदार होते थे तथा इनकी ड्यूटी प्रतिदिन बदली जाती थी । विभिन्न प्रान्तो मे सवाद-लेखकों को नियुक्त करना और उनसे प्राप्त संवादों को बादशाह तक पहुँचाना भी उसी का काम था । अकबर के उत्तराधिकारियों के राज्यकाल मे इस कार्य को सँभालने के लिए एक पृथक अधिकारी रखा गया था । मीर बख्शी सेना का प्रधान सेनापति नही होता था, किन्तु कभी-कभी उसे सैनिक अभियानों का नेतृत्व भी करना पडता था । उसका कार्यालय बहुत बड़ा होता था और उसी के हस्ताक्षरों तथा सील-मुहर के साथ 'मनसबो' के प्रमाण-पत्र जारी किये जाते थे, तरक्कियाँ मंजूर की जाती थी, घोडो को दाग लगाने के हुक्म जारी होते थे और रक्षकों की ड्यूटियाँ बाँधी जाती थी । सेना के विभिन्न भागो में वेतन भी वही बाँटता था तथा उन अन्य सैनिक अधिकारियो की सूची भी उसे ही बनानी पड़ती थी, जिन्हें सम्राट के सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा होती थी ।

इस विभाग का कार्य बहुत अधिक बढ जाने के कारण मीर बख्शी की सहायता के लिए अन्य कई बख्शियों की नियुक्ति की गयी थी । ये बख्शी प्रथम, बख्शी द्वितीय, इस प्रकार आगे भी कहे जाते थे । मीर बख्शी ही अपने विभाग का कार्य अलग-अलग इन्हें सौपता था । अहदी सैनिक-दलों के लिए पृथक बख्शी होता था । दो और प्रकार के बख्शी भी होते थे जो बख्शिये-हुजूर और बख्शिये-शाहगिर्दपेशा कहलाते थे ।

सदरुस सदर

सदरुस सदर अथवा प्रमुख सदर भी एक विशिष्ट मन्त्री होता था । उसे तीन प्रकार के कार्य सम्पन्न करने पडते थे—सम्राट के धार्मिक सलाहकार के रूप में कार्य करना होता था, शाही दान-पुण्य को विभिन्न व्यक्तियो और संस्थाओ में बाँटना पडता था तथा साम्राज्य के प्रधान न्यायाधीश के रूप मे कार्य करना होता था । अकबर के शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों मे सदरुस सदर को व्यापक अधिकार और यथेष्ट मान-प्रतिष्ठा प्राप्त थी । प्रमुख धार्मिक सलाहकार होने के कारण 'शरा' के परस्पर विरोधी निष्कर्षों पर उसे अपनी अधिकारपूर्ण आज्ञा देनी पड़ती थी और उसी आज्ञा को लोगों को मानना पड़ता था । यह देखना भी उसका कर्तव्य था कि सम्राट और उसकी सरकार कुरान के आज्ञा-आदेशो के विरुद्ध तो आचरण नही कर रहे तथा इस्लाम के गौरव की रक्षा कर रहे हैं । सदरुस सदर का एक और महत्त्वपूर्ण कर्तव्य इस्लामी विद्याओ को प्रोत्साहन देना था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे विद्वान मुसलमानो से सम्पर्क रखना पड़ता था और वजीफे देकर उन्हे प्रोत्साहित भी करना पडता था । इन सब मामलों में अकबर के शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में उसे व्यापक अधिकार प्राप्त थे । प्रमुख काजी की हैसियत से सदर का सम्राट के बाद राज्य-सत्ता मे दूसरा दर्जा था । सम्राट दरबार में प्रमुख काजी की अदालत से आयी हुई अपीलों की सुनवाई करता और फैसले देता था । प्रमुख काजी की हैसियत से ही प्रमुख सदर प्रान्तों, जिलों व शहरों के लिए काजियों की नियुक्ति के लिए उम्मीदवारों की सिफारिश

करता था। अन्य मन्त्रियों की भाँति ही उसके कार्यालय मे भी क्लर्क, एकाउण्टेण्ट तथा चपरासी आदि कर्मचारी रहते थे।

शासन-तन्त्र के इस्लामी सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए जब अकबर ने अपना शासन-प्रबन्ध पुनर्संगठित कर लिया, तो प्रमुख सदर का सर्वोच्च धार्मिक सलाहकार के पद पर न रहना स्वाभाविक ही था। शासनकाल के उत्तरार्द्ध मे अकबर ने कट्टर उलेमाओं की सलाह नही ली थी। नयी व्यवस्था के अनुसार अब यह भी आवश्यक नही था कि सदरुस सदर इस्लामी कानून का उद्घोषक और इस्लामी धर्म शास्त्र का पूर्ण पण्डित ही हो। अब तो उसमें दूसरी विशेषताएँ होनी आवश्यक थी। इस सम्बन्ध मे अबुल फजल ने लिखा है, "जागीरें अथवा वजीफे प्रदान करने से पूर्व किसी व्यक्ति की स्थिति को जान लेना भी आवश्यक है और इन लोगो के प्रार्थना-पत्रों पर भली प्रकार विचार करने के लिए इस पद पर एक अनुभवी और सदाशय व्यक्ति को नियुक्त किया जाता है। इस व्यक्ति को प्रत्येक दल के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध रखने चाहिए और साधारण से साधारण जन के प्रति अपने वचन और कार्य द्वारा सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। अकबर के शासनकाल के उत्तरार्द्ध मे जो भी सदर बना उसे केवल इस्लामी विद्या को ही प्रोत्साहित नही करना था और न मुसलमान उलेमाओ का सरक्षण ही उसे अभीष्ट था। शाही दान-दया को सभी जातियों के लोगो को उपलब्ध कराना उसका कर्तव्य था।"

अकबर ने सदर को छात्रवृत्तियाँ तथा धार्मिक जागीरें प्रदान करने के अधिकार से भी वचित कर दिया। वृत्तियाँ प्राप्त करने के लिए अधिकारी विद्वानो, भले आदमियों और जरूरतमन्दो की अब वह केवल सिफारिश ही कर सकता था; इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय सम्राट का ही होता था। अकबर ने सदरुस सदर के विभाग में कई महत्त्वपूर्ण सुधार किये थे। जागीरें व वृत्तियाँ प्रदान करने के लिए उसने कई अच्छे नियम निर्धारित किये थे तथा इन्हे प्राप्त करने के लिए अपेक्षित योग्यताएँ भी निश्चित की थी, इसी कारण अब यह जरूरी नही था कि जागीरें अथवा वृत्तियाँ प्राप्त करने के लिए प्रार्थनापत्र सदर के द्वारा ही सम्राट तक पहुचे। जाँच किये जाने पर यह पता चला था कि शासन के आरम्भिक वर्षों में इस विभाग में बहुत भ्रष्टाचार फैला हुआ था जिससे बहुत-से अनधिकारी व्यक्ति बिना लगान वाली जागीरो का लाभ उठा रहे थे। अकबर ने इन जागीरो को इन लोगों से छीनने के लिए हुक्म जारी कर दिये और सदरुस सदर के अधिकार कम करने के विचार से प्रान्तों मे पृथक सदरो की नियुक्तियाँ की। इन सुधारो के पश्चात यह विभाग ठीक काम करने लगा। **(आईने अकबरी, जिल्द १, पृ० २६८-६९)**

मीर सामाँ

मीर सामाँ भी एक उच्च और प्रमुख अधिकारी होता था जिसे जहाँगीर तथा अन्य मुगल सम्राटों के शासनकाल में मन्त्री के समान ही दर्जा प्राप्त था। इस अधिकारी के बारे मे अबुल फजल ने बहुत ही साधारण जिक्र किया है और अन्य

मन्त्रियों के कर्तव्यों की भाँति इसका वर्णन नहीं किया। अकबर के राज्यकाल मे मीर सामाँ दीवान या वजीर के अधीन ही कार्य करता था। उसके (अकबर के) समय में यद्यपि उसकी गणना मन्त्रियों में नही की जाती थी, फिर भी वह एक उच्च अधिकारी माना जाता था, जिसके प्रबन्ध में शाही राजमहल, यहाँ तक कि हरम, रसोई, रक्षक, कारखाने इत्यादि भी थे। इसी कारण, मालूम होता है, उस समय उसका काफी प्रभाव और अधिकार था।

प्रान्तीय शासन-व्यवस्था

अकबर ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को प्रान्तों मे विभाजित कर दिया था और इनमें एकसी शासन-व्यवस्था स्थापित की थी। १६०२ ई० में इन प्रान्तों की संख्या १५ थी। ये प्रान्त इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, अहमदाबाद, बिहार, बंगाल, दिल्ली, काबुल, लाहौर, मुल्तान, मालवा, बरार, खानदेश और अहमदनगर थे। काश्मीर और कन्धार काबुल प्रान्त के अन्तर्गत जिले (सरकारें) थे। सिन्ध भी उस काल में थट्टा कहलाता था और मुल्तान प्रान्त का एक जिला था। उडीसा बंगाल का एक भाग था। इन प्रान्तों की एकसी लम्बाई-चौड़ाई नही थी। आय में भी वे एक बराबर नहीं थे। उस समय इन्हें सूबा कहा जाता था।

दक्षिण में तीन प्रान्त खानदेश, बरार और अहमदनगर एक साथ सम्बन्धित थे और वाइसराय के रूप में शाहजादा दानियाल इनका प्रबन्ध करता था। इन प्रान्तों के अतिरिक्त साम्राज्य के अन्तर्गत बहुत-सी रियासतें भी थीं जिनके शासकों ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर उसे अपना सम्राट मान लिया था। साम्राज्य के सभी भागों में ऐसी रियासतें थी और इनके शासकों को भिन्न-भिन्न मात्रा में मान-प्रतिष्ठा और अधिकार प्राप्त थे। शाही-सेवा के अन्तर्गत मनसबदारों की सूची में इनके नाम-पते दर्ज रहते थे। विशेष अवसरों पर इन्हें दरबार में उपस्थित होना पड़ता था और आवश्यक परिस्थितियों में सैनिक-सेवाओं के लिए भी प्रस्तुत रहना पडता था। इन रियासतों की गणना साम्राज्य के जिलों में की गयी थी और इसका सम्बन्ध उनके निकट वाले सूत्रों के साथ था। उन्हीं के साथ इन्हें सम्बन्धित कर दिया जाता था।

सूबे का प्रमुख सिपहसालार होता था, जिसके अधीन एक बड़ी सेना होती थी। आमतौर पर उसे सूबेदार अथवा खाली 'सूबा' ही कहा जाता था। वह सम्राट का प्रतिनिधि होता था और उसी के द्वारा नियुक्त किया जाता था। अपने सूबे की जनता की हित-रक्षा के लिए वह उत्तरदायी होता था तथा सभी के साथ उसे निष्पक्ष न्याय करना पड़ता था। वह फौजदारी मुकदमों का फैसला करता था। अपने शासन-क्षेत्र में उसे शान्ति और व्यवस्था कायम रखनी पड़ती थी और उपद्रवकारियों तथा विद्रोहियों को सजा देनी पड़ती थी। पुलिस और गुप्तचर विभाग में वह विश्वासपात्र व्यक्तियों को नियुक्त करता था। वह कृषि को प्रोत्साहन देता था तथा सड़कें, सरायें, बाग, अस्पताल आदि का निर्माण करवाता था। उसे यह भी ध्यान रखना पड़ता था कि लोगों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है या नहीं। जैसा उसके नाम से ही

तथा जागीर प्राप्त करने के अधिकारी हैं। काजी प्रान्त के न्याय-विभाग का अध्यक्ष होता था और वही मुकदमे करता था। इसी हैसियत से वह जिलों तथा कस्बों के काजियों के काम की देखभाल करता था।

प्रान्तीय बख्शी

मीर बख्शी की सिफारिश पर प्रान्तीय बख्शी की नियुक्ति होती थी और वह सिपहसालार के अन्तर्गत सेना की भरती, उसके संगठन, नियन्त्रण और कार्यपटुता का उत्तरदायित्व सँभालता था।

वाकयानवीस

कभी-कभी सूबे के बख्शी को वाकयानवीस का कार्य भी करना पड़ता था; वैसे आमतौर पर इस कार्य के लिए अलग ही अधिकारी रखा जाता था। वह अधिकारी अपनी देखरेख में सूबे भर में प्रमुख-प्रमुख स्थानो पर यहाँ तक कि सिपह-सालार, दीवान, काजी, फौजदार आदि अफसरो के कार्यालयों तक मे, सवाद-लेखकों और गुप्तचरों को नियुक्त करता था। ये लोग उसके पास प्रतिदिन रिपोर्टें भेजते थे। इन रिपोर्टों का वह सूक्ष्म रूप तैयार करता था और उसे शाही दरबार मे भेज देता था। क्योंकि सम्पूर्ण शासन-प्रबन्ध की सफलता गुप्तचर विभाग के ऊपर भी बहुत कुछ निर्भर होती है इसलिए इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। कभी-कभी केन्द्रीय सरकार भी अपने संवाद-लेखकों और गुप्तचरों को सूबों और परगनों में भेजती थी, जो उसी की आज्ञा-आदेशों का पालन करते थे।

कोतवाल

सूबों की राजधानी की आन्तरिक सुरक्षा, शान्ति और सुव्यवस्था तथा स्वास्थ्य और सफाई का प्रबन्ध कोतवाल करता था। उसके व्यापक अधिकार थे। उसका अपना कार्यालय तथा उसके अधीन कई कर्मचारी भी होते थे। सूबे के सभी थानों का वह सर्वोच्च प्रबन्धक होता था।

मीर बहर

मीर बहर नाव और पुलों की चुगी तथा बन्दरगाहों पर 'कर' वसूल करने का प्रबन्ध करता था।

जिले का शासन-प्रबन्ध

फौजदार

प्रत्येक सूबा कई-कई जिलों (सरकारों) में बँटा होता था। हर जिले में एक-एक फौजदार, अमलगुजार, काजी, कोतवाल, बितिक्ची और एक खजानदार होता था। जिले का प्रमुख फौजदार होता था और जैसा उसके नाम से ही प्रकट है, वह एक सैनिक अधिकारी होता था। उसके तीन प्रमुख काम थे। प्रथम, अपने शासन-क्षेत्र में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखना, सड़कों को चोर-लुटेरों से सुरक्षित रखना तथा शाही आज्ञाओं का जनता द्वारा पालन करवाना। दूसरे, एक सैनिक अधिकारी होने के कारण उसके अधीन एक छोटा-सा सैनिक-दल होता था। इस सैनिक दल को

पूर्ण सुसज्जित तथा सेवा-कार्य के लिए तैयार रखने की उसकी जिम्मेदारी होती थी। तीसरे, उसे कर वसूल करने में अमलगुजार को सहायता देनी पड़ती थी। जिले के शासन-प्रबन्ध की सफलता बहुत कुछ वहाँ के फौजदार की सतर्कता तथा उसके व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर रहने के कारण अकबर उसके (फौजदार के) तथा अन्य जिला अधिकारियो के ऊपर सतर्क दृष्टि रखता था। केन्द्रीय सरकार इन अधिकारियो के काम का निरीक्षण करने हेतु समय-समय पर अन्य उच्चाधिकारियो को भेजती थी। संवाद-लेखकों तथा गुप्तचरो की सूचनाओ द्वारा भी केन्द्र को जिले और परगनो के अधिकारियो की कार्यविधि का पता चलता रहता था। यदि वे अपने कर्तव्यपालन मे लापरवाही दिखाते थे अथवा जनता पर अत्याचार करते थे, तो उनके विरुद्ध तुरन्त कार्यवाही की जाती थी।

अमलगुजार

जिले में दूसरा प्रमुख अधिकारी मालगुजारी एकत्र करने वाला अमलगुजार होता था। उसकी सहायता के लिए बहुत-से कर्मचारी होते थे। मालगुजारी इकट्ठी करने के अतिरिक्त वह चोर-लुटेरों को सजा भी देता था, जिससे कृषकों की रक्षा हो सके। कृषकों को तकावी (कर्जा) बाँटने और उसे वसूल करने का अधिकार भी उसे प्राप्त था। मालगुजारी वसूल करते समय प्रत्येक बीघे पर एक बिस्वा की छूट भी वह दे सकता था। जिले के खजांची के कार्य का निरीक्षण भी उसे ही करना पड़ता था। आय-व्यय की मासिक रिपोर्ट भी उसे दरबार में भेजनी पड़ती थी तथा जिले की सम्पूर्ण आय शाही खजाने को वह नियमित रूप से भेजता था।

बितिक्ची

अमलगुजार के बहुत-से सहायकों में बितिक्ची का एक विशेष स्थान था। जहाँ तक मालगुजारी सम्बन्धी मामलों का प्रश्न था, अमलगुजार के बाद उसी का दर्जा था। सरकारी रूप से यद्यपि वह एक लेखक* समझा जाता था, किन्तु उसे जरूरी कागजात तैयार करने पड़ते थे, जमीन की किस्म और उस पर होने वाली पैदावार सम्बन्धी आँकड़े भी उसे तैयार करने पड़ते थे, जिनके आधार पर ही अमलगुजार मालगुजारी नियत करता था। बितिक्ची को कानूनगोओं से प्रत्येक गाँव की औसत मालगुजारी का नक्शा लेना पड़ता था। पिछले दस वर्षों की पैदावार के ऊपर ही औसत मालगुजारी का हिसाब बिठाया जाता था। उसे अपने जिले के विशेष रीति-रिवाजों और भूमि-अधिकार से परिचय प्राप्त करना आवश्यक था। उपजाऊ और बंजर जमीनों को उसे दर्ज करना पड़ता था, गाँवों की सीमाएँ बाँधनी पड़ती थीं और किसानों के साथ जो इकरारनामे किये जाते थे उनकी लिखा-पढ़ी भी करनी पड़ती थी। "उसे मुन्सिफ, सुपरिण्टेण्डेण्ट; भूमि नापने वाले और थानेदार का नाम और साथ ही काश्तकारों तथा मुखिया का नाम लिखना पड़ता था और इन सबके नीचे जिस चीज की

---

* 'बितिक्ची' तुर्की भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ लेखक होता है।

काश्त हुई है उसकी किस्म दर्ज करनी पड़ती थी।" काश्तकार मालगुजारी के रूप में जो रुपया खजाने मे जमा करता था, बितिक्ची ही उसे उसकी रसीद देता था। वह पटवारी और मुखियो के रिकार्डों का निरीक्षण करता था तथा आय-व्यय का दैनिक और मासिक हिसाब रखता था और प्रत्येक माह इनका सूक्ष्म रूप तैयार करने के उपरान्त उसे दरबार में भेज देता था।

खजानदार

अमलगुजार के साथ कार्य करने वाला जिले का दूसरा अधिकारी खजानदार (खजांची) कहलाता था। उसका मुख्य काम सरकारी आय को सँभालना, सुरक्षित रखना और उसे केन्द्रीय खजाने के लिए भेज देना था। पूर्व-राजाओं के सिक्के धातु-के भाव में ले लेने और इस प्रकार मालगुजारी जमा करने के लिए आने वाले काश्तकारों को तंग न करने की उसे हिदायत थी। वह सारा रुपया-पैसा खजाने में सुरक्षित रखता था। खजाने की एक चाबी उसके पास रहती थी और दूसरी अमलगुजार के पास। इन रुपयो मे से दूसरो को देने-बाँटने का उसे अधिकार नही था। यह रुपया केन्द्र के खजाने मे किस प्रकार भेजा जायगा, इस सम्बन्ध में विस्तार से निर्देश दिये जाते थे, जिनका सच्चाई से पालन करना अति आवश्यक था।

परगने का शासन-प्रबन्ध

शिकदार

प्रत्येक सरकार (जिला) बहुत-से परगनों या महालो में बंटा होता था। परगना निम्नतम प्रशासनिक एव वित्तीय इकाई थी। प्रत्येक परगने मे चार प्रमुख अधिकारी—शिकदार, आमिल, फोतदार और कारकुन—होते थे। इनके अतिरिक्त शेरशाह के शासनकाल के कानूनगो और चौधरी भी अर्द्ध-सरकारी कर्मचारियों के रूप मे कार्य करते थे। ऐसा मालूम होता है कि शिकदार के कार्य-कर्तव्य वही थे जो शेरशाह के शासनकाल मे थे। परगने का वह प्रमुख प्रबन्ध अधिकारी होता था और सामान्य प्रशासन के लिए वही उत्तरदायी था। परगने में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना के अतिरिक्त काश्तकारो द्वारा खजाने मे जमा करने के लिए लाये गये मालगुजारी के रुपयो को वह सँभालता था तथा खजाने के कर्मचारियों के काम की पूरी निगरानी करता था। वह फौजदारी के मामले भी निबटाया करता था। किन्तु एक मजिस्ट्रेट के रूप मे उसके अधिकार बहुत ही सीमित थे। जो मुकदमे उसकी समक्ष और अधिकार के बाहर होते थे, उन्हे वह सरकार के कोतवाल के यहाँ भेज देता था।

आमिल

आमिल (जो कभी-कभी मुन्सिफ भी कहलाता था) को सरकार के अमलगुजार के समान ही कार्य करने पडते थे। उसका मुख्य कार्य कर नियत करना और मालगुजारी एकत्र करना था। गाँव के मुखिया के जरिये नही, बल्कि काश्तकारो से उसे सीधा सम्बन्ध रखना पड़ता था। इसके अतिरिक्त शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना तथा उत्पातियों को सजा देने में उसे शिकदार को सहायता देनी पड़ती थी। मालगुजारी

एकत्र करने में यदि आवश्यकता पड़े तो शिकदार की सहायता वह ले सकता था। ऐसा भी ख्याल है कि वह दीवानी मुकदमों का फैसला भी किया करता था।

फोतदार

परगने का खजांची फोतदार होता था और उसे वही कार्य करने पड़ते थे जो जिले (सरकार) में खजानदार को करने होते थे। कारकुन क्लर्क होते थे, जो उत्पादन योग्य भूमि, क्या-क्या पैदावार हुई है, किस काश्तकार को कितनी मालगुजारी देनी है, कितना रुपया वसूल हुआ है, कितना किससे लेना शेष है, आदि बातों का लेखा करते थे। अकबर के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में शायद यह लेखा फारसी भाषा में लिखा जाता था।

कानूनगो

कानूनगो परगने भर के पटवारियों का अफसर होता था और वह परगने की पैदावार, मालगुजारी, जो रुपया वसूल हुआ, जो अभी लेना बाकी है आदि बातों का लेखा रखता था। बन्दोबस्त के विभिन्न प्रकारों, जमीन के भेद-प्रभेद तथा लगान सम्बन्धी अनेक बातों की वह जानकारी रखता था। इसीलिए अबुल फजल ने उसे 'कृषकों का आश्रय' कहा है। पहले उसे परगने की आय पर एक प्रतिशत कमीशन दिया जाता था, किन्तु अकबर ने यह प्रथा बन्द करके उसे नकद वेतन देना ही निश्चित किया था। कुछ जमीन-जागीर भी उसके निर्वाह के लिए उसे प्रदान की जाती थी।

बन्दरगाह तथा सीमान्त चौकियाँ

परगनों के अलावा कुछ स्थानों पर अन्य प्रकार के प्रशासनिक दल तैनात थे। इनके अन्तर्गत बन्दरगाह, सीमान्त चौकियाँ अथवा किले तथा थाने आदि की गणना की जाती थी। नौ-सेना मुगलों के पास नहीं थी, किन्तु उनके साम्राज्य की सीमा पूरब और पश्चिम में समुद्र तक फैली होने के कारण बहुत-से बन्दरगाह इनके अधिकार में थे। ये बन्दरगाह इस अर्थ में मूल्यवान थे कि यहाँ से बहुत-सा व्यापारिक माल जाता-आता था तथा पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित अरब में हज के लिए जाने वाले यात्रीगण यहीं से आया-जाया करते थे। इसीलिए इनकी भी प्रशासनिक इकाइयों में गणना होती थी। यह ठीक है कि ये नाममात्र के लिए ही सूबे के भाग समझे जाते थे, किन्तु कार्यरूप में जो अधिकारी इन स्थानों का प्रबन्ध करने के लिए नियुक्त होते थे, उन्हें केन्द्रीय सरकार के आज्ञा-आदेशों का ही पालन करना पड़ता था। एक बन्दरगाह का एक ही अधिकारी होता था। कभी-कभी एक से अधिक बन्दरगाह भी उसी अधिकारी के प्रबन्ध में रख दिये जाते थे। सूरत और कैम्बे जैसे बड़े बन्दरगाहों में एक फौजदार, एक काजी, एक मुहतसिब, टकसाल का एक दरोगा, मुतसद्दी, खजाने का अधिकारी, एकाउण्टैण्ट तथा कुछ कारकुन कार्य करते थे। सूरत एक जिला माना जाता था और इसके अन्तर्गत बहुत-से परगने थे। इसकी सुरक्षा हेतु काफी मजबूत रक्षक-दल रहता

था। इसी प्रकार सीमान्त चौकियों में भी रक्षक-दल रहते थे और इनका प्रबन्ध भी पृथक इकाइयों के रूप में किया जाता था। व्यापार के आने-जाने के मार्ग होने के कारण ये बन्दरगाह और सीमान्त चौकियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण थीं। इन स्थानों में सुपरिण्टेण्डेण्ट की अध्यक्षता में एक चुंगीघर होता था, जिसमें बहुत से क्लर्क, चपरासी, कुली इत्यादि कर्मचारी कार्य करते थे। यहाँ पर व्यापारियों से चुंगी वसूल की जाती थी।

म्यूनिसिपल प्रशासन

कोतवाल के वृत्तान्त के साथ आईने अकबरी में अकबर के राज्यकाल के नगर-प्रशासन की पूरी तस्वीर हमे मिलती है। विशेष महत्त्व के प्रत्येक नगर में एक कोतवाल नियुक्त किया जाता था जो पुलिस कार्य के अतिरिक्त नगर प्रशासन की देखभाल भी करता था। छोटे शहरों में जहाँ कोतवाल नहीं होता था, ये कार्य जिले के अमलगुजार को करने पड़ते थे और वही अपने अधीन कुछ ऐसे अधिकारियों को नियुक्त करता था जो उसकी देखरेख में पुलिस तथा नगर का प्रबन्ध करते रहें। (आईने अकबरी, भाग २, पृष्ठ ४७) कोतवाल की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी और वह नगर में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापनार्थ एक छोटे से सैनिक-बल का अध्यक्ष होता था। वह नगर रक्षकों को नियुक्त करता था और उन्हें नगर के भिन्न-भिन्न भागों में पहरा देने को तैनात करता था। कोतवाल ही सम्पूर्ण नगर को विभिन्न क्षेत्रों (वार्डों) में विभक्त करता और प्रत्येक वार्ड को अपने अधीनस्थ एक अधिकारी के प्रबन्ध में रख देता था। प्रत्येक शहर में काम करने वाले व्यक्ति (कारीगर इत्यादि) बहुत से संघों में सम्मिलित हो जाते थे। ये संघ मध्यकालीन यूरोपीय संघों (guilds) की भाँति ही होते थे। कोतवाल प्रायः संघ के प्रमुख को मान्यता प्रदान करता था अथवा कभी-कभी वह स्वयं भी संघ के प्रमुख को नामजद कर देता था। एक दलाल भी होता था, जिसके द्वारा व्यापार होता था। जैसा पुराने नगरों के विभिन्न मुहल्लों के नामों से ज्ञात होता है, एकसा व्यवसाय करने वाले एक ही मुहल्ले में रहते और कार्य करते थे। लोगों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करना और प्रत्येक परिवार की स्थिति की जानकारी रखना कोतवाल का कर्तव्य था। घर में कौन अतिथि आया है अथवा गया है, इस बात की जानकारी भी उसे रखनी पड़ती थी। "प्रत्येक घर का उसे एक रजिस्टर रखना पड़ता था, सड़कों की गश्त लगानी पड़ती थी, नागरिकों से पारस्परिक सहयोग करने के लिए प्रतिज्ञाएँ करवानी पड़ती थीं, और एक-दूसरे के सुख-दुख में शामिल होने के लिए उन्हें बाध्य किया जाता था।" (आईने अकबरी, भाग २, पृष्ठ ४१) नगर की सफाई का प्रबन्ध कोतवाल ही करता था। सड़कों पर कूड़ा-करकट तथा अन्य प्रकार की कोई गन्दगी नहीं रहने दी जाती थी। नगर के काहिल और निकम्मे लोगों को किसी न किसी काम में लगाना भी उसी का कर्तव्य था।

कोतवाल के कर्तव्य और अधिकारों के सम्बन्ध में हमें यथेष्ट जानकारी

प्राप्त है उसके अधिकार व्यापक थे और जिम्मेदारियाँ भी बहुत भारी थीं। उसके कार्य और कर्तव्य इस प्रकार पृथक-पृथक बताये जाते हैं—(१) शहर की रक्षा और निगरानी, (२) बाजार पर नियन्त्रण, (३) लावारिस सम्पत्ति की उचित देखभाल, (४) अनाचारों की रोकथाम, (५) बूचड़खानों तथा श्मशानों पर नियन्त्रण, (६) अकबर के सामाजिक सुधारों को कार्यान्वित कराना। "उसे या तो चोरों का पता लगाकर चुरायी गयी चीजों को उपलब्ध करना पड़ता अथवा स्वयं इन वस्तुओं का मुआवजा भरना पड़ता था।" वस्तुओं के दामों पर भी वह नियन्त्रण रखता था। उसे बाजारों का निरीक्षण करना पड़ता था और बाटों तथा गज इत्यादि को जाँचना पड़ता था। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी उत्तराधिकारी के मर जाता था तो कोतवाल ही उसके सामान-सम्पत्ति को सँभाल लेता था और उसकी सूची बनाता था तथा बाद में उसके अधिकृत उत्तराधिकारी का पता लगाकर उसे सौंप देता था। नागरिकों के जान-माल की सुरक्षा की उसे पूरी गारण्टी करनी पड़ती थी। वह किसी के घरेलू जीवन में अनुचित रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। बूचड़खानों की, जो शहर के बाहर बनाये जाते थे, देखभाल भी उसे ही करनी पड़ती थी। निश्चित दिनों पर एक भी जानवर का वध नहीं करने दिया जाता था। कसाई, बधिक तथा मृतक शरीर को ढोने वाले लोग शहर के एक कोने में रहते हैं या नहीं, यह उसे देखना पड़ता था और उसे यह भी देखना पड़ता था कि ये लोग शहर के दूसरे लोगों से मिलते-जुलते तो नहीं हैं। विदेशियों को रहने-सहने की सुविधाएँ प्रदान करना भी कोतवाल का ही कार्य था। इन लोगों को एक पृथक सराय में रहने के लिए स्थान दिया जाता था। इनके आने-जाने तथा इनकी गतिविधि पर पूरी निगरानी रखी जाती थी।

अकबर ने नगर प्रशासन को पूर्वकालीन हिन्दू-व्यवस्था पर आधारित किया था और ये नगर सामाजिक एवं मानवतावादी कार्यविधियों के मध्यस्थल बन गये थे। शाही आज्ञा-आदेशों का दृढ़ता से पालन करवाते हुए कोतवाल ही सती-प्रथा, बलात् धर्म-परिवर्तन, कम उम्र में किये जाने वाले शादी-सम्बन्धों, भ्रूण हत्याओं तथा अन्य प्रकार के दुराचारों पर कड़ा प्रतिबन्ध रखता था। दुराचारिणी स्त्रियों को शहर से बाहर रखा जाता था। कोतवाल ऐसी स्त्रियों की एक सूची रखता था तथा जो लोग इनके पास आते-जाते थे उन पर भी गिनरानी रखता था।

कोतवाल के कार्य अनेक और उसकी जिम्मेदारियाँ भारी थीं। अपने कार्यों को सुविधापूर्वक सम्पादित करने के लिए उसे पुलिस अफसर, गुप्तचर, क्लर्क तथा चपरासी आदि सहायक कर्मचारियों को नियुक्त करने का अधिकार था। कोतवाल तथा नगर के अन्य कर्मचारियों की वर्दियाँ लाल रंग की होती थीं।

ग्राम-प्रशासन

हमारी सबसे बड़ी वैधानिक देन ग्राम-प्रशासन के क्षेत्र में थी। भारतवर्ष में युगों से ग्राम-प्रशासन का सुसंगठित स्वरूप रहा है, जो गाँववासियों में भ्रातृ-भाव

फैलाने के साथ ही ग्राम-प्रशासन का कार्य भी सुगमता और सुपटुता से करता आया है। मध्यकालीन भारत मे ग्राम-प्रजातन्त्र अपने में स्वतन्त्र एवं पृथक इकाइयो के रूप में अवस्थित थे। दिल्ली के सुल्तानों ने भी इनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना लाभकारी और उचित नही समझा। शेरशाह भी ग्रामों में मुखिया, पटवारी और चौकीदार जैसे अर्द्ध-सरकारी कर्मचारियों द्वारा सम्पर्क रखता था। अकबर ने इस दिशा में एक कदम और बढ़ाया। उसने ग्राम-पंचायतों को वैधानिक रूप से न्याय करने वाली संस्थाओं के रूप में स्वीकार कर लिया और इन पंचायतों के न्याय निर्णयों को अपनी ओर से मान्यता प्रदान की। उसने पटवारी और चौकीदार का परगने की सरकार से निकटतम सम्पर्क स्थापित कर दिया। ग्राम्य-जीवन तथा ग्राम-प्रशासन में उसने हस्तक्षेप न करना ही उचित समझा; साथ ही यहाँ की प्रगतियों को सरकारी रूप से मान्यता प्रदान कर इनके गौरव को भी बढाया।

तत्कालीन अधिकारियों द्वारा ऐसी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर अकबरकालीन भारत के ग्राम-प्रशासन की पूरी और सच्ची तस्वीर प्रस्तुत की जा सके। अबुल फजल तक ने इस दिशा में बहुत थोड़ा-सा जिक्र किया है। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक ही नहीं, बल्कि कुछ रूपों मे तो वर्तमान काल तक ग्राम-प्रशासन सन्तोषजनक रूप से चलता आया है। इस बात से यह भली प्रकार समझा जा सकता है कि जन-जीवन की भलाई, दृढ़ता तथा यहाँ के शासन-प्रबन्ध मे ग्राम-प्रशासन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रत्येक गाँव मे ग्राम-प्रशासन के लिए ग्राम-पंचायतें थी, जिनमें गाँव मे रहने वाले परिवारो के प्रमुख सदस्य-रूप में सम्मिलित होते थे। यह पंचायतें ही ग्राम प्रशासन का उत्तरदायित्व सँभालती थीं। गाँव की रक्षा, स्वास्थ्य और सफाई, प्रारम्भिक शिक्षा, सिंचाई, चिकित्सा, निर्माण-कार्य, न्याय तथा लोगों नैतिक और धार्मिक उन्नति सम्बन्धी प्रबन्ध और व्यवस्था का भार ग्राम-पंचायतों को उठाना पड़ता था। पंचायतें ही ग्राम-निवासियों के खेलकूद, मनोरंजन तथा उत्सव-त्यौहारों का प्रबन्ध करती थीं। मुकदमो का फैसला करने के लिए एक पृथक पंचायत होती थी। दसवीं शताब्दी के आरम्भिक काल के एक आलेख के आधार पर ज्ञात होता है कि ग्राम-पंचायतें छह उप-समितियों में विभाजित होती थीं और प्रत्येक समिति अपना-अपना कार्य सम्पादित करती थी। ('Village Government in British India' by John Mathai, pp. 25-27)। ये उप-समितियाँ इस प्रकार थीं—१. वार्षिक समिति, २. उद्यान समिति, ३. तालाब समिति, ४. स्वर्ण समिति, ५. न्याय समिति, ६. पंचवारा समिति। इन उप-समितियों के सदस्य निश्चित चुनाव-विधि द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और ऐसा ख्याल है कि यह निर्वाचन सर्वसम्मति से होता था। इसके अतिरिक्त जाति-बिरादरी की पंचायतें भी थी, जो बिरादरी तथा कुटुम्बगत झगड़ों को तय करती थीं। प्रत्येक गाँव मे एक या दो पहरेदार होते थे। वहाँ एक पुजारी, एक शिक्षक, एक ज्योतिषी, एक बढ़ई, एक लुहार, एक कुम्हार, एक धोबी, एक नाई, एक चिकित्सक तथा एक पटवारी अथवा एक मुनीम

भी होता था। ये व्यक्ति ही ग्राम-संचालक समझे जाते थे और ग्राम प्रशासन-कार्य को ये लोग पारस्परिक प्रेम और सहयोग की भावना से करते थे।

ग्राम स्वावलम्बी होते थे और इनमें रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के दुख-दर्द में सम्मिलित होता था। प्राचीनकाल से चली आती हुई ग्राम पंचायतें हमारे समाज और संस्कृति की जीवन-रक्षा करती आ रही हैं।

सेना

मनसबदारी प्रथा

शासनकाल के आरम्भिक वर्षों में अकबर की सेना में अधिकतर मंगोल, तुर्क, उजबेग, अफगान तथा ईरानी आदि विदेशी सैनिक थे, जो बाबर और हुमायूँ के काल से ही मुगलों का साथ देते चले आये थे। सैनिक-दलों के संचालक-अधिकारी भी उसी जाति के होते थे जिसके कि सैनिक और इन्हें इनकी सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप जागीरें प्रदान की जाती थीं। हुमायूँ में नेतृत्व-शक्ति का अभाव होने तथा उसके अधीनस्थ सैनिक-अधिकारियों की बहुत कुछ स्वतन्त्र सत्ता होने के कारण सैनिक अभिजात्य-वर्ग नियन्त्रण निरपेक्ष बन गया था, जिससे मुगल सेना की शक्ति-सत्ता क्षीण हो गयी थी। सैनिक अधिकारीगण अपने अधीन उतनी संख्या में सैनिक नहीं रखते थे जितनी कि उनके लिए निर्धारित की जाती थी। ये लोग गैर-कानूनी तथा धोखे-धड़ी के कार्य भी कर बैठते थे और सरकार तथा सैनिकों को अपने निजी स्वार्थों के लिए धोखा देना इनके लिए सरल था। प्रत्येक सुधार का विरोध करना इनका मुख्य काम बन गया था। अकबर द्वारा सैनिक-सत्ता के केन्द्रीकरण की नीति को अपनाने का इन्होंने विरोध किया था। मुगल तथा उजबेग सैनिक अधिकारियों के विद्रोह का भी सामना अकबर को अपने आरम्भिक शासनकाल में करना पड़ा था। स्थिति का भली प्रकार निरीक्षण करने के पश्चात उसकी यह निश्चित धारणा बन गयी थी कि जब तक उद्धत एवं उच्छृंखल सैनिक अधिकारियों को अंकुश में रखकर सम्पूर्ण सैनिक-सत्ता को अपने हाथों में न ले लिया जायगा और नये सिरे से सैनिक-संगठन न किया जायगा, जिससे इस विभाग में प्रचलित भ्रष्टाचार दूर हो जाय, तब तक सेना सम्बन्धी समस्याओं से त्राण मिलना कठिन है। इस विचारधारा का सुपरिणाम मनसबदारी प्रणाली के रूप में सामने आया।

'मनसब' शब्द से स्थान और पद का अर्थ निकलता है। इसलिए मनसबदार शाही सेना के अन्तर्गत उच्चपद-प्राप्त अधिकारी होते थे। मनसबदारी का निम्नतम दर्जा १० का था और सर्वोच्च दर्जा १० हजार का था। अपने शासनकाल के उत्तरार्द्ध में अकबर ने इस सर्वोच्च दर्जे को १२ हजार का बना दिया था (बदायूँनी, भाग २, पृष्ठ ३४२)। जिस समय मनसबदारी प्रथा आरम्भ की गयी, उस समय ५ हजार से ऊपर के मनसब बादशाह के नाती-पोते तथा अन्य निकट के कुटुम्बियों के लिए सुरक्षित कर दिये गये थे। किन्तु बाद में राजा मानसिंह, मिर्जा अजीज कोका तथा कुछ और उच्च पदस्थ अधिकारियों को ६ हजार के मनसब प्रदान कर दिये गये थे।

इसके पश्चात ८ हजार और उसके ऊपर के मनसब शाही घराने के व्यक्तियों के लिए रक्षित किये गये। आरम्भ में अकबर ने प्रत्येक मनसब के लिए केवल एक श्रेणी निर्धारित की थी; किन्तु शासनकाल के उत्तरार्द्ध में उसने ५ हजार से नीचे के प्रत्येक मनसब में तीन श्रेणियाँ और कर दी थी। इस प्रकार बहुत-से मनसबदारो को दोहरे पद प्राप्त थे, जैसे 'जात' और 'सवार' दोनों पद एक ही मनसबदार को मिले हुए थे। यह आवश्यक नही था कि जितने का मनसब मिला हो उतनी ही संख्या मे ही कोई मनसब सैनिक रखे। उदाहरण के लिए, यह जरूरी नही था कि एक हजार का मनसबदार अपने नीचे एक हजार सैनिक ही रखे। १ हजार के मनसबदार को १ हजार सैनिकों का संचालक समझना (जैसा कि ब्लोकमैन, डब्ल्यू इर्विन, बी० ए० स्मिथ तथा कुछ अन्य इतिहासकारों ने भ्रमवश मान लिया है) गलत है। मनसबदारों को अपने सरक्षण में एक निश्चित संख्या तक सैनिक रखने तो अवश्य पड़ते थे, किन्तु यह संख्या उनके मनसब की संख्या का बहुत छोटा भाग होती थी। साम्राज्यी अधिकारियों के पद और उनके वेतन का निश्चित करने के लिए मनसब-प्रथा एक सरल माध्यम था। यह भी आवश्यक नहीं था कि किसी उच्च मनसब प्राप्त व्यक्ति को उसके मनसब के अनुरूप ही ऊँची नौकरी पर रखा जाय। राजा मानसिंह को वैसे तो ७ हजार का मनसब प्राप्त था, किन्तु उन्हें कभी भी दरबार में मन्त्रिपद प्राप्त नही हुआ। मन्त्रियों का मनसब राजा मानसिंह के मनसब से कम ही था। इसी प्रकार अबुल फजल को शाही सेना के अन्य अधिकारियों की अपेक्षा बहुत ही छोटा मनसब प्राप्त था, किन्तु मान-प्रतिष्ठा की दृष्टि से वह ऊँचे-ऊँचे मनसबदारों तथा अधिक वेतन प्राप्त अनेक व्यक्तियों से कहीं आगे थे। यह भी जरूरी नहीं था कि किसी मनसबदार को सरकारी सेवा और नौकरी में रखा ही जाये। कुछ मनसबों का बादशाह की सेवा में उपस्थित रहने और जो काम उन्हें बताया जाय उसे करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं था। सेवाएँ प्रबन्ध-सेवाएँ अथवा सैनिक-सेवाओं के रूप में विभाजित नहीं होती थी और आवश्यकता पड़ने पर किसी भी मनसबदार को किसी भी सेवा-कार्य के लिए बुलाया जा सकता था। शायद काजी और सदर को छोड़कर सभी शाही अधिकारी मनसबदारी प्रथा के सदस्य थे और अपने मनसब के अनुरूप कुछ संख्या मे उन्हें सैनिक रखने पड़ते थे। मुगल सम्राट के अधीन नरेश भी जो अर्द्ध-स्वतन्त्र रियासतों के शासक थे, मनसबदार बना दिये जाते थे और इन्हें भी अपने मनसब के अनुपात में एक निश्चित संख्या में सैनिक रखने पड़ते थे, जिनका निर्धारित समय पर उन्हें निरीक्षण कराना पड़ता था। मनसबदार की नियुक्ति, उनकी तरक्की अथवा उनके बर्खास्त किये जाने के नियम-कायदे नहीं थे। बादशाह की इच्छामात्र पर ही उनकी तरक्की होती थी और जब वह चाहता था उन्हें नियुक्त करता था अथवा पदच्युत कर देता था।

इन सम्बन्ध में प्रायः यह नियम बरता जाता था कि जब कोई मनसबदार निरीक्षण के समय निर्धारित संख्या में सैनिक-दल उपस्थित करता था और ये सैनिक चुस्त और चैतन्य पाये जाते थे, तो उसके मनसब का दर्जा बढ़ा दिया जाता था।

कभी-कभी यदि कोई मनसबदार अपनी सेवा-भक्ति द्वारा बादशाह को प्रसन्न कर लेता था तो उसे बहुत ही ऊँचे दर्जे का मनसब प्रदान कर दिया जाता था। ऊँचे दर्जे के मनसब तक पहुँचने के लिए किसी मनसबदार का विभिन्न श्रेणियों को पार करने की जरूरत नहीं थी। मनसबदारों को वेतन में भारी-भारी नकद रकम मिलती थी; कभी-कभी जागीर द्वारा भी वेतन देने का प्रबन्ध किया जाता था। अकबर जमीन-जागीर देने के बजाय नक़द वेतन देना अधिक पसन्द करता था। यदि कभी किसी मनसबदार को जागीर प्राप्त हो भी जाती थी, तो वह इसे अधिक समय तक नहीं रख सकता था और उसकी जागीर एक-प्रान्त से दूसरे प्रान्त में बदल दी जाती थी। मनसबदार-प्रथा की स्थापना के उपरान्त जागीरी क्षेत्रों में मालगुजारी भी उसी विभाग के कर्मचारियों द्वारा वसूल और एकत्र की जाती थी, जागीरदारों के गुमाश्तों द्वारा नहीं। ये लोग काश्तकारों से नियत 'कर' से अधिक कुछ भी वसूल नहीं कर सकते थे। कुछ इतिहास लेखकों—विशेषकर इर्विन, स्मिथ और मोरलैण्ड—का यह विचार है कि इन मनसबदारों का पूरे बारह महीनों का वेतन नहीं दिया जाता था, बल्कि सात, आठ अथवा नौ माह का ही वेतन दिया जाता था। तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती। उनके लेखों द्वारा यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि मनसबदारों को वेतन पूरे बारह महीने का ही दिया जाता था। यह गलत धारणा सम्भवतः इस बात से उत्पन्न हुई है कि सरकार मनसबदारों के वेतन में से लिए हुए ऋण, सामान-सज्जा देने का मूल्य तथा उनके (मनसबदारों के) अधीन रहने वाले प्रत्येक सैनिक का पाँच प्रतिशत वेतन काटती थी क्योंकि उनको राज्य की ओर से घोड़े तथा साज-सामान मिलता था।

मनसबदारों को अपने सैनिकों को भरती करने की पूरी स्वतन्त्रता थी और आमतौर पर ये सैनिक उन्हीं की जाति अथवा फिरके विशेष के होते थे। मनसबदारों में बहुत-से विदेशी तुर्क, ईरानी, अफगानी और भारतीय राजपूत थे। कुछ मनसबदार अरबी तथा अन्य विदेशी जातियों के भी थे। ऊँचे मनसब-प्राप्त भारतीय मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी। मनसबदारों को अपने घोड़े तथा अन्य प्रकार का सामान-सज्जा स्वयं खरीदने पड़ते थे। कभी-कभी सरकार भी उन्हें ये वस्तुएँ प्रदान करती थी। प्रथम निरीक्षण के समय मनसबदार के अन्तर्गत कितने सैनिक और घोड़े इत्यादि हैं, इनकी वर्णनात्मक सूची तैयार की जाती थी और घोड़ों को दाग लगाया जाता था। प्रत्येक घोड़े पर और दो निशान होते थे—सरकारी निशान सीधे पुट्ठे पर मनसबदार का निशान बायें पुट्ठे पर। प्रत्येक मनसबदार को एक निर्धारित अवधि पर निरीक्षण कराना होता था। यह निरीक्षण कभी तो प्रत्येक वर्ष होता था अथवा हर तीसरे वर्ष हुआ करता था। प्रत्येक मनसबदार को निश्चित वेतन मिलता था, जिसमें से वह अपने सैनिक-दल का व्यय तथा अपने सैनिकों का वेतन आदि देता था। व्यय की इन रकमों को निकालकर भी उसका वेतन अच्छा रह जाता था। मोरलैण्ड द्वारा तैयार किये गये निम्न लेखे से यह बात और अच्छी तरह स्पष्ट होती है।

पद अथवा दर्जा	मासिक वेतन (रुपयों में)			सेना का व्यय
	प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी	तृतीय श्रेणी	
५,०००	३०,०००	२६,०००	२८,०००	१०,६००
३,०००	१७,०००	१६,८००	१६,७००	६,७००
१,०००	८,२००	८,१००	८,०००	३,०००
५००	२,५००	२,३००	२,१००	१,१७०
५०	२५०	२४०	२३०	१८५
१०	१००	८२½	७५	४४

जात और सवार

जात और सवार के महत्त्व के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। ब्लोकमैन के अनुसार जात का तात्पर्य सैनिक की उस निश्चित संख्या से था जो मनसबदारों को अपने यहाँ रखनी पड़ती थी और 'सवार' से आशय घुड़सवारों की निश्चित संख्या से था। दूसरी ओर इर्विन का मत है कि 'जात' से घुड़सवारों की संख्या का आशय प्रकट होता है और 'सवार' एक प्रतिष्ठा थी, जो जात की भाँति ही एक निश्चित संख्या की द्योतक थी। डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार, 'सवार' पद अतिरिक्त प्रतिष्ठा का द्योतक था, किन्तु इसके द्वारा मनसबदार निश्चित संख्या में घुड़सवार रखने के लिए बाध्य नहीं था। हाँ, 'सवार' पद के लिए मनसबदारों को अतिरिक्त 'अलाउन्स' अवश्य दिया जाता था। श्री अब्दुल अजीज की राय है कि 'जात' दर्जा प्राप्त करने पर मनसबदार को एक निश्चित संख्या में हाथी, घोड़े तथा सामान ढोने के लिए बैलगाड़ी आदि रखना आवश्यक हो जाता था, घुड़सवार और पैदल सैनिकों से इस 'शब्द' का कोई सम्बन्ध नहीं था। 'सवार' इस बात का द्योतक था कि मनसबदार के अधीन एक निश्चित संख्या में घुड़सवार हैं। ब्लोकमैन का मत 'सवार' पद की संख्या के स्थापित करने के बाद जो स्थिति थी उसके निकटतम मालूम पड़ता है। ऐसा मालूम देता है कि मनसबदारी-प्रथा की स्थापना के कई वर्षों बाद मनसबदार अपने मनसब के अनुसार निर्धारित संख्या में घुड़सवार नहीं रख सके थे और न निरीक्षण करने के लिए उन्हें प्रस्तुत कर सके थे। इसके साथ ही घोड़ा, घुड़सवारों, हाथी, ऊँट, बैल आदि का रखना प्रत्येक दर्जे में बड़ी गड़बड़ उत्पन्न कर देता था और सम्भवतः इसी गड़बड़ को दूर करने के विचार से अकबर ने 'जात' से पृथक 'सवार' दर्जे की स्थापना की थी। इसके पश्चात 'जात' दर्जे से घुड़सवार का बोध नहीं होता था, बल्कि यह पता चलता था कि कितनी संख्या में हाथी, घोड़े तथा सामान ढोने के लिए बैलगाड़ी आदि किसी मनसबदार को रखना है। 'जात' दर्जा, जैसा कि कतिपय आधुनिक इतिहासकारों ने समझ लिया है, कोई व्यक्तिगत दर्जा नहीं था। दूसरी ओर 'सवार'

दर्जे से यह बोध होता था कि अकबर के शासनकाल में मनसबदारों की कितनी संख्या में घुड़सवार रखने होते थे। अकबर के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में यह नियम कुछ ढीला पड़ गया और घुड़सवारों की संख्या 'सवार' दर्जे से बहुत कम रह गयी।

तीन श्रेणियाँ

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, ५,००० और उसके नीचे के प्रत्येक मनसब में तीन श्रेणियाँ थी—प्रथम, द्वितीय और तृतीय। एक मनसबदार प्रथम श्रेणी में तभी आ सकता था जब उसका 'सवार' और 'जात' दर्जा एक समान होता था। इसके विरुद्ध यदि उसका 'सवार' दर्जा 'जात' दर्जे से कम होता था किन्तु आधे से कम नहीं तब वह द्वितीय श्रेणी का मनसबदार होता था। किन्तु यदि उसका 'सवार' दर्जा 'जात' दर्जे से आधे से कम होता था या 'सवार' दर्जा बिलकुल नहीं होता था तब वह तृतीय श्रेणी का मनसबदार होता था। उदाहरण के लिए, ५,००० जात के मनसबदार का सवार दर्जा भी ५,००० का होता था, तो वह ५,००० की प्रथम श्रेणी में आता था। यदि उसका जात दर्जा ५,००० और सवार दर्जा २,००० होता था तो उसे द्वितीय श्रेणी प्राप्त होती थी। यदि उसका जात दर्जा ५,००० और सवार दर्जा २,५०० से कम होता था तो वह तृतीय श्रेणी का मनसबदार माना जाता था। यह नियम सभी मनसबों पर लागू होता था। 'दु अस्पा' और 'सि अस्पा' के भेद-प्रभेद जैसी कुछ अन्य पेचीदगियों का समावेश भी किया जाता था, लेकिन हमें यहाँ उनसे कोई सरोकार नहीं, क्योंकि इनकी शुरुआत अकबर के उत्तराधिकारियों के समय में हुई थी।

कुछ मनसबदार सैनिक दलों का संचालन करते थे। इन दलों के सैनिकों की भरती सरकार द्वारा की जाती थी, सम्बन्धित मनसबदार द्वारा नहीं। इन सैनिक दलों को 'दाखिली' कहा जाता था। सेना में दाखिली ही घुड़सवार और दाखिली ही पैदल सैनिक होते थे। इनके अतिरिक्त सज्जन सैनिक भी होते थे, जिन्हें 'अहदी' कहा जाता था। प्रत्येक सैनिक की भरती अलग-अलग होती थी और ये एक पृथक मनसबदार अथवा सैनिक अधिकारी के नेतृत्व में रहते थे। इनके अपने निजी दीवान और बख्शी भी हुआ करते थे। 'अहदी' बड़े ही कुशल और स्वामिभक्त सैनिक समझे जाते थे और इनको ऊँचा वेतन दिया जाता था। कभी-कभी तो एक अहदी सैनिक को ५०० रु० मासिक तक वेतन दिया जाता था।

मुगल सेना में घुड़सवार, पैदल सैनिक, तोप-बन्दूकची और गजवाहक भी थे, किन्तु नौ-सेना नहीं थी। घुड़सवार दल सेना की सबसे महत्त्वपूर्ण शाखा थी और इसे सम्पूर्ण सेना का पुष्प कहा जाता था। इसकी अधिकतर भरती मनसबदारों और अहदियों में से ही की जाती थी। पैदल सैनिक-दल किसी विशेष महत्त्व का नहीं था। इसके अन्तर्गत बन्दूकची, तीरन्दाज, मेवाती, तलवार चलाने वाले, मल्ल-युद्ध करने वाले चाकर-चेला (गुलाम लोग) आदि थे। आईने अकबरी के आधार पर हमें ज्ञात होता है कि अकबर की सेना में बन्दूकचियों की संख्या १२,००० थी। मेवातियों की संख्या कुछ हजार थी और ये 'श्रेष्ठ सैनिक तथा भेदिये' होते थे। इनसे अधिकतर डाक लाने-

ले जाने के लिए हरकारों का काम लिया जाता था। सेना में एक लाख तलवार चलाने वाले सैनिक थे जिनमे से एक हजार सैनिक दरबार मे सेवा के लिए तैयार रखे जाते थे। ये सैनिक अपनी वीरता तथा तलवार चलाने मे निपुणता के लिए प्रसिद्ध थे। सेना के साथ चलने वाले चाकर-चेलों इत्यादि की गणना भी सैनिको में की जाती थी। सेना का गोला-बारूद विभाग विशेष अच्छा नही था; यह बात दूसरी थी कि बडी-बडी विशालकाय तोपे हाथियों और हजारों बैलो पर लादकर ले जायी जाती थीं। बन्दूकें भी कई प्रकार की थी। इस विभाग का एक अधिकारी भी होता था, जिसे मीर आतिश कहते थे। इनके अतिरिक्त युद्ध-गज भी रहते थे जिनसे बहुत-से काम लिये जाते थे। वे सामान-सामग्री ढोते थे। युद्ध के समय इनको रक्षात्मक तथा आक्रमणात्मक हथियारों से सुसज्जित रखा जाता था। ये हाथी शत्रु-पक्ष के सैनिको को अपनी सूँड से पकड़ लेते थे और जमीन में उन्हे पटककर अपने पैरो से कुचल देते थे। इनके ऊपर तोपे लादकर ले जायी जाती थीं, जिनसे लड़ाई में भड़ाका किया जाता था। इन तोपो को 'गजनाल' कहते थे। एक गजनाल हाथी दो सिपाहियों और दो तोपो को ले जा सकता था।

ब्लोकमैन के अनुसार अकबर की स्थायी सेना. जिस पर शाही खजाने से खर्चा किया जाता था, २५,००० से अधिक नहीं थी। बाद की खोजबीनो से पता चला है कि यह संख्या बहुत कम है। हमें ज्ञात है कि जहाँगीर और शाहजहाँ की स्थायी सेना तीन लाख से कम नही थी, अत अकबर की स्थायी सेना तीन लाख से कम नहीं हो सकती। इसी संख्या में मनसबदारों के सैनिक-दलों तथा बादशाह के अधीन रहने वाले सैनिक दलों का सम्मिलित कर लेना चाहिए। पैदल सैनिक दल जिनकी संख्या कहीं अधिक थी, इस संख्या में सम्मिलित नहीं है।

सेना की ओर अकबर विशेष ध्यान और समय देता था। इसके संगठन, नियन्त्रण और अनुशासन के लिए उसने बहुत से नियम-कायदे बनाये थे। दाग-महाली (सेना के हाथी-घोड़े पर दाग लगाने के लिए) नामक एक पृथक विभाग था, जिसका प्रबन्ध कई क्लर्कों की सहायता से होता था। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि सैनिक-नियमों का पालन किया जाता है या नही, अथवा सैनिको मे अनुशासन तो कम नहीं हो रहा है। मानव-स्वभाव का कुशल पारखी होने के कारण अकबर धीर-वीर और सुयोग्य व्यक्तियो को ही मनसबदार नियुक्त करता था। सैनिक विभाग में यदि कहीं भी उसे किसी प्रकार शिथिलता अथवा खराबी दीखती थी, तो वह उसकी ओर बिना भूल किये संकेत करता कि वह तुरन्त ही दूर हो जाये। उसने अपने सैनिक संगठन को इतना श्रेष्ठ बना लिया था कि युद्धक्षेत्र में जीवन भर उसे सर्वदा विजयश्री प्राप्त करने का सम्मान और श्रेय प्राप्त हुआ है।

अकबर की सैनिक-व्यवस्था में कुछ दोष और कमजोरियाँ भी थीं। तत्कालीन लेखकों, विशेषकर बदायूँनी, ने विस्तार से यह बात लिखी है कि प्राय: मनसबदार सरकार को धोखा देते हुए निरीक्षण के लिए बाजार से साधारण व्यक्तियों को पकड़ लाते और उन्हें फौजी वर्दी पहनाकर सैनिकों के रूप में खड़ा करते और ले-देकर

निरीक्षण में सफल हो जाते थे। सैनिक विभाग की ओर से दिये हुए बढ़िया घोड़ों की जगह मरियल टट्टू ला खड़े करना तो साधारण बात थी। इस प्रकार के भ्रष्टाचार को दूर करने मे अकबर को कई वर्ष लग गये। १५८१ ई० के पश्चात निरीक्षण के समय असली सैनिकों की जगह बाजार से पकड़े हुए व्यक्ति ला खड़े करना, सरकारी घोड़ों की जगह मरियल टट्टुओं को पास कराना अथवा सैनिकों का वेतन स्वयं ही हजम करना आदि भ्रष्टाचार के किस्से सामने नहीं आते। यह सफलता अकबर की अनुपम एवं असाधारण नेतृत्व-शक्ति, प्रबन्धपटुता, सावधानी तथा कठोर अनुशासन का सुपरिणाम थी। जो सैनिक दल व्यक्तियो के अधीन थे, वे बादशाह के प्रति अधिक स्वामिभक्त न होकर मालिकों के प्रति ही अधिक स्वामिभक्त थे। सेना का विभाजन मनसबदारी ढंग पर हुआ था और एक मनसबदार जीवनपर्यन्त एक ही सैनिक दल का संचालन करता था। एक रेजीमेण्ट से दूसरे रेजीमेण्ट में सैनिक अधिकारियों की बदली नहीं होती थी। दूसरे, मनसबदारों के सैनिक विभागों का उपविभागों (रेजीमेण्ट्स) में विभाजन नहीं था। सम्पूर्ण सैनिक दल अपने संचालक-मनसबदार की ही निकट अधीनता में रहता था और प्रत्येक सैनिक के उसके साथ निजी सम्बन्ध थे। मनसबदारों के अन्तर्गत सैनिक दलो मे प्रत्येक प्रकार की सेना की कोई निश्चित संख्या भी नहीं थी। तीसरे, जब सैनिक भरती का कार्य-संचालन मनसबदारों के हाथ में छोड़ दिया गया था तो भ्रष्टाचार के किसी न किसी रूप मे अपने को रोका जाना कठिन था। चौथे, मनसबदारों द्वारा वेतन बाँटने की प्रथा भी बहुत बुरी थी, जिससे अनेक दोष उत्पन्न हो गये थे। पाँचवें, मनसबदार प्रणाली में कोई संगठित केन्द्र भी नहीं था और न संगठन से उत्पन्न होने वाली कोई शक्ति ही थी, जिसका होना राष्ट्रीय सेना के लिए आवश्यक है। छठे, विभिन्न मनसबदारों के अन्तर्गत सैनिक इकाइयो की कार्यकुशलता में भी अन्तर था और अस्त्र-शस्त्रों, सामान-सज्जा तथा सैनिक-अनुशासन के तौर-तरीकों में भी कोई समानता नहीं थी। सातवें, मनसबदारों में जिस शान-शौकत की आदत पड़ गयी थी, वह भी सैनिक कार्यकुशलता में बाधक थी। यद्यपि असाधारण अथवा संकटकालीन स्थिति में अकबर अपने शौक-मौज और भोग-विलास को तिलांजलि दे देता था, तथापि सामान्य समय में उसकी सेना के साथ अनेक सेवक, नर्तकियाँ, हाथी, घोड़े, ऊँट, बाजे-गाजे, दफ्तर, हाट-बाजार और न मालूम सुख-सुविधा और भोग-विलास के कितने साधन और सामग्रियाँ चलती थीं। आठवें, सेना का गोला-बारूद विभाग सबसे कमजोर विभाग था। रखला और गजनाल जैसी बड़ी-बड़ी तोपों के प्रदर्शन के बावजूद असीरगढ़ के किले के सम्मुख मुगल गोला-बारूद असफल रहा। अन्त में, अकबर की सेना में विभिन्न देश और जातियों के सैनिकों और सैनिक अफसरों की (दो-तिहाई से अधिक तो विदेशी थे) भरती होने के कारण यह एक राष्ट्रीय सेना नहीं बन सकी। देश-प्रेम के समान भाव और समान हितों की भावना से यह अनुप्राणित नहीं थी। इन्हीं मूल कमजोरियों के कारण अकबर के पश्चात उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में मुगल सेना का अत्यधिक ह्रास हुआ।

इतनी कमियाँ होने पर भी मनसबदारी-प्रथा मध्यकालीन सैनिक-व्यवस्था से उत्तम ही थी। कबाइली मुखियापन तथा सैनिक-दल रखने की सामन्ती प्रथा के मध्य मनसबदारी एक समझौता-सा था। इसके अन्दर दोनों प्रथाओ के लाभ आ गये थे। इसके अतिरिक्त इस प्रथा द्वारा देश के प्रत्येक स्थान की रण-शक्ति से लाभ उठाने का विचार किया गया था। सेना का प्रत्येक भाग किसी न किसी विशेष सैनिक कर्त्तव्य के लिए उपयुक्त था। उदाहरण के लिए, कुछ राजपूत सरदारो को राजनीतिक कूटनीति से उन राजपूत राजाओं से भिडाया जाता था, जिनके साथ उनका निजी बैर-भाव होता था। मनसबदारी प्रथा द्वारा वादशाह को मनसबदारो की समय पर तत्काल सेवा का लाभ प्राप्त हो गया तथा व्यक्तिगत विशेषता प्राप्त करने के लिए भी इसके द्वारा द्वार खुल गये। प्रत्येक मनसबदार यह भली प्रकार जानता था कि सम्राट के प्रति उसकी स्वामिभक्ति तथा सेवा-संहकार पर ही उसकी पदोन्नति अथवा पद-ह्रास निर्भर है। मनसबदारों के द्वारा ही देश की जनसंख्या मे से प्रमुख सैनिक और राजनीतिक-वर्ग की स्वामिभक्ति सम्राट को प्राप्त थी।

वित्त

यद्यपि सार्वजनिक वित्त की वर्तमान वैज्ञानिक विधि उस समय ज्ञात नहीं थी, तथापि यह कहा जा सकता है कि अकबर की वित्त सम्बन्धी नीति अत्यन्त विकसित तथा अपने समय से बहुत आगे थी। सम्राट वित्त सम्बन्धी पेचीदगियों को खूब समझता था और इस कार्य में उसे राजा टोडरमल तथा मुजफ्फरखाँ जैसे उच्चकोटि के वित्त-विशारदों की सलाह और सुझाव भी प्राप्त होते रहते थे। अकबर की वित्त-व्यवस्था (जैसा सम्राट के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में इसका स्वरूप प्रकट हुआ) कठोर परिश्रम, सद्प्रयत्नों तथा सुपरीक्षण का परिणाम थी। निस्सन्देह कई वर्षों के सतत् परिश्रम और सोच-विचार के पश्चात ही सम्राट ने साम्राज्य की वित्त-स्थिति को सुदृढ़ और सुवैज्ञानिक आधार पर ला पहुँचाया था।

करारोपण के इस्लामी सिद्धान्त में अकबर का विश्वास नही था। इस सिद्धान्त के अनुसार 'कर' लगाने के केवल चार साधन हैं—१. खराज, २. खम्स, ३. जकात, और ४. जजिया। अन्तिम दोनो 'कर' धार्मिक थे। इसके विपरीत अकबर का 'कर' सिद्धान्त प्राचीनकालीन हिन्दुओं के सिद्धान्त से मिलता-जुलता था और प्राचीन भारतीय साहित्य से लिया हुआ जान पड़ता है। 'कर' सिद्धान्त का निरूपण करते हुए अबुल फजल ने लिखा है कि "जनता की जान-माल, इज्जत-आबरू तथा आजादी की रक्षा के लिए एक न्यायप्रिय राजा का होना आवश्यक है, और उसकी इन सेवाओं के लिए जनता को उसे धन भी देना आवश्यक है। देश-देश की जमीन में फर्क होने के कारण प्रत्येक राजा के शासन-तन्त्र को इन बातों को ध्यान मे रखना चाहिए और तदनुकूल ही कर लगाने चाहिए।" **(आईने अकबरी, भाग २, पृष्ठ ५५)**

साम्राज्य की आय के साधन दो मुख्य भागो मे बाँट दिये गये थे—पहला केन्द्रीय और दूसरा स्थानीय। केन्द्रीय आय व्यापार, टकसाल उपहारों, उत्तराधिकारों,

नमक, चुंगी तथा जमीन पर 'कर' लगाकर वसूल की जाती थी। इसमें भूमि-कर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और लाभप्रद साधन था। अपने शासनकाल के आरम्भ में ही अकबर के धार्मिक-कर, जैसे यात्री-कर और जजिया-कर जो पूर्वकालीन मुसलमान सुल्तानों से लेकर अब तक गैर-मुसलमानों से वसूल किया जाता रहा था, वसूल करना बन्द करवा दिया था। जकात-कर दो प्रकार का था—पहला मुसलमानो से वसूल किया जाने वाला धार्मिक-कर था जिसका धन केवल मुसलमानों की धार्मिक और दातव्य भलाई के लिए व्यय किया जाता था और दूसरा पशुओं तथा कुछ अन्य वस्तुओं पर लगाया जाता था। धार्मिक-कर के ये दोनों रूप ही धीरे-धीरे विलुप्त हो गये। ऐसे राज्य में जहाँ धार्मिक सत्ता और प्रभाव के ऊपर सांसारिक प्रभाव का अंकुश था, ऐसा होना स्वाभाविक ही था। साम्राज्य की सरकार केवल व्यापार से कर ही नहीं वसूल करती थी, बल्कि कभी-कभी स्वयं व्यापार भी करती थी। सभी प्रकार का बारूद का सामान विशेषकर सीसा और शोरा पर सरकार का एकाधिकार था। शाही गृह-विभाग के साथ बहुत-से कारखाने लगे हुए थे, जो मुख्य रूप से आय के लिए तो नहीं थे; किन्तु सरकारी कोष को इनसे आय होती थी। बहुत-से नगरों में विभिन्न प्रकार के सिक्के ढालने के लिए टकसालें भी स्थापित की गयी थीं। इनके द्वारा भी अच्छी आय होती थी। अधिकारियों, अमीरों, अधीनस्थ राजाओं तथा विदेशी यात्रियों द्वारा सम्राट को बहुमूल्य उपहार प्राप्त होते थे। इन उपहारों के बदले में बादशाह भी कुछ देता था, लेकिन यह उपहारों के मूल्य के सामने अत्यल्प होता था। शाही खजाने को इस प्रकार प्रति वर्ष लाखों रुपयों की आय होती थी। उत्तराधिकारी-रहित (लावारिस) सारी सम्पत्ति भी सरकार की हो जाती थी। सम्राट अमीरों और अधिकारियों की मृत्यु के पश्चात उनकी सम्पत्ति, जैसा कुछ यूरोपीय यात्रियों ने भ्रमपूर्ण धारणा बना ली थी, स्वयं नहीं हड़प लेता था। नमक पर भी कर लगाया जाता था। बन्दरगाहों पर २½ प्रतिशत से ५ प्रतिशत तक चुंगी ली जाती थी। इसके द्वारा सरकार को बहुत अच्छी आय होती थी। स्थानीय आय चुंगी, नाव और सड़क पर तथा बहुत कुछ अन्य 'अब्वाबों' (करों) द्वारा होती थी।

उपर्युक्त साधनों से जो आय होती थी, वह भूमि द्वारा होने वाली आय का बहुत छोटा-सा भाग था। मोरलैण्ड ने भूमि द्वारा होने वाली आय का जो हिसाब लगाया है, उसके अनुसार अकबर के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में यह आय ९ करोड़ रुपये की बैठती थी। दस वर्ष तक विभिन्न प्रकार की जमीनों में होने वाली पैदावारों का औसत निकाला जाता था और उसी के आधार पर भूमि-कर लगाया जाता था। इस प्रकार की भूमि-कर प्रणाली अकबर के शासनकाल के आरम्भिक वर्षों में किये गये परीक्षणों का ही परिणाम थी। १५६० ई० में बैरामखाँ के हाथों में से शासन की बागडोर ले लेने पर अकबर को ज्ञात हुआ कि उसका बहुत-सा राज्य तो उसके अधिकारियों और सैनिकों में ही बँटा हुआ है और सम्राट के हाथ में भूमि का थोड़ा-सा ही अंश है जिसे खालसा कहते हैं। यह राज्य के हित में था कि जागीरदारों

को सन्तुष्ट रखा जाय, अतः जागीरों के लगान को बढाकर दिखाया गया था। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण साम्राज्य का लगान जितना था उससे अधिक दिखाया गया था। सरकारी कोष में भी यथार्थतः बहुत ही कम रुपया था। एक समय अपने किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य से जब अकबर को थोड़े से रुपयों की जरूरत पड़ी तो खजाने में १५ रु० तक नहीं निकले। इस घटना से मजबूर होकर अकबर को तुरन्त ही आर्थिक व्यवस्था की ओर पूरा-पूरा ध्यान देना पड़ा। इसके पश्चात तो उसने वित्त विभाग पर इस विभाग की हालत सुधारने की दृष्टि से बहुत-से प्रयोग किये। इनमें तो प्रथम से १५६३ ई० मे किया गया, जब सम्राट ने ऐत्मादखाँ को खालसा-भू-भागों की, जिसमे आगरा और दिल्ली तक लाहौर का एक हिस्सा शामिल था, देखभाल करने के लिए नियुक्त किया। ये ढाई प्रान्त कई क्षेत्रों में विभक्त किये गये और प्रत्येक से एक करोड़ दाम अर्थात ढाई लाख रुपयों की आय नियत की गयी। किन्तु इससे कर प्रणाली में कोई मूल परिवर्तन नहीं हुआ। शेरशाह द्वारा निर्मित कर-निर्धारण प्रणाली, जो हुमायूँ के समय से चली आ रही थी, अब भी पूर्ववत चालू थी। जमीन की स्थानीय नाप-जोख हो जाती थी और सम्राट द्वारा निश्चित हुई फसल की किस्मों के दामो पर ही सरकारी कर की माँग नकदी के रूप में कर दी जाती थी। जो भाव और मूल्य निश्चित किये जाते थे वे सभी परगनों पर लागू होते थे और ये प्रायः वही होते थे जो राजधानी में अथवा उसके आसपास के क्षेत्रों में प्रचलित होते थे। १५६६ ई० मे एक दूसरा परीक्षण किया गया था। १५६४ ई० में मुजफ्फरखाँ को दीवान नियुक्त किया गया और राजा टोडरमल उसका सहायक नियुक्त हुआ। इन्होंने इस प्रणाली मे दो बड़े दोष बताये। पहला लगान की अनुमानित संख्या और दूसरा सम्पूर्ण साम्राज्य में एक ही दर और भाव के निश्चय के आधार पर सरकारी माँग करना। उसे कुछ सफलता प्राप्त हुई, किन्तु सरकार द्वारा जमीन की नाप-जोख करने का अभी तक अपने ही आदमियो द्वारा प्रबन्ध न करने तथा पटवारियों के लेखों (रेकार्ड) से काम न होने के कारण १५६६ ई० में मुजफ्फरखाँ ने जो कर-पत्रक (हाली-हासिल अथवा जमाबन्दी) तैयार किया वह सही आय से पूरी तरह मेल नही खाता था। हाँ, दूसरे दोष के निवारण में उसे अवश्य सफलता प्राप्त हुई। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप आगे से सरकारी माँग (भूमि-कर) नकदी में वसूल की जाने लगी। यह माँग एक समान आधार पर नहीं थी, बल्कि विभिन्न स्थाओं पर जो अनाज के मूल्य की दरें प्रचलित होती थीं उन्हीं के आधार पर प्रस्तुत की जाती थी। इसमें केवल एक ही दोष का निवारण हुआ। इसलिए शासन के तेरहवें वर्ष (१५६८ ई०) में एक और प्रयोग किया गया। उस समय नये दीवान शियाबुद्दीन अहमद ने जहाँ तक खालसा भूमि का सम्बन्ध था, वहाँ तक शेरशाह के करारोपण के सिद्धान्त को त्याग दिया और खेतो मे होने वाली पैदावार का एक कामचलाऊ अन्दाज लगाकर सरकारी माँग प्रस्तुत करने की परिपाटी आरम्भ की। इस प्रणाली के द्वारा जो 'नस्क' कहलाती है और आमतौर पर 'कनकूत' नाम से भी प्रसिद्ध हैं; फसल की बिना नाप-जोख किये ही जमीन की पैदावार का एक

साधारण-सा अन्दाज लगा लिया जाता था। जब फसल पक जाती थी तो गाँव के मुखिया तथा कुछेक अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ सरकारी गुमाश्ते खेतों पर जाते थे और इनमें से प्रत्येक व्यक्ति खेत की कुल पैदावार का अपना-अपना अन्दाज लगाता था। इन्हीं के आधार पर प्रत्येक खेत की कुल औसत पैदावार निकाल ली जाती थी और उस पर सरकारी कर निर्धारित किया जाता था। यदि काश्तकार ' लगाये हुए पैदावार के अन्दाज पर यह आपत्ति करता था कि यह तो बहुत अधिक आँकी गयी है, तो समझौता द्वारा कम-बढ़ती पर मामला तय कर लिया जाता था। यह बात स्पष्ट नहीं है कि १५६६ ई० में आरम्भ की गयी कर-निर्धारण की यह प्रणाली गाँव के हिसाब से थी अथवा खेती के हिसाब से।

चौथा प्रयोग शासनकाल के पन्द्रहवें वर्ष (१५७०-७१ ई०) में किया गया था, जबकि प्रत्येक परगने के लिए अलग-अलग भूमि-कर दरों की नयी अनुसूचियाँ भूमि की असल पैदावार के आधार पर तैयार की गयी थीं। इस कर-प्रणाली के अन्तर्गत इस बार जागीरी-भूमि भी आ गयी, जो अब तक माल मन्त्रालय के नियन्त्रण के बाहर ही रहती आयी थी। 'नस्क' प्रणाली त्याग दी गयी और सरकारी अधिकारियों द्वारा जमीन की उचित नाप-जोख तथा खेतों की कुल असल पैदावार को आँकने के आधार पर कर निर्धारण के दरों की अनुसूची तैयार की गयी थी। इस प्रणाली के जन्मदाता राजा टोडरमल थे।

यह प्रणाली बहुत सफल सिद्ध हुई, क्योंकि इस आधार पर तैयार की गयी कर-अनुसूची आगामी दस वर्षों (१५८० ई०) तक काम में लायी जाती रही। इसके पश्चात अकबर ने और बड़ा प्रयोग किया। यह प्रयोग भूमि-कर को नकदी में प्रस्तुत करना था। यद्यपि विभिन्न प्रकार के अनाजों पर भूमि-कर की दरें दस वर्षों तक बदली नहीं थीं, तथापि इनके दाम, जिनके आधार पर वस्तुओं की जगह सरकारी माल-गुजारी नकदी में बदल दी जाती थी, एक-दूसरे साल में अदलते-बदलते रहते थे और प्रत्येक वर्ष इन पर सम्राट की स्वीकृति लेनी आवश्यक होती थी।.....इसका परिणाम यह होता था कि मालगुजारी इकट्ठी करने में विलम्ब हो जाया करता था, क्योंकि सम्राट के एक स्थान पर न रहने के कारण प्रस्तुत किये गये मालगुजारी पत्रों पर मूल्य निर्धारण के लिए शीघ्र ही आज्ञाएँ जारी नहीं हो पाती थीं। इस असुविधा से बचने के विचार से कर-निर्धारण की अनुसूचियों को वस्तुओं में प्रस्तुत न करवाकर नकद रुपया आना-पाई में प्रस्तुत करवाना आरम्भ कर दिया और ये मूल्य जिनके आधार पर वस्तुएँ नकदी में बदली जाती थीं, विभिन्न स्थानों में प्रचलित पिछले दस वर्षों के मूल्यों के औसत पर निश्चित किये गये थे।

मालगुजारी बन्दोबस्त में, जो १५८० ई० में 'आईने-दहसाला' आज्ञापत्र द्वारा जारी किया गया था, कुछ निश्चित कायदे थे। सर्वप्रथम, साम्राज्य की सम्पूर्ण भूमि एक समान माप-प्रणाली द्वारा, जो सिकन्दर-लोदी के गज, जिसकी मात्रा ४१ अंगुल या ३३ इंच की थी, के आधार पर मापी जाती थी। गज-माप पर आधारित 'जरीब',

जिसका इस्तेमाल शेरशाह ने किया था, सन की रस्सी की बनायी जाती थी और गरम तथा ठण्डे मौसम में यह सिकुड़ और बढ भी जाती थी। इसकी जगह अकबर ने बाँस की जरीब चालू की, जिसके टुकड़े लोहे की पत्तियो से जुडे होते थे। बीघा जो क्षेत्रफल की इकाई था, ६० गज × ६० गज अथवा ३,६०० वर्ग गज का होता था। प्रत्येक गाँव, प्रत्येक परगना, प्रत्येक काश्तकार के अधीन कृषि-योग्य भूमि को निश्चित किया जाता था। दूसरे, कृषि-योग्य सम्पूर्ण भूमि चार श्रेणियों में विभक्त की जाती थी। इस श्रेणी-विभाजन का आधार भूमि की किस्म अथवा उसका उपजाऊपन नही था, बल्कि इस पर होने वाली काश्त का निरन्तर जारी रहना था। (१) पोलज भूमि प्रथम श्रेणी की भूमि के अन्तर्गत आती थी और इस पर सदैव काश्त होती थी। (२) परौती भूमि भी लगभग सदैव ही काश्त करने योग्य थी, लेकिन पुन: उर्वरा-शक्ति को प्राप्त करने के लिए एक दो वर्ष के लिए यह खाली पडी रहती थी। (३) छच्छर भूमि पर तीन अथवा चार वर्ष के लिए काश्त नही होती थी। (४) बंजर भूमि पाँच वर्ष अथवा और अधिक समय तक बिना काश्त के छोड़ दी जाती थी। उपर्युक्त पहली तीन प्रकार की प्रत्येक भूमि तीन श्रेणियो में और विभक्त की जाती थी और इन तीनों श्रेणियों के भूमि की औसत पैदावार निकाली जाती थी; जो प्रत्येक प्रकार की भूमि की स्टैण्डर्ड पैदावार समझी और मानी जाती थी। तीसरे, पिछले दस वर्षों की पैदावार के आधार पर प्रत्येक फसल की प्रति बीघा पैदावार का औसत निकाला जाता था। सरकार औसत पैदावार का एक-तिहाई वसूल करती थी। चौथे, मालगुजारी वस्तु रूप में न लेकर नकद रुपयों, आनों और पाइयों में ली जाती थी। इसके लिए अकबर ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को बहुत-से दस्तूरों में विभक्त कर रखा था। एक दस्तूर के अन्तर्गत सभी स्थानों में प्रत्येक प्रकार के अनाज के लिए एक दाम निश्चित होते थे। प्रत्येक दस्तूर की मूल्य-अनुसूची प्रत्येक प्रकार के अनाज के पिछले दस वर्षों के दामों पर औसत अनाज का प्रचलित मूल्य समझा जाता था। इस औसत को अनाज की प्रचलित-दर समझते थे। प्रत्येक अन्न के लिए पैदावार की अलग-अलग अनुसूची होती थी और प्रत्येक दस्तूर के अनाज के भावो की अलग-अलग अनुसूची होती थी।

उपर्युक्त हिसाब के आधार पर ही प्रत्येक काश्तकार पर 'कर' लगाया जाता था। काश्तकारों पर कर लगाने के लिए प्रति वर्ष असल पैदावार अथवा अनाज का प्रचलित मूल्य निश्चित करने की अब आवश्यकता नहीं थी। कर-निर्धारण के लिए अब तो केवल भूमि की किस्म, उसका क्षेत्रफल तथा किस मौसम में क्या-क्या काश्त हुई है, आदि बातों की जानकारी ही आवश्यक थी। इसके आधार पर सरकार और काश्तकार दोनों को ही मालगुजारी क्या लेनी-देनी है; इसका हिसाब लगाना पड़ता था। खेतों में बीज बोये जाने के एक-आध महीने के अन्दर ही सरकारी कर्मचारी इसका हिसाब तैयार कर सकते थे कि सरकार को क्या मालगुजारी लेनी है। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं कि 'आईने दहसाला' प्रणाली को व्यवहार में लाने के पश्चात सरकार ने पैदावार और फसलों के मूल्यादि का लेखा रखना बन्द कर दिया

था। परगनों के सरकारी अधिकारी पूर्ववत प्रत्येक काश्तकार के अधीन प्रत्येक प्रकार की भूमि का नाप, उसका क्षेत्रफल, भिन्न-भिन्न फसलों की पैदावार आदि बातों का लेखा रखते थे। प्रत्येक 'दस्तूर' में सभी तरह के अनाज के प्रचलित भावों का लेखा भी ये लोग रखते थे। ये लेखे अत्यन्त आवश्यक थे और इन्ही पर यह भावी बन्दोबस्त निर्भर था।

'आईने दहसाला' के सम्बन्ध में इतिहास के विद्वानों में मतभेद है। वी० ए० स्मिथ ने इसे दस साल का बन्दोबस्त माना है और उनका मत है कि यह पिछले दस वर्षों की औसत पैदावार पर आधारित है। स्मिथ ने पिछले दस वर्षों के मूल्यों के औसत का कहीं उल्लेख नहीं किया है, जिनके आधार पर वस्तुरूपी सरकारी कर को रुपयों में बदला जाता था। दूसरी ओर मोरलैण्ड ने, जिन्होंने मुगलकालीन माल सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करने में अपने बीस वर्ष लगाये थे, केवल दस साल के नकद करों की माँग के औसत का हवाला दिया है और प्रत्येक फसल में प्रत्येक प्रकार की भूमि की दस वर्ष की औसत पैदावार का कोई जिक्र नहीं किया। प्रोफेसर श्रीराम शर्मा का मत यह जान पड़ता है कि अकबर का लगान सम्बन्धी बन्दोबस्त उसके शासनकाल के अन्तिम समय तक शेरशाह द्वारा निर्धारित मूल्य अनुसूची पर आधारित था। डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी ने पैदावार और मूल्य के इन दोनों औसतों को सम्भवतः स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया। इस विषय का सूक्ष्म निरीक्षण और अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि १५८० ई० का अकबर का बन्दोबस्त पिछले दस वर्षों की औसत पैदावार पर आधारित था और पिछले दस वर्षों के औसत मूल्यों पर वस्तुरूपी सरकारी लगान रुपयों में बदला जाता था। जैसा कि ऊपर बताया गया है, औसत पैदावार निश्चित करने के लिए प्रत्येक परगना एक इकाई माना जाता था और मूल्य निश्चित करने के लिए 'दस्तूर' को इकाई माना जाता था। यह निश्चित कहा जाता है कि यह बन्दोबस्त स्थायी नहीं था और न यह वार्षिक ही था, क्योंकि अबुल फजल ने लिखा है कि अकबर ने शेरशाह की प्रारम्भिक बन्दोबस्त-प्रणाली काम में लानी बन्द कर दी थी, क्योंकि इसके द्वारा बिलम्ब होता था और भ्रष्टाचार भी फैलता था। ऐसा जान पड़ता है कि सरकारी लगान समय-समय पर भूमि की असल पैदावार के आधार पर परिवर्द्धित किया जाता रहा था यद्यपि इस बात का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि ऐसा मालूम पड़ता है कि यह बन्दोबस्त दसवर्षीय था। 'आईने दहसाला' की स्थापना के पश्चात भी प्रत्येक काश्तकार द्वारा की जाने वाली प्रत्येक प्रकार की फसल तथा प्रत्येक फसल का मूल्य जो प्रत्येक दस्तूर में प्रचलित होता था, बड़ी सावधानी से नोट किया जाता था।

यह प्रणाली खालसा भूमि-क्षेत्रों में ही चालू की गयी थी। १५८१-८२ ई० में इसके अन्तर्गत जागीरी भूमि भी आ गयी। अब जागीरदार मनचाहे ढंग से अपनी 'जागीरों' की व्यवस्था नहीं कर सकते थे। साथ ही बंजर भूमि को भी, जहाँ तक सम्भव हो, उर्वरा भूमि में परिवर्तित करने की चेष्टा की गयी थी। इसके लिए उन

माल विभाग के पुश्तैनी अधिकारी इनका (दस्तूरुल अमलों का) संग्रह-संकलन किया करते थे। 'दस्तूरुल अमलों' के अतिरिक्त माल विभाग के अधिकारियों की सहायता और लाभ के लिए पूरे और ठीक निर्देशन दिये जाते थे। इतिहासकार स्मिथ ने इनकी तुलना हमारे देश के ब्रिटिशकालीन जिले के कलक्टरों के लिए 'टॉमसन लिखित निर्देशनों' से की है। मालगुजारी एकत्र करने वालों को बहुत-से अधिकार प्राप्त थे। काश्तकारों के साथ इन्हें मित्रता का भाव रखना पड़ता था। जरूरतमन्द किसानों को ये स्वेच्छा से तकावी (ऋण) बाँट सकते थे, जिसे आगे चलकर ये धीरे-धीरे वसूल कर लेते थे। काश्तकारों को प्रोत्साहन देने के विचार से प्राकृतिक प्रकोप अथवा अन्य किन्हीं कारणों से फसलों की हुई हानि के लिए मालगुजारी में छूट अथवा माफी देने का अधिकार इन्हें प्राप्त था। ये लोग कृषि-योग्य भूमि के अलावा अन्य किसी भूमि पर लगान वसूल नही कर सकते थे और लगान भी मुखिया आदि किसी मध्यस्थ के द्वारा नहीं, बल्कि सीधे किसानों से लिया जाता था। बकाया को वसूल करने की भी ये लोग चेष्टा करते थे, लेकिन अनुचित बल-प्रयोग द्वारा नहीं। मुख्य निर्देशन जो इन्हें दिया जाता था वह यह था कि ये लोग काश्तकारों के हितों की रक्षा तथा उनकी भलाई के लिए पूरी-पूरी चेष्टा करें। दरबार में इन्हें मासिक चिट्ठा भेजना पड़ता था, जिसमें लोगो की स्थिति, जनता की सुरक्षा, बाजारों के भाव और दरें, गरीब लोगों की स्थिति सम्बन्धी बातों का वर्णन रहता था। इतिहासकार स्मिथ ने तो इस व्यवस्था की भूरि भूरि प्रशंसा की है। वह लिखता है, "संक्षेप में, यह प्रणाली अत्युत्तम और प्रशंसनीय थी। सिद्धान्त बड़े अच्छे थे और अधिकारियों को जो व्यावहारिक निर्देशन दिये जाते थे वे वही थे जिनकी कामना की जाती थी।"[४]

यद्यपि भू-लगान बन्दोबस्त और जिन सिद्धान्तो पर यह आधारित था, उसकी अंग्रेज लेखकों ने जो ब्रिटिश-काल में भारत के माल-प्रशासन से निकट सम्बन्ध रखते थे, बहुत प्रशंसा की है तथापि इन्होंने इस बात पर सन्देह प्रकट किया है कि जिलों और परगनों में माल विभाग के कर्मचारी शाही नियमों और आज्ञा-आदेशों का ईमानदारी से पालन करते होंगे। विंसेण्ट स्मिथ ने लिखा है, "लेकिन जो सिद्धान्त रूप में था वही व्यवहार में भी था, इस सम्बन्ध में शंका हुए बिना नहीं रह सकती। आजकल भी वर्तमान ब्रिटिश सरकार अत्यन्त सावधानी और निगरानी बरतने के बावजूद (सिद्धान्त और व्यवहार के मध्य) सामंजस्य प्राप्त करने मे प्रायः असमर्थ रही है, जबकि अकबर के समय में तो आजकल की अपेक्षा इतनी निगरानी और देखभाल भी नहीं थी।"[५] दूसरे, इन लेखकों के अनुसार अकबर का कर-निर्धारण भी अत्यन्त सख्त था। यद्यपि यह कहना ठीक है कि सिद्धान्त और व्यवहार में सामंजस्य प्राप्त करना कठिन है और अकबर के समय में माल विभाग में भ्रष्टाचार भी फैला हुआ

---

४ Akbar the Great Mogul, pp. 376-77
५ *Ibid.*, p. 277

था, तथापि ब्रिटिश शासन की अपेक्षा सम्भवत उस समय सरकारी नियम-उपनियमो का सरकारी अधिकारियों द्वारा अधिक ईमानदारी से पालन कराया जाता था। उन्नीसवी अथवा बीसवी शताब्दी की अपेक्षा उस समय सार्वजनिक नैतिकता और नियम-पालन का मापदण्ड निस्सन्देह ऊँचा था। अपनी बात पर सच्चाई से कायम रहना उस जमाने के लोग अपना पावन धार्मिक कर्तव्य समझते थे। बिना किसी कानूनी प्रमाण तथा दस्तावेज के भी लोग दूसरी-तीसरी पीढी तक केवल सच्चाई और ईमानदारी पर अपने कर्जे उतारते थे। तत्कालीन यूरोपीय पर्यवेक्षक सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी मे हमारे पूर्वजो द्वारा ईमानदारी बरतने और युगो से पूजित व्यावहारिक नियम-कायदों को बिना किसी हिचक के पालन करने के स्वभाव को देखकर दंग रह गये थे। यथार्थतः ब्रिटिश सरकार के पास कही अधिक सगठित पुलिस-शक्ति और गुप्तचर विभाग होने पर भी इस काल की अपेक्षा मध्य युग मे चोरी और डकैती की घटनाएँ बहुत कम होती थी। इसीलिए न्यायपूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान काल की अपेक्षा उस समय प्रत्येक सरकारी विभाग की (माल विभाग मे भी) स्थिति कम सन्तोषजनक नहीं थी। सच तो यह है कि नियम-पालन न करने तथा भ्रष्टाचार को ग्रहण करने के नये-नये तरीको का स्रोत तो ब्रिटिश-काल की व्यवस्था थी। जहाँ तक करों की दरो का सवाल है अकबर की दरे प्राचीन भारत मे प्रचलित दरो से कहीं अधिक थी। ये दरें कम भी नही हो सकती थी, क्योकि फीरोज तुगलक को छोड़कर दिल्ली के प्रायः सभी सुल्तान अधिक दरे रखते आये थे। शेरशाह तक ने भी, यद्यपि वह लगान-बन्दोबस्त के लिए प्रसिद्ध है, सरकारी 'कर' के रूप मे पैदावार का एक-तिहाई लेना निश्चित कर रखा था और इस 'कर' के अतिरिक्त जरीबाना, महसीलाना तथा बीमा आदि और वसूल किया जाता था। अकबर कृषको से जरीबाना, महसीलाना आदि 'कर' नही लेता था। जहाँ तक यूरोपीय इतिहास लेखकों के विचारो का ख्याल है कि ब्रिटिशकाल की अपेक्षा अकबर के शासनकाल मे भूमि कर की दर अधिक थी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि उसने (अकबर ने) जमीदार के अस्तित्व को स्वीकर नहीं किया था और जमीन की पैदावार किसान और सरकार दोनों में बँट जाती थी। ब्रिटिश शासनकाल मे पनपने वाली जमीदारी प्रथा के अनुसार जमीदार पैदावार का आधा भाग काश्तकारों से वसूल कर लेते थे, जबकि सोहलवी शताब्दी के काश्तकारों को केवल एक-तिहाई भाग ही सरकार को देना पड़ता था। प्रमाण और परम्परा दोनों से ही इस विचार की पुष्टि होती है कि मध्ययुगीन किसान ब्रिटिश शासनकाल के किसान से कहीं अधिक खुशहाल था। १५ अगस्त, १९४७ ई० के पश्चात के कृषि-विधान के अनुसार अब यह अपनी पूर्व-दशा को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो रहा है।

टकसाल

अपने शासनकाल के आरम्भिक वर्षों में अकबर ने अपने पूर्ववर्ती सुल्तान सम्राटों की ही टकसाल प्रणाली को चालू रखा और बहुत साधारण-से परिवर्तन किये;

उदाहरण के लिए, सिक्को के ऊपर उपाधियों सहित अपना नाम खुदवाना, सिक्का ढलने का स्थान, वर्ष आदि अंकित कराना। अकबर की टकसालें छोटे अधिकारियों के प्रबन्ध में रहती थीं। यह अधिकारी चौधरी कहलाते थे। टकसालों में एकसूत्रता बहुत कम थी। १५७७ ई० मे सम्राट ने टकसालों में सुधार करना चाहा और ख्वाजा अब्दुससमद शिराजी नाम के एक प्रसिद्ध कलाकार एवं सुलेखक को दिल्ली की शाही टकसालो का सुपरिण्टेण्डेण्ट नियुक्त किया। सूबो की राजधानियो में भी जो टकसालें अब तक चौधरियों के प्रबन्ध मे थी, उनको जिम्मेदार और योग्य अधिकारियों के सुप्रबन्ध मे रख दिया और वे सब अब्दुससमद के अधीन कर दिये गये। ख्वाजा अब्दुस-समद के नीचे दिल्ली की टकसाल में एक दरोगा (सहकारी सुपरिण्टेण्डेण्ट), एक सराफी, एक अमीन (दरोगा का सहकारी), एक मुशरिफ (एकाउण्टेण्ट), एक तोलने वाला, एक धातु को गलाने वाला, एक प्लेट को बनाने वाला और एक व्यापारी जो सिक्को के लिए सोना, चाँदी और ताँबा दिया करता था, आदि कर्मचारी कार्य करते थे। इतने ही कर्मचारी सम्भवतः लाहौर, जौनपुर, अहमदाबाद, पटना और टाँडा (बंगाल) की प्रान्तीय टकसालों में कार्य करते होंगे।

टकसाल में सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के ढाले जाते थे। चाँदी का सिक्का जो रुपया कहलाता था, आजकल के रुपयों की भाँति ही गोल शक्ल का होता था और उसकी तोल १७२.५ ग्रेन बैठती थी। अकबर ने एक चौकोर रुपया जिसे 'जलाली' कहते थे, चलाया किन्तु यह जनता द्वारा गोलाकार रुपये की भाँति पसन्द नही किया गया। रुपये का आधा, चौथाई, आठवाँ, सोलहवाँ और बीसवाँ भाग भी सिक्के के रूप में ढाले जाते थे। ताँबे का सिक्का 'दाम' अथवा 'पैसा' या 'फलूस' होता था। इसकी तोल ३२३.५ ग्रेन बैठती थी। दाम और रुपये में ४० और १ का अनुपात था। ताँबे का सबसे छोटा सिक्का जीतल का होता था और २५ जीतल का एक पैसा माना जाता था। स्वर्ण का सबसे अधिक प्रचलित सिक्का 'इलाही' था, जो दस रुपयों के बराबर होता था। स्वर्ण का सबसे बड़ा सिक्का 'शंसब' था जो तोल में १०१ तोले से भी कुछ अधिक बैठता था और सम्भवतः ऊँचे दर्जे के व्यापारिक लेन-देन में ही काम में लाया जाता होगा। विभिन्न धातुओं के इन सभी सिक्कों में विशुद्ध धातु प्रयोग में लायी जाती थी। इन सिक्कों की तोल पक्की और सच्ची रखी जाती थी तथा इनकी बनावट भी सुन्दर और कलात्मक होती थी। सिक्कों के ऊपर सुन्दर अक्षरों में उपाधियों सहित बादशाह का नाम, ढलाई का स्थान और वर्ष अंकित रहता था। कुछ थोड़े से सिक्कों पर ही चित्र-समान रेखाएँ अंकित होती थीं, सम्भवतः इनका उपयोग मैडिलों के रूप में किया जाता होगा।

अपनी टकसाल को इतने अच्छे वैज्ञानिक आधार तक पहुँचा देने के लिए अकबर प्रशंसा का अधिकारी है और आधुनिक सिक्काशास्त्रियों ने उसके सिक्कों की बड़ी प्रशंसा की है। इतिहासकार विंसेण्ट स्मिथ लिखता है, "सिक्कों में विशुद्ध धातु का प्रयोग कराने उनकी तोल पूरी रखवाने और उनका रूप-स्वरूप सुन्दर रखवाने के

लिए अकबर विशेष प्रशंसा का अधिकारी है। मुगल सिक्को की यदि रानी एलिजाबेथ अथवा उस समय के अन्य किसी यूरोपीय राजा के सिक्को से तुलना की जाय तो ये ही उत्तम सिद्ध होंगे। अकबर और उसके उत्तराधिकारियो ने सम्भवतः सिक्कों के वजन अथवा विशुद्धता मे कुछ कमी-वेशी करने के लोभ-लालच से बिगाडने की चेष्टा कभी नहीं की। अकबर के बहुत-से सिक्को का सोना तो विशेष विशुद्ध समझा जाता है।"[१]

न्याय

मध्यकालीन न्याय प्रणाली इस्लामी न्याय नियम पर आधारित थी जिसके अनुसार लोगो को दो भागो मे बाँट दिया जाता था—एक तो मुसलमान धर्म को मानने वाले और दूसरे न मानने वाले। गैर-मुसलमान राज्य के नागरिक नहीं माने जाते थे। गैर-मुसलमानो को 'जिम्मी' कहते थे, जिसका अर्थ यह होता था कि ये लोग एक शर्तनामे पर रहते थे और इनके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगे रहते थे। मुकदमो का फैसला सम्राट मुस्लिम कानून के अनुसार स्वयं किया करता था, चाहे पक्ष-विपक्ष मे मुसलमान हों अथवा गैर-मुसलमान। किन्तु व्यवहार रूप मे हिन्दुओ के ऊपर, जिनकी जनसंख्या सबसे अधिक थी तथा जिनका अपना अत्यन्त विकसित न्याय विधान था, इस्लामी कानूनो को आरोपित करना सम्भव नही था। फौजदारी के मामलो मे तो सभी के लिए इस्लामी कानून का ही व्यवहार किया जाता रहा, किन्तु दीवानी एवं धार्मिक मामलों मे यदि विवाद के दोनों पक्षो में हिन्दू होते थे तो हिन्दू कानून का सहारा भी लिया जाता था। ७५ प्रतिशत लोग गाँवों में रहते थे और गाँव ग्राम-पंचायतों के रूप में सगठित थे, इसलिए देहातों में मध्यकालीन सुल्तानों को न्याय-व्यवस्था की ओर ध्यान देने की जरूरत नही पड़ती थी। नगरों में जहाँ तक मुसलमान प्रजा का सम्बन्ध था इसके सभी मामले वे (सुल्तान) निबटाया करते थे, लेकिन हिन्दू-प्रजा के वही झगड़े जो फौजदारी कानून के अन्तर्गत आते थे तथा मुसलमान और हिन्दुओं दोनों पर एक समान लागू होते थे, शाही दरबार मे पेश किये जाते थे।

यद्यपि अकबर ने राजपद सम्बन्धी इस्लामी सिद्धान्त को मानने से इनकार कर दिया था, तथापि पूर्ववर्ती सम्राट-सुल्तानों के समय से चली आयी हुई न्याय-व्यवस्था में उसने कोई विशेष परिवर्तन नही किये थे; अधिक सुगम और कार्यशील बनाने के उद्देश्य से उसने कुछ व्यावहारिक तथा साधारण-से परिवर्तन अवश्य किये थे। एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जिसको उसने चालू किया था, वह इस्लामी कानून के अधिकार-क्षेत्र को सीमित करना था और साथ ही सामान्य अथवा परम्परागत कानून को इस प्रकार विकसित करना था जिससे उसके अन्तर्गत अधिक से अधिक मामले आ जायें। उदाहरण के लिए, इस्लाम धर्म को छोड़ने अथवा हिन्दू धर्म या ईसाई मत का प्रचार करने के लिए इस्लामी न्याय-विधान द्वारा प्रस्तावित मृत्युदण्ड को वह व्यवहार

---

[१] Akbar, the Great Mogul, p. 157

में नहीं लाता था। तीसरे, हिन्दुओं के मुकदमों का फैसला करने के लिए उसने हिन्दू न्यायाधीशों की नियुक्ति की थी। (बदायूँनी भाग २, पृष्ठ ३७६)

साम्राज्य भर में सबसे बड़ा न्यायाधीश राजा होता था। अनादिकाल से चली आती हुई प्रथा के अनुसार उसका दरबार लगता था और वह स्वयं ही मुकदमों के फैसले करता था। आमतौर से राजा का दरबार ही अपील की सबसे बड़ी अदालत होती थी, लेकिन कभी-कभी वह नये-नये मुकदमे भी ले लिया करता था। अकबर प्रत्येक दिन अक्सर थोड़ा बहुत समय लोगों की फरियादें सुनने और झगड़ों को निबटाने में लगाता था। प्रत्येक गुरुवार को वह विधिवत अदालत करता था और बड़े-बड़े मामलों की सुनवायी करता था। उस समय पक्ष और विपक्ष के लोगों के अतिरिक्त केवल न्याय विभाग के उच्चाधिकारी तथा सच्चाई और ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध अमीरों और सरदारों को ही वहाँ रहने की आज्ञा थी। किसी नृशस अथवा क्रूर अपराध के लिए यद्यपि सूबे के गवर्नरों को भी मृत्युदण्ड देने का अधिकार प्राप्त था किन्तु आमतौर पर ये लोग ऐसे मामले बादशाह के पास भेज दिया करते थे और बादशाह ही सोच-विचारकर दण्ड-व्यवस्था करता था। यदि वह ठीक समझता था तो मृत्युदण्ड भी देता था। मृत्युदण्ड प्राप्त किसी व्यक्ति को फाँसी देने से पहले तीन बार शाही आज्ञा लेनी पड़ती थी।

सम्राट के पश्चात दूसरा न्यायाधिकारी प्रमुख काजी होता था और वही प्रायः सदैव प्रमुख सदर भी होता था। उसकी नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी और उसी की इच्छापर्यन्त वह अपने पद पर कार्य करता था। काजी का वेतन नकद दिया जाता था। वेतन के अलावा उसे जीविका के लिए कुछ जमीन भी दी जाती थी, जो 'मदद-माश' कहलाती थी। अब तक प्रमुख काजी की मुख्य योग्यता इस्लामी धर्मशास्त्र का उसका ज्ञान तथा उसकी संकीर्ण मजहबी विचारधारा ही समझी जाती रही थी; लेकिन अकबर ने इस पद पर उन व्यक्तियों को नियुक्त करना आरम्भ किया जिनके धार्मिक विचार उदार थे तथा जिनमें सभी मत-सम्प्रदायों के लोगों के प्रति पूर्ण सहानुभूति थी। प्रमुख काजी बादशाह की अनुमति से प्रान्त, जिलों और नगरों में काजियों की नियुक्ति करता था। परगनों के सदर मुकामों में भी काजी नियुक्त किये जाते थे, किन्तु गाँवों में काजियों की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वहाँ तो ग्राम-पंचायतों द्वारा ही न्याय-व्यवस्था की जाती थी। सेना के लिए एक पृथक काजी नियुक्त था, जिसका अधिकार-क्षेत्र सेना तक ही सीमित था। कभी-कभी बड़े नगरों में एक से अधिक काजियों की नियुक्तियाँ भी की जाती थीं और इनके पृथक-पृथक अधिकार-क्षेत्र निर्धारित कर दिये जाते थे। काजियों की सहायता के लिए मुफ्ती हुआ करते थे। इसका प्रमुख कर्तव्य कानून के अर्थ बताना तथा फतवा जारी करना था। जब काजी में ही 'फतवा' जारी करने की योग्यता होती थी तो उसे 'मुफ्ती' की सहायता की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। प्रमुख-प्रमुख नगरों में 'मुहतसिब' नियुक्त किये जाते थे जो नाप-तोल के बाट, गज आदि का निरीक्षण करते थे, जुआ और शराबखोरी को रोकते थे, तथा इस बात की

ओर भी ध्यान देते थे कि मुसलमान लोग प्रतिदिन पाँचों नमाज पढते है या नहीं तथा रमजान पर उपवास करते है या नही। इसी प्रकार ये लोग भी न्याय-व्यवस्था का कुछ कार्य सँभालते थे और सामाजिक नियमो और कर्तव्यो का पालन करवाते थे। 'मीर आदिल' राजधानी तथा प्रान्तीय सदर मुकामो में नियुक्त किये जाते थे, लेकिन छोटे-छोटे शहरों और परगनों मे नहीं। इन लोगो के कर्तव्य भी काजियों के समान थे।

मुकदमों का फैसला करने के अतिरिक्त जेलो का निरीक्षण करना और कैदियों की हालत देखने का कार्य भी काजी के सुपुर्द था। कैदियो के मामले पर भली प्रकार विचार करने के पश्चात वह उन्हे मुक्त भी कर सकता था। अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत 'वक्फ' का ट्रस्टी भी काजी होता था। मुकदमो की सुनवाई करते समय अदालत के मुंशी द्वारा सबूतों को दर्ज करवाना आवश्यक था, जिससे अपराधी के विरुद्ध अपराध-पत्र तैयार करने के काम में उनका उपयोग किया जा सके। गवाहों से जिरह की जाती थी और अपराधी को अपना बचाव करने के लिए पूरा मौका दिया जाता था। अपराधी के चेहरे-मोहरे, चाल-ढाल और उनके मनोविज्ञान का अध्ययन करने की आवश्यकता पर अकबर विशेष जोर देता था। जिरह करने के पश्चात सत्य पर पहुँचने के लिए उसने न्यायाधीशों को आवश्यक निर्देश दे रखे थे।

अदालतों का संगठन तथा आपस में उनका एक-दूसरे से सम्बन्ध बड़ा गड़बड़ था। उच्च न्यायालय जिनके अन्तर्गत शाही तथा काजी की अदालतें भी आती थीं, अपीलों की ही सुनवाई नहीं करते थे बल्कि नये मुकदमे भी ले लेते थे। यह जरूरी नहीं था कि कोई अपील जिले अथवा प्रान्त की अदालत मे पहुँचने के बाद ही प्रमुख काजी की अदालत में जाय। कभी-कभी नगर न्यायालय की कोई अपील जिले की अदालत में जाती थी, कभी प्रान्तीय अदालत में और कभी प्रमुख काजी की अदालत में अथवा कभी शाही अदालत में एकदम सीधी ही पेश कर दी जाती थी। दूसरे, कभी-कभी एक प्रकार के ही मुकदमे अनेक न्यायाधिकारियों द्वारा फैसला किये जाते थे और यह निश्चित नहीं किया जाता था कि किस प्रकार के मुकदमे छोटी अदालतों में लिये जायेंगे। उदाहरण के लिए, केवल काजी ही नही, मीर आदिल और प्रान्तों के गवर्नर भी फौजदारी के मुकदमे करते थे, जिनमें बिलकुल एकसे ही अपराध होते थे। दीवानी मुकदमे काजी, मीर आदिल और प्रान्तों के दीवान किया करते थे। तीसरे, न्याय और प्रशासनिक व्यवस्था के विभाग, पृथक कार्य नही करते थे और शासन-व्यवस्था के गवर्नर और दीवान जैसे अधिकारियों को न्याय-व्यवस्था का कार्य भी सौंप दिया गया था। चौथे, न्याय-विधान भी ठीक प्रकार से तैयार नहीं था। हिन्दू और मुस्लिम व्यक्तिगत कानून—उदाहरण के लिए, उत्तराधिकार, विवाह, तलाक आदि से सम्बन्धित कानून—दोनों जातियों के न्यायशास्त्रों में सम्मिलित थे, किन्तु देश का परम्परागत प्रचलित कानून लिखा ही नहीं गया था, अतएव न्यायाधीश अपनी स्वतन्त्र विचार धारणा के सहारे न्याय करते थे। पाँचवें, आधुनिक मापदण्ड की अपेक्षा उस

समय का फौजदारी कानून बहुत सख्त था और अपराधियों को दण्ड दिया जाता था। वह अपराध को देखते हुए अनुपयुक्त एवं अनुपात-रहित होता था ।

फौजदारी के मामले तय करने के लिए जिस इस्लामी कानून का सहारा लिया जाता था, उसके अनुसार अपराधियों के लिए चार प्रकार के दण्ड निश्चित थे—(१) किसास अर्थात बदला लेना । हत्या करने अथवा घायल करने के अपराधों मे इस दण्ड का प्रयोग होता था । (२) दिया अर्थात क्षति-पूर्ति करना । यह भी हत्या और घायल करने के अपराधों के लिए लागू होता था । (३) हद्द अर्थात दुराचार से सम्बन्धित अपराधो के लिए यह दण्ड दिया जाता था । (४) ताजीर अर्थात वह दण्ड जो न्यायाधीश अपने स्वतन्त्र विचार से उचित समझकर दे । ताजीर का सम्बन्ध उन अपराधों से होता था जो हद्द की सीमा के बाहर थे ।

जो दण्ड आमतौर पर दिये जाते थे, वह इस प्रकार थे—भिन्न-भिन्न अवधि के लिए कैद और जुरमाने, जमीन-जायदाद की जब्ती, कोड़े लगाना, अग-विच्छेदन करना, देश-निकाला करना और मृत्युदण्ड । मृत्युदण्ड प्रायः सम्राट द्वारा ही दिया जाता था, वैसे दुराचार, राजद्रोह, हत्या आदि अपराधो के लिए प्रान्तीय गवर्नरों को भी यह दण्ड देने का अधिकार था । मृत्युदण्ड प्राप्त अपराधी व्यक्ति को आमतौर पर हाथी के पैरो के नीचे कुचलवाकर मरवा दिया जाता था ।

बन्दीगृह

उस समय बन्दीगृह दो प्रकार के होते थे—एक तो ऊँची स्थित के बन्दियों के लिए और दूसरे साधारण अपराधियो के लिए । प्रमुख सरदार और राजकुमार जो राजद्रोह मे अपराधी होते थे, उन्हें देश के विभिन्न भागों में किलों के अन्दर कैद करवाकर रखा जाता था । इनमें ग्वालियर, रणथम्भोर, रोहतास, भक्खर और बयाना के किले मुख्य थे । राजधानी, प्रान्तों के सदर मुकाम, जिलों और परगनों में भी स्थानीय बन्दीगृह थे । दण्ड-प्राप्त बन्दियों के अतिरिक्त विचाराधीन बन्दी भी इन्हीं जेलों में रखे जाते थे । न्याय-विभाग के उच्चाधिकारियों द्वारा जेलो का समय-समय पर निरीक्षण होता रहता था । ये लोग कैदियो की दशा देखते-भालते रहते थे और जिन कैदियों को यह समझते थे कि काफी कष्ट उठा चुके हैं, उन्हें छोड़ भी देते थे । कभी-कभी राजधानी की जेल का निरीक्षण बादशाह और प्रान्तों की जेलों का वहाँ के गवर्नर भी किया करते थे । कैदियों के रहने-सहने; उनके स्वास्थ्य-सफाई और भोजनादि का प्रबन्ध वर्तमान काल की जेलों की अपेक्षा सन्तोषजनक नही था ।

पुलिस-व्यवस्था

अकबर की पुलिस शासन-व्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ तथा जनहितकारी थी । समस्त पुलिस को नगर पुलिस, जिला पुलिस तथा ग्राम पुलिस इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया था । राज्य के प्रत्येक शहर तथा कस्बे में कोतवाल रखा जाता था, जिसका कर्तव्य जनता में सुख और शान्ति की व्यवस्था करना था । कोतवाल के कार्यों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है; वह शहर की पुलिस का प्रधान तथा

अपराधी के लिए दण्ड निश्चित करने का न्यायाधीश भी होता था। वह चोरों, डाकुओं तथा अन्य साधारण अपराधियो के विषय में सोच-विचार करके दण्ड दिया करता था। उसका मुख्य कर्तव्य नागरिक जीवन में शान्त वातावरण को स्थापित करना था। इसके अतिरिक्त अकबर की सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ रखने तथा तौल-नाप और बाजार के भावों का निरीक्षण करने के लिए भी वही उत्तरदायी रहता था। संयोगवश यदि वह चोर को पकड़ने में असफल हो जाता तो चोरी किये हुए सारे सामान के मूल्य का उत्तरदायित्व विशेष रूप से उस पर रहता था, प्रत्येक कोतवाल अपराधियों को बेंतो की मार, अंग-भग तथा अन्य प्रकार के कष्ट देने का अधिकार रखता था परन्तु वह मृत्युदण्ड नही दे सकता था। संक्षेप मे, कोतवाल के कर्तव्य समुचित थे तथा उसकी शक्ति विस्तृत एव निरंकुश थी। जिले मे कानूनों और आज्ञाओ के पालनार्थ फौजदार की नियुक्ति होती थी। इस कार्य को सफल करने के लिए आमिल तथा परगने के अन्य मालगुजारी के कर्मचारी उनकी सहायता करते थे। जिले के मुख्य-मुख्य स्थानों पर नगर की सुरक्षा आदि कर्तव्यो के पालन के लिए फौजदार एक कोतवाल को भी रखता था। सड़को की सफाई तथा मरम्मत कराना एव हर प्रकार की अव्यवस्थाओं को मिटाना फौजदार के मुख्य कर्तव्य थे। कोतवाल की भाँति फौजदार भी चोरी मे गये हुए सामान का स्वय उत्तरदायी होता था, यदि वह चोर को पकड़ने मे असफल हो जाता था। उसे अशान्तिकाल मे समुचित आचरण करने तथा साधारण समय मे शान्ति एवं सुख की व्यवस्था को सफलतापूर्वक स्थापित करने का अधिकार था। प्रत्येक परगने में एक से अधिक थाने अथवा पुलिस स्टेशन हुआ करते थे। गाँवों में पुलिस शासन के लिए अकबर ने वहाँ की प्राचीन परम्पराओ का अनुसरण करते हुए स्थानीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को स्थापित किया। गाँव के मुखिया के लिए यह आवश्यक था कि वह चोरों अथवा डाकुओं को एक निश्चित समय तक खोज निकाले। असफल होने की दशा में मुखिया को ही हानि को पूरा करना पडता था। यदि एक से अधिक गाँवों के अन्तर्गत कोई अपराध होता तो वहाँ के मुखियों पर उसका उत्तरदायित्व समझा जाता था। साधारणतया प्रत्येक अपराध का उत्तरदायित्व पूरे गाँव पर होता था और हानि की पूर्ति के लिए चन्दा किया जाता था। साधारण पुलिस-कार्य के लिए प्रत्येक गाँव में एक चौकीदार भी रहता था।

अकबर की संरक्षता मे पुलिस का प्रबन्ध अत्यन्त सुन्दर, सुदृढ एवं उच्चकोटि का था जिससे जनता में शान्ति और अनुशासन की समुचित व्यवस्था रही। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय चोरी, दुश्चरित्रता; धोखेबाजी अथवा अन्य प्रकार के ऐसे विघ्न जो प्रजा की शान्ति भंग करने वाले है, नही होते थे। उस समय भी कुछ पेशेवर चोर और डाकू पहाड़ियों और जंगलों मे रहा करते थे और जिस समय स्थानीय पुलिस को वे असावधान और निश्चिन्त समझते थे तभी खुले मैदान में आकर लूट-खसोट कर लेते थे। यूरोपीय यात्रियों ने सोलहवी शताब्दी (१५६०-१६०० ई०) के अन्तर्गत देश की क्या स्थिति थी, इसका बडा सुन्दर वर्णन किया है।

यद्यपि उन्होने कुछ बातें बढा-चढ़ाकर भी लिखी है, परन्तु नियमो की दृढ़ता, लोगों के उच्चादर्श एवं दण्ड-विधान-कठोरता के दृष्टिकोण से प्रजा का स्तर इस समय से कही अधिक ऊँचा था।

शिक्षा

सोलहवी शताब्दी में संसार में किसी भी देश की सरकार अपनी प्रजा को शिक्षित बनाना अपना कर्तव्य नहीं समझती थी। स्वयं इंगलैण्ड को भी अपना यह कर्तव्य १८७० ई० में ज्ञात हुआ। निस्सन्देह अपने समय में अकबर बहुत अग्रणी था, उसने प्रजा के बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाने का सफल प्रयत्न किया। यद्यपि उसने स्कूल जाने वाली जनता के लिए देश में बहुत-से मदरसे और कॉलेज स्थापित नही किये तथा शिक्षा-व्यय के लिए राज्य-कर में से कोई विशेष भाग नियत नही किया, फिर भी उसने शिक्षा को भिन्न-भिन्न प्रणालियों द्वारा प्रोत्साहन दिया। उसके राज्य में प्रारम्भिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के लिए पृथक संस्थाएँ थी, जिनमें से कुछ को सरकार ने स्थापित करके उनका पोषण भी किया, जबकि अन्य पाठशालाएँ सार्वजनिक हित पर निर्भर थीं। मकतब (प्रारम्भिक पाठशालाएँ) मस्जिदों में होते थे, जिनमें कुरान के अतिरिक्त प्रारम्भिक पठन-पाठन तथा गणित की शिक्षा दी जाती थी। इसमें और भी अधिक उन्नति के लिए मदरसों की भी व्यवस्था थी जिनको हम माध्यमिक पाठशाला अथवा कॉलेज कह सकते हैं। अकबर ने फतेहपुरसीकरी, आगरा, दिल्ली तथा अन्य स्थानों में भी मदरसों (कॉलेजों) की स्थापना की और उनको आर्थिक सहायता प्रदान की। उसके दरबारियों ने भी उसकी नीति का अनुसरण किया। उसके राज्य के बिलकुल प्रारम्भ में माहम अनगा ने दिल्ली में पुराने किले के पश्चिमी दरवाजे के निकट एक मदरसा बनवाया था। ख्वाजा मुईन ने भी दिल्ली में एक मदरसे की स्थापना की थी। इसी प्रकार के अनेक मदरसे उन प्रसिद्ध कस्बों में भी थे जहाँ मुसलमानों की आबादी की बहुलता थी। इन मदरसों में बड़े-बड़े प्रसिद्ध शिक्षकों द्वारा इस्लाम आध्यात्मिकता, धर्मशास्त्र, दर्शन, तर्कशास्त्र तथा ज्योतिष आदि विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षकों में अधिकांश विदेशी शिक्षा प्राप्त लोग होते थे। देश के प्रत्येक भाग में हिन्दुओं को भी शिक्षा ग्रहण करने के लिए पाठशालाएँ तथा उच्चतर केन्द्र थे। प्राचीन तुर्क आक्रमणकारियों ने मूर्तिभंजन (बुतशिकनी) के जोश में आकर कुछ केन्द्रों को नष्ट कर दिया था, फिर भी हिन्दुओं के शिक्षा-केन्द्र पूर्णतया नष्ट नहीं हुए थे। अकबर के समय में हमारी प्राचीन शिक्षा का पुनरुद्धार हुआ। उस समय प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला होती थी जो मन्दिरों में होती थी। इसमें पठन-पाठन, गणित तथा धार्मिक विषयों का अध्ययन कराया जाता था। बड़े बड़े शिक्षा-केन्द्रों में भारतीय आध्यात्मिकता, संस्कृत, व्याकरण, दर्शन, साहित्य, तर्कशास्त्र, ज्योतिष, गणित तथा अन्य विषयों का अध्ययन होता था। अकबर ने पाठ्यक्रम की सूची का पूर्ण निरीक्षण करके मकतब एवं मदरसों (कॉलेजों) के प्रौढ़ विद्यार्थियों के लिए उनके निश्चित विषयों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों को भी जोड़ दिया। ये विषय नैतिक एवं

सामाजिक आचरण, गणित तथा उसकी सहायता के लिए गिनने का ज्ञान कराना, कृषि-क्षेत्रमिति, रेखागणित, ज्योतिष, मुँह के लक्षणो को जानने का ज्ञान कराना, भविष्य का ज्ञान कराना, गृह सम्बन्धी मितव्ययता, सार्वजनिक शासन, औषधि, तर्कशास्त्र, तिब्बी, रियाजी तथा इलाही विज्ञान एवं इतिहास थे। संस्कृत के विद्यार्थी व्याकरण, भाषा-विज्ञान, तर्कशास्त्र, वेदान्त एवं पातंजलि का अध्ययन करते थे। शनैःशनैः इन विषयों का अध्ययन कराया जाता था। शिक्षक-वर्ग शिष्यो को केवल स्मरण करने मे सहयोग देते थे। विद्यार्थियों को नीति-वचन* तथा वचन-पालन का उपदेश विशेष रूप से दिया जाता था, आवश्यकता पड़ने पर विद्यार्थी किसी भी आज्ञा का उल्लघन नही कर सकता था। सम्भवतः मदरसों (कॉलेजों) में उपर्युक्त विषयों पर अधिक जोर दिया जाता था। उपर्युक्त सारे विषयो को एक ही शिक्षा संस्था में पढाया जाना असम्भव था। हिन्दुओं के लिए मदरसे खोले जाने का दूसरा सुधार भी हुआ। मध्ययुगीन भारत मे पहली बार हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर स्कूलो मे शिक्षा प्राप्त करते थे तथा समान पुस्तकें पढ़ते थे। उपर्युक्त सुधार फारसी के राजभाषा हो जाने तथा अकबर की व्यापक राष्ट्रीयता के उद्देश्य के कारण आवश्यक हुआ।

वी० ए० स्मिथ का यह कहना है कि "सुधार वास्तविकता से सम्बन्धित न था, अतः असत्य एवं व्यर्थ था।" यह बात ठीक नही है। इस पद्धति से ऐसे योग्य तथा विख्यात पुरुष उत्पन्न हुए, जिन्होंने अकबर के अन्तिम समय में तथा जहाँगीर एवं शाहजहाँ के शासन को सफल बनाने में पूर्ण सहायता दी। वे किसी भी समय तथा किसी भी राज्य में यश प्राप्त करने योग्य थे। यह स्पष्ट कहना ही पर्याप्त होगा कि ये सुधार पूर्ण लाभदायक सिद्ध हुए। अकबर का दरबार विद्या तथा कला का केन्द्र था। बादशाह, उसके दरबारी तथा अन्य कर्मचारी भी उसके निर्माण मे उदारतापूर्वक सहयोग देते थे। निस्सन्देह यह उच्चकोटि की सभ्यता, कला-कौशल तथा उन्नति का युग था। अनेक विषयों मे उच्च साहित्यिक कार्य किये गये, जिनमे विशेष रूप से अकबर के समय का हिन्दी पद्य-साहित्य अद्वितीय है तथा यह सदैव के लिए उच्चकोटि के साहित्य में गिनने योग्य है। ऐसे उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण बिना उचित शिक्षा सम्बन्धी प्रबन्ध एवं समुचित वातावरण के सम्भव नही था।

राजकीय शिक्षा एवं संस्कृति के प्रसार की योजना मे दरबारियो का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। अकबर ने विद्वानो तथा कलाकारों को विभिन्न प्रकार के उच्च-कोटि के वैज्ञानिक एवं साहित्य ग्रन्थ लिखने के लिए प्रोत्साहन दिया। धर्मशास्त्र, दर्शन, साहित्य, जीवन-चरित्र, इतिहास, गणित, ज्योतिष, औषधि तथा अन्य विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। पद्य की ओर भी उदासीनता नही दिखायी गयी। ललित-कलाओ मे भवन-निर्माण-कला, संगीत-कला, चित्रकारी इत्यादि को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। अकबर की यह प्रशंसनीय इच्छा थी कि भारत में एक मिश्रित सभ्यता की स्थापना

* Ain 25, vide *Ain-i-Akbari* (Blochmann), Vol. 1, pp 278-79

की जाय। इस कार्य मे सहायता देने के लिए देश के विद्वानों को आमन्त्रित किया गया। इसी इच्छा से प्रोत्साहित होकर एक अनुवाद विभाग की स्थापना की गयी और सस्कृत, अरबी एवं तुर्की मे उत्तम ग्रन्थों का अनुवाद कराया, जिससे सभी हिन्दू तथा मुसलमान एक-दूसरे के धार्मिक तथा सास्कृतिक गुणों से परिचित हो सकें। उपर्युक्त कार्य के लिए देश के प्रख्यात विद्वानों से सहयोग के लिए अनुग्रह किया गया। इस कार्य में सहायता देने के लिए अनेक विदेशी विद्वानो को उनके स्वदेशीय विचारों को प्रदान करने के लिए आमन्त्रित किया गया। संस्कृत के बहुत-से निबन्धो, वेदों, रामायण एवं महाभारत का फारसी में अनुवाद किया गया। मुसलमानों के आध्यात्मिक ग्रन्थ तथा कलाओं का जो अरबी मे लिखे हुए थे, फारसी में अनुवाद किया गया। भारतीय इतिहास के अध्ययन तथा लेखन-शैली को प्रोत्साहन देने के लिए एक संस्था की स्थापना की गयी। अनेक पुस्तकालयों की स्थापना की गयी। बहुत-सी ऐतिहासिक पुस्तकें श्रेष्ठ इतिहास-कारों ने लिखीं। राजमहल मे राजकीय पुस्तकालय संसार के विशाल पुस्तकालयों मे एक था। इसमें सहस्रों सुन्दर हस्तलिखित, चित्रमय तथा सजिल्द पुस्तकें थीं। वर्णन तथा भाषा के अनुसार पुस्तकें पृथक-पृथक क्रमश: रखी हुई थी। इनमें विशेषतया संस्कृत, फारसी, यूनानी, कश्मीरी तथा अरबी भाषा मे लिखी हुई पुस्तकें थीं।

हिन्दी की भी प्रगति हो रही थी और उसको भी प्रोत्साहन मिला, यद्यपि शिक्षा का माध्यम फारसी था जो कि दरबारी भाषा थी तथा राज्य-कर्मचारियों के लिए अनिवार्य थी। हिन्दू पाठशालाएँ प्रायः मन्दिरों मे होती थी तथा कुछ निजी पाठशालाएँ भी बनायी गयी थीं। हिन्दुओं द्वारा स्थापित की जाने वाली संस्थाओं में हिन्दी माध्यम से शिक्षा देने का प्रबन्ध था। बादशाह द्वारा जो नियम बनाये गये थे, उनका उद्देश्य मनुष्य के नैतिक तथा मानसिक-स्तर को उन्नत करना था। फिर भी मानना पड़ेगा कि यह योजना विशेषतया उच्चतर एवं मध्यवर्गीय मनुष्यों के लिए बनायी गयो थी।

धार्मिक-नीति

यह पहले बताया जा चुका है कि जिज्ञासु अकबर ने भारत में प्रचलित अनेक धर्मों का शास्त्रीय विधि से निरीक्षण किया था। इस कार्य के फलस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 'प्रत्येक धर्म में सत्य विद्यमान है' और यह कहना गलत है कि सत्य केवल इस्लाम धर्म तक ही सीमित है जो दूसरे धर्मों की अपेक्षा नया धर्म है। अतः उसने इस्लाम धर्म को राज्य-धर्म के स्थान से पृथक करके 'दीन इलाही' नामक नवीन धर्म को उस स्थान पर स्थापित किया। वह नवीन धर्म, जिसकी तुलना हमारे समय के ब्रह्मवाद (थियोसोफी) से की जा चुकी थी, एक सारपूर्ण धर्म था तथा इसमें प्रत्येक धर्म में से लिये हुए उत्तम नियम संयुक्त थे। वह बुद्धि और तर्क पर अवलम्बित था, किसी व्यक्ति विशेष के कथन पर नहीं। अकबर की यह प्रमुख नीति थी कि वह अपने धर्म को प्रजा से बलपूर्वक अपनाने का प्रयत्न नहीं करता था, इसलिए यह दरबारियों तक ही सीमित रहा तथा कुछ हजार ही इसके अनुयायी हो सके। दीन-इलाही की स्थापना के बाद भी अकबर ने अपनी प्रजा को व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता देने की

नीति का अनुसरण किया। बादशाह को यह पूर्ण विश्वास था कि प्रत्येक धर्म में सत्य का अंश है, उनमें ईश्वर भी है चाहे उसकी उपासना गिरजाघर, मस्जिद अथवा मन्दिर में कहीं भी की जाय। इसलिए सहनशीलता की नीति का अनुसरण करना उसके लिए स्वाभाविक था। उसका कहना था कि प्रत्येक धर्म को समान समझना चाहिए तथा प्रत्येक धर्मानुयायी को अपने धर्म मे विश्वास करने और उसका पालने करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। मुसलमानों के आगमनकाल से ही उसका जैसा अनुचित व्यवहार रहा, उसके विपरीत अकबर ने हिन्दुओ को सार्वजनिक पूजा-पाठ करने तथा धर्मोपदेश देने के लिए स्वतन्त्र कर दिया। जो हिन्दू स्त्री-पुरुष और बच्चे बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये थे, उनको इच्छानुसार अपने बाप-दादो के धर्म में जाने की आज्ञा मिल गयी। ईसाइयो को गिरजाघर बनाने तथा हिन्दू और मुसलमानों को उनकी इच्छा के अनुसार ईसाई बनाने की आज्ञा मिल गयी। धार्मिक विश्वास के ऊपर योग्यता अथवा अयोग्यता निर्भर नही थी। राजकीय पदो पर नियुक्ति प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी जाति अथवा धार्मिक विश्वास का ध्यान न करके समान रूप से होती थी। हर धर्म को समान स्थान देना, हर धर्म के प्रचारकों को अपने धर्म के अपनाने की आज्ञा देना तथा मुसलमान बने हुए व्यक्ति को अपने बाप-दादा के धर्म को अपनाने की छूट देने आदि को कट्टर मुल्ले इस्लाम धर्म के प्रति अन्याय समझते थे। इसके कट्टर अनुयायी विशेष रूप मे उलेमा लोग थे जो अब राज्य-कार्य मे माननीय थे। वे सदैव अपने कट्टर धर्म की नीति का अनुसरण करते थे। इस धार्मिक स्थिति के परिवर्तन पर उनको भारी धक्का लगा। उन्होंने अकबर पर उसकी धार्मिक नीति के विरुद्ध अनेक दोषारोपण किये। यही नहीं मुसलमानी प्रजा को उसके विपरीत उन्होंने यह कहकर भड़काया भी कि अकबर ने अपना धर्म बदल दिया है। फलस्वरूप जौनपुर के काजी-मुल्ला मुहम्मद याजदी ने १५८० ई० में इस आशय का एक फतवा निकाला कि अब बादशाह मुसलमान नहीं रहा है। अतः मुसलमानों को उसके प्रति विद्रोह करना नियमानुकूल है। इसी समय अकबर ने कुछ शासन सम्बन्धी सुधार किये थे, जैसे जागीर की भूमि को खालसा (स्थायी) भूमि में परिणत करना तथा शाही पदाधिकारियों के भत्तों में कमी करना। इन सुधारो के कारण भी कुछ असन्तोष फैला। इन्हीं कारणों से बिहार और बगाल के कुछ ऊँचे कर्मचारी कट्टर इस्लाम धर्म के मानने वालो में मिल गये। उन्होंने एक भयानक विद्रोह पैदा कर दिया। अकबर की व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की नीति का परिणाम सर्वप्रथम हानिकारक सिद्ध हुआ। इससे साम्राज्य घरेलू झगडों मे फँस गया। फिर भी सभी धर्मों को समान मानने की नीति को बादशाह ने नही छोड़ा। उपद्रव दबा दिया गया तथा उपद्रवियों को कठोर दण्ड दिये गये। उसकी पूर्ण धार्मिक सहनशीलता की नीति कसौटी पर ठीक उतरी, जो उसके समस्त काल में प्रचलित रही और औरंगजेब के गद्दी पर बैठने के समय तक कुछ रूपान्तरों के साथ चलती रही।

वी० ए० स्मिथ तथा वूल्जले हेग आदि कुछ आधुनिक इतिहासकारों का कहना

है कि एक ओर तो अकबर ने प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णु नीति का अवलम्बन किया, किन्तु दूसरी ओर उसने इस्लाम धर्म के प्रति असहनशीलता का व्यवहार किया। यह विचारधारा ईसाई धर्म-प्रचारकों तथा इतिहासकार बदायूँनी के कथन पर आधारित है। अकबर के आतिथ्य-सत्कार से कुछ ईसाई धर्म-प्रचारकों ने यह समझकर कि बादशाह हमारे धर्म में सहायता करता है तथा उसे आदर की दृष्टि से देखता है—यही नहीं, यह स्वयं ईसाई धर्म से प्रभावित भी है—अपने प्रधान प्रचारकों को यह बढ़ा-चढ़ाकर लिख भेजा था। उन्होंने यूरोप के ईसाइयों को विश्वास दिला रखा था कि बादशाह ने इस्लाम धर्म छोड़ ही नहीं दिया है, बल्कि वह उसका दमन भी कर रहा है। बदायूँनी कट्टर मुल्ला था। यह बादशाह के अन्य धर्मों के प्रति न्याय तथा उदारतापूर्ण व्यवहार को इस्लाम धर्म के प्रति अन्याय तथा दमन समझता था। यह कहा जा चुका है कि अकबर ने इस्लाम धर्म को राजधर्म नहीं रखा अतएव कट्टर मुसलमानों में धार्मिक असन्तोष फैल गया था। उन्होंने अपने धर्म के नाश होने का दोषी अकबर को इसलिए भी ठहराया क्योंकि अकबर ने प्रत्येक धर्मानुयायी को अपने धर्म का प्रचार करने तथा प्रत्येक को उसकी इच्छा के अनुसार अपने पुराने धर्म को अपना लेने की स्वतन्त्रता प्रदान की थी। बदायूँनी इस प्रकार के हीन कार्यों की एक बड़ी सूची देता है, जो इस प्रकार है :

१. अकबर ने नमाज के समय रेशमी वस्त्रों और आभूषणों का पहनना अनिवार्य कर दिया।
२. उसने मुस्लिम नमाज का निषेध करा दिया।
३. उसने सभा में अनाज देना रोक दिया।
४. उसने मुस्लिम उपवासों (रोजा) का निषेध करा दिया।
५. मक्का की धार्मिक यात्रा को बन्द कर दिया।
६. मुस्लिम त्यौहारों का क्रम तोड़ दिया।
७. कोई भी व्यक्ति अपने लड़कों का नाम मुहम्मद तथा अहमद नहीं रख सकता था।
८. मस्जिदों को लूटकर अस्तबल बना दिया गया।
९. दाढ़ी बनवाने की स्वीकृति दे दी।
१०. जंगली सुअरों तथा चीतों का मांस खाने की स्वीकृति दे दी।
११. अरबी भाषा के अध्ययन को प्रोत्साहन नहीं दिया गया।
१२. निषेध के दिनों में यदि कोई मनुष्य गाय अथवा पशुओं की हत्या करता था तो उसे दण्ड का भागी बनना पड़ता, कभी-कभी तो प्राणदण्ड की सजा भी दी जाती थी।

अकबर के कार्यों की उपर्युक्त आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से कुछ आलोचनाएँ बिलकुल झूठी थीं। यदि अकबर ने नमाजबन्दी की आज्ञा दी थी तो यह कहना तो बिलकुल निराधार था कि नमाज के समय रेशमी वस्त्र तथा गहने

पहनना आवश्यक है। बदायूँनी की निजी पुस्तक तथा ईसाई धर्म-प्रचारको के लेखों से हमें यह ज्ञात होता है कि मुसलमान नमाज पढते थे। इस बात को इस प्रकार से भी कहा गया है कि सर्वसाधारण मुसलमान भी नित्य पाँच बार नमाज पढ़ता था। इस बात का अनुमान लगाना भी ठीक नही है कि सभी व्यक्ति रमजान के रोजे मनाने के लिए रोके गये थे। मक्का की धर्म-यात्रा भी पूर्ववत् जारी रही, इस बात को हम ईसाई धर्म-प्रचारकों के लेखो के साथ-साथ अन्य कई साधनो द्वारा भी जानते है. जैसे १५८५ ई० मे बहुत-से मुसलमान स्त्री-पुरुषो को मक्का जाने की स्वीकृति दी गयी थी। यह भी तत्कालीन लेखको द्वारा ज्ञात होता है कि अकबर के सम्पूर्ण साम्राज्य मे मुसलमानी त्यौहारो का मनाया जाना तथा लडको का अहमद एव मुहम्मद से नामकरण करना साधारणतया सभी स्थानो पर प्रचलित था। मस्जिदो को लूटकर अस्तबल बनाने का हमे कोई भी प्रमाणिक एव दृढ उदाहरण प्राप्त नही होता। हिन्दू मन्दिरो की तरह किसी भी मस्जिद में मूल्यवान वस्तुएँ नही होती थी, अत. वे लूटने योग्य नही थीं। यह सम्भव हो सकता है कि युद्ध के समय मस्जिदों को फौजें रखने के काम में लाया गया हो। यह हमें ठीक पता है कि देश में सैंकड़ों मस्जिदे बनी हुई थी और यहाँ पर नमाज पढ़ी जाती थी। यह विश्वास कर लेना कि उनको लूटकर अस्तबल बना दिया गया, मिथ्या है। हमें अकबर के शासनकाल के पश्चात के समय के चित्रों से यह ज्ञात होता है कि दरबारी तथा सरदार खूब दाढियाँ रखते थे। यदि अकबर ने अपनी दाढ़ी कटा दी तथा उसके कुछ दरबारियो ने उसका अनुसरण भी किया तो इस्लाम धर्म के दमन का कारण इसे नहीं समझना चाहिए। इसी तरह सुअरो का माँस खाने के लिए भी किसी पर दबाव नहीं डाला जाता था। हाँ, सम्भवतः ऐसा था कि जो व्यक्ति इसे खाते थे उनको घृणित दृष्टि से नही देखा जाता था और न दण्ड ही दिया जाता था। अकबर ने फारसी के प्रचार में उन्नति की तथा संस्कृत एवं हिन्दी को भी आश्रय दिया था, अरबी को नष्ट करने का न तो कोई नियम बनाया गया और न ही कोई आज्ञा दी गयी थी। बदायूँनी की भाँति कुछ कट्टर लोग संस्कृत को प्रोत्साहन प्राप्त होने से ही अरबी की अवनति होना समझ बैठे। इस प्रकार यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि अकबर ने अपने पूर्वजों के धर्म का दमन करने के लिए कदापि प्रयत्न नही किया था। इस्लाम धर्म को उच्च स्थान से उतारकर दूसरे धर्मों के बराबर रखने के लिए अकबर ने यह सब किया था। वह मोहम्मद साहब को केवल पैगम्बरों में से एक मानता था, सर्वश्रेष्ठ पैगम्बर नहीं, जैसा कि मुसलमान लोग मानते हैं।

राजकर्मचारी-व्यवस्था

मुगल राजकीय (शाही) कर्मचारी व्यवस्था जिसके द्वारा सुन्दर शासन एवं साम्राज्य को सुदृढ़ तथा व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ, राष्ट्रीय नहीं कही जा सकती क्योंकि अधिकांश कर्मचारी तुर्क, उजबेग, मंगोल, फारस के निवासी, अरब निवासी तथा अफगान थे, केवल थोड़े-से कर्मचारी भारतीय मुसलमानों तथा हिन्दुओं में से थे।

ब्लोकमैन के कथनानुसार अकबर के ७० प्रतिशत उच्च-पदाधिकारी विदेशी थे, जो प्रायः मध्य-एशिया से नौकरी करने आये थे और उनमें से कुछ यहाँ पर एक या दो पीढ़ियों से बसे हुए थे। उनमें से बहुत-से बाबर और हुमायूँ के साथ आये थे और उन्होंने शाही-वंश से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। अकबर ने हिन्दुओं के लिए भी ऊंची नौकरियाँ प्राप्त करने की सुविधाएँ रखी थीं। किन्तु हिन्दू उच्च-पदाधिकारियों की संख्या फौज तथा दीवानी पदों के लिए अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम थी। भारतीय मुसलमानों का भी कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था। हिन्दू उच्च-पदाधिकारियों में प्राय. प्रभावशाली राजपूत लोग ही थे। यद्यपि अकबर की यह नीति थी कि भारत भारतीयों के लिए है फिर भी उसके शासन के अन्तिम समय तक शाही नौकरियों पर विभिन्न जातियों के लोग भरे थे, उनमे विशेषतया विदेशी थे।

सेवाओं की प्राप्ति व्यक्ति के गुणों और परिपक्वता पर निर्भर थी। भरती होने के लिए जाति, नस्ल और धर्म का ध्यान नहीं रखा जाता था। कभी-कभी राजनीतिक परिस्थिति बादशाह को बाध्य कर देती थी और उसे कुछ विशेष मनुष्यों को उच्च पदों पर नियुक्त करना भी पड़ता था। परन्तु इन लोगों को तब तक तरक्की नहीं दी जाती थी जब तक वे अपनी सेवा और स्वामिभक्ति का स्पष्ट प्रमाण नहीं देते थे। सभी राज्य-कर्मचारियों को मनसबदार की उपाधि दी जाती थी तथा उनकी स्थिति, पद और वेतन का अनुमान उनके मनसब से ज्ञात होता था। उनकी उन्नति कार्यकुशलता पर निर्धारित थी, न कि उनके वेतन अथवा दीर्घकालीनता पर। बादशाह को इस बात का अधिकार था कि वह स्वेच्छानुसार राज्य के सर्वोच्च कर्मचारियों तथा मन्त्रियों तक को उनके पद से नीचे तथा ऊँचा कर दे; यहाँ तक कि प्रधानमन्त्री को गवर्नर तथा उससे भी नीचे पद पर नियुक्त कर सकता था। राजा टोडरमल को प्रधानमन्त्री के पद से हटाकर गवर्नर के पद पर नियुक्त कर दिया, इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं। किसी पदाधिकारी को सर्वोच्च पद पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह क्रमशः धीरे-धीरे बीच के प्रत्येक पदों पर नियुक्त होकर सर्वोच्च पद पर पहुँचे। कभी-कभी वह सीधा ही उच्च पद पर नियुक्त कर दिया जाता था। किसी भी व्यक्ति का ऊँचे पद पर पहुँचना या बने रहना असम्भव था जब तक कि उसमें कार्यकुशलता और स्वामिभक्ति न हो।

शाही नौकरियों का प्रबन्ध नौकरशाही सिद्धान्तों पर आधारित था। इसका संगठन और वातावरण फौजी था। सेना के सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक अँफसर की, चाहे वह फौजी अफसर हो या नहीं, मनसब अर्थात फौजी पद पर नियुक्ति की जाती थी। प्रत्येक अफसर के लिए सेना रखना अनिवार्य था और जब कभी राज्य को आवश्यकता पड़ती थी तब वे राज्य को सेना देते थे। इस संस्था के सदस्यों को मनसबदार कहते थे। वे ३३ श्रेणियों में बँटे हुए थे जो दस के मनसब से दस हजार तक के मनसब थे। इस प्रकार राज्य की नौकरियों का स्थायी प्रबन्ध फौजी नियमों के आधार पर किया था। इन लोगों को शासन सम्बन्धी और न्याय

सम्बन्धी विशेष कार्यों के साथ फौजी कार्य भी करने पडते थे। दूसरी नौकरशाहियो की तरह मनसबदार भी अपने कार्य मे कुशल और स्वामिभक्त थे।

विशेष प्रकार के पदो की सख्या बहुत थोडी थी। शासन, मालगुजारी तथा न्याय विभाग की नौकरियाँ एक-दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न नही थी। वास्तव मे दीवानी तथा फौजदारी नौकरियो मे भी कोई विशेष अन्तर नही था। किसी भी कर्मचारी को किसी भी नये स्थान पर किसी भी समय भेजा जा सकता था। उदाहरणार्थ, राजा टोडरमल जो एक उच्चकोटि का अर्थशास्त्री था, उसको भी अनेक बार गर्वनर और सेनापति बनना पडा। अबुल फजल जो एक बहुत बडा विद्वान तथा इतिहासकार था, उसको भी नीति-विशारद दूतो के पद पर नियुक्त किया गया था दक्षिण मे फौज के साथ भी प्रस्थान करना पडा। राजा बीरबल जो केवल दरबारी विद्वान था उसे भी पठानों के विपरीत युद्ध करने के लिए जाने की आज्ञा दी गयी थी। शिक्षा अथवा औषधि सम्बन्धी कोई नौकरी उस समय पृथक रूप से नही थी, यद्यपि अध्यापक और वैद्य राज्य कर्मचारी के रूप मे नियुक्त किये जाते थे।

जैसा प्रायः कहा जाता है, राज्य कर्मचारी दो बड़े-बडे विभागों मे विभाजित थे—(१) जो केवल दरबारी कार्य करते थे, (२) जो राजधानी अथवा प्रान्तो मे स्थायी कार्यकर्ता थे। दोनों प्रकार के पदाधिकारियो के नाम भिन्न-भिन्न रजिस्टरों में लिखे हुए थे। दरबार में नियुक्त कर्मचारियो को बादशाह की आज्ञापालन के लिए हर समय तत्पर रहना पड़ता था। इन लोगों के निजी दल भी हुआ करते थे, उनको भी इस कार्य के लिए तैयार रहना पड़ता था। जिन पदाधिकारियो के नाम दूसरे रजिस्टर में थे, वे गवर्नर के, प्रान्त के, जिले तथा गृह-विभाग के पदों पर नियुक्त थे।

कर्मचारियों का वेतन या तो जागीर द्वारा अथवा शाही खजाने से नकद रुपयों में दिया जाता था। अकबर नकद रुपया देने वाले नियम को पसन्द करता था, परन्तु जागीरों की नियुक्ति द्वारा वेतन देने का ढंग पुराने समय से ही चला आ रहा था। अकबर उसे पूर्णरूप से नहीं मिटा सका था। किन्तु उसके राज्यकाल के अन्त समय में ऐसे बहुत कम अफसर थे जिनको वेतन के बदले जागीर दी गयी थी। कर्मचारियों के वेतन तथा भत्ते बहुत ही अधिक थे। ५,००० के प्रथम श्रेणी के मनसबदार को तीस हजार रुपये प्रति माह तथा उसी कक्षा के द्वितीय श्रेणी के मनसबदार को उन्तीस हजार रुपये प्रति माह और तृतीय श्रेणी के मनसबदार को अट्ठाईस हजार रुपये प्रति माह वेतन स्वरूप प्राप्त होते थे। इन पदाधिकारियों को अपने पास सेना रखने का व्यय स्वयं ही देना पड़ता था। जब उनके वेतन में से सेना व्यय काट लिया जाता था तो पाँच हजार वाले मनसबदार का अट्ठारह हजार रुपये प्रतिमाह, एक हजार वाले मनसबदार को पाँच हजार रुपये तथा पाँच सौ वाले मनसबदार को एक हजार रुपये मासिक वेतन मिलता था। अकबर के समय में वेतन वर्ष के बारह महीनों का दिया जाता था।

मुगलकालीन नौकरियों का प्रबन्ध भली प्रकार किया गया था। किन्तु फिर

भी इनमे बहुत सी त्रुटियाँ बनी रहीं। प्रथमतः नियुक्ति, उन्नति, तथा पदच्युति के लिए कोई निश्चित नियम नहीं थे। दूसरे, कार्य करने की कोई निश्चित अवधि नहीं थी इसलिए अनेक षड्यन्त्र हुए तथा कभी-कभी लोगों ने कर्तव्यपालन की ओर भी ध्यान नहीं दिया। किसी व्यक्ति को नियुक्त करना अथवा तरक्की देना बादशाह की इच्छा पर निर्भर था। अकबर मे मनुष्यों के चरित्र को भलीभाँति परखने का विशेष गुण था, वह मनुष्य के चरित्र को तत्क्षण समझने की सामर्थ्य रखता था। यही कारण है कि उसने विशेष तथा उत्तम कर्मचारियो को नियुक्त किया और उन व्यक्तियो को ही तरक्की दी जो उसके लिए पूर्ण योग्य थे। परन्तु उसके उत्तराधिकारी योग्य शासक नहीं थे। अतः शाही नौकरी-व्यवस्था मे अवनति होने लगी। तीसरे, जो सेनाएँ मनसबदारों को रखनी पड़ती थी उन पर बहुत व्यय होता था। परम्परा के अनुसार तथा प्रतिष्ठा रखने के ध्यान से उच्चकोटि के अफसर अपव्ययी थे। मितव्ययी होने का उन्हें कोई प्रलोभन नहीं था। अधिकांश कर्मचारी भोग-विलास के लिए अपार धन व्यय करते थे और इस धन की प्राप्ति के लिए गरीबों का शोषण होना स्वाभाविक ही था। इन कमियों के होते हुए भी अकबर ने राज्य-सेवादल का ऐसा अच्छा प्रबन्ध किया कि उस समय के संगठन, कार्यकुशलता और स्वामिभक्ति की दृष्टि से संसार भर में ऐसी संस्था पर्याप्त नहीं थी। नौकरशाही अकबर की आज्ञा का जल्दी और सफलता-पूर्वक पालन करती थी और जिसके कारण अकबर का शासनकाल इतना सफल और सुप्रसिद्ध हुआ।

सामाजिक और आर्थिक दशा

देश और उसके निवासी

अकबर के समय का भारत आजकल के भारत के समान न था। उस समय न तो रेलवे लाइनें ही थीं और न पंजाब और वर्तमान उत्तर प्रदेश की तरह देश में नहरों का जाल था। स्वतन्त्र भारत की नदी-घाटी योजनाएँ तथा औद्योगिक एवं मशीन सम्बन्धी उन्नतियाँ मध्यकालीन भारत में कल्पना के परे थीं। उस समय पक्की सड़कें नहीं थीं, देश के भिन्न-भिन्न भागों तथा मुख्य-मुख्य नगरों में कच्ची सड़कें थीं जिनके दोनों ओर छायादार वृक्ष लगे हुए थे। व्यापारियों तथा यात्रियों को सुविधापूर्वक रात्रि व्यतीत करने के लिए इन पर सरायें भी बनी हुई थीं। सिन्धु, गंगा, यमुना, घाघरा तथा बंगाल की नदियाँ जिनमे नावें चलायी जा सकती थीं, सामान के यातायात के काम आती थीं। अकबर के समय में अब से अधिक जंगल थे। अधिकतर जंगल गोरखपुर, गोंडा, लखीमपुर खेरी तथा बिजनौर के जिलों, वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश के कई भागों में पाये जाते थे। जंगलों के कारण जंगली जानवर भी पाये जाते थे। ऐसे जानवर गंगा के मैदान के कुछ भागों में भी रहते थे। गंगा, यमुना के दक्षिणी भाग पर प्रायः हाथी पाये जाते थे। मालवा के कुछ भागों में शेरों का शिकार किया जा सकता था तथा कभी-कभी गंगा के मैदान के जंगलों में गेंडे तथा चीते भी देखे जाते थे। आगरा के निकट अकबर के शिकार खेलने का एक विस्तृत मैदान

था। यहाँ पर अनेक प्रकार के जगली जानवर शिकार के लिए पर्याप्त थे। अधिक जगलों तथा बागो के कारण वर्षा तथा पैदावार प्रचुर मात्रा मे होती थी। इस प्रकार की साधारण स्थिति के अतिरिक्त देश की प्राकृतिक दशा मे कोई अन्तर न था। देश मे गाँवो की अधिकता थी, वे एक-दूसरे के निकट बसे हुए थे और उनमे काफी जन-संख्या थी। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कानपुर तथा कराँची आदि आधुनिक नगर उस समय नही थे। कन्नौज तथा विजयनगर की भाँति प्राचीन राजधानियो की स्थिति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण थी। अकबर के समय मे फतेहपुरसीकरी, आगरा, दिल्ली, इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ, लाहौर, मुल्तान, उज्जैन, अहमदाबाद, अजमेर, पटना, राजमहल तथा ढाका आदि प्रसिद्ध नगर थे। ये सब नगर पूर्ण समृद्धिशाली तथा पर्याप्त जनसख्या से परिपूर्ण थे। बडे बडे बाग देश के सभी भागों मे पाये जाते थे, विशेषकर बड़े-बडे नगरो के समीप। जैसा मौनसरेट ने कहा है, दूर से देखने मे केवल गाँव ही नही, वरन् नगर भी बहुत सुन्दर लगते थे।

देश घना बसा हुआ था। जंगल तथा विस्तृत निर्जन प्रदेश इधर-उधर फैले हुए थे। उस समय की आबादी आजकल की अपेक्षाकृत घनी नही थी तथा प्रत्येक स्थान में भिन्न-भिन्न प्रकार की जातियाँ रहती थीं। हिन्दुओं की संख्या बहुत अधिक थी और वे भिन्न-भिन्न जातियों मे विभक्त थे, जिसमें प्राय: राजपूत; ब्राह्मण, कायस्थ तथा वैश्य जाति के लोगों की गणना, उच्च वर्णों में की जाती थी। वे परस्पर खान-पान तथा विवाह आदि नही करते थे। उस समय की जाति-प्रथा इस समय से कही अधिक विषम थी। राजपूत नियमानुसार फौजी आदमी होते थे तथा उनके अन्य वंशज नेताओं के रूप में राज्य की सेवा करके मनसबदार जैसे उच्च पदों पर नियुक्त होते थे। ब्राह्मण पूजा-पाठ तथा पठन-पाठन में लगे रहते थे। वैश्य व्यापार करते थे। कायस्थ बहुधा क्लर्क, पेशकार तथा मालगुजारी के कर्मचारी हुआ करते थे। कुछ निम्न श्रेणी के राजपूत डाका भी डालते थे। मुसलमान दो भागों में विभक्त थे। एक भाग उन लोगों का था जो कि अरब, फारस तथा अन्य देशों से यहाँ आकर नौकरी अथवा व्यापार करने लगे थे और दूसरा मुसलमानों का वह भाग था जिसके पूर्वज हिन्दू थे। बाद वाले भाग की संख्या स्वभावत: अधिक थी। अरब तथा फारस के विदेशी मुसलमान व्यापारी बन्दरगाहों पर बसे हुए थे। जो लोग नौकरी के ध्येय से आये थे वे अधिकतर उत्तर भारत में बस गये तथा कुछ लोग बीजापुर, अहमदनगर तथा गोलकुण्डा के दरबारों में रहने लगे। अकबर के दरबार में विदेशी मुसलमानो की सख्या बहुत अधिक थी। अरब और फारस के निवासी, तुर्की, मंगोल तथा उजबेगों के अतिरिक्त वहाँ पर कुछ अबीसीनिया और अर्मीनिया के निवासी भी थे। विदेशी यात्रियों के लिए देश का द्वार खुला हुआ था। उनको यहाँ रहने के लिए किसी भी प्रकार की रोकटोक न थी। यूरोप तथा एशिया के विभिन्न देशों के लोग—पुर्तगाली, अंग्रेज, चीनी, जापानी, तुर्क तथा यहूदी आदि—भी काफी थे यहूदियों ने आर्मीनिया की तरह एक छोटा-सा शक्तिशाली व्यापारिक सम्प्रदाय बना लिया था। फारसी लोग यद्यपि थोड़ी

मात्रा में थे परन्तु तो भी अकबर के दरबार मे उनका कुछ प्रभाव था। वे उस समय तक व्यापार नही करते थे वरन् कृषि तथा बढ़ईगीरी का कार्य करते थे। ये लोग गुजरात के नवसारी तथा अन्य जिलो मे बसे हुए थे। यूरोपियनो में केवल पुर्तगाली ही अच्छी परिस्थिति मे रह रहे थे। वे हमारे देश के पश्चिमी तट पर गोआ तथा अन्य स्थानो के शासक थे। गगा तथा सिन्धु के मुहानों पर भी उनके व्यापारिक केन्द्र थे।

नगर

अकबर के समय की आर्थिक संस्थाओ तथा उस समय की मनुष्यो की दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास काफी सामग्री है। सर्वप्रथम तो हम आईने अकबरी से ही जान सकते है। फिर भी यदि कोई कमी रह जाती है तो अन्य फारसी के ग्रन्थ तथा तत्कालीन यूरोपीय यात्रियो के विवरणो—जिनमे देश की आर्थिक दशा का वर्णन है—से वह कमी भी पूरी हो जाती है। उस समय साम्राज्य में बड़े-बड़े तथा समृद्धिशाली नगर बहुत-से थे, जिनमें दिल्ली, आगरा फतेहपुरसीकरी, अजमेर, लाहौर, मुल्तान, उज्जैन, बुरहानपुर, अहमदाबाद, बनारस, इलाहाबाद, पटना, राजमहल, बर्दवान, हुगली, ढाका तथा चटगाँव बहुत प्रसिद्ध थे। यूरोप के निवासी हमारे देश के नगरों की समृद्धि को देखकर बहुत ही अचम्भित होते थे। १५८५ ई० में फिच ने लिखा है कि "आगरा तथा फतेहपुर बहुत ही बड़े शहर हैं। दोनो ही लन्दन की अपेक्षाकृत अधिक घने तथा विशाल नगर हैं। आगरा से फतेहपुर २२ मील है। रास्ते भर में खाने-पीने इत्यादि वस्तुओं की दुकानें हैं। वहाँ ऐसा प्रतीत होता है मानो मनुष्य शहर में ही है। मार्ग में मनुष्यों का झुण्ड का झुण्ड होता था जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई व्यक्ति बाजार में हो।" मौनसरेट के कथनानुसार लाहौर संसार के सबसे विशाल नगरों में से एक था और उसकी समानता का यूरोप अथवा एशिया में दूसरा नगर था ही नहीं। दिल्ली लाहौर से भी बड़ा नगर था। जौनपुर और इलाहाबाद समृद्धिशाली नगर थे तथा बनारस संसार का सबसे अधिक प्राचीन और घनी आबादी वाले धन-सम्पन्न नगरों में से एक था। खानदेश में बुरहानपुर बहुत बड़ा और धनाढ्य नगर था। अबुल फजल ने अहमदाबाद के बारे में लिखा है कि "वह बहुत ही सुन्दर तथा धनाढ्य नगर था, जो अपनी जलवायु के कारण संसार में प्रसिद्ध है तथा जहाँ पर संसार की अच्छी से अच्छी चीजें उपलब्ध हैं।" बिहार प्रान्त में पटना सबसे बड़ा नगर था। बंगाल में राजमहल, बर्दवान, हुगली, ढाका तथा चटगाँव सबसे अधिक प्रसिद्ध नगर थे। तत्कालीन विदेशी यात्रियों की प्रशंसा द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि अकबर के समय में नगरों की जनसख्या पूर्ण रूप से उचित अवस्था में थी।

यातायात

प्रसिद्ध नगर कच्ची सड़कों द्वारा एक-दूसरे से मिले हुए थे। ये सड़कें बरसात के समय को छोड़कर हर समय अच्छी अवस्था में रहती थीं। सड़कों के दोनों किनारों पर वृक्षों की कतारें थीं और उन पर बड़ी-बड़ी दीवारों वाली सरायें बनी थीं, जिससे व्यापारियों तथा यात्रियों को सुविधा मिल सके। हमारी बहुत-सी नदियाँ जिनमें पूरे

साल नावें चल सकती थीं, माल तथा सवारियों के यातायात के काम मे लायी जाती थी। कुछ नदियो पर विशेष स्थानो पर पुल बने हुए थे। मुनीमखाँ ने अकबर के शासनकाल के प्रारम्भिक दिनो मे जौनपुर मे गोमती का पुल बनवाया था। इस तरह सन्देश अथवा पत्रव्यवहार के साधनो की कमी न थी और सडकों एवं नदियो से पूरे साल तक यातायात का काम लिया जाता था। जैसा कि शेरशाह के समय मे सरकारी डाक हरकारो द्वारा ले जायी जाती थी, ये हरकारे प्रत्येक सराय पर नियत थे। समाचार एक दिन मे ७० मील से ८० मील तक भेजे जा सकते थे।

कृषि तथा अन्य पदार्थों की उत्पत्ति

अधिकाश मनुष्यो का जीवन निर्वाह खेती द्वारा ही होता था। अधिकतर खेती करने के वही ढग थे जो आजकल है। साधारण फसलो के अतिरिक्त गेहूँ, जौ, चना, मटर तथा तिलहन, गन्ना, नील, पोस्त देश के सभी भागो में पैदा होता था। उस समय भी प्राय: आजकल की भाँति ही पृथक-पृथक स्थानों मे पृथक-पृथक फसलें होती थी। ईख की खेती वर्तमान उत्तर प्रदेश के बहुत-से भागो, बिहार तथा बगाल में की जाती थी। नील की फसल उत्तर भारत के बहुत-से स्थानों तथा विशेष कर मध्य भारत मे पैदा की जाती थी। कपास भी बहुत-से स्थानो पर पैदा होती था। खेती की वस्तुएँ तथा औजार आजकल की ही भाँति थे। अकबर के समय मे सिचाई का कृत्रिम प्रबन्ध नहीं हो सका था किन्तु तो भी देश मे पर्याप्त उपज होती थी तथा अनाज कम उत्पन्न होने के समय भी बाहर से नही मँगाया जाता था। कृषि के अतिरिक्त अन्य उपजों मे मछलियाँ, खनिज पदार्थ, धातुएँ, नमक, अफीम तथा सुरा आदि रसायन पदार्थ विशेष थे। मछलियाँ बहुत पकड़ी जाती थी; वे सस्ती भी बहुत थी। लोहा देश के बहुत-से भागो मे निकाला जाता था, उसका प्रयोग हथियार, औजार तथा शस्त्र आदि बनाने मे होता था। ताँबे की खानें राजस्थान तथा मध्य भारत मे थीं, जिनसे अकबर के समय मे अधिक मात्रा मे धातु निकाली जाती थी। नमक साँभर झील तथा पंजाब की पहाड़ियों से आता था और बहुत से स्थानों पर समुद्र के पानी द्वारा भी तैयार किया जाता था। अफीम मालवा तथा बिहार मे बहुत पैदा होती थी। अकबर के निषेध करने पर भी ताड़ी तथा महुआ से शराब बनायी जाती थी। शोरा भी अधिक मात्रा में बनाया जाता था क्योंकि बारूद के काम के लिए उसकी बहुत आवश्यकता पड़ती थी।

उद्यम तथा कला-कौशल

सबसे बड़ा उद्यम कपास पैदा करना तथा इससे कपड़ा तैयार करना था। कपास का धन्धा प्रत्येक गाँव में प्रचलित था। गाँवों में बहुत-से कातने वाले तथा जुलाहे होते थे। रुई के काम के मुख्य केन्द्र जौनपुर, बनारस, पटना, बुरहानपुर, लखनऊ, खैराबाद, अकबरपुर तथा उत्तर प्रदेश, गुजरात, बंगाल तथा उड़ीसा में अनेक स्थानों पर थे। वास्तव में सारे देश में यह कार्य होता था और उड़ीसा से बंगाल तक का भू-भाग ऐसा प्रतीत होता था मानो सारे का सारा इलाका कपड़ा बुनने का कारखाना हो। विशेषकर ढाका उत्तम प्रकार के सूती कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था। वहाँ पर

अनेक प्रकार की तंजेब अथवा मलमल तैयार की जाती थी। हमारे भारतीय कपास से सुन्दर से सुन्दर कपड़ा बुनना जानते थे। इसके अतिरिक्त रँगने वाले कारखानों की भी कपास के कारखानो के साथ उन्नति हुई। देश मे सुन्दर एवं पक्की रँगाइयो को देखकर एडवर्ड टैरी अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसका कहना है कि कपडों पर अनेक प्रकार के फूल और आकृतियाँ अपनी वास्तविक आकृति में तथा उत्तम रगो मे छपे होते थे तथा धुलने पर उनका रंग फीका नही पडता था। रेशम बुनने का उद्यम भी उन्नतावस्था में था। अकबर की सहायता से इस उद्यम को और भी अधिक प्रेरणा मिली। आगरा, फतेहपुरसीकरी तथा लाहौर रेशम बुनने के मुख्य स्थान थे तथा गुजरात एवं बगाल के बहुत-से नगरो मे विभिन्न प्रकार के रेशमी कपडे बनाये जाते थे। दूसरा मुख्य उद्यम शाल-दुशाले तथा दरियाँ बुनने का था। इस उद्यम का मुख्य केन्द्र काश्मीर था यद्यपि लाहौर, आगरा तथा अन्य नगरो में भी इनकी बुनाई होती थी। कुछ स्थानों पर ऊनी कपडा बुनने का काम भी किया जाता था। ऐसे स्थानो पर कम्बल तथा दूसरी ऊनी वस्तुएँ तैयार की जाती थीं, किन्तु रेशम तथा सूत की तरह यह उद्यम उन्नति पर नहीं था और न अधिक प्रचलित ही था। बुनने वाले कारखानों में बहुत-से व्यक्तियों को पर्याप्त उद्यम प्राप्त था। दूसरे प्रकार के वे लोग थे जो खेती पर निर्भर थे। इसके अतिरिक्त उस समय बहुत-से छोटे-छोटे उद्यम भी थे; जैसे लकड़ी के कारखाने, पिटारियों, सन्दूक, स्टूल, और आलमारियों के कारखाने, चमड़े का सामान, बरतन, कागज तथा ईंट बनाने के व्यवसाय आदि। टैरी का कहना है कि उसने "बहुत-से अनोखे बक्स, ट्रंक, कलमदान तथा बड़े-बड़े सुन्दर चित्रों से परिपूर्ण कालीनो को बाजारों में देखा था।" कला से चित्रित तथा आभूषित डैस्कों और कलमदान आदि पर हाथी दाँत का कार्य भी होता था। हथियारों, तलवारों, तीर, धनुष, भाला, बर्छी, बन्दूक बनाये जाने का कार्य उन्नतशील था। उसी प्रकार शोरे से बन्दूक की बारूद बनाने का भी कार्य होता था। इन उद्यमों में अधिकतर धनवान व्यक्ति ही अपना रुपया लगाते थे। वे ही अपनी बनायी हुई बन्दूकों को विदेशों मे भेजने का प्रबन्ध करते थे। राज्य ने निःसन्देह अनेक प्रकार के सामानों को अधिक से अधिक संख्या में तैयार करने के लिए अनेक कारखानों को भरसक प्रोत्साहन दिया तथा राज्य के भी बहुत-से कारखाने थे जिनमें सैकड़ों मनुष्य काम करते थे।

वैदेशिक व्यापार

अकबर के समय में हमारे देश का व्यापार एशिया और यूरोप के बहुत-से देशों के साथ अत्यन्त उन्नत तथा गतिशील रूप से चलता था। अकबर विदेशों से समुद्र द्वारा व्यापार करने मे विशेष रुचि रखता था। आर्थिक दशा को ठीक करने में वह हमेशा प्रयत्नशील रहता था। बाहर भेजे जाने वाले पदार्थ विशेषत: सूती माल, भिन्न-भिन्न प्रकार के सूती कपड़े, गोल मिर्च, नील, अफीम, अनेक प्रकार के इत्र तथा औषधियाँ इत्यादि थे। सोने-चाँदी की ईंटें, घोड़े, धातु, रेशम, हाथी-दाँत की वस्तुएँ, मूँगे, तृण-मणि, हीरे-जवाहरात, रेशमी कपड़ा, मखमल, जड़ाऊ कपड़ा, मोटे कपड़े,

सुगन्धित पदार्थ, इत्र आदि विशेष रूप से बाहर से मँगाये जाते थे । चीन से चीनी मिट्टी के बर्तन, अफ्रीका से गुलाम, यूरोप से शराब मँगायी जाती थी । चीनी मिट्टी के बर्तन अकबर तथा उसके दरबारियो को बहुत प्रिय थे । अत: उनकी माँग बहुत रहती थी । शीशे के बर्तन भी बाहर से मँगाये जाते थे, ये सम्भवत. वेनिस से आते थे । निर्यात मे सूती कपड़े सबसे मुख्य थे । हमारा देश अपने यहाँ के मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त अफ्रीका, अरब, मिस्र, ब्रह्मा, मलक्का तथा एशिया के अन्य देशों को भी कई प्रकार का कपड़ा भेजता था । हमारे सूती कपड़े की माँग इटली, फ्रांस, इंगलैण्ड तथा जर्मनी आदि यूरोप के देशों में भी थी । समुद्र द्वारा विदेशी व्यापार करने के मुख्य-मुख्य बन्दरगाह गुजरात में कैम्बे, सूरत, भड़ौच; सिन्ध मे लाहौरी बन्दरगाह, बेसीन, चोल, रत्नागिरि जिले मे दाबुल (वर्तमान भाबुल); मलाबार में गोआ तथा भटकल, कालीकट तथा कोचीन और पूरबी किनारे पर नेगापट्टम, मछलीपट्टम तथा कुछ अन्य बन्दरगाह, बगाल में सतकाम, श्रीपुर, चटगाँव तथा सुनारगाँव प्रसिद्ध थे । इन सामुद्रिक मार्गों के अतिरिक्त व्यापार के लिए दो स्थल मार्ग भी थे। वे लाहौर से काबुल तथा और भी आगे, मुल्तान से कन्धार तथा कुछ और आगे भी जाते थे । किन्तु समुद्री मार्ग इनकी अपेक्षा अधिक सुरक्षित तथा लाभप्रद थे । बहुधा स्थलमार्गों की अपेक्षा वे अधिक काम में लाये जाते थे । राज्य के द्वारा आयात एवं निर्यात माल पर साधारण कर वसूल किया जाता था । सूरत के बन्दरगाह पर आयात तथा निर्यात पदार्थों पर सरकार साढे तीन प्रतिशत कर लेती थी तथा सोना-चाँदी पर दो प्रतिशत कर लिया जाता था, किन्तु सरकार का यह दृढ़ नियम था कि मूल्यवान धातु बाहर न भेजनी चाहिए । किसी भी व्यापारी को सोना या चाँदी को निर्यात करने की आज्ञा न थी । इसके विरुद्ध चाँदी-सोना तथा अन्य मूल्यवान धातुएँ हर वर्ष बाहर से मँगायी जाती थी । व्यापार का स्तर हमारे लिये बहुत अधिक अनुकूल था ।

वस्तुओं के भाव

नित्य काम मे आने वाली वस्तुएँ जैसे अनाज, शाक, फल, दूध, घी, मक्खन, तेल, मछली, भेड़ का माँस तथा कपड़े और दूसरे प्रकार की सामग्रियाँ बहुत सस्ती थीं । टैरी ने कहा है कि समस्त राज्य में खाद्य-पदार्थ बहुत सख्या मे थे, किसी भी प्रकार की कमी नहीं थी, प्रत्येक मनुष्य बिना किसी कमी के जीवन व्यतीत करता था। गेहूँ का सामान्य भाव एक रुपये में बारह मन था, जौ आठ मन के थे, सबसे अच्छा चावल दस मन का था, मूँग अठारह मन की, उरद सोलह मन की तथा नमक सोलह मन का बेचा था । एक भेड़ एक रुपया आठ आना तथा इससे भी कम में खरीदी जाती थी । भेड़ का माँस एक रुपये में सत्रह सेर, दूध एक रुपये में ४४ सेर बेचा जाता था । मजदूरों का दैनिक वेतन भी कम था, एक अनुभवहीन मजदूर को एक दिन में दो दाम अर्थात १ रु० का १/२० भाग दिया जाता था । एक बढ़ई को सात दाम अर्थात १ रु० का ७/४० भाग तथा अनुभवी मजदूर को एक में दिन सात दाम दिये जाते थे । हर जगह पर सस्ता होने और कम मूल्य होने का प्रभाव यह पड़ा कि

साधारण आदमी भी अपने जीविकोपार्जन के साधन सरलता से प्राप्त कर सकता था। इतिहासकार स्मिथ की सम्मति यह है कि सम्भवतः इस समय के मजदूर की अपेक्षाकृत अकबर तथा जहाँगीर के समय में मजदूर के पास खाने को अधिक सामान होता था। साथ ही मोरलैण्ड का कहना है कि प्रायः कहा जाता है कि उस समय के मनुष्यों का आर्थिक स्तर आजकल के मनुष्यो के ही समान था। सत्य यह जान पड़ता है कि यद्यपि अकबर के समय मे साधारण मनुष्य की आय अधिक नही थी फिर भी वह भूखो नहीं मरता था और अनाज तथा जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओ की कमी का अनुभव नहीं करता था, क्योंकि ये वस्तुएँ बहुत सस्ती थी। उस समय के साधारण मनुष्यो की आवश्यकताएँ आजकल के लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक कम थीं।

आर्थिक व्यवस्था

अकबर के राज्यकाल तथा समस्त मुगलकाल की आर्थिक व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उस समस्त काम तक पैदा करने वालों और उपभोक्ताओं के बीच में एक बड़ी खाई थी। उत्पादकों में खेती करने वाले, व्यवसायी तथा व्यापारी थे और उपभोक्ता दीवानी और फौजी पदो के सरदार तथा कर्मचारी, व्यावसायिक धार्मिक जातियाँ, नौकर, गुलाम और भिखारी, अधिक संख्या में नियुक्त किये हुए पदाधिकारी तथा घरेलू नौकर थे। राज्य तथा घर के कार्य इनसे कम अफसरों तथा नौकरों के द्वारा भी किये जा सकते थे, किन्तु धनी व्यक्ति दासों तथा अनुचरों की भीड़ से घिरे रहना अपनी शान समझते थे। इसी प्रकार धार्मिक मँगते भी बहुत से थे जो कि कोई भी लाभदायक कार्य नहीं करते थे। इस प्रकार राज्य की आय का विशेषांश अधिक लोगों के नौकर रखने पर ही व्यय हो जाता था। यह सारा व्यय उन इने-गिने उत्पादकों के ऊपर था, जिनको पहले बताया जा चुका है। सरदारों तथा नौकरों को बड़े-बड़े उपहार दिये जाते थे। वे सरदार और पदाधिकारी दोनों ही अपनी-अपनी शान दिखाने के लिए वेतन का बहुत बड़ा अंश व्यय कर डालते थे। वे स्वादिष्ट भोजन, बहुमूल्य वस्त्रों, जवाहरातों, हाथियों तथा घोड़ों के बड़े प्रेमी थे। वे अपने पुत्र तथा पुत्रियों के विवाहों, इमारतों, मस्जिद तथा मकबरों और विदेशों के सुन्दर पदार्थों के खरीदने में असंख्य धन व्यय करते थे। इस प्रकार अपव्ययता उनको ऋणी बना देती थी और अन्त में वे कृषि से धन उत्पन्न करने को विवश हो जाते थे। मध्यवर्ग के व्यक्ति, व्यावसायिक व्यक्ति तथा साधारण राजकर्मचारियों की आर्थिक दशा ठीक थी। उच्च श्रेणी के व्यापारियों की आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी। परन्तु जो व्यक्ति राजदरबार के या सरदारों अथवा अफसरों के पद प्राप्त करने का सौभाग्य रखते थे, उनकी आर्थिक दशा और भी ठीक थी। निपुण कारीगरों के पास अच्छा जीवन व्यतीत करने को प्रचुर धन था। परन्तु अनुभवहीन मजदूरों, चपरासियों तथा छोटे-छोटे दुकानदारों की दशा खराब थी। मजदूरों तथा चपरासियों को कम वेतन मिलता था तथा उनके प्रति दुर्व्यवहार भी होता था। इस तरह नीची श्रेणी के व्यक्ति गरीब थे तथा उनको थोड़ा-सा भी आराम नहीं मिलता था। वह आज की तरह कच्चे मकानों में बहुत

ही थोड़े धन से अपना पेट भर गुजर करते थे और उनके पास बहुत कम सामान होता था।

अकाल

जिस देश मे फसले वर्षा पर निर्भर होती हैं, वहाँ पर ठीक समय पर वर्षा न होने से अकाल पड जाता है। उत्तर-पश्चिमी भारत १५५५-५६ ई० अर्थात अकबर के शासन के प्रथम वर्ष मे अकाल से पीडित हुआ। इसके साथ ही साथ महामारी का प्रकोप हुआ, जिससे बहुत-से व्यक्ति मारे गये। १५७३ तथा १५७४ ई० के मध्य मे गुजरात में छह माह तक अकाल पड़ा। यहाँ के बहुत-से निवासी भागकर भारतवर्ष के अन्य प्रान्तो में बस गये। १५९५-९६ ई० के मध्य काश्मीर तथा पंजाब मे वर्षा की कमी के कारण अकाल पड़ा। वहाँ पर बहुत-से व्यक्ति भूखो मर गये। बगाल में अकाल १५७५ ई० में पडा। साधारण तौर से दुर्भिक्षो के साथ-ही-साथ महामारी का जो प्रकोप होता था जिससे बहुत-से व्यक्ति अपनी जान से हाथ धो बैठते थे।

अबुल फजल द्वारा ज्ञात होता है कि अकबर अकाल मे पीडित व्यक्तियो की आपत्तियो को दूर करने का प्रबन्ध करता था। यह हमको पूर्णतया ज्ञात है कि उसने १५९५ ई० मे शेख फरीद को मुक्ति-कार्य का प्रबन्ध करने के लिए विशेष तौर से नियुक्त किया था। अकबर की सरकार द्वारा अकाल-पीड़ितों हेतु किये गये सहायता कार्यों के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास अधिक साधन नही हैं।

खेल

अकबर को मृगया-प्रेम अपने पूर्वजों से प्राप्त था। यह उसका प्रतिदिन का मनोविनोद था। उसके सरदारो तथा दरबारियों ने भी उसका अनुकरण किया। बाज का निशाना मारना उसका द्वितीय मनोविनोद था। सोलहवी शताब्दी के मध्य चौगान उच्च श्रेणी के व्यक्तियो को बहुत प्रिय था। समय-समय पर राज्य जानवरों की लड़ाई का प्रबन्ध करता था। हाथियो, चीतों तथा जंगली सुअरो की लड़ाई देखने के लिए बहुत लोग एकत्र होते थे। कुश्ती लड़ना, कबूतरो का उड़ाना तथा मुक्केबाजी तो बहुत ही प्रचलित थे। अबुल फजल द्वारा ज्ञात होता है कि अकबर के समय मे दो बराबर के जोड़ वाले पहलवान उसके सामने प्रतिदिन कुश्ती लड़ा करते थे। कुश्ती समाप्त हो जाने के बाद वह उनको इनाम देता था। अकबर एक उस्ताद से कबूतर उड़ाना सीखा करता था तथा उसे इस क्रीड़ा में वृद्धावस्था तक रुचि रही। कबूतर उड़ाना समस्त मुगलकाल में प्रचलित रहा तथा कुछ मुख्य शहरों जैसे लखनऊ तथा आगरा में अब भी प्रचलित है। पतंग उड़ाना इतना ही लोकप्रिय था जितना कि आजकल।

अकबर के समय मे घर के भीतर खेले जाने वाले खेल उच्च श्रेणी के पुरुषो को बहुत प्रिय थे। अकबर को स्वयं शतरंज खेलने का बहुत शौक था। शतरज सम्भवतः हमको अपने पूर्वजों से ही प्राप्त हुई थी तथा बाद मे अरब, फारस तथा चीन मे फैल गयी। यह खेल कट्टर मुसलमानों द्वारा भी धार्मिक दृष्टि से दोष-रहित समझा जाता था इसलिए यह प्रत्येक धनी हिन्दू तथा मुसलमानों के घरों में प्रचलित था। दूसरा खेल

जो शतरंज के समान सर्वप्रिय था वह था चौपड़। तीसरा प्रसिद्ध खेल पासा था तथा चौथा पच्चीसी, जो कौड़ियों से खेले जाते थे। चौपड़, पासा तथा पच्चीसी एक कपड़े पर खेले जाते थे। कपड़े पर ऐसी लकीरें बनी होती थी जो एक-दूसरे को इस प्रकार काटती थी कि उस पर चार वर्ग बन जाते थे और प्रत्येक बड़े वर्ग में २४ छोटे-छोटे वर्गों पर रंगीन कपड़ों के टुकड़े सिले होते थे। अकबर विशेष रूप से चन्दन-मन्दल तथा पच्चीसी का शौकीन था। इन खेलों की आकृतियाँ आगरा के किले में अब भी विद्यमान हैं। उस समय ताश खेलना भी प्रचलित था।

मेले तथा त्यौहार

मध्य भारत के व्यक्ति उत्सवों, मेलों तथा त्यौहारों से बहुत आनन्द प्राप्त करते तथा उनमें रुचि रखते थे। अकबर का दरबार राष्ट्रीय त्यौहारों का केन्द्र था। रक्षा-बन्धन, दशहरा, दिवाली तथा बसन्त आदि हिन्दू त्यौहारों को सभी दरबारियों ने स्वीकार कर लिया था तथा ये बड़े धूमधाम से मनाये जाते थे। फारस का त्यौहार नौरोज भी अकबर की अध्यक्षता में दरबारियों द्वारा एक सप्ताह तथा और अधिक हर साल मनाया जाता था। सूर्य तथा चन्द्रमा सम्बन्धी गणनाओं के अनुसार सम्राट तथा राजकुमारों के जन्म-दिवस और सम्राट के राज्याभिषेक की वर्षगाँठ भी त्यौहारों के समान धूमधाम से मनायी जाती थी। हिन्दू अपने तीर्थस्थानों की यात्रा करने के बहुत शौकीन थे। ये तीर्थस्थान देश के प्रत्येक भाग में पाये जाते थे। धार्मिक स्थान जहाँ पर समय-समय पर मेले लगते तथा बहुत-से व्यक्ति इकट्ठे होते थे, मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, गया, उज्जैन, पुरी, कांजीवरम तथा रामेश्वर थे। अकबर ने हिन्दू तीर्थयात्रियों से धार्मिक-कर १५६३ ई० में हटा दिया, इससे उनको धार्मिक यात्रा के लिए सुविधा मिली। मुसलमान अजमेर तथा मक्का की धार्मिक यात्राएँ किया करते थे। राज्य ने उनको हर प्रकार की सुविधा प्रदान कर रखी थी। भारतवर्ष के बहुत-से जहाज यात्रियों को लालसागर ले जाने के लिए पश्चिमी तट पर उपस्थित रहते थे। अकबर ने १५७५ ई० में सर्वसाधारण को आज्ञा दी कि जो व्यक्ति मक्का की यात्रा करना चाहे उसे मार्गव्यय राजकोष से मिलेगा। बहुत बड़ी संख्या में मुसलमानों ने इस आज्ञा से लाभ उठाया। अकबर ने पुर्तगालियों से, जिनका कि समुद्र पर अधिकार था मित्रता बनाये रखी। कभी-कभी ये लोग जहाजों के आज्ञापत्रों को प्रदान करने के लिए रुपया लेने के अतिरिक्त धार्मिक यात्रियों से बलपूर्वक बहुत बड़ी रिश्वत लेते थे।

मनोविनोद के अन्य साधन कठपुतली, जादूगरों के खेल, बन्दरों के नाच, नटों का तमाशा, भाँड़ों की भड़ई तथा रामलीला थे। शादियों तथा अन्य संस्कारों के समय भी बड़ी चहल-पहल रहती थी और ये मनोरंजन के अच्छे साधन थे। देश में नाच और गाना तो सभी स्थानों पर होता रहता था।

मध्यकाल में मद्यपान एक सामान्य दोष था जिससे समाज का उच्च-वर्ग ग्रस्त था। अकबर भी अपने पूर्वजों के समान मद्यपान करता था। परन्तु वह बहुत ही अल्प मात्रा में इसका सेवन करता था। वह ताड़ी तथा स्वदेशी मद्य का सेवन करता था,

यूरोपीय सुरा का नही । उसके सभी पुत्र शराबी थे । उनमे से दो अधिक मद्यपान के कारण संसार छोड़कर चल बसे तथा तीसरा जहाँगीर अपने शरीर की सुगठता के कारण जीवित रहा । कुरान के अनुसार मद्यपान निषिद्ध होने पर भी मुसलमान दरबारी मद्यपान में धुत्त रहते थे । राजपूत भी शराब तथा अफीम के व्यसनी थे । इनके अतिरिक्त अन्य जातियों वाले राज्य-पदाधिकारी भी मद्यपान करते थे । परन्तु सर्वसाधारण इस दोष से दूर थे । परम्परा तथा धर्म द्वारा निषिद्ध होने के कारण जनता मद्यपान नही करती थी और सदाचारी जीवन व्यतीत करती थी ।

फारसी साहित्य

मध्यकाल के इतिहास में अकबर का शासनकाल कला-कौशल तथा विद्या की उन्नति का युग था । उसकी उदार तथा हितात्मक-नीति एव विद्या को उसका आश्रय देने के साथ अन्तरराष्ट्रीय शान्ति, समृद्धि तथा विदेशी आक्रमणो से निश्चितन्ता आदि के कारण एक ऐसी परिस्थिति बन गयी जिसमें साहित्य तथा कला का विकास होना स्वाभाविक था । यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उस समय धुरन्धर विद्वानों द्वारा अनेक साहित्य-ग्रन्थ लिखे गये । फारसी साहित्य को दो भागों मे बाँटा जा सकता है । पहले में मौलिक कृतियाँ तथा दूसरे में अनुवादित कृतियाँ आती है । पहली श्रेणी के साहित्य में पत्रों तथा पद्य का विशेष स्थान है । उन्हें पत्र सम्बन्धो साहित्य में शैली तथा रचना की दृष्टि से आदर्श समझा जाता था । अबुल फजल के पत्रों का संग्रह नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित 'इंशा-ए-अबुल फजल' मे है । उस समय की प्रथा के अनुसार विद्वान ऐसे पत्र लिखकर छोड जाते थे जो आदर्श साहित्य समझा जाता था । धर्मान्ध सम्राट औरंगजेब ने भी, जो कि अबुल फजल को नास्तिक बताता था, अपने पुत्रो से अबुल फजल के पत्रों की शैली की प्रशसा की थी । इसके अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध विद्वानो द्वारा लिखित लेखों का संग्रह भी प्राप्त है । उस समय की सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह बहुत लाभदायक सामग्री है । दूसरा स्थान फारसी पद्य का है । उस समय साहित्यिक विचारधाराएँ पद्य मे लिखकर प्रकट की जाती थीं । भारतीय तथा विदेशी मुसलमान दोनों ही इसको पसन्द करते थे ।

मुगल तथा फारस के निवासी अपनी प्रिय सौन्दर्योपासना को फारसी पद्य में बड़ी सरलता से व्यक्त कर सकते थे । अकबर के समय में अनेक व्यक्ति ऐसी अनुभूति अभिव्यक्त किया करते थे । उस कार्य को प्रोत्साहन और सहायता मिलने से फारसी पद्य-क्षेत्र उन्नतावस्था में था । सहस्रों विदेशी तथा भारतीय कवि अकबर के दरबार में रहते थे । अबुल फजल का कथन है—"उनमे से बहुतों ने 'पूरा दीवान' अथवा मसनवी को लिख डाला था । अकबर द्वारा सहायता-प्राप्त उनसठ कवियो का वर्णन 'आईने अकबरी' द्वारा ज्ञात होता है । इसके अतिरिक्त, पन्द्रह व्यक्ति और भी उन्हीं लोगों से सम्बन्ध रखने वाले रहते थे, किन्तु वे अकबर के निकट कभी नहीं आये । उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों से अपनी रचनाएँ अकबर के पास भेजी थीं । उनसठ कवियों की

रचनाओ में से कुछ का वर्णन अबुल फजल ने उदाहरण के रूप में अपने ग्रन्थों में किया है। उन सब में उनके भाई अबुल फैजी सर्वश्रेष्ठ कवि थे।" अन्य विद्वान आलोचको का कहना है कि फैजी उस समय ही नहीं वरन् अमीर खुसरो के बाद भी फारसी भाषा का भारतवर्ष मे सर्वोत्तम कवि था। अमीर खुसरो तथा अमीर हसन देहलवी की श्रेणी मे उसकी गणना की जाती थी। इस प्रकार फैजी भारतवर्ष के उन तीन कवियों में से एक था, जिनकी रचनाओ को विदेश मे भी सम्मान प्राप्त था और विदेशी उन्हे बड़े चाव से पढते थे। अकबर के दरबार में फैजी तथा अन्य कवियो ने जो रचनाएँ की थी, उनके मूल्याकन मे आलोचकों के भिन्न-भिन्न विचार है। इतिहासकार स्मिथ के अनुसार उन कवियों को कवि कहना उतनी ही भूल है जितनी किसी पत्रिका के आरम्भ तथा अन्त को सुधारने वाले को उसका लेखक मानना क्योंकि उन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति को कठिन शब्दावली बनाने, शब्दों के अनेक पर्याय लिखकर विद्वत्ता दिखाने, साधारण विषयों को बढ़ा-चढ़ाकार लिखने तथा बड़े तुच्छ विषयो पर अपनी लेखनी चलाने में ही प्रयुक्त किया था। अतः उनके द्वारा रचित कविता को 'कविता' नहीं कहा जा सकता।[८] भारतवासियों के तत्कालीन साहित्यिक कार्य को उत्तम साहित्य का रूप दिया जा सकता है। स्मिथ के सारे विचार तो कोई भी स्वीकार नही कर सकता परन्तु यह निर्विवाद है कि "उस समय फारसी कवियों ने कल्पना की अपेक्षा भाषा पर अधिक जोर दिया था।" बहुधा उनका प्रधान विषय 'प्रेम' ही रहा करता था।

अनेक श्रेष्ठ विद्वानो ने कुरान पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखीं जिनमें से कुछ अपना स्वतन्त्र साहित्यिक महत्त्व रखती हैं। इस समय का प्रधान कार्य संस्कृत, अरबी, तुर्की तथा यूनानी भाषा की श्रेष्ठ कृतियों का फारसी में अनुवाद करना था। पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि अकबर ने भारतीय तथा इस्लामी संस्कृति को मिलाकर एक करने का भरसक प्रयत्न किया था। इन दोनों संस्कृतियों के मिश्रित साहित्य के लिए ही उसने अपने यहाँ अनुवाद विभाग की स्थापना की थी, जिसमें संस्कृत, अरबी तथा फारसी के विद्वान कार्य करते थे। स्वयं बादशाह के नियन्त्रण में यह कार्य प्रारम्भ किया गया था। इसमें 'जिचेजदीदे-मिर्जाई' के एक भाग का अनुवाद अमीर फतेउल्ला शिराजी ने फारसी में किया था। 'ताजक' (ज्योतिष की एक प्रसिद्ध कृति) तथा तुजके बाबरी अथवा बाबर के जीवन-चरित्र का भी फारसी में अनुवाद किया गया। तुजके बाबरी का अनुवाद मिर्जा अब्दुर्रहीम खानखाना ने किया था। मुल्ला अहमद कासिम बेग, शेख मुनव्वर तथा कुछ अन्य लोगों ने मिलकर 'मजुमुलवुल्दान' (गाँवों तथा शहरों की अनुपम कृति) का अनुवाद फारसी में किया। स्वयं अबुल फजल ने संस्कृत की श्रेष्ठ कृतियों—जैसे किशन जोशी, गंगाधर, महेश, महानन्द आदि—का फारसी में अनुवाद किया था। नकीबखाँ, अब्दुल कादिर बदायूँनी तथा थानेश्वर के शेख सुल्तान ने महाभारत को फारसी मे लिखा और उसका नाम 'रज्मनामा' (युद्धों की पुस्तक) रखा

८ Akbar, the Great Mogul, p. 416

गया। रामायण का अनुवाद भी इन्हीं विद्वानों ने किया था। हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने अथर्ववेद का अनुवाद फारसी मे किया। संस्कृत मे गणित की पुस्तक 'लीलावती' का अनुवाद फारसी में फैजी ने किया। शाहाबाद के मुल्ला शाह मुहम्मद ने 'राजतरंगिणी' नाम के काश्मीर के प्रसिद्ध सस्कृत इतिहास का फारसी में अनुवाद किया। मौलाना शेरी ने 'हरिवंश-पुराण' का, अबुल फजल ने 'पंचतन्त्र' (अनवारे सहेली) का और फैजी ने 'नल-दमयन्ती' की कथा का अनुवाद फारसी मे किया।

फारसी की सभी प्रारम्भिक कृतियों में ऐतिहासिक साहित्य सर्वोच्च स्थान पाये हुए था। इतिहास के प्रति अकबर के अपार प्रेम तथा इतिहासकारों के सहयोग के परिश्रमस्वरूप केवल अकबरकालीन घटनाएँ ही नही वरन् उससे बहुत पूर्व की घटनाओं को भी खोज-खोजकर लिखा गया था।[६] उस समय की प्रसिद्ध रचनाओं मे अबुल फजल का 'अकबरनामा' तथा 'आईने अकबरी', निजामुद्दीन अहमद की 'तबकाते अकबरी', गुलबदन बेगम का 'हुमायूँनामा' तथा जौहर का 'तजकिरात-उल-वाकयात' आदि विशेष रूप से विख्यात हैं। अब्बास शरवानी ने 'तोहफाई अकबरशाही' अथवा 'तारीखे शेरशाही' लिखी थी। अकबर ने एक सहस्र वर्षीय इस्लाम के इतिहास का संग्रह कराने की आज्ञा दी। नकीबखाँ, थट्टा का मुल्ला मुहम्मद तथा जाफरबेग इस काम को करने के लिए नियत किये गये। यह पुस्तक समय पर तैयार हो गयी और इसका नाम 'तारीख अलफी' रखा गया। अबुल फजल ने इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखा था। अन्य इतिहास भी लिखे गये जिनमें अब्दुल कादिर बदायूँनी का 'मुन्तखब-उत-तवारीख', अहमद यादगार का 'तारीखे सलातनी अफगाना', बयाजीद सुल्तान का 'तारीखे हुमायूँ', नूरल हक का 'जुबदातुल तवारीख,' असदबेग का 'वाकयात' तथा शेख अलहदाद फैजी सरहिन्दी का 'अकबरनामा' आदि प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी पद्य

अकबर का शासनकाल हिन्दी पद्य के लिए स्वर्ण युग कहा जाता है। उसकी राजसत्ता के प्रभाव, हिन्दू विचारधाराओं के उसके ज्ञान, उसकी व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता की नीति तथा प्रत्येक धर्म की अच्छाइयों पर ध्यान देना, आन्तरिक तथा बाह्य शान्ति आदि कारणों से हिन्दू भावनाओं तथा साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ। इसके परिणामस्वरूप हिन्दी के बहुत-से श्रेष्ठ कवियो ने हिन्दी में उच्च साहित्यिक कविताएँ रचीं। हिन्दी के प्रधान कवि तुलसीदास, सूरदास, रहीम खानखाना, रसखान तथा बीरबल थे। ससार के सभी आलोचक विद्वान उस समय के समस्त कवियों में से सर्वश्रेष्ठ तुलसीदास को ही मानते हैं। कदाचित वे अकबर के सम्पर्क में नही आये थे। उन्होने अपने जीवन के सबसे अधिक वर्ष बनारस मे ही व्यतीत किये। यहाँ पर उन्होने २५ उच्च साहित्यिक ग्रन्थ लिखे। उनमे सर्वोत्तम कृति 'रामचरितमानस' है जो रामायण के नाम से सर्वसाधारण में विख्यात है। इसमे सात काण्ड हैं और इसमें

६ आईने अकबरी, भाग १, पृ० १०४-१०६

और दरबारियो तक ही सीमित नहीं थी। वास्तव में यह जनता की प्रवृत्ति थी और देश के अन्दर काफी संख्या मे हिन्दी के विद्वान और कवि थे जिन्हे स्थानीय जमींदारों तथा रईस व्यक्तियो द्वारा आश्रय प्राप्त होता था। यदि कोई व्यक्ति उस समय की, जो कि हिन्दी कविता का स्वर्णयुग माना जाता है, विशेषताओं को जानना चाहता है तो उसे मिश्रबन्धु विनोद तथा रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' पर दृष्टि डालनी होगी।

चित्रकला

कुरान में इसका निषेध होने पर भी अकबर चित्रकारी से प्रेम करता था। वह कहा करता था कि चित्रकारी मनुष्य को अधर्मी बनने के स्थान पर अपने कार्य मे व्यक्तिगत आकर्षण प्रदान करने के लिए उसे ईश्वर की ओर झुकने तथा सहायता लेने के लिए बाध्य करती है। अकबर की तरह सफवी-वंशीय फारस के बादशाह भी कला के उदार संरक्षक थे और उन्होने कुरान के निषेध का कोई ध्यान न रखते हुए चीन अथवा मगोल की चित्रकारी को भारत मे प्रचलित किया तथा श्रेष्ठ चीनी चित्रकारों को अपने देशवासियों को चित्रकारी सिखाने को आमन्त्रित किया। सर्वप्रथम चित्रकार निर्जीव वस्तुओ जैसे पेड़, पहाड, नदी आदि के चित्र बनाया करते थे। फिर उन्होने चिड़ियों तथा जानवरो के चित्र बनाना शुरू किया और तब अन्त मे मनुष्य का चित्र बनाना भी सीख गये। इस कला के मध्य एशिया में सबसे अधिक ज्ञाता हिरात में बिहजाद तथा उसका शिष्य तब्रीज के आगा मीरक थे। बिहजाद पहले सुल्तान हुसैन बेगरा के दरबार मे रहता था, परन्तु बाद मे फारस के शाह इस्माइल के दरबार मे आ गया। उसको चीनी तथा मगोली चित्रकारी को सुधारकर पूर्णरूप से फारसी चित्रकारी में परिवर्तित करने का श्रेय प्राप्त है। यहाँ से यह कला अकबर की आज्ञा द्वारा भारतवर्ष में लायी गयी तथा उसके दरबार में बस गयी। यह उस भारतीय चित्रकला में मिली गयी जो संरक्षण के अभाव और उपेक्षा के बावजूद प्राचीनकाल से ही चली आ रही थी। सोलहवीं शताब्दी में अजन्ता की चित्रकारी के द्वारा उसी शैली का अनुकरण किया गया। अकबर के दरबार के चित्रकारों की प्रवीणता के विषय में अबुल फजल कहता है कि "यह सत्य है कि हिन्दुओं के चित्र हमारी चित्रकारी को मात करते हैं। वास्तव में, सम्पूर्ण संसार में अनेक समान चित्रकार थोड़े-से पाये जाते हैं।" (आईने अकबरी, भाग १, पृ० १०७)

अकबर के दरबार में इन दोनों फारसी और भारतीय शैलियों का एकरूप होना प्रारम्भ हो गया तथा कालान्तर में ये शैलियाँ एक हो भी गयीं। इस कला में जो विदेशी गुण थे वे धीरे-धीरे लुप्त हो गये तथा अन्त में यह पूर्णतया भारतीय बन गयी। इसका क्रमिक विकास 'तारीखे खानदाने तैमूरिया' तथा 'बादशाहनामा', जो कि पटना की खुदाबक्स सार्वजनिक पुस्तकालय में सुरक्षित रखी हुई हैं, द्वारा देखा जा सकता है। अकबर का संरक्षण पाने के लिए बहुत-से उत्तम चित्रकार उसके दरबार

में आये। उनमे से योग्य और संख्या में अधिक हिन्दू चित्रकार ही थे। उनको अकबर की राजधानी फतेहपुरसीकरी की दीवारों पर तथा कागजों पर चित्र बनाने का कार्य सौंपा गया। अकबर के दरबार के सत्रह चित्रकारों में से तेरह हिन्दू थे, जो मनुष्यों का चित्र बनाने में दक्ष थे। उनमे से मुख्य-मुख्य चित्रकार दशवन्त, बसावन, केसू, लाल, मुकन्द, मधु, जगन, महेश, तारा, खेमकरन, सावला, हरिवंश तथा राम थे। दशवन्त कहार का लड़का था तथा पालकी ले जाया करता था। वह दीवार पर चित्र बनाने का बहुत शौकीन था। एक बार अकबर ने इसको चित्र बनाते तथा उसकी चित्रकारी को देख लिया था। अकबर ने इसको तुरन्त ही राजदरबार में चित्रकार नियुक्त कर लिया और उसके कार्यों में सहायता प्रदान की। जब उसका यश पराकाष्ठा पर पहुँचा, वह पागल हो गया और उसने आत्महत्या कर ली। बसावन को कुछ आलोचक दशवन्त से भी बड़ा चित्रकार मानते हैं। उसने चित्र के पीछे के धरातल तथा आकृतियो के चित्र बनाने, रंगों के बँटवारे तथा मानव-चित्र बनाने में ख्याति प्राप्त की। आईने अकबरी में वर्णित बहुत-से हिन्दू चित्रकार कायस्थ, चितेरा, सिलावट तथा खाती जाति के थे। उनमे से कुछ को महाभारत के फारसी अनुवाद 'रज्म-नामा' के चित्र बनाने को नियुक्त किया गया।

अकबर ने चित्रकारी का एक पृथक विभाग स्थापित किया तथा इसका प्रधान अपने दरबार के एक श्रेष्ठ चित्रकार ख्वाजा अब्दुससमद को बनाया। अब्दुससमद फारस का निवासी था जो कि शिराज से आया था। उसको 'शीरीं कलम' अथवा 'मधुर लेखनी' की उपाधि मिली। बादशाह ने स्वयं इस विभाग का निरीक्षण किया तथा इसको हर प्रकार का प्रोत्साहन दिया। दरबार के चित्रकार जितने चित्र बनाते थे उनको प्रत्येक सप्ताह बादशाह के सामने रखा जाता था तथा जिन लोगों के चित्र अत्यधिक सुन्दर होते थे उनको वह इनाम भी देता था। जिन चित्रकारों के चित्र बादशाह पसन्द कर लेता था उनको केवल विशेष इनाम ही नहीं देता था, उनकी वेतन-वृद्धि भी करता था। कलाकारों को शाही कर्मचारी समझा जाता था तथा वे शाही नौकरी मे मनसब का पद भी ग्रहण करते थे। वे अपना वेतन अपने पद के अनुसार प्राप्त करते थे। चित्रकारी विभाग का प्रधान अब्दुससमद ४०० का मनसबदार था। परन्तु उसका दरबार में प्रभाव अन्य बराबर वाले पदाधिकारियों से अधिक था। अकबर का चित्रकारी के प्रति प्रेम तथा उसको हर प्रकार का आश्रय प्रदान करने की उसकी भावनाओं के कारण चित्रकारी स्कूल की स्थापना हुई, जिसको हम राष्ट्रीय भारतीय चित्रकला स्कूल कह सकते हैं। इसमें भारत के प्रत्येक स्थान से तथा विदेशों से विद्यार्थी चित्रकारी पढ़ने आते थे। वे भिन्न-भिन्न जाति तथा धर्मों के होते थे। किन्तु उनके सामने एक ही आदर्श था और वह था उच्च दर्जे का चित्र बनाना, जिसको सम्राट—जो कि कला का महान पारखी था—पसन्द कर सके।

सुन्दर लेखन-कला

चित्रकला के साथ ही साथ सुन्दर लेखन-कला भी थी जिसका भारतवर्ष, फारस

तथा चीन मे बहुत आदर होता था। इसको एक ललित कला माना जाता था। बहुत-से मुगल सम्राट इसमे प्रेम करते तथा इसे प्रोत्साहन देते थे। यद्यपि अकबर पढा-लिखा नही था फिर भी वह इसमें रुचि रखता था, अत: उसने बहुत-से सुलेखको को अपने दरबार मे नियुक्त किया था। इनको बादशाह ने अपने पुस्तकालय के लिए बहुत-सी पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ करने का काम दिया। जिस प्रकार चित्रकारी के एलबम बनते हैं उसी प्रकार अच्छे लेखों के भी एलबम बनाये गये थे। अबुल फजल हमको बताता है कि अकबर के दरबार मे आठ प्रकार की लेखन-कला प्रचलित थी जिनमे से आठवी 'नश्तालीक' अकबर को विशेषतया पसन्द थी। ये पूर्णतया टेढी पक्तियो मे लिखी जाती थी। अकबर के दरबार मे सबसे अच्छा सुलेखक मुहम्मद हुसैन कश्मीरी था। उसको 'जर्रीकलम' की उपाधि प्रदान की गयी थी। इसके अतिरिक्त दरबार मे और भी प्रसिद्ध सुलेखक थे; जैसे मौलाना बाकिर, मशाद के निवासी मुहम्मद अमीन, मीरहुसैन कलंकी तथा अन्य।

इससे ही सम्बन्धित जिल्दसाजी तथा जिल्दो को सुन्दर चित्रो से सुसज्जित करने की कला थी। वे व्यक्ति जो पुस्तकों पर जिल्द बनाने, उनके हाशियो तथा मुख-पृष्ठ पर चित्र बनाने तथा उनमे दिये हुए विवरण अथवा प्रसग को स्पष्ट करने के लिए चित्र बनाने को नियुक्त किये थे, कलाकार कहलाते थे। उनका उतना ही सम्मान होता था जितना कि चित्रकारो का। उस समय लिखी गयी दर्जनों पुस्तकें जिन पर सुन्दर जिल्दसाजी तथा चित्रो से सुसज्जित करने का काम भी किया गया था, हमको प्राप्त है तथा देश के विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। उनके द्वारा अकबर तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय की सुन्दर सुलेखन-कला तथा चित्रकला के उच्च स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है।

संगीत

बाबर की तरह अकबर भी संगीत का भक्त था। अबुल फजल ने लिखा है कि—"बाशाह संगीत की तरफ बहुत ध्यान देता है तथा जो व्यक्ति इस सुन्दर कला को सीखता है अथवा जानता है उन सबको वह सहायता प्रदान करता है।" आईने अकबरी में उसके दरबार के ३६ श्रेष्ठ संगीतज्ञों के नाम दिये हुए हैं। उनको सात भागों में बाँटा गया है। प्रत्येक भाग सप्ताह में नियत किसी विशेष दिन बादशाह को संगीत सुनाता था। सम्राट स्वयं अच्छा गायक था तथा नगाड़ा भी बजाना अच्छा जानता था। उसने हिन्दू-गायक लाल कलावन्त द्वारा सीखा था जिसने हिन्दी भाषा के प्रत्येक ताल तथा स्वर को उसे सिखाया। अकबर ने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में तानसेन को रीवा से बुलवाया तथा उसको अपने दरबार में बहुत ही उच्च स्थान प्रदान किया। तानसेन उस समय का सबसे अच्छा गायक था। अबुल फजल लिखता है कि उसके समान भारतवर्ष में उससे पहले एक हजार वर्ष तक कोई भी अच्छा गायक नहीं हुआ। उसने राजा मानसिंह तोमर (१४८६-१५१८ ई०) द्वारा स्थापित ग्वालियर के स्कूल में शिक्षा प्राप्त की थी। कहा जाता है कि उसने कुछ नये रागों का आविष्कार

भी किया था। उसकी शक्ति के प्रति यह भी विश्वास किया जाता है कि वह अपने संगीत से यमुना नदी का बहना भी बन्द कर देता था। दूसरा प्रसिद्ध संगीतज्ञ बाबा रामदास था। उसका तानसेन के बाद दूसरा स्थान था। वह बैरामखाँ के साथ रहा करता था। बैरामखाँ उससे इतना प्रसन्न था कि एक अवसर पर उसने उसे एक लाख मुद्राएँ इनाम में दी थी। दूसरा एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजू बावरा भी था। कभी-कभी वह ब्रिजू बावरा भी कहा जाता था। यद्यपि उसका वर्णन अबुल फजल द्वारा दिया हुआ नहीं मिलता फिर भी हम उसको बिना किसी आपत्ति के अकबर तथा तानसेन के समय का कह सकते हैं। सीकरी में स्थान दिखाने वाला उसके मकान को शाही भवन के बाहर की तरफ बताता है और जो किंवदन्तियाँ प्रचलित है वे तानसेन के साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता का स्मरण दिलाती हैं। प्रसिद्ध गायक रामदास के पुत्र सूरदास जिनका नाम हिन्दी के उच्च कवि के स्थान पर रहेगा, अकबर के दरबार के एक गायक थे। बादशाह के संगीत-प्रेम तथा उसके द्वारा संगीत को संरक्षण प्रदान करने के कारण वाद्य एवं संगीत-कला में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। उसके समय में हिन्दुओं तथा मुसलमानों का संगीत मिलकर एक बन गया। संगीत की दो विभिन्न प्रणालियों को मिलाकर एक करने तथा राष्ट्रीय भारतीय संगीत को जन्म देने का श्रेय अकबर को मिला।

भवन-निर्माण-कला

तुर्क-अफगान आक्रमणकारी मैसोपोटामिया की प्राचीन मेहराबदार भवन-निर्माण-कला को हमारे देश में अपने साथ लाये। हमारे देश में आने से पूर्व ही ससानिदों तथा अब्बासिद खलीफाओं [illegible] कुछ सुधार करके उस कला का रूप बदल दिया गया था और उसका बनावट। [illegible] मुसलमानी भवन-निर्माण-कला पड़ गया था। जिस समय यह स्थापत्य-कला भारत में आयी उस समय भारतीय स्थापत्य-कला अपनी चरमसीमा तक पहुँच चुकी थी। इस कला पर भारतीय स्थापत्य-कला का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इसके दो कारण थे—(१) मुसलमानों ने हिन्दू राजों, पच्चीकारों तथा शिल्पकारों को नियत किया तथा इन लोगों ने मुसलमानी इमारतों में अपने देश की कला के विचार प्रदर्शित किये। (२) प्रारम्भिक मुसलमानी इमारतें हिन्दू भवनों तथा मन्दिरों के उस सामान से बनायी गयी थीं जिनको मुसलमान विजेताओं ने नष्ट किया था। उपर्युक्त परिस्थितियों को छोड़कर दिल्ली के सुल्तानों तथा उन स्वतन्त्र स्थानीय वंशों न जिन्होंने दिल्ली सल्तनत के बाद स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये, जो इमारतें बनवायीं वह कारीगरी तथा चित्रकारी दोनों में विदेशी थीं। अकबर ने इन दोनों प्रणालियों को इकट्ठा किया तथा दोनों को मिलाकर राष्ट्रीय भारतीय भवन-निर्माण-कला की स्थापना की। उसकी भवन-निर्माण की अपनी अलग ही धारणा थी, उसने बहुत-सी इमारतें बनवाने का विचार किया; जैसे भवन, मस्जिद, मकबरे तथा किले आदि। उसने जिस कार्य-विभाग की स्थापना की, उसकी योजनाएँ योग्य शिल्पकारों तथा इंजीनियरों द्वारा पूर्ण की गयीं। अबुल फजल लिखता है कि "बादशाह शानदार

महलो तथा वस्त्रो के चित्र बनाता है, जो बातें उसके मस्तिष्क के अन्दर होती हैं उनको पत्थर तथा मिट्टी से प्रत्यक्ष रूप दिया जाता है।"[११] अकबर ने आगरा, लाहौर, इलाहाबाद मे तीन विशाल किले बनवाये। आगरे का किला ग्वालियर के किले के सदृश है, जैसा कि पर्सी सकेत करता है कि इस किले का ही नमूना आगरे के किले का नमूना बना होगा। इसकी परिधि लगभग डेढ मील की है तथा इसके दिल्ली दरवाजा एवं अमरसिह दरवाजा दो मुख्य दरवाजे है। अकबर ने किले मे पाँच सौ लाल पत्थर की इमारतें बनवायी। इनमे से बहुतो को शाहजहाँ ने तुडवाकर नष्ट करवा दिया था क्योकि उसकी रुचि अपने बाबा से भिन्न थी, वह लाल पत्थर के स्थान पर सफेद संगमरमर पत्थर अधिक पसन्द करता था। फिर भी अकबर के द्वारा बनवायी हुई बहुत-सी इमारते इस समय विद्यमान है। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण 'अकबरी महल' तथा 'जहाँगीरी महल' हैं। ये दोनो महल एक ही नमूने के बने हुए हैं। जहाँगीरी महल मे पत्थर के सुन्दर नक्काशीदार तोडे हैं जो पत्थर के शहतीरों, चौडे छज्जों तथा समतल छतों को सँभाले हुए हैं। आलोचकों का कहना है कि इसका ढाँचा हिन्दुओं की प्रणाली से मिलता-जुलता है, इसको उदयपुर अथवा चित्तौड के महलो की श्रेणी से अलग नही कहा जा सकता। लाहौर का किला भी तभी बनवाया गया था जबकि आगरे का किला बना था। अन्दर की सभी इमारतें उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की कि आगरे के जहाँगीरी महल में हैं। केवल अन्तर इतना है कि आगरे के किले की अपेक्षा लाहौर के किले की सजावट अधिक आकर्षक है तथा जिसके बनाने मे कलाकार ने अपने भावों को नही दबाया है। तोडों मे हथियारों तथा सिंहों की मूर्तियाँ और खिड़कियो तथा दरवाजों के किनारे पर मोरो की मूर्तियाँ इतनी अधिक मात्रा मे बनी हुई हैं कि अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके बनाने में हिन्दू कारीगरों की सख्या अधिक रही होगी और उसकी देखभाल मे धार्मिक कट्टरता से काम भी नहीं लिया गया होगा। इलाहाबाद के किले का बाद में निर्माण हुआ। इसकी बहुत-सी इमारतें यहाँ तक कि अन्दर की दीवारें तक नष्ट हो गयी हैं। 'जनाना भवन' से जो कि अब तक ठीक दशा में है, विदित होता है कि इस किले की इमारतों की विशेस अवस्थाओं में ऊपरी बनावट के साथ इसके खम्भों को क्रमानुसार व्यवस्था थी। अकबर के समय की भवन-निर्माण-कला का सबसे अच्छा नमूना उसकी नयी राजधानी फतेहपुरसीकरी में था। यहाँ पर अकबर ने एक ढालू पहाड़ी टीले पर जो दो मील लम्बा तथा एक मील चौड़ा था, एक बहुत ही शानदार शहर बसाया। इसके तीनों तरफ दीवारें तथा चौथी तरफ कृत्रिम झील थी। दीवारों में नौ दरवाजे थे। मुख्य दरवाजा आगरा दरवाजा था जिसका रुख शहर की तरफ न था। इसके अन्दर खास-खास इमारतों में सरकारी दफ्तर, दीवाने खास तथा दीवाने आम, टकसाल, पंचमहल, मरियम का महल, तुर्की सुल्ताना का महल, बादशाह का शयनागार तथा पुस्तकालय, जोधाबाई

[११] Ain 85 on Buildings vide *Ain-i-Akbary*, Vol. I, p. 222

का महल तथा बीरबल का महल थे। इसकी सीमा से बाहर जामा मस्जिद है जिसमे एक भव्य द्वार है जो 'बुलन्द दरवाजा' के नाम से प्रख्यात है। मस्जिद के भीतर शेख सलीम चिश्ती की सफेद संगमरमर की कब्र बनी हुई है। इनमें से बहुत-सी इमारते भवन-निर्माण-कला की मिश्रित शैली की द्योतक हैं जिनका कुछ भाग मुसलमानी तथा अधिकांश हिन्दू है। उनमे जो शृंगारिक आकृतियाँ है वे जैन तथा हिन्दू मन्दिरों के अन्दर अंकित कृतियो की नकल है। आलोचक दीवाने खास को उच्च इमारतों मे स्थान देते है। बुलन्द दरवाजा, जो कि संगमरमर तथा लाल पत्थर का बना है, "समस्त भारतवर्ष में पूर्ण भवन-निर्माण-कला का प्रतीक है। फतेहपुरसीकरी को बनवाने मे ग्यारह साल (१५५९-१५७० ई०) लगे। यद्यपि यह वीरान स्थान में स्थित है फिर भी यह अब तक बडी ही अच्छी, आकर्षक तथा दृढ़ स्थिति में स्थिर है।" फरग्यूसन के अनुसार यह उस महान व्यक्ति की परछाईं है जिसने इसको बनवाया था। अकबर ने अन्य बहुत-सी इमारते जैसे अटक का किला, आमेर तथा मेरटा की मस्जिदें और भिन्न स्थानो में कई अन्य इमारतें बनवायीं। उसने सिकन्दरा (आगरा) मे अपने मकबरे का निर्माण किया। उसकी मृत्यु के पश्चात जहाँगीर ने इसमे कई एक परिवर्तन किये और उसको पूरा कराया।

अबुल फजल हमको बताता है कि अकबर ने बहुत-सी सरायों तथा बहुत-से तालाबों और कुओं का प्रजा के हितार्थ निर्माण कराया था। उसने बहुत-सी धार्मिक इमारतें एवं स्कूल भी बनवाये। वह लिखता है कि "सरायें जो कि यात्रियों की सुविधा के लिए बनवायी गयी थीं, प्रत्येक स्थान पर विद्यमान थी। प्रजा-हित तथा कृषि मे वृद्धि करने के लिए बहुत-से तालाब तथा कुएँ भी खोदे जा रहे हैं। स्कूल तथा धार्मिक इमारतों का निर्माण हो रहा है तथा भारतवर्ष का जय-स्तम्भ हर साल बनवाया जाता है।"[12]

अकबर ने स्थापत्य कला की एक नयी शैली को जन्म दिया जो भारतीय तथा विदेशी कलाओं का सुन्दर समन्वय था। इसे मुगल स्थापत्य-कला कहा जाता है। इस शैली का प्रभाव देश की सभी नयी इमारतों पर पड़ा। राजस्थान के राजाओं के भवन भी इससे प्रभावित हुए बिना न रहे। आमेर, बीकानेर, जोधपुर, ओरछा तथा दतिया में अकबर के समय के बने हुए भवन शुद्ध मुगल कला के प्रभाव के द्योतक हैं। पर्सी ब्राउन लिखते हैं कि "उपरोक्त राजपूत भवनों को देखकर कोई भी यह आसानी से कल्पना कर सकता है कि इनमें प्रारम्भिक मुगल कला जैसे कटोरेदार मेहराबें, काँच की पच्चीकारी, रंगीन पलस्तर का काम तथा खोदकर बनाये हुए चित्र जिस प्रकार हिन्दू राजाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपना लिये गये थे।"[13]

रहने-सहने के भवन ही नहीं वरन् हिन्दुओं के मन्दिर भी स्थापत्य-कला की नयी शैली के प्रभाव से न बच सके। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर ने प्राचीन हिन्दू

---

[12] आईने अकबरी, भाग १, पृष्ठ ३२४
[13] Cambridge History of India, Vol. VI, p. 548

मन्दिरों से हिन्दू स्थापत्य-कला की कई एक बातें ग्रहण की और उन्हें आगरे के किले और फतेहपुरसीकरी के महलो में स्थान दिया, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि मथुरा और वृन्दावन के उस समय के बने हुए हिन्दू मन्दिरों मे आगरा और फतेहपुर-सीकरी की मुगल-शैली का थोडी-बहुत मात्रा में प्रयोग अवश्य किया गया है।

मुगल भवन-निर्माण-कला की एक विशेषता चित्ताकर्षक नक्काशी थी। सीकरी के तुर्की सुल्तान के महल तथा सिकन्दरा के अकबर के मकबरे की नक्काशी में पौधों, फूलों, तितलियों, कीडो, मकोड़ों आदि की आकृतियाँ मुख्यत. पायी जाती हैं। छिद्रमय जाली बनाने का काम भी बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। पच्चीकारी तथा आबनूस की लकड़ी द्वारा बनायी हुई वस्तुएँ, जिसमे तत्कालीन दस्तकार बहुत निपुण थे, भी बहुत मिलती है। मुगल कला में रंगीन पालिशदार खपरैल तथा सजावटदार नक्काशी को विशेष स्थान दिया गया था। मुगलकालीन भवन-निर्माण-कला में चमकीली तथा सजी हुई नक्काशी का विशेष स्थान था। फतेहपुरसीकरी में तुर्की सुल्तान का महल इसका आदर्श नमूना है।

बाग

मुगलों के आगमन से पूर्व भी भारतवर्ष मे बाग थे परन्तु इनका निर्माण रेखागणित के अनुसार नहीं किया जाता था और न इनके क्रीड़ास्थल ही थे। बाबर अपने साथ भारतवर्ष में एक नवीन प्रणाली को, जो कि भारत तथा तुर्किस्तान में उन्नति की चरमसीमा पर थी, अपने साथ लाया। उस प्रणाली में मुख्य गुण नहरों, तालाबों तथा जल-प्रपातों का होना है और वे इस ढंग से बने हुए थे कि रास्ते के दोनों तरफ नालियाँ थीं जिनमें पानी ऊपर तक भरा रहता था। उनके द्वारा कृत्रिम सिंचाई होती थी। ढालू स्थानों पर चबूतरों की शृंखलाएँ बनी थीं; विशेषत: यह चबूतरे कुरान के अनुसार स्वर्ग के आठ भागों की तरह संख्या में आठ होते थे तथा कभी-कभी सात नक्षत्रों के आधार पर सात चबूतरे भी बनाये जाते थे। बहुधा मुख्य मण्डप सबसे ऊपर वाले चबूतरे पर बनता था, परन्तु कभी-कभी सबसे नीचे वाले चबूतरे पर भी बनाया जाता था। ऐसा इसलिए किया जाता है कि दर्शकगण फव्वारों तथा जल-प्रपातों का दृश्य यहाँ से निर्विघ्नतापूर्वक देख सकते थे। अकबर ने अपने महलों में कई बाग लगवाये परन्तु उसके नाम से सम्बन्धित सबसे बड़ा बाग उसके मकबरे सिकन्दरा में है। इस बाग के मध्य में उसका सुन्दर मकबरा बना हुआ है। यह बाग चार भागों में विभक्त है। इनके चारों ओर दीवारें हैं तथा प्रत्येक दीवार के मध्य में एक फाटक है। मकबरा के चारों तरफ तालाब हैं जिनमे अधिक सख्या में फव्वारे लगाये गये है जिनके आसपास सुन्दर एवं आकर्षक एकसे जलमार्ग बने हुए हैं। जलमार्गों के किनारे-किनारे पत्थर की पटरियाँ हैं जिनके आसपास सरो, ताड़, मोर-पंखी तथा अन्य प्रकार के मनोरंजक पेड़-पौधे लगे हुए हैं।

अकबर ने फल वाले बाग भी लगवाये, क्योंकि वह बागबानी का भी शौकीन था। अबुल फजल ने लिखा है, "बादशाह फलों को ईश्वर के दिये हुए सबसे बड़े

उपहारों में एक उपहार समझकर उनको देखता था और उन पर अत्यधिक ध्यान देता है। बहुत-से इराक तथा तूरान के बागबान आकर देश मे बस गये हैं तथा वृक्षों का लगाना उन्नतावस्था में है।"[१४]

व्यक्तित्व तथा चरित्र

अकबर प्रभावशाली तथा सुन्दर आकृति का व्यक्ति था। राजत्व उसके अंग-प्रत्यंग में आभासित होता था। तत्कालीन सभी लेखक इस विषय मे एकमत हैं कि अकबर का व्यक्तित्व असाधारण था तथा कोई भी व्यक्ति उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता था। जहाँगीर अपने पिता का निम्नलिखित शब्दों में विवरण देता है—"उसका शरीराकार मध्यम था परन्तु कुछ लम्बा प्रतीत होता था। उसका रंग गेहुँआ था, उसकी आँखे व भौहें काली थीं और उसका रंग-रूप साफ होने की अपेक्षा कुछ साँवला था, उसका शरीर सिंह के समान था, छाती चौड़ी थी, उसके हाथ तथा भुजाएँ लम्बी थी, उसके नाक की बायीं ओर एक बड़ा मसा था, जो देखने में बड़ा अच्छा मालूम पड़ता था तथा इसका आकार आधे मटर के बराबर था। कुछ व्यक्ति जो मुख-लक्षण-निरूपण विद्या के ज्ञाता थे, इस मसे को समृद्धि तथा भाग्यशाली होने का प्रतीक बताते थे। उसकी बोली बहुत तेज तथा गौरवपूर्ण थी। उसके बोलने एवं बात करने तथा विषय की व्यवस्था करने का ढंग बडा प्रभावशाली था। काम करने मे तथा दैनिक चाल-ढाल में अकबर जनसाधारण से भिन्न था और उसमें ईश्वरीय प्रकाश विद्यमान था।"[१५]

फादर मॉनसरेट नामक एक और व्यक्ति जो कि अकबर के निकट रहा था, लिखता है—"उसकी मुखाकृति तथा शरीर की बनावट राजत्व के योग्य थी। हर एक व्यक्ति उसको देखते ही राजा समझ सकता था। उसके कन्धे चौड़े थे, उसकी टाँगें कुछ झुकी हुई थीं, जिससे घोड़े की सवारी में उसे कुछ सुविधा होती थी। उसका रंग साफ परन्तु बहुत हल्का काला था। वह अपना सिर सीधे कन्धे की ओर कुछ झुकाये रखता था। उसकी आँखें समुद्र की तरह (जब इस पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं) चमकती थीं। उसके पलक भारी थे और सरमेटिया के निवासियों, चीनियों, नैफोनिया के निवासियों तथा लगभग समस्त एशिया के निवासियों व अधिकतर उत्तरी भाग के व्यक्तियों के पलकों के समान थे। उसकी भौहें पतली थीं; उसकी नासिका सामान्य आकार वाली आगे की ओर को झुकी हुई पर बीच में उठी हुई थी। उससे नासिका-छिद्र फैले हुए थे, मानो वह क्रोधित हो और वाम भाग पर एक मसा था जो उसके ऊपरी ओंठ से मिल गया था। जिस प्रकार तुर्क लोग युवावस्था से पहले दाढ़ी बनाते थे, मूछें नहीं, उसी प्रकार अकबर भी केवल दाढ़ी बनाता था। अपने पूर्वजों के विपरीत वह अपने सिर के बाल उस्तरे से नहीं बनवाता था। वह

[१४] आइने अकबरी, भाग १, पृ० ६४

[१५] तुजके जहाँगीरी, भाग १, पृ० ३३-३४

टोपी भी नहीं पहनता था, पर भारतीय प्रथा के अनुसार साफा बाँधता था। कुछ लोगों का मत है कि वह साफा भारतीय प्रथा के अनुसार भारतीयों का अनुरंजक बनने के लिए बाँधता था। वह अपने बाएँ पैर को घसीटकर चलता था मानो उसका यह पैर लँगड़ा हो; यद्यपि उसके पैर मे कोई खराबी नहीं थी। उसके शरीर का गठन अच्छा है; उसका शरीर न दुर्बल, न क्षीण, न विशालकाय और न भद्दा है। उसमे पराक्रम और शक्ति है। जब वह हँसता है तब वह वक्ररूप हो जाता है पर जब वह शान्त और निश्चल होता है तब उसमें उत्तम ढंग और उच्च गौरव होता है। क्रोधावस्था में वह प्रतापयुक्त दीखता है।"[१६]

वह इतना शक्तिशाली था कि सिंह की गर्दन को तलवार के एक ही वार से काट देता था। जब कभी वह चाहता था तब मौसम की गरमी-सरदी इत्यादि की तनिक भी परवाह न करके अधिक से अधिक थकावट तथा कठिनाइयो को सहन कर सकता था। उसे कठिन परिश्रम करने की आदत थी और अक्सर मीलो पैदल चला जाता था। बातचीत करते समय उसका अन्तःकरण शुद्ध रहता था और दूसरो की बात ध्यान से सुनता था। साधारण जनता के प्रति इतनी सहानुभूति रखता था कि सब कामों से समय निकालकर उसकी बात सुनता था तथा उसकी प्रार्थना स्वीकार करता था। निर्धन व्यक्तियों के छोटे-छोटे उपहार भी वह प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता था, हाथ से छूता था और कभी-कभी उन्हें छाती से लगा लेता था। किन्तु बड़े-बड़े सामन्तों के उपहारों की ओर देखता भी नहीं था।[१७]

वह एक आज्ञाकारी पुत्र, अनुग्रहशील भाई एवं पिता तथा अनुरागशील पति था। अपने मित्रों के प्रति उसका व्यवहार सदैव श्रद्धालु था तथा उनके कल्याण आदि के लिए वह हर तरह से संलग्न रहता था। अपने अनन्य मित्र अबुल फजल के देहावसान की शोक-बेला में वह फूट-फूटकर रोया और पूरे दो दिन तक उसने अन्न का एक ग्रास तक न छुआ। समकालीन अनेक राजकुमारों की भाँति बहुपत्नीधारी होते हुए भी वह पत्नीपरायण था। मानव-प्रकृति में उसकी अटल श्रद्धा थी और इस कारण निर्धनों तथा असहायों की रक्षा करना वह अपना परम कर्तव्य मानता था।

अकबर घुटनों तक नीचा रेशमी अँगरखा पहनता था जो स्वर्ण-सूत्रों की बुनाई तथा फूल-पत्तियों के आकर्षक कशीदों से सुशोभित रहता था और एक बड़े फीते द्वारा बाँधा जाता था। उसके पगड़ी बाँधने के ढंग में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही प्रणालियों का सम्मिश्रण था। उसकी पगड़ी बहुमूल्य मोतियो तथा अन्य प्रकार के रत्नों से आभूषित थी। उसका पायजामा जो ऐड़ियों तक का होता था, मुक्ता के गुच्छों द्वारा बाँधा जाता था। तत्कालीन प्रथानुसार उसके कमरबन्द में एक कटार सदैव रहती थी।

---

१६ Cambridge History of India, Vol. IV, p. 155 से उद्धृत फादर मौंनसरेट का कथन।

१७ Refer Dr. Jarric, Vol. III, p. 133

थी और अभिव्यक्ति में प्रवाह था। तत्कालीन दर्शन एवं धर्म तथा अन्य गूढ़ विषयों के आचार्यों से विचार-विमर्श करने का उसे व्यसन-सा था। इन विज्ञ समितियों में वह जिस वाक्पटुता का परिचय देता था उसे सुनकर कोई यह अनुमान भी न लगा सकता था कि वह व्यक्ति निरक्षर होगा।

अकबर अन्तःस्थल से धार्मिक था। यदाकदा उसके विचार-मण्डल में शंकाएँ उत्पन्न हो जाती थी जिनका समाधान करने के लिए वह कई रात-दिन गहन अध्ययन-मनन एव विज्ञ-विमर्श मे व्यतीत कर दिया करता था। उसने विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया था जिसके फलस्वरूप ही उसे इस्लाम की अपूर्णताओ का स्पष्ट आभास हो सका था। यद्यपि अपने शैशव और यौवन के 'धर्म' मे उसे कोई विशेष रुचि एव श्रद्धा न रही, तथापि उसकी धार्मिकता मे कोई अन्तर नही आया। प्रतिदिन नियमित रूप से चार बार—प्रात., मध्याह्न; सध्या एव अर्द्ध-रात्रि की बेला में—वह भगवत-भजन करता था और अधिकांश समय प्रार्थनाओ मे व्यतीत करता था। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसका अपना जीवन था, जिसे उसने निरन्तर सत्यान्वेषण का एक साधन बना रखा था। मानव और ब्रह्म के मध्य के आध्यात्मिक तत्त्व सम्बन्धी गवेषणा का विषय उसे बड़ा मोहक लगता था। उसकी अनेक कहावतो में सर्वशक्तिमान परमेश्वर के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा का आभास होता था। वह बहुधा कहा करता था "प्रकृति मे शून्य स्थानो के सम्भावित के विषय में तर्क करना नितान्त आवश्यक है, क्योकि ब्रह्म स्वय सर्वव्यापी है।"

"सृष्टा और चर सृष्टि के मध्य एक व्यापक सम्बन्ध है जो भाषा के माध्यम द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।"

"प्रत्येक मनुष्य अपनी क्षमतानुसार परम पुरुष को किसी न किसी नाम से पुकारता है। परन्तु उस अबोध्य और निर्वेद तत्त्व का नाम देना वास्तव में व्यर्थ है।"

परन्तु अकबर का व्यक्तित्व उतना पूर्ण और मर्यादित भी न था जितना अबुल फजल ने उसे चित्रित किया है। उसका व्यक्तिगत चरित्र भी दोषो से मुक्त न था। यूँ तो प्रति सप्ताह महल में लगाये जाने वाले मीनाबाजार में सुन्दर रमणियो की अकबर द्वारा उत्कंठित खोज की कथाएँ तथा बीकानेर के पृथ्वीराज राठौर की पत्नी से सम्बन्धित किंवदन्तियाँ जिसमें उसने अपने सतीत्व और मान-रक्षा के लिए कटार निकाली थी, भाट और चारणों द्वारा निर्मित निराधार कथाएँ जान पड़ती हैं। सम्राट मनसा अथवा कर्मणा निपट व्यभिचारी, व्यसनी, भोगासक्त भी नहीं कहा जा सकता यद्यपि अपने जीवन के पूर्वार्द्ध मे स्त्रियों के विषय मे उसने अवश्य कुछ स्वतन्त्रता से काम लिया और उसके अन्तःपुर में स्त्रियों की संख्या ५,००० थी। सेविकाओं (नौकरानियों) की संख्या इसमें से घटा देने पर भी उसकी बेगमों की संख्या कुछ कम न रही होगी। इस क्षेत्र में यह स्पष्ट है कि अकबर तत्कालीन स्तर के ऊपर न उठ सका। वह मादक वस्तु का भी प्रयोग करता था तथा छल एवं कपट का भी व्यवहार करता था। कभी-कभी उसे क्रोध भी आ जाता था और क्रोध के दुस्सह

आवेश में आकर वह अनुचित दण्ड दे दिया करता था। परन्तु इस प्रकार की सयम-क्षीणता यदाकदा और क्षणिक ही होती थी। सब मिलाकर निरपेक्ष भाव से देखने पर वह अधिकाशतः सयमी प्रतीत होता है। उसके द्वारा कोई दुर्व्यवहार अपने जीवन के किसी आवेश, उत्तेजना अथवा मानसिक दुर्बलताओ से प्रेरित होकर नहीं हुआ।

अकबर में महान सैनिक और सफल सेनानी के उपयुक्त ही असाधारण साहस, शौर्य और शारीरिक पराक्रम विद्यमान था। अपनी अलौकिक कष्टसहिष्णुता के बल पर ही वह भिन्न जलवायु अथवा भौतिक कठिनाइयो के उन दुस्सह प्रभावों से अछूता बच जाता था जिनसे साधारण व्यक्ति प्रभावित हो जाते है। उसमे एक मौलिक एव अपूर्व सगठन-क्षमता तथा प्रभावशाली जनाकर्षक व्यक्तित्व था जिसके फलस्वरूप वह बड़ी सरलता से अपनी सेना को शासित कर पाता और युद्ध विजय-श्री प्राप्त कर लेता था। यही कारण था कि जीवन भर उसकी विजयपताका कभी नही झुकी। उसका सिद्धान्त था—"शासक को सदा युद्धशील रहना चाहिए, अन्यथा उसके पड़ोसी उसके विरुद्ध विद्रोह करना प्रारम्भ कर देगे। सेना को रणक्षेत्र का अभ्यास बनाये रखना चाहिए, अन्यथा इस प्राकृतिक शिक्षण के अभाव में वे स्वार्थरत और अकर्मण्य हो जाते है।" आक्रमण का सामना करने की अपेक्षा स्वयं पहले आक्रमण करना श्रेष्ठता है, अकबर इसी नीति का अनुगामी था। अकबर की सेना का संगठन निर्दोष था। तत्कालीन परिस्थितियो एव भारतीय पुरुषो की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अध्ययन के ऊपर निर्धारित रण-शैली का ही वह सफल प्रयोग करता था।

जैसा पहले बताया जा चुका है, अकबर ने राजत्व एवं राज्याधिकार के सिद्धान्त में आमूल परिवर्तन किया। मध्यकालीन भारत मे इस्लामी शाहंशाही (एकछत्र) के सकुचित दृष्टिकोण को त्यागने वाला वह पहला व्यक्ति था। उसका अपना सिद्धान्त था कि राजा अपनी प्रजा का, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग अथवा धर्म की क्यों न हो, पिता होता है। इस सिद्धान्त द्वारा उसने प्राचीन हिन्दू आदर्श को पुनरुद्धार किया और शासन एवं प्रजा के बीच पैदा हुए भेदभाव को अधिकाधिक कम करने की भरसक चेष्टा की। सगठित भारत का विचार उसके लिए एक मधुर स्वप्न था जिसे वास्तविकता में परिवर्तित करने के लिए उसने अनवरत एवं अथक प्रयत्न किये। केवल राजनीतिक एकता ही उसका आदर्श न थी वरन् वह सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक एकता के आधार पर उसकी नीव भी दृढ़ करना चाहता था। तत्कालीन संसार का अन्य कोई भी सम्राट तत्सम उत्कृष्ट आदर्शों से प्रभावित न था।

अकबर की शासन-निपुणता और नीतिमत्ता अद्वितीय था। वह नवीन विचारो और सिद्धान्तों का कुशल सृष्टा था। शासन मे मूलभूत मुख्य सिद्धान्तों तथा राजसत्ता की सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्या के विशद ज्ञान का सम्मिलित उपयोग निपुणता से करना उसकी ईश्वरदत्त प्रतिभा का सूचक था और यह संकटकाल में उपयोगी भी हुआ। ऐसी शासन-प्रणाली बनाना जो प्रजा के स्वभावानुकूल हो, उसकी अद्भुत मेधा की परिचायक है। तत्कालीन परिस्थितियों के प्रतिकूल तथा समाज के लिए घातक आचार-विचारों

को चाहे वे परम्परागत अथवा धर्मानुमोदित ही क्यों न हो, त्याग देने का साहस भी उसमें था। इस्लाम द्वारा प्रतिपादित राज्याधिकार के सिद्धान्त का त्याग तथा तीर्थ-यात्रा पर लगाये गये घृणित राज्य-शुल्क तथा जजिया आदि का त्याग इसी प्रकार के कुछ चुने हुए उदाहरण हैं। इस्लाम का राज्य-धर्म की सत्ता से स्थानतरण करना एवं धार्मिक असहिष्णुता तथा धार्मिक समानता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करना एक असाधारण योग्यता एवं व्यक्तिगत चरित्र वाले सम्राट द्वारा ही सम्भव हो सकता था। संक्षेप में, अकबर अत्यन्त विवेकी, ज्ञानशील, नीतिज्ञ और साहसी शासक था, जिसने शासन के आधारभूत सिद्धान्तों तक का परिवर्तन और परिवर्द्धन करके उसे अपने देश, काल और समाज के अनुरूप बना दिया।

वास्तव में, अकबर की राजसत्ता राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित थी, किन्तु डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी के मतानुसार उसका आदर्श एक विश्वव्यापी साम्राज्य था, एकदेशीय अथवा राष्ट्रीय नहीं। अकबर की मध्य एशिया और फरगाना प्रान्त की जहाँ उसके पूर्वजों की राजधानी थी, विजय अभिलाषा और उन्हे अपने साम्राज्य में मिलाने की इच्छा पर ही यह मत आधारित है। उनके अनुसार एक सार्वभौमिक राजत्व की भावना से प्रेरित एवं अभिभावित हुए बिना यह नितान्त असम्भव था कि वह इतने विशाल राज्य-क्षेत्र के ऊपर जिसमें विभिन्न प्रकार की जातियाँ निवास करती हों, अपनी सत्ता स्थापित रख सकता। अकबर क्या करता और क्या सम्भव हो पाता, यह केवल अनुमान का विषय है। अकबर ने जो किया उससे यह स्पष्ट है कि उसने पूर्णतया अपने को भारतीय बना लिया था और इस देश के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास और वृद्धि में उसी प्रकार दत्तचित्त होकर भाग लिया जैसे वह मूलतः भारतीय वंश और धर्म-परम्परा का ही अनुयायी हो। 'संगठित भारत' के रूप में वह राजसत्ता के स्वप्न-देखता था। उसने अपनी नीति एवं विजय द्वारा सम्पूर्ण उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत के एक भाग को एक ही राजतन्त्र और शासन-व्यवस्था में लाने का सफल प्रयत्न भी किया। सम्पूर्ण राज्य में राज्य प्रणाली एक ही प्रकार की थी। चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन खलजी, मुहम्मद बिन तुगलक और अन्य शासकों के समय में भी भारत का प्रधान भाग एक ही राजसत्ता के अधीन था। परन्तु तत्कालीन साम्राज्य के अवयवभूत प्रान्त परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित न थे। एक ही सम्राट के प्रति राज्यभक्ति होना ही उनमें पारस्परिक लगाव का माध्यम था। परन्तु अकबर ने अपने राज्य के समस्त प्रान्तों में राज्य-प्रणाली, कर्मचारीगण, भूमि-कर एवं सिक्कों की एक ही व्यवस्था स्थापित की। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के राज्य-कर्मचारियों के पद एक होते थे और वे भी उसी केन्द्रीय सत्ता के सदस्य माने जाते थे, जिसके फलस्वरूप सैनिकों और पदाधिकारियों की एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में बदली भी हो जाया करती थी। उसके कारण तत्कालीन परिस्थितियों में सम्भव साम्राज्य में सर्वोत्कृष्ट कोटि की राजनीतिक और राज्यतान्त्रिक एकता पायी जा सकी। फारसी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर अकबर ने सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात भी किया। भाषा का साहित्यिक और

सांस्कृतिक कलेवर उसने सर्वोत्तम भारतीय और मुस्लिम विचारधारा द्वारा सम्पन्न किया। इसमें धार्मिक अथवा अन्य लौकिक शास्त्रों के विषय पर मौलिक एवं अनुवादित दोनो प्रकार के संग्रह किये गये।' यह पहले ही बताया जा चुका है कि अकबर के अनुवाद विभाग द्वारा हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थ वेद, पुराण आदि तथा विभिन्न शास्त्रों से सम्बन्धित अन्य संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया था। अरबी, तुर्की और ग्रीक भाषा के अमूल्य ग्रन्थ भी फारसी मे अनुवादित किये गये। इस सबका उद्देश्य था—प्रजा के उच्च और मध्यम वर्ग के लिए एक लोकप्रिय साहित्य का निर्माण करना। तीसरे, शिल्प, चित्रकला, संगीत आदि ललित-कलाओं का राष्ट्रीयकरण भी किया गया और वह हिन्दू और मुसलमान दोनो की ही समान रूप से थाती बनी। कुछ प्रचलित बुराइयों का उन्मूलन कर समाज को सशक्त बनाने का सद्प्रयत्न भी अकबर ने किया। सती-प्रथा, बाल-विवाह एव वृद्ध-विवाह का अकबर ने बहिष्कार किया। वेश्यावृत्ति के विषय में उसका विशेष रूप से कठोर नियन्त्रण रहता था। उसने उनको समाज से पृथक किया। कसाई, शिकारी एवं चाण्डालों को भी उसने नगर के बाहर रहने के लिए बाध्य किया। १२ वर्ष की आयु के पूर्व ही खतने की प्रथा को उसने रोका एवं धर्म-परिवर्तित मुसलमानों को अपना प्रारम्भिक धर्म पुनः स्वीकार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी। व्यवसाय और व्यापार को नियन्त्रित कर देश की आर्थिक समृद्धि का मार्ग भी उसने खोला। अनेक प्रकार की दस्तकारियों को देश में प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप देश विकास एवं समृद्धि की चरमसीमा पर पहुँचकर विदेशी यात्रियों और दूतो की आँखों में चकाचौंध पैदा करने लगा। अकबर की इच्छा थी कि उसके साम्राज्य के अन्तर्गत विभिन्न धर्मों की धाराएँ परस्पर मिलकर बहें जिससे संकुचित दृष्टिकोण, हठ, धर्मान्धता, धार्मिक असहयोग और पारस्परिक कलह का अवसान हो जाय। यद्यपि वह अपने आदर्शों में पूर्णरूप से फलीभूत न हुआ तथापि वह अपनी अधिकांश प्रजा का स्नेहभाजन बन गया और उसे एक राष्ट्रीय शासक की उपाधि भी मिली।

इतिहास में स्थान

अकबर अपने आदर्श, प्रतिभा, चरित्र-बल और कार्य-कपालों के कारण मानव सम्राटों में एक गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर लिया है। अपनी उत्कृष्ट देशभक्ति तथा असाधारण मेधा के कारण तत्कालीन अन्य भारतीय नरेशों के स्तर से वह कहीं अधिक ऊँचा उठा ज्ञात पड़ता है।

परन्तु वह न केवल स्वप्न ही देखता था और न कोरा आदर्शवादी व्यक्ति ही था। वह पूर्ण यथार्थवादी था। वास्तविकता के क्षितिज से दूर होने की अपेक्षा वह समस्या के भीषणतम रूप का गहन अध्ययन और हल करना ही श्रेयस्कर समझता था। यही कारण था कि वह अपने जीवन में इतनी सफलताएँ प्राप्त कर सका। उत्कर्ष आदर्श और अमित यथार्थता के इस अभूतपूर्व सम्मिलन द्वारा अकबर ने भारत के मुस्लिम शासकों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। इसी विशेषता द्वारा वह भारत के

केवल मुस्लिम ही नहीं वरन हिन्दू नरेशों में भी अपना एक गण्यमान्य पद निश्चित कर सका। अकबर के समकालीन और भी महान् शासक थे; यथा इंगलैण्ड की रानी एलिजाबेथ, फ्रांस का हेनरी चतुर्थ तथा फारस का महान् अब्बास। परन्तु यह निर्विवाद रूप से प्रमाणित है कि अनेक दृष्टिकोण से वह उन महान व्यक्तियों से भी महत्तम था। प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ का यह युक्तिपूर्ण कथन सत्य है कि "वह मनुष्यों का जन्मसिद्ध शासक था जिसकी गणना इतिहास के सर्वश्रेष्ठ शासकों में होना पूर्णतया न्यायसंगत है।"

BOOKS FOR FURTHER READING

Persian Language :

1. Abul Fazl : *Akbarnama*, 3 Vols (Translated into English—H. Beveridge.)
2. Abul Fazl : *Ain-i-Akbari*, 3 Vols. (Translated into English—Vol. I by Blochmann, Vols. II and III by Jarrett and revised and corrected by Sir Jadunath Sarkar (*2nd Edition*).
3. Badayuni, Abdul Qadjr : *Muntakhab-ut-Tawarikh*, Vols. II and III (Translated into English—Vol. II by W. H. Lowe and Vol. III by Woolseley Haig).
4. Ahmad Nizam-ud-din : *Tabqat-i-Akbari*, 3 Vols. (Translated into English by B. De).
5. Farishta, Hindu Beg : *Tarikh-i-Farishta* (Translated into English by Col. Briggs),

English Language :

1. Monserrate : Mongolicae *Legationis Commentarius* (Latin) (Translated into English by J. S. Hoyland) (1922).
2. Foster, W. : *Early Travels in India : Travels of Ralph Fitch (1583-91) and John Mildenhall (1599-1606)* (1921).
3. De Laet : *De Imperio Magni Magolis etc.* (Latin) (Translated into English by J. S Hoyland).

Modern Works :

1. Azad, M. Husain : *Durbar-i-Akbari* (Urdu) (1898)
2. Aziz, Abdul : *Mansabdari System.*
3. Binyon, L : *Akbar* (1932).
4. Haig, W. : *Cambridge History of India*, Vol. IV.
5. Hasan, Ibn : *The Central Structure of the Mughal Empire* (1936).
6. Irvine, W. : *Army of the Indian Moguls* (1903).
7. Maclagan, E. : *Jesuits and the Great Mogul* (1903).

8. Malleson, G. B. : *Akbar* (1890).
9. Modi, J. J. : *Parsees at the Court of Akbar* (1903).
10. Moreland. W. H. : *India at the Death of Akbar* (1920).
11. Moreland W. H. : *Agrarian System of Muslim India* (1929).
12. Noer, Gount Von : *Kaisar Akbar*, Vols. I and II (1880 and 1885).
13. Ojha, O. H. : *Rajputana ka Itihas* (Hindi).
14. Saran, P. : *The Provincial Government of the Moguls* (1941).
15. Smith V. A. : *Akbar, the Great Mogul* (1919).
16. Tod. J. : *Annals and Antiquities of Rajasthan.*
17. Tripathi, R. P. : *Some Aspects of Muslim Administration* (1936).

अध्याय ६

जहाँगीर (१६०५-१६२७ ई०)

प्रारम्भिक जीवन (१५६९-१६०५ ई०)

जहाँगीर का जन्म अनेक आराधनाओं का परिणाम था। अकबर के सभी पुत्र उसके युवाकाल में ही चले बसे थे। उसकी यह उत्कृष्ट अभिलाषा थी कि उसके विशाल साम्राज्य की बागडोर सँभालने के लिए उसे एक युवराज की प्राप्ति हो। उसने भगवद्-आराधना की, सन्तों ने आशीर्वाद संचित किये और अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह तक पैदल चलकर गया। तत्कालीन अन्य सत्ताओं की सेवा भी उसने इसी स्वार्थ से की। अन्ततोगत्वा फतेहपुरसीकरी के शेख सलीम चिश्ती ने सम्राट को तीन पुत्र देने का आशीर्वाद दिया। जब १५६९ ई० को अकबर की बेगम, जयपुर की राजकुमारी मरियम उज्जमानी, गर्भवती हुई तो वह शेख की कुटी में भेज दी गयी जहाँ ३० अगस्त, १५६९ ई० को उसने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया जिसका नाम शेख के नाम के आधार पर ही सुल्तान मुहम्मद सलीम रखा गया। अकबर उसे शेखो बाबा ही कहता था। अपनी प्रतिज्ञानुसार अकबर ने पैदल चलकर शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के दरगाह की यात्रा सम्पन्न की। नवजात शिशु का पूर्ण सतर्कता एवं लाड़-प्यार द्वारा लालन-पालन फतेहपुरसीकरी में हुआ एवं काल प्राप्त होने पर नयी राजधानी फतेहपुरसीकरी में जहाँ अकबर ने सुरम्य भवनों से घिरे हुए एक विशाल प्रासाद का निर्माण किया था, उसके अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की। उसका विद्यारम्भ-संस्कार २८ नवम्बर, १५७३ ई० को मनाया गया। राजकुमार को फारसी, तुर्की, अरबी, गणित, हिन्दी, इतिहास, भूगोल तथा अन्य उपयोगी शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान देने के लिए एक के बाद दूसरे योग्य आचार्य नियुक्त किये गये। परन्तु इस सम्पूर्ण विज्ञमण्डली में जिस एक पुरुष के व्यक्तित्व ने उसके मस्तिष्क पर अमिट छाप लगायी, वह था अब्दुर्रहीम खानखाना। वह एक सर्वतोमुखी प्रतिभावान व्यक्ति था। अरबी, तुर्की, फारसी और हिन्दी का प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ-साथ वह एक कुशल सैनिक एवं धुरन्धर नीतिज्ञ भी था। इसी व्यक्ति के शिक्षत्व में सलीम ने फारसी पर अधिकार प्राप्त किया तथा तुर्की और हिन्दी की भी प्रचुर जानकारी प्राप्त की। फारसी में पद्य-रचना करना भी उसने सीखा। हिन्दी गीत उसके प्रिय विषय थे। उसे भूगोल और इतिहास का भी अध्ययन कराया गया। उद्भिज्ज और प्राणिशास्त्र, संगीत और चित्र-कला एवं अन्य जीवन-कलाओं में भी वह रुचि लेने लगा। साथ ही शारीरिक और सैनिक-शिक्षा पर भी ध्यान दिया गया जिसमें उसने व्यायाम एवं अस्त्र-शस्त्रों का

समुचित प्रयोग सीखा। कालान्तर में वह एक लक्ष्यवेधी और शक्तिशाली आखेटक बन गया।

तत्कालीन प्रथानुसार अल्पावस्था में ही उसे सैन्य-व्यवस्था के साथ सम्बन्धित होना पड़ा। १५८१ ई० के काबुल के आक्रमण के अवसर पर उसे सेना की एक टुकड़ी का अध्यक्ष बनाकर भेजा गया था। तत्पश्चात उसे स्वतन्त्र रूप से सैन्य-शासन के साथ ही प्रजा-शासन की भी शिक्षा दी गयी। १५७७ ई० मे दसहजारी और १५८५ ई० मे बारहहजारी की उपाधि से उसे राजकीय पद मे स्थान दिया गया।

पन्द्रह वर्ष की आयु मे सलीम की सगाई अपनी ममेरी बहन आमेर के राजा भगवानदास की पुत्री मानबाई के साथ हुई। विवाह-सस्कार हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही प्रणालियो द्वारा १३ फरवरी, १५८५ ई० को सम्पन्न हुआ। राजा भगवानदास ने अमूल्य दान-दहेज दिये। अभागा खुसरो जिसका जीवन दुर्दिनों में बीता और जिसकी अत्यन्त मार्मिक मृत्यु हुई, इसी दाम्पत्य की देन था। जहाँगीर मानबाई में प्रचुररूपेण अनुरक्त था। उसे शाह बेगम का पद प्राप्त था। मानबाई ने १६०४ ई० में अपने पुत्र के पितृ-भक्ति-विहीन व्यवहार से आन्तरिक अवसाद पा आत्महत्या कर ली थी। इस घटना से जहाँगीर पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसके चार दिनों तक पानी अथवा भोजन का स्पर्श तक न किया। मानबाई के जीवनकाल में ही सलीम ने अन्य रमणियों से विवाह कर लिया था जिसमें से मोटा राजा उदयसिंह की पुत्री जगत गोसाईं उर्फ जोधाबाई का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाद में तो उसके अन्तःपुर मे स्त्रियों की संख्या ८०० हो गयी थी। थोड़ी आयु से ही उसने सुरापान आरम्भ कर दिया था जिसका उसे व्यसन हो गया। अन्य इन्द्रिय-जन्य भोगों का व्यसन भी काफी हो गया था।

सलीम का विद्रोह (१५९९-१६०४ ई०)

सलीम के असंयमित चरित्र एवं मद्य तथा भोगों के व्यसन में पड़ जाने से अकबर को बड़ा असन्तोष हुआ। उसने शिक्षा और दण्ड-भेद दोनों ही प्रकार से उसे सुधारने का यत्न किया। परन्तु पिता और पुत्र के बीच का भेदभाव उत्तरोत्तर प्रगति ही करता गया क्योंकि सलीम अपने पिता की मृत्यु के पूर्व ही उसके वैभव एवं राज-सत्ता का अधिकार लेना चाहता था। कुछ यूरोपियन विद्वानों का मत है कि अकबर की इस्लाम के प्रति उदासीनता एवं सलीम की उसके प्रति संरक्षक भावनाएँ ही इस भेदभाव को उत्पन्न करने का प्रमुख कारण थीं, परन्तु यह निराधार जान पड़ता है। सलीम इस्लाम का कट्टर अनुयायी कभी न था और न वह उसकी संरक्षणता करने में समर्थ था। पिता और पुत्र के बीच का भेदभाव १५९१ ई० मे दिखायी दिया जब अकबर की बीमारी में विष देने का सन्देह उस पर किया गया। यह सन्देह भी निर्मूल था। १५९९ ई० में जब अकबर ने खानदेश की विजय करने के लिए प्रयास किया, सलीम को मेवाड़ के राणा अमरसिंह पर आक्रमण करने भेजा गया। परन्तु वह मेवाड़ न जाकर अजमेर में ही घूमता रहा तथा कुसंगति एवं महत्वाकांक्षा से पराभूत ह

खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने पर उतारू हो गया। यहाँ से सलीम लगभग एक करोड़ रुपये तथा उन्ही दिनों मरे हुए शहबाजखाँ कम्बोह की सम्पत्ति प्राप्त कर आगरे के किले के दो करोड़ रुपये के मूल्य वाले कोष पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो गया। इसमे वह सफल न हो सका, अतः यमुना पार कर वह प्रयाग चला गया, जहाँ उसने अपना दरबार स्थापित किया। बिहार का एक भाग भी अपने अधीनस्थ कर वह स्वतन्त्र नरेश बन बैठा। बिहार के राजकोष से उसने ३० लाख रुपये हथिया लिये और इस प्रदेश की व्यवस्था करने के लिए एक शासक की भी नियुक्ति की। इस विद्रोह का समाचार अकबर को असीरगढ मे मिला, जिसके फलस्वरूप उसने ख्वाजा मुहम्मद शरीफ को, जो सलीम का मित्र और बालसखा था, शान्ति-स्थापना के लिए प्रयाग भेजा। परन्तु वह स्वयं सलीम से जा मिला और उसके अधीनस्थ प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण कर लिया। इन घटना-क्रमों से विवश होकर अकबर को असीरगढ़ का युद्ध बन्द कर १६०१ ई० के मध्य में आगरे मे आना पड़ा। सलीम भी ३०,००० सैनिको का नेतृत्व करते हुए यह कहते हुए आगे बढ़ा कि वह अपने पिता की अभ्यर्थना हेतु जा रहा है। रास्ते में वह डकैती और लूटमार करता गया। सम्राट ने शहजादे को अपनी सेना का विच्छेदन करने एवं तुरन्त प्रयाग लौट जाने का आदेश दिया। सलीम को सम्राट द्वारा शक्ति-प्रयोग मे अपनी पराजय का भय लगा अतएव उसने अपनी राज्य-भक्ति और विश्वसनीयता का वचन भिजवाया। सम्राट ने उसे क्षमा कर बंगाल और उड़ीसा का गवर्नर नियुक्त किया। तब सलीम इलाहाबाद लौट गया किन्तु उसने अपनी बुरी भावनाओं को नहीं छोड़ा तथा बिहार और उड़ीसा का चार्ज नहीं लिया। उसने नरेश का पद ग्रहण किया और नियमित रूप से दरबार लगाना, फरमान जारी करना, तथा मनसब और जागीर प्रदान करना आरम्भ किया। गोआ में पुर्तगालियों से सैनिक सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयत्न भी उसने इसी बीच किया। इस विद्रोह से विकल हो अकबर ने अबुल फजल को दक्षिण से परामर्शार्थ बुलाया। परन्तु सलीम ने १६ अगस्त, १६०२ ई० को बरखी सराय और अन्तरी के बीच ओरछा के वीरसिंह देव नामक विद्रोही से अबुल फजल का वध करवा दिया। इस समाचार को सुनते ही अकबर शोक और अमर्ष में डूब गया और जनता के समक्ष तीन दिन तक न आया। उसने सलीम की भर्त्सना की और वीरसिंह को मृत्युदण्ड का आदेश दिया परन्तु वह निकल भागा और आगे चलकर जहाँगीर का कृपापात्र बना।

यद्यपि सलीम को अमानुषिक व्यवहार के अनुरूप ही दण्ड मिलना चाहिए था परन्तु अकबर ने ऐसा करना ठीक न समझा। सम्राट का दूसरा पुत्र मुराद पहले ही मर चुका था और तीसरा पुत्र दानियाल शनैः-शनैः अवसान को प्राप्त हो रहा था। खुसरो अभी अत्यन्त अल्पवयस्क था। अन्तःपुर की स्त्रियों ने भी सम्राट को बीती बातें भूलने एवं सलीम को क्षमा प्रदान करने की प्रार्थना की। जहाँगीर की विमाता सलीमा बेगम ने शान्ति स्थापनार्थ प्रयाग जाने देने के लिए सम्राट से प्रार्थना की जो स्वीकृत की गयी। उसने सलीम को सीधे मार्ग पर लाने का कार्य सम्पन्न किया। सलीम आगरा

आया और उसकी पितामही मरियम मकानी ने उसे अकबर के समक्ष ले जाकर उसके चरणों पर नत करा दिया। अकबर ने उसे उठाकर आलिंगन किया। सलीम ने सम्राट को ७७० हाथी और १२,००० स्वर्ण-मुद्राएँ भेंट कीं। अकबर ने केवल अत्यन्त शीलता से उसे क्षमा ही प्रदान नहीं की अपितु उसे अपना युवराज घोषित कर पुरस्कृत भी किया।

कुसंग के विशद परिणामों से दूर करने के लिए अकबर ने जहाँगीर को १४ अक्तूबर, १६०३ ई० को मेवाड़ विजय के लिए भेजा जिसे वह १५९९ ई० में नहीं कर पाया था। सलीम फतेहपुरसीकरी तक गया परन्तु अपने को राणा के समक्ष अशक्त और असमर्थ देखकर उसने प्रयोग लौट जाने के लिए आज्ञा माँगी। अकबर ने यह प्रार्थना मान ली। प्रयाग आकर शाहज़ादा फिर दुराचरण में फँस गया और पुनः अर्द्ध-स्वतन्त्र राजसत्ता का आविर्भाव कर बैठा। अकबर इस बात से अत्यन्त क्रोधित हुआ और शाहज़ादे को बलपूर्वक सन्मार्ग पर लाने के लिए प्रयाग जाने की तैयारियाँ करने लगा। परन्तु अपनी माता की अस्वस्थता और मृत्यु के कारण यह अपने विचार कार्य-रूप में परिणत न कर सका। अकबर ने सलीम के पुत्र खुसरो को उत्तराधिकार देने की ठानी। वह आमेर के राजा मानसिंह का भानजा और मिर्जा अजीज कोका का दामाद होने के कारण साम्राज्य के दो सुविख्यात वीर वंशों से सम्बन्धित भी था। उसकी आयु इस समय सत्रह वर्ष की थी। उसकी आकृति सुन्दर और आचार-व्यवहार प्रभावपूर्ण था। उसका व्यक्तिगत जीवन भी निरपवाद था। परन्तु सलीम के जीवन-पर्यन्त खुसरो का उत्तराधिकारी बनाना भी असंगत होता। इस कारण अकबर को यह विचार त्यागना पड़ा। सलीम ने भी अपनी स्वार्थरक्षा के हितार्थ अपने पिता के पास आगरा जाकर आत्मसमर्पण करने में ही कल्याण समझा। इसलिए अपनी मातामही के देहावसान के उपलक्ष में अकबर के प्रति संवेदना प्रदर्शित करने के लिए दरबार में उपस्थित हुआ। अकबर उससे दरबार आम में सादर मिला परन्तु राजप्रासाद में उसके दुरभिचार के लिए उसकी भर्त्सना की, मुँह पर तमाचा मारा और हकीम की संरक्षता में एक स्नानागर में बन्दी कर दिया। दस दिन के कारावास के उपरान्त शाहज़ादा मुक्त कर दिया गया और पुनः स्नेहपात्र बना लिया गया। २० अप्रैल, १६०४ ई० को अकबर सबसे छोटे पुत्र दानियाल के मर जाने के उपरान्त सलीम ही अकेला पुत्र और उत्तराधिकारी बच रहा, अतः भविष्य में उसे किसी प्रकार से दण्डित न करने का अकबर ने निश्चय कर लिया।

इन्हीं दिनों अकबर का स्वास्थ्य भी दिनोंदिन क्षीण होने लगा। ३ अक्तूबर, १६०५ ई० को उसे संग्रहणी हुई और दिनोंदिन उसकी दशा गिरती गयी। दरबार में दो दल बन गये—एक सलीम के पक्ष में था और दूसरा खुसरो के। मानसिंह और मिर्जा अजीज कोका सलीम के दमन और खुसरो के राज्याभिषेक के पक्ष में थे, परन्तु उनके अयुयायी अल्प-संख्या में थे। रामदास कछवाहा ने सलीम के हितों की रक्षा के लिए राज्यकोष पर अपने राजपूतों का पहरा लगवा दिया और बहुत-से मुसलमान सरदार, जिनमें बारहा के सैय्यद भी शामिल थे, उनके पक्ष में हो गये। २१ अक्तूबर

को मरणासन्न सम्राट ने अपनी राजकीय पगड़ी और कटार द्वारा सलीम को आभूषित कर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। २५-२६ अक्तूबर, १६०५ ई० की अर्द्धरात्रि को अकबर की मृत्यु हुई। इस समय सलीम का पक्ष खुसरो की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली था। इस पक्ष ने सलीम से पहले ही इस्लाम की रक्षा और खुसरो तथा उसके पक्ष के लोगों को क्षमा करने की प्रतिज्ञा करवा ली थी। उसका राज्याभिषेक अकबर की मृत्यु के आठवें दिन निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हुआ।

राज्याभिषेक (३ नवम्बर, १६०५ ई०)

जहाँगीर का राज्याभिषेक गुरुवार, ३ नवम्बर (पुराने हिसाब से २४ अक्तूबर), १६०५ ई० को आगरे के किले मे हुआ। अपने मस्तक पर उसने अपने ही हाथों राज-मुकुट रखा और नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी की उपाधि धारण की। अनेक कारावासी मुक्त किये गये और उसके नाम के सिक्के चलने लगे। निम्न १२ प्रसिद्ध निबन्धों में उसने अपनी नीति घोषित की।

(१) तमगा नामी महसूल जिसमे मीर बहरी तथा अन्य महसूल सम्मिलित थे, उसने बन्द करवा दिये।

(२) उसने सड़कों के किनारे सराय, मस्जिद और कुओं के निर्माण के आदेश दिये।

(३) व्यवसायियों की जानकारी और स्वीकृति बिना उनके सामान की गाँठ खोलना बन्द कर दिया गया।

(४) मृत्यु के पश्चात किसी मनुष्य की सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारी को मिलने की व्यवस्था की। यदि मृत पुरुष का कोई उत्तराधिकारी न होता तो वह सम्पत्ति राज्य-पदाधिकारी के संरक्षण में जमा की जाती और सार्वजनिक भवनों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार के प्रयोग मे लायी जाती।

(५) मद्य तथा अन्य मादक वस्तुओं का निर्माण एवं क्रय निषिद्ध कर दिया गया।

(६) राजकीय कर्मचारियों को किसी के घर बलपूर्वक अधिकार कर लेने की मनाही की गयी।

(७) नाक या कान काटने के दण्ड को उसने अवैध कर दिया।

(८) कृषकों की भूमि बलपूर्वक लेने की मनाही की गयी।

(९) सम्राट की आज्ञा बिना जागीरदार अथवा परगनाधीश अपने परगने में किसी व्यक्ति के साथ विवाह-सूत्र मे बद्ध न हो सकता था।

(१०) दीनों और असहायों की चिकित्सा के लिए सरकारी औषधालयों की स्थापना की गयी।

(११) साल के कुछ दिनों में पशु-हत्या अवैध मानी गयी। सप्ताह के दो दिनों भी—गुरुवार को, जब जहाँगीर सत्तारूढ़ हुआ; और रविवार को, जो अकबर का जन्म-दिवस था—पशु-हत्या बन्द रखी जाती थी।

(१२) अकबर के समय के समस्त कर्मचारी एवं जागीरदार अपने-अपने पदों पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिये गये।

यमुना-तट पर एक स्थान से आगरा किला के शाह बुर्ज तक घण्टियाँ लगी हुई एक स्वर्ण जजीर लगादी गयी जिससे न्यायप्रार्थी किसी राजकर्मचारी अथवा सेवक की सहायता बिना घण्टा बजाकर सीधे सम्राट से फरियाद कर सकता था।

अकबर के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में जो छोटे-बड़े राज्य पदाधिकारी थे, जहाँगीर ने उन्हे ज्यों का त्यों बना रहने दिया तथा कुछ ऐसे व्यक्तियो को भी जिनसे उसका व्यवहार प्रतिकूल तक था, अभिवृद्धि प्रदान की। अब्दुर रज्जाक मामूरा और ख्वाजा अब्दुल्ला को जिन्होने उसे छोड़कर अकबर का पक्ष ग्रहण किया था, अपने-अपने पदो पर बना रहने दिया। अबुल फजल का पुत्र अब्दुर्रहमान दोहजारी मनसबदार के पद पर नियुक्त किया गया। मानसिंह और अजीज कोका को भी जिन्होने खुसरो के राज्यारोहण के लिए पक्ष लिया था, क्षमा कर दिया गया और उन्हें अपने पद से नही हटाया गया। परन्तु उनकी सत्ता अकबर के समय के बराबर न रही। बगाल का गवर्नर मानसिंह के स्थान पर सलीम का कृपापात्र कुतुबुद्दीन कोका बनाया गया। स्वभावतः कृतज्ञ जहाँगीर ने अपने अनेक कृपापात्रों को जिनमें कोई विशेष योग्यता न थी, अच्छे-अच्छे पद प्रदान किये। शरीफखाँ प्रधानमन्त्री बनाया गया। कुतुबुद्दीन कोका और ओरछा का वीरसिह देव इसी वर्ग के कुछ व्यक्ति थे। नवनियुक्त पदाधिकारियों में दो विशेष रूप से योग्य-पात्र थे। एक था नूरजहाँ का पिता गियास बेग जो दीवान अथवा राज्य-कर मन्त्री नियुक्त किया गया और उसे इतमादउद्दौला की उपाधि दी गयी। दूसरे जमानबेग को महाबतखाँ की उपाधि दी गयी और उसे डेढ़-हजारी मनसबदार बना दिया गया।

खुसरो का विद्रोह (अप्रैल-मई १६०६ ई०)

जहाँगीर के राज्यारोहण के कुछ महीनों के भीतर ही उसके ज्येष्ठतम पुत्र खुसरो ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। खुसरो के मामा आमेर के राजा मानसिंह की मध्यस्थता के कारण जहाँगीर ने खुसरो को उसके गत-व्यवहार के लिए क्षमा अवश्य कर दिया परन्तु मानसिंह के बंगाल जाते ही उसे आगरा किले के एक भाग में बन्दी बना दिया। खुसरो अपने भूतकाल में पितामह की गद्दी पर बैठ सकने के स्वर्णिम क्षणों एवं दरबार के शक्तिशाली सरदारों के पक्षपात के सुखद गौरव को अपने मानसपटल से दूर न कर सका था, अतः इस निरादरपूर्ण व्यवहार के प्रति वह सहिष्णु न रह सका। वह इससे मुक्त होकर उस राजसत्ता को हथियाने का प्रयत्न करने लगा जो किसी समय उसके हस्तगत होते-होते बची थी। ३५० अश्वारोहियों को साथ लेकर ६ अप्रैल, १६०६ ई० की संध्या को सिकन्दरे में अकबर की दरगाह को देखने के बहाने वह निकल भागा और शीघ्रतापूर्वक दिल्ली की ओर अग्रसर हुआ। मार्ग में ३०० अश्वारोहियों का नायक हुसैन बेग बदख्शी उससे आ मिला। शनैः शनैः उसके अनुयायियों की संख्या १२,००० तक पहुँच गयी। तदनन्तर शाहजादा खुसरो ने

राजकीय रक्षा-दल पर हमला कर एक लाख रुपयों पर अधिकार जमाया। दिल्ली होते हुए वह लाहौर पहुँचा जहाँ उससे इस प्रान्त का दीवान अब्दुर्रहमान आ मिला। शाहजादे ने अब्दुर्रहमान को अपना मन्त्री नियुक्त किया। तरनतारन में खुसरो ने सिक्खों के पाँचवे गुरु, गुरु अर्जुनसिंह का आशीर्वाद भी प्राप्त किया। लाहौर पहुँच कर उसने वहाँ के दुर्ग को तद्देशीय गवर्नर दिलावरखाँ द्वारा सुरक्षित पाया। नगर के पट बन्द थे। खुसरो ने विजय की चेष्टा भी की किन्तु निष्फल रहा।

खुसरो के पलायन के कुछ ही घण्टो के अन्दर सम्राट को उसके भागने का समाचार ज्ञात हो गया। उसे पकडने के लिए शेख फरीद की अध्यक्षता मे सेना की एक टुकड़ी भेजी गयी। स्वयं लाहौर जाकर सम्राट ने प्रतिक्षण इसी उपादान मे लगाया। इस समय लाहौर शाहजादे ने घेर रखा था। दो व्यक्तियो द्वारा घिर जाने की आशंका से खुसरो ने अपनी सेना की एक टुकडी लाहौर के घेरे में छोड दी और स्वयं १० हजार सैनिकों की अध्यक्षता करता हुआ राज्यसेना से मुठभेड़ करने के लिए अग्रसर हुआ। जहाँगीर ने शान्ति-उपकरणो द्वारा अपने पुत्र को अनुकूल लाना चाहा परन्तु जब वे प्रयत्न विफल रहे तो भैरोवाल के मैदान मे दोनो सेनाओ में युद्ध हुआ। यद्यपि खुसरो की सेना की संख्या अधिक थी फिर भी वह बुरी तरह पराजित हुआ और अपने चुने हुए एवं विश्वस्त मित्रो तथा अब्दुर्रहमान एवं हुसैन बेग आदि के साथ भाग खड़ा हुआ। इस झमेले में उसका रत्न-मंजूषा रह गया जो कि साम्राज्यपक्षी लोगों के हाथ लगा।

हुसैन बेग ने परामर्श दिया कि काबुल को परास्त कर वहाँ से दिल्ली पर आक्रमण कर सिंहासन पर प्रभुत्व जमाया जाय। तदनुसार खुसरो ने शाहपुर के घाट पर चिनाब पार की परन्तु अपने साथियों सहित वह अपनी खोज में भेजे गये पुरुषों द्वारा पकड़ा गया। जहाँगीर उस समय लाहौर में था। शाहजादे के बन्दी बनने का समाचार सुनकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे अपने शिविर मे लाने का आदेश दिया। १ मई, १६०७ ई० को हथकड़ी पहने खुसरो को बन्दीरूप में पूरे दरबार मे बैठे हुए सम्राट के सम्मुख लाया गया। खुसरो के दायीं ओर हुसैन बेग और बायीं ओर अब्दुर्रहमान था। शाहजादा थर-थर काँप रहा था तथा रुदन कर रहा था। उसने सम्राट के सम्मुख दण्डवत करने का प्रयत्न किया परन्तु उसे अपने स्थान पर खड़े रहने का आदेश मिला। विद्रोही शाहजादे की सम्राट ने कटु भर्त्सना की और उसे बन्दी बनाने का आदेश दिया। उसके अन्य अनुयायी हुसैन बेग और अब्दुर्रहमान क्रमशः बैल और गधे की ताजी खाल मे सीं दिये गये। गधे की पूँछ की ओर मुँह कर उन्हें गधों पर चढ़ाकर लाहौर की सड़को पर घुमाया गया। हुसैन बेग १२ घण्टे के अन्दर मर गया। अब्दुर्रहमान चौबीस घण्टे भर की दण्ड-यन्त्रणा के पश्चात मुक्त कर दिया गया। खुसरो के अन्य छोटे-छोटे अनुयायियों को एक मील लम्बी सूली पर कतार में लटका दिया गया और स्वयं उसे एक हाथी पर आरूढ़ कर इन कतारों के बीच से ले जाया गया। जाते समय उससे व्यंग्यपूर्वक अपने सहचरों से सम्मान ग्रहण करने का

आदेश दिया गया। इस वीभत्स काण्ड ने उसके कोमल हृदय को शोकप्लावित कर दिया जिसके फलस्वरूप कई दिन उसने रो-रोकर काटे।

जहाँगीर अब गुरु अर्जुनसिंह की ओर अग्रसर हुआ जिन्होंने खुसरो को आगरे से लाहौर जाते समय अपने आशीर्वाद का पात्र बनाया था। सम्राट की दृष्टि में एक राजद्रोही को अवलम्ब देने के कारण वह अपराधी थे। किंवदन्ती है कि जहाँगीर ने गुरु अर्जुन पर दो लाख रुपयों का दण्ड निश्चय किया जिसे गुरु ने देने से मना कर दिया जिसके फलस्वरूप उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया। सम्राट का यह कार्य विवेकशून्य था और उसे गुरु अर्जुन जैसे धार्मिक व्यक्ति के साथ एक साधारण स्तर के अपराधी जैसा व्यवहार न करना चाहिए था। सिक्ख विचार परम्परा के अनुसार जहाँगीर ने अपने हठधर्म के आवेश मे आकर ही यह दुष्कृत्य किया। गुरु को पाशविक यन्त्रणाएँ देकर मारा गया, बताते हैं। सम्भवतः यह आरोप निराधार है। परन्तु यह बात सत्य है कि गुरु के वध से सिक्खों और मुगलों के बीच भेदभाव उत्पन्न हो गये जिसके परिणामस्वरूप औरंगजेब के समय मे विद्रोह की आग भभक उठी।

खुसरो के आगरे से भागने के एक माह के भीतर ही जहाँगीर ने पूरा उपद्रव शान्त कर लिया। इस वीरकार्य में जिन व्यक्तियों का सहयोग उसने पाया, उन्हें उचित पुरस्कार देकर वह आगरे लौट आया, परन्तु पुत्र जैसे निकट सम्बन्धी द्वारा किये गये इस विद्रोह के परिणाम शुभ न हुए। यत्र-तत्र दूसरे विप्लव भी राज्य में हुए। इनमें से सर्वप्रथम बीकानेर के राजा रायसिंह का था। यह पाँचहजारी मनसबदार था और मुगल दरबार के सर्वश्रेष्ठ सरदारों में से माना जाता था। शाही रमणियों को अपने संरक्षण में पंजाब ले जाने का काम इसे सौंपा गया। परन्तु वह अपना रक्षण-कार्य मथुरा में ही त्यागकर बिना आज्ञा बीकानेर चला गया जहाँ जाकर विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उसने नागौर पर अपना अधिकार जमाया तथा राजकीय सत्ता का उल्लंघन किया। राय जगन्नाथ कछवाहा उसके दमन के लिए भेजा गया। उसने रायसिंह को परास्त किया और उसे दरबार में उपस्थित किया। जहाँगीर ने उसे क्षमा प्रदान की तथा उसके मनसब और पद पर उसे बहाल कर दिया। बिहार के संग्राम नामक अल्प-शक्त जागीरदार ने खुसरो के विद्रोह का लाभ उठाकर अराजकता पैदा कर दी। उसे बिहार के प्रदेशाधिपति जहाँगीर कुलीखाँ ने परास्त किया। परन्तु खुसरो के विद्रोहजनित देश की आन्तरिक अशान्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव फारस के शाह पर पड़ा जिसने अवसर पाकर कन्धार-विजय के लिए अपने पग आगे बढ़ाये।

कन्धार (१६०६-१६०७ ई०)

मध्यकालीन युग में सैनिक और व्यापारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण होने के कारण कन्धार प्रचुरकाल तक भारत और फारस के बीच के वैमनस्य और कलह का कारण बना रहा। यह भारत का सिंहद्वार था। विदेशी आक्रमणकारी, चाहे वह फारस के हों अथवा मध्य एशिया के, इसी को अपने आक्रमण-क्षेत्र का आधार बनाकर अग्रसर होते थे। इस दुर्ग पर अधिकार होने के बाद काबुल पर आक्रमण कर

विजय प्राप्त करना किसी भी सत्ता के लिए बायें हाथ का खेल था। यही कारण था कि फारस की सरकार के लिए सीमान्त प्रदेश मे यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान समझा जाता था। व्यापारिक दृष्टि से भी इसकी सत्ता कुछ कम न थी। भारत, फारस, तुर्की एवं मध्य एशिया से व्यापारी यहाँ एकत्रित होते थे तथा भारत से मध्य एशिया एवं यूरोपीय देशों के लिए भी यही एकमात्र मार्ग था। बाबर ने, जो इसकी दुहरी महत्ता से भलीभाँति परिचित था, इस स्थान को १५२२ ई० में अपने अधीन बना लिया। परन्तु १५५८ ई० में हुमायूँ की मृत्योपरान्त यह फारस के सम्राट के राज्याधिकार में पहुँच गया जिसकी व्यवस्था के लिए उसने शाह मिर्जा हुसैन को नियुक्त किया। परन्तु १५९४ ई० में अकबर ने पुनः उसे मुगल राजतन्त्र का एक भाग बना लिया। अकबर की मृत्यु के पश्चात जब खुसरो का विद्रोह आरम्भ हुआ तो शाह अब्बास को खुरासान के अध्यक्ष को उत्तेजित कर कन्धार पर आक्रमण करने के लिए प्रस्तुत करने का स्वर्ण अवसर मिला। परन्तु इस दुर्ग के अधिपति शाहबेगखाँ ने शक्तिपूर्वक इसका सामना किया। १६०७ ई० के प्रारम्भ में जहाँगीर ने युद्ध से घिरे हुए शाहबेगखाँ को सहायता भेजने के लिए मिर्जा गाजी की अध्यक्षता मे सैन्यदल भेजा। इस सहायक सेना को देखते ही फारसी सैनिको के पैर उखड़ गये। वे भयाक्रान्त हो अपना घेरा उठा खुरासान लौट गये। चाल विफल होने पर शाह अब्बास ने इस आक्रमण के प्रति अपनी अज्ञानता प्रदर्शित की, खुरासान के सरदारों की भर्त्सना तथा जहाँगीर से क्षमायाचना की। उसने लिखा है कि युद्ध विकल सीमान्त प्रदेशीय वर्गों का ही एक ऐच्छिक व्यवहार था। इस मूर्ख एवं धृष्टतापूर्ण व्यवहार के लिए उसने उन्हें दण्ड भी दिया। जहाँगीर झगड़ा फिर से खड़ा न करना चाहता था। उसने इसी विवेचना को मान लिया। इस प्रकार यह मामला भी समाप्त हुआ।

भविष्य में किसी प्रकार के उपद्रव से बचने के लिए सम्राट ने उन स्थानों पर जाना उचित समझा। लाहौर से २७ मार्च, १६०७ ई० को प्रस्थान कर वह ४ जून को काबुल पहुँचा। यहाँ पर वह ११ सप्ताह रहा। इसी बीच में वहाँ की प्रजा के महत्त्वपूर्ण अंशों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया। काबुल में जो चुंगी का कर लगाया जाता था, उसे उसने हटा दिया। तत्पश्चात वह अगस्त में लाहौर की ओर रवाना हुआ। मार्ग में मृगयास्थल पर हत्या कर उसके पुत्र खुसरो के राज्याभिषेक करने का षड्यन्त्र भी रचा गया। इस षड्यन्त्र के प्रमुख कार्यकर्ताओं में खुसरो स्वय, नूरुद्दीन, फतेहउल्ला, इतमादुद्दौला का पुत्र शरीफ एवं इतवारखाँ नामक एक ख्वाजा आदि व्यक्ति सम्मिलित थे। खुसरो के मनमोहक व्यवहार, चित्ताकर्षक भाषण तथा निर्दोष व्यक्तिगत जीवन से प्रभावित हो ४०० के लगभग पुरुष उसके पक्ष में हो गये। इतनी अधिक संख्या को विश्वासपात्र बना लेने के पश्चात षड्यन्त्र का छिपा रहना असम्भव था। अन्त में रहस्य का भण्डाफोड़ हो गया और सन्देहप्राप्त खुर्रम ने इस बात का पता जहाँगीर को दे दिया। तुरन्त इस विषय में छानबीन की गयी और इतवारखाँ के कई पत्र पकड़े गये। इन षड्यन्त्रकारियों में एक मिर्जा मुहम्मद उजबेग को जब अभयदान का लोभ

दिया गया तो सम्पूर्ण षड्यन्त्र का पता लग गया। सम्राट ने साधारण पुरुषों को क्षमादान दिया तथा नूरुद्दीन, शरीफ एवं बेदाग तुर्कमान को मृत्युदण्ड दिया। खुसरो को अन्धा कर दिया गया परन्तु उसकी दृष्टि-हानि सदैव के लिए न हुई। थोड़े विश्राम के पश्चात जहाँगीर १ मार्च, १६०८ ई० को आगरा लौटा। खुसरो को किले में बन्दी बनाकर रखा गया। करुणाद्रवित होकर सम्राट ने अपने चिकित्सकों को खुसरो की दृष्टि-दान के लिए व्यवस्था करने का आदेश दिया। केवल एक नेत्र दृष्टि प्राप्त कर सका।

नूरजहाँ

मई १६११ ई० में जहाँगीर ने मेहुरुन्निसा नामक विधवा से विवाह किया और उसे 'नूरमहल' की उपाधि दी, जो बाद में नूरजहाँ मे परिवर्तित कर दी गयी। नूरजहाँ शनै-शनै सम्राट और साम्राज्य-शासन सम्बन्धी मामलों पर असीम प्रभाव डालने लगी। वह गियासबेग नामक एक फारसी की पुत्री थी जो कि अकबर की सेवा में उपस्थित हुआ था। उसे इतिमादउद्दौला की उपाधि दी गयी थी। नूरजहाँ के मादक व्यक्तित्व के चारो ओर मनोनीत अनुरंजक किवदन्तियो का परिवेष्ठन मिलता है। इतिहासकारो के मतानुसार दुर्दैव से पराभूत हो नूरजहाँ के माता-पिता अपनी मातृ-भूमि फारस को छोड़कर अपने भाग्य की परीक्षा लेने भारत आये थे। मार्ग के लिए प्रचुर सामग्री जुटाये बिना ही वह इस दुस्साध्य यात्रा पर अग्रसर हो गये। पति-पत्नी दारिद्र से बुरी प्रकार ग्रसित थे। गियासबेग की पत्नी का लगभग पूर्ण गर्भिणी होना एक और विषम समस्या थी। इस बुभुक्षित और क्लान्त नारी ने मार्ग में ही कन्या-रत्न को जन्म दिया। मार्ग मे इस नवजात शिशु को ले जाने में दम्पत्ति असमर्थ थे। अतः उसे एक पेड़ के नीचे छोड़कर उन्होंने अपने पथ पर पग अग्रसर किये। अभी कुछ दूर ही चल पाये थे कि माता को अपना शिशु-शून्य जीवन एक असाध्य भार ज्ञात पड़ने लगा और उसने अपने पति को उस बच्ची को उठा लाने के लिए लौटा भेजा। शिशु के समीप उन्होंने एक चमत्कार का दर्शन किया। एक सर्प कुण्डली बनाये बैठा था और अपने फन द्वारा धूप से उसकी रक्षा कर रहा था। गियासबेग ने सर्प को दूर करने के लिए शोर मचाना आरम्भ किया तथा बच्ची को उठा लिया। अनेक कष्टों का सामना करते हुए वे लाहौर पहुँचे। यहाँ गियासबेग के एक पुराने मित्र ने उसका अकबर से परिचय कराया। अकबर ने उसकी साधारण पद पर नियुक्ति की, परन्तु असाधारण योग्यता एवं मेधा का पुरुष होने के कारण मिर्जा सम्राट के गृह-कार्यकर्ताओं में प्रधान के पद पर शीघ्र प्रतिष्ठित हो गया। उसकी बच्ची मेहरुन्निसा कालान्तर में एक मनोहारी रमणीरत्न के रूप में विकसित हुई। अनुपम सौन्दर्य एवं अद्वितीय स्त्री-सुलभ गुणों की साधन बनी यह सुन्दरी युवराज सलीम की हृदयेश्वरी बनने की महत्वा-कांक्षी थी। सलीम भी उससे विवाह करना चाहता था। परन्तु अकबर इस सम्बन्ध के लिए सहमत न था। अतः उसका पाणिग्रहण, उसके पिता के समान, फारस से आये हुए साहसी युवक शेर अफगन के साथ, जो अकबर की सेना में नौकर था,

सम्पन्न हुआ। जब जहाँगीर के हाथ में राजसत्ता आयी तो उसने शेर अफगन की हत्या करवाने और मेहरुन्निसा पर अधिकार प्राप्त करने का यत्न किया। इसमे वह सफल हुआ तथा उसे अपने दरबार में लाया। चार वर्ष के उपरान्त उसने अपनी शादी की और उसे अपनी राजमहिषी के गौरवशाली पद पर प्रतिष्ठित किया।

मर्यादित ऐतिहासिक दृष्टिकोण में इस मनोनीत कथानक के लिए स्थान कम है। इसके अनुसार मिर्जा गियासबेग का पिता ख्वाजा मुहम्मद शरीफ खुरासान के सुलतान बेगरबेगी का मन्त्री था। वह उच्च वंश मे उत्पन्न एवं उच्च शिक्षा प्राप्त था। १५८७ ई० में उसका देहावसान हो जाने पर उसकी वंश की वह महत्ता न रही और उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। उसके पुत्र मिर्जा गियासबेग ने अपना भाग्य भारत में आजमाने की सोची तथा अपने दो पुत्र और गर्भिणी स्त्री के साथ लाहौर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उसे प्रचुर धन एव सम्पत्ति की क्षति उठानी पड़ी परन्तु कारवाँ के स्वामी मलिक मसूद ने उसे अवलम्बन प्रदान किया। कन्धार में उसकी पत्नी ने एक कन्या को जन्म दिया जिसका नाम मेहरुन्निसा रखा गया। इस मलिक मसूद नामक व्यापारी ने ही गियासबेग का परिचय अकबर से कराया जिसके फलस्वरूप वह राज-परिचर्या में लग सका। सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत होने के कारण अपने कार्य में उसने असाधारण प्रतिभा दिखायी। अतएव उसे तीन सौ का मनसबदार बनाकर १५९५ ई० में काबुल का दीवान बना दिया गया। वयस्क होने पर इसी बीच में मेहरुन्निसा का विवाह अलीकुली इस्तजलू के साथ कर दिया गया। वह फारस का निवासी था और प्रारम्भ में अब्दुर्रहीम खानखाना की अध्यक्षता मे पदस्थ था परन्तु बाद मे राजकीय सेवा में पहुँच गया था। १५९९ ई० मे जब शाहजादा सलीम को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया था उस समय अलीकुली भी उसके साथ था। एक हाथ से शेर मारने के उपलक्ष में उसे शेर अफगन की उपाधि मिली थी। सलीम के विद्रोह के कुछ ही काल के पश्चात शेर अफगन सलीम को छोड़कर अकबर से जा मिला। जहाँगीर जब सम्राट बना तो उसने शेर अफगन को क्षमा कर दिया, बंगाल प्रदेश के अन्तर्गत बर्दवान का फौजदार नियुक्त किया एवं १६०५ ई० मे उसे एक जागीर दे दी। शेर अफगन पर राजद्रोही होने का अभियोग लगाया गया और जहाँगीर ने बंगाल के तत्कालीन शासक कुतुबुद्दीनखाँ को (जो वहाँ राजा मानसिंह के बाद अगस्त १६०६ ई० में नियुक्त हुआ था) शेर अफगन को दरबार में भेजने की आज्ञा दी। शेर अफगन को राजाज्ञा की अवहेलना करने पर दण्डित करने का आदेश भी दिया गया। प्रदेशाधिपति का आदेश मिलने पर शेर अफगन दो भृत्यों सहित ९ अप्रैल, १६०७ ई० को कुतुबुद्दीन के शिविर मे उपस्थित हुआ। कुतुबुद्दीन की सेना ने उसे एकदम घेर लिया। अवसर की भयानकता को समझकर तथा अपमानपूर्ण व्यवहार को देखकर कुतुबुद्दीन से इस विचित्र व्यवहार का कारण पूछा। कुतुबुद्दीन जब आगे बढ़ रहा था, क्रोधोद्वेलित शेर अफगन ने उस पर कटार का मर्मान्तक प्रहार किया। कुतुबुद्दीन के सहकारी इस बात पर शेर अफगन पर टूट पड़े और उसके शरीर के

टुकड़े-टुकड़े कर दिये। परन्तु मरते-मरते भी शेर अफगन ने प्रदेशाधिपति के निजी व्यक्ति अम्बखाँ पर भी घातक प्रहार किया। अम्बखाँ और प्रदेशाधिपति बारह घण्टों के भीतर ही परलोकवासी हो गये।

कुतुबुद्दीन की मृत्यु से सम्राट अमर्ष से भर गया। उसने अपनी डायरी में लिखा, "शेर अफगन को नरकवास मिला और यह आशा की जाती है कि उस कुल-मुँहे दुरात्मा को यह अभिशप्त जीवन सदैव के लिए भोगना पड़े।" जहाँगीर ने शेर अफगन की विधवा एवं उसकी पुत्री लाडली बेगम को दरबार में बुला दिया। विधवा मेहरुन्निसा को उसने अकबर की विधवा सलीमा बेगम की सेविका के पद पर नियुक्त किया। मार्च १६११ ई० में नौरोज के त्यौहार के अवसर पर जहाँगीर की दृष्टि उस पर पड़ी और वह आसक्त हो गया। मई १६११ ई० मे उसने नूरजहाँ से विवाह कर लिया।

जहाँगीर और नूरजहाँ का सम्बन्ध

शेर अफगन की मृत्यु एवं इस विचित्र रमणी के साथ सम्राट के विवाह के विषय मे अनेक विवादास्पद धारणाएँ पायी जाती हैं। इन घटनाओं की आधारभूत परिस्थितियाँ तथा जहाँगीर के व्यक्तिगत दायित्व के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। डॉक्टर बेनीप्रसाद का मत है (देखिए जहाँगीर, पृष्ठ १५२) कि शाहजादा सलीम ने मेहरुन्निसा को कभी नही देखा था। अकबर ने कभी उस विवाह सम्बन्ध का निषेध भी नही किया था और न जहाँगीर का शेर अफगन के वध में ही कोई हाथ था। तदनुसार जहाँगीर ने मेहरुन्निसा को मार्च १६११ ई० में प्रथम बार देखा था। इस बात का समर्थन करने के लिए 'जहाँगीर' के इस प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ने निम्न प्रमाण उपस्थित किये हैं :

(१) तत्कालीन किसी भी फारसी ग्रन्थ में जहाँगीर के 'शाहजादा' काल में मेहरुन्निसा के साथ विवाह करने के लिए इच्छुक होने अथवा अकबर द्वारा उसका निषेध किये जाने का कहीं संकेत नही मिलता और न उसके द्वारा शेर अफगन की हत्या में भाग लेने का ही विवरण मिलता है।

(२) तत्कालीन यूरोपियन यात्री अथवा धर्म-प्रचारकों ने भी इस परम्परा-प्राप्त कथानक से सम्बन्धित कुछ उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि ये व्यक्ति शाही परिवार से सम्बन्धित किसी भी लोकापवाद का संग्रह करने मे विशेष रूप से उद्योगशील रहते थे।

(३) कोई प्रत्यक्ष कारण भी ऐसा नहीं ज्ञात पड़ता जिसके फलस्वरूप अकबर ने सलीम को मेहरुन्निसा के साथ विवाह करने की आज्ञा न दी हो क्योंकि उन दिनों इस प्रकार के विवाह प्रचुर मात्रा में प्रचलित थे।

(४) यदि अकबर ने ऐसा किया होता, तो वह शेर अफगन को शाहजादा सलीम के निजी कर्मचारियों के साथ १५९९ ई० में नियुक्त कर अविवेकपूर्ण कार्य कभी न करता और यदि सलीम शेर अफगन को अपना प्रतिस्पर्द्धी मानता तो वह

जहाँगीर को शेर अफगन की मृत्यु के लिए दोषी ठहराने के लिए तत्कालीन कोई भी स्पष्ट तथा अकाट्य प्रमाण नहीं मिलते। कोई इस बात से सहमत नहीं हो सकता कि मानसिंह को बंगाल के प्रदेशाधिपति के पद से केवल सम्राट की मनोरथ-पूर्ति के लिए ही हटाया गया। परन्तु साथ में यह भी स्पष्ट है कि शेर अफगन पर कोई निश्चित अभियोग भी न था। यदि था भी तो उसे उसके प्रति पूर्णरूपेण अनभिज्ञ रखा गया और अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए कोई अवसर भी नहीं दिया गया। उसका अन्त आकस्मिक रूप से सम्पन्न करने की योजना, योजना को सफलीभूत करने के लिए प्रयुक्त साधन, जहाँगीर की मृत शेर अफगन के प्रति उद्गारित घृणा तथा उसका नूरजहाँ के विषय में उल्लेख न करना आदि ये सब सन्देहजनक है। डॉक्टर ईश्वरीप्रसाद के शब्दों मे यदि 'प्रेमासक्ति की धारणा' सत्य है तो शेर अफगन की हत्या का उद्देश्य भी स्पष्ट ही है।

इस विषय में एक प्रश्न और विचारणीय है। यदि जहाँगीर नूरजहाँ को अपनाने के लिए इस प्रकार बुरी तरह उत्कण्ठित था तो फिर क्यों न उसने १६०७ ई० में ही, जबकि वह दरबार में लायी गयी थी, विवाह कर लिया? उसने चार साल बाद १६११ ई० तक ही क्यों विवाह करने के लिए प्रतीक्षा की? यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि नूरजहाँ दरबार से ले जाकर सम्राट की विमाता सलीमा सुल्ताना बेगम की अध्यक्षता में नियुक्त की गयी थी। यह विमाता जहाँगीर के प्रति अत्यन्त दया और सौहार्द्र का भाव रखती थी। इसी नारी ने शाहजादा सलीम और अकबर के बीच विद्रोह के समय शान्ति स्थापना हेतु मध्यस्थता की थी। सभी जानते हैं कि मुगल अन्तःपुर की रमणियाँ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने में परम कुशल होती थीं। मेहरुन्निसा का सलीमा सुल्ताना के साथ रहने का अर्थ यह है कि वह जहाँगीर के अधिकार में पूरी तरह आ गयी थी। विवाह-संस्कार का चार साल तक स्थगित कर देना जनसाधारण की सन्देह-दृष्टि से बचने के लिए अनिवार्य था। इसी कारणवश विवाह के तीन साल बाद ही नूरजहाँ का उल्लेख करने की सावधानी भी बरती गयी।

नूरजहाँ का चित्र

इस विवाह के समय जहाँगीर लगभग ४२ वर्ष का एवं नूरजहाँ ३४ वर्ष की थी। उसके पूर्व वय का सौन्दर्य और ताजगी अभी तक उसमे ज्यो की त्यों विद्यमान थी और कुछ काल पश्चात तक बनी रही। उसमें उत्कृष्ट स्वास्थ्य के साथ प्रचुर मात्रा में शारीरिक शक्ति भी थी। उसकी प्राकृतिक छवि को शृंगार एवं आभूषण-भरणों ने और भी कमनीय बना दिया था। नूरजहाँ में एक तीक्ष्ण मेधा तथा समस्याओं के रहस्य को क्षण भर में समझ सकने की विशेष क्षमता थी। वह उच्च शिक्षा प्राप्त थी तथा कविता, संगीत एवं चित्रकला में विशेष अभिरुचि रखती थी। फारसी में वह पद्य-रचना भी करती थी, उसमें एक साधारण आविष्कार-क्षमता थी जिसके फलस्वरूप नवीन प्रकार की भूषा, आभूषण तथा शृंगार के नये-नये ढंगों की वह व्यवस्था किया

करती थी। उसके द्वारा प्रचलित वेषभूषा की प्रणाली का अचूक प्रभाव औरंगजेब के समय तक बना रहा।

नूरजहाँ अत्यन्त समाजप्रिय एवं उदारहृदय स्त्री थी। निर्धनों और पण्डितों की वह मित्र थी। अनाथ कन्याओं के विवाह का व्यय उठाने तथा प्रतिदिन प्रचुर मात्रा में दान देने का उसने नियम बना रखा था। उनमें पुरुषोचित मेधा और महत्त्वाकांक्षा थी। गहनतम राजनीतिक अथवा शासन सम्बन्धी समस्याओं पर अधिकारपूर्ण जानकारी प्राप्त करना उसके लिए बायें हाथ का खेल था। अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति और परिस्थिति को अपनी सत्ता से पराभूत करने में उसे आन्तरिक आनन्द का अनुभव होता था। वह वीर और धैर्यनिष्ठ थी तथा आवेशों के वशीभूत हो अपना सन्तुलन न बिगड़ने देती थी। वास्तव में संकट की विकरालता के अनुरूप ही उसकी तन्निवारक शक्ति तथा योजनीयता भी बढ़ जाती थी।

नूरजहाँ का प्रभाव और प्रभुत्व असीम था। १६१३ ई० में वह 'बादशाह-बेगम' अथवा पट्टमहिषी बनायी गयी। इस प्रकार वह साम्राज्य के स्त्री-समाज की अग्रणी तथा शाही वंश की अधिष्ठात्री बनी। वह इतनी शक्तिप्रिय रमणी थी कि न केवल उसने सभी राजकीय मामलों में हाथ बँटाना ही आरम्भ किया वरन् सम्पूर्ण राजसत्ता भी अपने हाथों में लेने के लिए उद्योगशील होने लगी। जहाँगीर अपनी आयु तथा बुरे स्वास्थ्य के कारण शनैः-शनैः आराम और आलस्य के वशीभूत होता जा रहा था। उसे भी राजसत्ता को इस मेधावी, श्रमशील तथा परम प्रेमासक्त रमणी के हाथ सौंपना अप्रिय न लगा। कुछ काल बाद वह प्रजा को शाही झरोखे में से दर्शन भी देने लगी तथा स्पष्ट रूप से राज्य-संचालन का कार्य करने लगी। किन्हीं-किन्हीं सिक्कों पर तो उसका नाम भी खुदवाया गया। अपने विवाह के कुछ वर्षों के भीतर ही नूरजहाँ ने अपना एक दल संगठित कर लिया तथा राज्य की पूरी बागडोर अपने हाथ में ले ली। इस दल का नाम था 'नूरजहाँ-गुट' जिसमें वह स्वयं, उसके माता-पिता-भाई तथा उसकी भतीजी का पति शाहजादा खुर्रम सम्मिलित थे। नूरजहाँ की माता, अस्मत बेगम जो एक सुशिक्षित तथा सन्तुलित विचारों वाली स्त्री थी, उसकी प्रधान परामर्शदात्री थी। वह संस्कृत भावनापन्न थी तथा गुलाब के इत्र निकालने की विधि की आविष्कर्त्री मानी जाती है। इस स्त्री ने अपनी महत्त्वाकांक्षी और चंचल प्रकृति की पुत्री नूरजहाँ को संयमित बनाये रखने में बड़ा श्रेयस्कर काम किया। नूरजहाँ का पिता इतमादुद्दौला एक योग्य शासक था तथा इसका भाई आसफखाँ असाधारण क्षमता का अर्थशास्त्री एवं नीतिज्ञ था। नूरजहाँ के राजनीतिक दल के आधारस्तम्भ यही परिश्रमी एवं प्रतिभावान व्यक्ति थे। शाहजादा खुर्रम का, जो कि बाद में शाहजहाँ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, आसफखाँ की पुत्री अर्जुमन्द बानू बेगम के साथ विवाह हुआ था। अपने शासन के प्रारम्भिक काल (१६११-१६२२ ई०) में नूरजहाँ ने उसे अपना कृपापात्र बनाया।

नूरजहाँ के प्रभुत्व का प्रभाव

नूरजहाँ का अपने पति के ऊपर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। वह सम्राट जहाँगीर

उसे त्यागकर अकबर से जा मिलने के अपराध के लिए कभी भी क्षमा न करता और न इतने ऊँचे पद पर उसकी नियुक्ति ही करता।

(५) बंगाल जैसे समृद्धिशाली प्रान्त के द्रव्य-साधनों एवं साम्राज्य मे प्रभावशाली सत्ता से मानसिंह को वंचित रखने के लिए ही कुतुबुद्दीन को बंगाल का प्रदेशाधिपति नियुक्त किया था। मानसिंह के स्थान्तरण के कुछ काल पूर्व ही सम्राट की अप्रसन्नता-प्राप्त अजीज कोका के साथ भी ऐसा ही व्यवहार दिखाया गया था। कुतुबुद्दीन को बंगाल का गवर्नर इसलिए नही बनाया गया था कि वह मेहरुन्निसा को सम्राट के पास भिजवाये।

(६) नूरजहाँ जैसी श्रेष्ठात्मा और चरित्रनिष्ठा नारी यदि यह निश्चित रूप से जान पाती कि उसके पूर्व पति की हत्या में जहाँगीर का हाथ है तो कदाचित उसके साथ विवाह करने के लिए सहमत न होती।

(७) शेर अफगन की मृत्यु के पश्चात उसकी विधवा का दरबार में लाया जाना स्वाभाविक-सी बात थी क्योंकि उसके पिता और भाई वहीं पर नियुक्त थे। सलीमा बेगम की अनुचारिका के रूप में उसकी नियुक्ति भी कोई अपवादस्वरूप घटना न थी।

इसके विपरीत, डॉक्टर ईश्वरीप्रसाद का मत है कि शाहजादा काल में जहाँगीर का नूरजहाँ के प्रति आसक्त हो उसके साथ विवाह करने के लिए उत्कण्ठित होना एक सहज सामान्य-सी बात है और कदाचित शेर अफगन के वध में भी उसका प्रचुर हाथ था। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं :

(१) सम्राट की निर्दोषता के विषय में डॉक्टर बेनीप्रसाद द्वारा दिये गये तर्क नकारात्मक ही हैं। अतएव उत्तरकालीन भारतीय इतिहासज्ञों के यथार्थ स्पष्टवाद के सम्मुख वे निर्बल पड़ते हैं। ये इतिहासकार इस प्रकार के विषयों में अपने पूर्वकालीन इतिहासज्ञो से कहीं अधिक सुगमता से अपने विचार प्रस्तुत कर सकते थे।

(२) शेर अफगन के ऊपर राजद्रोह का कोई अभियोग आरोपित न था, इसका केवल सन्देह-मात्र था, और इन्ही सन्देहजनित राजद्रोही विचारों के लिए दण्डित करने के लिए कुतुबुद्दीन को आदेश मिले थे। इसी आधार पर उसका बन्दीकरण जिस आकस्मिकता से किया गया, वह स्वयं सन्देहोत्पादक है।

(३) जहाँगीर अपने जीवन की न्यूनतम घटना का विशद वर्णन करने वाले व्यक्तियों में था, परन्तु उसने जिन परिस्थितियोंवश नूरजहाँ से विवाह किया उसका संकेत तक नहीं किया है। यह सन्देहास्पद है। उसके विवाह के तीन साल पश्चात पहली बार उसने नूरजहाँ का उल्लेख किया है।

(४) नूरजहाँ को दरबार में लाकर विधवा सलीमा बेगम की अनुचरी बनाकर अन्तःपुर में रखना, जबकि उसके भाई एवं पिता दोनों राजधानी में रहते थे और सहज ही उसकी देखभाल कर सकते थे, एक विचित्र-सी बात लगती है। राजद्रोह के अभियुक्त अन्य कर्मचारियों एवं सरदारों के सम्बन्धियों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता था।

'भारत का वर्णन' एवं 'भारतीय इतिहास के कुछ अंग' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में तत्कालीन डच लेखक डी लायट ने जहाँगीर के शाहजादा काल में नूरजहाँ के प्रति आसक्त होने का उल्लेख किया है। शेर अफगन की मृत्यु के सद्योपरान्त नूरजहाँ से विवाह न कर जहाँगीर शेर अफगन की मृत्युकारक परिस्थितियों से जनसाधारण की विकल उत्कण्ठा को शान्त करना चाहता था। इससे नूरजहाँ को भी अनावश्यक उत्तेजना न हुई।

इन सब तर्कों के आधार पर डॉ० ईश्वरीप्रसाद की धारणा है कि यद्यपि सम्राट को शेर अफगन की मृत्यु के लिए निर्विवाद रूप से दोषी नहीं प्रमाणित किया जा सकता, किन्तु जिन परिस्थितियोंवश उसकी मृत्यु हुई और उसे उसके पिता द्वारा इस सम्बन्ध के न करने से रोकना आदि असीम सन्देहजनक अवश्य है।[1]

इस सम्पूर्ण कथानक में दो विचारणीय विषय हैं—एक तो जहाँगीर का शाहजादा काल में मेहरुन्निसा के साथ विवाह के लिए इच्छुक होने का विषय और दूसरा उसका शेर अफ़गन की मृत्यु में दायित्व। पहले विषय में डॉक्टर बेनीप्रसाद की धारणा का कोई स्पष्ट कारण ही नहीं दृष्टिगोचर होता जिसके परिणामस्वरूप अकबर ने सलीम और मेहरुन्निसा के विवाह के सम्बन्ध में निषेध प्रकट किया हो—समालोचना की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अबुल फजल के वर्णन से तो यह स्पष्ट है कि अकबर ने सलीम और उच्च-वंशोद्भव जैनखाँ कोका की पुत्री के विवाह के लिए पहले मना कर दिया था और केवल यह देखकर ही कि इससे शाहजादे के हृदय पर विषम प्रभाव पड़ा, अन्त में अनुमति प्रदान की थी।[2] मेहरुन्निसा और सलीम के सम्बन्ध में तो एक कारण भी निषेध करने के लिए यथार्थ था। डी लायट के अनुसार शेर अफगन के साथ मेहरुन्निसा की मँगनी पहले ही से हो चुकी थी। उपर्युक्त लेखक के मतानुसार दोनों में प्रेम था। "अकबर के जीवनकाल में ही जबकि वह कुमारी ही थी, जहाँगीर उससे प्रेम करता था; पर उसका वाग्दान तुर्की 'षीर अफगन' (शेर अफगन) के साथ पहले ही हो चुका था। उसके पिता ने उसे उसके साथ विवाह करने की अनुमति न दी, यद्यपि उसके प्रति उसकी प्रेम-भावना पूर्णरूप से कभी पुष्ट न हुई।"[3]

इस लेखक का, जिसका सम्राट के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात-भावी होने का प्रश्न ही नहीं उठता, यह उल्लेख उत्तरकालीन मुस्लिम ऐतिहासिकों के विवरण की पुष्टि करता है। कई महिलाओं के साथ विवाह हो चुकने के उपरान्त ही जैनखाँ कोका की पुत्री में आसक्त हो जाना उसके व्यक्तित्व की इसी विशेषता का स्पष्ट द्योतक है जिसके अनुसार उसका नूरजहाँ में अनुरक्त होना असम्भव नहीं लगता।

---

[1] A Short History of Muslim Rule in India, pp. 465-67

[2] Akbarnama, Vol. III, p. 1058.

[3] Description of India and Fragments of Indian History, p. 181

अजीज कोका को सेना का अध्यक्ष बनाया गया। १६१३ ई० मे जहाँगीर रणस्थल के पास रहकर शत्रु पर दबाव डालने के उद्देश्य से अजमेर पहुँचा। शाहजादा खुर्रम को मेवाड-आक्रमण की बागडोर सौंपी गयी। १६१४ ई० के आरम्भ मे पूर्ण उत्साह के साथ आक्रमण प्रारम्भ हुआ। परन्तु शीघ्र ही शाहजादा खुर्रम और अजीज कोका में मतभेद उत्पन्न हो गया। एतदर्थ अजीज कोका वापस बुला लिया गया। अब केवल खुर्रम पर आक्रमण का पूर्ण उत्तरदायित्व था। उसने सैन्य-संचालन मे अपूर्व योग्यता, रौद्र, शक्ति तथा असाधारण सौभाग्य का परिचय दिया। राणा के प्रदेश मे उसने आतक फैला दिया। उसने गाँव, नगर और उपवन जलाकर नष्ट कर डाले तथा मन्दिर तुडवा दिये। पर्वतो मे छिपे सिसौदिया-वंशजों को भूखा मारकर विवश करने के लिए उसने खाद्य-सामग्री का आयात-निर्यात बन्द कर दिया। इन भीषण सकटों से आक्रान्त होने पर भी राजपूतो ने अदम्य साहस का परिचय देते हुए शत्रु-सेना पर बार-बार हमले किये। इस निरन्तर युद्ध के फलस्वरूप दोनो दलो को गहरी क्षति उठानी पड़ी, परन्तु अकाल तथा बीमारी के प्रकोप के कारण राजपूतो की क्षति मुगलों की अपेक्षा कही अधिक रही। राणा के साथी क्रमश उसे छोड़-छोड़कर जाने लगे। सरदारो ने उसे शान्ति स्थापना का परामर्श दिया। यही मत राजकुमार कर्ण का भी था। अनन्त समृद्धि और साधनसम्पन्न मुगल-साम्राज्य से टक्कर लेते रहना इस छोटे-से साधन-क्षीण मेवाड़ के लिए नितान्त दुष्कर था। निदानस्वरूप राणा अमरसिंह ने खुर्रम के साथ सन्धिवार्ता आरम्भ की। खुर्रम ने भी राणा के राजदूत शुभकरण और हरिदास का सौहार्द्रपूर्ण सत्कार किया तथा अपना भृत्य सम्राट जहाँगीर के दरबार में अजमेर भेजा। जहाँगीर ने प्रसन्नतापूर्वक राणा की सन्धि-शर्तें स्वीकार कर लीं तथा अपनी मुद्रा से अंकित एक फरमान द्वारा शाहजादा खुर्रम को सन्धि स्थापित करने का अधिकार दे दिया।

राणा अमरसिंह शाहजादा खुर्रम से मिले और उसे एक बहुमूल्य लाल तथा अन्य वस्तुएँ तथा सात हाथी और नौ अश्व भेंट किये। खुर्रम बड़ी सहृदयता से उससे मिला तथा आलिंगन कर अपने साथ बैठाकर बहुमूल्य उपहारों द्वारा उसका सत्कार किया। राणा के जाने के पश्चात राजकुमार कर्ण खुर्रम के समक्ष आया और उसका भी उसी प्रकार स्वागत और सत्कार किया गया। इस प्रकार राणा और सम्राट के मध्य १६१५ ई० में सन्धि स्थापित हो गयी। सन्धि की शर्तें इस प्रकार थी :

(१) राणा ने सम्राट जहाँगीर की अध्यक्षता स्वीकार की।

(२) सम्राट ने राणा को चित्तौड़ समेत वह सारा प्रान्त लौटा दिया जो अकबर के समय से मुगलों के आधिपत्य मे आ गया था।

(३) चित्तौड़ के दुर्ग को सुरक्षित करना अथवा मरम्मत निषिद्ध घोषित किया गया।

(४) राणा को सम्राट के दरबार में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया गया। यह निश्चित हुआ कि राणा का युवराज अपनी सेना के साथ मुगल सम्राट की सेवा में उपस्थित हो।

(५) अन्य राजपूत सरदारों की भाँति राणा को मुगल परिवारों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य होना आवश्यक न था।

मेवाड़ और दिल्ली की राज्यसत्ताओं के इतिहास में यह सन्धि अपना विशेष स्थान रखती है। इसके पूर्व किसी सिसौदिया-वंशज ने किसी भी मुगल शासक की प्रत्यक्ष रूप से अधीनता स्वीकार न की थी। दो राज्यसत्ताओं के बीच की एक चिर-स्थायी विद्वेष-भावना का इस सन्धि ने अन्त कर दिया। जहाँगीर तथा उसके लडके खुर्रम को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होने अत्यन्त उदार शर्तों के साथ एक ऐसे युद्ध को समाप्त कर दिया जो लगभग ७५ वर्षों तक अकबर के पूर्वजो तथा सिसौदिया वंश के बीच होता रहा था। सम्राट ने मेवाड़ के प्रति उदार नीति अपना कर और उसके आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करके एक कुशल राजनीतिज्ञ होने का परिचय दिया जिसका परिणाम दोनो दलों के लिए लाभदायक हुआ। मेवाड़ के राणा तब तक मुगल-साम्राज्य के प्रति राज्यभक्त बने रहे जब तक कि औरगजेब की अविवेक-पूर्ण नीति ने राणा राजसिंह को स्पष्ट विद्रोह के लिए विवश न कर दिया।

कुछ लेखको ने राणा अमरसिंह को अपने वंशगत शत्रु के समक्ष अपनी स्वाधीनता खो बैठने का दोषी ठहराया है। परन्तु यह आरोप सर्वथा निराधार है। मेवाड़ जैसी एक छोटी-सी रियासत का विशाल, अनेक साधन-समीकरण-सम्पन्न और शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य के विरोध मे एक असम युद्ध को अनियमित रूप से बनाये रखना कदापि सम्भव न था। उसे कभी न कभी झुकना ही पड़ता। मेवाड़ की परिस्थिति मे शान्ति अपेक्षित थी और १६१५ ई० की सन्धि में उसे वह शान्ति सम्मान और गौरव सहित मिली। उसकी अन्तर्देशीय स्वतन्त्रता मे कोई अन्तर न आया तथा विजयी सत्ता ने उसकी राज्य-परिवार सम्बन्धी सभी भावनाओं का सत्कार भी किया। राजा ने केवल नाममात्र के लिए मुगल सत्ता स्वीकार की थी। इस प्रकार संकटग्रस्त देश के लिए इतनी अपेक्षित शान्ति-संग्रह के इस सुवर्ण अवसर को राणा अमरसिंह यदि उपयोग में न लाते तो यह अविवेकपूर्ण कार्य होता।

दक्षिण का युद्ध

सम्पूर्ण भारत को विजय कर एकछत्र शासन-सत्ता में लाने की अपने पिता की नीति को जहाँगीर ने भी अपनाया। इस प्रकार जहाँगीर की दक्षिण की नीति अकबर की नीति का बढ़ावा मात्र थी। अकबर ने भारत के उत्तरी और दक्षिणी प्रदेशों को एक अविभाज्य सांस्कृतिक सत्ता का भाग मानने तथा उन्हें शान्तिपूर्ण अथवा आवश्यकता पड़ने पर यौद्धिक उपचारों द्वारा अपने आधिपत्य में लाने का आदर्श प्राचीन हिन्दू सम्राटों के उदाहरण से सीखा था। उसकी मृत्यु के समय १६०५ ई० में मुगलों के साम्राज्य में पूरा खानदेश तथा अहमदनगर के कुछ भाग सम्मिलित थे। जहाँगीर के लिए अहमदनगर का शेष भाग जीतने तथा दो स्वतन्त्र रियासतों—बीजापुर एवं गोलकुण्डा—को परास्त करने का काम शेष था। १६०८ ई० में उसने सर्वश्रेष्ठ १२,००० अश्वारोहियों का नेतृत्व करते हुए खानखाना को दक्षिण विजय के

की अनुपम सावधानी से देखभाल करती थी। नूरजहाँ के प्रभाव का ही फल था कि जहाँगीर के दैनिक मद्यपान की मात्रा उत्तरोत्तर कम होती गयी और वह अति सुरापान के उन घातक परिणामों से बच सका जिसके कारण उसके दो छोटे भाइयों को जान से हाथ धोना पड़ा था। शासक तथा राज्याधिपों के लिए स्वाभाविक चिन्ता एवं अरोचकताओं को भी उसने सम्राट से दूर रखने का अधिकाधिक प्रयत्न किया। मुगल दरबार की वैभव-समृद्धि के लिए उसने सफल प्रयत्न किये तथा अपने पति की आन एवं ललित-कलाओं की अभिवृद्धि एवं ललित कलाओं की संरक्षणप्रियता का भी अनुमोदन किया। उसने अमित दान दिये तथा अनेक प्रकार से स्त्री-हितों की रक्षा तथा विकास की योजनाएँ कीं। इन मामलों में उसका जहाँगीर के ऊपर शुभ प्रभाव पड़ा तथा दरिद्र-सहायेच्छु और कला एवं साहित्य के पुजारियों को प्रोत्साहन तथा सहायता मिली।

इसके विपरीत राजनीतिक तथा शासन सम्बन्धी मामलों मे उसके प्रभाव ने अत्यन्त घातक परिणाम पैदा किये। अपने सत्ताकाल मे शक्ति-संग्रह तथा दलबन्दी के मामलो मे वह असाधारण रूप से अनुरागशील बनी रही। १६११-१२ ई० तक वह प्रसिद्ध नूरजहाँ-गुट की अधिष्ठात्री के रूप मे राजतन्त्र की एकछत्र स्वामिनी बनी रही और उन व्यक्तियों को उसने निकाल बाहर किया जो इस दल के प्रभाव और सत्ता के विरोध में थे। अपने भाई, पिता तथा अन्य सज्जनों को उसने साम्राज्य के गौरवशाली पदों पर प्रतिष्ठित करा दिया। इस काल मे उसने शाहजादा खुर्रम को अवलम्ब देकर गौरव और समृद्धि के सर्वोत्कृष्ट-स्तर पर पहुँचा दिया। शाहजादे के लिए किसी भी बात की मनाही न थी और उसका युवराज बनना एक निर्विवाद सम्भावना लगती थी। परन्तु जब इस प्रभुतामयी बेगम ने अपनी पुत्री (शेर अफगन की पुत्री) लाडली बेगम का विवाह शहरयार (जिसका उपनाम नैशुदनी अर्थात निखट्टू था) के साथ कर दिया तो अपने जामाता का पक्ष लेने लगी। उसने खुर्रम को धूल में मिला दिया तथा आत्मरक्षा हेतु विद्रोह करने के लिए विवश कर दिया। परिणामस्वरूप नूरजहाँ की राज्य-शासन में हस्तक्षेप करने की नीति ने साम्राज्य की नींव को गृह-कलह के कम्प में डगमगा दिया। बेगम की शक्तिप्रियता ने उच्च अधिकारियों को स्वामिभक्तिपूर्ण सेवाओं के प्रति उदासीन बना दिया। वह अपनी नीति से मतभेद रखने वाले योग्य और स्वामिभक्त सरदारों के प्रति सन्देह रखने लगी। जिसके परिणामस्वरूप बेगम और कर्मठ पुरुषों के बीच असहयोग की खाई गहरी हो चली। महाबतखाँ को, जिसने अपने पराक्रमपूर्ण कार्यों के बल पर अमीर-उल-उमरा की प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, विद्रोह का झण्डा खड़ा कर सम्राट को बन्दी बना लेने के लिए विवश होना पड़ा क्योंकि उसे प्रत्यक्ष जान पड़ा कि यदि बेगम को मनमानी करने दी जायगी तो उसे सकुटुम्ब मरना पड़ेगा। स्त्रियोचित मदसम्पन्न तथा अपनी राजकीय प्रभुता के नाटकीय प्रदर्शन की अभिलाषिणी नूरजहाँ के कारण दरबार और साम्राज्य मे अहितकर कार्य भी हुए। जनसाधारण को बहुमूल्य भेंट देकर प्रसन्न करने का सरल मार्ग उसने अपनाया जिससे घूस और दुरभिचार फैल गये। अनेक गुणोपेत होने पर भी वह स्त्री ही थी और स्वयं

राज्य के सभी मामलों की देखभाल भी न कर सकती थी। व्यक्ति-सम्पर्क से दूर रहने के कारण राज्य-सचालन मे अकुशलता, द्वन्द्व तथा अनैतिकता का समावेश हो गया।

मेवाड़ का युद्ध तथा शान्ति-सन्धि

पूर्ण शक्ति लगाने पर भी अकबर पूरे मेवाड पर विजय स्थापित न कर सका था। १५९७ ई० में अपनी मृत्यु के पूर्व ही राणाप्रताप ने अपने खोये हुए राज्य का अधिकांश भाग फिर से हथिया लिया था। उसके पुत्र अमरसिंह में यद्यपि उसकी-सी अजेय और दुर्दम आत्मनिष्ठा एवं स्वाधीनता के प्रति अजर प्रेम न था तथापि वह एक वीर सैनिक अवश्य था जिसने मुगल आक्रमण-विरोधी अपने पूर्व-पुरुषों की नीति को जारी रखा। अकबर ने अपने राज्यकाल के पिछले दिनों में मेवाड विजय के लिए कई अनुष्ठान व्यवस्थित किये परन्तु उसके सेनापतियों की अकर्मण्यता तथा सिसोदिया-वंशजों के शक्तिशाली विरोध के कारण उसकी मनोकामना सफल न हो सकी।

अपने पिता की साम्राज्यवादी नीति के अनुगामी जहाँगीर ने सम्पूर्ण देश पर एकछत्र राज्य स्थापित करने की आकाक्षा से अपने द्वितीय पुत्र परवेज को १६०५ ई० मे २०,००० अश्वारोहियो की अध्यक्षता में राणा अमरसिंह को पराजित करने के लिए भेजा। आसफखाँ, जफरबेग जो कि पाँच हजारी मनसबदार तथा मन्त्री था, शाहजादे का परामर्शदाता बनाकर भेजा गया। दूसरे गणमान्य राज्याधिकारी भी सहायता के लिए नियुक्त किये गये। राणा अमरसिंह का चाचा सागर भी; जिसने अपने भतीजे का पक्ष छोडकर मुगल दरबार में वेतनभोगी होकर रहना आरम्भ कर दिया था, शाहजादे के साथ भेजा गया। अमरसिंह ने बड़ी वीरतापूर्वक अपने प्रदेश की रक्षा की। देबार के दर्रे पर घमासान युद्ध हुआ जो अनिर्णीत रहा। दोनों पक्षों ने अपने-अपने को विजयी घोषित किया। सम्राट के अनुयायियों ने निर्दय भाव से देवार के पार्श्ववर्ती इलाके का विध्वंस किया परन्तु खुसरो के विद्रोह के फलस्वरूप वे आगे न बढ़ सके। रणस्थल छोड़ने के पूर्व मुगलों ने सागर को चित्तौड़ का राणा नियुक्त कर दिया जिससे राजपूतों में पक्ष-भेद हो जाय।

दो वर्ष पश्चात १६०८ ई० जहाँगीर ने महाबतखाँ के नेतृत्व में १२,००० अश्वारोही, ५०० अहदी, २,००० बन्दूकची, ६० हाथी तथा छोटी तोपें राणा को परास्त करने के लिए भेजीं। महाबतखाँ ने बड़ा पराक्रम दिखाया तथा राणा के देश पर आतंक फैलाकर उसे पर्वतमालाओं में आश्रय लेने के लिए विवश कर दिया। परन्तु वनाच्छादित मेवाड़ की नग्न श्रेणियों और उपत्यकाओं ने उसके अतिक्रमण को रोका। १६०९ ई० में वह वापस बुला लिया गया और अब्दुल्लाखाँ को इस आक्रमण का अध्यक्ष बनाकर भेजा गया। अब्दुल्लाखाँ ने मेवाड़ की पहाड़ियों पर आक्रमण किये परन्तु राणा को बन्दी बनाने में असफल रहा। एक मुठभेड़ में उसने राजकुमार कर्ण को परास्त कर दिया परन्तु स्वयं उसने भी मुठभेड़ की उत्तरतम-महत्त्वस्थली रणपुरा में राजपूतों के हाथ बुरी तरह मुँह की खायी। तदनन्तर राजा बसु को उस स्थान पर नियुक्त किया गया परन्तु वह भी राणा पर प्रभुत्व न जमा सका। उसके बाद मिर्जा

अम्बर ने अधीनता स्वीकार कर ली। इसी समय दक्षिणी सैनिको ने अहमदनगर का घेरा भी उठा लिया। शाहजहाँ दक्षिणी आक्रमण का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना चाहता था, उधर नूरजहाँ का रुख भी बदलता जा रहा था। फलस्वरूप १६२१ ई० मे उसने शान्ति स्थापित की। दक्षिणियो ने मुगलो के आधिपत्य से छीने हुए सारे प्रान्त लौटा दिये तथा उनके पार्श्ववर्ती लगभग १४ लाख की राजस्व की आमदनी के क्षेत्र भी मुगल-साम्राज्य को दे दिये। अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा की रियासतों ने सम्राट को क्रमश. बारह, अठारह और बीस लाख रुपये भेंट किये।

इस घटना से शाहजहाँ की और गौरव-वृद्धि हुई। अगस्त १६२१ ई० मे उसने अपने पिता की अस्वस्थता का समाचार सुना। इसके थोडे ही दिनों पश्चात उसने अपने भाई शाहजादा खुसरो का गला घोटकर अन्त कर देने के लिए रजा नामक व्यक्ति को नियुक्त किया तथा स्वंय सन्देह से बचने के लिए मृगया खेलने चला गया। कुछ दिनो बाद उसने अपने पिता जहाँगीर को समाचार भिजवाया कि खुसरो की मृत्यु उदरशूल के कारण हो गयी। समाचार से जहाँगीर को बहुत दुख हुआ और पूरे देश ने इस सुहृदय और मेधावी तथा लोकप्रिय शाहजादे की असामयिक मृत्यु पर शोक मनाया। परन्तु सम्राट ने अपराधी को दण्डित करने के लिए कोई व्यवस्था न की।

कन्धार की पराजय (१६२२ ई०)

कन्धार का महत्त्वपूर्ण दुर्ग भारत तथा फारस सरीखे प्रतिस्पर्द्धी देशों के बीच जिस प्रकार कलह का कारण बना हुआ था, पहले ही बताया जा चुका है। यद्यपि दोनों राज्यों का परस्पर शान्तिपूर्ण व्यवहार था, परन्तु एक-दूसरे के सन्देह को बचाते हुए वे अपना उद्देश्य पूरा करने की घात में बने रहते थे। फारस के शाह की नीति जहाँगीर से चिकनी-चुपड़ी और प्रशंसापूर्ण बात करते हुए उसकी तनिक-सी असावधानी से पूरा लाभ उठाकर कन्धार पर अधिकार जमा लेने की थी १६०५ ई० में फारसी लोगों ने कन्धार को हथिया लेने का यत्न किया था, परन्तु वे सफल नहीं हुए। यह सत्य पूर्णरूपेण ध्यान में रखते हुए कि केवल बल-प्रयोग से कार्य नहीं चल सकता, शाह अब्बास ने १६११ ई० के आरम्भ में आगरा के लिए मूल्यवान भेंट सहित एक दूत अकबर की मृत्यु पर संवेदना तथा जहाँगीर के राज्यारोहण के उपलक्ष में बधाई प्रकट करने हेतु भेजा। इसके बाद दूसरे दूत भी भेजे गये जिनका उद्देश्य भी जहाँगीर को असावधान तथा निश्चिन्त बनाये रखना तथा फारस की सेना को सुअवसर प्रदान करना मात्र था। दूसरा दूत १६१५ ई० में, तीसरा १६१६ ई० में तथा चौथा १६२० ई० में आया। १६२१ ई० के अन्त में शाह ने जिसे नूरजहाँ गुट के क्षीण होने तथा नूरजहाँ और शाहजहाँ के मध्य बढ़ते हुए भेदभाव का पता लग गया था, कन्धार विजय के लिए एक बड़ी सेना भेजी। कन्धार का घेरा १६२२ ई० के आरम्भ में प्रारम्भ हो गया और साथ ही एक जन-प्रवाद भी फैल गया कि फारस की दूसरी सेना थट्टा पर आक्रमण करने के लिए आ रही है। जहाँगीर इस समय अपनी बीमारी के उपरान्त काश्मीर में स्वास्थ्य-लाभ कर रहा था। उसने शाहजहाँ को, जो इस समय दक्षिण से

था, कन्धार की रक्षा करने के लिए आदेश दिया, परन्तु शाहजादा पहले से ही अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करने की सोच रहा था, अतः उसने राजाज्ञा की अवहेलना की। ४५ दिन घिरे रहने के उपरान्त दुर्ग फारसी सत्ता के हाथ लगा। शाह अब्बास ने एक पत्र देकर एक दूत जहाँगीर के पास भेजा जिसमे कन्धार को फारस देश का प्रान्त बताते हुए इस आक्रमण को न्यायसंगत बताया गया। इस पत्र में दोनों साम्राज्यो के मध्य मैत्री-सम्बन्ध बनाये रखने की आशा भी प्रकट की गयी थी। जहाँगीर ने शाह पर विश्वासघात तथा कमीनेपन का आरोप लगाया तथा शाहजादा परवेज को दुर्ग को पुनः प्राप्त करने का आदेश दिया। परन्तु शाहजहाँ के विद्रोह के कारण इसमें सफलता न मिल सकी।

शाहजहाँ का विद्रोह

नूरजहाँ का गुट जो कि १६१२ ई० से शासन की एकछत्र बागडोर सँभाले हुए था, १६२१ ई० के अन्त मे क्षीण होने लगा। मद्यपान तथा अफीम के प्रति व्यसन एवं शरीर के दुर्व्यवहार के फलस्वरूप जहाँगीर ने अपना शरीर जीर्ण बना लिया था। उसका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरने लगा। इससे नूरजहाँ को भय हुआ। उसका समस्त जीवन महत्त्वाकाक्षा की सिद्धि तथा प्रभुत्व के वातावरण में बीता था। अब उसे लगने लगा कि उसके पति की मृत्यु के पश्चात न केवल उसकी शासन-सत्ता वरन् प्रमुख मामलो में उसका हाथ भी न रह सकेगा। वह शाहजहाँ की योग्यता, शक्ति, महत्त्वाकाक्षा तथा गर्व से भलीभाँति परिचित थी, जिनके कारण राजसत्ता में अपने गौरवशाली पद पर बने रहने के विषय में भूलकर भी सोचना उसके लिए व्यर्थ था। यह पूर्णरूपेण समझकर कि साम्राज्य में दो स्वेच्छाचारी व्यक्ति अर्थात वह स्वयं और शाहजहाँ एक साथ नहीं रहने पायेंगे, उसने जहाँगीर के कनिष्ठतम जीवित पुत्र शहरयार को, जो उसके हाथ की कठपुतली बन सकता था, अपनाना प्रारम्भ किया। राजनीतिक मतभेदों की विषमता इन शक्तिशाली व्यक्तियों के धार्मिक मतान्तरों के कारण और भी भीषण हो गयी। नूरजहाँ उदार शिया सम्प्रदाय की थी तथा दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णु रहना जानती थी। परन्तु शाहजादा उत्तरोत्तर सुन्नी पन्थ का अनुयायी होता जा रहा था। उसे फारसी निवासियों का प्रभुत्व तथा शिया धर्म का दरबार में बोलबाला अच्छा न लगता था। शहरयार को राज्यारूढ़ करने की योजना सफल बनाने के लिए नूरजहाँ ने शेर अफगन द्वारा उससे उत्पन्न कन्या लाड़ली बेगम की मँगनी शहरयार के साथ दिसम्बर १६२० ई० में कर दी तथा विवाह अप्रैल १६२१ ई० में आगरे में सम्पन्न हुआ। शहरयार, ८,००० जात और ४,००० सवार के पद पर प्रतिष्ठित किया गया।

दुर्भाग्यवश नूरजहाँ की माता, जो उसके ऊपर सन्तुलनकारी प्रभाव बनाये रखती थी, १६२१ ई० में चल बसी तथा उसका पिता इतमादुद्दौला जनवरी १६२२ ई० में। इन दोनों की मृत्यु से नूरजहाँ-गुट भंग हो गया और नूरजहाँ और शाहजहाँ के मध्य भेदभाव भी बढ़ गये।

लिए रवाना किया। अत्यन्त पराक्रम के पश्चात भी खानखाना विशेष सफलता न प्राप्त कर सका। उसका विरोध अबीसीनिया मे उत्पन्न हुए अहमदनगर के प्रधानमन्त्री एव सैन्य तथा युद्धकाल के प्रकाण्ड पण्डित मलिक अम्बर ने किया। इस योग्य व्यक्ति ने अहमदनगर राज्य को विवेकपूर्ण शासन तथा उदार राजस्व नीति द्वारा सुसगठित बनाकर प्रजा-प्रिय राजसत्ता की नीव डाली थी। उसने निजामशाही सना मे प्रचुर मात्रा मे मराठो को भरती करने मे बुद्धिमत्ता दिखायी। इन मराठो को उसने गुरिल्ला नीति से युद्ध-प्रणाली मे सिद्धहस्त बनने के लिए उत्साहित भी किया। इस प्रणाली मे ये लोग सहज प्रवीण थे तथा यह प्रणाली उन लोगो की प्रकृति तथा देशस्थिति के अनुकूल भी थी। इस प्रकार की अदम्य व्यवस्था द्वारा निजामशाही राज्य ने मुगलो के दाँत खट्टे कर दिये और खानखाना मुगल सेना के नैतिक बल को कायम न रख सका। अतएव सेना मे एकरसता तथा शक्ति बनाये रखने के लिए जहाँगीर ने शाहजादा परवेज को सेना का (नाममात्र के लिए) अधिष्ठाता बनाया तथा आसफखाँ की संरक्षता मे उसे दक्षिण के लिए भेज दिया। शाहजादा खानदेश और बरार का प्रदेशाधिपति बनाकर १६१० ई० से प्रारम्भ मे ही भेज दिया गया था परन्तु वह भी खानखाना से किसी भी प्रकार अधिक सफलता प्राप्त न कर सका यद्यपि वह दक्षिण में कई साल रहा। एक के बाद दूसरे योग्य मुगल सरदार तथा खानजहाँ लोदी, अब्दुल्लाखाँ आदि भेजे गये परन्तु विजय-सुन्दरी ने किसी के गले मे भी जयमाला न डाली। मलिक अम्बर के मराठे लड़ाके कभी सामने जमकर न लड़ते थे। वे मुगल सेना के इर्द-गिर्द लगे रहते तथा पथ-भ्रम कराकर आक्रमण के अवसरों पर ले जाते, उसकी सामग्री की व्यवस्था अस्तव्यस्त कर देते तथा अवसर पाकर टूट पड़ते। इस प्रकार की रणनीति के मुगल लोग अभ्यस्त न थे। वे ऊब गये तथा उनका नैतिक ह्रास होने लगा। सेनापति एक-दूसरे के विरुद्ध दोषारोपण करने लगे तथा अपने अध्यक्ष की व्यवस्था को विफल बनाने लगे।

१६११ ई० मे मुगलों ने अहमदनगर को घेर लेने का विशाल प्रयत्न किया। अब्दुल्लाखाँ ने गुजरात की ओर से तथा खानजहाँ लोदी, मानसिंह और अमीर-उल-उमरा ने बरार और खानदेश की ओर से एक ही समय आक्रमण करने की व्यवस्था की। परन्तु यह योजना असफल रही क्योंकि बिना अपने संगियों की प्रतीक्षा किये हुए अब्दुल्लाखाँ अपने गन्तव्य की ओर बहुत शीघ्रता से आगे बढ़ गया। मलिक अम्बर के गुरिल्ला सैनिक उसके ऊपर टूट पड़े तथा उसे गुजरात की ओर धकेल दिया जिसके फलस्वरूप मुगल-पक्ष को महान क्षति उठानी पड़ी। जहाँगीर इस पर क्रुद्ध हुआ। उसने अब्दुल्लाखाँ को भला-बुरा कहा तथा खानखाना को दक्षिणं सैन्य-व्यवस्था का अध्यक्ष बनाकर भेजा। खानखाना ने आक्रमण जारी रखा तथा १६१२ ई० मे दक्षिणियों को परास्त किया परन्तु मुगल सेना में पूर्ववत फूट पड़ी रही जिससे उन लोगों को कोई विशेष सफलता न मिल सकी।

मलिक अम्बर के विरुद्ध मुगलों की चिर-असफलता के कलंक का टीका साम्राज्य

के माथे से हटाने के लिए नूरजहाँ के परामर्शानुसार जहाँगीर ने परवेज को प्रयाग बुलाकर शाहजादा खुर्रम को दक्षिण का अध्यक्ष बनाकर भेजने की ठानी। १६१६ ई० के प्रारम्भ मे उसे शाह सुल्तान का पद देकर अहमदनगर के लिए रवाना किया। सम्राट स्वयं रणस्थली के पास रहकर अपना प्रभाव डालने के लिए अपने पूरे दरबार के साथ माँडू नामक स्थान पर आ गया। शाहजादा खुर्रम मार्च १६१७ ई० मे बुरहानपुर पहुँच गया तथा तत्काल मलिक अम्बर से लिखा-पढ़ी आरम्भ कर दी। इस परम शक्ति से भयग्रस्त हो मलिक अम्बर ने सारी शर्तें स्वीकार कर लीं और बाला-घाट का पूरा प्रान्त जो उसने कुछ काल पूर्व ही मुगलो से छीन लिया था, लौटा दिया। अहमदनगर का किला भी मुगलो की अध्यक्षता मे दे दिया गया। सोलह लाख रुपये के मूल्य की सम्पत्ति का उपहार लिये हुए बादशाह आदिलशाह स्वय शाहजादा खुर्रम की अभ्यर्थना में उपस्थित हुआ। जहाँगीर ने सन्धि की शर्तें स्वीकार की और १६१७ ई० मे सन्धि हो गयी। मुगल दरबार में इस शान्ति-स्थापना का एक महाकार्य के रूप मे स्वागत हुआ तथा शाहजादा खुर्रम की सफलता पर उसके प्रति असीम सम्मान प्रदर्शित किया गया। नूरजहाँ ने इस अवसर पर बड़े साज और वैभव के साथ उत्सव मनाये, मानो शाहजादे ने एक महान विजय प्राप्त की हो। जहाँगीर की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। उसने शाहजादा खुर्रम को परम गौरवशाली 'शाहजहाँ' नामक उपाधि से पुरस्कृत किया। सत्य वास्तव मे यह था कि शाहजादा खुर्रम ने अब्दुल्लाखाँ की आंशिक विजय का पूरा-पूरा लाभ उठाकार अपनी उससे अधिक शक्ति पर केवल शत्रु के मन पर आतंक जमा दिया और यह अल्पस्थायी सन्धि स्थापित कर ली। मलिक अम्बर की वास्तव में कोई पराजय न हुई थी और वह दो साल के भीतर ही पुनः अपना सिर उठाने लगा।

१६१७ ई० की सन्धि की अवहेलना मलिक अम्बर ने १६२० ई० में की; जब उसने बीजापुर एवं गोलकुण्डा के साथ एक दल का निर्माण कर खानखाना पर आक्रमण कर उसे अहमदनगर के दुर्ग में घेर लिया। शाही दल वालों की सेना आमने-सामने के युद्ध में कुशल रहते हुए भी गुरिल्ला युद्ध-व्यवस्था के समक्ष नितान्त असहाय पड़ती थी। निदानस्वरूप उन्हें भागकर बुरहानपुर में शरण लेनी पड़ी। दक्षिणी सैनिकों ने माँडू तक आक्रमण किये। खानखाना की बार-बार प्रार्थनाओं के फलस्वरूप सम्राट ने शाहजहाँ को दक्षिण आकर उद्दण्ड मलिक अम्बर को दण्डित करने के लिए भेजा। परन्तु पंजाब में काँगड़ा युद्ध में व्यस्त होने के कारण शाहजहाँ कुछ समय तक दक्षिण की ओर न जा सका। इस प्रार्थना के स्वीकृत हो जाने पर वह अपने पिता से लाहौर में बिदा लेकर दक्षिण की ओर बढ़ा। उज्जैन पहुँचकर उसने ५,००० अश्वारोहियों की एक टुकड़ी अब्दुलहसैन तथा दूसरी टुकडी बैरामखाँ के अधीन माँडू के समीप से मराठों को खदेड़ देने के लिए भेजी। बड़ी आसानी से यह काम हो गया तथा मराठे अहमदनगर राज्य की नयी राजधानी खिड़की तक खदेड़ दिये गये। शाहजहाँ अब अहमदनगर की ओर अग्रसर हुआ जहाँ मुगल सेना अब भी घिरी हुई थी। जब मुगल पाटन पहुँचे तो मलिक

को नर्वदा पार करके दक्षिण की ओर अग्रसर न होने दे। उसके पीछे हटने के परिणाम-स्वरूप उच्चपदस्थ शाही सैनिक कर्मचारियों और गुजरात की सेना में जिसका वह शासक था, असन्तोष फैल गया और गुजरात प्रान्त उसके हाथ से निकल गया। शाहजहाँ अपने कुटुम्ब को असीरगढ मे सुरक्षित छोड़कर बुरहानपुर पहुँचा, जो दक्षिण मे मुगल-साम्राज्य की राजधानी था। उसने अपने पुराने शत्रु मलिक अम्बर से सहायता के लिए मार्मिक प्रार्थना की, पर मलिक अम्बर ने इस ओर कोई ध्यान नही दिया क्योंकि वह एक अनाश्रित राजकुमार के कारण शक्तिशाली मुगल सम्राट के प्रकोप का भाजन नहीं बनना चाहता था। इसी प्रकार की विनय उसने बीजापुर के नरेश से की पर वहाँ भी उसे निराश होना पडा। विवश होकर उसने महाबतखाँ से सन्धि-वार्ता प्रारम्भ की, पर यहाँ भी आशा ने उसे सहारा न दिया। उसका राजदूत अब्दुर्रहीम खानखाना, जिसको राजकुमार ने आत्मविनय और कुरान की शपथ के द्वारा अपनी ओर रहने के लिए वचनबद्ध कर रखा था, महावतखाँ से जा मिला, जिसने भगोड़े शाहजहाँ को बन्दी करने के लिए नर्वदा पार की। सम्राट ने महावतखाँ के पास यह आदेश भेजा कि या तो वह राजकुमार को बन्दी करके दरबार मे प्रस्तुत करे अथवा उसको देश से निर्वासित कर दे। अब शाहजहाँ को ताप्ती पार करके अपने पुराने शत्रु गोलकुण्डा के सुल्तान के प्रदेश में जाने के अतिरिक्त और अन्य मार्ग न दिखायी दिया। वह अक्टूबर मे वहाँ पहुँच गया और शाही सैनिक शेष वर्षाऋतु बिताने के लिए बुरहानपुर आ गये। जहाँगीर ने अजमेर से डेरा उखाड़कर नवम्बर १६२३ ई० मे काश्मीर के लिए कूच किया।

तैलंगाना में भ्रमण करता हुआ शाहजहाँ मछलीपट्टम पहुँचा और कुछ दिवस वहाँ निवास करने के पश्चात नवम्बर में वहाँ से चल दिया। तदुपरान्त उसने उत्तर-पूरब की दिशा में उड़ीसा में पदार्पण किया जो उस समय मुगल-साम्राज्य का एक प्रान्त था। उस प्रान्त का अकुशल और कायर शासक अहमद बेगखाँ प्रान्त की रक्षा हेतु कोई समुचित प्रबन्ध न कर सका और भागकर पहले कटक पहुँचा, तत्पश्चात बर्दवान और अन्त में ढाका। बर्दवान के उत्कट फौजदार सलीह ने शाहजहाँ का विरोध करने का दृढ संकल्प किया, पर विजय-सुन्दरी शाहजहाँ का कण्ठहार हुई और सलीह को उसके सामने घुटने टेकने पड़े। बर्दवान का अधिप होकर शाहजहाँ ने राजमहल की ओर पग उठाया, जो उस समय अकबर नगर के नाम से विख्यात था। उसने राजमहल पर घेरा डाल दिया और घमासान युद्ध के उपरान्त, जिसमे बगाल का शासक इब्राहीमखाँ मृत्यु-पर्यन्त वीरतापूर्वक युद्ध करता हुआ स्वर्गधाम को सिधारा, उसको पराजित कर सका। उड़ीसा का शासक अहमदबेगखाँ, ढाका में उसके अधीन हो गया। इस प्रकार उडीसा और बंगाल के प्रान्त शाहजहाँ की मुट्ठी में आ गये।

इन दोनों पूरबी प्रान्तों को अपना आधार-स्तम्भ मानकर शाहजहाँ ने बिहार, अवध, प्रयाग और आगरा को भी अपने पैरो-तले रौंदने की योजना बनायी, जिससे वह अपने क्रुद्ध पिता से उपकारक शर्तें स्वीकार करवाने की स्थिति में आ जाय। उसके

युद्ध-कुशल सेनाधिप, मेवाड के राजकुमार भीम ने पटना पहुँचकर रक्तहीन विजय प्राप्त की। वहाँ का कायर शासक मुखलिसखाँ राजपूत शूरवीर के आगमन का समाचार पाते ही अपनी प्राण-रक्षा हेतु नगर का भार परित्यक्त करके भाग गया। समस्त बिहार, जिसमे रोहतास का अविनश्वर दुर्ग सम्मिलित था, शाहजहाँ के हाथ में आ गया। एतद्रूपेण उसे जौनपुर भी मिल गया और शाहजहाँ ने बनारस के समीप गंगा को पार करके कन्तीत में अपना डेरा डाला। उसने प्रयाग को आवृत करने की आज्ञा दी। सम्राट प्रयाग और अवध दोनो से हाथ धो बैठता यदि मार्च १६२४ ई० में परवेज और महाबतखाँ बुरहानपुर से घिरी हुई दुर्गरक्षक फौज के उद्धार के लिए समय पर शीघ्र ही न पहुँच जाते। उनके आगमन के फलस्वरूप अब्दुल्लाखाँ को वहाँ का घेरा उठाकर झूसी जाना पड़ा। महाबतखाँ ने बलपूर्वक नौकाएँ एकत्रित करके गंगा को प्रयाग से उत्तर-पश्चिम मे लगभग चालीस कोस की दूरी पर पार किया। उसने विद्रोही राजकुमार की खाद्य तथा अन्य सामग्रियों को अवरोधित कर दिया। अब शाहजहाँ के सामने खुल्लमखुल्ला युद्ध करने या दक्षिण मे भाग जाने के अतिरिक्त कोई अन्य चारा नहीं था, अतः उसे बिना तैयारी के ही युद्ध करना पड़ा। मेवाड़ के राजकुमार भीम का प्रमत्त धावा राज्य-सेना के श्रेष्ठतम सैनिकों के विरुद्ध सफल न हो सका और अन्तिम श्वास तक वह युद्धस्थल में संघर्ष करता हुआ इस संसार से विदा ले गया। शाहजहाँ पूर्णतः परास्त हुआ पर भाग्यवश उसके प्राणों की रक्षा हुई और वह वहाँ से भाग गया। वह भागकर रोहतास पहुँचा और मुमताजमहल की सन्तानोत्पत्ति के कारण यात्रा में असमर्थ पाकर वहीं छोड़कर उसने बंगाल में शरण ली।

बंगाल से शाहजहाँ ने फिर एक बार उड़ीसा, तैलंगाना और गोलकुण्डा होते हुए दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और अहमदनगर की भूमि पर पैर रखा। उसके अनुपस्थित-काल में अहमदनगर के सर्वशक्तिसम्पन्न मन्त्री मलिक अम्बर और बीजापुर के सुल्तान के मध्य एक कटुतम बैर-भावना का प्रादुर्भाव हो चुका था। अक्टूबर १६२३ ई० में बीजापुर तथा अहमदनगर ने महाबतखाँ से सहायता माँगी, पर उस चतुर सेनापति ने मना कर दिया और यह निश्चय किया कि वह शाहजहाँ के विद्रोह को दबाने के लिए बीजापुर को सहायता देगा। तब शाहजहाँ १६२३ ई० के अन्त में दक्षिण से भगाकर उड़ीसा पहुँचा। ज्योंही महाबतखाँ ने शाहजहाँ को देश निर्वासन देने के अभिप्राय से उत्तर दिशा को प्रयाण किया, मलिक अम्बर ने सन्तोष की साँस ली और गोलकुण्डा से सन्धि-वार्ता करके बीजापुर की सेना को बीदर में पराजित किया। बीदर में लूट-खसोट करने के उपरान्त उसने बीजापुर मे आदिलशाह को घेर लिया। विपदग्रस्त सुल्तान ने मुगल सेना में प्रस्तुत अपनी सेना की टुकड़ी को वापस बुला लिया और जिन मुगल साम्राज्यवादियों के कन्धों पर दक्षिण का भार था उनसे शीघ्रातिशीघ्र सहायता देने की अनुनय की। दो शत्रु दलों के मध्य में घिर जाने की शंका से भयभीत मलिक अम्बर ने अपनी सेना का एक भाग बीजापुर दुर्ग की दीवारों को घेरे रहने के निमित्त छोड़कर अग्रमार्ग ग्रहण किया और भटीवी में मुल्ला मुहम्मद

इसी समय फारसी सेना ने कन्धार के दुर्ग पर आक्रमण किया था, जिससे त्राण करने के लिए शाहजहाँ को आज्ञा मिली थी। परन्तु शाहजादा नूरजहाँ के आचरण से इतना शंकित था कि उसने अपनी प्रतिष्ठित गद्दी दक्षिण को छोडकर जाना उचित न समझा। उसे भय था कि उतरोत्तर क्षीण-स्वास्थ्य सम्राट की मृत्यु के पश्चात कही नूरजहाँ उसके सहज अधिकार को कुचलकर शहरयार को सम्राट न बना दे। उसने सम्राट से प्रार्थना की कि उसे सेना के ऊपर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शासन का अधिकार एवं पंजाब का प्रदेशाधिपत्य तथा उसके कुटुम्ब के निवास के लिए रणथम्भौर का दुर्ग प्रदान कर दिया जाय। यदि ये शर्तें स्वीकार की गयीं तो वर्षाकाल के उपरान्त वह कन्धार विजय के लिए प्रस्थान करेगा। नूरजहाँ ने, जिसने जहाँगीर को एक प्रकार के बौद्धिक दासत्व में जकड़ रखा था, उसे विश्वास दिलाकर यह समझा दिया कि शाहजहाँ के ये विचार विद्रोह की भावना से अनुप्राणित हैं। इस पर सम्राट ने क्रोधित होकर शाहजहाँ को आदेश भेजा कि यदि वह वर्षाकाल के उपरान्त कन्धार विजय के लिए जाना चाहता है तो अपने अधीनस्थ समस्त शाही अधिकारीजनो तथा सेना को फौरन दिल्ली वापस भेज दे। इसी समय एक असौख्यकर घटना हो गयी जिसने दोनों दलों के भेदभाव को और भी बढ़ा दिया। शाहजहाँ ने कुछ काल पूर्व धौलपुर के परगने को जागीर-रूप में मिलने के लिए प्रार्थना की थी। सम्राट से अवश्य स्वीकृति की आशा में उसने स्वीकृति-वचन आने के पूर्व ही दरियाखाँ को उसकी बागडोर सँभालने के लिए भेज दिया। नूरजहाँ ने धौलपुर के उस परगने को शहरयार के लिए जागीर के रूप में पहले ही माँग लिया था एवं एक फौजदार की नियुक्ति कर दी थी। अतएव उस परगने पर अधिकार जमाने में दरियाखाँ और शहरयार के फौजदार शरीफ-उल-मलिक में मुठभेड़ हो गयी। शरीफ-उल-मलिक की आँख में चोट आयी तथा युद्ध में बहुत-से व्यक्ति मारे भी गये। नूरजहाँ ने इस घटना का पूरा-पूरा लाभ उठाया। जहाँगीर ने शाहजहाँ को डाँटा-फटकारा तथा उसे दक्षिण की पूरी सेना को दरबार में तुरन्त भेजने का आदेश भेजा।

इस प्रकार शाहजहाँ से मनमुटाव होने के पश्चात जहाँगीर ने शहरयार की पदवृद्धि करके उसे १२,००० जात और ८,००० सवार के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और कन्धार आक्रमण का उसे मुख्य सेनाध्यक्ष नियुक्त किया। इससे कुछ समय उपरान्त ही पंजाब में स्थित शाहजहाँ की कुछ जागीरें शहरयार के नाम में परिवर्तित कर दी गयी। अन्ततोगत्वा शाहजहाँ द्वारा अपनी स्थिति स्पष्ट करने और क्षमायाचना पर भी उत्तर में स्थित उसकी शेष जागीरें, जिनमें हिसार सम्मिलित था और जो राज्य-उत्तराधिकारी की निर्दिष्ट सम्पत्ति समझा जाता था, शहरयार को सौंप दिये गये। नूरजहाँ अपने भाई आसफखाँ से इसलिये शंकित रहती थी क्योंकि उसे सन्देह था कि वह (आसफखाँ) अपने दामाद शाहजहाँ का पक्ष लेता है। बेगम ने महाबतखाँ को काबुल से बुलाया, जो अपने समय का सर्वश्रेष्ठ सैनिक था और जिसकी दरबार ने अब तक अवहेलना की थी और उसको ६,००० जात और ५,००० सवार के उच्च पद पर

आसीन कर दिया। महाबतखाँ के प्रतिद्वन्द्वी आसफखाँ को राजकोष लाने के लिए आगरा भेज दिया गया।

अभी कठिनता से इस दशा में पग उठाये ही गये थे कि शत्रु द्वारा कन्धार पर आधिपत्य जमा लेने का समाचार प्राप्त हुआ। जहाँगीर ने फारस के शाह के ऊपर विश्वासघात का दोषारोपण किया और उस महत्त्वशाली दुर्ग को वापस लेने की तैयारी की आज्ञा दी। इसी समय शाहजहाँ को खुलेआम विद्रोह करने का समाचार सुना गया और यह भी समाचार मिला कि वह आगरे पर अचानक छापा मारना चाहता है। शाहजहाँ को विश्वास था कि उसका पिता नूरजहाँ का गुलाम बन गया है अतः उसे अपने पिता से न्याय की कोई आशा नहीं रही थी। पर नूरजहाँ के गुप्तचर बड़ी सलग्नता से अपने कार्य मे लगे हुए थे। उसने विद्रोही की योजनाओं को नष्ट करने तथा उसे मात देने के लिए कोई कसर न उठा रखी। शाहजादा परवेज को अपनी सम्पूर्ण सेना सहित बिहार से वापस बुला लिया गया और आमेर, मेवाड़, कोटा, बूँदी, ओरछा तथा अन्य राज्यों के राजभक्त अधिपतियों का सम्राट को सहायता देने के लिए आमन्त्रित किया गया। मिर्जा अजीज कोका से समझौता कर लिया गया और महाबतखाँ को राज्य सेना का सेनानायक बना दिया गया। सम्राट और साम्राज्ञी ने फरवरी १६२३ ई० में दिल्ली होते हुए माँडू के लिए प्रस्थान किया जिससे वे रणस्थली के निकट बचाव के प्रबन्ध का ठीक-ठीक निरीक्षण कर सकें। एक चतुर राजदूत को विद्रोही राजकुमार के हृदय की थाह लेने के लिए भेजा गया जिसका उद्देश्य यह भी था कि सम्राट को युद्ध सम्बन्धी प्रबन्ध के लिए और अधिक समय मिल जाय। सम्राट मई १६२३ ई० में अजमेर पहुँच गया।

शाहजहाँ माँडू से, जो उस समय उसका मुख्य पड़ाव था, दक्षिणी सेना के कुछ स्वामिभक्तों के साथ फतेहपुरसीकरी की ओर बढ़ा। नगरस्वामी द्वारा बुद्धिमत्तापूर्वक द्वार बन्द कर दिये जाने से नगर पर प्रभुत्व पाने की योजना में असफल होकर राजकुमार ने आगरे पर धावा बोला। पर अप्रैल, १६२३ ई० में बिलोचपुरा में शाही सैनिकों से मुठभेड़ होने के फलस्वरूप उसकी हार हुई। यहाँ उसे अपने अति विश्वासपात्र सुन्दर की मृत्यु के कारण, जो रायरायान विक्रमाजीत की उपाधि से अलंकृत था और देश के सर्वश्रेष्ठ सेनानायकों में से था, बड़ी क्षति पहुँची। शाही सैनिकों ने एक मास से अधिक विश्राम करके परवेज की नाममात्र की अध्यक्षता मे प्रस्थान किया। परवेज बिहार से वापस आ गया था और ४०,००० जात और ३०,००० सवार के अद्वितीय पद पर सुशोभित कर दिया गया था, जिससे वह शाहजहाँ से अधिक सत्तायुक्त समझा जाय। परवेज ने विद्रोहियो का पीछा किया, जो इस समय तक भाग कर माँडू पहुँच चुके थे और वहाँ के अभेद्य दुर्ग में सुरक्षित हो गये थे। महाबतखाँ के आगमन पर जो राज्य सेना का वास्तविक सेनापति था, शाहजहाँ के अनेक साथी उसे छोड़कर महाबतखाँ से आ मिले और शाहजहाँ को असीरगढ भागने के लिए बाध्य होना पड़ा। वह बैरामबेग को सेना की एक टुकड़ी का आधिपत्य दे गया जिससे वह महाबतखाँ

और लश्करखाँ की अध्यक्षता में घेरा डाले पड़ी हुई सहायक सेना पर छापा मारा, जहाँ उसने मुल्ला मुहम्मद का वध कर डाला और लश्करखाँ को भगा दिया। तदुपरान्त उसने मुगलों की दक्षिण प्रान्त की राजधानी अहमदनगर का घेरा डाला और साथ ही बीजापुर के घेरे को यथारूप रखा। इसी घटना-क्रम के अवसर पर शाहजहाँ, जो उत्तर में मुँह की खा चुका था, दक्षिण को लौटा और मलिक अम्बर ने, जो मुगलों का आजीवन शत्रु था, सहृदयता से उसका स्वागत किया और उसने शाहजहाँ को अपने पिता जहाँगीर के विरोधी संघ मे अपने साथ सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत कर दिया। अम्बर की विनय पर शाहजहाँ ने बुरहानपुर दुर्ग पर घेरा डाला पर उस पर प्रभुत्व प्राप्त करने मे सफलीभूत न हुआ। इसी मध्य मे परवेज और महाबतखाँ का शाहजहाँ का पीछा करने के लिए दक्षिण में पुनः आगमन हुआ। शाहजहाँ ने बाध्य होकर बुरहानपुर के घेरे का अन्त कर दिया और बालाघाट में रोहनगढ़ के स्थान में जाकर अपनी प्राणरक्षा की। यहाँ राजकुमार रोग-पीड़ित हो गया और अब्दुल्लाखाँ ने जो इस समय उसका अकेला स्वामिभक्त स्मरणीय भृत्य था, संन्यास ले लिया। अब अपने पिता की चरण-रज को शिरोधार्य करने के अतिरिक्त शाहजहाँ के लिए अन्य कोई मार्ग न था।

मृत्यु और परित्याग के कारण अपने अधिकांश सहयोगियो की सहायता से वंचित, शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से ग्रसित, अजेय चमू और महाबतखाँ की सर्वत्र सफल अध्यक्षता से व्यथित निराश शाहजहाँ के समक्ष मौत मुँह बाये खड़ी थी। इस परिस्थिति ने उसे अपने भावी जीवन का पथ-निर्णय करने के लिए प्रेरित किया। उसकी तर्कशक्ति ने उसके इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि वह बिना कोई शर्त रखे अधीनता स्वीकार करे और उसने सम्राट से क्षमा-भिक्षा की याचना की। इस समय नूरजहाँ महाबतखाँ के व्यवहार और उसकी प्रगतिशील शक्ति और सम्मान के कारण बहुत शंकित थी। अतएव वह शाहजहाँ के सन्धि-प्रस्ताव को ठुकराना न चाहती थी। मार्च १६२६ ई० मे उसने शाहजहाँ के पास यह आदेश प्रेरित किया कि वह रोहतासगढ़ और असीरगढ़ के दुर्गों पर से अपना आधिपत्य तुरन्त हटा ले और अपने पुत्रों, दारा और औरंगजेब को, जो उस समय क्रमशः दस और आठ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके थे, राजदरबार में भेज दे। शाहजहाँ ने द्विविधारहित हो आज्ञा को शिरोधार्य किया। उसे क्षमा प्रदान की गयी और वह बालाघाट का शासक नियुक्त कर दिया गया।

इस तीन वर्षीय विद्रोह की, जिसने साम्राज्य को एक गृहयुद्ध के कारण संक्षुब्ध कर दिया और जो असंख्य मनुष्यों और अतुलित धन के नाश का कारण बना, अन्त्येष्टि-क्रिया अप्रैल १६२६ ई० में हुई।

महाबतखाँ का राज्य-शासन में नियम-विरुद्ध विप्लव (मार्च १६२६ ई०)

शाहजहाँ से सन्धि-स्थापना के सन्निहित काल में ही उद्धत बेगम ने महाबतखाँ को, जो साम्राज्य का सर्वोत्तम सैनिक और राजनीतिज्ञ था, आज्ञानुकूलता में लाने का

प्रण किया। शाहजहाँ के विद्रोहावसर पर महाबतखाँ की मान-मर्यादा में समुचित वृद्धि हो गयी थी और क्योंकि विप्लव के दमन में उसकी अनिवार्यता आवश्यक थी, साम्राज्ञी ने उसके साथ उस समय निबटारा करना मतिमान् व्यक्ति का कर्तव्य नहीं समझा था। नूरजहाँ की सहिष्णुता से यह परे की बात थी कि वह महाबतखाँ जैसे दुर्जेय व्यक्ति का अस्तित्व स्थिर रहने दे। महाबतखाँ अपनी योग्यता और कार्यपटुता के फलस्वरूप किसी का अधीनस्थ होना सहन नहीं कर सकता था। वह स्वयं महत्त्वाकांक्षी था और अपने पोषक तथा सम्राट जहाँगीर के अतिरिक्त अन्य किसी से आदेश नहीं प्राप्त करना चाहता था। नूरजहाँ द्वारा राज्य की बागडोर अपने हाथ मे लेने के परिणामस्वरूप वह ईर्ष्यालु हो गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि सम्राट से विवाह होने के पूर्व वह एक सामान्य रमणी थी और तदुपरान्त वह सफलतापूर्वक दरबार को अपनी मुट्ठी मे रखने की योजनाएँ बनाती रहती थी और कभी भी साम्राज्य के राजभक्त और विश्वासपात्र कुलीन पुरुषों की ओर ध्यान नहीं दिया था। शहरयार जिसको वह राजसिंहासन पर आसीन करने की इच्छुक थी, एक नितान्त निकम्मा पुरुष था और केवल इसलिए राजपद के उपयुक्त समझा गया था क्योंकि वह अपनी उत्कट आकांक्षी श्वश्रू के हाथ की कठपुतली हो सकता था। इसके विपरीत, महाबतखाँ ने राजसिंहासन पर परवेज के अधिकार का समर्थन किया, जो शहरयार से प्रत्येक दशा में सुयोग्य था और नूरजहाँ का स्वामित्व स्वीकार करने को तत्पर न था। बेगम महाबतखाँ की योग्यता से भलीभाँति परिचित थी और यह भी जानती थी कि महाबतखाँ राज्य-वंश का अनन्य भक्त है और उससे घृणा करता है। इन कारणों के फलस्वरूप दोनों शक्तिमान व्यक्तियों को शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना असम्भव हो गया और नूरजहाँ ने शीघ्र ही उस महान सेनापति के विध्वंस का सकल्प कर लिया। ज्योंही शाहजहाँ शर्तरहित आधिपत्य स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो गया, उसने महाबतखाँ को स्थान-परिवर्तन की अनुमति देकर बगाल भेज दिया और उसके स्थान पर खानजहाँ लोदी को राजकुमार परवेज का परामर्शदाता नियुक्त कर दिया। राजकुमार ने संकोचमग्न हो खानजहाँ को अपना परामर्शदाता स्वीकार किया और राजाज्ञानुसार बुरहानपुर में निवास करने लगा। महाबतखाँ ने भी बंगाल को प्रस्थान करने का निश्चय किया।

अपने अग्रज आसफखाँ के सन्धि-सहयोग से उत्साहित, जो महाबतखाँ से समान स्पर्द्धा रखता था, बेगम ने महाबतखाँ पर राजद्रोह और अवज्ञा के अपराध आरोपित किये। उसके नाम एक शाही फरमान जारी किया गया जिसमें उसको दरबार मे उन हाथियों को भेजने का आदेश दिया गया जो उसने शाहजहाँ के विद्रोहावसर पर बिहार और बंगाल में प्राप्त किये थे, और उसको यह भी निर्देश दिया गया कि वह उस धन का भी ठीक-ठीक हिसाब दे जो उसने दोनों प्रान्तों के स्वत्वहरण हुए जागीरदारों से प्राप्त किया है। यदि महाबतखाँ आदेश-पालन में असफल होता है तो उसे तुरन्त ही दरबार में उपस्थित किया जाय। महाबतखाँ नूरजहाँ की चाल को समझ गया और

उसने अनुभव किया कि नूरजहाँ ने केवल तिरस्कृत करने और धूल में मिलाने का उपाय किया है। अतएव उसने सम्राट के तत्कालीन निवास-स्थान पंजाब जाकर स्वयं अपने मामले का सम्राट के समक्ष प्रतिनिधित्व करने का निर्णय किया। साथ ही उसने निश्चय किया कि यदि उसको न्याय न मिला तो वह राज्य-शासन में नियम-विरुद्ध विप्लव करके सम्राट को अपने वश में कर लेगा और इस प्रकार राज्य में नूरजहाँ को शक्ति से वंचित कर देगा। मार्च १६२६ ई० में वह अपने चार या पाँच हजार तपे-तपाये राजपूत रणवीरों सहित झेलम के समीप शाही डेरे के सन्निकट पहुँच गया। जहाँगीर काश्मीर से लौटकर काबुल को जा रहा था। दूसरे दिन प्रातः वह झेलम नदी पार करने वाला था। एक बलशाली राजपूत चतुरंगिनी समेत महाबतखाँ का आगमन-संवाद सुनकर शाही डेरे मे भय का साम्राज्य छा गया। सेना के भंगीकरण का निर्देश देने के बजाय सम्राट ने महाबतखाँ को यथास्थिति में रहने की आज्ञा प्रेषित की। बेगम ने भी महाबतखाँ को और अधिक तिरस्कृत करने के अभिप्राय से उससे राज्यादेश के बिना अपनी पुत्री का विवाह एक कुलीन सरदार के पुत्र बरखुरदार से कर देने का कारण पूछा। बरखुरदार को राजदरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया गया, जनता के समक्ष उसे असम्मानित किया गया, उसके हाथ उसकी गर्दन से बाँध दिये गये और उसे बन्दी बना दिया गया। महाबतखाँ द्वारा उसे दिया गया स्त्री-धन उससे छीन लिया गया। ऐसे कृत्य से उन्मादयुक्त हो महाबतखाँ ने सम्राट को बन्दी कर लेने का निश्चय किया और साम्राज्ञी की शक्ति की जड़ों को सहसा खोद फेंकने का बीड़ा उठाया।

दूसरे दिन प्रातः ही महाबतखाँ अपने वीर राजपूतों का नेतृत्व करता हुआ अकस्मात शाही डेरों के निकट दिखायी दिया, पर इससे पूर्व वह लगभग २०,००० अश्वारोहियों को झेलम के पुल पर इस निमित्त भेज चुका था कि वे किसी प्राणी को नदी पार न करने दें। शाही सेना का अधिकांश भाग नदी के पार पहुँच चुका था पर सम्राट और साम्राज्ञी मुट्ठी-भर योद्धाओं सहित अभी नदी के इसी ओर थे और उसे पार करने की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब महाबतखाँ शाही डेरे के राजद्वार पर पहुँचा तो राजसेना इतनी आतंकित हो गयी कि उसने महाबतखाँ का मार्ग निषेध करने की किंचित-मात्र भी चेष्टा न की। महाबतखाँ ने शाही डेरे के द्वार पर पहुँचकर अपने अश्व से अवरोहण किया। महाबतखाँ के इस निर्भीक कृत्य का संवाद सुन जहाँगीर बाहर आया और शिविका में बैठ गया। महाबतखाँ आगे बढ़ाकर सम्राट के सम्मुख नतमस्तक हुआ और बोला कि वह सम्राट की छत्रछाया मे शरण लेने और जिस रूप में वे चाहें दण्डित होने के लिए उपस्थित हुआ है। उसने कहा कि वह अपने शत्रु आसफखाँ के हाथों मौत के घाट नहीं उतरना चाहता जो उसको ध्वंस करने का उपाय सोचने में लीन था। जब उसने सम्राट को इस प्रकार वार्तालाप-निमग्न कर रखा था, उसके राजपूतों ने राज-शिविर को आवृत्त कर लिया। जहाँगीर ने क्रोधावेश में महाबतखाँ का वध करने की इच्छा से अपना हाथ अनेक बार अपनी खड्ग-मूठ पर

प्रेरित हो स्वयं को महाबतखाँ के हाथ में सौंप दिया और उसे जहाँगीर से मिलने की अनुमति मिल गयी। अब महाबतखाँ का स्थान सर्वोपरि था। उसने शासन-सत्ता की बागडोर अपने हाथ में ली, अपने विश्वसनीय अधिकारियो को महत्त्वपूर्ण स्थान पर नियुक्त कर दिया और बेगम के सपक्षियों का मर्दन करने के लिए प्रयत्नशील हुआ। उसने आसफखाँ के विरुद्ध एक सेना अटक भेजी और आसफखाँ ने उसकी दासता स्वीकार की। पंजाब मे दो मास निवास करने के उपरान्त सम्राट ने बाह्य रूप से महाबतखाँ की सत्ता से सन्तोष प्रकट करते हुए काबुल की ओर पदार्पण किया। पर क्योंकि सेनापति की सत्ता की आधारशिला शक्ति थी अतएव राजसेवको मे मन-मुटाव हो गया। इसके अतिरिक्त महाबतखाँ विशेषत: एक सैनिक और चतुर मनुष्य था, न कि एक राजनीतिज्ञ और प्रबन्धकर्ता। उसके कृपापात्रो ने कार्य को सुव्यवस्थित विधि से न किया और उसकी नीति से जनता मे असन्तोष की लहर दौड़ गयी। काबुल मे उसकी राजपूत सेना और अहदी नामक शाही सेना के एक भाग मे पारस्परिक संघर्ष हो गया। कुछ राजपूतो ने अपने अश्वो को राज-आखेट के स्थान पर चरने के लिए छोड दिया, जिसका अहदियों और रक्षको ने विरोध किया। इस द्वन्द्व में एक अहदी मर गया। महाबतखाँ के इस वचन से कि वह मामले की खोजबीन करेगा और अपराधियो को दण्डित करेगा, अहदियों को सान्त्वना न हुई और उन्होंने राजपूतों पर आक्रमण कर दिया जिसके फलस्वरूप आठ या नौ सौ राजपूत मारे गये। महाबतखाँ ने अपनी लोकप्रियता खो दी। मुसलमान जनता, जो राजपूत-सत्ता के प्रति घृणित भावना रखती थी, विद्रोह करने के लिए तुल गयी। यद्यपि महाबतखाँ ने सहज ही इन विद्रोहियों को दबा दिया पर इससे उसकी मान-मर्यादा को गहरा आघात पहुँचा। राजसेवकों का वैमनस्य इतने वेग से बढा कि उसकी सशस्त्र शक्ति का ह्रास होने लगा। इस सुयोग से कार्यकुशल नूरजहाँ ने सेनापति के विपक्ष में षड्यन्त्र करने का पूरा-पूरा लाभ उठाया। जहाँगीर की सिद्ध नीति-कुशलता ने महाबतखाँ को इस बात का पूर्ण आश्वासन दिला दिया कि वह उसकी सत्ता में परम सुखी था और इसलिए वह सम्राट की ओर से कुछ निश्चिन्त-सा हो गया। काबुल से लौटते समय नूरजहाँ ने सम्राट की स्वतन्त्रता की व्यवस्था की। यह प्रबन्ध किया गया कि जब राज-शिविर रोहतास के समीप हो, जहाँगीर शाही सेना का निरीक्षण करे। उसने महाबतखाँ के पास यह सन्देश भिजवा दिया कि वह अपनी सेना को शाही सेना से कुछ दूर रखे जिससे दोनों सेनाओं मे संघर्ष की सम्भावना न हो। सेनानायक ने जो सत्ता को अपने हाथो से निकलते हुआ देख रहा था, आदेश का अक्षरश: पालन किया। सेना-निरीक्षण के बहाने जहाँगीर ने शाही सेना के स्वामित्व का पद अपने हाथ में ले लिया और महाबतखाँ ने अपनी सत्ता का अन्त समझकर लाहौर का रास्ता पकड़ा। इस प्रकार उसका 'किंचित कालीन शासन' समाप्त हो गया।

लाहौर जाते समय महाबतखाँ, आसफखाँ, एक या दो श्रेष्ठ कुलीन सरदारों और राजकुमार दानियाल के पुत्रों को शरीर-बन्धकों के रूप में अपने साथ लेता गया।

पर उसे उन्हें वापस भेजने के लिए बाध्य किया गया। नूरजहाँ ने, जिसने अपनी अपहरण की हुई सत्ता पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया था, महाबतखाँ के गिरते हुए शक्ति-भवन को पूर्णतया विनष्ट करने का निश्चय किया और राज्य को जो सेनाधिपति की अकुशलता के कारण ह्रास-पथ पर जा रहा था, पुनः संगठित करने की योजना की। सम्राट की मुक्ति के कुछ ही दिन उपरान्त रोहतास में दरबार हुआ और राज्य के उच्च पदो का वितरण हुआ। महाबतखाँ के पास अलंघनीय आज्ञा भेजी गयी कि वह दानियाल के पुत्रों, आसफखाँ और अन्य कुलीन सरदारों को मुक्त कर दे। महाबतखाँ ने ऐसा ही किया क्योंकि अब उसमें अभिमाननी रानी का विरोध करने का बल न था। उसने सम्राट की यह आज्ञा भी नतमस्तक हो स्वीकार की कि वह थट्टा जाकर शाहजहाँ को परास्त करे क्योंकि शाहजहाँ महाबतखाँ के नियम-विरुद्ध विप्लव का समाचार सुनकर दक्षिण को अलविदा दे चुका था।

दक्षिण के युद्ध का अन्त

जब १६२६ ई० के आरम्भ मे नूरजहाँ ने महाबतखाँ को दक्षिण से वापस बुलाया था, खानजहाँ लोदी को उस प्रान्त में उसका स्थानापन्न नियुक्त किया गया था। निर्भयता और शौर्य के गुणो से विभूषित होने पर भी उसमें दूरदर्शिता और राजनीतिक चातुर्य की इतनी न्यून मात्रा थी कि वह अहमदनगर के नृप-निर्माता मलिक अम्बर से प्रतिद्वन्द्विता करने में सफलीभूत न हो सका था। वह अबीसीनियावासी मन्त्री के विरोध में सिद्धि-सम्पन्न न हो सका और दक्षिण भारत में मुगल-सम्मान के ह्रास का कारण बना। पर सौभाग्य से मई १६२६ ई० में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गयी और तत्पश्चात रण-व[illegible] उठे। मलिक अम्बर के स्थान पर हमीदखाँ प्रतिष्ठित हुआ। वह भी एक सुयोग्य सेनाधिपति और राजनीतिज्ञ था। चरित्र-भ्रष्ट खानजहाँ ने हमीदखाँ से अतुलित सम्पत्ति उत्कोच रूप में लेकर उससे शान्ति करके बालघाट के अतिरिक्त अहमदनगर तक का प्रदेश उसके प्रभुत्व में रहने दिया। जब राज-मान की दक्षिण में इस प्रकार हानि हो रही थी, जहाँगीर ने मृत्युलोक से अन्तिम विदा ली। उसकी दक्षिणी-नीति उसकी अव्यवस्था, भ्रष्टाचार और मुगल कर्मचारियों के पारस्परिक मतभेद के फलस्वरूप सार्थक न हुई।

जहाँगीर का व्यक्तित्व और चरित्र

जहाँगीर महाबतखाँ के चंगुल से तो स्वतन्त्रता पा चुका था, पर उसके स्वास्थ्य की क्रमिक क्षीणता होती जा रही थी और प्रायः अस्वस्थ होने के कारण मार्च १६२७ ई० में शक्ति और स्वास्थ्य-सचय के विचार से वह काश्मीर को रवाना हुआ। पर कश्मीर भी उसे स्वास्थ्य-दान न दे सका। हतोत्साहित सम्राट लाहौर को लौटा पर अभी उसकी लाहौर-यात्रा की समाप्ति भी नहीं हुई थी कि पुनः रोगग्रसित हो गया और ७ नवम्बर, १६२७ ई० को प्रातःकाल भीमवार के निकट उसकी मृत्यु हो गयी। उस समय उसकी आयु ५८ वर्ष की थी। लाहौर के समीप शाहदरे के एक रमणीय उपवन में उसकी समाधि बनवाकर उसे चिरनिन्द्रा की अवस्था में छोड़ दिया

गया। उसकी विधवा रानी ने कुछ समय उपरान्त उसके चैत्य-स्थान पर एक मनोहर स्मारक का निर्माण करवा दिया।

जहाँगीर के व्यक्तित्व और चरित्र के सम्बन्ध में विरोधी सम्मतियाँ हैं। कुछ अर्वाचीन यूरोपीय लेखको के मतानुसार जहाँगीर चंचल प्रकृति का प्रजापीड़क शासक था, जिसकी सुरा, सुन्दरी एव सौन्दर्य मे अनुरक्तता थी और जो मानव और नृप के रूप मे सर्वथा असफल था। इसके विपरीत कुछ आधुनिक भारतीय विद्वानो के मतानुसार जहाँगीर एक न्यायप्रिय और कुलीन शासक था जो न्याय और अपक्षपात-युक्त शासन करने का सतत् प्रयास करता था। पर सत्य इन विरोधी विचारो के मध्य-मार्ग का अनुसरण करता है। मानव-रूप मे जहाँगीर सौजन्यता और सुशीलता की प्रतिमूर्ति था। अपनी माता और कुटुम्ब के बड़े सदस्यो के प्रति उसका व्यवहार सदा सत्कारपूर्ण था और यद्यपि उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया और वर्षों उस पताका को फहराता रहा, पर उसने यह कार्य कुवृत्तियो मे फँसकर और कुछ स्वार्थी परामर्शदाताओं की मन्त्रणा पर किया था। अन्त में उसने अपनी मूर्खता को समझा और राजसिंहासन पर आसीन होने के पश्चात उसने अपना दोष-संशोधन किया। वह अपने पिता की पुण्यस्मृति के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता रहा और विचार एव वर्णन से इसके प्रति आदर का भाव प्रकट करता था। सिकन्दरे मे निर्मित अकबर के स्मारक को वह पैदल जाता और समाधि-रज को शिरोधार्य करके अपने को प्रतिष्ठित करता। वह प्रेमपरायण पति था और बहुपत्नीवान होते हुए भी पत्नी-प्रणय का मूल्यांकन कर सकता था। जयपुर की राजकुमारी के निधन पर, जो उसकी सर्वप्रथम जीवनार्धांगिनि थी, चार दिन अन्न और जल नही छुआ था। नूरजहाँ के प्रति उसका स्नेह पूर्णता और अधीनस्थता पर आधारित था। यह बात उसकी प्रज्ञा-परिधि से परे थी कि वह कोई महत्त्वशाली कार्य बिना उसके परामर्श के सम्पादित करे। वह अनुरागी मित्र था और राजपद प्राप्त होने के उपरान्त उसने उन सबको स्मृति-प्रकोष्ठ में स्थान दिया और आदरणीय पदों पर प्रतिष्ठित किया, जिन्होंने उसके राजकुमार-काल में उसकी सेवाएँ की थीं। वह अपनी प्रजा के कल्याण के लिए सदैव चिन्तित रहता था और उसकी आर्थिक एवं नैतिक अभिवृद्धि के लिए सदा संलग्न रहता था।

जहाँगीर उच्च शिक्षा-प्राप्त और सुसंस्कृत राजकुमार था। उसका फारसी और तुर्की भाषाओं पर असामान्य अधिकार था और हिन्दी, अरबी तथा कुछ अन्य भाषाओं से भी परिचित था। उसकी फारसी भाषा का ज्ञान अति विस्तृत था और उसकी फारसी लेखन-शैली सादा और सुन्दर थी। उसका प्रधान लेख 'तुजुके जहाँगीरी' उसकी रचना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। साहित्य, कविता, भवन-निर्माण-कला, संगीत, चित्रकला और अन्य ललित-कलाओं में विशेष अभिरुचि रखते हुए भी उसके चरित्र की विलक्षणता यह थी कि उसे वनस्पति-विज्ञान, जन्तु-विज्ञान और औषधियों ऐसे गम्भीर विषयों में भी वास्तविक और असाधारण अनुराग था। उसका

आत्मचरित्र उपरोक्त विषयों के असामान्य ज्ञान, उनकी ज्ञानपिपासा और असीम विलक्षणता का जीवित प्रतीक है। वह प्रकृति-सौन्दर्य, पुष्पों, पत्र-आच्छादित स्तवकों, निर्झरों, सरिताओं, पर्वत-पथों और पर्वतमालाओ का अनन्य उपासक था। देश मे और विशेषतः काश्मीर मे भ्रमण करते समय जिन पुष्पों और फलो के चित्र उसके नेत्रों द्वारा मानसपटल पर अंकित हो जाते, उनका उसने अति मनोहारी वर्णन किया है। उसका पक्षियों और पशुओं के सजीव चित्रण मे उतना ही तथ्य है जितना कि एक जीव-विज्ञान के विशेषज्ञ मे। उसके आश्रय में मुगल-चित्रकला अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी। जहाँगीर को चित्रकला का समालोचक होने का गर्व था और वह यह बात अति अभिमानपूर्वक कहता था कि वह विभिन्न चित्रो के निर्माताओ को सहज ही बता सकता है और यदि एक छविपट पर अनेक चितेरो की तूलिकाएँ प्रयोग हुई हैं तो वह बता सकता है कि कौनसा भाग किस चितेरे की तूलिका से चित्रित हुआ है। जहाँगीर ने अपने आत्मचरित्र में लिखा है, "अपने विषय मे मै कह सकता हूँ कि चित्र-कला मे मेरी आसक्ति और विवेचना इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि जब कोई चित्र मेरे समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, चाहे मृत चित्रकार का हो अथवा जीवित का, मैं देखकर तुरन्त बता सकता हूँ कि वह किसकी तूलिका का फल है। और यदि एक चित्रपट पर अनेक व्यक्तियों की छवियाँ हैं, जो विभिन्न चित्रकारों द्वारा अंकित की गयी हैं, तो मैं बता सकता हूँ कि प्रमुख मुख अमुक चितेरे ने बनाया है। यदि एक मुख के नेत्र और भृकुटियाँ किसी अन्य ने रँगी हैं तो मै यह बता सकता हूँ कि मुख, नेत्र और भृकुटियों के निर्माता कौन हैं।"[४] उसके राजदरबार के चित्रकारों ने मानव-छवि अंकित करने में और मौलिक की अनुरूपता चित्रित करने में उच्च योग्यता प्राप्त की थी। सर टॉमस रो ने एक अंग्रेज युवती का चित्र सम्राट को भेंट किया और जब सम्राट की आज्ञानुसार राजदरबार के चित्रकार ने उसकी अनुरूपता सम्राट के सम्मुख उपस्थित की, तो टॉमस रो नकल और असल में भेद न जान सका। इसके विपरीत, जहाँगीर को मौलिक और अमौलिक चित्रों में भेद जानने में कभी कोई कष्ट न हुआ।

जहाँगीर को भवन-निर्माण-कला में बड़ी अभिरुचि थी, यद्यपि यह निस्संकोच स्वीकार करना पड़ेगा कि कला के क्षेत्र मे उसका योगदान चित्रकारी से कहीं न्यूनतम था। जहाँगीर द्वारा निर्मित स्मरणीय भवनों में अकबर का सिकन्दरे का स्मारक सर्वश्रेष्ठ है। उसने इसके चित्र में परिवर्तन करके इसके आंशिक खण्ड का पुनः निर्माण करवाया था। आगरे के पार्श्ववर्ती स्थान में इतमादउद्दौला का मकबरा नूर-जहाँ की अध्यक्षता मे बनवाया गया जो देश में अपने ढंग की सर्वोत्कृष्ट इमारतो में से है। इसका बाह्य भाग पच्चीकारी के काम से और आन्तरिक भाग चित्रकारी से अलंकृत है। नूरजहाँ की देखभाल में एक मस्जिद की रचना लाहौर में की गयी जो दिल्ली में शाहजहाँ द्वारा निर्मित मस्जिद से प्रतिद्वन्द्विता करती है।

---

४ जहाँगीर की आत्मकथा, भाग २, पृष्ठ २०

चित्रकारी के अतिरिक्त जहाँगीर को सुन्दर उपवनो के लगवाने में अतिशय आह्लाद का आभास होता था। काश्मीर और लाहौर के कुछ उपवन उसकी योजना के अनुसार ही लगवाये गये। उसने देश के प्रचलित सिक्को को सुन्दर लेखो मे सुसज्जित कराकर एक आकर्षक रूप दिया। उसने अपने चित्र से अकित रम्य सिक्के, मुद्राएं एव तमगे बनवाये।

वेश-भूषा और आहार सम्बन्धी विवेचन-विवेक जहाँगीर के चरित्र का प्रधान लक्षण था। उसने अपने शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि के लिए नवीन प्रकार की वेश-भूषा और वस्त्रो की व्यवस्था की और अन्य जनो को उनके प्रयोग से वचित कर दिया। फलो के सुस्वाद पर वह मुग्ध था। आम का वह सबसे अधिक प्रशसक था और काबुल की स्वादिष्ट चेरियाँ (शाहदान) उसे बहुत पसन्द थी।

जहाँगीर के चरित्र के विशेष दोष थे भोग विलास और मद्यपान का अत्यधिक अभ्यस्त होना। किसी का अधिकृत हो जाना उसका सहज सरल स्वभाव था। उसके पूर्व-चापल्य ने आयुवृद्धि के साथ उसे निरुपयोग बना दिया और वह अपना अधिकतम कार्य दूसरों के ऊपर छोड़ने लगा। राजकौमार्यावस्था मे वह अपने उदार सहचरों से प्रभावित रहा और सम्राट-काल मे वह प्रथम तो नूरजहाँ मण्डली और तत्पश्चात स्वय आकांक्षी रानी से प्रभावित रहा। अपनी आत्मकथा मे उसने यह निस्संकोच स्वीकार किया है कि १८ वर्ष की आयु से वह मद्यपान के दुर्व्यसन में फँस गया और क्रमशः नौ वर्ष के अन्दर उसने मद्यपान की मात्रा बढाकर ऐसे बीस प्यालो की कर दी जिसमें द्विगुणित शक्ति की खिची हुई हाला होती थी। इनमे से चौदह प्यालों का तो वह दिन में पान कर लेता था और शेष का रात्रि में। मद्यपान का वह इतना अभ्यस्त हो गया कि मद्य की मादकता का उस पर कोई प्रभाव न पडता और उसने उसको तीव्र मदिरा का स्थान दिया। पर वह बृहस्पतिवार की सायं समय मद्यपान न करता था और न बृहस्पतिवार और रविवार को माँसाहार करता था क्योकि बृहस्पतिवार उसके सिंहासनारूढ होने का दिन था और रविवार उसके पिता का जन्म-दिवस।

जहाँगीर के धार्मिक विश्वासो की व्याख्या करना सहज नही है। सर टॉमस ने उस पर नास्तिकता को दोषारोपण किया है। कुछ तत्कालीन लेखको ने उसे सब धर्मों के उत्तमोत्तम सिद्धान्तों का ग्रहण करने वाला, कुछ ने उसे कट्टर मुसलमान और कुछ ने उसे ईसाई बताया है। वास्तविकता यह थी कि वह पूर्णतया किसी धर्म को मानने वाला न था। वह एक उदार मुसलमान था और उसका धार्मिक विश्वास एवं क्रियाएँ सामान्यतः दूसरे धार्मिक सिद्धान्तो के प्रति सहिष्णुता की आधार-शिला पर अवलम्बित थीं। तत्कालीन लेखों और उसकी आत्मकथा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँगीर ईश्वर में विश्वास करता था, हिन्दू और मुसलमान संन्यासियों का आदर करता था और उनकी संगति में एक विशेष उल्लास का अनुभव करता था। उसके विचारों में उदारता का पुट होने के कारण उसे धर्मोन्मत्त मुसलमानों के प्रति सहानुभूति न थी और न वह आधुनिक हिन्दू धर्म का

सपक्षी था क्योंकि इसमें मूर्तिपूजा और अवतारो का दोष सम्मिश्रित था। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की उत्पत्ति और सूली पर चढने मे उसे विश्वास न था। वह इस्लाम-धर्मानुकूल दिन मे पाँच नमाजों और रमजान-उपवासो मे भी अधिक विश्वास न करता था। यद्यपि वह अपने पिता के समान मनुष्य और परमात्मा के सम्बन्ध तथा मृत्यु के पश्चात जीवन की गम्भीर समस्याओ मे लवलीन न रहता था; पर ईश्वर की एकता मे विश्वास अवश्य करता था।

अपने पिता की अध्यक्षता में सैन्य-संचालन, युद्ध-कौशल और सैनिक-कार्यों में प्रवीणता प्राप्त करने के फलस्वरूप वह युवावस्था के प्रागण में प्रवेश करते समय ही एक सुयोग्य सैनिक हो गया था। उसे मृगया से रुचि थी और बन्दूक, तीर और धनुष से अचक लक्ष्य लेने मे सिद्धहस्त था। उसको रण-विद्या और राजनीतिज्ञता में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करवा दिया गया था और उसने दोनों में विलक्षण अनुभव प्राप्त किया था, पर उसने सैन्य-संचालन के अदम्य उत्साह और लगन कभी न दिखाये। सत्य तो यह है कि व्यक्तिगत पराक्रम और अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग मे निपुणता के अतिरिक्त उसमें एक सेनानायक और सेनाधिपति की महत्त्वाकाक्षा और विवेक की भारी कमी थी। अपने राजकुमार और सम्राट-काल में उसने युद्ध में कभी महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त नहीं की। मेवाड़ और काँगड़ा का दमन करके उसने गर्व से मस्तक उठाया क्योंकि इन स्थानों को अकबर विजित न कर सकता था। पर इन सफलताओं का कारण जहाँगीर का सेना-नेतृत्व इतना न था जितना कि उस समय का वातावरण, बैरियो की निर्बलता और शाहजहाँ एवं अन्य सेनापतियों की रण-कुशलता। तत्कालीन इतिहासकारों के लेखों में हमें इस बात का कोई सकेत नहीं मिलता है कि सम्राट ने मुगल सेना को शिक्षा, संगठन, अनुशासन और रण-सामग्री द्वारा समुन्नत करने का कभी कोई प्रयत्न किया हो। न कभी जहाँगीर ने अपनी सेना की नैतिक उच्चता की ओर ही ध्यान दिया और न उसने कभी अपने सैनिकों के समक्ष सेवा और देश-प्रेम का उत्कृष्ट आदर्श ही रखा। वास्तव में उसके पिता के राज्यकाल की अपेक्षा उसके समय में सैनिक-पद्धति और प्रबन्ध की विधियाँ बहुत कुछ ढीली पड़ गयी थीं।

कुछ अर्थों में जहाँगीर को एक सफल शासक और प्रबन्धक कहा जा सकता है। उसमें अपने युग की आवश्यकताओ और दशाओं को समझने तथा उनका गुणाव-गुणज्ञान करने की अपूर्व क्षमता थी और उसकी मेधा-शक्ति ने उसे अपने पिता की राज्य-संचालन और देश-प्रबन्ध की नीतियों का अनुसरण करने के लिए उचित मन्त्रणा दी। पर वह एक महान रचनात्मक राजनीतिज्ञ न था, जो महान् राज्य-सुधार की योजनाएँ प्रस्तुत कर सकता और भावी सन्तान के लिए उत्तमोत्तम कानून बना सकता। उसमें अकबर का उच्च आदर्श और विवेक भी न था। अपने पिता की राज्य-संचालन नीति में उसने तनिक भी हेर-फेर न किया। सम्राट के बाद राज्य में सर्वोच्च पद वकील या वकील-ए-मुतलक का ही रहा और मन्त्री भी ज्यों के त्यों रहे। उसमें और उसके पिता के राज्य-प्रबन्ध में स्मरणीय अन्तर यह था कि उसका पिता मानव-चरित्र

और योग्यताओ का बड़ा सुन्दर पारखी था और सामान्यतः उचित व्यक्तियो को ही उचित पदो पर नियुक्त करता था, पर जहाँगीर कार्यक्षमता, न्याय और जनहित की भावनाओं की अवहेलना करके अन्य विचारो से प्रभावित हो कभी-कभी नियुक्तियाँ कर देता था।

धार्मिक नीति

जहाँगीर के राजपद-प्राप्ति पर कट्टर मुसलमानो के अन्तर मे इस आशा का अंकुर प्रस्फुटित हुआ कि इस्लाम का साम्राज्य मे राजधर्म के स्थान पर पुनर्संस्थापन हो जाय और अकबर द्वारा हटाये जाने के पूर्व जो उनका गौरव था, उसी को वे फिर प्राप्त कर लेंगे। उन्होने नये सम्राट को अपने विचार-बिन्दु में परिवर्तित करने का प्रयास किया जिससे वह साम्राज्य को लौकिकता का वह रूप प्रदान करे, जो उसका पिता लगभग पूर्णतया प्रदान कर चुका था। कट्टर मुसलमानो की इस नीति को कुछ प्रारम्भिक सफलता अवश्य मिली, पर राज्याभिषेक के कुछ वर्ष उपरान्त ही जहाँगीर ने जिसका लालन-पालन जातीय पक्षपातरहित वातावरण मे हुआ था, अपने आपको उलेमाओं के हाथ की कठपुतली होने की मूर्खता का प्रत्यक्ष परिणाम देखा। जहाँगीर जैसे उदार मस्तिष्क सम्राट के लिए अपने पिता द्वारा प्रदर्शित सहिष्णुता के पथ का अवलम्बन करना असम्भव था। फिर भी, उसने इस्लाम के भाग्य-निर्माण में अपने पिता की अपेक्षा अधिक भाग लिया और कभी-कभी उसने इस धर्म की मर्यादा को प्रतिष्ठित रखने की भी चेष्टा की। अपने राज्यकाल के पन्द्रहवें वर्ष उसने रजौरी के हिन्दुओं को दण्डित करने का आदेश दिया क्योंकि वे मुसलमान कन्याओं से पाणिग्रहण-संस्कार कर उन्हें हिन्दू धर्म की अनुयायिनी बना लेते थे। कभी-कभी हिन्दुओं के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसने उनके मन्दिरो को नष्ट-भ्रष्ट करने का निर्देशन दिया, जैसाकि उसने मेवाड़ और काँगड़ा में किया। पुर्तगालियों से युद्ध करते समय उसने साम्राज्य के समस्त गिरजाघरों के द्वार बन्द करवा दिये। कभी-कभी ऐसे अवसर उँगलियों पर गिने जा सकते है, जब वह देवत्व का अपहारी हुआ। अजमेर में उसने बाराह मन्दिर में बाराह-अवतार को नष्ट करने का आदेश दिया और मूर्तियों को एक तालाब में फिकवा दिया। उसने ये कार्य क्षणिक मनोवृत्ति के वशीभूत हो सम्पादित किये थे। सामान्य रूप से जहाँगीर ने प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। जो मुसलमान नही थे उन्हें पूजा-गृह निर्माण करवाने की राजाज्ञा थी और उसने हिन्दुओं को बिना कोई प्रतिबिन्ध लगाये तीर्थस्थानों की यात्रा करने की अनुमति दे दी और न उसने उन पर कोई तीर्थयात्रा कर ही लगाया। गिरिजाघरो में उपासना राज्य की ओर से की जाती थी और ईसाई पादरियों को भत्ता राजकोष से दिया जाता था। उसने हिन्दुओं को अपने त्योहार सार्वजनिक रूप में मनाने के लिए प्रतिबन्धमुक्त कर दिया था और स्वयं बसन्त रक्षाबन्धन, विजयादशमी आदि त्योहारों में सम्मिलित होकर पूर्ण योग देता था। शिवरात्रि की रात को सुप्रसिद्ध योगियों से साक्षात्कार करता था। ईसाई लोग ईस्टर, बड़ा दिन तथा अपने अन्य त्योहारों को सार्वजनिक रूप में मना सकते थे।

सभी धर्मों के प्रति समान रूप से उदार और सहिष्णु होते हुए भी जहाँगीर समय-समय पर मुस्लिम नास्तिकों के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता था। लाहौर का शेख रहीम, जो एक धार्मिक सम्प्रदाय का नेता था, चुनार के दुर्ग मे बन्दी कर दिया गया। काजी नूरुल्ला को केवल इस हेतु प्राणदण्ड दिया गया कि वह एक नामलब्ध शिया लेखक था। शेख अहमद सरहिन्दी को ग्वालियर के कोट मे बन्दी कर दिया गया पर कुछ काल उपरान्त उसे बन्धनमुक्त कर कुछ उपहारों सहित सरहिन्द को वापस भेज दिया गया।

जहाँगीर और सिक्खो का नाता बडा अप्रिय था। सिक्ख गुरु अर्जुनसिंह से उसका मनमुटाव इसलिए हो गया था क्योंकि वह जनसाधारण को सिक्ख-धर्मानुयायी बनने के लिए प्रोत्साहित करता था और विशेषरूपेण इसलिए क्योंकि उसने विद्रोही राजकुमार खुसरो को अपना मनोवांछित फल पाने का शुभाशीष दिया था। अतएव, जहाँगीर ने गुरु को बुलवाकर प्राणदण्ड की आज्ञा दी। पर कुछ सम्मानित और प्रभावशाली हिन्दुओं के अनुरोध पर प्राणदण्ड क्षमा करके एक लाख रुपये अर्थदण्ड कर दिया गया किन्तु गुरु अर्जुन द्वारा धनदण्ड देना मना करने पर उसे बन्दीगृह मे डाल दिया गया। बन्दीगृह मे ही वह मृत्यु को प्राप्त हुआ और लाहौर के दीवान चन्दूलाल, जो अर्थदण्ड के जमानती थे, मृत्यु के घाट उतार दिये गये। तदुपरान्त सम्राट ने सिक्खों के धर्म में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। गुरु अर्जुन ने प्राण लेने मे धार्मिक और राजनीतिक कारणों की संयुक्तता थी। जहाँगीर ने अपनी डायरी मे गुरु अर्जुन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वह मुसलमानों को अपने धर्म में परिवर्तित कर रहा था और इसलिए वह सिक्ख-गुरु की 'दूकान बढ़ाने' के लिए चिन्ताग्रस्त था। गुरु के स्वर्गवास के पश्चात उसने उसके शिष्यो के कार्य में बाधा न डालने का मतिपूर्ण कार्य किया।

सम्राट का जैनियों से सम्बन्ध भी सिक्खों के सदृश असन्तोषप्रद था। मानसिंह नामक जैनियों के एक मार्गदर्शक ने खुसरो के राजविद्रोह के समय यह भविष्यवाणी की थी कि दो वर्ष के अन्दर जहाँगीर के शासन का अन्त हो जायगा। इस पर उसे सम्राट के प्रकोप का भागी होना स्वाभाविक था पर क्योंकि वह बीकानेर नरेश की छत्रछाया मे रहता था इसलिए सम्राट उसका बाल भी बाँका न कर सका। जब अपने राज्यकाल के बारहवें वर्ष मे वह गुजरात गया तो उसने जैनियों पर मन्दिर निर्माण करने और उन्हें उपद्रव-स्थान बनाने का अभियोग लगाया। अतएव उसने उन्हें साम्राज्य से निर्वासित करने की घोषणा करवा दी। फलस्वरूप अधिकांश जैनियों को गुजरात का परित्याग करना पड़ा। डॉक्टर बेनीप्रसाद का कथन है कि कुछ काल उपरान्त यह आज्ञा वापस ले ली गयी। पर ऐसे कथन की पुष्टि के लिए हमें कोई तत्कालीन प्रमाण नहीं मिलता। जैनियों को पीड़ित करने का कारण आंशिक रूप में धार्मिक और आंशिक रूप में राजनीतिक था।

अपने पिता के सदृश जहाँगीर को अन्य धर्मानुयायियों के साथ धार्मिक वाद-

विवाद में अति आनन्द प्राप्त होता था। वह हिन्दुओं के प्रकाण्ड पण्डितों, ईसाई पादरियों और कभी-कभी मुसलमान उलेमाओ को आमन्त्रित करके उनके सम्भाषण सुना करता था। वह वैष्णव धर्म-प्रवर्तक जदरूप की संगति का सदैव अभिलाषित रहता था और उसने उज्जैन और मथुरा मे अनेक वाद-विवादो में भाग लिया जिनके परिणामस्वरूप उसे यह विश्वास हो गया कि हिन्दू वेदान्त और मुस्लिम सूफी एक ही धर्म के दो पार्श्व हैं। उसने लाहौर के मुसलमान योगी मियाँ मीर से भी वार्तालाप किया। कभी-कभी वह अपने पिता के सिद्धान्तों का अनुकरण करके चेले भी बनाता था। पर धार्मिक विषयो में उसकी तल्लीनता इतनी न थी जितनी कि अकबर महान् की।

जहाँगीर ने हिन्दुओं को राज्य के उच्च पदो पर नियुक्त करने की नीति को अधोमुखी न किया। जहाँ तक राज्य-पदों का प्रश्न था वह नियुक्ति करते समय जाति और धर्म से पक्षपात-रहित होकर कार्य करता था। उसके शासनकाल मे तीन हिन्दू प्रान्तीय शासक थे, उदाहरणार्थ, मानसिंह, टोडरमल का पुत्र कल्यानसिंह और विक्रमादित्य। अन्य उच्च पदो पर भी हिन्दू सुशोभित थे। हिन्दू और मुसलमान समान रूप में साम्राज्य के नागरिक थे।

उपरोक्त बातों को देखते हुए कहा जा सकता है कि जहाँगीर एक सफल शासक था और उसके राज्यकाल मे जनता की आर्थिक स्थिति अच्छे स्तर पर थी। कृषि, उद्योग और व्यापार की दशा उन्नत थी और सर्वसाधारण जनता क्षुधा-पीड़ित न थी। यद्यपि उसने अकबर के समान अपनी प्रजा के आर्थिक और नैतिक उत्थान के लिए वृहत् योजनाएँ नही बनायी, किन्तु उसने कुछ सामाजिक दूषणों को समूल नष्ट करने का यत्न अवश्य किया और मनुष्य-मात्र की सेवा के लिए अनेक कार्य किये। अपने शासन-युग के प्रथम खण्ड में उसने भाँग, अन्य मादक वस्तुओं और तीव्र मदिरा के प्रयोग और विक्रय पर वैधानिक नियन्त्रण लगा दिये। उसने द्यूतक्रीड़ा पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसने कृषको के हित का समुचित ध्यान रखा और युद्ध को जाते समय यदि उसकी चतुरंगिनी खेतों को क्षति पहुँचाती थी तो वह उसका हरजाना देता था। उसने यह भी घोषित कर दिया था कि कोई व्यक्ति हिन्दू विधवा को बिना राजाज्ञा प्राप्त किये सती होने के लिए बाध्य न करे, और उसने बालिका-वध को पूर्णतया विराम दे दिया। उसे पुण्य-कृत्यों में असीम आनन्द आता था। उसने निर्धनों के लिए लंगर स्थापित करवाये जहाँ उन्हें मुफ्त भोजन मिलता था। वह फकीरो को धन देता था। उसकी नीति का मुख्य ध्येय था विभिन्न समुदायो को महत्त्वशाली सामाजिक प्रथाओं में बाधा डाले बिना जनसाधारण का सामाजिक-स्तर ऊँचा करना। वह अपनी प्रजा का सच्चा हितैषी था और उस राजा की कहानी को बड़ी तिरस्कृत भाषा में वर्णन करता था, जिसने अपने राज्य के उपवनों से राजस्व लेना प्रारम्भ कर दिया था, जिसके फलस्वरूप राज्य के फलों की संख्या और गुणों में अवनति हो गयी थी। उसे यह गर्व था कि जहाँ तक उसके राज्य मे फल के उपवनों का प्रश्न था वह इस प्रकार

की धन-लोलुपता से मुक्त था। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उसे अपनी प्रजा के कल्याण का कितना ध्यान रहता था।

क्रोधावेश की परिस्थितियों को छोड़कर जब वह अशिष्ट दण्ड देता था, जहाँगीर साधारणतया न्यायप्रिय शासक था। उन्नति, स्थान या शासन-पद का ध्यान न रखकर वह सबके प्रति न्याय में एकरूपता की नीति बरतता था। वह कहा करता था कि ईश्वर न करे कि न्याय करते समय उसे कुलीनों और राजकुमारों का ध्यान रखना पड़े। यह केवल दर्पयुक्त बात न थी। उसकी आत्मकथा और तत्कालीन इतिहासकारों के लेख इस बात के साक्षी हैं कि सम्राट न्यायोचित निर्णय ही देता था। वैध रूप में प्राणदण्ड केवल सम्राट दे सकता था और वह भी किसी विशेष परिस्थिति में। प्राणदण्ड की आज्ञा को कार्यान्वित करने वालों को यह कठोर आदेश था कि वे सूर्यास्त से पूर्व उसकी आज्ञा का पालन न करें। उसके न्याय में दया का पुट था।

जहाँगीर को न तो हम एक महान नृप की उपाधि से अलंकृत कर सकते हैं, न उसको एक कुशल राजनीतिज्ञ ही मान सकते हैं और न एक विलक्षण विवेकयुक्त प्रबन्धकर्ता ही कह सकते हैं। उसको किसी भी प्रकार सेनानायकों और राजनीतिज्ञों की प्रथम श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। पर यह निर्विवाद सत्य है कि वह एक सफल और उदार शासक था, जिसे अपनी प्रजा के कल्याण का सदैव ध्यान रहता था और जो उनका प्रिय पात्र था। अन्य सभी शासकों के समान उसमें भी गुण और दोष थे। सर रिचार्ड बर्न्स द्वारा किया गया उसका सन्तुलित और न्यायपूर्ण चरित्र-चित्रण अवश्य उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं, "भारतीय नृपतियों की नामावली में वह एक उदार भावनापूर्ण, मृगया, ललित कला और सुव्यवस्थित जीवन का प्रेमी तथा जनहित चाहने वाले के रूप में हमारे सामने आता है, जो अपने उत्कृष्ट मानसिक गुणों की अनुपस्थिति में श्रेष्ठतम शासकों के गौरव को प्राप्त कर सका।"

BOOKS FOR FURTHER READING

Persian Language :

1. *Tuzuk-i-Jahangiri* by Jahangir himself to the 17th year of his reign, and brought to the 19th year by Mutamid Khan (Translated into English by A. Rogers, edited by H. Beveridge in two volumes).
2. Khan, Mutamid : *Iqbalnama.*
3. Hadi, Muhammad : *Tatimma Waqiat-i-Jahangiri.*
4. Ghairat Khan, Khwaja : *Maasir-i-Jahangiri*
5. Adul Fazl . *Akbarnama* (Translated into English by H. Beveridge in 3 volumes).
6. Inayat Ullah : *Takmil Akbarnama* (Translated into English by Lieut. Cha mers).
7. Ahmad, Nizamuddin : *Tabqat-i-Akbari* (Translated into English in 3 volumes by B. De).

8 Badayuni, Abul Qadir : *Muntakhab-ut-Tawarikh* (Translated into English by Rankin, Low and Haig respectively in 3 volumes).

9. Farishta, Hindu Beg *Gulshan-i-Ibrahimi* alias *Tarikh-i-Farishta* (Translated into English by John Briggs under the title of *History of the Rise of Muhammedan Power in India*).

European Languages .

1. *The Annual Relation of father Fernao Guerreiro for (1607-8)* (Abstract translation by H Hosten, Journal of Panjab Historical Society, Vol. 7, p. 50).
2. Foster, W. : *Early Tr vels in India* (1921).
3. Foster, W. : *The Embassy of Sir Thomas Roe to India (1615-19)* (1926).
4. *Jahangir's India* (The Remonastranie of Fr. Pelsaert) (Translated from the Dutch by W H Moreland and P. Geyl, Cambridge) (1925).
5. *Letters received by the East India Co from its Servants in the East (1607-27)*, Vols 1 to 6.
6. Foster, W. : *English Factories in India.*
7. Moreland, W. H. : *Voyage of Peter Floris to the East Indies (1611-15)* (1934).
8. *Foster*, W. : *Voyoge of Thomas Best (1612-14)* (1934).

Modern Work :

1. Prasad, Dr. Beni : *History of Jahangir* (1922).
2. Moreland, W. H. : *From Akbar to Aurangzeb* (1923).
3. Gladwin, F. : *Reign of Jahangir* (1788).
4. De Laet : *De Imperio Mogno Mogoli, sive India vera Commentarius ex varis Auctoribus Congesis* (Translated into English by J. S. Hoyland) (1928)
5. Haig, W. : *Cambridge History of India*, Vol. IV, Chap. VI

अध्याय ७

शाहजहाँ (१६२७-१६५८ ई०)

प्रारम्भिक जीवन (१५९२-१६२७ ई०)

शाहजहाँ का जन्म ५ जनवरी, १५९२ ई० को लाहौर में हुआ। उसकी माता सुप्रसिद्ध राजपूत रमणी 'जगत गोसाईं' मोटा राजा उदयसिंह की सुपुत्री थी। इसका बचपन का नाम खुर्रम था। कुशाग्रबुद्धि और चतुर खुर्रम में बचपन से ही बड़प्पन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, अतः वह अपने पितामह अकबर का सर्वप्रिय प्रपौत्र हो गया। अकबर ने उसकी शिक्षा-दीक्षा स्वयं अपनी देखरेख में करानी आरम्भ की और उसे मुगल शासक-वर्ग का सुयोग्य शासक बनाने में कोई कसर न उठा रखी। खुर्रम को आरम्भ से ही फारसी साहित्य में विशेष अभिरुचि थी, किन्तु तुर्की भाषा तथा साहित्य उसके चाव का विषय न था। उसने व्यावहारिक हिन्दी का भी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त किया होगा। यद्यपि उसने अपने पिता की भाँति अपनी आत्मकथा नहीं लिखी परन्तु फिर भी फारसी भाषा और साहित्य पर उसका अच्छा अधिकार था। इसके अलावा उसने इतिहास, राजनीति, भूगोल, धर्मशास्त्र आदि का भी अध्ययन किया। सैनिक-शिक्षा उसकी शिक्षा का आवश्यक अंग थी, अतः थोड़े ही समय में खुर्रम एक सुयोग्य सैनिक बन गया, जो आक्रमणात्मक तथा रचनात्मक शस्त्रों के प्रयोग में सिद्ध-हस्त हो गया। युद्ध-कला तथा सैन्य-संचालन में खुर्रम ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। युवावस्था में पूर्णरूप से पदार्पण करने से पहले ही खुर्रम समस्त साम्राज्य का श्रेष्ठ सेनानायक माना जाने लगा। ऐसी अभूतपूर्व थी उसकी प्रतिभा !

अपने पिता जहाँगीर के राज्यकाल के आरम्भ में ही खुर्रम को उसका उत्तराधिकारी समझा जाने लगा क्योंकि उसका बड़ा भाई खुसरो पिता के प्रति अपने दुर्व्यवहार के कारण जहाँगीर की दृष्टि में बराबर गिरता जा रहा था। १६०७ ई० में जहाँगीर ने इसे ८,००० जात और ५,००० सवार का मनसबदार बना दिया। १६०८ ई० में हिसार फिरोजा की जागीर जो प्रायः मुगल युवराज को दी जाती थी, खुर्रम को दे दी गयी। १६१० ई० में उसका विवाह मुजफ्फरहुसैन सफव्वी की पुत्री से सम्पन्न कर दिया गया और अगले ही वर्ष उसे १०,००० जात और ५,००० सवार का मनसबदार बना दिया गया। १६१२ ई० में जब वह बीस वर्ष का हुआ, उसका विवाह आसफखाँ की पुत्री अरजुमन्द बानो बेगम के साथ सम्पन्न हुआ। नूरजहाँ के बड़े भाई आसफखाँ के वंश से स्थापित इस विवाह सम्बन्ध में खुर्रम, नूरजहाँ, एतमादुद्दौला और आसफखाँ के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ। 'नूरजहाँ गुट' ने दस वर्ष

तक राज्य किया। इस अवधि मे खुर्रम को भावी सम्राट समझा जाने लगा और उसका मनसब बढाकर ३०,००० जात और २०,००० सवार कर दिया गया।

जहाँगीर के राज्यकाल मे खुर्रम को अनेक प्रमुख युद्धो का सचालन करना पडा। उसका शासनकाल खुर्रम की ही विजय-कीर्ति का इतिहास है। मेवाड विजय उसकी प्रारम्भिक सफलता थी। १६१४ ई० मे एक सुसज्जित सेना सहित वह राणा के विरुद्ध मोर्चा लेने भेजा गया। सफलता का सेहरा इसी के बँधना था, राणा अमरसिंह ने आत्मसमर्पण कर दिया। खुर्रम ने भी उसके साथ सम्मानपूर्वक बरताव किया। मेवाड विजय ने खुर्रम की कीर्ति को चार चाँद लगा दिये और वह साम्राज्य का प्रमुख स्तम्भ समझा जाने लगा। इसके बाद उसे दक्षिण का गवर्नर नियुक्त कर 'शाह' की उपाधि से विभूषित किया गया। राजकुमार ने अपनी कूटनीति तथा अथक परिश्रम से मलिक अम्बर को बालाघाट लौटाने तथा अहमदनगर और दूसरे दुर्गों को समर्पित करने के लिए सहमत कर लिया। इससे मुगल दरबार मे राजकुमार की कूट-नीति का सिक्का बैठ गया। जहाँगीर की प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसने मुक्तहस्त से खुर्रम पर सम्मान की वर्षा की और गुजरात प्रान्त भी उसे सौंप दिया।

'नूरजहाँ गुट' के साथ मिले खुर्रम को दस वर्ष ही बीते थे कि उसका भाग्य-सितारा अचानक झिलमिलाने लगा। नूरजहाँ अपने दामाद शहरयार को उत्तराधिकारी घोषित करना चाहती थी, अत: खुर्रम की कीर्ति मे उसे अपने लक्ष्य की असफलता का आभास होने लगा, इसलिए वह उससे द्वेष करने लगी। अत: वह नित्यप्रति उसको आघात पहुँचाने का प्रयत्न करने लगी जिसके तग आकर खुर्रम ने विद्रोह कर दिया। शिकार की भाँति उसका जोरो से पीछा किया गया और उसे घोर कष्टो का सामना करना पड़ा। १६२६ ई० में वह अपने पिता की शरण लेने को बाध्य हुआ। उसे क्षमा कर दिया गया और फिर वही सम्मान प्राप्त हुआ जो पहले था।

सिंहासनारोहण (१६२८ ई०)

जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात नूरजहाँ ने अपनी शक्ति को बनाये रखने का अन्तिम प्रयास किया। उसने अपने भाई आसफखाँ को जो कि खुर्रम का श्वसुर और उसका पूर्ण समर्थक था, कैद करने प्रयत्न किया। उसने अपने दामाद शहरयार को एक पत्र लिखा कि वह अपनी पार्टी को सुदृढ़ बनाने तथा अपनी सैनिक-शक्ति को बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न करे ताकि उत्तराधिकार-सघर्ष में विजय प्राप्त की जा सके। परन्तु आसफखाँ एक राजनीतिज्ञ था। वह एक क्षण में अपनी बहन के इरादों को भाँप गया, इसलिए उसने साम्राज्ञी से मिलने से इनकार कर दिया। प्रत्युत उसने साम्राज्य के प्रमुख व्यक्तियों और सभासदों को खुर्रम की ओर कर खुसरो के पुत्र दावरबख्श को सम्राट घोषित कर दिया ताकि गद्दी खाली न रहे। साथ ही उसने दक्षिण में शाहजहाँ को सूचना दी कि वह शीघ्रताशीघ्र दिल्ली पहुँचे। उधर खुर्रम के प्रतिद्वन्द्वी शहरयार नें अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया और लाहौर स्थित शाही खजाने पर अधिकार कर लिया तथा वहाँ के अमीरों की सम्पत्ति जब्त कर ली।

खुले हाथों खजाना लुटाकर उसने शीघ्र ही एक विशाल सेना एकत्रित कर ली। आसफखाँ जो शाहजहाँ की ओर से युद्ध की तैयारी कर रहा था, लाहौर के पास शहरयार से जा जूझा। शहरयार परास्त हुआ। उसे बन्दी बना लिया गया तथा उसकी आँखें निकाल ली गयी। इसी बीच शाहजहाँ भी तेजी से दिल्ली के लिए रवाना हुआ। मार्ग में प्रमुख सरदारों, विशेषतया मेवाड़ के राणा कर्ण, ने उसका भव्य स्वागत किया। रास्ते में से ही उसने अपने श्वसुर को गुप्त सूचना भेजी कि दावरबख्श सहित समस्त राजकुमारों को मौत के घाट उतार दिया जाये। शाहजहाँ के हृदयहीन श्वसुर ने इस आदेश का अक्षरशः पालन किया। १६२८ ई० की फरवरी के प्रारम्भिक सप्ताह में वह आगरा के निकट आ पहुँचा और एक अत्यन्त शुभ घड़ी मे शहर में प्रवेश किया तथा अत्यन्त हर्ष व उल्लास के साथ गद्दी पर बैठा। उसके नाम खुतबा पढ़ा गया। आसफखाँ को ८,००० जात और ८,००० सवारो का मनसब प्रदान कर साम्राज्य का वजीर नियुक्त किया गया। महाबतखाँ का मनसब बढ़ाकर ७,००० जात और ७,००० सवार कर दिया गया और उसको 'खानखाना' की उपाधि से विभूषित किया गया। नूरजहाँ को एक उचित पेन्शन दे दी गयी और उसने लाहौर के निकट शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। यही उसने अपने मृत पति की यादगार में मकबरा बनवाया और दान-दक्षिणा के अनेक कार्य करने के उपरान्त १६४५ ई० में मृत्यु को प्राप्त हुई।

खानजहाँ लोदी का विद्रोह (१६२८-३१ ई०)

शाहजहाँ के शासनकाल में कई विद्रोह हुए। इनमे सबसे पहला विद्रोह खानजहाँ लोदी का था। खानजहाँ एक [illegible] उपद्रवी अफसर था। उसे दक्षिण में शाहजादा परवेज का सलाहकार नियुक्त करके भेजा गया था। वह हिन्दुओं से घृणा करने वाला भावुक तथा उग्र सैनिक था। अपने पदकाल में निजामशाह से घूस ले उसने बालाघाट का प्रदेश उसे समर्पित कर दिया। जहाँगीर की मृत्यु के उपरान्त उसने शहरयार का पक्ष लिया। अपने निवास-स्थान बुरहानपुर में थोड़े-से दुर्गरक्षकों को छोड़कर शेष सेना सहित वह माँडू के दुर्ग पर अधिकार करने के उद्देश्य से उत्तर की ओर बढ़ा, लेकिन उसका प्रयत्न असफल रहा। विजयोन्मुख शाहजहाँ पहले ही अजमेर पहुँच चुका था और यह विश्वास हो चला था कि वही सम्राट होगा, अतः खानजहाँ लोदी की बहुत-सी सैनिक टुकड़ियाँ विशेषकर उसकी हिन्दू सेना ने उसका साथ छोड़ दिया। फलस्वरूप खानजहाँ आत्मसमर्पण करने को बाध्य हुआ। शाहजहाँ ने उसे क्षमा कर दिया तथा दक्षिण की सूबेदारी भी उसे पूर्ववत प्रदान कर दी और उसे वापस बुरहानपुर जाने का आदेश मिला। वह दक्षिण पहुँचा ही था कि शाहजहाँ ने उसे बालाघाट पुनः जीतने का आदेश भेजा, लेकिन वह उसे जीतने में असमर्थ रहा, अतः उसे वापस बुला लिया गया और उसके स्थान पर महाबतखाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया। परन्तु आगरा लौटने से खानजहाँ प्रसन्न न था। वह वहाँ के वातावरण से सन्तुष्ट न हो सका। कुछ कालोपरान्त उसने राजसभा में प्रतिदिन जाना भी छोड़ दिया। यद्यपि उसे पुनः क्षमा

कर दिया गया, किन्तु वह सन्तुष्ट न हो सका और दक्षिण को भाग जाने की तैयारी करने लगा। उसका पीछा किया गया। चम्बल नदी के पास शाही सेना और खानजहाँ की सेना मे घोर युद्ध हुआ। इसी बीच खानजहाँ अपने पुत्र तथा कुछ साथियो सहित चम्बल को पार कर दक्षिण की ओर भाग गया, परन्तु वह अपनी स्त्रियों और खजाने को साथ न ले जा सका। शाही सेना ने उन पर अधिकार कर लिया। बुन्देलखण्ड और गोडवाना को पार कर खानजहाँ अहमदनगर पहुँचा। निजामशाही सुल्तान ने उसका स्वागत किया और उसे कुछ वीर सैनिक तथा कुछ भू-भाग, जो उस समय मुगलों के अधिकार मे था, इस आदेश के साथ जागीर के रूप में दे दिया कि वह उसे मुगलो से वापस ले ले। खानजहाँ लोदी ने शाही सेना पर आक्रमण कर इस भाग को छीन लिया। परिस्थिति ने इतना विकट रूप धारण किया कि दिसम्बर १६२६ ई० में शाहजहाँ को स्वयं दक्षिण की ओर जाना पड़ा। वहाँ पहुँचकर आततायियों को दण्ड देने के लिए उसने एक विस्तृत योजना बनायी। चूँकि शाहजहाँ को दक्षिण की राजनीति का पूर्ण ज्ञान था इसलिए उसे यह जानने में देर न लगी कि अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्य पारस्परिक ईर्ष्या के कारण मुगलो के विरुद्ध सगठित मोर्चा कर सकेंगे। वह यह भी जानता था कि मरहठे इस भाग मे उत्पात मचाकर विचित्र संकट उत्पन्न कर सकते हैं, इसलिए उदार वेतन द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर शाहजहाँ ने उनसे लाभ उठाना श्रेयस्कर समझा। इस प्रकार परिस्थिति को अनुकूल कर उसने विद्रोही खानजहाँ पर आक्रमण करने के लिए तीन ओर से सेना भेजने की योजना बनायी। उनमें से एक अबुल हसन के नेतृत्व में धुलिया की ओर गुजरात की ओर से आने वाले रसद-मार्ग पर अधिकार करने तथा अहमदनगर को उत्तर-पश्चिम से आतंकित करने के लिए भेजी गयी। दूसरी सेना शत्रु पर उत्तर-पूरब दिशा से आक्रमण करने के लिए बरार के दक्षिण में देवलगाँव में स्थित की गयी और तीसरी सेना तैलंगाना की ओर भेजी ताकि खानजहाँ पर उस ओर से आक्रमण किया जा सके। योजना को सफल बनाने के लिए मरहठे पर्याप्त सख्या में भरती कर लिये गये। दक्षिण तथा गुजरात आदि निकटवर्ती प्रान्तों में अनावृष्टि से उत्पन्न खाद्य-संकट के होते हुए भी एक भयंकर युद्ध हुआ। खानजहाँ हार गया और दौलताबाद में शरण ले. के लिए बीजापुर भाग गया, परन्तु इसे आश्रय न मिल सका। शाही सेनाओं ने उसका पीछा किया। इतिहास-प्रसिद्ध शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले ने, जो अहमदनगर की नौकरी छोड़कर शाहजहाँ की सेना मे भरती हो चुके थे, मुगलों को बड़ी सहायता की। खानजहाँ लोदी के साथियों ने यत्र-तत्र शाही इलाके पर आक्रमण किये। जहाँ-तहाँ उनसे मुठभेड़ होती रही। इसी बीच अहमदनगर के सुल्तान ने, जो खानजहाँ लोदी का बड़ा सहायक था, शाहजहाँ से अपने इस कार्य पर बड़ा पश्चाताप प्रकट किया और उसने विद्रोहियों को अपने राज्य से निकाल दिया। अब खानजहाँ मालवा को पार कर उत्तर की ओर भागा। उसे आशा थी कि पंजाब पहुँचने पर उत्तरी-पश्चिमी सीमा के अफगान उसका साथ देंगे। शाहजहाँ ने अपनी सेना का एक अंग खानजहाँ को

पकड़ने के लिए भेजा। बुन्देलखण्ड के राजा जूझरसिंह का सुपुत्र विक्रमाजीत, जिसने विद्रोह के आरम्भ में खानजहाँ को बुन्देलखण्ड में होकर निकल जाने की सुविधा प्रदान की थी, इस बार विद्रोही पर टूट पड़ा और १६३१ ई० के जनवरी मास में दरियाखाँ तथा उसके अनेक साथियों को मौत के घाट उतार दिया। खानजहाँ लोदी भाग खड़ा हुआ, लेकिन वर्तमान उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले के 'सिहोदा' नामक स्थान पर पकड़ा गया और मारा गया।

बुन्देलखण्ड का विद्रोह (१६२८-२९ ई०)

शाहजहाँ के शासनकाल का दूसरा विद्रोह वीरसिंह देव बुन्देला के पुत्र जूझरसिंह का था। वीरसिंह बुन्देला ने अकबर के विद्रोही पुत्र भूतपूर्व सम्राट जहाँगीर के इशारे से अबुल फजल को कत्ल कर दिया था। अपनी जाति की वीरता, अपने देश की भौगोलिक स्थिति तथा अपने पिता पर भूतपूर्व सम्राट द्वारा की गयी कृपाओं के कारण जूझरसिंह को मुगल सरदारों में उच्च पद पर तथा प्रतिष्ठा प्राप्त थी। शाहजहाँ के राज्याभिषेक के उपरान्त अपने लड़के विक्रमाजीतसिंह पर शासन का भार सौंप वह सम्राट की सेवा के लिए आगरा चला गया। उसकी अनुपस्थिति में विक्रमाजीतसिंह ने अपने निर्दयतापूर्ण व्यवहार तथा अत्यधिक मालगुजारी एकत्रित करके अपनी प्रजा की सहानुभूति खो दी। इसी बीच नये सम्राट शाहजहाँ ने जूझरसिंह द्वारा एकत्रित करों की जाँच-पड़ताल की आज्ञा दे दी। इस आज्ञा से जूझरसिंह भयभीत हो उठा और वह मुगल दरबार छोड़ ओरछा लौट आया। वहाँ पहुँच वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करने लगा। कुछ समय तक शाहजहाँ राज के विरुद्ध कोई कार्यवाही न कर सका, क्योंकि उसका ध्यान ट्रान्सओक्सियाना के प्रमुख जामिद द्वारा सीमान्त प्रान्त काबुल पर किये गये आक्रमण की ओर आकर्षित था। लेकिन ज्योंही सीमान्त संकट समाप्त हुआ उसने महाबतखाँ को बुन्देलखण्ड के विद्रोह को शान्त करने का आदेश दिया। महाबतखाँ की सहायता करने के लिए दो और सेनाएँ—एक अब्दुल्लाखाँ के नेतृत्व मे पूरब से तथा दूसरी खानजहाँ के नेतृत्व में दक्षिण से—भेजी गयीं। जूझरसिंह का एक सम्बन्धी भरतसिंह जिसकी लालायित आँखें सदैव बुन्देलखण्ड की ओर लगी रहती थीं, जूझरसिंह के विरुद्ध शाही सेना की मदद देने के लिए तोड़ लिया गया। शाहजहाँ, जिसे बुन्देला-शौर्य का पूर्ण ज्ञान था, बुन्देलों को अपनी उपस्थिति से भयभीत करने के उद्देश्य से स्वयं बुन्देलखण्ड के पड़ौसी राज्य ग्वालियर में जनवरी १६२९ ई० में आ पहुँचा। अब्दुल्लाखाँ ने आक्रमण करके ओरछा पर, जोकि अब झाँसी जिले में है, अधिकार कर लिया और खानजहाँ ने दक्षिण की ओर से बुन्देलखण्ड को तहस-नहस करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार जूझरसिंह चारों ओर से घिर गया। अपनी प्रजा के कई प्रमुख व्यक्तियों के विरोध से तंग आकर तथा सुदृढ़ शाही सेनाओं का सामना कर सकने में अपनी असमर्थता का अनुभव कर उसने आत्मसमर्पण कर दिया और अपनी जागीर में एक भाग को शाहजहाँ को अर्पित कर दक्षिण में

जाकर सम्राट की सेवा करने को सहमत हो गया। अतः फरवरी १६२९ ई० मे उसे क्षमा प्रदान कर दी गयी।

१६३५-३६ ई० में पुनः जूझरसिंह के विद्रोह ने बुन्देलखण्ड की शान्ति को भग कर दिया। उसने दक्षिण मे पाँच वर्ष पूर्ण स्वामिभक्ति से सेवाएँ की। दौलताबाद पर अधिकार करने वालो में वह प्रमुख व्यक्ति था। १६३४ ई० मे जब वह ओरछा लौटा तो उसने गोडवाना विजय की एक महत्त्वपूर्ण योजना बनायी। यद्यपि बुन्देलखण्ड के दक्षिण में स्थित गोंडवाना मुगलों के अधीन था परन्तु उस समय उसका शासन उसके हाथ मे नही था। आक्रमण का उद्देश्य १६२९ ई० मे हुई क्षति को पूर्ण करना था। १६३५ ई० में उसने चौरागढ़ का घेरा डाल दिया और शाहजहाँ की चेतावनी की परवाह न करते हुए वहाँ के राजा प्रेमनारायण को मरवा डाला। मृतक के पुत्र ने शाहजहाँ से जूझरसिंह के विरुद्ध अपील को, परन्तु शाहजहाँ ने गोंडवाना उचित उत्तराधिकारी को लौटाने के बदले जूझरसिंह को आज्ञा दी कि वह या तो गोडवाना सम्राट को दे दे अथवा उसके बदले अपनी स्वयं की जागीर छोड़ दे और पाँच लाख रुपये जुरमाने के रूप में इसलिए दे कि बिना राजाज्ञा वह गोंडवाना पर क्यों जा धमका। जूझरसिंह ने आज्ञा की अवहेलना ही नही की वरन् अपने पुत्र जगराज को दक्षिण में कहला भेजा कि वह शाही सेना के सम्बन्ध-विच्छेद कर अपनी सेना सहित वापस चला आये। इस पर शाहजहाँ क्रोधान्ध हो उठा और उसने इस विद्रोह का दमन करने के लिए औरंगजेब को भेजा। कठिनाइयों के होते हुए भी औरंगजेब ने ओरछा पर धावा बोल दिया और स्वयं धमोनी की ओर बढा जहाँ जूझरसिंह ने शरण ले रखी थी। इस पर यह बुन्देला सरदार चौरागढ़ में जा छिपा। धमोनी की विजय के उपरान्त औरंगजेब चौरागढ़ की ओर बढ़ा। इस पर जूझरसिंह वहाँ के ६,००० सैनिक, ६० हाथी और अपने परिवार व खजाने सहित दक्षिण की ओर भाग निकला। मुगलों ने उसका पीछा किया। कोई उपाय न पा जूझरसिंह अपनी कुछ स्त्रियो को मार डालने के पश्चात मुगलों पर टूट पडा, लेकिन हार गया। बुन्देले तितर-बितर हो गये। जूझरसिंह तथा उसका पुत्र विक्रमाजीतसिंह दोनों को गोडों ने मार डाला। उसके सिर काटकर दिसम्बर १६३५ ई० मे शाहजहाँ के पास भेज दिये गये। उसकी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही जब उसे ज्ञात हुआ कि इस आक्रमण से पचास लाख रुपये लूट में प्राप्त हुए हैं। बुन्देला स्त्रियों को जौहर करने का समय न मिल सका और यद्यपि वीरसिंह देव की विधवा पत्नी रानी पार्वती तथा कुछ और स्त्रियों को उनके पुरुषों ने स्वयं कत्ल कर दिया था, फिर भी कई स्त्रियाँ बन्दी बना ली गयी। उनको शाही महल में प्रविष्ट कर लिया गया जहाँ वे दुःख के आँसू बहाती रहीं। जूझरसिंह के दो लडकों को मुसलमान बना लिया गया और तीसरे को इसलिए तलवार के घाट उतार दिया गया कि उसके मुसलमान बनना अस्वीकार कर दिया था। ओरछा के भव्य भवन मस्जिदों में बदल दिये गये। वहाँ के सुन्दर मन्दिर तथा अन्य पवित्र स्थानों को अपवित्र कर पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। ओरछा जूझरसिंह के

सम्बन्धी देशद्रोही देवीसिंह को दे दिया गया क्योंकि उसने जूझरसिंह के विरुद्ध मुगलों की सहायता की थी, लेकिन बुन्देलों ने उसे अपना राजा मानने से इनकार कर दिया। महोबा के चम्पतराय ने देवीसिंह के नीच आचरण के कारण उसकी अधीनता स्वीकार करने से इनकार कर दिया। उसको प्रसिद्ध लड़के छत्रसाल ने कई वर्षों तक शाहजहाँ की धर्मान्धता तथा बुन्देल परिवार के साथ किये गये असम्भव व्यवहार के प्रति विरोधस्वरूप अपनी स्वतन्त्रता का युद्ध जारी रखा।

दक्षिण की समस्या —१

दक्षिण के सम्बन्ध में शाहजहाँ ने अपने पूर्वजों की दक्षिण विजय की नीति को जारी रखा। खानजहाँ के विद्रोह के पश्चात उसने दक्षिणी सूबे का कार्य-भार सँभालने के लिए आजमखाँ को नियुक्त किया। आजमखाँ ने अहमदनगर के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया और धारुर के दुर्ग पर अधिकार करके परेण्डा के दुर्ग का घेरा डाल दिया। परन्तु दक्षिण की विशेष कठिनाइयों के कारण वह युद्ध में अधिक प्रगति न कर सका। अहमदनगर और बीजापुर के सुल्तानों मे पूर्ववतः मनोमालिन्य बना रहा। अतः वह दोनों मुगलों के विरुद्ध एक न हो सके।। बीजापुर के पदाधिकारियों में मुगलों के प्रति अपनायी जाने वाली नीति के विषय में पर्याप्त मतभेद था। एक दल उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था तो दूसरा उन्हें शत्रु समझ उनसे घोर युद्ध करने के पक्ष में था। अनावृष्टि के कारण खाद्य-सामग्री उपलब्ध होने में बड़ी कठिनाई थी, यहाँ तक कि ५० मील के वृत्त में घोड़ों के लिए घास तक प्राप्त नहीं हो सकती थी। फिर भी शाहजहाँ स्वयं घटनास्थल पर आया तो मुगल कन्धार में छोटे किले पर, जो बालाघाट में पूरबी पक्ष पर स्थित था, अधिकार करने में सफल हुए और उन्होने बरार, नासिक तथा संगमनेर को नष्ट कर दिया।

इसी बीच १७ जनवरी, १६३१ ई० को शाहजहाँ की प्रिय बेगम मुमताजमहल की मृत्यु हो गयी। इससे शाहजहाँ को जो दुख हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसको बुरहानपुर के पास ही एक बाग में दफना दिया गया। बाद मे उसका शव आगरा मँगा लिया गया, जहाँ उसको एक बाग में दफनाकर उसकी कब्र पर संसार-प्रसिद्ध ताजमहल नामक मकबरा बनवाया गया।

मुमताजमहल का जीवन

मुमताजमहल के जन्म का नाम अरजुमन्द बानो बेगम था। यह एतमादुद्दौला के लड़के नूरजहाँ के भाई आसफखाँ की पुत्री थी। उसका जन्म १५९४ ई० में हुआ। खुर्रम १६ वर्ष का ही था कि उसके साथ उसकी मँगनी निश्चित हो गयी और अप्रैल १६१२ ई० में विवाह सम्पन्न हुआ। यह विवाह अत्यन्त सफल विवाह सिद्ध हुआ। अरजुमन्द बानो बेगम ने शाहजहाँ को पूर्णतया अपने प्रेमपाश में बाँध लिया। इनका प्रेम नूरजहाँ तथा जहाँगीर के प्रेम से भी आगे बढ़ गया। मुमताजमहल ने शाहजहाँ के जीवन मे सुख और दुख दोनों में पूर्णरूप से एक पतिव्रता पत्नी की भाँति भाग लिया और उस समय जबकि खुर्रम अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करता हुआ दक्षिण

से उडीसा, बंगाल तथा बिहार में भागा फिर रहा था तब मुमताज परछाईं की भाँति उसके साथ रही। इसके १४ बच्चे हुए और वह मृत्युपर्यन्त सदैव अपने पति की प्रिय बनी रही। वह शाहजहाँ की मुख्य पत्नी थी और उसको 'मलिका-ए-जमानी' की उपाधि प्राप्त थी। शाही मुहर उसके ही अधिकार में रहती थी। १६३१ ई० में प्रसव-पीड़ा के समय बुरहानपुर में जबकि शाहजहाँ दक्षिण विजय में व्यस्त था, उसकी मृत्यु हुई।

मुमताजमहल सुशिक्षित तथा सुयोग्य गृहिणी थी। उसका अतुल प्राकृतिक सौन्दर्य बाह्य उपादानों से अत्यन्त मनोहर हो उठता था। वह अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न और सुहृदया थी। दान-दक्षिणा देना, गरीब, विधवा, अपाहिज और अनाथों की सहायता करना इसके चरित्र की विशेषता थी। उसकी दासी सतीउन्निसा खानम उसकी विशेष सलाहकार तथा मानवी कार्यों मे उसकी परामर्शदात्री थी। मुमताजमहल पवित्र जीवन, पूजा-पाठ और उपवास आदि की निष्ठा में विश्वास रखने वाली इस्लाम धर्म की उपासिका थी। लेकिन उसकी धार्मिकता अन्धविश्वास और रूढ़ि के रग में रँगी हुई थी। ईसाई और हिन्दू धर्मों के प्रति शाहजहाँ की वक्रदृष्टि का बहुत बड़ा कारण मुमताजमहल की धर्मान्धता थी। भारतीय इतिहास में शायद ही किसी दूसरी मुगल साम्राज्ञी को इतना पति-प्रेम प्राप्त हुआ हो जितना मुमताज को प्राप्त था। आगरा का ताजमहल इस दाम्पत्य-प्रेम का अद्वितीय स्मारक है।

दक्षिण की समस्या—२

इसी बीच दक्षिण की राजनीतिक दशा दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। अहमद नगर में मलिक अम्बर का पुत्र फतहखाँ नृप-निर्माता बना हुआ था। उसने अहमदनगर के सुल्तान को कैद कर लिया और उसके स्थान पर हुसैन नामक एक शाही वंशज को सुल्तान बना दिया था। हुसैन केवल १० वर्ष का बच्चा था। फतहखाँ ने मुगलों के कथनानुसार कार्य करना भी बन्द कर दिया। लेकिन जब शाहजहाँ ने रुस्तखाँ के नेतृत्व मे दौलताबाद पर अधिकार करने के लिए एक सुदृढ़ सेना भेजी तो फतहखाँ भयभीत हो गया और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। बीजा-पुर ने कुछ समय तक शाही सेना का सामना किया और शाहजहाँ को विवश होकर आसफखाँ को बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश देना पड़ा। मुगलों ने गुलबर्गा पर अधिकार कर लिया और बीजापुर का घेरा डाल दिया। लेकिन अकाल से उत्पन्न खाद्य-संकट के कारण आसफखाँ को लाचार होकर घेरा हटाना पड़ा और वह मिराज लौट आया। इस पर शाहजहाँ उससे बहुत अप्रसन्न हुआ। उसने आसफखाँ को राज-दरबार में वापस बुला लिया और महाबतखाँ को दक्षिण का सेनानायक नियुक्त कर बीजापुर विजय का आदेश दिया।

१६३०-३१ ई० में दक्षिण और गुजरात को एक विकराल अकाल का सामना करना पड़ा। अकाल खानदेश तक फैल गया। हजारों व्यक्ति भूख से मर गये। उस अकाल की दुर्दशा का वर्णन तत्कालीन इतिहासकार मिराज अमीन काजनीबी ने इस

प्रकार किया है, "भूख के कारण हजारों व्यक्ति अपने बच्चों को खा गये। हड्डी का चूर्ण आटे में मिलाकर प्रयोग किया गया। कुत्तों का गोश्त खाद्य-सामग्री बन गया। अकाल के तुरन्त बाद महामारी के प्रचण्ड प्रकोप ने अनेक ग्राम व नगरो को ऊजड़ कर दिया। नगरों की नालियाँ मुर्दों से ठँस गयी। अनेक व्यक्ति उत्तरी भारत की ओर भाग गये। शाहजहाँ ने इस दारुण दुख को कम करने का प्रयत्न किया। उसने बुरहानपुर, अहमदनगर, सूरत तथा अन्य स्थानो पर भूखों को खाना खिलाने के लिए भोजनालय खोले, रुपया भी वितरण किया और ७० लाख रुपयों की मालगुजारी माफ कर दी। जागीरदारो ने भी अपनी जागीर में मालगुजारी की छूट दे दी और जनता के कष्ट-निवारण के लिए आवश्यक कार्यवाही की।

पुर्तगालियों से युद्ध

पुर्तगाली बंगाल में हुगली नदी के किनारे बस गये थे। शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के समय उन्हें बगाल में बसे हुए लगभग सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस बीच में उन्होंने अपनी शक्ति को काफी दृढ़ बना लिया था और हुगली को आधार बना उन्होंने भारत, चीन, मलक्का तथा मनीला के अनेक स्थानों से व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने अपनी बस्ती में रहने वाले अनेक व्यक्तियो का धर्म-परिवर्तन कर उन्हे ईसाई बना दिया था। अपनी बस्तियों में वह स्वतन्त्र राज्य का-सा आचरण करते थे। उनमें से कुछ समुद्री डाकू बन गये थे तथा कुछ ने बगाल के समृद्ध पूरबी भू-भागों में लूट-मार प्रारम्भ कर दी थी। वे पुर्तगाली मुस्लिम सीमा में रहने वाली शान्तिप्रिय प्रजा के दैनिक जीवन में भी हस्तक्षेप करते रहते थे। लेकिन फिर भी जहाँगीर के समय में इन्हें अपने कृत्यों का दण्ड न मिला। शाहजहाँ के काल के आरम्भ मे बगाल के गवर्नर कासिमखाँ ने सूचना भेजी कि पुर्तगालियों ने अपनी बस्तियों की सुरक्षा का दृढ प्रबन्ध कर लिया है, जहाजों पर कर लगा दिया है और सतगाँव को नष्टप्राय कर दिया है तथा वे गुलामो को बेचते और लूट-मार करते रहते हैं। शाहजहाँ तो पुर्तगालियों से पहले ही अप्रसन्न था क्योंकि जब शाहजहाँ ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था तो उन्होने उसका साथ नहीं दिया था और न उसके बादशाह बनने के बाद उसे यथोचित भेंट ही भेजी थी। लेकिन उनका सबसे बड़ा अपराध बेगम मुमताजमहल के लिए लायी गयी दो दासी कन्याओं की नावों को ले भागना था। इन सब कारणों से अप्रसन्न होकर शाहजहाँ ने कासिमखाँ को इन विदेशी आततायियो को दण्ड देने की आज्ञा दी। पुर्तगालियों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने का तत्कालीन कारण भी मिल गया जबकि एलफोन्सो नामक एक पुर्तगाली व्यापारी ने हुगली में स्थित किसी जमीन को लौटाने की अपील बंगाल के गवर्नर से की। कासिमखाँ ने एक बड़ी सेना इकट्ठी कर ली और अनेक नावें एकत्रित कर हुगली पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण जल और थल दोनों ओर से था। आक्रमण को विफल कर दिया गया और शान्ति-वार्ता आरम्भ हुई। पुर्तगाली उन दासी कन्याओं को लौटाने को प्रस्तुत हो गये परन्तु उन्हें हस्तान्तरित करते समय उन्होंने कठिनाइयाँ उत्पन्न कीं। इस पर मुगलों

को दूसरा आक्रमण करना पडा। इस बार वे पुर्तगाली बस्ती मे प्रवेश पाने मे सफल हुए। बस्ती का घेरा पाँच सप्ताह तक जारी रहा। उस पर गोलाबारी करने के लिए बहुत-सी तोपें मँगवायी गयी। पुर्तगालियो ने विवश होकर पुनः सन्धि की बातचीत प्रारम्भ कर दी और वे मुगलों को दो लाख रुपये देने को तैयार हो गये। लेकिन सन्धि न हो सकी। इसी बीच पुर्तगालियो ने अपनी स्थिति को संकटमय देख नावो में बैठकर शहर को खाली कर देना उचित समझा। नावो मे सवार होने से पहले मुगलो ने उन पर हमला कर दिया। उनके भागते-भागते एक भीषण युद्ध हुआ। लगभग ३,००० पुर्तगाली बच भागे और चार सौ के करीब गिरफ्तार करके आगरा लाये गये। इनसे इस्लाम धर्म स्वीकार करने को कहा गया और मना करने पर उन्हे कैद कर लिया गया। शाहजहाँ की पुर्तगाली नीति का समर्थन राजनीतिक दृष्टिकोण से अवश्य किया जा सकता है क्योंकि पुर्तगालियो ने शाहजहाँ को अप्रसन्न करने के काफी कारण उत्पन्न कर दिये थे। लेकिन कैदियो को इस्लाम धर्म स्वीकार कराने के उसके कृत्य को हम उसकी धर्मान्धता और असहिष्णुता कहकर ही पुकारेंगे। वास्तव में शाहजहाँ का यह कृत्य घृणित था।

दक्षिण की समस्या—३

समयान्तर मे दक्षिण की लडाई भी मन्द गति से जारी रही। शिवाजी के पिता शाहजी ने मुगलों को आत्मसमर्पण कर दिया और उसके बदले उसे कुछ भूमि जो पहले अहमदनगर के निवासी मलिक अम्बर के पुत्र फतहखाँ के पास थी, जागीर के रूप मे दे दी गयी। कुछ समय बाद जब आसफखाँ के संकेत और आदेश के अनुसार फतहखाँ ने अपने स्वामी निजामशाह सुल्तान को मार डाला तब उसे यह जमीन फिर प्रदान कर दी गयी। यह शाहजी को बहुत बुरा लगा। क्रोधोन्मत्त हो उसने बीजापुर के सुल्तान की नौकरी कर ली और प्रण किया कि वह फतहखाँ से दौलताबाद छीनकर रहेगा। फतहखाँ यह सुनकर बहुत भयभीत हुआ और उसने यह किला मुगल सेना-नायक महाबतखाँ को देने का वचन दिया और स्वयं मुगल सेना में भरती हो गया। महाबतखाँ ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और फतहखाँ की सहायता से बीजापुर की सेना को हटा दिया। लेकिन बीजापुर सेना के सेनापति रनदौलाखाँ ने—यद्यपि वह हार गया—एक भारी उत्कोच देकर फतहखाँ को अपनी ओर मिला लिया और मुगलो का साथ छुड़ा दिया। इस पर महाबतखाँ ने दौलताबाद का घेरा डाल दिया और उसने इसको १६३३ ई० में ३½ माह के घेरे के उपरान्त समस्त युद्ध-सामग्री सहित हस्तगत कर लिया। महाबतखाँ ने निजामशाही स्त्रियो को गढ छोड़ने की सुविधा दे दी। फतहखाँ और अहमदनगर का शाह निजाम जो कि अभी केवल एक बालक था, दोनों शाही दरबार मे भेज दिये गये। सुल्तान को आजन्म कारावास का दण्ड दे ग्वालियर के किले में रखा गया और फतहखाँ को पेन्शन देकर लाहौर में रहने की आज्ञा दे दी गयी। परन्तु दौलताबाद के पतन के पश्चात भी अहमदनगर राज्य समाप्त नहीं हुआ। इस राज्य के कुछ भाग—जैसे कि बालाघाट का प्रदेश—

अब भी अहमदनगर के अफसरों के हाथों में बना रहा और ये अफसर उस सुल्तान के प्रति, जिसको कि मरहठा सरदार शाहजी ने हुसैन निजामशाह के स्थान पर गद्दी पर बैठाया था, सदैव स्वामिभक्त बने रहे। वर्तमान पूना जिले का उत्तरी भाग और समस्त कोकण प्रदेश मरहठा सरदारों के अधिकार में रहा। शाहजी की अधीनता मे मरहठे सदैव मुगलो को तग करते रहे। अब महाबतखाँ ने परेण्डा पर अधिकार करने की तैयारी कर दी और एक दूसरी सेना शाहजी को जुन्नार तक पीछे हटा देने के लिए भेजी। परन्तु भरसक प्रयत्न करने के उपरान्त भी वह परेण्डा पर अधिकार न कर सका और राजकुमार शुजा के साथ, जो कि दक्षिण का नाममात्र का सेनानायक था, बुरहानपुर लौट आया। शाहजहाँ ने महाबतखाँ को उसकी असफलता के लिए बहुत बुरा-भला कहा। इससे दुखी होकर अक्तूबर १६३४ ई० मे उसका देहान्त हो गया।

मुगल सेनाओं को दक्षिण से वापस बुलाने का यह परिणाम हुआ कि उस प्रदेश में फिर गडबड़ हो गयी। मरहठों की लूटमार के अतिरिक्त बीजापुर राजदरबार षड्यन्त्रों का केन्द्र बना रहा। इसलिए शाहजहाँ १६३६ ई० के प्रारम्भ मे ही बीजापुर तथा गोलकुण्डा को सदैव के लिए शान्त करने के उद्देश्य से दक्षिण की ओर रवाना हुआ। दौलताबाद पहुँचकर उसने बीजापुर के सुल्तान के पास पत्र भेजे। इन पत्रों मे उस सुल्तान से यह माँग की कि वह अधीनतास्वरूप प्रति वर्ष कुछ भेंट बादशाह को दे तथा बीजापुर से मरहठों तथा अहमदनगर के अन्य सहायकों को निकाल दे। चूँकि सुल्तान ने इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया इसलिए शाहजहाँ ने बीजापुर पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इसस सुल्तान बहुत भयभीत हुआ और उसने पुन: सुलह की बातचीत प्रारम्भ की तथा एक नयी सन्धि जिसकी शर्तें शाहजहाँ ने स्वयं निश्चित कीं, स्वीकार करने को सहमत हो गया। बीजापुर ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और प्रति वर्ष २० लाख रुपये देना स्वीकार किया। उसने यह भी वचन दिया कि वह गोलकुण्डा नरेश के साथ भी मैत्री-सम्बन्ध बनाये रखेगा तथा गोलकुण्डा से सम्बन्धित अपने सब झगड़े सम्राट की मध्यस्थता से सुलझायेगा। इस सन्धि के अनुसार अहमदनगर की सीमा निश्चित कर दी गयी तथा परेण्डा और कोकण बीजापुर के अधिकार में सौंप दिये गये। बीजापुर नरेश ने वचन दिया कि यदि शाहजी ने जुन्नार तथा ट्रिम्बक का निकटवर्ती प्रदेश मुगलों को न सौंपा तो वह शाहजी के विरुद्ध मुगलों की सहायता करेगा। यह सन्धि मई १६३६ ई० में हुई और नवम्बर १६५६ ई० तक बनी रही।

शाहजहाँ अब गोलकुण्डा की ओर आकृष्ट हुआ। गोलकुण्डा के साथ शर्ते तय करना अधिक कठिन न था क्योंकि वहाँ का सुल्तान अहमदनगर तथा बीजापुर की अपेक्षा अधिक नम्र था। इसके अतिरिक्त जब शाहजहाँ ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था तो गोलकुण्डा ने शाहजहाँ की सहायता की थी। गोलकुण्डा के नये सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह ने भी १६३१ ई० के प्रारम्भ में शाहजहाँ को जब वह खानजहाँ

लोदी के विद्रोह को दबाने के लिए दक्षिण आया था, एक अमूल्य भेंट भी भेजी थी। गोलकुण्डा ने उस समय भी जबकि महाबतखाँ ने बीजापुर पर हमला किया था, बीजापुर सुल्तान की सहायता करने से मना कर दिया था। परन्तु इन कारणों के होते हुए भी दोनो की वास्तविक मित्रता होने में एक कठिनाई थी। शाहजहाँ कट्टर सुन्नी था जबकि गोलकुण्डा का सुल्तान पक्का शिया था और वह फारस के बादशाह को अपना मुखिया मानता था। इसलिए शाहजहां ने यह मांग पेश की कि गोलकुण्डा में शिया रीति-रिवाजों का पालन न किया जाय तथा खुतबे मे से फारस के बादशाह का नाम हटा दिया जाय। गोलकुण्डा का सुल्तान थोडी आनाकानी करने के उपरान्त शीघ्र ही ऐसा करने को राजी हो गया। खुतबे मे शाहजहाँ का नाम रख दिया गया। गोलकुण्डा की सीमा पर से मुगल सेनाएँ हटा ली गयीं और दोनों के बीच नयी सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये।

सन्धि की शर्तें थीं कि खुतबे में से शिया-धर्मद्योतक शब्द हटा लिये जायेंगे। सिक्कों पर शाहजहाँ का नाम रहेगा तथा खुतबा शाहजहाँ के नाम से पढा जायेगा। सुल्तान ने दो लाख 'हून' जो ६ लाख रुपये के लगभग होते हैं, वार्षिक कर देना स्वीकार किया। उसने पिछला बकाया कर भी भुगतान करना स्वीकार किया तथा यह वचन दिया कि यदि बीजापुर ने मुगलों पर आक्रमण किया तो गोलकुण्डा बीजापुर के विरुद्ध मुगलों की सहायता करेगा। यह सन्धि मई १६३६ ई० में हुई।

दक्षिण की तीसरी समस्या उन मराठों का दमन करना था जिन्होंने शाहजी के नेतृत्व में विस्तृत सैनिक-शक्ति एकत्रित कर ली थी। शाहजहाँ ने दक्षिण आते ही खानजमा के नेतृत्व में शाहजी की मातृभूमि पर अधिकार करने तथा कोंकण प्रान्त से मरहठों को निकालने के लिए एक सेना भेजी। शाहजी की मातृभूमि अहमदनगर के दक्षिण और दक्षिण-पूरब में स्थित थी। इसके अतिरिक्त सेना का एक भाग शाइस्ताखाँ के नेतृत्व में इस इलाके पर अधिकार करने के लिए अहमदनगर के उत्तर-पश्चिम से भेजा गया। शाइस्ताखाँ अपने उद्देश्य में सफल हुआ किन्तु खानजमा जिसे शाहजी के विरुद्ध भेजा गया था अपने प्रयत्न में विफल रहा। शाहजी बीजापुर की सेना में सम्मिलित होने के लिए तैयार था और नदी को पार करना चाहता था ताकि वह खानजमा से एक और मोर्चा ले सके। लेकिन इसी बीच खानजमा को शाहजी का पीछा न करने का आदेश मिला। अब तक मुगलों और बीजापुर के बीच सन्धि हो गयी थी। उसके अनुसार खानजमा को शाहजी से जुन्नार छीन लेने के लिए भेजा गया। बीजापुर ने शाहजी को जुन्नार मुगलों के सुपुर्द करने के लिए बहकाना-फुसलाना चाहा लेकिन मरहठा सरदार किसी प्रकार राजी न हुआ। विवश हो मुगलो को जुन्नार पर हमला करना पड़ा और शाहजी ने युद्ध के उपरान्त इस किले को उस लड़के सहित जिसे उसने अहमदनगर का सुल्तान घोषित किया था, मुगलों के सुपुर्द कर दिया। इस अल्प-आयु बादशाह को ग्वालियर के किले में कैद में कर दिया गया। शाहजी ने बीजापुर की नौकरी कर ली। इस प्रकार कुछ समय के लिए शाहजहाँ दक्षिण की समस्या को सुलझाने में सफल हुआ।

शाहजहाँ की कन्धार प्राप्ति (१६३८ ई०)

एक शताब्दी से भी अधिक काल से कन्धार भारत के मुगल बादशाहों और फारस के शाह के बीच लड़ाई-झगड़ो का कारण बना हुआ था। जहाँगीर के शासन के अन्तिम काल मे यह दुर्ग मुगलों के हाथ से निकल गया। शाहजहाँ स्वाभाविक रूप से इसे वापस लाने के लिए व्याकुल था। शाहजहाँ ने फारस के दूतों का भव्य स्वागत कर तथा उन्हे बड़ी-बड़ी भेंटें देकर फारस के शाह को अपने गुणों से प्रभावित करना चाहा। इसके अतिरिक्त उसने अपनी दक्षिण-विजय तथा विद्रोहियो का दबाने के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन द्वारा शाह को अपनी सैनिक-शक्ति से भी प्रभावित करने का प्रयत्न किया। फारस का बादशाह शाह अब्बास शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के केवल एक साल बाद मर गया था। उसके बाद फारस की गद्दी पर एक अल्पवयस्क बादशाह बैठा जिसका ध्यान तुर्कों के साथ युद्ध करने में लगा रहा। कन्धार का गवर्नर अली मरदानखाँ फारस के बादशाह से नाराज था क्योंकि फारस के मन्त्री मारूतकी ने इस गवर्नर से उसकी आय-व्यय का विवरण माँगा था। अपनी आज्ञा का पालन कराने के लिए उसने सेना की एक टुकड़ी भी कन्धार भेज दी थी। इससे बचने के लिए अली मरदानखाँ ने मुगल अफसरों के साथ मिलकर एक षड्यन्त्र का सृजन किया और कन्धार शाहजहाँ को सौंपने को तैयार हो गया। १६३८ ई० के प्रारम्भ मे ही उसने अपनी सेनाएँ मुगल बादशाह को सौप दी और कन्धार दुर्ग मे भारतीय सेनाओं को रख लिया। शाहजहा का नाम भी खुतबे मे पढा जाने लगा तथा सिक्के भी उसके नाम से प्रचलित हो गये। इस प्रकार कन्धार का सूबा बिना किसी कठिनाई के मुगलों ने हस्तगत कर लिया। अली मरदानखाँ को उचित पुरस्कार दिया गया और बाद में उसे काश्मीर का गवर्नर नियुक्त किया गया।

अन्य छोटी-छोटी विजयें

लगभग एक सौ वर्ष से मुगल तिब्बत के सूखे प्रदेश पर ताक लगाये बैठे थे। उसे प्राप्त करने के उन्होने कई असफल प्रयत्न भी किये थे। जहाँगीर ने भी इस प्रदेश से सेनाएँ भेजी थी, परन्तु सफल न हो सका। शाहजहा ने भी अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चलकर एक बार फिर तिब्बत विजय का प्रयास किया १६३४ ई० मे बल्किस्तान अथवा लघु तिब्बत के शासक अब्दल के विरुद्ध उसने सेनाएँ भेजीं। आक्रमण का तात्कालिक कारण यह था कि अब्दल ने काश्मीर के चक्क लोगो को अपने यहाँ शरण दी थी। अब्दल ने आत्मसमर्पण कर दिया, परन्तु कुछ कालोपरान्त ही उसने बादशाह के प्रति अपनी वफादारी त्याग दी। इसलिए उसके विरुद्ध एक दूसरी सेना भेजी गयी। अब्दल को युद्ध का खर्चा देना पड़ा तथा चक्को के नायक को मुगलों के हाथ सौंपना पड़ा। एक साल बाद शाहजहा को सूचना मिली कि समस्त तिब्बत ने विद्रोह कर दिया है, इसलिए दूसरी सेना भेजनी पड़ी। तिब्बतवासी हार गये। इस प्रकार भारत की उत्तरी सीमा पर शान्ति स्थापित हुई।

कुछ अन्य छोटी-छोटी विजयें भी प्राप्त की गयी। १६३७ ई० के अन्त में

बगलाना का इलाका, जो आजकल नासिक जिले मे है, जीत लिया गया। डामन तथा ड्यू में पुर्तगालियों का घेरा डाला गया और उन्हे मजबूर होकर आत्मसमर्पण करना पडा। पजाब मे कांगड़ा मे विद्रोह हुआ। जगतसिंह ने, जो कि वहाँ का गवर्नर था, मुगलो की अधीनता मानना अस्वीकार कर दिया था, लेकिन उसे भी विवश होकर १६४२ ई० के आरम्भ मे ही आत्मसमर्पण कर देना पडा। बुन्देलखण्ड के नये शासक चम्पतराय ने बुन्देलखण्ड मे विद्रोह कर दिया। उसके दमन का कार्य अब्दुल्लाखाँ को सौपा गया। ओरछा और झाँसी के बीच मे मुगलो की सेना ने अचानक बुन्देले सरदार को घेर लिया। यद्यपि चम्पतराय बच निकला परन्तु उसका गोद लिया हुआ लड़का पृथ्वीराज कैद कर लिया गया और ग्वालियर के किले मे कैद करके रखा गया। मई १६४२ ई० मे चम्पतराय आत्मसमर्पण के लिए तैयार हो गया और उसने मुगलो की सेवा करना स्वीकार कर लिया।

गंगा के दक्षिण तथा बुन्देलखण्ड के पूरबी इलाके पर भी अधिकार कर लिया गया। बुन्देलखण्ड के सरदार लछमनसिंह ने आत्मसमर्पण कर दिया। बिहार की एक आदि-जाति चेराओं ने भी जो पालामऊ (बिहार) मे रहती थी, मुगलो की अधीनता स्वीकार कर ली। अप्रैल १६४३ ई० मे गोंड और मालवा के भील, जो कि विद्रोही बन बैठे थे, दबा दिये गये।

शाहजहाँ की मध्य एशिया विषयक नीति

मुगलो की दीर्घकाल से यह लालसा थी कि वे मध्य एशिया मे ट्रान्स-ऑक्सियाना पर, जो कि उनकी मातृभूमि मानी जाती थी, किसी प्रकार अधिकार जमा लें। बाबर ने अपने पूर्वज तैमूर की प्राचीन राजधानी समरकन्द पर अधिकार करने के अनेक प्रयत्न किये थे, परन्तु विफल रहा। हुमायूँ भी इस प्रयत्न में असफल रहा था। अकबर और जहाँगीर की भी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी और वे परिस्थितिवश इसके लिए प्रयत्न भी न कर सके। शाहजहाँ ने समरकन्द पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। उस समय समरकन्द अस्तराखाँ के जानिदो के अधिकार मे था। वहाँ की गद्दी पर इमाम कुली राज्य करता था। यह एक महत्त्वाकाक्षी राजा था, जिसकी ललचायी दृष्टि सदैव काबुल पर लगी रहती थी। शाहजहाँ के राज्याभिषेक के समय फैली हुई अव्यवस्था से लाभ उठाकर इमाम कुली के भाई नजर मोहम्मद के नेतृत्व मे उजबेगों ने काबुल पर हमला किया था परन्तु इसमें उन्हें पूर्ण सफलता न मिली और ग्रीष्मऋतु में नजर को लौट जाना पड़ा क्योंकि उसकी सेना इस तीक्ष्ण ऋतु में आगे बढ़ने के लिए तैयार न थी। अगले वर्ष मई १६२६ ई० में नजर मुहम्मद ने काबुल पर फिर हमला किया और बमियान पर कब्जा कर लिया। उसमें उसे अधिक सफलता न मिल सकी और उसे लौट जाना पड़ा। इन हमलों से हिन्दुस्तान में मुगलों में काफी क्षोभ फैल गया। लेकिन नजर मोहम्मद ने क्षमायाचना कर ली और दोनों पड़ोसी रियासतों के सम्बन्ध फिर से अच्छे हो गये।

१६३६ ई० में शाहजहाँ ने बदला लेने का विचार किया और उसने उजबेगों

पर आक्रमण करने की योजना बनायी। उसके मन में अपने पूर्वजों के स्वप्न की पूर्ति का उत्साह तथा हृदय में ट्रान्स-ऑक्सियाना पर राज्य करने की महत्त्वाकाक्षा थी। ट्रान्स-ऑक्सियाना के आन्तरिक कलह ने शाहजहाँ को स्वर्ण-अवसर प्रदान किया। नजर मोहम्मद ने अपने भाई इमाम कुली को, जो अब लगभग अन्धा हो चुका था, गद्दी से उतार दिया था, लेकिन नजर मोहम्मद सर्वप्रिय नहीं था क्योंकि उसने बहुत शीघ्र ही धार्मिक आचार्यों को अप्रसन्न करके अपना विरोधी बना लिया था। दशा उस समय और बिगड़ गयी जब ख्वारिज्म अर्थात खीवा मे विद्रोह हो गया और नजर मोहम्मद ने उसे दबाने के लिए अपने लड़के अब्दुल अजीज को भेजा। यह घटना १६४५ ई० में हुई। अब्दुल अजीज ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और अपने आपको बुखारा का शासक घोषित कर दिया। नजर मोहम्मद को परेशान होकर बलख में जाकर शरण लेनी पड़ी। इन सब आन्तरिक झगड़ों ने शाहजहाँ को बदला लेने तथा अपने पूर्वजो की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए प्रोत्साहित किया। काबुल के गवर्नर को उजबेगों की कठिनाई से लाभ उठाने को कहा गया। उसने एक सेना भेजी और काहमर्द के किले को जीत लिया, लेकिन शरद्‌ऋतु के आरम्भ में ही यह किला हाथ से निकल गया। मुगलों के इस भय से नजर मोहम्मद ने अपने लड़के से समझौता कर लिया और यह तय हुआ कि नजर मुहम्मद तो बलख को अपने अधिकार में रखे और बुखारा अब्दुल अजीज के पास रहे। नजर मोहम्मद ने शाहजहाँ से भी सहायता के लिए प्रार्थना की थी और शाहजहाँ ने अनिश्चित शब्दों में वायदा भी कर लिया था परन्तु शाहजहाँ ने इस सुअवसर का स्वागत किया क्योंकि इस प्रकार वह आसानी से समरकन्द, बलख तथा बुखारा को अपने अधिकार में ले सकता था। वह काबुल गया और एक बड़ी सेना तथा धन एकत्रित किया और उजबेगों के विरुद्ध आक्रमण की एक विस्तृत योजना बनायी। मुराद को इस हमले का भार सौंपा गया। सेना जून के मध्य तक रवाना नहीं हुई। जून मे राजकुमार ने तारिन तथा कुन्दुज मे प्रवेश किया और उन पर अधिकार कर लिया। बादशाह की यह नीति थी कि पहले वह बुखारा और समरकन्द को लेने में नजर मोहम्मद की सहायता करे और फिर उन्हें उसके हाथों से छीन ले। नजर मोहम्मद शाहजहाँ की इस बात को ताड़ गया और मुगल सेना की प्रगति को रोकने की कोशिश करने लगा। दिखाने के लिए उसने यहाँ तक बहाना किया कि वह अपना राज्य मुगलों को सौंपकर मक्का जाने की तैयारी कर रहा था। इसकी घोषणा उसने चारों ओर करवा दी। मुराद भी इन चालों को समझ गया और जुलाई १६४६ ई० में उसने बलख के विरुद्ध धावा बोल दिया। उसके आने पर नजर मोहम्मद भाग खड़ा हुआ और मुगलों ने बलख पर अधिकार कर लिया। उन्होंने सारे शहर में लूट-मार की और खूब धन एकत्रित किया। तत्पश्चात मुराद ने तिरमिज पर अधिकार कर लिया। इसके बाद मुगल सेना ने नजर मोहम्मद को शिबारबन पर हराया। नजर मोहम्मद पहले मर्व भाग गया और बाद में फारस चला गया। इस सफलता से शाहजहाँ को अत्यन्त प्रसन्नता हुई और उसने इस खुशी

में बलख मे सिक्के चालू करवाकर उत्सव मनाया। लेकिन उसकी यह प्रसन्नता स्थायी सिद्ध न हुई क्योंकि मुराद जो हिन्दुस्तान मे ऐशो-आराम में पला था; शीघ्र ही यहाँ की खुश्क जलवायु तथा बजर प्रदेश मे ऊब उठा और उसने यहाँ ठहरना पसन्द न किया तथा अपने पिता से प्रार्थना की कि उसे वापस बुला लिया जाय। शाहजहाँ को यह देखकर निराशा हुई लेकिन उसने कूटनीति से काम लेना चाहा। उसने नजर मोहम्मद को एक पत्र अपना आशय व्यक्त करते हुए लिखा। उसने यह प्रकट किया कि उसका उद्देश्य तो केवल बलख से दुष्ट व्यक्तियो को भगाना तथा उसके बाद बलख नजर मोहम्मद के सुपुर्द करना था; राजकुमार मुराद ने अपनी अनुभवहीनता तथा आयु के जोश में आकर आज्ञा से अधिक काम कर डाला है। फारस के बादशाह शाह अब्बास द्वितीय को उसके राज्याभिषेक के लिए बधाई देते हुए उसने मुगलो के बलख पर हमले के समय भारत को तटस्थ रहने की प्रार्थना की, लेकिन शाही कूटनीति विफल रही। फारस का बादशाह तटस्थ न रहा और न नजर मोहम्मद बादशाह के शब्द जाल मे फँस पाया। मुराद वापस बुला लिया गया और उसकी जगह औरंगजेब को बलख भेज दिया गया। लेकिन फिर भी कबाइलियों ने मुगल सेना के मार्ग मे रोड़े अटकाये। अब्दुल अजीज एक बड़ी सेना एकत्रित करके युद्ध के लिए ऑक्सस नदी के पास आ जमा। ज्योंही औरंगजेब बलख के नजदीक आया अब्दुल अजीज लड़ने को प्रस्तुत हो गया। एक दूसरी उजबेग सेना बलख पर दूसरी दिशा से आक्रमण करने को रवाना हुई। औरंगजेब को घोर युद्ध करना पड़ा जिसमे अब्दुल अजीज की हार हुई। परन्तु औरंगजेब के धैर्य तथा साहस से उजबेगो पर बहुत प्रभाव पड़ा। राजकुमार औरंगजेब सूर्यास्त के समय लड़ाई के मैदान मे ही घोडे के पीठ पर से उतर पड़ा तथा नमाज पढ़ने लगा। तदनुसार अब्दुल अजीज से सन्धि करने का विचार करने लगा और बुखारा को अपने भाई को सौपने को राजी हो गया। नजर मोहम्मद ने फारस के शाह को पत्र लिखकर गद्दी छोड़ देने की इच्छा व्यक्त की। लेकिन मुगलों की यह सफलता स्थायी सिद्ध न होकर केवल क्षणिक रही। औरंगजेब ऑक्सस से आगे न बढ़ सका। उसके अफसर उस प्रतिकूल जलवायु मे रहकर लड़ना नही चाहते थे। उन्हें ट्रान्स-ऑक्सियाना का यह प्रदेश बिलकुल नीरस प्रतीत होता था। औरंगजेब भी भारत लौट आना चाहता था क्योंकि वह अपने पिता मे बाद दिल्ली की गद्दी पर बैठना चाहता था। उजबेग लोग जो शायद मुगलों के सेनापति तथा अफसरों की मनोवृत्ति का ताड़ गये थे, बराबर अपने अत्याचार करते रहे। नजर मोहम्मद फारस से लौट आया और उसने अफगानिस्तान स्थित मुगल चौकियो पर हमले करने शुरू कर दिये। नजर मोहम्मद को फारस से बराबर सहायता मिलती रही। क्योंकि फारस का शाह मुगलों से कन्धार छीनना चाहता था। औरंगजेब को विवश होकर ट्रान्स-ऑक्सियाना से लौट आना पड़ा और अफगानिस्तान की तरफ उजबेगों के हमले का मुकाबला करने के लिए रवाना हुआ। शाहजहाँ ने औरंगजेब को सलाह दी कि यदि नजर मोहम्मद क्षमायाचना करे तो वह उसे स्वीकार कर ले। नजर मोहम्मद ने

अपने पोते के द्वारा माफी माँगनी चाही, इस प्रकार चौकियो मे पड़ी हुई मुगल सेना कुछ ढीली तथा गाफिल-सी हो गयी क्योंकि उसे भ्रम हो गया कि शायद नजर मोहम्मद को उसका देश वापस मिल जाय। औरगजेब को काबुल से लौटना पड़ा और रास्ते में उसे उजबेगों ने बहुत परेशान किया।

फारस के शाह अब्बास ने अब खुल्लमखुल्ला उजबेगो का साथ देना शुरू कर दिया था। १६४८ ई० मे उसने शाहजहाँ से यह माँग की कि वह कन्धार उसे लौटा दे। उसने यह भी चाहा कि शाहजहाँ नजर मोहम्मद को बलख लौटा दे। शाह अपनी कूटनीति को बलपूर्वक सफल बनाने के लिए खुरासान की ओर रवाना हुआ और खुरासान का घेरा डाल दिया। परन्तु मुगल पहले ही बचे हुए बलख के हिस्से को खाली कर चुके थे।

कन्धार का हाथ से निकलना

मध्य एशिया मे शाहजहाँ की असफलता पर शाह अब्बास द्वितीय अत्यन्त प्रसन्न हुआ क्योंकि इससे सीमान्त प्रदेश मे मुगलो की शक्ति कमजोर पड़ गयी और अब कन्धार का लेना पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सरल हो गया। १६४८ ई० मे फारस के शाह ने, जो अब बालिग हो चला था, शासन की बागडोर अपने हाथ मे ले ली और कन्धार पर चढ़ाई करने की तैयारी प्रारम्भ कर दी। खुरासान से रवाना होकर वह कन्धार के निकट आ गया और बिस्त के किले पर आक्रमण कर दिया। शाहजहाँ ने तुरन्त एक भारी सेना एकत्रित करके औरगजेब के नेतृत्व मे नगर तथा दुर्ग की रक्षार्थ भेजी। इस बीच मे फारस की सेना बिस्त पर अधिकार कर चुकी थी और कन्धार पर धावा बोल दिया था। दौलतखाँ के नेतृत्व मे कन्धार दुर्ग में जो सेना थी, वह शीघ्र ही हताश हो गयी क्योंकि उनके विचार में इतनी जल्दी दिल्ली से सहायता मिलना असम्भव था। इस सेना की कुछ टुकड़ियों ने अपने परिवार तथा बच्चो को बचाने के उद्देश्य से चुपचाप आक्रमणकारियो से सन्धि वार्ता प्रारम्भ कर दी। दौलतखाँ इस षड्यन्त्र को दबा न सका। अन्ततोगत्वा वह स्वय इस षड्यन्त्र मे सम्मिलित हो गया और फरवरी १६४९ ई० में फारस के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। औरंगजेब इस समर्पण के एक मास बाद कन्धार पहुँचा। शाहजहाँ यह जानकर अत्यन्त क्षुब्ध हुआ और उसने औरंगजेब को तुरन्त किसी भी प्रकार सरहद की इस महत्त्वपूर्ण चौकी को वापस लेने की आज्ञा दी। सम्राट स्वयं सेना की हिम्मत बँधाने के लिए काबुल के पास ही एक स्थान पर आ पहुँचा।

वजीर सादुल्लाखाँ के साथ औरगजेब ५०,००० सैनिको को साथ लेकर गजनी के रास्ते से आगे बढ़ा और मई १६४९ ई० में कन्धार आ पहुँचा। तुरन्त किले को घेर लिया गया। पूरे ग्रीष्मकाल लड़ाई चलती रही लेकिन घिरी हुई सेनाओं पर कुछ असर नहीं हुआ क्योंकि वे पहले से ही फारस से काफी मदद पा चुके थे। मुगल सेना का काफी नुकसान उठाना पड़ा क्योंकि उसके पास न तो ठीक प्रकार रसद ही आ पाती थी और न युद्ध-सामग्री ही। उनके पास बमबारी करने वाली बड़ी तोपें भी

नहीं थी। तेजी से शरदऋतु आ रही थी और युद्ध जारी रखना सम्भव न था। इसलिए सम्राट ने लड़ाई बन्द करने का आदेश दे दिया। औरंगजेब ने घेरा उठा लिया और वह सितम्बर १६४६ ई० मे लाहौर के लिए रवाना हो गया।

१६५२ ई० में शाहजहाँ ने कन्धार लेने का एक प्रयत्न और करना चाहा और इसका भार औरंगजेब को सौंपा गया। औरंगजेब १६४६ ई० की असफलता के कलंक को धो डालना चाहता था। इस बार औरंगजेब एक सुव्यवस्थित सेना तथा बड़ी-बड़ी गोले बरसाने वाली तोपों तथा हाथी और ऊँटों को लेकर रवाना हुआ। लड़ाई में खर्चे के लिए दो करोड रुपये उसे मिले। इस प्रकार पूर्ण सजधज और तैयारी के साथ इस बार औरंगजेब ने हमला बोला। कन्धार का यह दूसरा युद्ध २२ मई, १६५२ ई० को प्रारम्भ हुआ और दो माह दस दिन तक चला। फारस की तोपों के सामने मुगलों की वीरता फीकी पड गयी। उधर उजबेगों ने गजनी मे संकट उत्पन्न कर दिया। गजनी कन्धार और काबुल के रास्ते में स्थित थी। इस भय से कि कहीं फारस वाले और उजबेग दोनों न मिल जायें, शाहजहाँ ने औरंगजेब से घेरा उठा-लेने को कहा तथा उसके वापस लौट आने पर जोर दिया। राजकुमार की युद्ध करने की आज्ञा रद्द कर दी गयी और उसको वापस बुलाकर दक्षिण का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया।

कन्धार को जीतने का काम अब दारा को सौंपा गया। दारा औरंगजेब की असफलताओं से अत्यन्त प्रसन्न था और उसे घमण्ड था कि वह केवल सात दिन में ही कन्धार को जीत लेगा। गद्दी का उत्तराधिकारी यह राजकुमार एक करोड़ रुपये तथा बड़ी सेना तथा भारी-भारी तोपें लेकर फरवरी १६५३ ई० मे कन्धार के लिए रवाना हुआ। उसने सबसे पहले आसपास का इलाका जीता ताकि कन्धार की फौज को फारस से कोई मदद न मिल सके। उसने बिस्त और गिरीषक—जो कन्धार के पश्चिम में स्थित थे—जीत लिये। उसने आसपास का इलाका उजाड़ डाला और कन्धार पर गोलाबारी करने की आज्ञा दी। इस गोलाबारी से जहाँ-तहाँ कन्धार दुर्ग की दीवारें हिल उठीं लेकिन फारस की जोरदार तोपों के कारण मुगल गढ मे प्रवेश करने का साहस न कर सके। फिर भी दारा को औरंगजेब से कहीं अधिक सफलता मिली और इससे फारस की सेना भयभीत हो उठी। परन्तु दुर्भाग्यवश शरद्ऋतु के आगमन के साथ शत्रु का पलड़ा भारी हो गया और फारसी लोगों की स्थिति अधिक दृढ़ हो गयी। इधर मुगलों का गोला-बारूद भी समाप्त हो चला था इसलिए अक्तूबर १६५३ ई० के आरम्भ मे सेना को वापस बुला लेना निश्चित किया गया।

कन्धार के इन तीनों आक्रमणों से (१६४६, १६५२, १६५३ ई०) साम्राज्य की आर्थिक दशा को काफी धक्का पहुँचा। इनमें लगभग १२ करोड़ रुपये व्यय हुए और कोई विशेष लाभ न हो सका। एक इंच भर भूमि भी मुगल-साम्राज्य को न मिल सकी। मुगल-साम्राज्य के हाथ से केवल कन्धार का अगम दुर्ग ही न छिना अपितु आस-पास का बहुत-सा प्रदेश भी उनके हाथ से निकल गया। बहुत-से आदमी

तथा बोझा ढोने वाले जानवर मारे गये। बादशाह के राजनीतिक तथा सैनिक सम्मान को भी काफी धक्का पहुँचा क्योंकि इससे बादशाह की सेना का खोखलापन स्पष्ट हो गया। इससे फारस के शाह की हिम्मत बहुत बढ़ गयी और वह अब हिन्दुस्तान के उपजाऊ मैदान पर भी हमला करने के स्वप्न देखने लगा। इससे मुगलों को सदैव फारस से सतर्क रहना आवश्यक हो गया। शाहजहाँ के जीवनकाल के बचे हुए दिनों में भारत और फारस सम्बन्ध सदैव तने रहे।

बीजापुर तथा गोलकुण्डा के साथ युद्ध—औरंगजेब का द्वितीय वायसराय काल

नवम्बर १६५२ ई० में औरंगजेब पुनः एक बार दक्षिण का सूबेदार बना। १६४१ से १६४४ ई० तक वह इस भाग का वायसराय रह चुका था। इसलिए यह उसका दूसरा अवसर था जबकि उसे इस इलाके की सूबेदारी सौंपी गयी। औरंगजेब ने बड़ी लगन के साथ इस इलाके की आर्थिक दशा सुधारनी चाही। अपने दीवान मुर्शिदकुलीखाँ की मदद से जो कि एक कुशल शासक और अर्थवेत्ता था, उसने सर्व-प्रथम मालगुजारी का बन्दोबस्त सम्पूर्ण किया। मुर्शिदकुलीखाँ ने टोडरमल के द्वारा प्रचलित मालगुजारी का तरीका अपनाया। उसने जमीन [illegible] के आधार पर राज्य-कर निर्धारित किया। वह शीघ्र ही यह जान गया कि [illegible] देश में एकसा कर निर्धारित नहीं किया जा सकता इसलिए उसने स्थानीय रीति-रिवाजों और प्रथाओं का काफी ध्यान रखा। इसके साथ-साथ 'जब्ती', 'बटाई' और 'नस्ख' भी जारी रहे। 'बटाई' इलाके में राज्य का हिस्सा $\frac{1}{2}$ तथा जिन जगहों पर नाप-जोख नहीं हो सकी वहाँ $\frac{1}{4}$ था। इन उपायों से किसानों की दशा काफी उन्नत हो गयी। राजकुमार ने अपने पिता की आज्ञा से पदाधिकारियों में जमीन का वितरण नये ढंग से कर दिया। आर्थिक दशा में उचित सुधार करने के बाद अब वह राजनीतिक मामलों की ओर ध्यान देने के लिए स्वतन्त्र हो गया।

अपने पूर्वजों के पदचिह्नों पर चलकर उसने भी गोलकुण्डा और बीजापुर के राज्यों को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया। समस्त दक्षिणी भारतवर्ष में अपना साम्राज्य फैलाने की लालसा से व्याकुल एक मुगल नीतिज्ञ के लिए, बीजापुर और गोलकुण्डा की 'शिया' धर्मावलम्बी रियासतों पर धावा बोलने का बहाना ढूँढ निकालना कोई कठिन कार्य न था। गोलकुण्डा एक धनसम्पन्न रियासत थी। कुछ ही पहले उसने कर्नाटक का प्रदेश जीता था। शिया धर्म से चिढ़ने वाले शाहजहाँ तथा औरंगजेब गोलकुण्डा के इस कार्य से प्रसन्न न हुए और शाहजहाँ ने इस अपराध के दण्डस्वरूप गोलकुण्डा से एक भारी रकम माँगी। इसके अतिरिक्त गोलकुण्डा ने १६३६ ई० की सन्धि के अनुसार निश्चित वार्षिक भेंट भी पिछले कुछ दिनों से शाहजहाँ को नहीं भेजी थी। लेकिन युद्ध का तात्कालिक कारण यह था कि गोलकुण्डा के सुल्तान ने मीर जुमला के लड़के मोहम्मद अमीन को कैद कर लिया था। मोहम्मद अमीन ने औरंगजेब से मदद की प्रार्थना की। मीर जुमला का असली नाम मीर मोहम्मद सैयद था। वह आर्दिस्तान का रहने वाला था। वह गोलकुण्डा में एक जौहरी का नौकर

बनकर आया था। अपने मालिक की मृत्यु के उपरान्त वह धनवान बन बैठा। उसके धन और ऐश्वर्य के कारण गोलकुण्डा के शाह (कुतुबशाह) का ध्यान उसकी ओर खिंच गया और उसने उसे प्रधानमन्त्री बनाकर 'मीर जुमला' की उपाधि से विभूषित किया।

मीर जुमला एक महत्त्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ था। उसने हिन्दू मन्दिरों की लूट और हीरे की खानों की खुदाई कराकर अपना धन बढ़ा लिया। उसने बहुत शीघ्र ५,००० घुडसवार, २०,००० पैदल सेना तथा अनेक युद्ध के हाथी और गोला-बारूद आदि लड़ाई का सामान एकत्रित कर लिया। उसने बिना किसी की सहायता के कर्नाटक जीत लिया और चन्द्रगिरि के राजा को हरा दिया। इस प्रकार उसने एक राज्य बना लिया और स्वयं उसका एकाधिपति बन बैठा। मीर जुमला की महत्त्वाकांक्षा, धन और उद्दण्ड उत्साह को देखकर गोलकुण्डा का सुल्तान भयभीत हो गया और उसने इसे कैद करके अन्धा बना डालना चाहा। मीर जुमला के कानों में गोलकुण्डा के षड्यन्त्र की भनक पड़ गयी और उसने बुलाये जाने पर दरबार में उपस्थित होने से मना कर दिया। उसने बीजापुर, फारस तथा दक्षिण के सूबेदार औरंगजेब के साथ बातचीत प्रारम्भ कर दी। ठीक इसी समय इसके लड़के मोहम्मद अमीन ने अपनी अशिष्ट व्यवहार से भरे दरबार में सुल्तान को अप्रसन्न कर दिया, जिस पर सुल्तान ने मुहम्मद अमीन को सपरिवार गिरफ्तार करवा लिया और उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। यह घटना १ दिसम्बर, १६५५ ई० को हुई। औरंगजेब ने इस घटना से लाभ उठाया और अपने पिता से गोलकुण्डा पर धावा बोलने की आज्ञा प्राप्त करने के उपरान्त कुतुबशाह से मोहम्मद अमीन और उसके लड़के को छोड़ देने की माँग की और यह धमकी दी कि यदि उसकी माँग पूरी नहीं की गयी तो वह तुरन्त आक्रमण कर देगा। उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही औरंगजेब ने युद्ध की घोषणा कर दी और अपने लड़के राजकुमार मुहम्मद को जनवरी १६५६ ई० में एक बड़ी सेना सहित गोलकुण्डा प्रवेश की आज्ञा दी। ज्योंही औरंगजेब की सेना सुल्तान की सीमा के अन्दर घुसी त्योंही सुल्तान ने आज्ञापालन करने की घोषणा कर दी और मीर जुमला के लड़के तथा माँ को कैद से मुक्त कर दिया। औरंगजेब ने अब मीर जुमला की सम्पत्ति को वापस लौटाने की माँग की तथा स्वयं हैदराबाद की ओर रवाना हुआ। सुल्तान भयभीत हो गया और उसने अपना खजाना गोलकुण्डा के दृढ़ दुर्ग में भेज दिया। गोलकुण्डा हैदराबाद से कुछ ही मील की दूरी पर था। उसने राजकुमार मोहम्मद को उत्कोच दे तथा अपनी सेना को दृढ़ कर उस क्षेत्र की रक्षा करनी चाही। परन्तु राजकुमार ने गोलकुण्डा की सेना को हरा दिया और हैदराबाद का घेरा डाल दिया। उसने सुल्तान के उन दूतों को, जो उसके पास हीरे-जवाहरातों के रूप में रिश्वत लाये थे, मौत के घाट उतार दिया और थोड़े ही दिनों बाद हैदराबाद पर कब्जा कर लिया। बेचारे सुल्तान को लाचार होकर सुलह की बातचीत करनी पड़ी। मीर जुमला की सम्पत्ति लौटा दी गयी और बहुत-से हीरे-जवाहरात देकर राजकुमार

को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया, लेकिन साथ ही साथ गोलकुण्डा दुर्ग को आक्रमण-कारियों से बचाने के लिए वह बीजापुर से मदद की प्रार्थना भी करता रहा।

इसी बीच औरंगजेब ने फरवरी १६५६ ई० में गोलकुण्डा दुर्ग को घेर लिया। कुछ समय तक घेरा चलता रहा। इससे सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह बहुत डर गया तथा यह प्रार्थना की कि वह अपने अपराध की क्षमायाचना के लिए अपनी माता को भेजना चाहता है। सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह की बूढ़ी माँ ने अपने बेटे की ओर से क्षमा माँगी। औरंगजेब ने यह वायदा किया कि सुल्तान अब्दुल्ला अपनी लड़की की शादी राजकुमार मोहम्मद से कर देगा और युद्ध-क्षति के रूप में एक करोड़ रुपये तथा पिछला शेष कर अदा कर दे तो उसे गोलकुण्डा का राज्य वापस मिल जायेगा। जब दक्षिण में औरंगजेब की यह सन्धि-वार्ता चल रही थी उस समय आगरा में सुल्तान के दूत द्वारा और जहानआरा के द्वारा शाहजहाँ तक अपनी प्रार्थनाएँ पहुँचा रहे थे। इसीलिए ठीक उसी समय जबकि औरंगजेब घेरे को कड़ा करने वाला था, उसे शाहजहाँ का सन्देश मिला कि वह गोलकुण्डा से लौट आये और गोलकुण्डा के सुल्तान को क्षमा कर दे। औरंगजेब ने बादशाह की आज्ञा को गुप्त रखा और घेरा डाले रहा। उसने केवल उस समय घेरा उठाया जब सुल्तान ने मीर जुमला को सम्पत्ति लौटा दी और सारे बकाया 'कर' साफ करने तथा अपनी लड़की की शादी मोहम्मद से करने का वचन दे दिया। मीर जुमला ने राजकुमार औरंगजेब से भेंट की और राजकुमार ने उसका शानदार स्वागत किया। सुल्तान की लड़की की शादी मोहम्मद के साथ बड़ी धूमधाम से की गयी और १० लाख रुपये का दहेज दिया गया। गोलकुण्डा के साथ एक नयी सन्धि तय की गयी। सुल्तान ने कुरान को साक्षी देकर सौगन्ध खायी कि वह भविष्य में कभी भी मुगल सम्राट की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेगा। इस पर उसे क्षमा कर दिया गया। उसे १५ लाख रुपये दण्डरूप में देना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार सुल्तान ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। मीर जुमला को जिसके कारण उसके मालिक को इतना नीचा देखना पड़ा था, मुगल दरबार में एक अच्छे पद पर नियुक्त कर दिया गया और वजीर सादुल्लाखाँ की मृत्यु के उपरान्त उसे साम्राज्य का प्रधानमन्त्री बना दिया गया।

गोलकुण्डा की सफलता के बाद औरंगजेब की दृष्टि बीजापुर पर पड़ी जो कि पिछले बीस वर्ष से पूर्ण स्वतन्त्रता का आनन्द उठा रहा था। बीजापुर का सुल्तान मोहम्मद आदिलशाह एक योग्य शासक तथा भविष्यद्रष्टा था और दिल्ली के सम्राट से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। उसने समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक अपना राज्य स्थापित कर लिया था तथा उसे सुदृढ़ बनाकर उसकी आमदनी काफी बढ़ा ली थी। उसकी सफलता देखकर शाहजहाँ ने उसे उसके दुस्साहस के लिए बुरा-भला कहा। सुल्तान बीजापुर के बादशाह से नहीं लड़ना चाहता था इसलिए उसने बादशाह से क्षमायाचना कर ली तथा अपने ठाटबाट में जिसके कारण शाहजहाँ उससे अप्रसन्न हो गया था, काफी सुधार कर डाला। आदिलशाह नवम्बर

१६५६ ई० मे मर गया और उसकी जगह अली आदिलशाह द्वितीय, जो उस समय केवल १८ वर्ष का था, गद्दी पर बैठा।

बीजापुर मे शासन-परिवर्तन से कुछ गडबड पड गयी। राजदरबार में कई पार्टियाँ हो गयी और रियासत के पूरबी इलाके मे विद्रोह हो गया। औरंगजेब ने इन परिस्थितियों से लाभ उठाकर बीजापुर के कुछ असन्तुष्ट सरदारो को अपनी ओर मिला लिया। औरंगजेब ने शाहजहाँ से यह बहाना करके कि अली आदिलशाह द्वितीय मृतक राजा का असली पुत्र न होकर संदिग्ध सन्तान है, बीजापुर पर हमला करने की आज्ञा प्राप्त करली। वास्तव मे बीजापुर एक स्वतन्त्र रियासत थी और उसके आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार बादशाह को नही था और विशेष रूप से गद्दी के अधिकारी का निर्णय करना बीजापुर-निवासियो का स्वयं का कार्य था। इसलिए औरंगजेब का यह हस्तक्षेप केवल अन्यायपूर्ण अत्याचार था। उसका उद्देश्य केवल एक रियासत को मटियामेट कर देना था।

मीर जुमला की सहायता से, जो कि बीजापुर की भौगोलिक परिस्थिति इत्यादि से पूर्णतया परिचित था, औरंगजेब ने बीजापुर पर हमला कर दिया और बीदर के किले पर जो एक सुदृढ पहाड़ी पर स्थित था तथा जहाँ पर काफी गोला-बारूद भी था, अधिकार कर लिया। सिद्दी मरजान ने, जो दुर्ग का प्रधान रक्षक था, वीरतापूर्वक उसका सामना किया। परन्तु आक्रमणकारियों ने दुर्ग के चारों ओर खुदी हुई खाई को पाट दिया और गोलाबारी करके किले की दीवारो को काफी आघात पहुँचाया। औरंगजेब के सौभाग्य से दुर्ग में एक भयानक विस्फोट हुआ और उसमे सिद्दी मरजान घायल हो गया। मुगलों ने तेजी से किले पर धावा बोला और अपने झण्डे उस पर गाड़ दिये। मरते समय सिद्दी मरजान ने दुर्ग की कुंजी औरंगजेब के पास भेज दी। इस प्रकार २७ दिन के घेरे के बाद दुर्ग का पतन हो गया।

इस सफलता के पश्चात औरंगजेब ने गुलबर्गा मे एकत्रित बीजापुर सेना का सामना करने के लिए महाबतखाँ को भेजा। महाबतखाँ के साथ १५,००० सुसज्जित घुड़सवारों की सेना थी। बीजापुर सेना परास्त हुई और तितर-बितर हो गयी। अब औरंगजेब कल्याणी तक बढने मे समर्थ हुआ। कल्याणी बीदर से ४० मील पश्चिम में स्थित चालुक्यो की प्राचीन राजधानी थी। नगर का घेरा डाला गया। मुगलों का कड़ा मुकाबला हुआ, यहाँ तक कि उनके संवाहन-मार्गों की सुरक्षा तक संकट में पड़ गयी। परन्तु अन्त में औरंगजेब के योग्य सेनापतित्व तथा अधिक प्रयत्न के कारण अगस्त १६५७ ई० के एक आक्रमण में बीजापुर सेना बुरी तरह परास्त हुई। बीजापुर राज्य को पूर्णतया बिनष्ट कर देने के लिए राजकुमार सैनिक तैयारियों में संलग्न ही था कि उसे सम्राट का एक आदेश प्राप्त हुआ। इसके द्वारा राजकुमार को इस सैनिक संघर्ष को समाप्त कर देने की आज्ञा दी गयी। शाहजहाँ की इस आज्ञा के कई कारण थे। इनमे दिल्ली स्थित बीजापुर प्रतिनिधियो का दुराग्रह, दारा का औरंगजेब से द्वेष तथा सम्राट का दिनोंदिन बिगड़ता स्वास्थ्य विशेष उल्लेखनीय हैं। राजकीय

आदेशानुसार सन्धि की बातचीत शुरू हो गयी। बहुत शीघ्र ही शर्तें तय हो गयीं। इनके अनुसार सुल्तान युद्धक्षति के रूप में डेढ़ करोड़ रुपये नकद तथा बीदर, कल्याणी, परेण्डा, कोंकण और बेन्गी के दुर्ग देने पर राजी हो गया। शाहजहाँ ने इन शर्तों की स्वीकृति प्रदान की और दयावश हरजाने में से आधा करोड़ रुपया छूट सुल्तान को दे दी। औरंगजेब बीदर लौट आया और निकट भविष्य में होने वाले उत्तराधिकार-संघर्ष का सामना करने की तैयारी करने लगा। शाहजहाँ का दिन-प्रतिदिन गिरता स्वास्थ्य इस संघर्ष को अवश्यम्भावी बना रहा था। बीजापुर के सुल्तान ने बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति का लाभ उठाया। उसने १६५७ ई० की सन्धि की शर्तों का पालन करने से इनकार कर दिया।

जिस समय औरंगजेब गोलकुण्डा और बीजापुर से उलझा हुआ था, मराठे क्रमशः महत्त्वपूर्ण शक्ति प्राप्त करते जा रहे थे। उनका युवक नेता शाहजी भोसला का पुत्र शिवाजी भोंसला अपने स्वतन्त्रता तथा गौरवपूर्ण जीवन में प्रवेश कर रहा था। शाहजी बीजापुर राज्य में फिर नौकरी करने लगा था। शिवाजी की आँखें बीजापुर राज्य के एक भाग पर लगी हुई थीं। इसको जीत लेने की छूट प्रदान करने के बदले उसने मुगलों को बीजापुर के विरुद्ध सैनिक सहायता का आश्वासन दिया था। मुगलों ने शिवाजी की प्रत्याशित सहायता नही की, फलस्वरूप शिवाजी भी उनकी आवश्यकता के समय अलग ही रहा। इसके विपरीत, जिस समय औरंगजेब दोनो दक्षिणी राज्यों से जूझ रहा था उसने जुन्नार पर अधिकार प्राप्त कर लिया और अहमदाबाद के पश्चिम मे मुगल प्रदेश मे घुस गया। अतः औरंगजेब अपने पश्चिमी पार्श्व में गड़बड़ मचाने वाले शिवाजी का प्रबन्ध करने को विवश हो गया। मुगल सेना के एक दस्ते ने शिवाजी को परास्त भी किया पर मुगल प्रदेश पर होने वाले उसके आक्रमण कम न हुए। किन्तु जब औरंगजेब की बीजापुर से सन्धि हो गयी और उसकी सेना भी युद्ध से निवृत्त होकर लौट गयी तो शिवाजी ने मुगलों से सन्धि करना ही ठीक समझ उनकी अधीनता स्वीकार कर ली।

उत्तराधिकार के लिए संघर्ष

सितम्बर १६५७ ई० में शाहजहाँ बीमार पड़ गया। शीघ्र ही उसके मरने की अफवाह फैल गयी। अपना अन्त समय निकट जान शाहजहाँ ने अपनी वसीयत लेखनी-बद्ध करा दी, जिसके अनुसार उसने साम्राज्य का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र दारा को सौंपा। सम्राट की रुग्णता के समय में भी दारा को ही सम्राट के नाम से शासन करने को कहा किन्तु पिता की रुग्ण दशा की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर शाहजहाँ के अन्य पुत्रों ने गद्दी के लिए संघर्ष करने की ठान ली। दारा के अतिरिक्त शाहजहाँ के तीन लड़के थे—शुजा, औरंगजेब तथा मुरादबख्श। ये सभी युवा थे और प्रान्तों के शासक थे। इसके अतिरिक्त सभी साधनसम्पन्न थे तथा प्रत्येक के अनुयायियों की संख्या भी काफी थी। पिता की बीमारी के समय दारा दिल्ली और पंजाब का शासक था पर वह प्रा अपने पिता के साथ रहा करता था ज. कि जलवायु परिवर्तन की

दृष्टि से अक्तूबर १६५७ ई० में आगरे चला गया था। शुजा, औरंगजेब और मुराद क्रमश बगाल, दक्षिण तथा गुजरात के शासक थे। एक ही माता से जन्म लेने पर भी इनके आपसी सम्बन्ध सहृदयतापूर्ण नही थे। प्रत्येक दिल्ली के सिंहासन को हथियाना चाहता था। तीनों छोटे भाई बडे ईर्ष्यालु थे। दारा से सब बहुत ईर्ष्या करते थे क्योंकि ज्येष्ठ होने के नाते शाहजहाँ की इच्छानुसार वही साम्राज्य का उत्तराधिकारी समझा जाता था। सम्राट के पश्चात सिंहासन पर उसका अधिकार सब भाँति निश्चित था। दारा के धार्मिक विचार बड़े उदार थे। हिन्दुओं तथा राजपूतो के सरदारो का वह प्रिय था। शुजा का झुकाव शिया धर्म की ओर था जबकि औरगजेब कट्टर सुन्नी था और गैर-मुसलमानो से घृणा करता था। मुराद की अपनी स्वय की विशेषताएँ थी, वह औरंगजेब के समान सुन्नी होने पर भी धार्मिक कट्टरता का पोषक नही था। धर्म की ओर वह उदासीन था।

पिता की घातक रुग्णता का समाचार पाते ही शुजा, औरंगजेब तथा मुराद ने दारा के विरुद्ध, जो कि रुग्ण पिता के निकट आगरे मे रहता था, युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी। सर्वप्रथम मुराद ने अपने मन्त्री अलीनिकी को कत्ल कर गुजरात में अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया और अपने नाम के सिक्के ढलवाये। शुजा ने भी जो काफी समय तक बंगाल का सफल शासन कर चुका था, एक बडी सेना लेकर दारा के विरुद्ध आगरे पर धावा बोल दिया। उसकी भी इच्छा सम्राट बनने की थी। अत: वह दारा को अपना पथ-कंटक समझता था। दोनो ने औरगजेब से सहयोग के लिए पत्र व्यवहार किया। औरगजेब ने चतुरतापूर्वक अपनी हार्दिक अभिलाषा को छुपाया और शुजा तथा मुराद पर यह प्रकट न होने दिया कि वह अन्य सभी भाइयों को मारकर अपना मार्ग साफ करने की चिन्ता में है। अपनी चतुराई से उसने उन दोनो का अपने हित के लिए उपयोग किया। अपनी बहन रोशनआरा तथा अपने गुप्त दूतों के द्वारा वह शाही दरबार (आगरा) के सभी परिवर्तनो और तैयारियो का ज्ञान प्राप्त करता रहता था। नर्वदा की नावो पर पहरा बिठाकर उसने अपनी तैयारियों को गुप्त रखा। उसके कूच का समाचार भी उत्तरी भारत नही पहुँच सका। इस सब कार्य मे मीर जुमला औरंगजेब का दाहिना हाथ था। इनका सारा ध्यान अफसरों और सैनिकों को अपनी ओर मिलाने तथा युद्ध सामग्री जुटाने मे लगा हुआ था। वह शुजा और मुराद की तरह खुलेआम अपने बाप और भाई से बिगाड़ना भी नही चाहता था। उसने आगरा जाने का उद्देश्य रुग्ण पिता के दर्शनों की इच्छा ही प्रकट किया। अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए औरंगजेब के बीजापुर और गोलकुण्डा को भी सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया।

औरंगजेब ने मुराद से पत्र-व्यवहार प्रारम्भ कर उसे सावधानी से कार्य करने को लिखा तथा खुले रूप मे विद्रोह की हानियों से भी सचेत कर दिया। उसने मुराद की गुजरात की कार्यवाही, सूरत का घेरा तथा सम्राट बनने की घोषणा सब दोषपूर्ण बतायीं। दोनों भाइयों में यह समझौता हुआ कि मिलकर सम्मिलित शक्ति से विधर्मी

दारा को नष्ट किया जाय और साम्राज्य को आपस मे इस प्रकार बाँट लिया जाय कि पजाब, अफगानिस्तान, काश्मीर तथा सिन्ध मुराद को मिलें और शेष औरगजेब के अधिकार में आ जाय। यह भी तय पाया कि लूट के माल मे से मुराद को एक-तिहाई तथा औरंगजेब को दो-तिहाई भाग मिले। दोनो भाइयों ने अपने-अपने राज्यों से चलकर सम्मिलित रूप से आगरे पर आक्रमण करने को ही श्रेयस्कर समझा और इसी के अनुरूप कार्यक्रम निर्धारित किया।

इस ओर औरगजेब और मुराद सम्मिलित आक्रमण के कार्यक्रम बना रहे थे और दूसरी ओर बगाल का शासक शुजा राजमहल मे अपने राज्यारोहण की रस्म पूरी कर रहा था। यह रस्म पूरी करके वह आगरे की ओर बढ़ा और फरवरी १६५८ ई० के प्रारम्भ मे बनारस पहुँचा। दारा की योजना यह थी कि पहले मुराद और शुजा को दबाया जाय और तब औरंगजेब से डटकर टक्कर ली जाय। अत: उसने शुजा का सामना करने के लिए अपने पुत्र सुलेमान शिकोह और आमेर के राजा जयसिंह को भेजा। इस सेना की मुठभेड़ शुजा की सेना से २४ फरवरी, १६५८ ई० को बनारस के ५ मील उत्तर-पूरब में स्थित बहादुरपुर नामक स्थान पर हुई। घोर युद्ध हुआ। शुजा हार गया और उसे भारी जन-हानि उठानी पड़ी। पराजित शुजा बंगाल की ओर भाग गया। राजा जयसिंह ने बंगाल की सीमा तक उसका पीछा किया और लौट आया।

इस बीच औरंगजेब अपना कार्यक्रम बना चुका था। उसने न केवल गोलकुण्डा और बीजापुर को सन्तुष्ट कर लिया, वरन् दक्षिण मे कुछ भूमि दान कर शिवाजी को भी मित्र बना लिया था। दारा का ध्यान बटाने के लिए उसने ईरान के शाह को प्रोत्साहित कर साम्राज्य के एक प्रदेश अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का प्रोत्साहन दिया। फरवरी १६५८ ई० तक उसकी तैयारियाँ पूर्ण हो गयीं, यहाँ तक कि अब सेना को यूरोपियन गोलदाजो की भी सेवाएँ सुलभ हो गयी थी। उसने औरगाबाद से कूच बोल दिया और एक मास बुरहानपुर मे बिताकर नर्मदा को पार किया। दीपालपुर पहुँचकर वह मुराद की सेना के साथ आ मिला। यह सम्मिलित सेना औरगजेब और मुराद की अधीनता में धरमट की ओर बढ़ी जो कि उज्जैन से १४ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है।

गुजरात और दक्षिण की ओर से आक्रमण का समाचार पाते ही दारा ने महाराजा जसवन्तसिंह और कासिमखाँ को औरंगजेब व मुराद का सामना करने के लिए भेजा। इन सेनापतियों को यह भी आदेश दिया गया कि यदि सम्भव हो तो आक्रमणकारी राजकुमारों को समझाकर ही उनके प्रदेशो (गुजरात तथा दक्षिण) को लौटा दिया जाय पर शाही सेना जिसका सेनापतित्व संयुक्त और बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं था; विद्रोही राजकुमारो पर यथेष्ट प्रभाव नहीं डाल सकी। औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को लौट जाने के लिए लिखा और यह प्रकट किया कि उसका आगमन केवल पिता के दर्शनार्थ है। जसवन्तसिंह ने औरंगजेब की सेना की ओर बढ़ना जारी रखा। आगे

बढ़ने से उसे ज्ञान हुआ कि औरंगजेब अकेला नही है, वरन् मुराद सदल भी उसके साथ है। यह समय सन्धि-चर्चा का नही था। सन्धि का समय हाथो से निकल चुका था। २५ अप्रैल, १६५८ ई० को धरमट मे दोनो सेनाओ के बीच युद्ध हुआ। राजपूतों ने बडी बहादुरी से आक्रमण किया। पर वे विद्रोही राजकुमारो की सयुक्त सेना पर विजय प्राप्त न कर सके। सुसचालन और सुसगठन के अभाव मे राजपूत सेना के बहुत-से सरदार मारे गये। महाराज जसवन्तसिंह स्वयं भी बुरी तरह घायल हुए और हितैषी सरदारो ने बलपूर्वक उन्हे मैदान से हटाया।

कासिमखाँ की सेना को केवल एक उच्च अफसर की क्षति उठानी पडी और दूसरे दिन उसके कई अफसर औरंगजेब से जा मिले। जसवन्तसिंह के जोधपुर लौटने पर एक अद्भुत घटना घटी। शूरवीर रानी ने उन्हे दुर्ग में प्रवेश नही करने दिया क्योंकि वे शत्रु को पीठ दिखाकर युद्धस्थल से भाग आये थे।

धरमट की विजय से औरंगजेब का सिक्का जम गया। सर्वत्र उसका यश फैल गया। उसने इस विजय की स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए धरमट के पास ही फतहाबाद नामक नगर बसाया। तदुपरान्त आगरा पहुँचने के लिए वह ग्वालियर की ओर बढा। उसने चम्बल पार की और सामूगढ नाम के ग्राम में, जो आगरे से ८ मील पूरब में स्थित है, पहुँचा। धरमट की पराजय तथा इतनी शीघ्र आगरे के निकट औरंगजेब की उपस्थिति से युवराज दारा से होश उड़ गये। अधिक से अधिक सम्भव सेना एकत्र कर और पिता की आज्ञा लेकर दारा अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए सामूगढ की ओर बढा। इसकी सेना का आमुख भाग विश्वासपात्र राजपूत सरदारों की संरक्षता मे तथा दक्षिण और वाम भाग क्रमशः खलीलुल्लाखाँ और सिपहर शिकोह की अधीनता मे था। सिपहर शिकोह दारा का छोटा पुत्र था। एक ऊँचे हाथी पर सवार होकर दारा स्वयं सेना के बीच मे उपस्थित था। सदा की भाँति संचालन में साम्य और सहयोग के अभाव से दारा की सेना अपनी पूर्ण शक्ति से कार्य न कर सकी। औरंगजेब की कूटनीति ने दारा की सैन्य-शक्ति को क्षीण कर दिया। उसने बहुत-से मुसलमान अफसरो को अपनी ओर तोड लिया।

दारा ने एक बड़ी भूल और की। औरंगजेब की सेनाएँ निरन्तर चलते रहकर सामूगढ पहुँची थी। फलतः वे थकावट से चकनाचूर थी। एक ही प्रबल आक्रमण में वे नष्ट-भ्रष्ट हो जाती, पर दारा ने एकदम आक्रमण न कर उन्हे एक दिन का अवकाश दे दिया। एक रात पूर्ण आराम कर औरंगजेब की सेना ने नया जीवन और नयी शक्ति प्राप्त कर ली। ८ जून, १६५८ ई० को युद्ध प्रारम्भ हुआ। दारा ने तोपें छोड़ने की आज्ञा दी। मार से बाहर होने के कारण विरोधी सेनाओ को दारा की तोपों से कोई क्षति नहीं पहुँची। इसके बाद शाही सेना के वाम भाग ने विरोधी सेना के दक्षिण भाग पर जोरदार आक्रमण किया, जिसको तोपों की बाढ़ से लौटा दिया गया क्योंकि औरंगजेब की सेना की तोपें अभी तक चलायी नहीं गयी थी। दूसरा आक्रमण मध्य भाग पर किया गया जिसको औरंगजेब की स्वयं की सुरक्षित सेना ने

इस कारण उसने अपने पिता से मिलने की अनिच्छा प्रकट की। उसने नगर पर अधिकार कर दुर्ग की ओर सैनिक चौकियाँ बैठा दी। प्राणो को सकट मे जान शाहजहाँ ने दुर्ग के फाटक बन्द कर बचाव की तैयारी आरम्भ कर दी। औरगजेब ने दुर्ग का घेरा डाल दिया और तोपचियो को आज्ञा दी कि वे दुर्ग की दीवारें भूमिसात कर दें। किन्तु तोप की मार दुर्ग की प्राचीरो को कुछ भी क्षति न पहुँचा सकी और दुर्ग अजेय सिद्ध हुआ। "खोने के लिए समय नही है" यह समझकर औरंगजेब ने यमुना से दुर्ग की जलप्राप्ति रोक दी। उसे आशा थी कि जल के अभाव से व्याकुल पिता शीघ्र आत्म-समर्पण कर देगा। दुर्ग के भीतर के कुओ का अस्वास्थ्यकारी जल शाही कुटुम्ब और सैनिकों को कष्ट उत्पन्न करता था। शाहजहाँ ने पुनः औरंगजेब के पितृ-प्रेम को उद्बुद्ध करना चाहा और आपसी झगड़े को शान्तिपूर्ण ढग से हल करने का महत्त्व समझाने की भी चेष्टा की। उत्तर मे औरगजेब ने स्वामिभक्ति का विश्वास दिलाया। इस पर शाहजहाँ ने दुर्ग के फाटक खोलकर दुर्ग को औरगजेब के ज्येष्ठ पुत्र मोहम्मद के अधीन कर दिया। राजकुमार मोहम्मद ने दुर्ग से शाहजहाँ के अनुयायियों को हटा दिया। जहानआरा की मध्यस्थता से बाप और बेटे के मिलने का प्रबन्ध किया गया जिसमें शाहजहाँ ने साम्राज्य को चारो भाइयो मे बाँट देने का प्रस्ताव रखा। औरंगजेब ने पिता से मिलने के लिए दुर्ग मे प्रवेश किया किन्तु क्रुद्ध होकर मार्ग ही से लौट गया। बात यह हुई कि मार्ग मे उसके कर्मचारियों ने शाहजहाँ का एक पत्र उसे दिखाया। पत्र दारा के नाम था और यह सिद्ध करता था कि बूढे शाहजहाँ का हृदय अब भी दारा के साथ और औरंगजेब के विरुद्ध था। इसके पश्चात पिता और पुत्र फिर नही मिले। औरंगजेब ने एक शानदार दरबार किया और मोहम्मद को आगरे मे छोड़ दिया तथा दारा का पीछा करने के लिए निकल पडा।

दिल्ली के मार्ग मे ही औरगजेब और मुराद के सम्बन्धों में कुछ शिथिलता आ गयी। मुराद ने अनुभव किया कि औरगजेब ही सब कुछ है। वही एकाधिकारी शासक के समान प्रत्येक कार्य करता है और मुराद की ओर से उदासीन-सा रहता है। इस प्रकार की स्वेच्छाचारिता नाममात्र के सम्राट मुराद को एक आँख न भायी और उसने नयी भरती आरम्भ कर दी। कुटिलता और निर्दयता में दक्ष औरगजेब ने बड़ी चतुराई से दारा का पीछा करने में सहायता देने के लिए मुराद को कुछ रुपया देते हुए एक दावत में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। कुछ दिन तक मुराद आने में हिचकिचाता रहा, पर औरंगजेब के क्रीतदास अपने एक अफसर के कहने से उसने आना स्वीकार कर लिया। भोजन और मद्यपान के बाद औरगजेब ने मुराद से एक डेरे में जाकर मृगया (शिकार) से उत्पन्न थकान को दूर करने की प्रार्थना की। मुराद के तम्बू मे एक नौकरानी पैरों की मालिश करने भेजी गयी। गहरी नींद में सो जाने पर मुराद को निःशस्त्र कर दिया। औरंगजेब ने अवसर देख मुराद को बन्दी बना दिल्ली के दुर्ग में भेज दिया। मुक्तहस्त रुपया बाँटकर मुराद की सेना को भी उसने अपनी ओर मिला लिया। यह घटना मथुरा के पास की है।

इतने समय मे दारा एक बड़ी सेना भरती करने में सफल न हो सका, अतः वह राजधानी को छोड़कर लाहौर पहुँचा। वहाँ अपनी स्थिति को दृढ़ कर उसने औरंगजेब की प्रगति रोकने का विचार किया। सतलज की नावों की रक्षार्थ तथा शत्रुओं की गतिविधि से सजग और सचेत रहने के लिए दारा ने सतलज के किनारे अपनी कुछ सेना तैनात कर दी। उसका विचार था कि औरंगजेब की थकी-माँदी सेना उसे पकड़ने के लिए शीघ्रतापूर्वक लाहौर नही पहुँच सकती और इस प्रकार समय पाकर वह अपनी स्थिति को औरंगजेब का सामना करने के योग्य बना सकेगा। परन्तु उसकी यह धारणा गलत सिद्ध हुई। मुराद से मुक्ति पाकर औरंगजेब ने दिल्ली पर धावा बोल दिया और सहज ही उस पर अधिकार पा लिया। यहाँ से उसने दो सेनाएँ भेजीं—एक दारा को पकड़ने के लिए लाहौर की ओर और दूसरी दारा के बड़े लड़के सुलेमान शिकोह तथा भाई शुजा को परास्त करने के लिए इलाहाबाद की ओर। दिल्ली मे उसने अपना राजतिलक कराया और अपने आपको सम्राट घोषित किया। इस प्रकार से शाहजहाँ का शासन समाप्त हो गया और वह बादशाह से बन्दी बना दिया गया। उसके अपना शेष जीवन आगरे के दुर्ग में व्यतीत किया। उसका स्वर्णजटित संगमरमर कक्ष उसका बन्दीगृह बना। इस महल मे रहते हुए वह ताजमहल पर दृष्टिपात कर सकता था जो उस समय निर्मित हो रहा था।

इस प्रकार औरंगजेब उत्तराधिकार-संघर्ष में विजयी हुआ। दारा लाहौर में भी औरंगजेब का सामना करने की शक्ति एकत्र नहीं कर सका, अतः वहाँ स भागकर वह गुजरात पहुँचा। गुजरात के शासक ने अहमदाबाद में उसका भव्य स्वागत किया और १० लाख रुपये की भेंट दी। इस रुपये से एक बड़ी सेना तैयार कर उसने औरंगजेब के साथ अन्तिम संघर्ष की तैयारी की। राजा जसवन्तसिंह के बुलाने पर वह जोधपुर के लिए चल पड़ा। किन्तु अजमेर पहुँचकर उसे यह जानकर बड़ी निराशा हुई कि आमेर नरेश जयसिंह ने जसवन्तसिंह को औरंगजेब के पक्ष में कर लिया है। इसी बीच में औरंगजेब द्वारा भेजी गयी सेना ने दारा को अजमेर के निकट देवराई के दर्रे मे युद्ध करने को विवश कर दिया। दारा पुनः परास्त हुआ और उसने भागकर प्राण बचाये। अहमदनगर लौटने पर वहाँ के शासक ने उसे नगर में घुसने तक की आज्ञा न दी। अफगानिस्तान की ओर भाग जाने के अतिरिक्त दारा के पास अब कोई चारा न था। मार्ग में उसने मलिक जीवन नामक एक बलूची सरदार के यहाँ, जिसकी उसने एक बार शाहजहाँ के क्रोध से रक्षा की थी, शरण ली। इस मलिक जीवन के घर पर दादर नामक स्थान पर वह ठहरा। दारा अपनी बेगम नादिरा से अत्यधिक प्रेम करता था। वह सदा उसके सुख-दुख की साथी रही थी। पराजय पर पराजय प्राप्त कर जब दारा भाग्य की ठोकरें खाता घूम रहा था तब भी रुग्ण बेगम छाया की भाँति सदा उसके साथ रही। दादर आकर बेगम का स्वर्गवास हो गया। बेगम के दुखद वियोग की असह्य चोट खा दारा स्वयं भी रोग-शय्या पर पड़ गया। रोग ने भयानक रूप धारण कर लिया। इधर मलिक जीवन ने विश्वासघात कर उसे औरंगजेब के हाथों सौंप दिया।

उसे अपने छोटे बेटे सिपहर शिकोह के साथ बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया, जहाँ १ सितम्बर, १६५६ ई० को वह औरगजेब के अधिकार में दे दिया गया। औरगजेब को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। दारा का निरादर और अपमान करने के लिए मैले-कुचैले कपड़े पहनाकर और एक गन्दे हाथी पर बिठाकर उसे नगर की सब सड़कों पर घुमवाया गया। तदनन्तर दारा को बाँधकर एक तहखाने मे डाल दिया और उसे क्या दण्ड दिया जाय इस पर विचार किया जाने लगा। परन्तु उसके प्रति किये जाने वाले व्यवहार पर सब दरबारी सहमत न थे। दानिशमदखाँ ने इस महान बन्दी की प्राणरक्षा के लिए प्रार्थना की। परन्तु उसकी बहन रोशनआरा तथा शाइस्ताखाँ ने मृत्युदण्ड को ही काफिर दारा के लिए उपयुक्त ठहराया। औरंगजेब ने एक विशेष न्याय-समिति की नियुक्ति की। इसका अध्यक्ष एक उच्च धार्मिक विद्वान बनाया गया। इस न्याय-समिति को दारा पर लगाये गये विधर्मी होने के अपराध की जाँच का कार्य-भार सौंपा गया। इसने दारा को अपराधी घोषित किया और इस निर्णय के अनुसार उसका सर कलम कर दिया गया। दारा का ज्येष्ठ पुत्र सुलेमान शिकोह गढवाल से बन्दी बनाकर दिल्ली भेजा गया। उसे ग्वालियर के किले में रखा गया, जहाँ विष के प्रभाव से उसका जीवन-दीप बुझने लगा। औरगजेब ने शुजा को भी चैन की सांस नहीं लेने दी। शुजा ने बहादुरपुर के युद्ध के पश्चात मुँगेर मे शरण ली थी। उत्तर प्रदेश में स्थित फतहपुर जिले के खजुआ नामक स्थान पर औरंगजेब ने उसे परास्त कर दिया। इसके बाद उसने बगाल का रास्ता लिया। आतक के मारे बगाल में न ठहर वह आराकान जा पहुँचा जहाँ उसे मेघ जाति के लोगों ने मार डाला। अपने छोटे भाई मुराद को भी, जो दिल्ली दुर्ग में बन्दी था समाप्त कर औरगजेब ने अपने आपको निरापद कर लिया। इस प्रकार उत्तराधिकार के संघर्ष के अपने सभी प्रति-द्वन्द्वियों का नामोनिशां मिटाकर वह पूर्णरूपेण भारत का सम्राट बना।

शाहजहाँ के अन्तिम दिन (१६६६ ई०)

आगरा दुर्ग के शाह बुर्ज में आठ वर्ष तक शाहजहाँ ने बन्दी-जीवन व्यतीत किया। यद्यपि उसको सर्वसुखदायक सामग्री सुलभ हो गयी और उसकी प्रिय पुत्री जहानआरा सर्वदा उसकी सेवा में रहती थी तब भी सदा उस पर सशंक दृष्टि रखी जाती थी। उसे बाहरी सम्पर्क का अवसर नही दिया जाता था। कोई भी उससे पत्र-व्यवहार नही कर सकता था। उससे भेट करने के लिए सरकारी आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती थी। भेंट के समय औरंगजेब के दूत उपस्थित रहते थे। शाहजहाँ के अमूल्य हीरे-जवाहरात पर भी औरंगजेब की दृष्टि पड़ी किन्तु उन्हें वह देने के लिए तैयार नहीं हुआ। इसी बीच में पिता और पुत्र में एक अत्यन्त कटुतापूर्ण पत्र-व्यवहार हुआ। इसमे औरंगजेब ने पिता पर दारा के पक्षपात का दोष लगाया और अपने आपको ईश्वरीय प्रकोप के सम्मुख समर्पित करने के लिए कहा। भूतपूर्व सम्राट इन लांछनों की चोट से तिलमिला उठा और उत्तर में उसने औरगजेब को लुटेरा तथा परधनापहारी शब्दों से सम्बोधित किया और पाखण्डी तक कहा। दारा और मुराद की निर्मम हत्या

तथा शुजा के हृदय-विदारक दुर्भाग्य से बूढ़े पिता की वेदना और भी तीव्र हो उठी। उसने अपना सारा समय प्रार्थना में व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। जनवरी १६६६ ई० में वह बीमार पड़ गया और अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट कर ३१ जनवरी, १६६६ ई० को ७४ वर्ष की अवस्था में इस लोक से विदा हुआ। कहा जाता है कि अपने अन्तिम क्षण तक वह ताजमहल की ओर अपलक नेत्रों से ताकता रहा। कठोर औरंगजेब मृत्योपरान्त भी बैर को न भूला और उसने शाही ठाट से बादशाह का क्रिया कर्म करने की अनुमति नहीं दी। बादशाह की अर्थी साधारण नौकरों और हिजड़ो द्वारा ले जायी गयी और ताजमहल में ही अपनी प्रियतमा मुमताजमहल के पार्श्व में उसको दफनाया गया।

व्यक्तित्व तथा चरित्र

शाहजहाँ के चरित्र और सफलताओं के विषय में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। स्वर्गीय वी० ए० स्मिथ के मतानुसार शाहजहाँ मनुष्य और शासक दोनों ही रूप में असफल रहा। उनके अनुसार उसके शासनकाल को मध्यकालीन भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहना भ्रमपूर्ण है। शाहजहाँ के दरबार की भव्यता तथा उसके द्वारा निर्मित प्रासादो का रुचिकर व मोहक सौन्दर्य शाहजहाँ के विषय मे उक्त भावना का मूल कारण है। तत्कालीन भारतीय इतिहासकारों एवं यूरोपीय यात्रियो का मत है कि शासक के रूप मे शाहजहाँ महान् भी था और पूर्णतया सफल भी। वह प्रजा के हृदयों पर शासन करता था तथा प्रजा का पुत्रसम पोषण करता था उसके शासन मे प्रजा शान्ति और सम्पन्नता का अनुभव कर प्रसन्न रहती थी। किन्तु उपर्युक्त दोनो मत आंशिक रूप में ही सत्य हैं।

शाहजहाँ के व्यक्तित्व और चरित्र के दो पक्ष हैं। वह आंशिक रूप मे उदार एवं प्रगतिशील था अतः अपने पिता एवं पितामह का योग्य उत्तराधिकारी था। इसके विपरीत कुछ बातो मे वह अपने पुत्र औरंगजेब से साम्य रखता था और उसके द्वारा किये गये कार्यों के ही अनुरूप कार्य करने का विचार भी रखता था। इस विचार से वह निस्सन्देह एक प्रतिक्रियावादी था। स्मिथ का वह कथन कि शाहजहाँ एक आज्ञाकारी पुत्र नहीं था, अक्षरशः सत्य है। उसने अपने पिता के विरुद्ध कई वर्षों तक विद्रोह का झण्डा ऊँचा रखा था; परन्तु इस दोष का विचार करते समय इस तथ्य को भी दृष्टिगत रखना चाहिए कि अपनी सौतेली माँ के ईर्ष्यापूर्ण व्यवहार के कारण ही वह पिता के विरुद्ध विद्रोह करने को विवश हुआ था। जैसा कि हम देख चुके हैं, नूरजहाँ की हार्दिक इच्छा अपने जामाता शहरयार के लिए सिंहासन का मार्ग निरापद करने की थी। फिर पिता के विरुद्ध विद्रोह की परम्परा शाहजहाँ को अपने पूर्वजो से प्राप्त हुई थी, अतः इस कार्य के लिए शाहजहाँ को दोष देना अनुचित है। वह एक शक्तिसम्पन्न तथा महत्वाकांक्षी राजकुमार था। पिता के पश्चात साम्राज्य का अधिकारी होने की उसकी तीव्र लालसा थी। इसकी पूर्ति के लिए उसने अनैतिक साधनों के अपनाने में हिचकिचाहट नहीं की। इसी प्रकार स्मिथ का यह तर्क कि शाहजहाँ को मुमताजमहल

की मृत्यु के बाद और अन्य पत्नियों के रखने के कारण आदर्श पति नहीं कहा जा सकता, बहुत हल्का है। उसने शाहजहाँ के चरित्र को कसौटी पर कसते समय मुगल राजकुमारों की इस सामान्य चारित्रिक विशेषता पर ध्यान नहीं दिया कि वे सभी बहुपत्नीवादी थे और दाम्पत्य-प्रेम के प्रति भक्ति की भावना नहीं रखते थे। इसके अलावा शाहजहाँ के पक्ष में तो यह भी कहा जा सकता है कि उसने २० वर्षों तक मुमताज के प्रति अपने प्रेम को अचल और पवित्र रखा। पिता के रूप में उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अन्य पुत्रों से अधिक महत्त्व दिया, जिसके कारण अपने कुटुम्ब पर उसका नियन्त्रण नहीं रह पाया। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन में वह सुशील, दयालु और सज्जन था फिर भी उसमें मैत्री और दया के भाव इतनी मात्रा में नहीं पाये जाते जितनी मात्रा में ये बाबर, अकबर और जहाँगीर के चरित्र में परिलक्षित हैं। शाहजहाँ के पूर्वज किसी मित्र अथवा निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर कई-कई दिनों तक भोजन छूते भी नहीं थे। हुमायूँ ने अपने साथ दगा करने वाले भाइयों को दण्ड देने में जो हिचकिचाहट दिखायी उसका अंश भी शाहजहाँ में नहीं मिलता। उसने अपने आपको निरापद करने के लिए अपने सभी पुरुष सम्बन्धियों का वध करवा डाला था। स्वार्थ-वृद्धि से प्रेरित इन कुछ कार्यों को यदि ध्यान में नहीं लाया जाय तो शाहजहाँ में हमें एक सुसंस्कृत सज्जन पुरुष के सभी गुण मिलते हैं। वह विद्वान और सुशिक्षित था। वह नम्र था और ध्यानपूर्वक दूसरों की बात सुनता था। उसे प्रकृति से मधुर स्वभाव और दयालु-दृष्टि प्राप्त हुई थी। शाहजहाँ को साहित्य और ललित-कलाओं से अत्यधिक प्रेम था। संगीत, चित्रकला तथा स्थापत्य कला के विद्वज्जन उससे आदर पाते और पुरस्कृत होते थे। दरबार में हो अथवा यात्रा में, वह सर्वदा इन कलाप्रेमियों से घिरा रहता था। फारसी के साथ ही साथ हिन्दी तथा संस्कृत भी उसका संरक्षण पाकर फली-फूली। दरबारी इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहौरी लिखता है कि 'गंगाधर' तथा 'गंगालहरी' के प्रसिद्ध लेखक जगन्नाथ पण्डित शाहजहाँ के राजकवि थे। बादशाह उनकी रचनाओं को प्रेमपूर्वक सुनता तथा उचित पुरस्कार देता था। संस्कृत और हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान कवीन्द्र आचार्य सरस्वती (बनारसी) तथा उन्हीं की कोटि के अन्य संस्कृत विद्वान राजदरबार की शोभा बढ़ाते थे। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि राज्याश्रय के कारण ही अनेक ग्रन्थ-रत्नों की रचना इन विद्वानों द्वारा सम्भव हो सकी। हिन्दी-काव्य की ओर भी शाहजहाँ उदासीन न रहा। 'सुन्दर-शृंगार', 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बारहमासा' के रचयिता प्रसिद्ध कवि सुन्दरदास उपनाम महाकवि 'राय' के अतिरिक्त, जो सम्राट का मित्र तथा विशेष कृपापात्र था, हिन्दी के सामयिक सर्वश्रेष्ठ कवि चिन्तामणि पर भी शाहजहाँ की विशेष कृपा थी। शाहजहाँ फलित ज्योतिष में विश्वास रखता था; अतः अनेक ज्योतिषी राजवंशों की कुण्डलियाँ तैयार करने, विवाह के लिए लग्न तथा सैनिक स्थान के लिए शुभ मुहूर्त निकालने में व्यस्त रहते थे। अपने पूर्वजों की भाँति शाहजहाँ ने बसन्त तथा दशहरा आदि हिन्दू त्योहारों को मनाने और तुलादान करने की प्रथाएँ जारी रखीं। तुलादान सोना, चाँदी तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं

से कराया जाता था। तुलादान के ये पदार्थ साधुओं, ब्राह्मणों तथा अन्य धार्मिक पुरुषो में वितरित कर दिये जाते थे। उसने हिन्दुओं को उच्च पदो पर आसीन करने की प्रथा भी जारी रखी। इसमे शाहजहाँ ने अपने पिता तथा पितामह का पूर्ण अनुकरण किया।

शाहजहाँ अपने पिता की अपेक्षा अधिक उत्तम सैनिक तथा सेनानायक था। शरीर तथा मस्तिष्क की अपूर्व प्रतिभा से विभूषित वह अपनी वृद्धावस्था तक स्वय युद्ध की योजनाएँ बनाता तथा सैनिक संचालन करता रहा। उसने सेना का पुन: संगठन कर उसे सैनिक सघर्ष के उपयुक्त बनाया परन्तु इस सबके होते भी वह फारस के बादशाह से कन्धार वापस न ले सका और उसके तीनो प्रयास निराशा तथा जन, धन व मान-हानि में ही समाप्त हुए। उसके मध्य एशियन संघर्ष भी अधिक सफल न हुए। अत: हम यह कह सकते हैं कि उसमें सैनिक सुधारों तथा उच्च आकांक्षाओ के होते हुए भी उसके समय में मुगल सेना की दशा इतनी अच्छी न थी जितनी अकबर के समय में थी।*

शाहजहाँ का राज्यकाल भारत के मध्यकालीन इतिहास मे स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। यह केवल कला और कला में भी वास्तुकला की दृष्टि से ही सत्य कहा जा सकता है। शाहजहाँ द्वारा निर्मित विशाल भवन तथा सुन्दर इमारतें मुगल वास्तुकला की पराकाष्ठा प्रकट करती हैं। दिल्ली का लाल किला तथा उसके संगमरमर के सुन्दर भवन तथा जामा मस्जिद, आगरे के किले की मोती मस्जिद, दीवाने आम व दीवाने खास, सर्वश्रेष्ठ ताजमहल तथा अन्य अनेक स्थानों पर शाहजहाँ द्वारा निर्मित इमारतें हिन्दू-मुस्लिम शैली का अद्‌भुत नमूना हैं। तख्तताऊस नामक शाहजहाँ का रत्नजटित सिंहासन (जिसके निर्माण मे ७ वर्ष लगे) तथा विश्वविख्यात कोहिनूर उसके दरबार को विशेष आभा प्रदान कर अवर्णनीय बनाते थे। शाहजहाँ की संरक्षता में संगीत ने विशेष प्रगति की। चित्रकला की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया परन्तु समालोचकों के अनुसार शाहजहाँ-काल की चित्रकला में मौलिकता का अभाव है। सत्य है कि उसके समय में फारसी तथा हिन्दी साहित्य में विशेष उन्नति हुई परन्तु फारसी मे अबुल फजल तथा हिन्दी में सूरदास व तुलसीदास जैसी प्रतिभा का कोई कवि इस समय नहीं हुआ।

संस्कृत साहित्य भी उन्नति की ओर अग्रसर हुआ और शाहजहाँ ने उसे भी विशेष प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार साहित्य और कला की सर्वतोमुखी उन्नति शाहजहाँ काल की विशेष देन है। परन्तु स्मरण रहे कि यद्यपि शाहजहाँ भवन-निर्माण कला में अन्य सम्राटों से कहीं आगे निकल गया तथापि उसका राज्यकाल चित्रकला में जहाँगीर काल की तथा साहित्य, संगीत और मूर्तिकला में अकबर काल की समता न कर सका।

शाहजहाँ एक कुशल प्रबन्धक तथा उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ था। उसकी प्रतिभा में मौलिकता का अभाव परन्तु सौन्दर्य का बाहुल्य था। उसने सम्पूर्ण राज्य-प्रबन्ध विशेषतया सैनिक-प्रबन्ध अर्थात मनसबदारी प्रथा में विशेष संशोधन कर उसे

दोषरहित बनाने का प्रयत्न किया। उसने मनसबदारो का वेतन भी कम करने का प्रयास किया तथा उन्हे अपने पदानुसार सेना की एक निश्चित सख्या रखने के लिए बाध्य किया। इसमे उसे पूर्ण सफलता मिली। अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष मे उसने घोषणा की कि प्रत्येक मनसबदार को जिसे भारत मे जागीर प्राप्त है अपने पद की एक-तिहाई तथा जिसे भारत के बाहर जागीर प्राप्त है उसे अपने पद की एक-चौथाई सेना रखना अनिवार्य होगा। कुछ समय पश्चात दूसरी दशा के मनसबदारो को अपने पद की १/५ सेना रखना अनिवार्य कर दिया गया। शाहजहाँ के समय मे ९,००० जात तथा ९,००० सवार का मनसब सर्वोच्च था, जो उसके श्वसुर आसफखाँ को प्राप्त था। परन्तु राजकुमारो का पद और भी ऊँचा हो सकता था। उदाहरणस्वरूप दारा का मनसब ४०,००० जात तथा २०,००० सवार का था। उसने भूमिकर उपज के १/३ भाग के बदले १/२ भाग कर दिया जिससे राज्य की आय बढकर ४ करोड रुपया प्रतिवर्ष हो गयी। उसने अकबर काल की 'जब्ती' की प्रथा को स्थगित कर दिया और अपने साम्राज्य का ७/१० भाग ठेके पर देकर खालसा भूमि, जिसका सरकार स्वयं प्रबन्ध करती थी, कम कर दी। कृषको का भार अब अधिक हो गया। इसका कारण केवल यह नही था कि उनकी मालगुजारी उपज के १/३ के बदले १/२ कर दी गयी थी, वरन् यह भी कि अब उन्हे अपने अधिकार की समस्त भूमि की मालगुजारी देनी पडती थी, न कि केवल उसकी जो उनकी जोत मे हो। अतः कृषक वर्ग, जो समस्त देश की जनसख्या का ७५ प्रतिशत थे, की दशा अकबर तथा जहाँगीर काल की दशा की अपेक्षा खराब हो गयी। शाहजहाँ ने भी अपने पूर्वजो की भाँति अन्तिम न्यायाधीश का कार्य करना जारी रखा। वह दुष्ट मनुष्यो को कठोर दण्ड देने तथा निष्पक्ष न्याय करने के लिए प्रसिद्ध है। अपनी धर्मान्धता तथा कर-वृद्धि की नीति का अनुसरण करते हुए भी वह एक जनप्रिय शासक था। अत्यन्त परिश्रमी, सहनशील, कर्तव्य-निष्ठ शाहजहाँ ब्रह्म मुहूर्त में उठता तथा सूर्योदय के समय झरोखा-दर्शन देकर अपने पितामह अकबर की भाँति राजकाज मे व्यस्त हो जाता था। प्रसिद्ध इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टडीज इन मुगल इण्डिया' मे शाहजहाँ के दैनिक कार्यक्रम का जो वर्णन दिया है उससे प्रकट होता है कि शाहजहाँ ठाटबाट का शौकीन तथा आमोदप्रिय शासक होते हुए भी अत्यन्त परिश्रमी सम्राट था तो भी उसके राज्यकाल मे मुगल-वश की अवनति का बीजारोपण हुआ। उसकी धर्मान्धता तथा अनादरता औरगजेब के कट्टर शासन की अग्रदूत थी। विधर्मियों के प्रति उसकी असहिष्णुता ने प्रकट कर दिया कि शियाओ को उसके दरबार मे उचित स्थान न था। उसकी धन लोलुपता ने उसे जनता का कर भार बढाने के लिए बाध्य किया, जिससे जनता में कष्ट की विशेष वृद्धि हुई। उसकी भेंट तथा उपहार स्वीकार करने की प्रथा ने एक प्रकार से रिश्वत को प्रोत्साहन दिया और भेंट तथा उपहार देना राजकीय दरबार में नहीं वरन् राजकीय परिवार तथा अमीरों व सामन्तों मे एक प्रथा का रूप धारण कर गयी। इससे राज्य-प्रबन्ध में भ्रष्टाचार फैल गया। अपने बाह्य ठाट-

बाट के कारण वह जनता से अनुचित रूप से धन एकत्रित करने के लिए बाध्य हुआ तथा उसकी विलासप्रियता ने जनता का नैतिक स्तर नीचा करने के लिए एक बहुत ही बुरा उदाहरण प्रस्तुत किया।

BOOKS FOR FURTHER READING

Persian Language :

1. Qazvini, Mirza Aminai : *Padshah-nama* (MS).
2. Tabatabai, Jalal-ud-din *Padshah-nama* (MS).
3. Waris, Mohd. : *Padshah-nama* (MS).
4. Sadiq, Mohd. : *Padshah-nama* (MS).
5. Lahauri. Abdul Hamid : *Padshah-nama* (Persian Text).
6. Kambu, Mohd. Salih : *Amal-i-Salih* (Persian Text).
7. Khan, Mir : *Zafarnama-i-Alamgiri* (MS).
8. *Tuzuk-i-Jahangiri* (Translated into English in 2 vols. by Rogers and Beveridge.
9. Khan Mutamid : *Iqbal-nama Jahangiri* (Persian Text)
10. Niamat-ullah : *Makhzan-i-Afghana* (MS) (Translated into English by B. Dorn in *History of the Afghans*) (1829).

European Language :

1. Foster, W. : *English Factories in India* (Revelant Vols.).
2. Temple, Richard : *The Travels of Peter Mundy.*
3. Luard and Hosten : *The Travels of Sebastian Manrique* (1926-27).
4. Bernier, Frangis : *Travels in the Mughal Empire* (Translated into English by A. Constable).
5. Tavenier, J. B. : *Travels in India* (Translatd into English by V. Ball).

Modern Works :

1. Saxena, Banarsi Prasad : *History of Shah Jahan of Delhi* (1923.)
2. Moreland, W. H. : *From Akbar to Aurangzeb* (1923).
3. Haig, W. : *Cambridge History of India*, Vol. IV, Chap. VII.

अध्याय ८

औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०)

प्रारम्भिक जीवन

मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब का जन्म ३ नवम्बर, १६१८ ई० को उज्जैन के निकट दोहद मे हुआ। उस समय उसका बाबा जहाँगीर दक्षिण से आगरा लौट रहा था। अपने पिता शाहजहाँ के विद्रोहकाल मे औरंगजेब और उसके बड़े भाई दारा को अत्यधिक कष्ट सहने पड़े। इन दोनो को नूरजहाँ के पास बन्धक के रूप में रखा गया और जब शाहजहाँ ने समर्पण कर दिया और उसे क्षमा कर दिया गया, तब इन दोनों को मुक्त किया गया। इन सब बातो के कारण उसकी शिक्षा १० वर्ष की आयु मे योग्य शिक्षको के सरक्षण मे प्रारम्भ की गयी। वह बहुत प्रखर-बुद्धि तथा परिश्रमी विद्यार्थी था। वह कुरान और हदीस जैसी धार्मिक पुस्तको का पण्डित हो गया। अल्पायु में ही वह अरबी और फारसी का अच्छा ज्ञाता हो गया। साथ में उसने तुर्की तथा हिन्दी भी सीख ली। उसे धार्मिक विषयो के अध्ययन में विशेष रुचि थी, परन्तु चित्रकला, संगीत तथा अन्य ललित-कलाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इसके साथ-साथ उसे सैनिक शिक्षा का भी उचित ज्ञान कराया गया और वह शीघ्र ही कुशल सैनिक बन गया। १' ई० के अन्त मे उसे दस हजार जात और चार हजार सवार के पद पर मनसबदार युक्त किया गया। ओरछा के जूझरसिंह के विरुद्ध बुन्देल आक्रमण का भार उसे ही सौंपा गया। वहाँ पर उसने कूटनीति और युद्ध का प्रथम अनुभव प्राप्त किया। इसके बाद उसे दक्षिण का राज्यपाल नियुक्त किया गया जहाँ वह १६३६ ई० से १६४४ ई० तक रहा। यहाँ अपने कार्यों के कारण वह एक कुशल सैनिक, प्रबन्धक तथा कूटनीतिक माना जाने लगा। १८ मई, १६३७ ई० को फारस के राजघराने के शाहनवाज की पुत्री दिलरास बानो बेगम के साथ औरंगजेब का पाणिग्रहण-सस्कार हुआ। अपने बड़े भाई दारा से विचार-भेद हो जाने के कारण १६४४ ई० में उसे दक्षिण के राज्यपाल की नौकरी से त्यागपत्र देना पड़ा। परन्तु फरवरी १६४५ ई० में उसे क्षमा कर दिया गया और गुजरात का राज्यपाल नियुक्त किया गया। वहाँ वह १६४७ ई० तक रहा जहाँ से उसे बलख के आक्रमण का भार सँभालना पड़ा। कुशल सेनापति होते हुए भी औरंगजेब ट्रान्स-ऑक्सियाना विजित न कर सका। सम्राट ने उसे वापस बुला लिया और मुल्तान का ? ज्यपाल नियुक्त किया जिस पद पर वह १६४८ ई० से १६५२ ई० तक कार्य करता रहा। इसी बीच उसे १६४६ ई० और १६५२ ई० में दो बार कन्धार को पुनर्विजित करने के लिए भेजा गया,

परन्तु इन दोनों आक्रमणों में वह असफल रहा। इस असफलताओं के कारण शाहजहाँ बहुत अप्रसन्न हुआ और १६५२ ई० में उसे पुनः दक्षिण का राज्यपाल बनाकर भेज दिया। औरंगजेब इस बार दक्षिण भारत में १६५२ ई० से १६५८ ई० तक राज्यपाल रहा।

अपने राज्यपाल-काल मे औरंगजेब ने उच्चकोटि की प्रबन्ध-शक्ति तथा कर्तव्य-परायणता का परिचय दिया। परन्तु इसके साथ-साथ वह अपने दल का शक्तिशाली संगठन करके अपने पिता का सिंहासन प्राप्त करने की चेष्टा में भी लगा रहता था। कट्टर सुन्नी होने के कारण वह हिन्दुओं और विशेषकर राजपूतों को नापसन्द करता था। धार्मिक असहिष्णुता की नीति का पालन करके उसने खुल्लमखुल्ला राजपूतो को अपमानित भी किया। बीजापुर और गोलकुण्डा के युद्ध मे जब विजयश्री उसके चरण चूमने वाली थी तभी उसने अपने पिता शाहजहाँ की बीमारी और मृत्यु की अफवाहे सुनीं। यह सुनते ही उसने उत्तराधिकारी होने तथा सिंहासन प्राप्त करने का इच्छुक होने के नाते उत्तराधिकार युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी। इस युद्ध मे वह किस प्रकार सफल हुआ और उसने एक-एक करके अपने भाइयों को किस तरह समाप्त किया, यह पिछले अध्याय में बताया जा चुका है।

राज्याभिषेक

आगरा दुर्ग को विजित कर तथा अपने पिता को उसमें बन्दी बनाकर मुराद-बख्श के सिंहासन प्राप्त करने के दावो को समाप्त करने के बाद ३१ जुलाई, १६५८ ई० को हड़बड़ी में औरंगजेब का राज्याभिषेक हुआ। उसने अबुल मुजफ्फर मुहीउद्दीन मुजफ्फर औरंगजेब बहादुर आलमगीर बादशाह गाजी की उपाधि ग्रहण की। क्योंकि उसे दारा का पीछा करके शुजा के साथ फैसला करना बाकी था इसलिए उसने उत्सव तथा जश्न स्थगित कर दिये। खजुआ और अजमेर पर विजय प्राप्त करने के पश्चात १५ मई, १६५६ ई० को सम्राट औरंगजेब ने दिल्ली में एक शानदार जुलूस के साथ प्रवेश किया। शाहजहाँ के भव्य महल में बहुत ठाट और धूमधाम के साथ उसका राज्याभिषेक-संस्कार सम्पन्न हुआ। १५ मई, १६५६ ई० को ज्योतिषियों द्वारा बताये हुए समय, सूर्योदय से ३ घण्टे १५ मिनट उपरान्त, उसने मयूर-सिंहासन पर आसन ग्रहण किया। राज्य में कई दिन तक खुशियाँ मनायी गयीं और उत्सव हुए। औरंगजेब चाहता था कि उसका राज्याभिषेक इतनी शान से मनाया जाय जैसा कि किसी भी मुगल बादशाह के समय में न हुआ हो। इस कारण इस अवसर पर दिल खोलकर रुपया खर्च किया गया। बड़ी-बड़ी दावतें की गयीं तथा वृहत पैमाने पर रोशनियाँ की गयीं। अनेक सामन्तों तथा सरदारों की पद-वृद्धि हुई तथा अनेक नये अफसर भी नियुक्त किये गये।

प्रारम्भिक कार्य : धार्मिक असहिष्णुता

उत्तरी भारत में उत्तराधिकार की लड़ाई से देश को जो हानि हुई तथा उससे शासन प्रबन्ध में जो ढील तथा कमजोरी आ गयी थी, औरंगजेब ने उसे ठीक करके सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक कदम उठाये। सबसे पहले नये सम्राट ने देश

में व्यवस्था स्थापित की और राज्यपालो तथा अन्य उच्च अफसरो को नियन्त्रण में लाकर देश मे शान्ति की स्थापना की। इसके अलावा कई अनुचित करो को हटाकर जिनमे मुख्यतम आन्तरिक परिवहन-कर (राहदारी) तथा ऑक्टरोई चुगी (पानडारी) थे, जनता की सहायता की। ये कर खाने-पीने की उस सामग्री पर वसूल किये जाते थे, जो शहर मे बिकने के लिए आती थी। केवल खालसा भूमि मे ही इन करो के हटाने से सरकार को २५ लाख रुपयों की हानि हुई थी। तीसरे प्रकार के कर, जो निर्मूल किये गये थे, वे थे 'आबवाब' अथवा अन्य प्रकार के कर जो भूमि-कर तथा चुंगी-कर के अलावा वसूल किये जाते थे। यद्यपि इन करो की वसूली पूर्व-सम्राटों ने बार-बार बन्द की थी, परन्तु थोड़े समय बाद इनकी वसूली पुन: प्रारम्भ कर दी जाती थी। जो कर 'आबवाब' कहलाते थे उनमे मुख्य थे स्थानीय वस्तुओ के प्रयोग पर चुगी, भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यापारो के लाइसेंस, अफसरो द्वारा भेंट तथा शुल्क की वसूली तथा वह शुल्क और कमीशन जो राज्य के लिए वसूल किये जाते थे। इनके अलावा कुछ ऐसे भी कर थे जो केवल हिन्दुओ से वसूल किये जाते थे, जैसे गगा मे मृत हिन्दुओं के फूल विसर्जन करने का टैक्स, जो तीर्थयात्रा-कर कहलाता था, तथा हिन्दू घराने मे बालक का जन्म होने पर भी टैक्स लगता था। परन्तु औरगजेब ने इन करो को हटा दिया। यद्यपि बड़े-बड़े शहरों में तो कर-निर्मूलन हो गया होगा, परन्तु खाफीखाँ के कथनानुसार, दूरस्थ प्रान्तो मे इनकी वसूली होती रही होगी।

अत्यन्त कट्टर सुन्नी मुसलमान होने के नाते औरगजेब ने राज्य मे ऐसे कानून बनाये ताकि मुसलमान लोग कुरान मे बताये हुए मार्ग का कट्टरतापूर्वक अनुसरण करें। उसने सिक्को पर कलमा का खुदवाया जाना और फारस के नववर्ष दिवस का मनाया जाना बन्द करवा दिया क्योंकि मुसलमान धर्म इसका निषेध करता है। उसने सम्पूर्ण साम्राज्य में भाँग के प्रयोग पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। सभी बड़े-बडे शहरो मे जनता के नैतिक आचरण का निरीक्षण करने के लिए सरकारी अफसर (मुहतसिब) नियुक्त किये गये जो जनता को कुरान के नियमो पर चलने का आदेश देते थे तथा मद्यपान, जुआ और वेश्यागमन को रोकते थे। मुहतसिबो का यह काम था कि वे देखें कि मुसलमान लोग दिन में पाँच बार नमाज पढ़ें और रोजे रखे। धर्म-विरोधियों तथा इस्लाम की निन्दा करने वालों को दण्ड देना भी 'मुहतसिब' का ही काम था। सम्राट ने सूफी लोगों को उदार धार्मिक विचार रखने तथा विश्वदेवतावाद को मानने के कारण ही दण्ड दिया था। दारा के साथी सरमद को इस्लाम की निन्दा करने (तथा नास्तिक होने) के कारण मृत्युदण्ड दिया गया। इस प्रकार कई शिया मुसलमानो के सर केवल इसलिए कलम कर दिये गये थे क्योंकि उन्होंने प्रथम तीन खलीफाओं को कुछ अपशब्द कहे थे। इसी प्रकार मुसलमान धर्म मे दीक्षित अनेक नये मुसलमानों को अपना पुराना धर्म पुनः अगीकार कर लेने के सन्देह-मात्र पर अपने जीवन मे हाथ धोना पड़ा था। औरंगजेब के हाथों रक्तरंजित यातनाएँ भोगने वाली मुसलमान जनता में गुजरात की इस्माइलिया अथवा बोहरा जाति प्रमुख थी।

विजयें

सर्वप्रथम औरंगजेब ने आसाम पर विजय प्राप्त की, जहाँ मंगोल-वंश का राजा राज्य करता था। उत्तराधिकार-संघर्ष के समय कूच बिहार और आसाम के शासकों ने मुगलो के जिले कामरूप पर, जो उनके राज्य के बीच मे स्थित था, कब्जा कर लिया था। सम्राट ने मीर जुमला को बंगाल का राज्यपाल नियुक्त किया और मुगल इलाकों को पुनः प्राप्त करने का आदेश दिया। कुछ ही दिनों के पश्चात मीर जुमला ने कूच बिहार की राजधानी विजित कर ली और उसे मुगल-साम्राज्य में मिला लिया। अब वह आसाम पर आक्रमण करने को बढ चला। वहाँ के शासक-वर्ग शान-वंशज अहोम जाति के थे जिन्होने तेरहवी शताब्दी में आसाम के पूरबी और मध्य भाग पर अपना अधिकार जमा लिया था। थोड़े-से संघर्ष के पश्चात अहोम सेनाएँ ब्रह्मपुत्र नदी के पास वापस लौट गयी। १३ मार्च, १६६२ ई० को मीर जुमला ने उन्हें जलयुद्ध में परास्त किया और वहाँ की राजधानी गढगाँव पर कब्जा कर लिया। यहाँ उसे बहुत-सा धन हाथ लगा। उसने राजधानी में एक सेना भी रख दी, परन्तु आसाम की विजय मुगलों के लिए लाभदायक होने की अपेक्षा हानिकारक सिद्ध हुई। वर्षाऋतु मे वहाँ बाढ आ गयी, आवागमन के सभी मार्ग बन्द हो गये और मुगलो की चौकियाँ अलग-अलग हो गयी। सहस्रो मुगल सैनिक भूख से तड़प-तडपकर मर गये परन्तु आवागमन के रास्ते बन्द होने के कारण उन तक भोजन-सामग्री नहीं पहुँच सकी। इसी बीच अहोम लोगो ने मुगलो की कुछ सीमान्त चौकियों पर कब्जा कर लिया और मुगल पैदल-सेना तथा जल-सेना के बीच आवागमन के सभी साधनों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उन लोगों ने मुगलों पर आक्रमण भी किया परन्तु परास्त हो गये। परन्तु अन्त में मुगल लगभग बिलकुल अरक्षणीय हो चुके थे। अधिक परिश्रम तथा आसाम की विषम जलवायु के कारण १० अप्रैल, १६६३ ई० को मीर जुमला का देहावसान हो गया। इसके स्थान पर शाइस्ताखाँ को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने १६६३ ई० में चटगाँव को विजित करके पुर्तगालियो को ब्रह्मपुत्र के डेल्टे से निकल बाहर किया। उसने अराकान के राजा को भी परास्त कर दिया। चार साल तक आसाम मुगलों के अधीन रहा, परन्तु अहोम राजा चक्रध्वज ने पुनः आसाम पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उसने गौहाटी को भी जीत लिया। इस प्रकार मुगल साम्राज्य की सीमा मोनास नदी तक रह गयी। यद्यपि १६७९ ई० में मुगलों ने गौहाटी पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया, परन्तु दो वर्ष बाद वे इसे फिर खो बैठे। इस प्रकार कामरूप मुगल-साम्राज्य का अंग नहीं रहा। अधिक संघर्ष के बाद अन्त में कूच बिहार नरेश ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली।

दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य जो शाइस्ताखाँ करना चाहता था, वह था बंगाल के समुद्री डाकुओं (पुर्तगालियों) का दमन। ये लोग लगातार बंगाल को लूटते रहते थे और वहाँ के लोगों को ले जाकर दास के रूप में भारतीय बन्दरगाहों में बेच देते थे। शाइस्ताखाँ ने ३०० नौकाओं का एक समुद्री बेड़ा बनाया, संद्वीप नामक द्वीप को जीता

तथा चटगाँव पर अधिकार प्राप्त करके वहाँ मुगल सेनानायक का प्रमुख केन्द्र स्थापित कर दिया। उसने सहस्रों बगाली किसानों को जो पुर्तगालियों के पास गुलाम थे, छुडा कर उन्हें स्वतन्त्र किया।

औरगजेब के शासन के प्रथम अर्द्धकाल मे अनेक छोटी-छोटी विजयें प्राप्त की गयी। १६६१ ई० में पटना के राज्यपाल दाऊदखाँ ने पालामाऊ को जीतकर उसे दक्षिण बिहार में सम्मिलित कर लिया। लघु तिब्बत अथवा लद्दाख के नरेश ने मुगलों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया, जहाँ पर लद्दाख के इतिहास मे पहली बार एक मस्जिद बनवायी गयी।

औरंगजेब के शासन के प्रथम अर्द्धकाल में साम्राज्य मे कुछ विद्रोह भी हुए, परन्तु उन्हें सहज ही दबा दिया गया। बुन्देलखण्ड के चम्पतराय तथा उसके पूर्वजों के साथ ओरछा में अन्याय किये जाने के कारण उसने विद्रोह का झण्डा खडा कर दिया। परन्तु १६६१ ई० में उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। काठियावाड़ मे नावानगर के रायसिंह ने भी १६६३ ई० मे विद्रोह कर दिया, परन्तु उसे भी आत्मसमर्पण करना पड़ा। बीकानेर नरेश करनसिंह ने खुल्लमखुल्ला औरंगजेब का विरोध किया, परन्तु बाद में क्षमायाचना करने पर उसे क्षमा कर दिया गया। मथुरा तथा आगरे के जिलो मे जाटों तथा पंजाब में सिक्खों ने भीषण विद्रोह खडा कर दिया जो काफी समय तक चला परन्तु इन विद्रोहो को छोड़कर औरगजेब के शासन के प्रथम २५ वर्षों में उत्तरी भारत मे अन्य कोई विद्रोह नही हुआ और आन्तरिक शान्ति रही।

सीमान्त जातियों से युद्ध

यद्यपि औरगजेब एक कट्टर मुसलमान था, परन्तु फिर भी उसे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की अपने समान धर्मान्ध मुसलमान जातियों से युद्ध में टक्कर लेनी पडी। सीमान्त प्रदेश में रहने वाले अफगान लोग शुरू से ही दिन-दहाड़े लूटमार करके अपना जीविकोपार्जन करते आये है। क्योकि उनका प्रदेश पहाड़ी तथा बजर है, इसलिए ये लोग मैदानों मे जाकर लोगों को लूटते थे। इसके अलावा जो व्यापारी भारत आते या जाते समय उनके प्रदेश के दर्रे से होकर निकलते थे, ये लोग उनको भी लूटा करते थे। मुगल सम्राट इन अफगान लोगों को बलपूर्वक विजय और वश मे न कर सके। इस कारण मुगल सम्राट इन लोगों को शान्त रखने तथा सीमान्त रास्तों को खुला और सुरक्षित रखने के लिए घूस दिया करते थे। औरंगजेब सीमान्त प्रदेश की सीमा के सरदारों को इस हेतु घुस के रूप में ६ लाख रुपये वार्षिक देता था। परन्तु सरदारों को इस प्रकार घूस देना सदा सफल नही होता था क्योकि उन लोगों में प्राय: नये सरदार उत्पन्न हो जाते थे और वे मुगल सीमा में लूटमार करते थे। पेशावर के उत्तर में स्वात तथा बाजौर जिलों के यूसुफजई गिरोह का सरदार भागू १६६७ ई० मे मुहम्मदशाह के झूठे नाम से गिरोह का नकली राजा बन बैठा। उसने अटक के पास सिन्धु नदी को पार कर किया और मुगलों के हजारा जिले पर धावा बोल दिया। यूसुफजई जाति के अन्य गिरोहों ने पेशावर तथा अटक के जिलो को लूटा और

हरून के पास सिन्धु नदी के घाट पर अधिकार करने की चेष्टा भी की ताकि मुगल सेना सीमान्त प्रदेश मे प्रवेश न कर सके। परन्तु अप्रैल १६६७ ई० में अटक के सेनानायक कामिलखाँ ने उन्हें परास्त कर दिया। सेनानायक शमशेरखाँ ने यूसुफजई सीमा मे प्रवेश करके कबाइलियों को परास्त किया। सितम्बर माह मे सम्राट ने मोहम्मद अमीनखाँ को यूसुफजई लागों को दण्डित करने को भेजा और उसने उनका इस कठोरता से दमन किया कि कुछ वर्षों तक वे लोग बिलकुल शान्त रहे।

सीमान्त प्रदेश में १६७२ ई० में एक और विद्रोह उठ खड़ा हुआ। अफरीदी नेता सरदार अकमलखाँ स्वय शासक बन बैठा। उसने मुगलो के विरुद्ध धार्मिक युद्ध की दुन्दुभी बजा दी तथा समस्त पठानों से सहयोग देने की प्रार्थना की। इन विद्रोहियो ने अफगानिस्तान के राज्यपाल मुहम्मद अमीनखाँ पर अली मस्जिद मे हमला किया। मुगल सेना परास्त हो गयी और मुहम्मद अमीन अपना कैम्प, समस्त सामान, यहाँ तक कि अपनी स्त्रियों को छोड़कर भाग खड़ा हुआ, जिन्हे पठानो ने अपना गुलाम बना लिया। इस सफलता से विद्रोहियों को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला और विद्रोह समस्त सीमान्त प्रदेश मे फैल गया। खट्टक जाति का कवि खुशालखाँ भी विद्रोहियो से जा मिला। वह अपनी हृदयस्पर्शी कविताओ से विद्रोहियों मे उत्साह का सचार करता था। औरंगजेब ने विद्रोही पठानों का दमन करने क लिए महाबतखाँ को अफगानिस्तान का गवर्नर बनाकर भेजा, परन्तु वह स्वयं गुप्त रूप से अफगानों से जा मिला। फलस्वरूप खैबर दर्रे का रास्ता बन्द रहा। इस पर सम्राट अप्रसन्न हुआ और उसने शुजातखाँ को विद्रोहियो को दण्डित करने के लिए भेजा, परन्तु वह परास्त हुआ और ३ मार्च, १६७४ ई० को मार डाला गया।

अब परिस्थिति अत्यन्त डाँवाडोल हो चुकी थी। स्वयं सम्राट को पेशावर के निकट हसन अब्दल जाने के लिए विवश होना पड़ा। वह वहाँ डेढ साल से अधिक रहा। महाबतखाँ को राज्यपाल के पद से हटाकर पठानों से मोर्चा लेने के लिए एक नयी सेना भेजी गयी। इसके साथ-साथ सम्राट ने कूटनीति से भी काम लिया। औरंगजेब ने सीमान्त प्रदेश के नेताओं को राजकीय नौकरियाँ प्रदान कीं तथा उन्हें घूस के रूप में रुपया भी दिया। फलस्वरूप कुछ जातियो ने शाही नौकरियाँ स्वीकार कर ली और शान्तिपूर्वक आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु गोरी, गिलजई, शीरानी तथा यूसुफजई पठानो आदि ने शाही प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस पर मुगल सेना ने उन्हें परास्त करके उनका दमन कर दिया। विद्रोही पठानो का दमन करने मे मुगल सेनानायक युगीरखाँ का सक्रिय हाथ था और पठान जाति में उसकी वीरता की ऐसी धाक जम गयी कि पठान स्त्रियाँ "अपने बच्चो को सुलाने के लिए युगीरखाँ के डरावने नाम का प्रयोग किया करती थीं।" दिसम्बर १६७५ ई० तक समस्त सीमान्त प्रदेश में पुनः शान्ति स्थापित हो गयी। इसीलिए औरंगजेब हसन अब्दल से दिल्ली के लिए रवाना हुआ। उसने अमीरखाँ को काबुल का राज्यपाल नियुक्त किया। अमीरखाँ ने युक्ति तथा कूटनीति से काम लिया। वह अफगानों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके

उनकी सहायता से आने-जाने का रास्ता खुला रखने मे सफल हुआ। अधिकाश रूप मे इस सफलता का श्रेय उसकी पत्नी साहिबजी को है, जो कि अलीमरदानखाँ की पुत्री थी। वह मृत्युपर्यन्त १६६८ ई० तक काबुल का राज्यपाल रहा।

सीमान्त सरदारो को धन की सहायता देकर अमीरखाँ उनमे फूट के बीज बोने मे सफल हो गया जिसके फलस्वरूप अकमलखाँ के नेतृत्व मे अफगानो की एकता भग हो गयी। अकमलखाँ की मृत्यु के बाद अफरीदियो ने आत्मसमर्पण कर दिया और सम्राट से सन्धि कर ली। परन्तु खुशालखाँ खटक कुछ वर्ष तक युद्ध करता रहा, किन्तु उसके पुत्र ने उसके साथ विश्वासघात किया और उसे पकडकर बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार सीमान्त युद्ध का अन्त हो गया। परन्तु इस युद्ध मे मुगलो का बहुत धन व्यय हुआ। मुगल सम्राट जन तथा धन की हानि के अतिरिक्त इस विद्रोह के कारण मराठो की ओर पूरा ध्यान न दे सका। मराठा नरेश शिवाजी के इस अवसर पर पूरा-पूरा लाभ उठाकर कर्नाटक पर विजय प्राप्त कर ली।

औरगजेब का राजत्व आदर्श

औरगजेब इस्लाम की राजत्व तथा राजसत्ता सम्बन्धी नीति को मानने वाला था। उसके शासन का आधार कुरान था। मुसलमान धर्म न मानने वाले व्यक्तियों को मुसलमान धर्म मे लाना इसका प्रमुख उद्देश्य था। उसका पक्का विश्वास था कि उससे पूर्व के भारत के सम्राटो ने कुरान के कानून को न मानकर तथा शासन-प्रबन्ध को बिना किसी जाति तथा धर्म-भेद चलाकर बहुत बडी भूल की थी। अकबर ने इस्लाम को राजधर्म के पद से हटा दिया था तथा इस्लाम की राजत्व सम्बन्धी नीति को त्यागकर हिन्दुओ को राजत्व नीति को अपनाया था। औरगजेब की दृष्टि मे यह एक महान त्रुटि थी। इस प्रकार औरंगजेब ने अपनी नीति के अनुसार अपने महान् पूर्वज द्वारा किये गये सभी नवीन परिवर्तनो का अन्त कर दिया। उसने अपने शासन के प्रारम्भिक काल में ही कट्टर सुन्नी धर्म की उन्नति करने के लिए कदम उठाये। औरगजेब ने इस्लाम को पुन. राजधर्म घोषित कर दिया और इस्लाम के प्रचार के लिए राज्य की ओर से प्रचारको को सभी सुविधाएँ प्रदान की। उसने कुफ्र (बहुदेवतावाद) को समाप्त करके भारत मे जिहाद (धार्मिक युद्ध) करके जो उसके विचार मे काफिरो (दार-उल-हर्ब) का देश था, वहाँ के लोगो को इस्लाम धर्म में दीक्षित करना तथा राज्य का शासन-प्रबन्ध कुरान के आदेश के अनुसार करके भारत को इस्लाम देश (दार-उल-इस्लाम) मे परिवर्तित करना अपने जीवन का मुख्य ध्येय बना लिया था। उसने निश्चय किया कि जब तक समस्त देश पर विजय प्राप्त करके उसकी समस्त प्रजा इस्लाम धर्म मे दीक्षित नहीं हो जायेगी, तब तक वह उन गैर-मुसलमानों को राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारो से वचित रखेगा ताकि प्रतिदिन उन्हे अपनी हीनता का ध्यान रहे और अन्त में लाचार होकर वे अपने पूर्वजों का धर्म त्यागकर इस्लाम धर्म स्वीकार कर ले।

सर्वप्रथम सम्राट ने इस्लाम को दरबार और देश में उस अवस्था पर पहुँचाया

जिस पर वह अकबर से पूर्व प्रतिष्ठित था। इसके पश्चात समस्त गैर-मुस्लिम रीति-रिवाजों पर प्रतिबन्ध लगाकर उसने मुसलमानी कानून को फिर से जारी किया। उसने सिक्कों पर कलमा का लिखा जाना, फारस के नववर्ष दिवस पर उत्सव का मनाना तथा भाँग की खेती करना बन्द कर दिया। उसने देश के समस्त बड़े-बड़े नगरों में मुहतसिबों (धर्म-निरीक्षक) की नियुक्त की, जो शहर में कुरान के कानूनों को लागू करते थे। उसने अपने दरबार में गाना-बजाना बन्द करवा दिया तथा अपने जन्म-दिवस के अवसर पर सम्राट को चाँदी, सोना तथा हीरे-जवाहरातों से तोले जाने की (तुलादान) प्रथा को बन्द करवा दिया। उसने झरोखा दर्शन देना भी बन्द कर दिया। राज्य में हिन्दू ज्योतिषियों को पदच्युत कर दिया गया, जबकि मुसलमान ज्योतिषी अपने पदों पर पूर्ववत आसीन रहे। समय-समय पर सम्राट उनसे काम भी लेता रहा। उसने पुराने मन्दिरों की मरम्मत पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके कुछ समय पश्चात अपने प्रान्त के राज्यपालों को "काफिरों के मन्दिरों तथा पाठशालाओं को, धार्मिक तथा पवित्र स्थानों को तोड़-फोड़ डालने तथा उनके धार्मिक तथा विद्या के प्रचार को रोकने का कठोर आदेश दिया। मुहतसिब लोगों को अपनी सीमा के हर भाग में जाकर समस्त हिन्दू मन्दिरों तथा पुण्य स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करना पड़ा।" "मन्दिर तोड़ने के लिए नियुक्त किये गये सरकारी कर्मचारियों की इतनी संख्या थी कि उनको आदेश देने तथा देखने-भालने के लिए एक दरोगा की नियुक्ति करनी पड़ी थी।" संसार-प्रसिद्ध बनारस के विश्वनाथ, मथुरा के केशवदास तथा पाटन के सोमनाथ जैसे पवित्र मन्दिरों को गिरा दिया गया; यहाँ तक कि मुगलों के मित्र हिन्दू नरेशों के राज्यों—जयपुर आदि—के मन्दिरों तक को नहीं छोड़ा गया। कभी-कभी तो मूर्तियों को तोड़ने के साथ-साथ अनियन्त्रित भ्रष्टता का कार्य तक सम्पन्न हुआ, जैसे देवालय में गौओं का वध करना, मूर्तियों को जनता के पैरों द्वारा कुचला जाना।

"इस्लाम का प्रचार करने तथा काफिरों को नीचा दिखाने के लिए" सम्राट ने १२ अप्रैल, १६७६ ई० की आज्ञा द्वारा हिन्दुओं पर पुनः जजिया कर लगा दिया। यह एक विनिमय-कर था जो मुआफी तथा जागीरों अथवा सरकारी प्रान्त में रहने वाले हिन्दुओं से मुसलमान धर्म अंगीकार न करने के कारण वसूल किया जाता था। चाहे वे सरकारी नौकरी में हों अथवा निजी खेती-बाड़ी करते हों, उन्हें यह कर अपने हाथ से नम्रतापूर्वक देना पड़ता था। जजिया की जाँच तथा वसूली के लिए समस्त गैर-मुस्लिम जनता को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था जिसमें प्रथम श्रेणी वाले ४८ दरहम, द्वितीय श्रेणी वाले २४ तथा तृतीय श्रेणी वाले १२ दरहम वार्षिक जजिया के रूप में दिया करते थे। एक दरहम चार आने से कुछ अधिक मूल्य का होता था। स्त्री, बच्चे, भिखारी, गुलाम तथा अन्य कंगाल लोग जजिया कर से मुक्त थे। वे पुजारी लोग भी जो धनी पूजागृहों में पूजा नहीं करते थे, इस कर से मुक्त थे। इस कर का हिन्दुओं पर बुरा प्रभाव पड़ा। मनुची लिखता है कि अनेक हिन्दू जो कर देने की अवस्था में नहीं होते थे, "वसूली करने वालों द्वारा अपमानित न होने" तथा कर-

मुक्त होने के लालच मे मुसलमान हो जाते थे। इससे औरगजेब बहुत प्रसन्न हुआ। वह हिन्दुओ के विरोध की सदा उपेक्षा करता रहा तथा उसने तीर्थस्थानो पर नहाने का कर पुनः लगा दिया। प्रत्येक हिन्दू को प्रयाग मे गंगा-स्नान करने के लिए ६ रुपये ४ आने यात्रा-कर के रूप मे देने पड़ते थे। इसी प्रकार अन्य तीर्थस्थानो पर भी हिन्दुओ को इसी प्रकार कर देना पड़ता था। सम्राट ने मुसलमान व्यापारियो से चुगी की वसूली बन्द कर दी, परन्तु हिन्दू व्यापारियो को उसी प्रकार ५ प्रतिशत चुगी देनी पड़ती थी। यह सब हिन्दुओ पर दबाव डालने के लिए किया गया था। उसने इस बात की घोषणा कर दी कि जो हिन्दू मुसलमान धर्म अगीकार कर लेंगे उन्हे वेतन तथा पुरस्कार मिलेंगे; यहाँ तक कि उसने धर्म-परिवर्तित हिन्दुओ को सरकारी नौकरियाँ दी तथा हिन्दू कैदियो को मुसलमान हो जाने पर मुक्त कर देने का लालच भी दिया। पंजाब मे कुछ मुसलमानों के पास अभी तक सरकारी नियुक्ति-पत्र सुरक्षित हैं, जिनमें उनके पूर्वजो को मुसलमान बन जाने पर पुरस्कार-रूप में कानूनगो नियुक्त किये जाने का आदेश है। जब कभी किसी जायदाद के बारे में दो मनुष्यो मे झगडा हो जाता था, सम्राट वह जायदाद उस मनुष्य को दे देता था जो मुसलमान धर्म अंगीकार कर लेता था। १६७१ ई० में औरंगजेब ने प्रान्तो में लगान वसूली हेतु नियुक्त हिन्दू अधिकारियों को पदच्युत कर दिया। परन्तु चूँकि योग्य मुसलमान पर्याप्त संख्या मे प्राप्त नही थे, इसलिए कुछ प्रान्तो मे हिन्दुओ को अपने स्थान पर काम करने दिया गया। १६८८ ई० मे उसने धार्मिक मेलों के लगने तथा त्योहारों के मनाये जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसी वर्ष उसने राजपूतों के अलावा अन्य हिन्दुओं का पालकियों, हाथियों या अच्छे घोडो पर सवारी करना तथा अपने साथ कोई हथियार रखना अपराध घोषित कर दिया। इस प्रकार औरगजेब ने हिन्दुओं को हर प्रकार से क्लेश पहुँचाकर मुसलमान हो जाने के लिए बाध्य किया। कभी-कभी तो वह जबरदस्ती भी लोगों को मुसलमान बना लेता था।[1] उसने इस कार्य में राजनीति बुद्धि-पेच का भी प्रयोग किया तथा इस्लाम के प्रचार को अपने शासन-प्रबन्ध का मुख्य ध्येय बना लिया। इस प्रकार उसके समय में मुगल-साम्राज्य एक धर्म-प्रचारक संस्था बन गयी।

जाटों का विद्रोह (१६६८-१६८६ ई०)

भारत को एक मुसलमानी देश बनाने की औरंगजेब की नीति का राजस्थान, मालवा, बुन्देलखण्ड तथा खानदेश में विरोध हुआ। वहाँ पर मन्दिरों से परिणत अनेक मस्जिदों को तोड़-फोड़ डाला गया तथा मुसलमानों की नमाज की पुकार को भी बन्द कर दिया गया। कुछ स्थानों पर जजिया की वसूली करने वालों को पीटा गया तथा उनकी दाढ़ी नोंचकर उन्हें भगा दिया गया। परन्तु औरगजेब की उत्पीड़न-नीति के विरुद्ध संगठित प्रथम हिन्दू विद्रोह मथुरा जिले मे हुआ जहाँ पर वीर जाटों ने अपने नेता गोकुल की अध्यक्षता में १६६६ ई० मे स्थानीय प्रान्तीय अधिकारी अब्दुल

[1] Sharma, S. R. *Religious Policy of the Mughals*, p. 162.

नबी को, जो सम्राट की आज्ञानुसार मन्दिरों तथा मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा था, मार डाला। इस मुगल अधिकारी ने पवित्र मथुरा शहर के बीच में हिन्दू मन्दिरो को तोड़कर उनके स्थान पर एक मस्जिद खड़ा कर दी थी। दारा द्वारा केशवराय मन्दिर को भेंट किये हुए पत्थर के जगले को भी, जिसमें खोदकर चित्र बनाये गये थे, वह उठा ले गया था। वह हिन्दू कन्याओं का बलपूर्वक अपहरण किया करता था। जाटो ने उसे मारकर सादाबाद के परगने को खूब लूटा, सम्राट द्वारा भेजी गयी अनेक मुगल फौजी टुकड़ियो से मोर्चा लेने के बाद तिलपत के स्थान पर भयानक युद्ध मे जाट लोग परास्त हुए। जाटो का सरदार गोकुल अपने परिवार सहित कैद करके लाया गया। यहाँ पर पुलिस चौकी के दालान मे उसके अंगो के टुकडे-टुकड़े कर डाले गये और उसके परिवार को जबरदस्ती मुसलमान बना लिया गया। परन्तु फिर भी जाटों का विद्रोह चलता रहा और १६८६ ई० मे सिन्सनी के राजाराम तथा सोघर के रामचेरा ने सरदारों का पद संभाला। इन लोगो ने अपने जाति-भाइयो (गिरोह के आदमियों) सहित खुलेआम युद्ध किया। ये लोग जंगलो में अगम्य स्थानो पर मिट्टी के किले बनाते थे और आगरा शहर तक खूब लूटपाट किया करते थे। १६८७ ई० मे प्रसिद्ध मुगल सेनानायक युगीरखाँ को हराने और मार डालने तथा मुगल सामन्त मीर इब्राहीम को लूट लेने के कारण राजाराम अब प्रसिद्ध हो चुका था। उसने सिकन्दरे मे अकबर के मकबरे तक को लूटा और इमारत को काफी हानि पहुँचायी। जैसा कि मनूची लिखता है, उसने महान सम्राट अकबर की हड्डियों को खोदकर उन्हें जला भी दिया। इससे औरगजेब सावधान हो गया और उसने १६८८ ई० मे अपने पौत्र बीदरबख्त को उसके सहायक आमेर के राजा विशनसिंह के साथ, जो मथुरा जिले का अधिकारी था, जाटो का दमन करने के लिए भेजा। जुलाई १६८८ ई० में राजाराम परास्त हुआ मारा गया। कठिन युद्ध के बाद, जिसमे मुगलों के ९०० तथा जाटो के १,५०० सैनिक काम आये, मुगल सेना ने सिन्सनी पर अधिकार कर लिया। राजाराम के बाद उसके भतीजे चूरामन ने जाटों का नेतृत्व संभाला और औरगजेब की मृत्यु तक विद्रोह जारी रखा : उसने शक्तिशाली सेना तैयार कर ली और वर्तमान भरतपुर के राजपरिवार की स्थापना की। अन्त मे जाटो का उत्थान मुगल-साम्राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण हो गया।

सतनामियों का विद्रोह

औरगजेब के शासनकाल का दूसरा भीषण विद्रोह नारनौल तथा मेवात के जिलों में सतनामियों का विद्रोह था। सतनामी लोग शान्तिप्रिय धार्मिक लोग थे जो एकेश्वरवाद मे विश्वास रखते थे और खेती करते थे। वे अपना सिर, चेहरा तथा भौहें तक मुड़वाते थे, इसलिए मुण्डिया कहलाते थे। यह विद्रोह एक सतनामी किसान और लगान वसूल करने वाले एक स्थानीय मुगल अधिकारी के प्यादे मे व्यक्तिगत झगड़े के कारण हुआ था। सैनिक के अनुचित व्यवहार से सतनामी लोगों को क्रोध आ गया और इस झगडे ने बढ़कर मुगलों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध का रूप ले लिया।

यह बात बहुत जल्दी ही फैल गयी। उन लोगों में यह अफवाह फैल गयी थी कि एक वृद्ध जादूगरनी (भविष्यवक्ता) ने सतनामियो को गोली के लिए अभेद्य बना दिया है। इस अफवाह से इस क्रिया को बहुत प्रेरणा मिली। स्थानीय सरदारो द्वारा मुगल सेना पर अनेक विजयें प्राप्त कर लेने के कारण उन लोगो का पक्का विश्वास हो गया कि वे गोलियो के लिए अभेद्य हो गये हैं। उन्होने नारनौल शहर तथा जिले को खूब लूटा और उस पर अधिकार जमा लिया। विवश होकर औरगजेब को रदन्दाजखाँ के नेतृत्व मे तोपखाने से सुसज्जित एक सेना भेजनी पडी। उसने कागजो पर जादू-टोने के मन्त्रों को लिखकर सेना के झण्डो में बाँध दिया ताकि वे शत्रु के जादू-टोने से बच सकें। सतनामी बहुत साहस से लड परन्तु परास्त हुए। २,००० सतनामी युद्धभूमि मे काम आये और शेष ने आतंकित होकर आत्मसमर्पण कर दिया।

औरंगजेब और सिक्ख

औरंगजेब की धार्मिक उत्पीड़न-नीति से सिक्ख लोगो ने उत्तेजित होकर विद्रोह का झण्डा खडा कर दिया और यह विद्रोह ही आगे चलकर मुगल-साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण बना। सिक्ख सम्प्रदाय १६वी शताब्दी के आरम्भ काल मे गुरु नानक द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था। यह वास्तव मे पवित्र धार्मिक भाई-चारा था जिसके अनुयायी एकेश्वरवाद तथा ईश-प्रार्थना, आत्मसयम और सुकर्मो द्वारा निर्वाण-प्राप्ति मे विश्वास रखते थे। नानक ने मूर्ति-पूजा का खण्डन किया, जाति-भेदभाव तथा ब्राह्मणों तथा मुल्लाओं की श्रेष्ठता को खुलेआम धिक्कारा। उसके प्रथम तीन उत्तराधिकारी उसी के पदचिह्नो पर चले, परन्तु चौथे गुरु रामदास ने सर्वप्रथम आत्मिक तथा साथ ही साथ सासारिक प्रभुत्व प्राप्त करने का अपना लक्ष्य बनाया। १५८१ ई० मे गद्दी पर बैठे उसके उत्तराधिकारी गुरु अर्जुन ने गुरु ग्रन्थ साहब का सम्पादन किया, अमृतसर का स्वर्ण मन्दिर बनाया तथा सिक्खो को एक ठोस सम्प्रदाय के रूप मे संगठित किया। इसके अलावा गुरु ने मसन्द नामक अफसरों को समस्त सिक्खो से दशाश कर तथा भेटें वसूल करने के लिए नियुक्त करके अपने लिए व्यवस्थित आय का प्रबन्ध कर लिया। उसने विद्रोही खुसरो को आशीर्वाद दिया था, इस कारण जहाँगीर ने उसे कैद कर लिया तथा १६०६ ई० में यातना देकर मार डाला गया। गुरु अर्जुन के सुपुत्र हरगोविन्द ने सैनिक शिक्षा प्राप्त की और कुशल योद्धा बन गया। शिकार के शाही स्थल को हथिया लेने तथा सम्राट द्वारा भेजी गयी मुगल सेना को परास्त कर देने के कारण उसे शाहजहाँ से टक्कर लेनी पड़ी। शाहजहाँ ने अमृतसर में हरगोविन्द के घर तथा जायदाद को छीन लेने की आज्ञा दी। इस कारण गुरु ने जाकर कीरतपुर में शरण ली और १६४५ ई० में स्वर्ग सिधार गये। हरराय उसके उत्तराधिकारी बने, जिसकी मृत्यु के पश्चात हरकृष्ण गुरु बने। इसके बाद तेगबहादुर गुरु बने, जिसने अपना निवास-स्थान आनन्दपुर बनाया। इसी बीच औरंगजेब सम्राट बन गया और उसने धार्मिक उत्पीडन की नीति बरतनी प्रारम्भ कर दी। सम्राट ने सिक्खों के गुरुद्वारों को नष्ट करने तथा मसन्दो को शहर से बाहर

निकाल देने की आज्ञा दी। गुरु तेगबहादुर ने इस नीति का खुल्लमखुल्ला विरोध किया, इस कारण उसे कैद कर दिल्ली ले जाया गया। वहाँ पर इसे इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने को कहा गया परन्तु इनकार करने पर पाँच दिन तक घोर यातना देने के बाद मार डाला गया (दिसम्बर १६७५ ई०)।

औरंगजेब की धर्मान्धता तथा जनता को मुसलमान होने के लिए बाध्य करने की उसकी नीति के कारण सिक्खों और मुसलमानों मे एक असधेय विश्वास भग हो गया। इससे तग आकर तेगबहादुर के सुपुत्र गोविन्दसिंह को अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने का दृढ निश्चय करने पर बाध्य होना पड़ा। उसने सिक्खो को सैनिक-सम्प्रदाय मे परिवर्तित करके उसका नाम 'खालसा' रख दिया। खालसा लोगो को साधारण जनता से भिन्न वस्त्र धारण करने पडते थे और अपने साथ 'क' से शुरू होने वाली पाँच चीजें—केश, कृपाण, कच्छ, कड़ा, और कघी—रखनी पड़ती थीं। इसके अलावा उन्हें जाति-भेद तथा खानपान के सभी भेद छोड़ने पड़ते थे। खालसा-दल में प्रविष्ट करने के लिए एक नयी विधि निर्दिष्ट की गयी और अनुगामियों को इस बात का विश्वास करा दिया गया कि वे योग्यतम तथा चुने हुए लोग हैं। इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह का सिक्ख धर्म यथार्थ में औरंगजेब के इस्लाम धर्म के विरुद्ध विनाशकारक सिद्ध हुआ। गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में खालसा लोगों ने धर्मान्धता का जवाब धर्मान्धता से देने की नीति का अनुसरण किया।

उत्तरी पजाब में गुरु गोविन्दसिंह को उन मुसलमान अफसरों तथा हिन्दू नरेशो से लड़ना पड़ा, जिन्हें औरगजेब ने सिक्खों का दमन करने के लिए भेजी गयी शाही सेना को सहयोग देने का आदेश दिया था। गुरु ने उन लोगो को कई बार हराया। उसके अनुयायी दिन-प्रतिदिन बढ़ते गये। आनन्दपुर मे गुरु के घर का पाँच बार घेरा डाला जा चुका था, इस कारण उसने उस स्थान को छोड़कर मैदान में जाकर शरण ली। मुगलों ने उसका पीछा किया। स्थान-स्थान पर उसकी खोज की गयी और पीछा किया गया। अन्त में वह बीकानेर होकर दक्षिण में जा पहुँचा। युद्ध में उसके पुत्र काम आये तथा शेष दो को सरहिन्द के फौजदार ने मौत के घाट उतार दिया (१७०५)। औरंगजेब की मृत्यु का समाचार पाकर गुरु पुन: उत्तरी भारत में आ पहुँचा। उसने बहादुरशाह के साथ मिलकर उसके भाइयों के विरुद्ध मोर्चा लिया और उसी के साथ दक्षिण की ओर बढ़ चला। गोदावरी नदी के किनारे नादिर के स्थान पर जब ये लोग डेरा डाले हुए थे, तो एक अफगान अनुयायी ने १७०८ ई० में छुरा भोंककर उसका काम तमाम कर दिया।

गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें तथा अन्तिम गुरु थे। मृत्यु के थोडे समय पहले ही उसने गुरु की प्रथा को समाप्त कर दिया था और अपने अनुयायी सिक्ख-सम्प्रदाय को प्रजासत्तात्मक सैनिक रूप देने का आदेश दिया था। उनका कहना था कि "जहाँ कहीं भी ५ सिक्ख होंगे मैं वहीं पर उपस्थित रहूँगा।" गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के

समय तक सिक्ख एक ऐसा विद्रोह सम्प्रदाय बन चुका था, जिसने मुगलो के अत्याचारों का अन्त करने का व्रत लिया था।

राजपूत नीति

मुगल-साम्राज्य का प्रमुख हिन्दू सामन्त, जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिह जो औरंगजेब से धरमत के मैदान मे लड़ा था और जिसने खजुआ मे उसके डेरो को खूब लूटा था, २० दिसम्बर १६७८ ई० को जामरूद मे स्वर्ग सिधार गया। सम्राट ने अफगानिस्तान में जामरूद में उसे मुगल चौकियो की रक्षा करने के लिए नियुक्त किया था। औरगजेब राजपूतों से घृणा करता था, परन्तु जब तक भारत मे मिर्जा राजा जयसिह तथा महाराजा जसवन्तसिह जैसे शक्तिशाली नरेश जीवित रहे, वह हिन्दुओं को नष्ट करने की अपनी नीति को खुल्लमखुल्ला व्यवहार मे न ला सका। इस कारण जोधपुर नरेश की मृत्यु पर सम्राट को प्रसन्नता हुई और उसने मारवाड़ को मुगल-साम्राज्य मे शामिल कर लेने की आज्ञा दी। इस भय से कि कही राठौर लोग राष्ट्रीय विद्रोह न खड़ा कर दें, उसने अजमेर के लिए प्रस्थान किया। मारवाड़ जैसे शक्तिशाली हिन्दू राज्य का मुगल-सम्राज्य मे मिलाया जाना सम्राट की भारत को मुस्लिम-साम्राज्य मे परिवर्तित करने की नीति को सफल बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक था। सम्भव था कि स्वतन्त्र मारवाड सम्राट की नीति का विरोध करके उसे असफल बना देता अतः मारवाड़ पर आधिपत्य प्राप्त करके औरगजेब १२ अप्रैल, १६७६ ई० को दिल्ली लौट आया और उसने उसी दिन हिन्दुओं पर 'जजिया' पुनः लगा दिया, जिससे एक शताब्दी से कुछ समय पहले अकबर ने हिन्दुओं को मुक्त कर दिया था। इसी बीच महाराजा जसवन्तसिह का परिवार जब जामरूद से दिल्ली आ रहा था तो लाहौर मे उसकी दो रानियों के फरवरी १६७६ ई० मे दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमे से एक तो जन्म के बाद ही मर गया और दूसरा बड़ा होकर महाराजा अजीतसिह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जून १६७६ ई० में अजीतसिह अपनी माता सहित दिल्ली जा पहुँचा। औरंगजेब ने उसे शाही हरम के सुपुर्द किये जाने की आज्ञा दी तथा उसे जोधपुर का राज्य इस शर्त पर वापस देने को कहा जबकि वह इस्लाम धर्म स्वीकार कर ले। यही शर्त १७०३ ई० में औरंगजेब ने मराठा राजा शाहू के सामने आगे चलकर रखी थी। राठौर लोगों के लिए यह बहुत बड़ा अपमान था। इस कारण राठौरों ने मिलकर अपने नन्हें राजा अजीतसिह को कष्ट से बचाने का उपाय सोच निकाला। उन्होंने अपने नेता दुर्गादास के साथ मिलकर रानी के स्थान पर नौकरानी और नन्हें राजा के स्थान पर नौकरानी के पुत्र को रख दिया और राठौर योद्धाओं का जत्था मुगलों की फौज से जा भिड़ा जो रानी और अजीतसिह को पकडने के लिए भेजा गया था और जिसने इसी कारण जसवन्तसिह के निवास-स्थान को घेर लिया था। इधर तो राठौर योद्धाओ ने मुगल सेना को युद्ध मे जुटाये रखा और उधर दुर्गादास कुछ राठौर योद्धाओ के साथ रानियो को पुरुषों जैसी वेश-भूषा पहनाकर राठौरों के राजपरिवार के अन्य सदस्यो सहित ६ मील का रास्ता

तय कर चुका था। जब सम्राट को इस बात का पता चला तो उसने दुर्गादास से युद्ध करके रानी और उसके नन्हे पुत्र अजीतसिंह को वापस लाने के लिए सेना भेजी। राठौर लोग मुगल सेना के साथ बहादुरी से लड़े और उन्हें तीन बार हराया और वापस भगा दिया। इस प्रकार अजीतसिंह मारवाड़ सुरक्षित पहुँच गया। इस उपाय में भी असफल होने पर औरंगजेब ने अजीतसिंह के स्थान पर एक ग्वाले के बच्चे को रख दिया। उसे इस्लाम धर्म में दीक्षित करके उसका नाम मुहम्मद रजा रखा और इस बात की घोषणा कर दी कि दुर्गादास का शरणागत राजा नकली नरेश है। सम्राट ने नागौर नरेश इन्द्रसिंह को, जिसे मुगलों का वफादार अनुयायी होने के कारण मारवाड का राज्य मिला था, गद्दी से उतार दिया और जोधपुर को जो उस समय मुगल सेनानायक के अधिकार में था, यथाविधि मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। सम्राट पुनः अजमेर को रवाना हुआ और वहाँ से अपने पुत्र अकबर को एक विशाल सेना सहित मारवाड़ को पुनर्विजित करने के लिए भेजा, क्योंकि वहाँ की जनता ने मुगल आततायियों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया था। काफी समय तक लड़ने के बाद शाही सेना मारवाड़ पर विजय प्राप्त कर सकी। शाही सेना ने समस्त नगरों में लूटपाट की और मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया परन्तु राठौर लोग, जो पहाड़ियों में जा छिपे थे, उन लोगों को लगातार तंग करते रहे।

अब औरंगजेब मेवाड़ की ओर अग्रसर हुआ। उसने महाराणा राजसिंह के समस्त राज्य पर जजिया कर देने को कहा। परन्तु अब तक राजसिंह समझ गया था कि औरंगजेब राजपूतों को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहता है। अतएव महाराणा अजीतसिंह का पक्ष लेते हुए मुगलों से जोरदार टक्कर लेने के लिए तैयार हो गया। औरंगजेब ने महाराणा का इरादा भाँप लिया और हसनअलीखाँ के नेतृत्व में ७,००० चुने हुए सैनिकों को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस पर महाराणा अपनी राजधानी उदयपुर को छोड़कर पहाड़ियों पर भाग निकला। चित्तौड़ और मेवाड़ पर अधिकार कर लेने के बाद हसनअलीखाँ ने वहाँ के मन्दिर को तोड़ना शुरू कर दिया। राजसिंह का पीछा करके उसने उसे १ फरवरी, १६८० ई० को हरा दिया। राजकुमार अकबर को चित्तौड़ का भार सौंपकर सम्राट अजमेर को वापस चला गया। अब राजसिंह ने मुगल चौकियों पर आक्रमण करके उनके यातायात का मार्ग बन्द कर दिया। एक रात कुछ राजपूत सैनिक अचानक चित्तौड़ के निकट अकबर के खेमे के पास तक जा पहुँचे और कई मुगल सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। इस प्रारम्भिक सफलता के पश्चात राजसिंह बेदनौर की ओर बढ चला। वहाँ उसने अकबर को करारी हार दी और महान क्षति पहुँचायी। औरंगजेब ने अकबर को बदलकर उसके स्थान पर राजकुमार आजम की नियुक्ति चित्तौड़ में कर दी। सम्राट ने पुनः मेवाड़ पर आक्रमण करने की भी योजना बना ली जिसके अनुसार तीन विभिन्न दिशाओं से मेवाड़ की पहाड़ियों पर एक आक्रमण करना था। पूरब दिशा से आक्रमण करने वाली सेना आजम की अध्यक्षता में थी जिसे देवबाड़ी

दर्रे से होकर उदयपुर पर आक्रमण करना था। मुअज्जम की अध्यक्षता से दूसरी सेना को उत्तर से राजसमुद्र झील की ओर से प्रवेश करना था। परन्तु इनमें से प्रथम दो सेनापति मेवाड तक अपनी सेना सहित नही पहुँच पाये। अकबर नाडौल पहुँच गया और वहाँ दो माह ठहरकर देवसूरी दर्रे की ओर अग्रसर हुआ। परन्तु वह भी इससे आगे नही बढ सका और राजसिंह को, जो इसके डेरे के दक्षिण मे केवल आठ मील की दूरी पर कुम्भलगढ मे डेरा डाले था, वहाँ से भागने मे सफल न हो सका। अब तक राजकुमार निराश हो चुका था। अपने पिता की विरोधी नीति की तुच्छता (निस्सारता) समझ लेने के कारण उसने राजपूतो से सन्धि-वार्ता प्रारम्भ कर दी। राठौरो और सिसौदिया लोगो के सहयोग से उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और ११ जनवरी, १६८१ ई० को अपने आपको भारत का सम्राट घोषित कर दिया।

कुछ सप्ताह पहले ही राजपूतो ने अकबर के सामने प्रस्ताव रखा था कि वह उन लोगों की सहायता से राज्य पर अधिकार करके स्वय को सम्राट घोषित कर दे तो राठौर तथा सिसौदिया राजपूत इस कार्य के लिए अपनी सेनाएँ उसकी सेवा मे भेज देंगे। यह भी तय हुआ था कि अकबर अपना राज्यारोहण विधिपूर्वक मनाकर औरंगजेब के विरुद्ध अग्रसर होगा। इन सब बातो तथा प्रस्तावो के कारण अकबर ने उक्त महत्त्वपूर्ण निर्णय किया था। अकबर यह भलीभाँति जानता था कि औरंगजेब की धर्मान्धता की नीति न केवल देश के ही लिए वरन् मुगल सत्ता के लिए भी हानिकर थी। इस कारण अकबर दुर्गादास और महाराणा राजसिंह की इच्छानुसार काम करने को राजी हो गया था। परन्तु १ नवम्बर, १६८० ई० को महाराणा की मृत्यु तथा उसके पुत्र जयसिंह के राज्यारोहण के कारण औरंगजेब पर आक्रमण करने की योजना को कार्यरूप में परिणत करने मे अधिक समय लग गया था। ज्योंही मेवाड का नया महाराणा अपनी सेना अकबर की सेवा में भेजने को तैयार हो गया वैसे ही उसने चार मुसलमान उलेमाओं द्वारा हस्ताक्षरित एक 'फतवा' लिखवाया, जिसमें लिखा था कि औरंगजेब ने कुरान के नियमों का उल्लंघन किया है, इस कारण वह राजगद्दी से वंचित हो गया है। इसके बाद ११ जनवरी, १६८१ ई० को उसने अपना राज्याभिषेक किया। सिसौदिया और राठौरो की सेनाओ सहित उसने १२ जनवरी को अपने पिता के विरुद्ध, जो अजमेर मे डेरा डाले हुए था, प्रस्थान किया। सम्राट के हृदय मे अकबर के प्रति पिता का प्रेम था। इस कारण ऐसी चोट खाकर पहले तो वह भौचक्का रह गया परन्तु शीघ्र ही सँभल गया और थोड़ी सेना होने के बावजूद उसने अजमेर से ८ मील दूर जाकर दोराहा के स्थान पर मोर्चा जमा लिया। छोटी सेना होने के कारण अकबर के साथियों को अपनी तरफ तोड लेने के लिए सम्राट ने चतुर कूटनीति से काम लिया। उसने अकबर के पक्के अनुयायी तहव्वरखाँ को उसके श्वसुर से इस आशय का पत्र लिखवाया कि यदि वह शाही नौकरी स्वीकार करेगा तो उसे माफ कर दिया जायगा और यदि वह इस बात को अस्वीकार करेगा

तो उसके समस्त परिवार को जो समय शाही डेरे के साथ था, नष्ट कर दिया जायगा। अपनी स्त्री और बाल-बच्चों की कुशलता के मोह में आकर एक रात तहव्वरखाँ बिना अकबर या किसी राजपूत सामन्त को बताये हुए औरंगजेब के डेरे में जा पहुँचा, जहाँ पर उसे औरंगजेब के सेवकों ने मार डाला। उसके बाद सम्राट ने अकबर को इस आशय का एक पत्र लिखा कि तुमने अपनी और मेरी सेनाओं के बीच प्रमुख राजपूतों को लाने का जो प्रयत्न किया है, वह सराहनीय है। यह पत्र जानबूझकर राजपूत सरदारों के डेरे के पास डलवाया गया। जब दुर्गादास ने इस पत्र को पढ़ा तो वह भौचक्का रह गया और सीधे अकबर के पास गया और इस षड्यन्त्र के बारे में पूछताछ करनी चाही। अकबर के नपुसक सेवकों ने दुर्गादास को बताया कि वह सो रहा है। अब दुर्गादास तहव्वरखाँ के खेमे में गया, तो उसे मलूम हुआ कि वह गुप्त रूप से औरंगजेब से जा मिला था। जब राजपूतों को पूरा विश्वास हो गया कि अकबर ने अपने पिता के साथ मिलकर उन लोगों को नष्ट कर देने के लिए यह षड्यन्त्र रचा है। इस कारण उन्होंने अकबर के डेरे पर धावा बोल दिया; उसको लूटा और उसे छोड़कर मेवाड़ की ओर प्रस्थान किया। पथभ्रष्ट अकबर की सेना के बहुत-से सैनिक भी उसे छोड़कर औरंगजेब की सेना में जा मिले और जब अकबर जगा तो उसके साथ केवल ३५० घुड़सवार बच रहे थे। राजपूतों के साथ रहने में ही अपनी भलाई समझकर वह अपनी स्त्रियों, बच्चों और खजाने का कुछ भाग लेकर मेवाड़ की ओर लौट पड़ा। दूसरे दिन औरंगजेब ने अकबर के डेरे पर अधिकार प्राप्त कर लिया और उसके साथियों को तथा विशेषकर उन चार मुल्लाओं को जिन्होंने उसके विरुद्ध फतवा लिखा था, दण्ड दिया।

दुर्गादास को शीघ्र ही इस बात का पता लग गया कि अकबर और राजपूतों के मेल-मिलाप का असफल होना अकबर के विश्वासघात के कारण नहीं वरन औरंगजेब के छल के कारण हुआ था। अब उसने अकबर को अपने संरक्षण में रखा और राजपूताना तथा खानदेश की खतरनाक यात्रा करके उसे शिवाजी के पुत्र शम्भूजी के दरबार में पहुँचा दिया क्योंकि शम्भूजी ही केवल ऐसा भारतीय नरेश था जो भगोड़े राजकुमार को अपने दरबार में शरण देने का साहस कर सकता था।

इससे पहले कि अकबर मराठों की सहायता प्राप्त करके राज्य की शान्ति को भंग कर सके, सम्राट ने उदयपुर के महाराणा से सन्धि कर ली। उसके बाद वह दक्षिण की ओर इस इरादे से अग्रसर हुआ कि वह भारत का सम्राट बनने के अकबर के सुनहरे स्वप्नों को भंग कर दे। महाराणा जयसिंह को भी सदा शाही सेना के हमले का भय बना रहता था अतएव वह भी सम्राट से सन्धि करने का उतना ही उत्सुक था। इस कारण २४ जून, १६८१ ई० को उन दोनों में सन्धि हो गयी थी। अपने राज्य पर लगाये जजिया के एवज में महाराणा ने सम्राट को मांडलपुर और बेदनौर के परगने दे दिये। सम्राट ने महाराणा को अपने राज्य में स्थायी बनाकर 'राणा' के पद से विभूषित किया तथा उसे ५,००० का मनसबदार नियुक्त किया। परन्तु मारवाड़

ने सम्राट से सन्धि नही की और अगले २७ वर्ष तक मुगल सम्राट से लडता रहा। इस युद्ध के कारण वफादार सिसौदिया और राठौरो की मुगल सम्राट के प्रति सहानुभूति नही रही। हाडा और गौड राजपूतो ने भी उनकी नीति का अनुसरण किया और उत्तरी भारत मे मुगल सत्ता की जड़ खोद डाली। औरंगजेब एक विशाल सेना सहित दक्षिण की ओर अग्रसर हुआ। नवम्बर माह मे वह बुरहानपुर पहुँचा और १ अप्रैल, १६८२ को औरगाबाद पहुँचा।

जब तक औरंगजेब दक्षिण मे रहा, तब तक मारवाड मे विद्रोह शान्त नहीं हुआ। देशभक्त राठौर लोग जिन्होने पहाडियो और मरुभूमि पर अधिकार जमा रखा था, अक्सर मैदान मे आकर मुगल चौकियों पर हमला करते रहते थे और उनके आवागमन तथा रक्षा के मार्गों को बन्द कर देते थे। इस प्रकार ये लोग जोधपुर के मुगल राज्यपाल को तग करते रहे और उसे राज्य पर पूर्णरूप से अधिकार जमाने का समय तक नही दिया। राठौरो के स्वतन्त्रता-सग्राम को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है: (१) १६८१ से १६८७ ई० तक यह जन सग्राम रहा क्योकि अजीतसिंह उस समय बच्चा था और प्रसिद्ध राठौर योद्धा दुर्गादास दक्षिण मे था। राठौरो मे कोई ऐसा केन्द्रीय अधिकारी नही था जो अकेला मुगलो से टक्कर लेता, वरन् गुरिल्ला दस्ते अनेक स्थानो पर एक साथ मुगलो पर आक्रमण कर देते थे। इस कारण मुगल राज्यपालों को नियमित शासन-प्रबन्ध स्थापित करने को न तो समय ही मिल पाता था और न ही कभी विश्राम। (२) १६८७ से १०७१ ई० तक दुर्गादास ने, जो दक्षिण से लौट आया था, राठौरों का नेतृत्व किया। बूंदी के दुर्जनसाल हाड़ा के सहयोग से उसने मारवाड़ के मैदान साफ कर दिये और मेवात तथा दिल्ली तक मुगल सीमाओं पर आक्रमण किया। यद्यपि १६९० ई० में उसने अजमेर के राज्यपाल को हरा दिया, परन्तु मारवाड़ के नये राज्यपाल शुजातखाँ ने, जो एक योग्य व्यक्ति था, स्थानीय राठौर सरदारों से गुप्त सन्धि कर ली थी, जिसके अनुसार वह उन्हें चौथ अर्थात चुगी करों की सरकारी आय का चौथाई भाग देता था। इस कारण दुर्गादास मारवाड़ को पुन. प्राप्त कर सका। परन्तु बाद मे, दुर्गादास ने सम्राट से सन्धि कर ली, जिसके अनुसार उसे अकबर की पुत्री शफीयातुन्निसा (१६९४ ई०) तथा पुत्र बुलन्दअख्तर (१६९८ ई०) को सम्राट के हाथ मे सौंपने को राजी कर लिया गया। इसके बदले में सम्राट ने दुर्गादास को ३,००० का मनसबदार तथा गुजरात में पाटन का सेनानायक नियुक्त किया। अजीतसिंह को झालोर, सन्चोद और सीवाना के परगने जागीर के रूप में दे दिये गये तथा उसे शाही नौकरी मे एक पद दे दिया गया। परन्तु उसे अपने राज्य मे बहाल नही किया गया। (३) इस संग्राम का तीसरा दौर १७०१ ई० से १७०७ ई० तक रहा। इसके अन्त समय मे अजीतसिंह ने मारवाड़ पुनः प्राप्त करके अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया। १७०१ ई० में आजमशाह को जोधपुर का मुगल राज्यपाल नियुक्त किया गया। उसने वहाँ के राठौरों को नाराज कर दिया। सम्राट राठौर योद्धा दुर्गादास को कैद में करना या मरवा डालना चाहता था। इस

खूब लूटा। इस्माइलिया तथा दाऊजी बोहरो के धार्मिक नेताओ को, जो शिया थे, कैद करके औरगजेब ने गुजरात की जनता को रुष्ट कर दिया था। उसकी इस निर्बुद्धि नीति से प्रान्त मे असन्तोष फैल गया।

बुन्देलखण्ड स्थित ओरछा के राजा चम्पतराय का पुत्र छत्रसाल उत्तरी भारत मे औरगजेब का महापराक्रमी तथा सफल शत्रु था। जब १६६१ ई० मे केवल शाही शक्ति के कारण चम्पतराय को मजबूर होकर आत्मसमर्पण करना पड़ा, उस समय छत्रसाल ने मुगल सम्राट के यहाँ एक क्षुद्र कप्तान के रूप मे नौकरी शुरू की थी। दक्षिण मे उसने राजा जयसिंह के नेतृत्व में युद्ध भी किये। शिवाजी द्वारा मुगलों के विरोध करने से उसे प्रेरणा मिली और उसने अपनी समस्त सेवाएँ मराठा योद्धा शिवाजी को मुगल-साम्राज्य की शक्ति को नष्ट करने के लिए अर्पित कर दी। परन्तु शिवाजी ने उसे अपने ही प्रान्त बुन्देलखण्ड जाकर विद्रोह भड़काने के लिए सलाह दी, ताकि मुगलों का ध्यान कई तरफ बँट जाये। छत्रसाल बुन्देलखण्ड लौट गया। औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति से तंग आयी हिन्दू जनता ने उसका स्वागत किया। अधिक संख्या मे लोग उसके साथ मिल गये और उन्होने छत्रसाल को बुन्देलखण्ड का राजा निर्वाचित किया। उसने धामोनी तथा सिरौज पर आक्रमण करके मुगल सेनाओं को परास्त किया। अब वह आसपास के मुगल-साम्राज्य के जिलो से 'चौथ' भी वसूल करने लगा। कुछ ही वर्षों मे छत्रसाल ने कालिंजर और धामोनी पर अधिकार प्राप्त कर लिया और समस्त मालवा को ध्वंस कर दिया। उसने इतनी महान सफलता प्राप्त कर ली कि १७०५ ई० मे विवश होकर औरंगजेब को उसके साथ सन्धि करनी पड़ी। छत्रसाल को ४,००० का मनसबदार नियुक्त किया गया तथा दक्षिण की सेना में एक पद भी दिया गया। १७०७ ई० में सम्राट की मृत्यु हो जाने पर छत्रसाल अपने को स्थिर स्वतन्त्र शासक बनाने के लिए बुन्देलखण्ड लौट आया।

औरंगजेब की दक्षिण नीति

अपने शासन के प्रथम अर्द्धकाल मे औरंगजेब ने दक्षिण के प्रबन्ध को अपने राज्यपालो के हाथो में ही छोड़ रखा था, जिन्हें बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों के साथ व्यवहार करने मे कोई कठिनाई प्रतीत नहीं हुई क्योंकि ये दोनो राज्य उस समय ह्रास की हालत मे थे। गोलकुण्डा की अपेक्षा बीजापुर अधिक संघर्षकारी तथा शक्तिशाली था। इस कारण बीजापुर के विरुद्ध अनेक बार शाही सेनाओ को मोर्चा लेना पड़ा था। गोलकुण्डा नरेश अब्दुल्ला कुतुबशाह (१६२६-७२ ई०) अकर्मण्य तथा विलासप्रिय राजा था, जो अपना अधिकाश समय स्त्रियों के ससर्ग में व्यतीत करता था। उसके राज्य का शासन-प्रबन्ध अपने कृपापात्र अधिकारियों के हाथों में सौप रखा था। उसका उत्तराधिकारी अबुलहसन भी उसी प्रकृति का राजा था। उसके राज्य का शासन-प्रबन्ध मदन और अकन नामक दो ब्राह्मण मन्त्रियों के हाथ मे था। उसने अपनी रक्षा के लिए शिवाजी के साथ एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसने शिवाजी को ५ लाख रुपये प्रनिवर्ष देने का वचन दिया।

दिया। परन्तु शिवाजी के साथ गुप्त सन्धि करके मसूद ने शीघ्र ही दिलेरखाँ को रुष्ट कर दिया। मसूद तो लडने को भी तैयार था परन्तु मराठो की ओर से सैनिक सहायता न मिलने के कारण उसने दिलेरखाँ से पुनः सन्धि कर ली। दिलेरखाँ ने बीजापुर की सहायता के लिए तथा उसके सहयोग मे भूपालगढ़ को मराठों से छीन लेने के लिए एक सेना भेजी। बीजापुर के सामन्तों के गृहयुद्ध के कारण वहाँ अराजकता का साम्राज्य छा गया था। इस अवसर से लाभ उठाकर दिलेरखाँ ने अपने मनोनीत के पक्ष में मसूद को मन्त्रिपद से अलग हो जाने को कहा। परन्तु मसूद ने इसे मानने से इन्कार कर दिया, इस कारण सितम्बर १६७६ ई० में दिलेरखाँ ने बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। दक्षिण में नवनियुक्त राज्यपाल शाहआलम की शत्रुता तथा मराठों का मसूद को सहयोग प्राप्त होने के कारण वह बीजापुर विजय करने मे सफल न हो सका। जब १६८१ ई० में औरंगजेब स्वयं दक्षिण में पहुँचा, उस समय बीजापुर की ऐसी अव्यवस्थित दशा थी।

दक्षिण मे तीसरी शक्ति मराठो की थी, जिन्होने अपने नेता शिवाजी की अध्यक्षता में प्रतिष्ठा प्राप्त की। शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले प्रारम्भ में अहमदनगर के सुल्तान के एक छोटे-से जागीरदार थे, परन्तु अन्त में राज्य मे वे सम्राट-निर्माता के पद तक जा पहुँचे। १६३६ ई० मे शाहजहाँ ने शाहजी को परास्त किया। इसके पश्चात शाहजी ने प्रमुख हिन्दू सेनाध्यक्ष के रूप मे बीजापुर के सुल्तान की नौकरी कर ली। शाहजी ने पूना की जागीर अपने पुत्र शिवाजी को दे दी जबकि उसके दूसरे पुत्र व्यंकोजी को अर्काट जिले में शाहजी का राज्य (जागीर) वंशानुक्रम से प्राप्त हुआ। शिवाजी का उद्देश्य दक्षिणी हिन्दुओं का नेता बनकर उनका उद्धारकर्त्ता बनना था। इसी कारण बीस वर्ष की आयु में ही शिवाजी ने विजयें प्राप्त करनी प्रारम्भ कर दीं और बीजापुर से कई दुर्ग छीन लिये। जावली के राज्य को विजय करने मे तो उनका राज्य अब दुगुना हो गया। १६५६ ई० में पहली बार शिवाजी ने अहमदनगर और जुन्नार पर आक्रमण करके मुगलों मे टक्कर ली। परन्तु उस समय दक्षिण का राज्यपाल औरंगजेब था। उसने भी प्रत्युत्तर में मराठों के गाँवों को ध्वंस करना शुरू कर दिया। १६५७ ई० में बीजापुर ने मुगलों से सन्धि कर ली। शिवाजी ने भी उसी समय आत्मसमर्पण कर दिया। इस पर औरंगजेब ने उसे ऊपरी दिल से क्षमा कर दिया, परन्तु सत्य यह है कि उत्तराधिकार के संघर्ष के समाप्त हो जाने के बाद औरंगजेब शिवाजी की शक्ति को पूर्णतया समाप्त कर देना चाहता था।

दक्षिण मे औरंगजेब की अनुपस्थिति के समय में शिवाजी ने कोंकण को विजय करने की योजना बनायी। उसने कल्याण, भिवानीमण्डी तथा माहुली पर अधिकार कर लिया। अन्त मे बीजापुर राज्य ने शिवाजी की शक्ति को परास्त करने के लिए भीषण तैयारी की और इस कार्य को पूरा करने के लिए अफजलखाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा गया। परन्तु शिवाजी ने पहले ही से भाँप लिया कि अफजलखाँ विश्वासघात करके उस पर आक्रमण करेगा। शिवाजी ने भेंट के समय उसकी २० नवम्बर,

की कठिन यात्रा करके वह दोनो महाराष्ट्र जा पहुँचे। शिवाजी के भाग निकलने का समाचार पाकर औरंगजेब भौचक्का रह गया। उसने शिवाजी को पकड़ने के लिए सभी सम्भव साधनों का प्रयोग किया, परन्तु सफल न हो सका। महाराष्ट्र पहुँचकर शिवाजी ने औरंगजेब से सन्धि कर ली, जिसके अनुसार सम्राट ने उसे स्वतन्त्र शासक स्वीकार कर लिया। तीन वर्ष तक शिवाजी ने मुगल सीमा पर कोई आक्रमण नहीं किया। जनवरी १६७० ई० मे शिवाजी और मुगलों से फिर लडाई हो गयी, जिसके कारण शिवाजी ने अपने राज्य के समस्त भागों और दुर्गों पर पुनः अधिकार कर लिया, जो उसने पुरन्दर की १६६५ ई० की सन्धि के अनुसार मुगलों को सौप दिये थे। उसने १६७० ई० में सूरत मे दूसरी बार लूट-पाट की। इसके पश्चात शिवाजी ने औरंगाबाद तथा मुगलो के बगलाना, खानदेश तथा बरार के प्रान्तों पर आक्रमण किया और अनुभव-प्राप्त मुगल सेनानायकों की सेनाओ को भी अनेक बार परास्त किया। शिवाजी की इन साहसिक विजयों के कारण औरंगजेब अत्यन्त चिन्तित हुआ। उसने बहादुरखाँ को, जो बाद मे खानेजहाँ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, मराठों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए तथा यदि सम्भव हो सके तो शिवाजी का दमन करने के लिए दक्षिण का राज्यपाल नियुक्त किया। खानेजहाँ पाँच वर्ष तक राज्यपाल रहा, परन्तु वह कार्य करने मे सफल न हो सका। उधर शिवाजी एक के बाद दूसरी विजये प्राप्त कर रहा था। उसने दक्षिण मे मुगल-साम्राज्य के नगरों से 'चौथ' भी वसूल की और रामनगर तथा जौहर पर विजय भी प्राप्त कर ली। शिवाजी ने १६ जून, १६७४ ई० को रायगढ मे स्वतन्त्र छत्रपति राजा के रूप मे अपना राज्याभिषेक करवाया। इसके पश्चात उसने कर्नाटक और मैसूर के कुछ भाग पर अधिकार प्राप्त कर लिया। १६७८ ई० मे बीजापुर के सुल्तान के स्थान पर शासन करने वाले सिद्दी मसूद ने शिवाजी से सन्धि कर ली। शिवाजी ने बीजापुर को मुगल प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए सन्धि के अनुसार पूरा सहयोग दिया। परन्तु रनमस्तखाँ ने शिवाजी को लगभग अपने जाल मे फांस लिया और वह अपना लूट का सारा माल तथा ४,००० मनुष्यो को खोकर भाग निकलने मे सफल हो सका। इस आक्रमण मे उसका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। लौटते समय वह बीमार हो गया और १४ अप्रैल, १६८० ई० को स्वर्ग सिधार गया। उसका सबसे बड़ा जीवित पुत्र शम्भूजी बिना किसी विरोध के उसका उत्तराधिकारी बना।

शम्भूजी ने भी अपने पिता की भाँति दक्षिण मे मुगल प्रदेश पर आक्रमण करने की नीति का अनुसरण किया। उसने १६८१ ई० के प्रारम्भ काल मे बुरहानपुर पर आक्रमण किया और वहाँ लूट-पाट की। जून मे उसे शाहजादा अकबर का दुर्गादास राठौर के साथ आगमन का समाचार प्राप्त हुआ। उसने अकबर को शरण दी और दिल्ली का राजसिंहासन प्राप्त करने के लिए उसे सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया अकबर और शम्भूजी की प्रस्तावित सन्धि के विस्तृत विवरणो को निश्चित करने के लिए बातचीत चल रही थी कि उसी समय औरंगजेब मेवाड़ नरेश जयसिंह से सन्धि कर लेने के बाद बुरहानपुर पहुँच गया। उसने अपने पुत्र आजम के नेतृत्व

में एक शक्तिशाली सेना अकबर का पीछा करने के लिए भेजी और स्वयं जल्दी-जल्दी २३ नवम्बर, १६८१ ई० को बुरहानपुर जा पहुँचा। सम्राट ने शम्भूजी पर जबरदस्त आक्रमण किया। उसने महाराष्ट्र पर आक्रमण करने के लिए चार सेनाओ को चार विभिन्न दिशाओ से एक साथ भेजा। सैय्यद हुसैनअलीखाँ को उत्तरी कोंकण, शहाबुद्दीनखाँ को नासिक ताकि रुहउल्लाखाँ और शाहजादा शाहआलम को अहमदनगर के जिले मे भेजा गया ताकि यदि मराठा लोग उस ओर कोई आक्रमण करें तो वे उन जिलों की रक्षा कर सकें। शाहजादा आजम को मराठा लोगों की रसद बन्द करने और बीजापुर सुल्तान से मराठों को कोई भी सहायता देने को मना करने के लिए बीजापुर भेजा गया। परन्तु १६८२ ई० मे सम्राट को इसस भी कोई विशेष लाभ न हुआ और अप्रैल १६८३ ई० मे समस्त सेनाओ को वापस बुला लेना पड़ा। सौभाग्य-वश इसी समय शम्भूजी ने पुर्तगाली प्रदेश पर आक्रमण किया और उसने मुगलों से सन्धि कर ली। शाहजादा अकबर को शम्भूजी की ओर से कोई विशेष सहयोग प्राप्त न होने के कारण निराशा हुई। उसने अपना निवास स्थान पाली छोड़कर पुर्तगाली प्रदेशों मे जाकर और वहाँ से जहाज म सवार होकर फारस के शाह की शरण लेने का निश्चय किया। परन्तु दुर्गादास और शम्भूजी के प्रधानमन्त्री कवि कलश ने उसको बैंगुरला से लौट आने को राजी कर लिया, जहाँ पर उसने फारस जाने के लिए एक जहाज को खरीद भी लिया था और फारस के लिए यात्रा करने ही वाला था। अकबर ने एक और वर्ष (१६८४ ई०) आलस्य मे खो दिया क्योंकि शम्भूजी की ओर से पर्याप्त सहायता प्राप्त न हो सकी। शम्भूजी के दरबार के मराठा सरदार प्रधान मन्त्री कवि कलश से बहुत स्पर्द्धा रखते थे। यह उत्तर भारत का कान्यकुब्ज ब्राह्मण था, अतः मराठे उसे विदेशी समझकर उससे घृणा करते थे। इस कारण शम्भूजी अकबर को कोई सहायता न दे सका और अकबर अपने पिता पर कोई आक्रमण नहीं कर सका।

औरंगजेब ने रायगढ़ के दरबार में फैली हुई अव्यवस्था से लाभ उठाकर सितम्बर १६८३ ई० में पुनः आक्रमण करने की योजना बनायी। जंजीरा के सिद्दी को अकबर की क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान रखने का निर्देश दिया गया। शाहआलम के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना मराठा प्रदेश पर जोरदार आक्रमण करने के लिए दक्षिण कोंकण मे भेजी गयी। इसके साथ-साथ पूना, नासिक तथा अकालकोट में लोगों पर आतंक जमाने और उन्हें मराठा छत्रपति की सहायता न करने देने के लिए सेना के बड़े-बड़े दस्ते नियुक्त किये गये। सामन्तवाडी में प्रवेश करके शाहआलम ने बिचो-लिम पर अधिकार कर लिया और विश्वासघात द्वारा गोआ पर अधिकार प्राप्त करने की योजना बनायी। इससे पुर्तगाली लोग शाहजादा से रुष्ट हो गये और उन्होंने शाहजादे को अन्न देना बन्द कर दिया। शाहआलम मराठा गाँवों को लूटना और जलाता हुआ उत्तर की ओर बढ़ा चला। परन्तु अकाल पड़ जाने के कारण विवश होकर उसे गोआ के उत्तर में लौट आना पड़ा। शाहआलम को रामघाट दर्रे में लौट

आना पडा जहाँ पर उसकी लगभग एक-तिहाई सेना और माल ढोने वाले पशु महामारी के कारण अधिक सख्या में नष्ट हो गये। विवश होकर शाहजादे को मराठो के विरुद्ध बिना कोई सफलता प्राप्त किये ही अहमदनगर लौट आना पड़ा। परन्तु अन्य स्थानों पर मुगल सेनाओ को महान सफलताएँ प्राप्त हुई। मुगलों ने मराठो को एक से अधिक बार परास्त किया और फरवरी १६८६ ई० मे शाहजादे अकबर को निराश होकर राजापुर छोडकर फारस के लिए रवाना होना पडा। जनवरी १६८८ ई० में अकबर फारस के राजदरबार में जा पहुँचा। मुकर्रबखाँ के नेतृत्व मे दूसरी मुगल सेना ने रत्नागिरि से २२ मील दूर स्थित सगमेश्वर में जहाँ शम्भूजी ने जाकर शरण ली थी तथा शराब पीने तथा आमोद-प्रमोद मे मस्त था, शम्भूजी के डेरे पर सहसा आक्रमण कर दिया। ११ फरवरी, १६८६ ई० को शम्भूजी को अपने मन्त्री कवि कलश तथा २५ अफसरो सहित कैद कर लिया गया। इन लोगो को नक्काल की तरह कपड़े पहनाकर एक लम्बे जलूस मे बाजो के साथ बहादुरगढ मे औरगजेब के शिविर मे लाया गया। औरगजेब ने शम्भूजी को इस शर्त पर कि वह अपने समस्त दुर्ग और पूरा खजाना सौंप दे, जीवन-दान देने को कहा। परन्तु मराठा नरेश ने इसे अस्वीकार कर दिया। उसने खुले दरबार में औरंगजेब और पैगम्बर को बुरा-भला कहा और उसकी पुत्री के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा। इस कारण उसे घोर यातना दी गयी। उसके अंगो को एक-एक करके २४ दिन तक लगातार काटा गया और अन्त मे २१ मार्च, १६८६ ई० को उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये। इसी प्रकार कवि कलश को भी यातना देकर उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये।

बीजापुर साम्राज्य का विनाश (१६८६ ई०)

मराठों के विरुद्ध युद्ध का निर्देशन करते समय औरंगजेब को यह अनुभव हुआ कि बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया राज्यों को पूर्णतया अधीन किये बिना मराठों को पराजित करना सर्वथा असम्भव-सा है। बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्य मराठा नरेश शम्भूजी को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायता पहुँचाते रहते थे। अन्त में कुछ काल तक शान्त रहने के पश्चात सम्राट ने बीजापुर राज्य पर सुनिश्चित आक्रमण करने की योजना बनायी। शरजाखाँ के मंन्त्रीकाल मे यह राजा अत्यन्त निर्बल हो गया था। शाहजादा आजम के नेतृत्व मे बीजापुर शहर पर अप्रैल १६८५ ई० में घेरा डाल दिया गया। दुर्ग की सेना पर मुगल सेना के १५ मास के घेरे का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, क्योकि दुर्ग पर पूरी तरह से घेरा नही पड़ा था तथा शम्भूजी, गोल-कुण्डा का सुल्तान और बीजापुर का भूतपूर्व मन्त्री मसूद दुर्ग मे सैनिक सहायता और रसद भिजवाते रहे। मसूद अदोनी का स्वतन्त्र शासक बन बैठा था। शाही सेनाओं को रसद की बहुत कमी थी, परन्तु गाजीउद्दीन फिरोजजंग ने शीघ्र ही उन्हें रसद पहुँचायी। फिर भी वे दुर्ग को विजित न कर सके। इस कारण १३ जुलाई, १६८६ ई० को स्वयं औरंगजेब ने बीजापुर की ओर प्रस्थान किया। उसके व्यक्तिगत निर्देश मे इस बार घेरा और भी मजबूत कर दिया गया। सम्राट स्वयं सब कामों की देखभाल

करता और मौके पर उपस्थित होकर अपनी सेना को प्रोत्साहन देता था। बीजापुरी सैनिकों ने रसद की कमी के कारण निराश होकर २२ सितम्बर १६८६ ई० को समर्पण कर दिया। आदिलशाही-वंश का अन्तिम नरेश सुल्तान सिकन्दर औरंगजेब से मिला। सम्राट ने उसका भली प्रकार स्वागत किया। परन्तु उसका राज्य छीनकर उसे 'खान' का पद देकर मनसबदार बना दिया। उसे १ लाख रुपये वार्षिक पेन्शन भी दी गयी। सम्राट औरंगजेब ने २६ दिसम्बर को बीजापुर के खाली नगर में प्रवेश करके आदिलशाही महल की दीवारों पर लिखे सभी शिया लेखों और चित्रों को नष्ट कर दिया। सम्राट ने बीजापुर को मुगल-साम्राज्य में संयुक्त कर लिया और सुल्तान सिकन्दर के सरदारों को अपनी सेवा में रख लिया।

गोलकुण्डा का पतन (१६८७ ई०)

अब सम्राट ने गोलकुण्डा की ओर, जिस पर ३० वर्ष से कोई मुगल आक्रमण नहीं हुआ था, अपना ध्यान आकर्षित किया। गोलकुण्डा का सुल्तान नियमानुसार निश्चित 'कर' दे दिया करता था। कुतुबशाही-वंश के अन्तिम शासक राजा अबुलहसन ने प्रशासन अपने ब्राह्मण मन्त्री मदन्ना के हाथ में सौंप दिया था और स्वयं अपना अधिकांश समय नाचने-गाने वाली नर्तकियों के साथ व्यतीत कर देता था। गोलकुण्डा में हिन्दुओं के प्रभाव का प्राबल्य तथा उस राज्य के मराठा नरेश शम्भूजी के साथ मैत्री-सम्बन्ध औरंगजेब को विशेष अप्रिय लगे। युद्ध का तात्कालिक कारण सुल्तान का वह पत्र था जो उसने शाही शिविर में रहने वाले अपने दूत को लिखा था। सुल्तान कुतुबशाह ने इस पत्र में औरंगजेब को "सिकन्दर आदिलशाह जैसे अनाथ असहाय बच्चे पर आक्रमण करने पर नीच प्रवृत्ति के कायर मनुष्य" शब्दों से सम्बोधित किया था। उसने आगे उसमें बीजापुर की सहायता करने के लिए एक शक्तिशाली सेना भेजने का आश्वासन भी दिया था। सम्राट इस पत्र का बुरा मान गया। उसने जुलाई १६८५ ई० में शाहआलम को हैदराबाद पर अधिकार करने के लिए भेजा। परन्तु मलखेद में गोलकुण्डा की सेना ने शाहजादे का मार्ग रोक दिया। शाहआलम को कोई सफलता नहीं मिली। परन्तु मुगलों ने गोलकुण्डा की सेना के सेनापति मीर मुहम्मद इब्राहीम को घूस दे दी और मीर मुहम्मद सुल्तान को छोड़कर अक्तूबर में औरंगजेब से जा मिला। इस कारण सुल्तान को हैदराबाद छोड़कर गोलकुण्डा के दुर्ग में आकर शरण लेनी पड़ी। शाहआलम ने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। अपने को असहाय पाकर सुल्तान ने समर्पण कर दिया और निम्नलिखित शर्तों पर उसे क्षमा कर दिया गया—(अ) दो लाख हून वार्षिक कर के अलावा वह १ करोड़ २० लाख रुपये मुगलों को दे, (ब) मदन्ना और अकन्ना को राज्य की नौकरी से निकाल दे, तथा (स) मलखेद और सेहराम मुगलों को सौंप दे। सुल्तान अबुलहसन कुछ समय तक मदन्ना को पदच्युत करने में हिचकिचाया। इस कारण मुसलमान सामन्तों तथा दो विधवा रानियों ने मिलकर मदन्ना और अकन्ना को शहर की गलियों में मरवा डाला तथा उनके परिवारों और घरों को लूट कर नष्ट कर दिया। इसके पश्चात गोलकुण्डा

की समस्त हिन्दू जनता पर आक्रमण किया गया। इससे सन्तुष्ट होकर मुगलो ने गोलकुण्डा प्रदेश को खाली कर दिया।

औरंगजेब की पद्धति के अनुसार गोलकुण्डा का स्वतन्त्र रहना एक अपराध था। इस कारण बीजापुर को मुगल-साम्राज्य मे संयुक्त करने के पश्चात उसने राजा अबुलहसन के विरुद्ध पुन युद्ध प्रारम्भ कर दिया। सम्राट स्वयं ८ फरवरी, १६८७ ई० को गोलकुण्डा की चहारदीवारी के निकट पहुच गया। उसने सुल्तान की सेना को जो चहारदीवारी के बाहर व्यूह बनाकर खडी हूई थी, परास्त किया और दुर्ग का घेरा डाल दिया। शाहजादा शाहआलम ने सुल्तान द्वारा भेजे गये उपहार स्वीकार कर लिये और उसके अनुनय करने पर सम्राट द्वारा क्षमा कराने को तैयार हो गया। इस गुप्त बातचीत का पता लग जाने के कारण औरगजेब ने शाहआलम और उसके परिवार को कैद कर लिया और उसकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया। सम्राट के कुछ सामन्त, विशेषकर शिया लोग, अन्य मुसलमान नरेशों के साथ युद्ध करने के विरोध मे थे। विशाल तोपो और गोला-बारूद से सुसज्जित गोलकुण्डा के दुर्ग की दीवारो से गोले-बारूद की निरन्तर वर्षा होने के बावजूद सम्राट ने सामन्तो की बातो पर ध्यान न देकर दुर्ग पर शक्तिशाली घेरा डाल दिया। परन्तु निरन्तर वर्षा होने और रसद की कमी के कारण शाही सेना के कार्य मे बडी भारी बाधा आ पडी। दुर्ग की सेना ने मुगलो की कठिनाइयों से लाभ उठाकर १५ जून की रात्रि को मुगलों के तोपखाने के अग्रभाग पर सहसा आक्रमण कर दिया और शाही तोपखाने के प्रधान गैरतखाँ तथा १३ अन्य उच्च अधिकारियो को बन्दी बना लिया। २६ जून को मुगल सेना ने अपने तोपखाने पर पुनः अधिकार कर लिया। औरंगजेब ने दुर्ग के कोने के बुर्जों के नीचे तीन सुरंगें खोदकर उनमें बारूद भर देने की आज्ञा दी। पहली सुरग मे ३० जून को आग लगायी गयी, परन्तु इसका रुख गलत हो जाने के कारण १,१०० शाही सैनिक मारे गये। इस बार दुर्ग की सेना ने बाहर निकलकर मुगलो की खन्दको और चौकियों पर अधिकार कर लिया। परन्तु बाद में उन्हे परास्त करके पुनः दुर्ग मे खदेड़ दिया गया। दूसरी सुरंग में आग लगाने पर भी पहले जैसा भयानक परिणाम निकला। दुर्ग की सेना ने पुनः किले से निकलकर आक्रमण किया। इसके पश्चात युद्ध हुआ जिसमें मुगलों को बहुत भारी हानि पहुँची और पानी की बाढ़ आ जाने के कारण शाही सेना को लौटना पडा। इस प्रकार मुगल सेना दुर्ग पर अधिकार न कर सकी और घेरा चलता रहा। बार-बार असफल होने और वर्षा तथा अकाल के कारण शाही सेना का नैतिक चरित्र अत्यन्त नीचा हो गया। भुखमरी के कारण सहस्रो शाही सैनिक मर गये। उधर गोलकुण्डा के सैनिक भी उन्हे चैन नही लेने देते थे। परन्तु औरंगजेब भयानक दृढ़ निश्चय के साथ, जो उसके चरित्र का अंग था, दुर्ग का घेरा डाले रहा। उसने गोलकुण्डा को मुगल-साम्राज्य में संयुक्त होने का एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया और वहाँ के लोगों से माँग की कि वे अपने भूतपूर्व नरेश को जो दुर्ग में घिरा हुआ था, किसी प्रकार की सहायता न दें।

जब सम्राट को खुली लड़ाई मे कोई विशेष सफलता न मिली तो उसने सुल्तान के एक अफगान नौकर अब्दुल गनी को घूस देकर दुर्ग पर अधिकार कर लिया। अब्दुल गनी ने अपने मालिक के साथ विश्वासघात करके २ अक्तूबर, १६८७ ई० को प्रातःकाल ३ बजे दुर्ग का चोर दरवाजा खोल दिया। उसने मुख्य द्वार भी खोल दिया जिससे रुहउल्लाखाँ ने दुर्ग में प्रवेश किया। दुर्ग मे प्रवेश करने वाली मुगल सेना का मुकाबला केवल गोलकुण्डा के सरदार अब्दुल रज्जाक लारी ने किया परन्तु शीघ्र ही उसे दबाकर लगभग कुचल दिया गया। उसके शरीर पर ७० घाव लगे थे। रुहउल्ला ने सुल्तान अबुलहसन के महल मे प्रवेश किया। सुल्तान शान्तिपूर्वक अपने भाग्य का सामना करने के लिए तैयार हो गया। जलपान करके और अपने परिवार के सदस्यो को ढाढस बंधाकर उसने अपने महल से प्रस्थान किया। शाहजादा आजम ने सुल्तान का औरंगजेब से परिचय कराया। सम्राट ने सुल्तान को ब्राह्मणों को प्रोत्साहित करने तथा इब्शियों को निरुत्साहित करके उनके धर्म और जाति का अपमान करने का आरोप लगाकर दण्ड देना उचित ठहराया। उसे बन्दी बनाकर गोलकुण्डा के दुर्ग मे भेज दिया गया और उसे ५०,००० रुपये प्रतिवर्ष पेन्शन दी गयी। सम्राट को गोलकुण्डा से बहुमूल्य वस्तुएँ हीरे, जवाहरात, आभूषण, सोना, चाँदी, बर्तन तथा सोने-चाँदी के बने हुए फर्नीचर के अलावा ४ करोड़ रुपये नकद प्राप्त हुए। उसने बीजापुर और गोलकुण्डा के सम्पूर्ण प्रदेश और दुर्गों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए आवश्यक कदम उठाये और सागर, अदौनी, कारनूल, रायचूर, सेरा और बगलौर, बाँकापुर, बेलगाँम, वांडीवाश तथा कांजीवरम पर अधिकार कर लिया।

मराठों का स्वतन्त्रता-युद्ध (१६८९-१७०७ ई०)

जैसा पहले भी लिखा जा चुका है, बीजापुर और गोलकुण्डा के परास्त होने के बाद औरंगजेब ने मराठा नरेश शम्भूजी के विरुद्ध अपनी चेष्टाओ को द्विगुणित कर दिया और उसे बन्दी बनाकर मार्च १६८९ ई० में मृत्युदण्ड दिया। मराठों की राजधानी रायगढ़ भी शीघ्र ही पराजित हुई। नवीन मराठा नरेश राजाराम, जो स्वर्गीय शम्भूजी का छोटा भाई था, साधु का वेश बनाकर १५ अप्रैल को बचकर भाग निकला और ११ नवम्बर को जिन्जी के दुर्ग में पहुँच गया। रायगढ़ २९ अक्तूबर को पराजित हुआ और शम्भूजी के परिवार के सदस्य उसके सातवर्षीय पुत्र साहू सहित, बन्दी बना लिये गये। अब (१६८९ ई० के अन्त में) औरंगजेब दक्षिण भारत सहित समस्त भारत का सम्राट था, परन्तु उसकी विजय अल्पजीवी थी। कुछ ही वर्षों बाद मराठों ने न केवल उसके प्रभुत्व को ललकारा वरन् उसके प्रदेश और शिविरों पर असंख्यों हमले करके उसकी स्थिति खतरनाक कर दी, जिन्जी के दुर्ग मे राजाराम को घेरने के लिए सम्राट ने एक सेना भेजी परन्तु १८ जनवरी, १६९८ ई० से पहले उस दुर्ग पर मुगलों का अधिकार नहीं हो सका। राजाराम को आक्रमण को चेतावनी समय पर मिल गयी थी, इससे वह बचकर वैलोर भाग गया। शम्भूजी के मृत्योपरान्त सम्राट ने मराठा शक्ति को विचार-बिन्दु बनाया। १६९० ई० और १६९१ ई० में वह

बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यो पर अधिकार प्राप्त करने मे लगा रहा। परन्तु शीघ्र ही जब उसे जन-विद्रोह का सामना करना पडा तो, स्थिति की वास्तविकता का ज्ञान हुआ। मराठा नरेश के मृत्यु के पश्चात रामचन्द्र बावदेकर, शकरजी मल्हार, परशुराम त्रिम्बक और प्रह्लाद नीराजी जैसे मराठा नेताओ ने मुगलो के विरुद्ध अनेक रणस्थानो पर योग्य और साहसी सेनानायको के नेतृत्व मे विस्तृत युद्ध करने की योजना बनायी। रामचन्द्र बावदेकर महाराष्ट्र के सभी सरदारों और सेनानायको के ऊपर पूर्ण अधिकारो सहित तानाशाह बन बैठा। उसने मुगलो के विरुद्ध युद्ध-संचालन के लिए धनाजी जादव और शान्ताजी घोरपरे नामक दो योग्य नायको को नियुक्त किया। ये दोनो सेनानायक समस्त दक्षिणी प्रायद्वीप मे एक रणस्थल से दूसरे रणस्थल को आते-जाते रहते थे और गुरिल्ला-युद्ध द्वारा इन लोगो ने शाही सेना को भारी हानि पहुँचायी और मुगलो मे अत्यन्त घबराहट फैला दी। सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं, "मराठो मे नरेश तथा केन्द्रीय सरकार के न रहने के कारण औरंगजेब की कठिनाइयाँ और भी बढ गयी क्योकि अब प्रत्येक तुच्छ मराठा कप्तान भी अपने-अपने क्षेत्र में मुगल प्रदेशो पर आक्रमण करके उन्हे लूटता था। मराठा लोग अब केवल लुटेरे या स्थानीय विद्रोहियो की जाति नही रह गये थे, बल्कि अब दक्षिणी राजनीति मे उनका बडा भारी हाथ था। ये लोग सम्पूर्ण भारतीय प्रायद्वीप मे प्रोत्साहित हवा की भाँति चलायमान और दिल्ली-साम्राज्य के शत्रुओ के मित्र थे। यह समस्त दक्षिण में तथा मालवा, गोडवाना और बुन्देलखण्ड तक मे जन-शान्ति तथा प्रशासन को भंग करते रहते थे। चूंकि हर स्थान पर शाही सेना अधिक सख्या मे नही रखी जा सकती थी, इस कारण कुछ स्थानो पर मुगलो को मुँह की भी खानी पड़ती थी।

शम्भूजी की मृत्यु, मुगलो के मराठो की राजधानी पर घेरा डालने तथा नवीन मराठा नरेश राजाराम के जिन्जी भाग जाने से मराठो का सगठन एक वर्ष के लिए अस्तव्यस्त हो गया। परन्तु सम्राट को पराजित किये हुए गोलकुण्डा और बीजापुर राज्यो के प्रदेशो पर अधिकार करने मे व्यस्त देखकर उन लोगो ने अपने को पुनः सँभाला। उन्होने मुगलो के विरुद्ध दो मोर्चे संगठित किये। खास महाराष्ट्र का मोर्चा रामचन्द्र बावदेकर के नेतृत्व में था, जिसे एक तानाशाह के पूरे अधिकार दे दिये गये थे। दूसरे पूरबी मोर्चा कर्नाटक का था, जो प्रह्लाद नीराजी के नतृत्व मे था। इसे भी एक पूर्ण तानाशाह के अधिकार प्राप्त थे। युद्ध सम्बन्धी कार्य धनाजी जादव और शान्ताजी घोरपरे के हाथ मे था, जो "प्रायः युद्ध के एक मोर्चे से दूसरे मोर्चे तक बराबर आते-जाते रहते थे और रास्ते के मुगल प्रदेशों को भारी हानि पहुँचाकर उनमें अव्यवस्था फैला देते थे।"

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में मुसलमानों ने पूरबी कर्नाटक को विजित किया था। अब उसके दो भाग कर दिये गये, जो हैदराबादी और बीजापुरी प्रदेश कहलाते थे। १६७७ ई० में शिवाजी ने भी जिन्जी और उनके अडोस-पड़ोस के प्रदेशो पर विजय प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार अब कर्नाटक तीन स्वतन्त्र भागो मे विभक्त हो

गया। शिवाजी के दामाद हीराजी ने जो कर्नाटक के मराठा प्रदेश का अधिकारी था पालर नदी के उत्तरी भाग के हैदराबादी कर्नाटक का अधिकतर भाग विजित कर लिया। सितम्बर १६८९ ई० में हीराजी के मृत्योपरान्त राजाराम ने जिन्जी प्रदेश पर अधिकार कर लिया। परन्तु १६९० ई० मे सितम्बर के मध्य में जुल्फिकारखाँ ने उसे वहाँ पर घेर लिया। जिन्जी का दुर्ग लगभग अजेय समझा जाता था, अत: दुर्ग का घेरा १८ जनवरी, १६९८ ई० तक पड़ा रहा। इस दिन दुर्ग पर भीषण आक्रमण किया गया और राजाराम को भागकर विशालगढ़ जाना पड़ा। वास्तव मे इस बीच म मुगलो और मराठी दानो को ही भारी हानि उठानी पड़ी थी और मराठो की अपेक्षा मुगलो को अधिक क्षति पहुँची थी। विवश होकर जुल्फिकारखाँ को एक से अधिक बार घेरा उठाना भी पड़ा था। अतः अन्त मे उसने राजाराम के साथ गुप्त सन्धि कर ली थी। जिन्जी की पराजय के पश्चात अब युद्ध महाराष्ट्र के पश्चिमी खण्ड मे होने लगा।

महाराष्ट्र खास में युद्ध ढीला-ढाला चलता रहा। मराठो ने ४ जून, १६९० ई० को शरजाखाँ पर विजय प्राप्त की और उसे उसके पूरे परिवार और सम्पूर्ण शिविर सहित सतारा के निकट बन्दी बना लिया। इस युद्ध मे शरजाखाँ के १,५०० सैनिक काम आये। यह मराठो की पहली सफलता थी। मराठों ने शीघ्र ही प्रतापगढ, रोहिरा, रायगढ और तोरने पर भी पुन अधिकार कर लिया। १६९२ ई० में उन्होंने पन्हाला पर भी पुन: अधिकार कर लिया। शान्ताजो और धनाजी घबरायी हुई मुगल सेना पर आक्रमण करके उन्हें तग करते रहते थे। शान्ताजो तो शाही प्रदेश मलखेद से चौथ वसूल करने तक में सफल हो गया। औरंगजेब ने कासिमखाँ को शान्ताजी को आगे बढने से रोकने के लिए भेजा। परन्तु शान्ताजी ने द्रुतगति मे मुगल सेनाध्यक्ष कासिमखाँ पर सहसा आक्रमण करके उसे करारी हार दी और उसके शिविर को लूट लिया। कासिमखाँ ने आत्महत्या कर ली और उसकी बची हुई सेना ने शान्ताजी को अपनी मुक्ति के लिए २० लाख रुपये देने का वायदा किया। जनवरी १६९६ ई० में शान्ताजी ने हिम्मतखाँ नामक एक अन्य मुगल सेनाध्यक्ष को हराकर उसका काम तमाम कर दिया और उसका सामान लूट लिया। परन्तु दुर्भाग्यवश शान्ताजी घोरपरे और धनाजी जादव दोनों योद्धा प्रधान सेनापति का पद प्राप्त करना चाहते थे। इस कारण इन दोनों में अब झगड़ा हो गया, जिसका अन्त एक युद्ध के रूप मे हुआ। इस युद्ध में शान्ताजी मारा गया। शान्ताजी असाधारण योग्यता और टक्कर का सेनाध्यक्ष होने के साथ-साथ तेज मिजाज और अनाज्ञापालक सरदार था। अत: राजाराम भी उससे बहुत अप्रसन्न था। मराठों के इस गृहयुद्ध के कारण मुगलों को अस्थायी तौर पर लगभग एक वर्ष के लिए विश्राम मिल गया। परन्तु १६९७ तथा १६९८ ई० में युद्ध पुन: चलता रहा और राजाराम, जो भागकर विशालगढ़ चला गया था, परेंदा के निकट बन्दी होते-होते रह गया। १२ मार्च, १७०० ई० को सिंहगढ़ में राजाराम का देहावसान हो गया। राजसिंहासन प्राप्त करने के लिए शिवाजी तृतीय और शम्भूजी द्वितीय में छोटी-सी लड़ाई हुई। अपनी माता ताराबाई की योग्यता और प्रभाव के कारण

शिवाजी तृतीय को महाराष्ट्र का राजा बना दिया गया। मराठों में पद प्राप्त करने के इस कलह के बावजूद मुगल मेना महाराष्ट्र तक में कई महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त करने में असफल रही और केवल उत्तरी कोंकण में कल्यान तथा अन्य कुछ स्थानों पर अधिकार कर सकी। अन्त मे औरंजेब समझ गया कि मराठों की शक्ति को नष्ट करना असम्भव है। इस कारण मई १६६५ ई० में उसने शाहजादे शाहआलम को पंजाब, सिन्ध और अफगानिस्तान का गवर्नर बनाकर भेजा और बाद में उसको उत्तरी भारत के कार्यों की देखभाल करने को कहा। मराठों के साथ युद्ध जारी रखने के लिए अब सम्राट ने स्वयं अपना शिविर महाराष्ट्र के मध्य में ब्रह्मपुरी में लगाया, परन्तु उसे भी सफलता न मिल सकी। मराठों की गुरिल्ला युद्ध-प्रणाली के कारण विवश होकर उसे भी महाराष्ट्र और कनारा में अपनी रक्षा के लिए बराबर रक्षात्मक युद्ध ही करना पड़ा। शाही सरदार अब बहुत थके हुए थे और साथ ही भयभीत थे। उनमें से अनेक सरदारो ने मराठों के साथ गुप्त सम्बन्ध स्थापित कर रखा था और मुगल प्रदेश में प्राप्त लूट के माल का उनके साथ बँटवारा करते थे। इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने ठीक ही लिखा है कि "मुगल प्रशासन का वास्तव में नाश हो चुका था, परन्तु सम्राट की उपस्थिति के कारण भ्रमात्मक ढंग से प्रशासन की गाड़ी खिंच रही थी।" इन परिस्थितियों में औरंगजेब ने स्वयं भी मराठा दुर्गों पर घेरा डालने की भ्रमात्मक (मायावाली) नीति का अनुसरण किया। परन्तु इसमें भी उसे सफलता नहीं मिली क्योंकि जब वह एक दुर्ग को विजय करता तो दूसरा उसके अधिकार से निकल जाता था। यह क्रम उसके जीवन-भर चलता रहा। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है, "उसका शेष जीवन उसी पीडित कहानी का दुहराव-मात्र है। अधिक पैसा, समय और काफी सैनिको को खोकर सम्राट किसी पहाड़ी दुर्ग पर अपना अधिकार करता पर मराठे मुगलों की दुर्बल सेना पर आक्रमण करके कुछ महीनों बाद उस पर पुन: अधिकार कर लेते थे। साल या दो साल बाद सम्राट उस दुर्ग पर पुन: घेरा डाल देता था। बाढ़ आयी हुई नदियों, कीचड से भरी हुई सड़कों और टूटे-फूटे पहाडी रास्तों को पार करने में सम्राट के सैनिकों और शिविर के कर्मचारियों को अकथ कठिनाइयों का सामना करना पडा। मजदूर भाग गये तथा सामान ढोने वाले पशु अधिक परिश्रम और भूख के कारण मर गये। मुगलों को अन्न की तो सदा ही कमी रही' इसके साथ-साथ उन्हे मराठा और बेरद 'चोर' (जैसा वह कहा करता था) से भी सदा भय बना रहता था। उसके सेनानायकों को आपस की जलन के कारण उसके उद्देश्य की पूर्ति न हो सकी। पाँच कम प्रसिद्ध दुर्गों तथा सतारा, पारली पन्हाला, खेलना (विशालगढ़), कोंधना (सिंहगढ़), रायगढ़, तोरन और बाजिन्गेरा के आठ अन्य दुर्गों के युद्धों में सम्राट स'ढ़े पाँच साल (१६६६-१७०५ ई०) तक लगा रहा। इसके बाद ८८ साल का बूढ़ा जर्जर-शरीर सम्राट सदा के लिए चैन की नींद सोने के लिए अवकाश-सा प्राप्त करने लगा।"

लगातार कठिन परिश्रम के कारण औरंगजेब का स्वास्थ्य गिर गया और

बाजिन्गेरा दुर्ग पर विजय प्राप्त करने बाद वह सख्त बीमार पड गया। इससे उसकी सेना मे बडी खलबली मच गयी, क्योंकि वे सोचने लगे कि न जाने शत्रु के देश मे उनके भाग्य का क्या निर्णय होगा। किन्तु सम्राट स्वस्थ हो गया और उसने धीरे-धीरे अहमदनगर के लिए यात्रा आरम्भ कर दी। ३१ जनवरी, १७०६ ई० को वह अहमदनगर पहुँच गया। उसने २५ वर्ष तक दक्षिण में लडाई जारी रखी थी जिससे दक्षिण भारत की दशा बहुत बुरी हो गयी थी। उसने दक्षिण मे जो नीति अपनायी वह बिलकुल असफल रही और उसकी इस नीति से मराठे और भी निर्भीक हो गये। जब औरंगजेब अहमदनगर की यात्रा कर रहा था तब मराठा सैनिकों ने उसका पीछा किया। उन्होने उसकी रसद और युद्ध-सामग्री रोक दी। उन्होने उनके संरक्षको पर हमला करके उसके शिविर पर भी हमला करने की धमकी दी। "जब मुगल सेना ने उन पर हमला किया तब वे कुछ पीछे हटकर तितर-बितर हो गये किन्तु हमलावर ज्योंही अपनी मुख्य सेना से जा मिले त्योंही मराठे एक जगह पुनः इस तरह संगठित हो गये जैसे पतवार से अलग किया हुआ पानी फिर मिल जाता है।" मराठे केवल लूट-पाट करने वाले घुडसवार ही नहीं थे बल्कि युद्ध की सभी सामग्री से सुसज्जित थे। उनके पास तोपखाना और नियमित सेना की सभी सामग्री थी। जब सम्राट अहमदनगर पहुँचा तब मराठों ने उसके शिविर का घेरा डाल दिया और मई १७०६ ई० में वे घनघोर युद्ध के बाद ही वहाँ से खदेडे जा सके। इस समय तक वे आसपास के मुगल प्रान्तों जैसे गुजरात, खानदेश और मालवा तक मे घुसकर हमला करने लगे थे। धनाजी जादव ने बरार और खानदेश पर हमला किया और अन्य मराठों ने एक शाही रक्षक-सेना को रास्ते में लूट लिया जो औरगाबाद से अहमदनगर जा रही थी। इन कठिनाइयों और विपत्तियों में फँसा हुआ औरंगजेब ३ मार्च, १७०७ को स्वर्ग सिधार गया। वह दौलताबाद से चार मील पश्चिम में शेख जैन उल-हक के मजार के पास दफना दिया गया।

औरंगजेब की दक्खिन की नीति बिलकुल असफल रही। मराठों के कुचले जाने के बजाय इस नीति ने उन्हें एक राष्ट्र के रूप में संगठित होकर सम्राट पर हमला करने के लिए बाध्य कर दिया था। औरंगजेब को अपने जीवन के अन्तिम दिनों मे अपने साम्राज्य एवं वंश की बड़ी चिन्ता थी, अतः उसका यह काल बड़ा ही चिन्ताग्रस्त रहा। यद्यपि औरंगजेब अत्यन्त इच्छुक था कि साम्राज्य के प्रश्न को लेकर उसके पुत्रों में कोई लड़ाई न हो किन्तु शाहजादा आजम ने अपने भाई कामबख्श का खात्मा करके स्वयं राजगद्दी हथियाने के लिए एक षड्यन्त्र रच लिया। औरंगजेब ने अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले ही उसे मालवा का राज्यपाल नियुक्त किया था। किन्तु वह अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर मार्ग से ही लौट आया और अपने भाइयों के साथ युद्ध करने की तैयारी में लग गया। शाहआलम और कामबख्श स्वयं सिंहासन लेना चाहते थे। जिसका आदर्श स्वयं औरंगजेब उनके सामने रख चुका था।

आगरा, अजमेर, इलाहाबाद, अवध, बंगाल, बिहार, दिल्ली, गुजरात, काश्मीर, लाहौर, मालवा, मुल्तान, उड़ीसा, थट्टा (सिन्ध), काबुल, औरंगाबाद, बरार, बीदर (तेलग), बीजापुर, हैदराबाद और खानदेश। साम्राज्य हिन्दुकुश से लेकर तंजौर के उत्तर मे कोकरूम नदी तक विस्तृत था। किन्तु महाराष्ट्र, कनारा, मैसूर और पूरबी कर्नाटक में मुगलों का अधिकार नही माना जाता था। अकबर के समय में प्रत्येक प्रान्त में एक राज्यपाल, एक दीवान और अनेक दूसरे अफसर रहते थे जिनकी नियुक्ति सम्राट करता था और वे उसके प्रति उत्तरदायी रहते थे। औरंगजेब के कठोर और योग्य शासक होते हुए भी उसके समय में प्रान्तीय शासन-व्यवस्था अत्यन्त अस्तव्यस्त हो गयी क्योंकि वह पच्चीस वर्ष से अधिक उत्तर भारत में अनुपस्थित रहा और दक्षिण में निरन्तर युद्ध करता रहा। अनेक प्रान्तो के स्थानीय सरदार और जमीदार कानून और आज्ञाओं की अवहेलना करने लगे और इसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार कमजोर पड़ गयी। इस कमजोरी का कारण यह था कि औरंगजेब एक तो सदा युद्ध में लगा रहता था और दूसरे उसने मूर्खतापूर्ण असहिष्णु नीति को अपना रखा था।

इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार के अनुमानानुसार साम्राज्य के लगान की आमदनी तैंतीस करोड पच्चीस लाख रुपये थी। भूमि-कर के अतिरिक्त सरकार की आय के मुख्य साधन थे 'जकात' कर (जो केवल मुसलमानों से ही वसूल किया जाता था) 'जजिया' कर (जो हिन्दुओ पर लगाया जाता था), नमक-कर, चुंगी, टकसाल और युद्ध में लूटी गयी सम्पत्ति। औरंगजेब इस्लाम-राज्य के कर-सिद्धान्त में विश्वास रखता था अतः उसने गैर-मुसलमानी करों को हटाकर हिन्दुओं पर यात्रा-कर और जजिया कर लगा दिये थे ताकि अनेक गैर-कानूनी कर और आबवाबों के उठा लेने से हुई आय की कमी पूरी हो जाय। कर-निर्धारण और कर-संग्रह का जो तरीका अकबर ने टोडरमल की रैय्यतवाड़ी प्रथा के अनुसार चालू किया था, औरंगजेब ने उसे बन्द कर दिया और उसकी जगह ठेकेदारी प्रथा जारी कर दी अर्थात उसने ठेकेदारों को किसानो से भूमि-कर वसूल करने की आज्ञा दे दी। इससे पहले सरकार की देखरेख में सरकारी अफसर लगान वसूल किया करते थे। इस परिवर्तन के कारण लाखो किसानों की दशा अकबर और जहाँगीर के शासन की अपेक्षाकृत बिगड़ गयी।

मुगल-साम्राज्य में विदेशी व्यापार अपना कोई महत्त्व नही रखता था। भारत से नील और सूती वस्तुएँ विदेश को जाती थी। खेती के बाद सूती कपड़े का उद्योग ही ऐसा था जो बहुत अधिक संख्या मे लोगों को काम देता था। विदेशों से देश में जो वस्तुएँ आती थी उनमें काँच के बर्तन, ताँबा सीसा, और ऊनी कपड़े थे। फारस से घोड़े आते थे और डच इण्डीज से मसाले आते थे। शराब तथा अद्भुत वस्तुएँ यूरोप से आती थी। दास अबीसीनिया से आते थे और अच्छी किस्म की तम्बाकू अमरीका से आती थी। किन्तु व्यापार की मात्रा बहुत कम थी और सरकार को आयात-कर तीस लाख वार्षिक से अधिक नहीं मिलता था।

औरंगजेब के समय में मुगल सेना बहुत बढ गयी थी। वह अपने सारे जीवन

युद्ध में फँसा रहा। अतः यह स्वाभाविक था उसे अपने पूर्वाधिकारियों की अपेक्षा अधिक सेना की आवश्यकता रहती। सर जदुनाथ सरकार के अनुसार १६४७ ई० में मुगल राज्य की सेना इस प्रकार थी—दो लाख घुड़सवार, आठ हजार मनसबदार, सात हजार अहदी और बरकन्दाज और एक लाख पचासी हजार सैनिक शाहजादो, सरदारों और मनसबदारों की अधीनता मे। इसके अतिरिक्त तोप और बन्दूको से सजे हुए चालीस हजार पैदल और थे। यह संख्या औरंगजेब के शासनकाल के अन्तिम दिनों मे दक्षिणी लड़ाइयो के कारण और भी बढ गयी थी और उसका व्यय शाहजहाँ के शासनकाल से दूना हो गया था। यद्यपि सम्राट कड़ी निगरानी रखता था, वह एक योग्य सेनापति था और उसका संगठन एवं अनुशासन भी बड़ा कड़ा था तो भी मुगल सेना अब अकबर के शासनकाल की अपेक्षा बहुत अधिक निकम्मी थी। उसके चरित्र का भी पतन हो चुका था।

व्यक्तित्व और चरित्र

अभी हाल मे कुछ वर्षों मे औरंगजेब के व्यक्तित्व, चरित्र और सफलताओ के विषय मे बडा वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है। लेखकों के एक पक्ष• ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि औरंगजेब मे धार्मिक कट्टरता नहीं थी क्योकि उसने कुछ हिन्दू मन्दिरों और मठाधीशो के नाम जागीरें लगा रखी थी और यदि उसने हिन्दू मन्दिरो को गिराने की आज्ञा दी भी थी तो युद्धकाल में ही दी थी तथा उसने उन्ही मन्दिरों पर अधिकार किया था जिन्हें हिन्दुओ ने मस्जिदे बलपूर्वक छीनकर उसके स्थान पर बना दिया था। इतिहास के कुछ शिक्षक तो और भी आगे बढ़ जाते है। वे कक्षा के शान्त और सुरक्षित वातावरण मे अपने छात्रों को पढ़ाते है कि औरंगजेब महान देश-भक्त भारतीय था और उसने सम्पूर्ण देश में राजनीतिक एकता स्थापित करने के लिए घोर श्रम किया था। किन्तु इन बे-सिर-पैर की बातों मे न कोई तर्क है और न तथ्य। इन बातों मे ऐसा सफेद झूठ है कि उसका खण्डन करना व्यर्थ है। यह तो हमको स्वतः स्वीकार कर लेना चाहिए कि औरंगजेब ने कुछ मठाधीशो और उनके मन्दिरों के नाम कुछ जागीरे लगायी थीं किन्तु वे जागीरें उनके पूर्वज सम्राटो ने दी थीं और औरंगजेब ने केवल उनकी पुष्टि भर कर दी थीं और यदि उसने जागीरें दी भी थीं तो केवल उन्ही को दी थी जो उसके काम में आये थे अथवा उसकी कूटनीतिक चाल में सहायक हुए थे। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि यदि औरंगजेब ने एक हिन्दू मठाधीश को जागीर दी भी थी तो हजारों मन्दिरों को ढा दिया था और हजारो मठाधीशों की जीविका का अपहरण कर लिया था। यदि अंग्रेजों ने हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम-काल मे कुछ भारतीयो का संरक्षण कर उन पर कुछ कृपा की तो क्या इसका अभिप्राय यह है कि वे सच्चाई के साथ देश का हित करने के इच्छुक थे? इसके विपरीत क्या इसका ठीक अभिप्राय यह नहीं होगा कि उन्होने अपनी साम्राज्यशाही की जड़ों को मजबूत करने के लिए ऐसा करके उन्हें अपना साधन बनाया था। यह सच है कि औरंगजेब ने उन देशों के भागों को जीतने का प्रयत्न किया था जो अब तक मुगल-

साम्राज्य मे सम्मिलित नही थे; किन्तु उन सारे राजनीतिक प्रयत्नों का अभिप्राय देश को इस्लामी देश बनाना था। ऐसी कल्पना कि औरंगजेब भारत की एकता चाहता था, वे ही लोग कर सकते हैं जिनका दिमाग फिर गया है। औरंगजेब ने केवल युद्ध-काल में ही मन्दिर गिराये थे यह भी एक कपोल-कल्पना ही है क्योकि समकालीन लेखकों ने ऐसा कही भी नही लिखा है। कोई भी व्यक्ति यह आसानी से समझ सकता है कि आधुनिक मुसलमान लेखकों का अपने आदर्श वीरों के चरित्र को बढा-चढ़ाकर लिखने का प्रयत्न रहा है। जिन लोगों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए बड़े-बडे काम किये हैं उनके सम्बन्ध मे उन्होने यह विश्वास दिलाने का उद्योग किया है कि इस्लाम धर्म शान्ति का धर्म है और बलपूर्वक मुसलमान बनाने की आज्ञा नहीं देता और इसके नाम पर बहुत कम अत्याचार हुए हैं। उन कुछ आधुनिक हिन्दू विद्वानो का प्रयत्न भी प्रशसनीय है जिन्होंने अपने धर्म और सस्कृति पर हुए बड़े आघात को सहकर भारत में साम्प्रदायिक एकता और शान्ति बनाये रखने के लिए तथ्यों की ओर से आँखें मींच ली हैं। किन्तु प्रश्न यह होता है कि क्या वे इतिहास को झूठा बनाकर भी अपने प्रशंसनीय उद्देश्य मे सफल हो सके हैं? समकालीन लेख, जिनमें औरंगजेब के पत्र भी शामिल हैं, उपरोक्त लेखको के विचारो की पुष्टि नही करते और उनके विचारों के विपरीत बात सिद्ध करते हैं।

औरंगजेब के व्यक्तित्व और चरित्र का सच्चा चित्रण सर जदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक 'औरंगजेब का इतिहास' की पाँच जिल्दों में किया है जो एक प्रामाणिक ग्रन्थ है और जिसका खण्डन करना असम्भव है। यदि इस सम्बन्ध में कोई नयी सामग्री प्राप्त भी हो जाय [illegible] मुगल शासक के सम्बन्ध में उनका कथन प्रामाणिक ही रहेगा।

औरंगजेब का निजी जीवन एक आदर्श जीवन था। वह अत्यधिक परिश्रमी और संयमी था और अपने आचार-विचारों पर कठोर नियन्त्रण रखता था। वह बिना थके हुए काम करता रहता था। उसका भोजन और वस्त्र बहुत सादे थे और उसने कुरान के नियमों के अनुसार चार स्त्रियों से अधिक स्त्रियाँ नही रखी थी। वह दाम्पत्य-प्रेम का आदर करता था और दूसरी स्त्रियों के प्रति उसको कोई आकर्षण नही था। वह न तो शराब पीता था और न ही किसी दूसरे व्यसन में फँसा था, जो कि स्वेच्छाचारी राजाओं में सामान्यत: पाये जाते हैं। वह जन्म से ही विद्याप्रेमी था, फारसी का अच्छा विद्वान था तथा तुर्की और हिन्दी-प्रवाह से बोल सकता था। वह पुस्तकों का प्रेमी था और ठोस विद्वान था। उसने आत्मसंयम, आत्मज्ञान और आत्मसम्मान पूर्णरूप से प्राप्त कर रखे थे और वाणी तथा स्वभाव पर संयम रखता था। वह नम्र और विचारशील व्यक्ति था और अपने धर्म का दृढ़ता से पालन करने वाला था। वह प्रतिदिन पाँच बार नमाज पढ़ता था, रमजान मे रोजे रखता था और कुरान में जो भी धर्म के नियम बताये गये थे उनका दृढ़ता से पालन करता था। यदि उसके व्यक्तिगत जीवन में कुछ दोष था तो यह कि वह महत्त्वाकांक्षी, जिद्दी और धार्मिक

विचारो मे बहुत संकीर्ण था। इन सब कारणों से वह दूसरो को गलत और अपने को ठीक समझता था। इस्लाम धर्म को छोड़कर वह अन्य सब धर्मो को झूठा मानता था।

यह सब होते हुए भी औरंगजेब का सामाजिक जीवन वैसा नही था जैसा कि साधारणतः एक अच्छे आदमी का हुआ करता है। उसमे न तो पारिवारिक प्रेम था, न कृतज्ञता थी और न वह सुपुत्र ही था। उसने अपने पिता को जेल मे डाल दिया और उसकी विनम्र प्रर्थनाओं को ठुकरा दिया था। हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नही जिससे हम विश्वास कर ले कि वह अपनी माता की याद करता था। वह अच्छा भाई कहलाने योग्य भी नही था। उसने अपने भाइयो तथा अपने सम्बन्धियो से युद्ध किया और उनसे विश्वासघात करके उन्हे मार डाला। वह शक्की पिता था। उसने अपने तीनों पुत्रों को जेल मे डाल दिया जिनमे से सबसे बड़ा पुत्र जेल मे ही मर गया और दूसरा लगभग आठ वर्ष जेल मे सड़ने के बाद छोड़ा गया। इसी प्रकार उसकी एक पुत्री जेबुन्निसा भी जेल मे डाल दी गयी थी जो जेल मे ही सड़कर मर गयी थी। यद्यपि उसका वैवाहिक प्रेम सच्चा था तो भी उसने अपनी किसी भी बेगम को अपना हृदय नही दिया था। वह अपने मित्रो के साथ बडा उदास और सकोची रहता था। यह बात ठीक है कि वह अपने बड़ो से जब कोई मार्मिक बात जानना चाहता था तो बड़ी नम्रता का व्यवहार करता था, किन्तु साधारणतया राजनीति मे उदारता रखना उसके विचारो के विरुद्ध था। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि वह अपने सभी निकटवर्तियो के सम्बन्ध मे सन्देह रखता था और नर अथवा नारी किसी के सम्बन्ध मे भी विश्वास रखना उचित नही समझता था।

सैनिक और सेनापति के रूप मे औरंगजेब अपने वंश के अनेक सम्राटों से अच्छा था और इस रूप मे बाबर और अकबर से उसकी तुलना की जा सकती है। उसमे शारीरिक बल, सहनशीलता और स्वभाव की सहिष्णुता बहुत अधिक थी और घनघोर युद्ध मे भी अपने को जोखिम मे डालने में नही हिचकिचाता था। उसने बलख के युद्ध मे अत्यधिक प्रत्युत्पन्नमति और निर्भीकता दिखायी और युद्ध के समय मे भी जुहार की नमाज पढ़ने के लिए अपने घोड़े से उतर गया था। वह एक युद्ध-कुशल सम्राट था और अपने शत्रु की भूल और दुर्बलता का सदा लाभ उठाता था। षड्यन्त्र और राजनीतिक चालाकी से अपने शत्रु को जीतना उसका स्वभाव हो गया था। उसने इसी षड्यन्त्र और चालाकी का प्रयोग सिसौदिया और राठौर राजपूतों के साथ किया था। उसने अपने पुत्र अकबर को एक जाली पत्र लिखकर उन्हें धोखा दिया, जो पत्र अकबर के मित्र राजपूतों के हाथ पड़ गया। वह षड्यन्त्र और राजनीति में बहुत कुशल था और उसकी निश्चय करने की शक्ति असाधारण थी। वह अनुशासन का प्रेमी था और सरकारी कामो को तन-मन से करता था। प्रबन्धक के रूप मे वह अपनी सरकार के छोटे से छोटे काम को भी बड़े ध्यान से देखता था। एक राजा अपने शरीर से जितना भी काम कर सकता है औरंगजेब उससे भी अधिक करता था और कभी विश्राम नही करता था।

यद्यपि औरंगजेब की बुद्धि तेज थी और कर्तव्यपरायण भी था, तो भी वह एक सफल शासक नहीं कहलाया जा सकता, क्योंकि उसमें राजा का उत्तम गुण नही था, अर्थात वह अपनी सारी प्रजा के हित के लिए उत्सुक नही रहता था। कर्तव्य के सम्बन्ध में भी उसका विचार बडा संकीर्ण था। वह अपने को केवल सुन्नी मुसलमानो का बादशाह समझता था और देश के गैर-मुसलमानो को तब तक नीचा और घृणित समझता था जब तक कि वे इस्लाम का नही अपना लेते थे। एक शब्द मे हम कह सकते हैं कि औरगजेब का विचार भारत को इस्लामी राज्य बनाने का था। कर्तव्य के इसी सकीण विचार को लेकर उसने अपनी आकाक्षाओ को पूरा करने के लिए जीवन-भर प्रयास किया। इस उद्देश्य को लेकर वह विनाश करता था, निर्माण नही करता था, जिसके परिणाम स्वरूप वह सदा असफल रहा। उसकी राज-कर सम्बन्धी नीति और सामाजिक कानून पक्षपातपूर्ण थे और वह अपनी तीन-चौथाई से अधिक प्रजा को सदा कुचलने का विचार रखता था और इसीलिए उसने उन्हे लकड़हारो और कहारो जैसा बना दिया था। न्याय करते समय भी वह और सब बातो पर ध्यान न देकर केवल अपने धर्म का ही ध्यान रखता था। वादी और प्रतिवादियो में से राजा की आज्ञा को मानकर जो इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लेता था, वही जागीर या राज्य का मालिक हो जाता था, चाहे वह उसका मालिक रहा हो अथवा न रहा हो। यदि कोई अपराधी अपने पैतृक धर्म को छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेता था तो वह माफ कर दिया जाता था। वह बिलकुल स्वेच्छाचारी था और दूसरो का विश्वास नही करता था, अतः उसे शासन-व्यवस्था के सूक्ष्म से सूक्ष्म ब्योरो को स्वयं देखना पड़ता था। इन सब कारणों से उसके बड़े-बड़े मन्त्री और बड़े-बड़े अफसर केवल क्लर्क-मात्र रह गये थे और उसके लम्बे शासनकाल मे वे केवल ... कठपुतली मात्र थे जो किसी उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य का प्रारम्भ नही कर सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सारी शासन-व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गयी। उसने देश की संस्कृति और स्थापत्य-कला, सगीत और चित्रकला के विकास का कोई प्रयत्न नही किया। उसने विद्या-प्रचार का कोई विशेष प्रयत्न नही किया। वह अपने शासन के अन्तिम २६ वर्षों मे राज्य मे शान्ति एव सुरक्षा भी स्थापित नही कर सका, क्योंकि वह दक्षिण की लडाइयो मे निरन्तर लगा रहता था और उत्तरी भारत के अनेक भागों में विद्रोह उठ खड़े हुए थे। सर जदुनाथ सरकार इस विषय में ठीक ही कहते हैं कि एक ऐसा शासक राजनीतिज्ञ नही कहा जा सकता। यदि हम राजा के सम्बन्ध में उसका विचार करें तो वह असफल ठहरेगा। वह तो राजा के सर्वप्रथम कर्तव्यों से भी अनभिज्ञ था। "अर्थात वह नही जानता था कि समृद्ध जनता के बिना कोई राजा बड़ा नही हो सकता।" मुहम्मदअली जिन्ना को छोड़कर (१९३० ई० १९४० ई० मे) औरगजेब के समान कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जिसने इस देश की जनता की दो मुख्य जातियों मे भेदभाव की खाई को इतना चौड़ा किया हो।

चाहे हम औरगजेब के व्यक्तिगत जीवन को देखें अथवा उसके राज्य-कर्तव्यों

पर ध्यान दें हम उसके चरित्र मे दो मुख्य बातें पाते हैं—एक तो भौतिक आकांक्षाएँ और दूसरे धार्मिक कट्टरता। यह कहना कठिन है कि यह कट्टर सम्राट भारत के साम्राज्य की अपेक्षा स्वर्ग के साम्राज्य को भी पसन्द करता। शायद उसने भारत के साम्राज्य के लिए घोर प्रयत्न इसलिए किया था कि वह भारत मे अपने विचार के अनुसार राज्य अथवा इस्लामी राज्य स्थापित कर सके। किन्तु उसकी यह इच्छा पूरी न हो सकी।

औरंगजेब की विफलता के कारण

औरंगजेब की शासन-व्यवस्था अत्यन्त केन्द्रित थी और उसने राज्य के सभी अधिकारो को अपने हाथ मे ले रखा था। अत उसकी सरकार की सफलता सम्राट की शक्ति और योग्यता पर ही अधिकतर निर्भर थी। औरंगजेब मे जब तक शारीरिक योग्यता बनी रही, राज्य के ऊपरी सभी काम ठीक तरीके से चलते रहे। यद्यपि वह वृद्धावस्था मे भी सार्वजनिक दरबारों मे आने का प्रयत्न करके काम करने का उद्योग करता था किन्तु दूरस्थ प्रान्तो के राज्यपालो पर से उसका नियन्त्रण हट गया था और जनता सर्वत्र यह अनुभव करने लगी थी कि अब शासन-व्यवस्था उसके हाथ से निकलती जा रही है। ऐसा तो होना ही था क्योंकि एकतन्त्र शासन मे ऐसा ही होता है। दूसरी बात यह है कि औरंगजेब की प्रखर बुद्धि में भी कुछ दोष थे। यद्यपि वह बहुत बड़ा विद्वान, बुद्धिमान और चालाक मक्कार था, तो भी वह देश की समस्याओ को ठीक-ठीक समझकर समयानुसार उनका हल नही कर पाता था। जीवन के सम्बन्ध मे उसका विचार अति संकीर्ण था और वह विषयो पर अच्छी तरह से विचार कर आवश्यकतानुसार नियम नही बना सकता था। उसकी राजनीतिक समस्याओ पर धार्मिक पक्षपात का रंग चढा हुआ था जिसके परिणामस्वरूप उसके कदम सदा दोषपूर्ण रहते थे। तीसरी बात यह है कि औरंगजेब के दृष्टिकोण मे साधारण दोष के अतिरिक्त उसके कर्तव्य का आदर्श भी बडा सकीर्ण था; वह यह था कि वह अल्पसख्यक सुन्नियो का राजा बनकर ही राज्य करना चाहता था। सक्षेप मे वह इस्लामी राज्य का शासक बनना चाहता था। इसी कारण उसे राज्य में कुरान के कानून लगाने पड़े और देश मे गैर-मुसलमानो की सख्या कम करने के उद्देश्य से उन्हे दास बनाकर इस्लाम धर्म को अपनाने के लिए बाध्य करना पड़ा। विशुद्ध मुसलमान देश मे यह नीति चाहे कितनी भी आवश्यक और अनिवार्य समझी जाती हो किन्तु भारत मे यह नीति नही अपनायी जा सकी जहाँ कि ८०% से अधिक जनता हिन्दू थी और जो अपने पैतृक धर्म और सस्कृति को अक्षुण्ण रखने के लिए कटिबद्ध थी। क्योंकि ये दोनों इस्लाम धर्म की अपेक्षा अधिक पवित्र और प्राचीन थे। औरंगजेब ने इस पर तनिक भी विचार नही किया कि उसे इस नीति के अपनाने में कितने बड़े विरोध का सामना करना पड़ेगा। उसने इस पर भी ध्यान नहीं दिया कि उसके पूर्वज अकबर द्वारा प्रचलित धार्मिक सहनशीलता की नीति मे परिवर्तन करने का क्या परिणाम होगा।

वह शियाओ पर विशेषकर इस्लामी और दाऊदी बोहरो पर अत्याचार करता

था और उसने उनके उपदेशों और धार्मिक रीति-रिवाजो को नष्ट कर दिया था। फारस के शियायो के साथ—जिनकी कुशाग्र-बुद्धि और योग्यता लगान और फौज विभाग मे समान रूप से देखी जा चुकी थी और जिन्होने अकबर और शाहजहाँ के राज्य को वैभवसम्पन्न बनाया था—शाही नौकरियो मे पक्षपात किया जाने लगा। चौथा कारण यह है कि सम्राट अपने पुत्रो को शिक्षित बनाकर अपने विस्तृत राज्य की शासन-व्यवस्था का भार उनमे न बाँट सका। उसे भय था कि कही उसके पुत्र भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार न करे जैसे उसने अपने पिता के साथ किया था। इस भय के कारण वह अपने पुत्रो को अपने से दूर रखता था और उन पर कड़ी निगरानी रखता था। औरंगजेब अपने सभी पुत्र एवं पुत्रियो के प्रति सन्देह रखता था और उनके चारो ओर गुप्तचर लगाये रखता था जो उसे उनकी सब गतिविधियो से सदा परिचित कराते रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपने पिता को सहायता देने के बजाय और उत्तरदायित्वपूर्ण भार को सँभालने के बदले उसकी आज्ञा का विरोध करते थे और उसकी घोषित नीति के विरुद्ध आचरण करते थे। वास्तव मे सम्राट के सन्देह के कारण वे उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने के इच्छुक रहते थे। पाँचवाँ कारण यह है कि वह अपनी निजी योग्यता और शासन-व्यवस्था के दीर्घकालीन अनुभव तथा महत्त्वाकाक्षा और जलन के कारण अपने मन्त्रियों तथा दूसरे अफसरो का बिलकुल विश्वास नही करता था क्योंकि वे उसके विचार के अनुसार अपने कर्तव्यो का सफलतापूर्वक पालन करने मे उतने योग्य नही थे जितना उन्हे होना चाहिए था। इस कारण औरंगजेब राज्य के छोटे-छोटे काम का स्वयं ही निरीक्षण करने का प्रयत्न करता था और अपने मन्त्रियों के ऊपर तो केवल दैनिक-कार्यों को ही छोड़ता था। अतः उसके मन्त्री केवल क्लर्क एवं कठपुतली-मात्र ही रह गये थे, जो न तो कोई नीति अपना सकते थे और न सामयिक आवश्यकता की पूर्ति कर सकते थे। शाही अफसर संकट के समय निस्सहाय होकर सम्राट की आज्ञाओ एवं आदेशो के लिए मुँह ताका करते थे और शासन का प्रबन्ध ठीक-ठीक नही कर पाते थे। छठा कारण यह था कि औरंगजेब ने सबसे बड़ी गलती यह की थी कि उसने राजपूतों को शत्रु बनाकर उनकी सहानुभूति खो दी थी जबकि साम्राज्य को उनकी सहायता की बड़ी आवश्यकता थी। अकबर ने मित्रता तथा सहिष्णुता की नीति को अपनाकर राजपूतों को अपने वश तथा साम्राज्य का प्रबल समर्थक बना लिया था। राजपूतों ने साम्राज्य की विपत्ति और कठिनाई के समय केवल साथ ही नही दिया बल्कि उन्होने मुगलों के झण्डो को भारत के सुदूर कोनों और विदेश तक फहराया था। उन्होने मुगल-साम्राज्य की सीमा बढ़ाने के लिए अपने भाइयों तक से युद्ध किया। औरंगजेब की मूर्खतापूर्ण नीति ने राजपूतो को शत्रु बनने के लिए बाध्य कर दिया। सिसौदिया राठौर तथा दूसरे राजपूत सम्राट के जीवनपर्यन्त शत्रु बने रहे। सातवाँ कारण यह है कि उसने जाट, सिक्ख, बुन्देले और मराठे जैसी वीर जातियों को भी उभाड़ दिया जिन्होने संकट के समय साम्राज्य का खून बहाकर सम्राट का ध्यान विचलित कर दिया। आठवाँ कारण यह है कि उसने

दक्षिण मे मराठो के विनाश और उस प्रान्त के शिया राज्यो को नष्ट करने की जो नीति अपनायी, वह भी बडी भारी गलती थी । वह २६ वर्ष की लम्बी अवधि तक दक्षिण की लड़ाइयो मे फँसा रहा, जिसके कारण केन्द्रीय सरकार अस्तव्यस्त हो गयी और इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरी भारत के प्रभावहीन तत्त्वो ने अपना सिर उठाकर विद्रोह आरम्भ कर दिया क्योकि वे पूरी तरह नही कुचले जा सके । नवाँ कारण यह है कि उसने भूल से यह कल्पना कर ली थी कि राजनीतिक, सैनिक और धार्मिक शासन-प्रबन्ध से ही राज्य सफल हो जाता है और इसी कारण उसने आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति को छोड़कर संगीत, चित्रकला और दूसरी ललित-कलाओ के विकास की ओर ध्यान नही दिया था । उसने क्रियात्मक रूप से स्थापत्य कला की तनिक भी उन्नति नही की । इसका परिणाम यह हुआ कि उसके लगभग ५० वर्ष के दीर्घकालीन शासन मे भारतीय सभ्यता का पतन हो गया था । दसवाँ कारण यह है कि वह अपने शासन के प्रारम्भिक २४ वर्षों को छोड़कर शेष काल मे शान्ति और सुरक्षा रखकर देश के लाखो कृषकों को जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का विश्वास भी नही दिला सका । सच बात तो यह है कि वह अपने और अपने सेवकों के डेरों को आये दिन होने वाले मराठो के हमलों से भी नही बचा सका और इन हमलों से उसका पीछा तभी छूटा जब वह ३ मार्च, १७०७ को स्वर्ग सिधार गया ।

BOOKS FOR FURTHER READING

Persian Language :

1. Kazim, Mirza Muhammad : *Alamgir-nama* (Persian Text).
2. Mustaid Khan, Muhammad Saqi : *Ma' sir-i-Alamgiri* (Persian Text).
3. Razi, Aqil Khan : *Zafar-nama (also Waqiat-alamgiri)* (Persian MS).
4. Bhim Sain : *Nus-khai-Dilkusha* (Persian MS).
5. Nagar, Ishwar Das : *Futuhat-i-Alamgiri* (Persian MS).
6. Khan, Ali Muhammad : *Mirat-i-Ahmadi* (Persian Text).
7. Khan, Hamid-ud-din : *Ahkami-Alamgiri* (Persian Text), (Translated into English by Sir J. N. Sarkar in *Anecdotes of Aurangzeb*).
8. *Zawabit-i-Alamgiri* (Persian MS).
9. Khwafi Khan, Muhammad Hashim : *Muntakhab-ul-Lubab* Persian Text).
10. *Akbar-i-Darbar-i-mu' alla* (Persian MS),
11. *Abad-i-Alamgiri* (Persian MS).
12. *Ankam-i-Alamgiri* (Persian MS) (Letters from Aurangzeb written by his secretary Inayat-ullah Khan).

Marathi Language :

1. Sabhasad, Krishnaji Anant : *Shiva Chhatrapatichen Charitra* (Edited by K. N. Sane).
2. *Jedheyanchi Shakavali* (Translated into English by Sir J. N. Sarkar in *Shivaji's Souvenir*) (1927).
3. *Ninety one Qalmi Bakhar* (Edited by V. S. Wakaskar) (1930).

Hindi Language :

1. Lal Kavi : *Chhatra-prakash.*

European Languages :

1. Foster, W. : *English Factories in India* (Relevant Vols).
2. Pringle, A. T. : *Diary and Consultation Books of Fort St. George*, Vols. I-V.
3. Wilson, C. R. : *Early Annals of the English in Bengal*, Vols, I-III.
4. Yule, H. : *The Diary of W. Hedges*, 2 Vols.
5. Temple, R. C. : *The Diaries of Streynsham Master* (1675-80). 2 Vols.
6. Manucci, N. : *Storia do Mogor* (Translated into English by W. Irwine in 4 Vols.)
7. Constable : *Bernier's Travels*, 2 Vols.

Modern Works :

1. Sarkar, J. N. : *India of Aurangzeb.*
2. Sarkar, J. N. : *History of Aurangzeb*, 5 Vols.
3. Haig, W. : *Cambridge History of India*, Vols. IV, Chaps. VIII and X
4. Sharma, S. R. : *Religious Policy of the Mughuls.*

अध्याय ९

मराठों का उत्कर्ष

भारत के मुगल-साम्राज्य का इतिहास तब तक अधूरा ही रहेगा जब तक शिवाजी के नेतृत्व में होने वाले मराठों के उत्कर्ष का वर्णन न कर दिया जाय क्योंकि शिवाजी और उनके उत्तराधिकारियों का मुगल-साम्राज्य के पतन में महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। इस अध्याय में मराठों के उत्कर्ष के क्रमबद्ध विकास तथा शासन-प्रबन्ध के लिए बनायी गयी संस्थाओं का विवरण दिया जाता है।

शिवाजी के पूर्व मराठों की दशा

शिवाजी के उत्कर्ष के पूर्व मराठे महाराष्ट्र (दक्षिणी पठार की पश्चिमी सीमा) के आदिवासी थे और परमाणुओं की तरह दक्षिण भारत में बिखरे हुए थे। वे निर्धन और पददलित थे और खेती-बाड़ी से अपनी जीविका चलाते थे। इनमें से उच्च-परिवारों के कुछ लोग दक्षिण के मुसलमान राज्यों में नौकर थे। ये सेनानायक और जागीरदार थे। इन्हें जागीरें मिली हुई थी और इन्हे इन राजदरबारों मे द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी के सामन्तों की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। किन्तु मराठों का अपने ढंग का एक निजी समाज था। इस समाज के लोगों की विशेषता यह थी कि इनमे आर्थिक और सामाजिक समानता थी और एक धर्म और संस्कृति के साथ-साथ इनके जीवन का दृष्टिकोण भी एक ही था। इनमें से धनी तो बहुत ही कम थे। इनकी भाषा मराठी थी और इनका धर्म हिन्दू था। ये परिश्रमी थे और सादा जीवन बिताते थे। इनका विश्वास दृढ़ था और ये अपने मेहमानों का आदर-सत्कार करते थे। ये स्वावलम्बी, उत्साही, वीर और स्वाभिमानी थे। तीन सौ वर्ष के मुसलमानी शासन ने इन्हें वीर बनाने के साथ-साथ चालाक अधिक बना दिया था। १६वीं और १७वी शताब्दियों में महाराष्ट्र में एक धार्मिक आन्दोलन चला जिसके फलस्वरूप अनेक धर्मोपदेशक पैदा हो गये। इन उपदेशकों में से कुछ नीच जाति के थे किन्तु देश की उच्च जातियों में इनका अच्छा सम्मान था। ये भक्ति का उपदेश देते थे और ऊँच-नीच, धनी-निर्धन सभी के लिए धर्म के मूल सिद्धान्तो की आवश्यकता पर जोर देकर उनमें हिन्दू एकता की भावना भरते थे। तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित और एकनाथ के नाम सारे महाराष्ट्र मे आज भी घर-घर में गूँज रहे हैं। इनमे से कुछ उपदेशकों के उपदेश लिखे भी गये थे। इन्होंने मराठी भाषा के विकास के साथ-साथ लोगों को जातीयता का नवीन जीवन प्रदान कर उनमे प्रजातन्त्र की वह ठोस भावना भर दी जो भारत के किसी प्रदेश में नहीं थी। इसमें राष्ट्रीयता लाने के लिए राज-

नीतिक चेतना और स्वतन्त्रता की भावना की कमी थी। इस अभाव को शिवाजी ने सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूरा कर दिया। ग्राण्ट डफ के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी मे मराठो का उत्कर्ष अचानक हो गया था किन्तु उसका यह कथन निराधार है। यह तो दो सौ वर्ष की उस तैयारी का स्वाभाविक परिणाम था जो सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन के प्रयत्नों से प्राप्त हुआ था और जिसने जनता की छिपी हुई शक्ति को उभाकर उसमें नवीन जीवन और आशा का संचार कर दिया था।

शिवाजी (१६२७-१६८० ई०)

जन्म और बाल्यकाल

शिवाजी के पूर्वज मराठा जाति के भोंसला-वंश के थे। ये पूना जिले के हिन्गानी, वेरडी और दिवालगाँव ग्रामों के मुखिया थे जो उस समय अहमदनगर के निजामशाही सुल्तान के अधिकार मे थे। १६वीं शताब्दी के मध्य मे इस परिवार का प्रधान पुरुष (मुखिया) बालाजी था। इसके मालोजी और वीतोजी दो पुत्र थे। ये दोनों दौलताबाद की पहाड़ी सीमाओ पर स्थित विरुल (एलोरा) नामक गाँव में आ बसे थे और अहमदनगर के सुल्तान के सामन्त सिन्धखेर के यादवराव की अधीनता मे साधारण सिपाही के रूप मे भरती हो गये थे। यादवराव उस समय अहमदनगर के सुल्तान का सरदार था। कहा जाता है कि एक दिन यादवराव ने हँसी-हँसी मे मालोजी के छोटे पुत्र शाहजी को अपनी पुत्री जीजाबाई के लिए योग्य वर बताया। इस पर मालोजी ने उपस्थित मेहमानो से कहा कि यादवराव ने अपनी पुत्री की सगाई मेरे पुत्र से कर दी है और तुम लोग इस बात के साक्षी हो। यादवराव इससे क्रुद्ध हुआ और मालोजी को नौकरी से अलग कर दिया। कहा जाता है कि मालोजी अपने गाँव को लौट आया। कुछ समय बाद उसे अपने खेत मे एक गढ़ा हुआ खजाना मिला। इस धन से उसने तथा उसके भाई ने एक हजार सैनिक भरती किये और फलतान-निवासी निम्बालकर के यहाँ नौकरी कर ली। कुछ दिन बाद वह अहमदनगर के सुल्तान के यहाँ नौकर हो गया और शीघ्र ही प्रमुखता प्राप्त कर ली। सिन्धखेर के यादवराव ने अब मालोजी के पुत्र शाहजी के साथ अपनी पुत्री जीजाबाई के विवाह करने में कोई हानि नहीं समझी। यही शाहजी उन्नति करते-करते अहमदनगर का प्रमुख सेनानायक और सरदार हो गया। उसकी शक्ति का सर्वप्रथम परिचय तब मिला जब वह मलिक अम्बर के पुत्र फतेहखाँ के मन्त्रित्वकाल मे मुगलों द्वारा अधिकृत पूरबी खानदेश पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया था। इस समय मुगल सम्राट शाहजहाँ अहमदनगर राज्य को जीतने के लिए प्रयत्नशील था। शाहजी ने इस अवसर का लाभ उठाकर जुन्नार से अहमदनगर तक के देश को अपने लिए जीतने का प्रयत्न किया। वह मुगलों की सेवा में भी रहा किन्तु एक वर्ष बाद उन्हें छोड़ दिया। इसके बाद उसने बीजापुर के सुल्तान के यहाँ नौकरी कर ली और बीजापुर के वजीर खवासखाँ के प्रमुख सहायक प्रसिद्ध मराठा मुरारजी जगदेव की सहायता भी प्राप्त कर ली। इस समय अहमदनगर के राज्य का पतन हो रहा था। अतः शाहजी ने पूना और चकन

को तथा अहमदनगर और नासिक के आस-पास के प्रदेशो को छीन लिया। बीजापुर के सुल्तान की सहायता से उसने अगस्त १६३३ ई० में अहमदनगर के शाही खानदान के लड़के को राजा बना दिया और तीन वर्ष तक उसके नाम से सरकार चलाता रहा। किन्तु १६३६ ई० मे उसे उस अल्पायु राजा को मुगलों को सौप देना पड़ा। अन्त में उसने बीजापुर नौकरी कर ली और मैसूर के पठार तथा पूरबी कर्नाटक में अपनी एक बड़ी रियासत बनाकर बीजापुर सुल्तान का प्रमुख सामन्त बन गया।

शिवाजी इसी शाहजी भोंसले की पहली स्त्री जीजाबाई से उत्पन्न पुत्ररत्न थे। उनका जन्म सोमवार २० अप्रैल, १६२७ ई० को पूना के उत्तर में स्थित जुन्नार नगर के समीप शिवनेर के पहाड़ी किले में हुआ था। कुछ लोगो का कहना है कि उनका जन्म ६ मार्च, १६३० ई० को हुआ था। जब वह लगभग दस वर्ष के हो गये तब पूना भेज दिये गये। इस समय शाहजी ने जीजाबाई का परित्याग कर उससे अधिक सुन्दर स्त्री तुकाबाई मोहिते से विवाह कर लिया था। फलतः उसने अपनी पहली स्त्री जीजाबाई को बालक शिवाजी के साथ-साथ अपने परमभक्त कारिन्दे दादाजी कोंणदेव के संरक्षण में पहले शिवनेर में और फिर पूना में छोड़ दिया और फिर कुछ वर्ष तक उनसे नही मिला। जीजाबाई परमभक्त और पतिव्रता स्त्री थी। शाहजी के त्याग के कारण शिवाजी और उसकी माता परस्पर बहुत अधिक प्रेम करने लगे थे। बालक शिवाजी का अपनी माता मे ऐसा ही प्रेम था जैसा कि भक्त का भगवान मे। शिवाजी एक ऐसा निर्भीक बालक था जिसने अपने से उच्च अधिकारी की अधीनता मे रहना तो सीखा ही नहीं था। उसकी माता गुरु और संरक्षक दादाजी कोणदेव ने उसे हिन्दू धर्म तथा शास्त्रों की शिक्षा दी थी। उसको सैनिक-शिक्षा भी दी गयी थी और वह घुड़सवारी तथा दूसरे सैनिक कार्यों में निपुण हो गया किन्तु उसने लिखना-पढ़ना नहीं सीखा था। निरक्षर होते हुए भी उसने सुन-सुनकर रामायण, महाभारत तथा दूसरे हिन्दू-शास्त्रों का पूर्ण ज्ञात प्राप्त कर लिया था। वह धार्मिक कीर्तनों तथा हिन्दू अथवा मुसलमान सन्तों के सत्संग का बहुत प्रेमी था।

शिवाजी ने शासन सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव व्यवहार-कुशल एवं अनुभवी दादाजी कोंणदेव से ही प्राप्त किया था। बारह वर्ष की आयु मे उसके पिता ने उसे पूना की जागीर दे दी और १६४१ ई० के लगभग सईबाई निम्बालकर के साथ शाहजी के प्रधान स्थान बंगलोर में उसका विवाह हो गया। शिवाजी के जन्म और प्रारम्भिक जीवन के कार्यकलापों का स्मृति-स्थान मावल नामक प्रदेश है। यह पहाड़ियो और घाटियो से घिरा हुआ है और उन किलों से शोभायमान है जिनके स्वामी प्रायः बदलते रहे हैं। इन दृश्यों ने उसमें ऐसी साहसिक चेतना उत्पन्न कर दी जिससे उसमें क्रमशः उत्कट देशभक्ति का विकास होता गया। मावल प्रदेश के निवासी अधिकतर कोली और मराठे थे। ये अत्यन्त दृढ़ और परिश्रमी थे और उच्चकोटि के सैनिक थे। शिवाजी ने इन्हीं नवयुवकों को इकट्ठा कर एक के बाद दूसरा किला जीतना आरम्भ कर दिया। अहमदनगर और बीजापुर राज्य का पतन हो रहा था, देश में अव्यवस्था

फैली हुई थी और जनता में शान्ति और सुरक्षा का अभाव था। इन सब कारणों ने शिवाजी मे साहसी जीवन भरकर स्वतन्त्र राष्ट्र के निर्माण को उत्कट इच्छा उत्पन्न कर दी। यह तो सन्दिग्ध है कि शिवाजी उस समय हिन्दुओं को मुस्लिम शासन से मुक्त करना चाहते थे। उनका सच्चा विचार कुछ भी रहा हो, किन्तु उन्होंने अपने जीवन के आरम्भ में ही पूना के आसपास के किलों को छीनना आरम्भ कर दिया था। दादाजी कोंणदेव को शिवाजी के इस काम से बहुत दुख हुआ क्योंकि वह नहीं चाहता था कि उसका अभिरक्षित एक प्रथम श्रेणी के सरदार एवं खानदानी रईस का लड़का आराम के जीवन को छोड़कर अपने वंश की प्रतिष्ठा के विरुद्ध ऐसे साहसिक कार्य करे। मार्च १६४७ ई० मे दादाजी कोणदेव की मृत्यु हो गयी और शिवाजी अपनी बीस वर्ष की अवस्था में ही अपने द्वारा निश्चित मार्ग पर अग्रसर होने लगे।

शिवाजी की प्रारम्भिक विजयें : जावली पर अधिकार

शिवाजी ने सबसे पहले १६४६ ई० में बीजापुर के तोरण नामक पहाड़ी किले पर अधिकार किया। इस किले में उसे २ लाख हून का खजाना मिला। उसने इस धन का सदुपयोग कर अपनी सेना बढायी और तोरण किले से पाँच मील पूर्व में रायगढ़ नामक नया किला बनवाया। कुछ समय तक बीजापुर की सरकार उसके विरुद्ध कोई कदम नही उठा सकी क्योकि उस समय वह एक तो कमजोर थी और दूसरे शिवाजी ने सुल्तान के दरबारी मन्त्रियो को घूस देकर अपना मित्र बना लिया था। इसी बीच में शिवाजी ने चकन और कोंडाना के किलों पर अपना अधिकार कर लिया। उसे समाचार मिला कि बीजापुर सुल्तान की आज्ञा मे उसके पिता को राजद्रोही होने के सन्देह में गिरफ्तार कर बन्दी बना दिया गया है। इस समाचार से लगभग १६४८ ई० के मध्य में उसकी प्रगति रुक गयी। इस समय शिवाजी ने कुटिल नीति का आश्रय लेकर दक्खिन के मुगल वायसराय (सूबेदार) शाहजादा मुरादबख्श को लिखा कि वह शाहजी के छुटकारे के लिए बीजापुर के सुल्तान पर दबाव डाले। किन्तु शाहजहाँ ने इस मामले मे दखल देना स्वीकार नही किया। जब शाहजी के पुत्र शिवाजी तथा व्यंकोजी ने बंगलौर कोंडाना के किले सुल्तान के आदमियो को वापस कर दिये तब सुल्तान ने १६४९ ई० की मई के आरम्भ मे शाहजी को मुक्त कर दिया।

१६४८ ई० में शिवाजी ने एक षड्यन्त्र के द्वारा अजेय 'पुरन्दर' किले को नीलोजी नीलकण्ठ से छीन लिया। १६५६ ई० में उसने जावली को जीता और राजगढ़ नाम का किला बनवाया। जावली राज्य मराठा सरदार चन्द्रराव मोरे के अधिकार में था और सतारा जिले की उत्तर-पश्चिमी सीमा के अन्तिम कोने पर स्थित था। चन्द्रराव ने शिवाजी के विरुद्ध उस प्रदेश के बीजापुरी गवर्नर के साथ साँठ-गाँठकर दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में शिवाजी के विस्तार को रोक दिया था। अतः शिवाजी ने उससे छुटकारा पाने और जावली पर अधिकार करने के लिए एक षड्यन्त्र रचा। उसने घातकों को रुपया देकर चन्द्रराव का वध करा दिया और उसकी हत्या के तुरन्त बाद २५ जनवरी, १६५६ ई० को जावली पर आक्रमण कर दुर्ग पर अपना अधिकार

जमा लिया। किलेदार हनुमन्तराव मोरे की हत्या के बाद चन्द्रराव मोरे के दोनो पुत्र भाग गये। पिता की हत्या के बाद चन्द्रराव के पुत्रो ने रैरी में शरण ली किन्तु उन्हे विवश होकर उसे भी सौप देना पडा। इस प्रकार सम्पूर्ण जावली शिवाजी के अधिकार मे आ गया, जिसमे अन्य विजयो के लिए शिवाजी का हौसला बढ गया।

इतिहासवेत्ता जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "शिवाजी की जावली पर विजय जानबूझकर की गयी हत्या एवं सगठित छल-कपट का परिणाम था। उस समय उसकी शक्ति अल्प थी और वह अपनी शक्ति को बढाने के लिए विवेकपूर्ण साधनो को न अपना सका। उसके जीवन की इस घटना मे प्रकाश की केवल एक ही किरण है कि उसने जो अपराध किया वह पाखण्ड या लोक दिखावे के लिए नही किया। उसने इस बात की डीग नही मारी कि तीन मोरे सरदारो की हत्या हिन्दू 'स्वराज्य' की भावना से प्रेरित होकर या उस विश्वासघाती शत्रु को अपने मार्ग से हटाने के लिए की गयी थी, जिसने उसकी उदार सफलता का अनेक बार दुरुपयोग किया था।"

जावली की विजय शिवाजी के जीवन में एक उल्लेखनीय घटना थी क्योंकि इस विजय के बाद उसके राज्य के दक्षिण-पश्चिम मे विस्तार के लिए द्वार खुल गये थे। दूसरे, इस विजय से इसकी सैनिक-शक्ति बहुत बढ गयी क्योंकि सेना के कई हजार पैदल मावले सिपाही अब उसकी सेना मे भरती हो गये। जावली की विजय से शिवाजी मावल प्रदेश का स्वामी बन गया। यह प्रदेश सेना की भरती के लिए बहुत ही उपयुक्त स्थान था। तीसरे, शिवाजी के हाथ वह खजाना लग गया जो मोरों ने कई पीढियो से जमा कर रखा था। अप्रैल १६५६ ई० मे उसने चन्द्रराव मोरे से राजगढ़ के दृढ दुर्ग को छीनकर उसे अपनी राजधानी बना दिया। अक्तूबर के आरम्भ में उसने पूना से ३५ मील दूर दक्षिण-पूरब मे स्थित सूपा जिले पर अधिकार कर लिया और इस किले के अधिकारी अपने मामा (अपनी सौतेली माता के भाई) को शाहजी की शरण में जाने को विवश कर दिया।

मुगलों के साथ प्रथम मुठभेड़ (१६५७)

जब दक्षिणी मुगल-साम्राज्य के वायसराय औरंगजेब ने १६५७ ई० के आरम्भ में बीजापुर पर आक्रमण किया, तब शिवाजी और मुगलो की प्रथम मुठभेड हुई। शाहजहाँ बीजापुर के मुख्य-मुख्य सरदार और अफसरों के फुसलाने मे लगा हुआ था, अतः शिवाजी ने भी कुछ शर्तों के साथ अपनी सेवाएँ उसे सौप देने का प्रस्ताव किया। वे शर्तें ये थी : (१) वह उन बीजापुरी किलों और प्रदेश का स्वामी मान लिया जाय जिसे उसने जीता है। (२) वह दभोल बन्दरगाह और उससे लगे हुए प्रदेश का भी स्वामी मान लिया जाय जिसे उसने हाल ही मे राज्य मे मिलाया है। औरंगजेब ने इसका गोल जवाब दिया। अतः शिवाजी ने बीजापुर का साथ देने में ही अपना स्वार्थ सिद्ध होते देख मुगलों के सूबे के दक्षिण-पश्चिमी भाग पर उस समय आक्रमण कर दिया जब औरंगजेब अपनी सूबेदारी की सीमा से दूर दक्षिण-पूरबी कोने पर स्थित कल्याणी का घेरा डाले हुए था।

मराठो ने अहमदनगर से लगे हुए चमरगुण्डा और रेसिन जिलों पर धावा बोल दिया। इसी समय शिवाजी जुन्नार पर स्वयं धावा बोलकर तीन लाख हून लूट ले गये। औरंगजेब मराठा आक्रमणकारियों को खदेड़ने के लिए बाध्य हुआ और उसे दक्षिणी मुगल-साम्राज्य की दक्षिण-पश्चिमी सीमा की रक्षा के लिए कदम उठाना पड़ा। जब बीजापुर ने मुगलों से सन्धि कर ली, तब शिवाजी भी झुक गया किन्तु औरंगजेब ने उसे हृदय से क्षमा नही किया।

कोंकण विजय (१६५७ ई०)

जब औरंगजेब ने उत्तराधिकार के युद्ध के लिए उत्तरी भारत को प्रस्थान किया तब शिवाजी को अपने राज्य-विस्तार के लिए अवसर मिल गया। उन्होने अगस्त १६५७ ई० में जंजीरा के सिद्दियो पर हमला करने के लिए अपनी सेना भेजी किन्तु उन्हे इसमे सफलता न मिली। उसी वर्ष के अन्त मे उन्होंने उत्तरी कोकण पर आक्रमण किया। आधुनिक थाना और कोलाबा जिलो से मिलकर कोंकण प्रान्त बना था। शिवाजी ने कल्याण और भिवंडी नगरों पर सरलता से अधिकार कर उन्हे अपनी नौ-सेना के अड्डे बना दिये। उन्होने दक्षिणी कोकण पर अधिकार कर वहाँ अपना नियमित शासन स्थापित कर दिया। उनकी सेना ने दमन के आसपास के पुर्तगाली प्रदेश को लूटा, जिससे विवश होकर उन्हे मराठा राजा को वार्षिक कर देना पड़ा। यह कल्याण की घटना है कि जिले के बीजापुरी गवर्नर मुल्ला अहमद नवायत की सुन्दर पुत्रवधू को मराठा सेना ने लूट के साथ अपहरण कर शिवाजी को भेंट देना चाहा था किन्तु मराठा राजा ने उसका अपमान न कर उसे वस्त्राभूषण सहित उसके आदमियों के पास बीजापुर भेज दिया था।

अफजलखाँ की घटना (१६५६ ई०)

शिवाजी ने बीजापुर सरकार के अनेक किले और प्रदेश छीनकर उसे बहुत अधिक हानि पहुँचायी थी, अतः उसने शक्ति बटोरकर अपने प्रथम श्रेणी के सरदार जनरल अफजलखाँ उपाधिकारी अब्दुल्ला भटारी को शिवाजी को दबाने के लिए नियुक्त किया।

इस सेनापति ने खुले दरबार मे शेखी मारी थी कि वह "अपने घोड़े से बिना उतरे ही शिवाजी को हथकड़ी डालकर गिरफ्तार कर लेगा।" उससे शिवाजी के मवाली देशमुखों, अफसरो और सेना को फुसलाने का प्रयत्न किया। कुछ देशमुख उसने जा भी मिले। अफजलखाँ सितम्बर १६५६ ई० मे बीजापुर से चलकर पण्ढरपुर आया और बिठोवा मन्दिर की मूर्ति को तोडा। वहाँ से उसने वई के लिए प्रस्थान किया। वहाँ उसने शिवाजी का पक्ष लेने के कारण बालाजी नायक निम्बालकर से दो लाख का जुर्माना वसूल किया। उसने आसपास के मन्दिरों को लूटने और उन्हें अपवित्र करने के लिए अपनी सेना को भेजा। जावली के मोरे शिवाजी के शत्रु थे, अतः अफजलखाँ ने उनकी सहायता से मवाल देश मे घुसकर पूना में शिवाजी पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया था किन्तु शिवाजी अपना डेरा जावली के जंगली जिले में डाले हुए

था, अत: अफजलखाँ ने शिवाजी पर सीधा हमला करने की नीति को छोड़कर उसको जाल मे फँसाने का यत्न किया और उसने प्रतापगढ जाकर डेरा डाला। उसने कृष्णाजी भास्कर को भेजकर शिवाजी से आने की प्रार्थना की। उसने प्रतिज्ञा की कि वह शिवाजी द्वारा अधिकृत कोंकण प्रदेश और किलों को उसे दे देगा। सन्देश इस प्रकार था, "मै तुम्हे अपनी सरकार से अधिक सम्मान और सेना की सामग्री दिलवाऊँगा। यदि तुम दरबार मे उपस्थित होगे तो तुम्हारा स्वागत होगा। यदि तुम वहाँ उपस्थित न होना चाहोगे तो तुम इससे बरी कर दिये जाओगे।"

अफलजखाँ के विरुद्ध अपनायी जाने वाली नीति के विषय में मराठा दरबार मे मतभेद था। शिवाजी के अफसरों ने समर्पण की सलाह दी, किन्तु उन्होने सलाह को न मानकर आक्रमणकारी का निर्भीकता से मुकाबला करने का निश्चय किया। उन्हें कृष्णाजी भास्कर से अफजलखाँ के कपटपूर्ण विचार की गन्ध मिल गयी थी। उन्होने शर्त के साथ मिलने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उन्होने अफजलखाँ से अपनी सुरक्षा का सच्चा विश्वास चाहा। अफजलखाँ ने उन्हें मनचाहा विश्वास दे दिया। शिवाजी का दूत पन्ताजो गोपीनाथ खान की इच्छा जानने के लिए भेजा गया था। उसने लौटकर सूचना दी कि अफजलखाँ ने मुलाकात के समय शिवाजी को गिरफ्तार करने का प्रबन्ध कर लिया है। शिवाजी की सलाह से यह निश्चय हुआ कि मुलाकात प्रतापगढ के दक्षिण मे एक मील दूर पार नामक ग्राम मे की जाय। अफजलखाँ पार गाँव गया। वहाँ किले के नीचे मुलाकात के लिए निश्चित एक ऊँचे स्थान पर पण्डाल बनाया गया। शिवाजी ने अपनी चुनी हुई फौजों को आसपास की झाड़ियो मे छिपा दिया और अपने अगरखे के नीचे कवच और अपनी पगड़ी के नीचे फौलादी टोपी पहनकर भेंट के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने अपने बायें हाथ मे बघनख और अपनी सीधी बाँह मे बिछवा नामक तेज कटार को छिपा लिया। उसके साथ जीव महाल और शम्भूजी कावजी नामक दो साथी थे। ये दोनों दो-दो तलवारों और एक-एक ढाल से सुसज्जित थे।

अफजलखाँ हजार से अधिक अचूक निशानेबाज बन्दूकधारियों के घेरे में सभा-भवन में आया। शिवाजी के दूत गोपीनाथ ने खान से प्रार्थना की कि वह अपनी सेना को काफी दूर रखे अन्यथा शिवाजी मिलने के लिए नहीं आयेंगे। ऐसा ही किया गया और अफजलखाँ शिवाजी की तरह ही दो शस्त्रधारी सेवको सहित पण्डाल मे आये। वह तलवार चलाने में निपुण सैय्यद बाँदा नाम के तीसरे आदमी को अपने साथ रखना चाहता था किन्तु शिवाजी के विरोध करने पर वह पण्डाल से हटा दिया गया। शिवाजी ने पण्डाल के पास पहुँचते ही झुककर सलाम किया। अफजलखाँ ने आगे बढकर शिवाजी को गले लगाया। शिवाजी उसके कन्धे तक आये। वह शिवाजी को कसकर बाँहों मे पकडकर उनका गला घोंटने के लिए कुछ झुका और तलवार निकालकर शिवाजी पर बगल से प्रहार किया, किन्तु मराठा सरदार अपने अंगरखे के नीचे कवच पहने हुए था, अतः प्रहार निष्फल गया। शिवाजी ने सचेत होकर अपने फौलादी

बघनख से अफजलखाँ की आँतो को बाहर निकाल लिया और शीघ्रता से अपने बिछवे को अफजलखाँ की कोख मे घुसेड़ दिया। अफजलखाँ ने बुरी तरह से घायल होकर शिवाजी को छोड़ दिया और शिवाजी चबूतरे पर खड़े हुए दो सेवकों सहित भाग गये। अफजलखाँ दर्द से चिल्लाया। सैय्यद बाँदा ने आगे बढकर शिवाजी के सिर पर तलवार से प्रहार किया। किन्तु छिपी हुई फौलादी टोपी पहने होने के कारण इसका उन पर कोई असर न हुआ। इसी बीच मे जीव महाल ने सैय्यद का सीधा हाथ काट कर उसे मार गिराया। यह घटना २ नवम्बर, १६५६ ई० को घटी थी।

मराठो की जो सेना जंगल मे छिपी थी वह अब बिना नायक की बीजापुरी सेना पर टूट पड़ी। बीजापुरी सेना ने निराशाजनक मुकाबला किया और बुरी तरह से पराजित होकर भाग गयी। उनमे से तीन सौ तो कत्ल कर दिये गये और शेष भाग गये। शिवाजी ने तोपखाना, गोला-बारूद, खजाना, हाथी, घोड़े, ऊँट और शत्रु-सेना की सारी सामग्री पर अधिकार कर लिया। इस लूट मे दस लाख रुपये और जेवरात उनके हाथ लगे। इस विजय के बाद शिवाजी ने एक सैनिक दरबार किया और इस घटना मे प्रमुख भाग लेने वाले सभी व्यक्तियो को इनाम दिया।

इस विजय के बाद शिवाजी ने दक्षिण कोंकण और कोल्हापुर जिले मे अपनी सेनाएँ भेजकर विजय प्राप्त की। उसने पन्हाला किले को छीनकर अफजलखाँ के पुत्र रुस्तमखाँ जमाँ और फजलखाँ के नेतृत्व मे रहने वाली दूसरी बीजापुरी सेना को हराया। उसने बसन्तगढ, खेलना, पंगा और आसपास के किलो पर भी अधिकार कर लिया और जनवरी, १६६० ई० के अन्त में लूट के बहुत-से सामान सहित विजयी होकर वह रायगढ लौटा।

पन्हाला और चकन का पतन (१६६० ई०)

बीजापुर के सुलतान ने घबराकर कारनूल जिले के अधिकारी सिद्दी जौहर को शिवाजी पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। बाजी घोरपरे, रुस्तमखाँ जमाँ; फजलखाँ और दूसरे अफसर भी उसकी सहायता के लिए भेजे गये। सिद्दी ने शिवाजी को पन्हाला के किले में घेर लिया और बड़े साहस से उसका घेरा डाल दिया। शिवाजी ने सिद्दी से मेल कर लिया किन्तु फजलखाँ मराठा सरदार का जानी दुश्मन था, उसने किले को छीनने का भरसक प्रयत्न किया। अत: शिवाजी को पन्हाला से २७ मील दूर पश्चिम में विशालगढ़ भाग जाना पड़ा। २ अक्टूबर, १६६० ई० मे पन्हाला का पतन हो गया। शिवाजी के हाथ से पूना से १८ मील दक्षिण में स्थित चकन का किला भी मुगलों ने ले लिया। उन्होने शिवाजी के उत्तरी प्रदेश पर उस समय आक्रमण किया जबकि बीजापुर की सेना शिवाजी को पन्हाला में घेरे हुए थी।

शाइस्ताखाँ पर रात्रि में आक्रमण (अप्रैल १६६३ ई०)

मुगल सम्राट औरंगजेब उत्तराधिकार-संघर्ष में सफल हो चुका था। अत: उसने अपने मामा शाइस्ताखाँ को दक्षिण का गवर्नर नियुक्त कर उसे मराठों की नवीन शक्ति को उखाड़ फेंकने की आज्ञा दी। आक्रमण करने से पूर्व शाइस्ताखाँ ने बीजापुरियो

को दक्षिण मे मराठा राज्य पर आक्रमण करने के लिए उकसाया, जिससे कि शिवाजी एक ही साथ किये गये दो आक्रमणो द्वारा कुचल दिया गया। खान ने मार्च १६६० ई० मे अहमदनगर से पूना की ओर चलकर धीरे-धीरे अहमदनगर और पूना के बीच के किले पर अधिकार कर लिया। पूना से दस मील दक्षिण-पूरब मे स्थित सासबाद आने से पूर्व मराठो का सगठित मुकाबला बहुत कमजोर था। शाइस्ताखाँ ने १९ मई को पूना मे प्रवेश किया और वही बरसात बितानी चाही। मराठों ने आस-पास के प्रदेश को बिलकुल उजाड दिया था। अत उसने पूना से १८ मील दक्षिण में स्थित चकन नामक किले का घेरा डालने का निश्चय किया जिससे वह अहमदनगर से रसद प्राप्त कर सके। उसने इस पर २५ अगस्त को अधिकार कर लिया। इस बीच मे शिवाजी ने रायगढ में पूना जिले और चकन के किले की क्षतिपूर्ति के लिए एक योजना बनायी। उसने तालबखाँ के नेतृत्व में चलने वाली शाइस्ताखाँ की सेना की उस टुकडी को हराया जो मराठो के कोंकण प्रदेश पर अधिकार करने के लिए भेजी गयी थी। इसके बाद शिवाजी ने अपनी सेना की एक टुकड़ी को नेताजी के नेतृत्व मे मुगलों के विरुद्ध भेजा और स्वयं कोकण मे सारे बीजापुर प्रदेश पर आक्रमण किया। उसने एक ही तेज हमले मे डाँडा राजपुरी से खरे पाटन तक के सारे प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। हल्का-सा मुकाबला करने के बाद रत्नागिरि जिले के प्रायः सभी नगरो ने चौथ देकर लूट से अपनी रक्षा कर ली। फिर उसने पल्लीवाना रियासत और सुरक्षित चिरदुर्ग पर विजय प्राप्त की। इसके बाद उसने शृंगारपुर को छीना। इसका शासक सूर्यराव अपना जीवन बचाने के लिए भाग गया। मुगलो ने कल्याण नगर को फिर जीत लिया जिससे शिवाजी की सारी उज्ज्वल सफलताओ पर पानी फिर गया। तो भी दो वर्ष के युद्ध के परिणामस्वरूप शिवाजी दक्षिण कोंकण, कुलाबा जिले के दक्षिण-पूरबी कोने और सारे रत्नागिरि जिले पर अधिकार करने में सफल हो गये। शिवाजी ने अब शाइस्ताखाँ पर रात्रि मे आक्रमण करने की योजना बनायी। शाइस्ताखाँ चकन छीनने के बाद अगस्त १६६० ई० मे पूना लौटा था और उसी मकान मे ठहरा जिसमें शिवाजी ने अपना बचपन बिताया था। अपने ४०० चुने हुए सिपाहियों के साथ मराठा सरदार सिंहगढ़ से चलकर १५ अप्रैल, १६६३ ई० को संध्या के समय पूना पहुँचे। जब वह शाइस्ताखाँ के निवास-स्थान की सीमा में प्रवेश कर रहे थे तब उन्हें मुगल रक्षको ने टोका। उन्होने जवाब दिया कि वे शाही सेना के मराठी सिपाही हैं और अपने नियुक्त स्थानों पर जा रहे हैं। यह मण्डली शाइस्ताखाँ के भवन पर आधी रात के समय पहुँची और ईंट-गारे से चिने हुए छोटे-से दरवाजे को फोड़कर उसमे घुस गयी। घुसने में शिवाजी सबसे पहला आदमी था। उनके बाद उनके २०० आदमी और घुसे। खान के सोने के कमरे मे पहुँचकर शिवाजी ने उस पर आक्रमण किया। जिस समय मराठों का आक्रमण हुआ शाइस्ताखाँ जल्दी ही सँभल गया और अपने को शस्त्रों से सुसज्जित करने लगा, किन्तु उसकी कुछ भी न बन पड़ी। वह अपने हाथ का अँगूठा खोकर अँधेरे में भाग गया। मराठों ने अन्धकार

में स्त्री-पुरुष का भेद न जानकर खान के जनानखाने की बहुत-सी स्त्रियों को मार डाला। इसी समय शिवाजी की सेना की दूसरी टुकड़ी के २०० मजबूत सिपाही शाइस्ताखाँ के जनानखने के बाहर के रक्षको पर टूट पड़े और मुगल सेना मे बडी खलबली मचा दी। शाइस्ताखाँ का पुत्र अब्दुल फतेह अपने पिता की सहायता के लिए लपका किन्तु कत्ल कर दिया गया। दूसरे मुगल सेनापतियो का भी यही हाल हुआ। अब सारी मुगल सेना जाग गयी थी, अतः शिवाजी अपने आदमियो को इकट्ठा कर भाग गये। घबराये हुए मुगल मराठों का पीछा न कर सके। यह रात्रि का आक्रमण बहुत ही सफल रहा। शाइस्ताखाँ का १ पुत्र, ४० सेवक, ६ स्त्रियाँ और उसकी ५ बाँदियाँ मारी गयीं। उसके दो पुत्र और आठ स्त्रियाँ घायल हुईं। यह घटना १५ अप्रैल, १६६३ ई० को घटी। इससे शिवाजी की प्रतिष्ठा बहुत बढ गयी और शाइस्ताखाँ का बड़ा अपमान हुआ। औरंगजेब ने क्रुद्ध होकर उसे दण्ड देने के लिए बंगाल भेज दिया।

सूरत की लूट (१६६४ ई०)

इस निर्भीक साहसिक कार्य के बाद शिवाजी ने देश के सबसे अधिक समृद्ध बन्दरगाह सूरत पर प्रबल आक्रमण कर इसे ही लूटने का विचार किया। इसकी योजना अत्यन्त गुप्त रखी गयी और जब उन्होंने दक्षिण की ओर प्रस्थान की घोषणा की, तब वे वास्तव मे उत्तर की ओर गये। १० जनवरी (१ जनवरी, १६६४ ई० पुरानी गणना के अनुसार) को उसने तेजी से सूरत पर आक्रमण किया। नगर में खलबली मच गयी और बहुत-से परिवार अपने बाल-बच्चो के साथ जान बचाने के लिए बाहर भाग गये। गवर्नर इनायतखाँ ने नगर से भागकर किले मे शरण ली। उसने शिवाजी से सन्धि करने के लिए प्रतिनिधि भेजा। शिवाजी ने यहाँ १६ जनवरी के प्रातःकाल आकर बुरहानपुर दरवाजे के बाहर एक बाग में अपना डेरा डाला। उसने दूत को नजरबन्द कर चार दिन तक नगर लूटा। हजारों मकानों को जलाकर खाक कर दिया, डरपोक मुगल गवर्नर ने शिवाजी की हत्या के लिए एक हत्यारे को धन दिया किन्तु आक्रमण सफल न हो सका क्योंकि शिवाजी के अंगरक्षक ने हत्यारे के दाहिने हाथ को काट दिया था। क्रुद्ध मराठा सेना कत्लेआम करना चाहती थी, किन्तु शिवाजी ने उसे रोककर केवल कुछ कैदियों के हाथ कटवा दिये। अंग्रेज व्यापारियों ने अपनी फैक्टरी बचा ली और मराठा सरदार द्वारा लगाया गया तीन लाख का कर भी नहीं दिया। शिवाजी को लूट में इतना माल मिल गया था कि उसने न तो अंग्रेजों को उत्तर देने की परवाह की और न अंग्रेजों की सुरक्षित फैक्टरी पर हमला ही किया। शिवाजी को सूरत की लूट में एक करोड़ से अधिक रुपया मिला था। एक अंग्रेज ने लिखा है, "शिवाजी और सब चीजें छोड़कर केवल सोना, चाँदी हीरे, मोती और वैसे ही मूल्यवान सामान ले गया था।" १९ जनवरी को शिवाजी को समाचार मिला कि एक मुगल सेना नगर की रक्षा करने के लिए तेजी से आ रही है अतः वह २० जनवरी, १६६४ ई० को सूरत छोड़कर भाग गये। सूरत की लूट के

विषय मे शिवाजी का कहना था कि यह मुगलो के उस आक्रमण का बदला था जो उन्होने उसके देश पर किया था। दूसरा कारण उसका धन से प्रेम था।

शिवाजी १६६४ ई० मे पूरे वर्ष मुगलो के आक्रमण से मुक्त रहे। दक्षिण का मुगल गवर्नर शाहजादा मुअज्जम औरगाबाद मे और जसवन्तसिंह पूना मे डेरा डाले रहे। जसवन्तसिंह ने कोडाना किले का घेरा डाला किन्तु वह इसे छीन न सका और शिवाजी मुगलो को लूटने और तग करने के लिए पूरी तरह स्वतन्त्र रहे। उन्होने अगस्त के आरम्भ में अहमदनगर को लूटा और बरसात के बाद कनारा पर आक्रमण किया।

२ फरवरी, १६६४ ई० को शिवाजी के पिता शाहजी की मृत्यु हो गयी और शाहजी का द्वितीय पुत्र व्यकोजी उसकी मैसूर और पूरबी कर्नाटक की रियासत का उत्तराधिकारी हुआ।

जयसिंह का महाराष्ट्र पर हमला : पुरन्दर की सन्धि (१६६५ ई०)

शाइस्ताखाँ की असफलता और सूरत की लूट से अत्यन्त दुखी होकर औरगजेब ने शिवाजी को कुचलने के लिए अपने प्रसिद्ध सेनानायक आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह को नियुक्त किया। उसने उसकी सहायता के लिए बहुत-से योग्य अफसर एव मनचाहा धन और सामग्री दी। राजा ने भारत और मध्य एशिया मे निरन्तर अनेक विजयें प्राप्त की थी। वह अपने उत्साह और योग्यता के लिए प्रसिद्ध था। दूरदर्शिता और राजनीतिक चालाकी के साथ-साथ उसे शान्तिपूर्ण नीति का भी ज्ञान था। ये योग्यताएँ तो उसकी निजी आकर्षण के लिए थी किन्तु हिन्दू होने के कारण ही वह शिवाजी से लोहा लेने के लिए एक आदर्श सेनापति सिद्ध हुआ था। उसने १९ जनवरी, १६६५ ई० को नर्मदा पार की और एक क्षण भी नष्ट न कर १३ मार्च को पूना जाकर मारवाड़ के जसवन्तसिंह से कार्यभार ले लिया। उसने अपने कर्तव्य के महत्त्व को समझकर शिवाजी के विरुद्ध कार्य करने की विचारपूर्ण योजना बनायी और शिवाजी के राज्य के पूर्वी भाग में डेरा डाले रहा, जिससे वह मराठा प्रदेश और बीजापुरी सुल्तान के बीच में डटा रहे, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि सुल्तान मराठों की सहायता करे। वास्तव में राजा जयसिंह दक्षिण में शिवाजी के विरुद्ध सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वो को उकसाना चाहता था; जिससे शिवाजी चहुमुखी आक्रमणों से घबरा उठे। उसने शाही कृपा और कर को घटवाने का आश्वासन देकर बीजापुरी सुल्तान से सहायता माँगी। उसने गोआ के पुर्तगाली और जंजीरा के सिद्दियों से शिवाजी के प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए कहा। इसके अतिरिक्त उसने महाराष्ट्र और कर्नाटक के बहुत-से जमींदारों को अच्छा आश्वासन देकर फुसला लिया। उसे इसमें बहुत अधिक सफलता मिली। जावली से निकाले गये मोरे, अफजलखाँ का पुत्र फजलखाँ और कल्याण के उत्तर देश कोली के निकाले हुए सभी राजा शिवाजी से ईर्ष्या रखते थे। अतः वे सब जयसिंह से जा मिले।

सासबाद को अपना प्रधान स्थान बनाकर जयसिंह ने अपना आक्रमण आरम्भ किया। उसने उस नगर के दक्षिण-पश्चिम की घाटियों के मराठा गाँवों को उजाड़ने

के लिए अपनी सेना की एक टुकडी भेजी। फिर वह पुरन्दर मे शिवाजी को घेरने के लिए चला और पुरन्दर के पूरबी किनारे पर स्थित बज्रगढ किले पर आक्रमण कर दिया। इस पर पूरी तरह से घेरा डाला गया और तोपखाने लगाकर बमबारी आरम्भ कर दी गयी। राजा जयसिंह ने २४ अप्रैल को बज्रगढ छीन लिया और दुर्गरक्षको को बिना सताये ही घर जाने की आज्ञा दे दी, जिससे कि पुरन्दर दुर्ग के रक्षक बिना युद्ध के ही आत्मसमर्पण कर दे। जयसिंह ने राजगढ, सिंहगढ (कोडाना) और रोहिरा राज्य के शिवाजी के गांवों का उजाडने के लिए अपने हल्के दस्ते पहले ही भेज दिये थे और उन्हे आज्ञा दी गयी थी कि वे खेती अथवा निवास-स्थानो का नाम भी न रहने दे। इस सेना ने अपने काम से राजा को सन्तुष्ट किया। इसने मराठा सेना को हराया, उन गाँवो का लूटा और जलाया जिन्होने पहले कभी शत्रु को नही देखा था। इस बीच म पुरन्दर का घेरा भी जारी रहा। मराठो ने मुकाबला किया किन्तु वे असफल रहे। बज्रगढ छीन लेने के बाद जयसिह ने पुरन्दर के नीचे के माची के दुर्ग को घेरने के लिए आज्ञा दी। किले के उत्तरी पूरबी कोने पर खाइयाँ खोदी गयी और मराठे सैनिक खदेड़ दिये गये। जयसिंह ने लट्ठे और तख्तो का ऊँचा चबूतरा बनवाया और शत्रु पर चुपचाप बमबारी करने के लिए छोटी-छोटी तोपें उस पर चढवा दी। दुर्ग-रक्षको द्वारा बाधा डालने पर भी लकडी का चबूतरा बन ही गया था। मुगलो ने अब सफेद बुर्ज पर हमला करने की तैयारी की। इस बमबारी के कारण मराठों ने काले बुर्ज में जाकर शरण ली परन्तु वे यहाँ भी नही ठहर सके और गढ़ी की दीवार से लगे हुए बाडे मे भाग गये। उन्हे इसे भी छोड़कर बाद मे पीछे की खाइयो में शरण लेनी पडी। दो महीने के घेरे और लडाई के परिणामस्वरूप जयसिंह ने नीचे के किले के पाँच बुर्ज और एक बाडा छीन लिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि मुख्य दुर्ग पुरन्दर भी उससे नही बच सकेगा। राजपूत सेनापति ने अपनी सारी सेना को मुख्य क़िले पर ही लगा दिया। यहाँ मराठा आक्रमण का वीर सेनापति मुरार बीजाप्रभु ५०० पठान और बहुत-से पैदलों को मारकर अपने ३०० आदमियो के साथ वीरगति को प्राप्त हुआ। अब पुरन्दर के दुर्गरक्षको और मराठा अफसरों के परिवारों को अपना दुर्भाग्य आता हुआ दिखायी देने लगा।

पुरन्दर के घेरे और अपने ही राज्य के बीच मे हुई हारों से शिवाजी की सेना प अभूतपूर्व आपत्ति आ गयी, जिससे विवश होकर शिवाजी ने आत्मसमर्पण द्वारा सा... लेने का निश्चय कर लिया। उसने कुछ दिन तक जयसिंह के दूतों से विचार-विनिमय किया और फिर राजपूत सरदार से मिलकर सन्धि की शर्तों का निश्चय कर लिया। उसने निश्चय कर लिया कि यदि उसकी प्रार्थना ठुकरा दी गयी तो वह बीजापुर के सुल्तान से मिलकर और भी जोरों से मुगलों पर आक्रमण कर देगा। जयसिंह ने शिवाजी को स्वयं आकर बिना शर्त के आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया और कहा कि यदि शिवाजी ने ऐसा नहीं किया तो वह सन्धि की कोई बातचीत नहीं करेगा। जब जयसिंह ने शिवाजी की सुरक्षा का विश्वास दिला दिया, तब वह

२४ जून, १६६५ ई० के प्रातःकाल राजपूत सेनापति से पण्डाल मे मिलने गया। जयसिंह ने साफ-साफ कहलवा दिया कि यदि शिवाजी अपने किलो को सौप देने को तैयार न हो तो उसे मिलने के लिए आने की कोई आवश्यकता नही। शिवाजी इसे मानकर वहाँ गया और खेमे के द्वार पर जयसिंह के बख्शी द्वारा उसका स्वागत किया गया। जयसिंह स्वय कुछ कदम आगे बढकर शिवाजी को लेने आया और उसने शिवाजी को गले लगाकर अपने पास बिठा लिया। उसी समय जयसिंह ने दिलेरखाँ और तीर्थसिंह को पुरन्दर पर आक्रमण करने की आज्ञा दी, जिससे शिवाजी को मराठो की क्षीण शक्ति का विश्वास हो जाय। आक्रमण मे ८० मराठो को मारकर और बहुतो को घायल कर पीछे खदेड दिया गया। शिवाजी राजपूत खेमे से युद्ध को देख रहा था। अत उसने पुरन्दर के समर्पण की आज्ञा देकर जयसिंह से व्यर्थ के नरसहार को रोकने की प्रार्थना की। जयसिंह ने अपने आदमियो को युद्ध रोकने का आदेश दे दिया और शिवाजी ने अपने दुर्गरक्षको को दुर्ग-समर्पण की आज्ञा दे दी। इन आज्ञाओ का पालन किया गया।

दोनो राजा आधी रात तक शर्तों के विषय मे विचार करते रहे और अन्त मे समझौता हुआ। यह १६६५ ई० की पुरन्दर की सन्धि कहलाती है। समझौते की शर्ते इस प्रकार थी : (१) शिवाजी ने २३ किले और उससे लगे हुए उस प्रदेश का समर्पण कर दिया जिसकी वार्षिक-आय ४ लाख हून थी। यह प्रदेश मुगल-साम्राज्य मे मिला दिये गये। (२) राजगढ के साथ-साथ शिवाजी के १२ किले और उसमे लगी हुई भूमि जिसकी वार्षिक आय १ लाख हून थी, शिवाजी के ही अधिकार मे रहे। शर्त यह थी कि वह शाही तख्त का सेवक और राजभक्त बना रहेगा। (३) शिवाजी मुगल दरबार की निजी उपस्थिति से बरी कर दिया गया था किन्तु उसके पुत्र शम्भाजी को ५,००० घोडो के दल के साथ सम्राट की सेवा करनी होगी, जिसके उपलक्ष मे उसे जागीर मिलेगी। शिवाजी ने दक्खिन में सम्राट की ओर से युद्ध करने का वचन दे दिया। कुछ समय बाद पुरन्दर की सन्धि मे एक धारा और जोड दी गयी, जो शिवाजी के शब्दो मे इस प्रकार है, "यदि ४ लाख हून की आमदनी की कोंकण की तराई की भूमि और बालाघाट तथा बीजापुर की ५ लाख हून सालाना की ऊँची भूमि मुझे सम्राट द्वारा दे दी जाय और शाही फरमान के द्वारा मुझे विश्वास दिला दिया जाय कि इस भूमि का अधिकार मुगलों द्वारा आशा की गयी बीजापुरी विजय तक मुझ पर रहेगा तो मैं सम्राट को ४० लाख हून १३ वर्ष की सालाना किस्तों मे देने को तैयार हूँ।" औरंगजेब ने इसको स्वीकार कर लिया और आशा की कि शिवाजी उपर्युक्त प्रदेशों को मुगलों की सहायता के बिना जीत लेगा। यह धारा मुगलों के बहुत अनुकूल थी क्योंकि दो करोड़ नकद आमदनी के साथ-साथ शिवाजी और बीजापुर के सुल्तान के बीच शत्रुता बनी रहती। इसके अतिरिक्त पहाड़ी राज्य को विजय करने में लगे रहने के कारण शिवाजी को दक्षिण में मुगलों को तंग करने का अवसर भी नहीं मिलता। ध्यान देने की बात यह है कि इस धारा मे शिवाजी ने यह भी मान लिया

था कि इस रियासत के बदले मे वह अपने पुत्र शम्भाजी के २,००० घुडसवारो के मनसब और चुने हुए ६० हजार पैदलो को अपने साथ लेकर मुगलो को बीजापुरी आक्रमण मे सहायता देगा। औरगजेब ने पुरन्दर की सन्धि और समझौते को स्वीकार कर लिया और शिवाजी के लिए फरमान और खिलअत भेज दी।

शिवाजी द्वारा मुगलों की सहायता · पन्हाला की हार

इस उत्कृष्ट सफलता के बाद जयसिंह ने एक ही आकस्मिक हमले से आदिल-शाही राजधानी पर अधिकार जमाने के लिए बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। समझौते के अनुसार शिवाजी ने अपनी शक्तिशाली सेना सहित उसकी सहायता की। बीजापुर से २४ मील उत्तर मे मगलवीरा तक राजपूत सरदार का किसी ने विराध नही किया। बीजापुरियो ने अपनी रक्षा की पूरी-पूरी तैयारी कर ली थी। उन्होने रसद की पूरी सामग्री और लडाई का सारा सामान किले मे इकट्ठा कर ७ मील के दायरे मे देश को ऐसा उजाड़ दिया था कि जिससे शत्रु को पानी, अन्न और वृक्षो की छाया तक न मिल सके। बीजापुर किले से १० मील उत्तर मे मक्खनपुर पर जयसिंह की प्रगति तक रुक गयी। कुछ सप्ताह प्रतीक्षा करने के बाद भी वह आगे न बढ़ सका, अत. उसने १५ जनवरी, १६६६ ई० को पीछे हटना आरम्भ कर दिया। वह अपने साथ बडा तोपखाना नही लाया था, क्योकि उसने सोचा था कि वह एक ही आकस्मिक हमले मे बीजापुर को जीत लेगा, किन्तु उसकी भूल थी। अत उसने पीछे हटकर शिवाजी को पन्हाला का घेरा डालने के लिए भेजा। पन्हाला पर अचानक हमला करने के विचार से शिवाजी २६ जनवरी को किले के निकट पहुँच गये किन्तु नेताजी, जिन्हें दूसरा शिवाजी कहा जाता था, के समय पर न पहुँचने के कारण वह सूर्योदय के केवल ३ घण्टे पूर्व ही आक्रमण कर सके। दुर्गरक्षक जाग गये थे, अतः उन्होने वीरतापूर्वक युद्ध किया। परिणाम यह हुआ कि शिवाजी को बिना दुर्ग छीने ही लौटना पड़ा। शिवाजी ने नेताजी को दण्ड दिया जिसका बुरा मानकर वह बीजापुर सेना मे भरती हो गया और उसने मुगल प्रदेश पर आक्रमण किया। परन्तु जयसिंह ने पाँचहजारी मनसब, अच्छी जागीर और ५० हजार नकद रुपये देने की प्रतिज्ञा कर उसे पक्ष मे कर लिया।

शिवाजी का आगरा जाना (१६६६ ई०)

बीजापुर के विरुद्ध जयसिंह की असफलता, नेताजी की कर्त्तव्यविमुखता और इस भय से कि कहीं शिवाजी मुगलों के विरुद्ध बीजापुर से न मिल जाय, जयसिंह ने विवश होकर मराठा सरदार से आगरा जाकर बादशाह से मिलने का अनुरोध किया। उसने यह काम शिवाजी को अस्थायी रूप से दक्खिन से हटाने और अपने अफसरों में उसके विरुद्ध होने वाले षड्यन्त्र को दबाने के लिए किया था क्योंकि उनमें से कुछ शिवाजी के विरुद्ध थे। शिवाजी को मुगल दरबार मे भेजकर वह अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को भी पुनः प्राप्त करना चाहता था। वह दिखाना चाहता था कि वह शिवाजी जैसे व्यक्ति को मुगल दरबार में भेज रहा है, जिसने बड़े से बड़े मुसलमान के आगे

भी सिर नही झुकाया है । वह बड़ परिश्रम के बाद शिवाजी को विश्वास दिला सका कि आगरे में उसका अच्छा सम्मान होगा और बहुत सम्भव है कि वह दक्षिणी मुगल-साम्राज्य का वायसराय (सूबेदार) भी बना दिया जाय । शिवाजी सिद्दियो से जजीरा लेना चाहता था और जयसिंह ने सम्भवत यह भी उसे दिलाने की प्रतिज्ञा कर ली थी । शिवाजी ने जयसिंह के प्रस्तावो को बडी हिचकिचाहट के साथ तभी स्वीकार किया जब राजपूत सरदार और उसके पुत्र रामसिंह ने जो शिवाजी के दरबार मे उसका प्रतिनिधि था उसकी सुरक्षा का वचन दे दिया था । प्रस्थान करने से पूर्व उन्होने अपनी माता जीजाबाई को सरक्षक और पेशवा मोरोपन्त तथा मजमुआदार नीलोजी सोनदेव को उसके अधिकार मे रख दिया । उन्होने अपने सब अफसरो तथा किलो के अधिकारियों (किलेदारों) को नियमो के पालन करने और आवश्यकता के समय यथोचित कार्य करने का आदेश दिया । उन्होने १६ मार्च, १६६६ ई० को अपने सबसे बड़े पुत्र शम्भाजी, पाँच बडे अफसर और ३५० चुने हुए सिपाहियों के दस्ते के साथ यात्रा आरम्भ की ।

जब वे २१ मई को आगरा से कुछ मील दूर दक्षिण से सराय मानिकचन्द्र पर पहुँचे, तब वहाँ रामसिंह के मुशी गिरधारीलाल ने उनका स्वागत किया । २२ मई के बहुत तड़के (उषाकाल) रामसिंह की शाही महल मे पहरा देने की ड्यूटी पड गयी थी अत. वह शिवाजी की अगवानी करने के लिए स्वयं न आ सका था। गिरधारीलाल शिवाजी को दूसरे मार्ग से नगर मे लाया और रामसिंह अपनी ड्यूटी के बाद शिवाजी का स्वागत कर उसे बादशाह के सामने पेश करने के लिए लेने को दूसरे मार्ग से गया । इस भूल के कारण शिवाजी से बाहर मिलने के बजाय वह उससे नगर के बीच बाजार मे मिला । दिन चढ गया था और औरंगजेब दीवाने-आम को छोडकर दीवाने-खास में चला गया था, अतः सहायक मीर बख्शी असदखाँ ने उन्हें वही उसके सामने उपस्थित किया । शिवाजी ने एक हजार मुहर और दो हजार रुपये नजर और पाँच हजार रुपये निछावर के रूप में भेंट किये । औरंगजेब ने एक शब्द भी न कहकर उनकी ओर केवल देख भर लिया। नजर देने के बाद शिवाजी पाँचहजारी मनसबदारों की पक्ति में खड़े किये गये । यह मनसबदारों की तीसरी पंक्ति थी । सम्राट की ओर से शिवाजी का स्वागत राजधानी के बाहर नही हुआ था, अतः वह दुखी और असन्तुष्ट थे । अब उन्हें तीसरी पंक्ति में खड़ा किया गया था और जब उन्हें मालूम हुआ कि राजा जसवन्तसिंह उनके सामने खड़ा है तो उन्होंने दुख से इस प्रकार कहा, "वह जसवन्तसिंह जिसकी पीठ मेरे सिपाहियों ने देखी थी, मुझे उसी के पीछे खड़ा होना पड़ रहा है ? इसका क्या अभिप्राय है ?" अब खिलअत के भेंट करने का समय आया । शाही राजकुमार, वजीर और जसवन्तसिंह इत्यादि सभी को इन खिलअतों से सम्मानित किया गया किन्तु शिवाजी को नही । अतएव शिवाजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए । औरंगजेब उनके भाव को ताड़ गया और उसने रामसिंह से शिवाजी की दशा के सम्बन्ध में पूछा । जब रामसिंह शिवाजी के पास गया तो वह उस पर बहुत क्रुद्ध होकर बोले, "तुमने मुझे देखा है,

तुम्हारे पिताजी ने देखा है और तुम्हारे बादशाह ने देखा है कि मै किस प्रकार का आदमी हूँ। किन्तु तुमने फिर भी मुझे तीसरी पंक्ति मे इतनी देर तक खडा रखा। मै तुम्हारे मनसब को ठुकराता हूँ।" इन शब्दो के कहने के बाद उन्होने उसी समय सिहासन की ओर पीठ कर ली और उद्दण्डता के साथ चल दिये। रामसिह ने उनका हाथ पकड़ा किन्तु शिवाजी ने उसे छुडा लिया और खम्बे के पीछे आकर बैठ गये। रामसिह उन्हे राजी करके दरबार मे न ला सका और उसकी सारी मिन्नतो के बाद भी शिवाजी ने यही कहा कि वह सम्राट के सामने जाने की अपेक्षा मर जाना कही अच्छा समझेगा। जब निराश रामसिह ने औरगजेब को सारी घटना की सूचना दी, तब औरगजेब ने शिवाजी को शान्त कर अपने सामने उपस्थित करने के लिए खिलअत के साथ तीन सामन्तो को भेजा। शिवाजी ने इस वस्त्र का पहनना और दरबार में जाना अस्वीकार कर दिया। सरदारो ने अपनी असफलता का समाचार सम्राट से छलपूर्वक कहा। उन्होंने बताया कि देहाती मराठा सरदार दरबार की अनभ्यस्त गर्मी से बीमार पड गया है। इस पर औरगजेब ने रामसिह को आज्ञा दी कि वह शिवाजी को अपने निवास स्थान को ले जाय। शिवाजी दूसरे दिन भी दरबार मे जाने के लिए राजी नही हुए। परन्तु रामसिह के बडे आग्रह के बाद उसने अपने पुत्र शम्भाजी को दरबार मे भेजा। शिवाजी इसके बाद मुगल दरबार में स्वयं फिर कभी नही गये।

अब औरगजेब ने शिवाजी को वन्दी बनाकर किसी न किसी बहाने मरवा डालने का निश्चय कर लिया। किन्तु वह इस काम को इस ढग से करना चाहता था जिससे जनमत उसके विरुद्ध न हो जाय और राजपूतो से और विशेषकर मराठे सरदार की रक्षा का वचन देने वाले जयसिह और उसके पुत्र रामसिह से शत्रुता मोल न लेनी पड़े। राजदरबार मे कछवाहा और राठौरों की प्रतिद्वन्दिता बहुत समय से चली आ रही थी और शाही-वश से सम्बन्ध रखने वाली शाइस्ताखाँ और वजीर जाफरखाँ की पत्नियाँ तथा बादशाह की बहन जहानआरा शिवाजी का वध करवाना चाहती थी। इन दोनों कारणों से बादशाह ने शिवाजी के वध का निश्चय कर लिया। जसवन्तसिंह के नेतृत्व मे रहने वाली राठौर पार्टी जयसिह को अपमानित करना चाहती थी और इसीलिए वह शिवाजी के विरुद्ध थी क्योकि वह जयसिह की सरक्षकता मे था। फलत: बादशाह ने शिवाजी को मरवा डालने का या किसी किले मे नजरबन्द करने का निश्चय कर लिया। सबसे पहले उसके निवास-स्थान के चारो ओर रक्षक नियुक्त किये गये। इसके बाद शिवाजी को रादनदाजखाँ के यहाँ ले जाने की आज्ञा हुई। रादनदाजखाँ अपनी निर्दयता के लिए कुख्यात था और आगरा किले के शाही कैदियों का अधिकारी था। रामसिह ने औरगजेब के इस निर्णय का विरोध किया और शिवाजी के आचरण की तब तक की लिखित जिम्मेदारी ले ली, जब तक वह आगरे मे रखा जाय। इस पर शिवाजी 'जयपुर भवन' में रखा गया। वास्तव में औरंगजेब इस निर्णय से सन्तुष्ट न था, अत: उसने शिवाजी को अफगानिस्तान के युसुफजई और अफरीदी कबीलों से लड़ने के लिए रादनदाजखाँ के साथ जाने की आज्ञा दी। औरगजेब की हार्दिक इच्छा

थी कि शिवाजी मार्ग मे मरवा दिया जाय और दुनिया को धोखा देने के लिए यह घोषणा कर दी जाय कि उसकी मृत्यु दुर्घटनावश हुई है। औरंगजेब जयसिंह के उत्तर कि प्रतीक्षा मे था, जिसके द्वारा वह शिवाजी को दिये गये वचन के विषय में जानना चाहता था। इस प्रतीक्षा के कारण उपरोक्त षडयन्त्र तुरन्त कार्यरूप मे परिणित न किया जा सका। इसी बीच में शिवाजी ने लम्बी-लम्बी घूसो से मुगल मन्त्रियो और बडे-बडे अफसरो को अपने पक्ष मे कर लिया और मन्त्रियो के द्वारा अपने पिछले कृत्यों के लिए क्षमाप्रार्थना की। बादशाह ने उसे क्षमा नही किया, किन्तु उसने अफगानिस्तान के भेजने की आज्ञा को रद्द कर दिया। इसके बाद शिवाजी ने औरंगजेब को दो करोड रुपये भी भेंट मे देने चाहे, यदि वह उसे घर जाने की आज्ञा दे दे और उसके सब किले उसे वापस दे दे। उसने बीजापुर के विरुद्ध लडने का भी वचन दिया। औरगजेब ने शिवाजी की प्रार्थना ठुकरा दी और उसकी निगरानी के लिए उसके निवास-स्थान के बाहर आगरे के पुलिस कोतवाल सिद्दी फौलाद की अध्यक्षता मे एक सेना कुछ तोपों के साथ नियुक्त कर दी। उसके अन्दर के निवास-स्थान की निगरानी रामसिंह के आदमी दिन-रात करते थे। शिवाजी अब बन्दी बना लिया गया था। उसने अपने ही साधनो से निकल भागने की एक योजना बनायी। उसने रामसिंह से अपनी जमानत वापस ले लेने के लिए कह दिया। इसके बाद उसने अपनी सारी सेना को दक्खिन भेज दिया। फिर उसने सन्यास ले लेने की घोषणा की और बादशाह से प्रार्थना की कि वह उसके शेष जीवन को इलाहाबाद मे बिताने की आज्ञा दे दे। औरगजेब ने उत्तर दिया कि वह इलाहाबाद के किले मे रखा जायगा और वहाँ का मुगल गवर्नर उसकी देखभाल भलीभाँति करेगा। अब शिवाजी ने रोगी होने का बहाना किया और वह ब्राह्मणों तथा साधु-सन्तों को मिठाई की टोकरियाँ अपने निवास-स्थान से बाहर भिजवाने लगा। १३ अगस्त (पुरानी गणना के अनुसार) के तीसरे पहर वह और उसका पुत्र शम्भाजी बहँगी मे रखी हुई दो टोकरियों मे बैठकर निकल गये। शिवाजी का एक सौतेला भाई हीरोजी फर्जन्द था जो आकृति मे शिवाजी से मिलता-जुलता था। उसे मराठा सरदार का सोने का कडा पहनाकर और बाँह फैलाकर शिवाजी के बिस्तर पर लिटा दिया गया। टोकरियाँ आगरे से बहार सुनसान स्थान में पहुँची, जहाँ से शिवाजी और उनका बेटा नगर से ६ मील दूर के एक गाँव मे पहुँच गये। वहाँ पर नीराजी रावजी घोड़ो सहित उपस्थित था। अब मण्डली ने हिन्दू सन्यासियों का वेश धारण कर लिया और घोड़ो पर चढकर मथुरा चले गये। मथुरा मे अपने पुत्र शम्भाजी को एक मराठा परिवार की देखरेख मे छोड़कर आप स्वय इलाहाबाद के लिए पूरब की ओर चल दिये। वहाँ से उन्होने बुन्देलखण्ड की सड़क पकड़ी और गोंडवाना और गोलकुण्डा होते हुए अपने आगरा भागने से पच्चीसवें दिन २२ सितम्बर, १६६६ ई० को राजगढ पहुँच गये। आगरे मे शिवाजी का भागना ३० अगस्त की प्रात:काल १० बजे लगभग ज्ञात हुआ। दो घण्टे बाद हीरोजी मकान से चुपके से निकल गया और जाते समय रक्षको से कहता गया कि वे शोर न करे

क्योंकि शिवाजी बीमार है। फौलादखाँ ने सम्राट को घटना की सूचना देते हुए कहा कि शिवाजी उनके आदमियों की आँखों से अचानक ओझल हो गया है; वह जादू से या तो आकाश में छिप गया अथवा धरती मे समा गया। औरंगजेब ने इस बात पर विश्वास नही किया। उसने भगोडे को गिरफ्तार करने के लिए दक्खिन को जाने वाली सडकों की देखभाल करायी किन्तु खोज का सारा परिश्रम व्यर्थ रहा। सम्राट को विश्वास हो गया कि मराठा सरदार रामसिंह की असावधानी से ही भागा है। पहले उसने उसका दरबार में आना निषिद्ध किया और तत्पश्चात उसे नौकरी से अलग कर दिया। दक्षिण मे जयसिंह को यह सब जानकर बड़ा दुख हुआ क्योंकि इससे उसके सारे किये-धरे पर पानी फिर गया और उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। शिवाजी के गिरफ्तारी काल में उसको उसकी सुरक्षा की बड़ी चिन्ता थी क्योंकि वह इसके लिए वचनबद्ध था। अब वह अपने और अपने पुत्र के भविष्य के लिए चिन्तित हो गया। उसने सम्राट को लिखा कि वह शिवाजी को भेंट के लिए राजी कर उसे मरवा डालेगा। औरंगजेब को शिवाजी के भागने का आजीवन दु.ख रहा। वह जयसिंह से सन्तुष्ट न हुआ और उसे दक्षिण से हटा दिया। राजा जयसिंह ने दक्खिन के राज्यपाल का अपना कार्यभार युवराज मुअज्जम को सौंप दिया और आगरा लौटते समय ९ सितम्बर, १६६७ ई० को बुरहानपुर में स्वर्ग सिधार गया।

मुगलों के साथ सन्धि (१६६७-६९ ई०)

बन्दी-जीवन और कठिन यात्रा के कारण शिवाजी का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, अत: वह लौटने पर दो बार बीमार पडे और लम्बा विश्राम लेने के लिए विवश हो गये। इसके अतिरिक्त नया गवर्नर (सूबेदार) मुअज्जम आरामतलब आदमी था और उसका दाहिना हाथ जसवन्तसिंह शिवाजी से सहानुभूति रखता था। वे दक्षिण में व्यर्थ के आक्रमण के विरुद्ध थे। औरंगजेब को अवकाश नहीं था क्योंकि उसे फारस के हमले का डर था और उत्तर-पश्चिमी सीमा के युसुफजई और दूसरे कबीलो की भयानक क्रान्ति को दबाना था जिसके लिए उसे अपनी सेना की टुकड़ियाँ भेजनी पडी थीं। इन कारणो से शिवाजी लगभग तीन वर्ष तक चुपचाप रहे। कुछ मास बाद उन्होंने औरंगजेब को लिखा कि वह सम्राट की ओर से दक्षिण में युद्ध करने के लिए तैयार हैं। उन्होने जसवन्तसिंह को भी लिखा कि वह शम्भाजी को युवराज मुअज्जम की सेवा मे भेजने के लिए तैयार है, यदि वह (शिवाजी) सम्राट द्वारा क्षमा कर दिया जाय। औरंगजेब ने युवराज मुअज्जम द्वारा सन्धि के लिए की गयी सिफारिश को मानकर शिवाजी की 'राजा' की उपाधि को मान्यता दे दी।

शिवाजी ने १६६७-६९ ई० के तीन वर्ष राज्य को सुदृढ एवं सुव्यवस्थित करने में ही लगाये। उन्होंने बहुत अच्छे-अच्छे नियम बनाकर अपने शासन का फिर से संगठन किया जिससे उनकी सरकार दृढ हो गयी और जनता की अत्यधिक भलाई हुई। इन नियमों का वर्णन इस अध्याय के अन्त में किया जायेगा।

मुगलों के साथ पुन. युद्ध (१६७० ई०)

औरंगजेब का हृदय साफ नही था। उसे सन्देह था कि मुअज्जम शिवाजी का मित्र है अतः उसने शिवाजी को दुबारा जाल मे फँसाने की योजना बनायी। उसने निश्चय कर लिया कि यदि वह इस योजना मे असफल हुआ तो वह शम्भाजी को गिरफ्तार कर कैदी बनाकर रखेगा। अब शिवाजी और मुगलो का मैत्री सम्बन्ध टूट गया। इसके दो कारण थे—एक तो शिवाजी ने मुगलो की उस सेना को अपने यहाँ भरती कर लिया जिसे दक्षिणी मुगल सूबेदार ने आर्थिक संकट के कारण पृथक कर दिया था। दूसरे, औरगजेब शिवाजी की नयी जागीर के एक भाग को कुर्क करके उससे एक लाख रुपये वसूल करना चाहता था जो उसने उसे १६६६ ई० मे आगरा आने के लिए पेशगी दिया था। अतः शिवाजी ने अपनी फौज को मुगल सेवा से वापस बुलाकर मुगल प्रदेश पर चढाई की तैयारी कर दी। उसने पुरन्दर सन्धि के द्वारा सौपे गये अपने अनेक किले फिर जीत लिये। इन किलो मे सबसे महत्त्वपूर्ण किला कोडाना था जिसे तानाजी मलुसरे ने दीवार पर चढकर जीता था। तानाजी अपनी उज्ज्वल विजय मे यहाँ स्वर्गवासी हुए थे अतः शिवाजी ने फरवरी १६७० ई० में उन्ही के नाम पर इस दुर्ग का नाम 'सिंहगढ़' रख दिया। इसके बाद 'पुरन्दर' का पतन हुआ और फिर कल्याण, भिवण्डी, माहुली इत्यादि दूसरे दुर्गों का पतन होता गया। शिवाजी ने अपनी टुकडियो को मुगल प्रदेश के अनेक भागों को लूटने के लिए भेजा। अहमदनगर, जुन्नार और परेन्दा के निकट के ५१ गांवो को उन्होने स्वयं लूटा। मराठो की सफलता शिवाजी के साहस, सेना की योग्यता और शाहजादा मुअज्जम और दिलेरखाँ के मतभेद के कारण हुई थी। शाहजादा और दिलेरखाँ की कलह ने गृहयुद्ध का रूप धारण कर लिया जिसका लाभ उठाकर शिवाजी ने १३ अक्तूबर, १६७० ई० को सूरत पर द्रुतगति से धावा बोलकर उसे दुबारा लूट लिया। तीन दिन की लूट मे शिवाजी के हाथ लगभग ६६ लाख रुपये का माल लगा। देश के सबसे समृद्ध बन्दरगाह की बड़ी हानि हुई जिससे इसका व्यापार लगभग चौपट हो गया। दाऊदखाँ कुरैशी ने शिवाजी को सूरत से लौटने पर मार्ग में रोकना चाहा किन्तु मराठा सरदार ने लूट के सामान को चालाकी से सुरक्षित घर भेजकर दाऊदखाँ को हरा दिया।

इसके बाद शिवाजी ने बरार, बगलाना और खानदेश पर अचानक धावा बोलकर विजय प्राप्त की। दिसम्बर १६७० ई० में उन्होने खानदेश पर आक्रमण कर बगलाना जिले के कुछ किलो पर अधिकार कर लिया। उनके प्रधान सेनापति प्रतापराव गूजर ने बहादुरपुर को लूटकर बरार पर आक्रमण किया और करंजा नगर को लूट डाला। अब शिवाजी मुगलों के जिस प्रदेश से भी गुजरे उन्होने वही से चौथ वसूल करना आरम्भ कर दिया। उन्होने घोषणा कर दी कि महाराष्ट्र उनका है, मुगलो का नहीं। उन्होने पेशवा मोरोपन्त पिंगले को बगलाना भेजा और उसने त्रिम्बका और दूसरे किलो को जीतकर खानदेश और गुजरात की सीमा के सलहेर किले का

घेरा डाल लिया। शिवाजी ने भी इसमे भाग लिया और १५ जनवरी, १६७१ ई० को सलहेर जीत लिया गया।

शिवाजी के बिनाशकारी कार्यों से अत्यन्त क्रुद्ध औरगजेब ने महाबतखाँ को दक्खिन भेजा और उसकी सहायता के लिए गुजरात के बहादुरखाँ को भी आज्ञा दी। यह सेनापति भी मराठा सरदार के खदेड़ने में असफल रहा। अत सम्राट ने उसे वापस बुलाकर बहादुरशाह और दिलेरखाँ को दक्षिण के हमले का भार सौपा। इन दोनो ने सलहेर का घेरा डाला। कुछ टुकडियो को घेरा डाले रहने के लिए छोड़कर दोनो सेनापतियो ने पूना और सूपा पर तेजी से धावा बोलकर पूना को लूट लिया। शिवाजी ने तनिक भी न घबराकर खानदेश मे मुगलो पर ऐसी मार बजायी कि बहादुरखाँ को विवश होकर पूना से इखलासखाँ की सहायता के लिए दौड़ना पडा जो कि सलहेर किले पर बडी आपत्ति मे फँस गया था। सलहेर के भीषण युद्ध मे फरवरी १६७२ ई० मे मुगल बिलकुल खदेड दिये गये और सलहेर और मुलहेर पर मराठो का फिर अधिकार हो गया। औरगजेब सलेहर पर मुगल पराजय सुनकर बहुत दुखी हुआ और उसने बहादुरखाँ तथा दिलेरखाँ को बुरी तरह फटकारा।

सलहेर और मुलहेर पर अधिकार हो जाने के बाद पेशवा मोरोपन्त ने उत्तरी कोंकण पर अचानक आक्रमण किया और जून १६७२ ई० मे जवाहर और रामनगर को जीत लिया। शिवाजी के जन्म-स्थान शिवनेर को छोडकर बगलाना के लगभग सभी किले अब मराठो के अधिकार मे आ गये। बहादुरखाँ और दिलेरखाँ ने मराठा राज्य के विस्तार को रोकने का पूरा प्रयत्न किया। उन्होंने अपने प्रधान कार्यालय को औरंगाबाद से पूना की पूरब दिशा में भीमा नदी के किनारे पेंडगाँव मे बदल दिया और अपनी सुविधा के अड्डे से शिवाजी को भयभीत करने के लिए वहाँ बहादुरगढ़ नाम का किला बनवाया। किन्तु फिर भी उनके मसूबे पूरे न हो सके।

१६७२ ई० के अन्त मे शिवाजी और बीजापुर का पुन: सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। मराठा सरदार के लिए अपने दक्षिणी राज्यों की सुरक्षा के लिए पन्हाला दुर्ग पर अधिकार करना अनिवार्य हो गया था अत: उसने अन्नाजी दत्तो को इस पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। अन्नाजी ने कोंडाजी बावलेकर की सहायता से पन्हाला दुर्ग पर १६ मार्च, १६७३ ई० की रात्रि को आक्रमण पर दिया। मराठो ने रस्सी और सीढी की सहायता से दीवार पर चढकर दुर्ग का द्वार खोल दिया। तदुपरान्त उन्होंने रक्षकों पर आक्रमण किया और किलेदार बाबूखाँ को मारकर किले पर अधिकार कर लिया। यहाँ उन्हें बहुत-सा गडा हुआ खजाना मिला। सतारे और पारली की भी यही दशा हुई। सुल्तान ने पन्हाला को वापस लेने के लिए बहलोलखाँ के नेतृत्व मे एक शक्तिशाली सेना भेजी किन्तु मराठों के प्रधान सेनापति प्रतापराव गूजर ने उसकी रसद को रोककर उसे अपने जाल मे फँसा लिया। बहलोलखाँ ने हारकर शरण माँगी और वह मुक्त कर दिया गया। किन्तु उसने अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर मराठों पर आक्रमण कर दिया। शिवाजी ने अपने प्रधान सेनापति को बहलोलखाँ को बिना क्षति पहुँचाये

भाग जाने देने की अनुपयुक्त उदारता के लिए दण्ड दिया। प्रतापराव के स्वाभिमान को ठेस लगी अत उसने बहलोलखाँ को युद्ध के लिए ललकारा और उसे सुरक्षित स्थान के बाहर लाने के लिए हुबली नगर का लूट लिया। बहलोलखाँ और सरजाखाँ बीजापुर प्रदेश की रक्षा के लिए गये। प्रतापराव ने अपने केवल ६ सैनिकों के साथ उन पर आक्रमण किया और ५ मार्च, १६७४ ई० को गर्ग-हिंगलाज के पास नैसारी के तग दर्रे पर टूट पड़ा जो घटप्रभा नदी से एक मील उत्तर में था। शत्रु की विशाल सुसज्जित सेना ने उसके टुकडे-टुकडे कर डाले।

आनन्दराव सेनापति प्रतापराव का प्रधान सहायक था। उसने प्रतापराव की मृत्यु का बदला लेने के लिए तेजी से धावा बोलकर बहलोल की जागीर से प्रधान नगर सॉपगॉव को लूट लिया। इस लूट मे उसके हाथ डेढ लाख हून लगे। किन्तु बहलोलखाँ हाथ न आया। शिवाजी ने स्वर्गीय प्रतापराव गूजर के स्थान पर हमाजो मोहिते को प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त कर दिया।

शिवाजी का राज्याभिषेक (१६७४ ई०)

यद्यपि शिवाजी अपने राज्य का विस्तार कर एक स्वतन्त्र सम्राट के समान शासन करने लगे थे किन्तु बीजापुर का सुल्तान उन्हे अब भी विद्रोही ही समझ रहा था। मुगल सम्राट उन्हे एक सफल अनियमित सिंहासनाधिकारी मानता था और वश-परम्परा से प्रमुखता प्राप्त करने वाले अनेक मराठा परिवार उसे एक ऐसा नया अमीर मानते थे जिनके पूर्वज एक साधारण खेतिहर थे। शिवाजी ने अपने मन्त्रियो की सलाह से शास्त्रानुसार अपना राज्यभिषेक कर 'राजा' की उपाधि धारण करना आवश्यक समझा जिससे भारत की दूसरी सरकारें उनके अधिकार को मानकर उनके साथ समानता का व्यवहार करने लगें, उनकी आज्ञा और सन्धियों को कानूनी मान्यता दे दें और समाज के उन मराठा परिवारों मे उनकी प्रतिष्ठा बढ़ जाय जो उन्हे अब तक अपने से हीन अथवा अपने बराबर का समझते रहे थे। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र के विचारशील नेता हिन्दू छत्रपति की अधीनता मे हिन्दू स्वराज्य की स्थापना के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। अतः शिवाजी ने समारोह के साथ राज्याभिषेक का शास्त्रानुकूल महोत्सव करने का निश्चय कर लिया।

इसमे सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि शिवाजी क्षत्रिय न होने के कारण हिन्दू शास्त्रानुसार राज्याभिषेक के अधिकारी नही समझे जाते थे। महाराष्ट्र के कट्टर ब्राह्मण उनको क्षत्रिय नहीं मान रहे थे। शिवाजी ने काशी निवासी श्री विश्वेश्वरजी से राज्याभिषेक की विधि को सम्पन्न कराने की प्रार्थना की। श्री विश्वेश्वरजी गागभट्ट नाम से पुकारे जाते थे और काशी के पण्डितों में सबसे अधिक विद्वान और प्रसिद्ध पण्डित थे। गागभट्ट चारों वेद, षट्शास्त्र और अन्य समस्त हिन्दू धर्मशास्त्रों के विद्वान थे और आधुनिक युग के 'ब्रह्मदेव' और 'व्यास' माने जाते थे। इन्होंने शिवाजी की प्रार्थना स्वीकार कर उन्हे क्षत्रिय मान लिया और रायगढ़ मे आकर राज्याभिषेक कराना स्वीकार कर लिया। राज्याभिषेक की तैयारी शुरू हो गयी और इसके सम्बन्ध मे

शास्त्रों का मंथन करने के लिए अनेक विद्वान ब्राह्मण नियुक्त कर दिये गये। उदयपुर और आमेर के राज्यो के क्षत्रिय राजाओ के राज्याभिषेक की विधि को जानने के लिए बड़े-बडे विद्वान वहाँ भेजे गये। भारत के विभिन्न प्रान्तों के विद्वान ब्राह्मण निमन्त्रित किये गये और कुछ अनिमन्त्रित भी आ गये। इस समय ११,००० ब्राह्मण रायगढ में आये थे और इनके स्त्री-बच्चों को लेकर तो इनकी सख्या ५०,००० हो गयी थी। चार महीने तक इन सबका सत्कार मिठाइयों से होता रहा। भारत की लगभग सभी सरकारों के राजदूत और राज्य-प्रतिनिधियो के अतिरिक्त अंग्रेज व्यापारी तथा अन्य यूरोपीय व्यापारियो के प्रतिनिधियो ने भी इस महोत्सव मे भाग लिया। दर्शक एवं ब्राह्मणों तथा उनके परिवारों के सदस्यो को लेकर तो आगन्तुको की संख्या लगभग एक लाख हो गयी थी। जब गागभट्ट आये तो शिवाजी ने कई मील आगे से उनकी अगवानी की।

जब शिवाजी महाराष्ट्र के प्रसिद्ध मन्दिरो के दर्शन कर लौट आये, तब १६७४ ई० के मई के मध्य में राज्याभिषेक का कार्य आरम्भ हुआ। उन्होंने चिपलूण में परशुराम मन्दिर के और प्रतापगढ मे भवानी मन्दिर के दर्शन किये। इनके अतिरिक्त वे और भी पवित्र स्थानो मे गये जहाँ उन्होने बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की। उन्होने अब तक क्षत्रियो के आचरण का त्याग कर रखा था। इसके निमित्त उन्होने ७ जून को प्रायश्चित किया और गागभट्ट ने उन्हें यज्ञोपवीत पहनाया। ८ जून को उन्होंने अपनी जीवित पत्नियों के साथ क्षत्रिय विधि से पुनः विवाह किया। इस संस्कार मे क्षत्रिय को भी द्विज मानकर शिवाजी के गुरु तथा अन्य ब्राह्मणों ने वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया किन्तु शिवाजी को मन्त्रों का उच्चारण नही करने दिया गया। ब्राह्मणों ने कह दिया कि कलियुग मे ब्राह्मणों के अतिरिक्त और कोई द्विज नहीं है। दूसरे दिन शिवाजी ने जीवन में पाप-मोचन के लिए सात बार धातुओं से तुलादान किया। ये सात धातुएँ थीं—(१) सोना, (२) चाँदी, (३) ताँबा, (४) जस्ता, (५) टीन, (६) सीसा, और (७) लोहा। महीन सुन्दर वस्त्र और दूसरी अनेक वस्तुओं के साथ-साथ एक लाख हून भी ब्राह्मणों को दान में दिये गये। शिवाजी द्वारा देशो को लूटते समय ब्राह्मणों, गौ, स्त्री और बच्चो की हत्याएँ हुई थी अतएव इस पाप के प्रायश्चित्तस्वरूप भी उन्होने ब्राह्मणों को ८,००० रुपये दान मे दिये।

१५ जून, १६७४ ई० की रात्रि में शिवाजी संयम से रहे और उन्होने इस रात को कठिन तपस्या की। इस दिन गागभट्ट को ५,००० हून और दूसरे विद्वान ब्राह्मणों को सौ-सौ अशर्फियाँ दी गयी। १४ जून को राज्याभिषेक का शुभ मुहुर्त था। इस दिन शिवाजी ने बहुत तड़के उठकर अपने कुल-देवताओ की पूजा की और अपने कुल-गुरु बालभट्ट, गागभट्ट तथा अन्यान्य विद्वान ब्राह्मणों की चरण-वन्दना कर उन्हें वस्त्र और आभूषण भेंट किये। दूसरे दिन वे पवित्र श्वेत वस्त्र पहन अलंकारों से सुसज्जित होकर सोने की चौकी पर विराजमान हुए। उनकी बायीं ओर उनकी रानी सुशोभित थीं जिनका आँचल शिवाजी के दुपट्टे से बाँध दिया गया था। उनके कुछ दूर पीछे

युवराज शम्भाजी बैठे। सोने के आठ घडों मे पवित्र नदियो का जल भरा गया जिन्हें लेकर आठ मन्त्री आठ कोनों पर खड़े हुए और फिर उन्होने इस जल को शिवाजी, उनकी रानी और युवराज के सिरो पर डाला। इस समय मन्त्र और मंगल-वाद्यों से आकाश गूँज गया। फिर सोलह सधवा ब्राह्मणियों ने सोने की थालियो में पंच-प्रदीप लेकर हिन्दू शास्त्रानुसार उनकी आरती उतारी। तत्पश्चात शिवाजी ने अपने वस्त्र उतारकर राजसी लाल वस्त्र एवं बहुमूल्य आभूषण धारण कर लिये। उन्होने फिर अपने शस्त्रों की पूजा की और अपने गुरुजनों का अभिवादन किया। फिर वे अत्यन्त सुसज्जित सिंहासन-भवन में गये और वेद-मन्त्र, मगल-गान तथा वाद्यों के उच्चारण के साथ सिंहासन पर बैठे। सोलह सधवा ब्राह्मणियों ने उनकी आरती उतारी और विद्वान ब्राह्मणों ने मन्त्रों से उन्हे आशीर्वाद दिया। गागभट्ट ने शिवाजी महाराज के ऊपर राजकीय छत्र लगाकर उन्हे 'छत्रपति' की उपाधि से विभूषित किया। राज्य के सब किलो मे निश्चित समय पर एक साथ सलामी की तोपें छूटी। इस अवसर पर शिवाजी ने ब्राह्मणो, प्रजा और भिखारियों में बहुत-सा धन बाँटा।

राज्याभिषेक के उपरान्त शिवाजी ने फरमान निकाले और आगन्तुकों से मुलाकात की। उन्होने उनकी भेटें स्वीकार कर उन्हें राजकीय सम्मानों से विभूषित किया। इसके बाद वे अपने सर्वोत्तम घोड़े पर चढ़कर किले के द्वार पर आये। यहाँ वे घोड़े से उतरकर हाथी पर चढ़े और अपनी तमाम सेना, सेनापति और मन्त्रियों के साथ राजधानी की गलियों में जुलूस के साथ में निकले। जुलूस के आगे दो हाथियों पर राजकीय झण्डा फहरा रहा था।

निश्चलपुरी गोस्वामी नाम का एक प्रसिद्ध तान्त्रिक शिवाजी का पुरोहित था। इसने बताया कि गागभट्ट ने जो राज्यभिषेक कराया वह अशुभ मुहूर्त में हुआ था और उसमें तान्त्रिक विधि को छोड़ दिया गया था। उसने यह भी बताया कि इसी कारण माता जीजाबाई का देहान्त राज्याभिषेक के दिन से बारह दिन के भीतर ही हो गया और शिवाजी पर अनेक आपत्तियाँ आयीं। शिवाजी ने इसी तान्त्रिक की सलाह से ४ अक्तूबर, १६७४ ई० को अपने राज्याभिषेक का दूसरा समारोह तान्त्रिक विधि से मनाया। इसमें निश्चलपुरी और उसके मित्रों को अच्छी-अच्छी भेटें दी गयीं। इन दोनों राज्याभिषेकों में लगभग ५० लाख रुपये का व्यय हुआ।

मुगलों से पुनः युद्ध

राज्याभिषेक की धूमधाम मे शिवाजी का खजाना लगभग खाली हो गया और उन्हें धन की आवश्यकता आ पड़ी। अतः उन्होंने जुलाई में मुगल सेनापति बहादुरखाँ को चकमा देने के लिए अपनी सेना भेजी जिसे रोकने के लिए उसे अपने प्रधान स्थान पैडगाँव को छोड़ना पड़ा। तत्पश्चात शिवाजी ने दूसरी सेना भेजकर उसके शिविर पर धावा बुलवा दिया। यह धावा बहुत सफल रहा। इस लूट में एक करोड़ रुपये के साथ-साथ दो सौ बढ़िया घोड़े भी शिवाजी के हाथ लगे। इस रुपये से शिवाजी ने अपनी सेना का वेतन चुका दिया।

बीजापुर के साथ कोई भी सन्धि नही हुई। अतः शिवाजी ने बीजापुर के कोली प्रदेश पर बरसात मे आक्रमण करने के अपनी सेना भेजी। सूरत के आस-पास मराठों का जमाव होने लगा जिसके कारण इस बन्दरगाह मे सनसनी मच गयी और यह खतरा तभी टला जब मराठा सेना औरगाबाद के पास शिवाजी की सेना में मिल गयी। उसने फिर बगलाना और खानदेश पर आक्रमण कर मुगल हाकिम कुतुबुद्दीनखाँ खेशगी को हराकर अनेक शहरो को लूट लिया। फरवरी १६७५ ई० के आरम्भ मे मराठो ने कोल्हापुर पर आक्रमण किया। वहाँ के निवासियो ने १,५०० हून मराठो को देकर नगर की रक्षा की।

१६७५ ई० में मार्च से मई माह तक शिवाजी ने बहादुरखाँ से सन्धि की बातचीत की किन्तु इसका परिणाम कुछ भी नही निकला। शिवाजी वास्तव मे सन्धि न कर उसे चकमा ही देना चाहता था अत: असमंजस मे पड़े हुए बहादुरखाँ ने बीजापुर से समझौता कर शिवाजी पर मिलकर आक्रमण करने का विचार किया। औरगजेब इस सलाह से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने इसकी स्वीकृति ही नहीं दी अपितु बीजापुर का एक साल का कर भी माफ कर देने का वचन दिया। किन्तु बीजापुर दरबार मे मतभेद हो जाने के कारण और वहाँ के मन्त्री खवासखाँ के पतन के कारण यह हमला न हो सका। शिवाजी ने अपने हमले के काम को जारी रखा और कोल्हापुर पर अधिकार कर लिया। उसकी सेना की एक टुकड़ी ने बीजापुर और गोलकुण्डा के प्रदेशो तथा हैदराबाद नगर पर आक्रमण किया जिसमें उसके हाथ अच्छा माल लगा। मराठों की कुछ टुकड़ियों ने पुर्तगाली प्रदेश के बरोदा तथा अन्य स्थानों पर भी हमला किया। इस बीच में बहादुरखाँ चुपचाप नहीं बैठा रहा। उसने १६७६ ई० के आरम्भ में कल्याण पर हमला किया किन्तु शिवाजी के बहुत बीमार होने पर भी वह सफल न हो सका। स्वस्थ होने पर शिवाजी ने बीजापुर से सन्धि की पुनः बातचीत की। इस समय बहादुरखाँ ने बीजापुर पर आक्रमण कर रखा था अत: वह शिवाजी के साथ सन्धि करने को तैयार हो गया। उसने शिवाजी को तीन लाख रुपये नकद और एक लाख हून सालाना कर देना स्वीकार किया जिसके बदले में शिवाजी ने मुगलों से उनकी रक्षा करने का वचन दे दिया। इसके अतिरिक्त उसने शिवाजी द्वारा अधिकृत अपने कृष्णा नदी का पूरबी प्रदेश और कोल्हापुर जिला भी उन्हें देना स्वीकार कर लिया। किन्तु शिवाजी और बीजापुर का समझौता स्थायी न रह सका क्योंकि बीजा-पुर राज्य का पतन हो रहा था जिसके कारण उसकी कोई भी नीति दृढ़ नहीं थी।

शिवाजी का कर्नाटक पर आक्रमण (१६७७-७८ ई०)

शिवाजी ने जनवरी १६७७ ई० में अपने जीवन के सबसे बड़े आक्रमण की तैयारी की और यह आक्रमण पूरबी कर्नाटक पर किया गया। मुगलों ने उत्तर में उनका मार्ग रोक दिया था अतः उन्हें दक्षिण में अपने प्रदेश बढ़ाने की अच्छी सुविधा मिल गयी। कर्नाटक का मैदान मद्रास का समुद्री तट बड़ा समृद्ध था और गड़े हुए खजाने के लिए प्रसिद्ध था। इसे गोलकुण्डा और बीजापुर के सुल्तानों ने हथिया लिया था। गोलकुण्डा

के सुल्तान ने कडापा और उत्तरी अर्काट जिला (पलार नदी तक) तक शिकाकोल से सद्राज बन्दर तक मद्रास के समुद्रतट का सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया था। इसके विपरीत बीजापुर के सुल्तान ने कारनूल जिला, बंगलौर के उत्तर का समस्त मैसूर पठार और तजौर के समीप के वैलोर प्रदेश पर कब्जा कर लिया था। शिवाजी का अनुमान था कि वे बडी सफलता से कर्नाटक के स्वामी बनकर इस समृद्ध प्रदेश को और इसके वैलोर, जिजी और तजौर नगरो को अपने राज्य मे मिला सकते हैं। इस पर आक्रमण करने का उन्हें एक बहाना भी सरलता से मिल गया। शिवाजी का सौतेला भाई व्यंकोजी बीजापुर का एक आसामी था किन्तु मार्च १६७५ ई० में यह तंजौर का स्वामी बन बैठा था। व्यंकोजी शिवाजी की सफलता के कारण उससे जला करता था अतः वह अपनी सत्ता को विलीन करने को तैयार नहीं था। उसने अपने शक्तिशाली मन्त्री रघुनाथ पन्त हनुमन्ते से झगड़ा कर उसे पृथक कर दिया। रघुनाथ पन्त गोलकुण्डा के प्रसिद्ध हिन्दू प्रधानमन्त्री मदन्ना से जा मिला। उसने कर्नाटक पर शिवाजी और गोलकुण्डा के सम्मिलित आक्रमण की योजना बनायी। शिवाजी ने हमले की तैयारी कर दी; किन्तु दुनिया को यह भर दिखाया कि वह अपने सौतेले भाई से अपने पिता की सम्पत्ति का हिस्सा लेने जा रहा है। हमला करने से पूर्व शिवाजी ने अपने राज्य के आसपास के प्रदेश को सुरक्षित रखने के लिए दक्खिन के सूबेदार बहादुरखाँ को लालच देकर सन्धि के लिए राजी कर लिया। शिवाजी ने नेताजी पालकर को भी अपने पक्ष में कर लिया। इसको औरंगजेब ने जबरदस्ती मुसलमान बनाया था और इसने दस वर्ष तक मुहम्मदकुली नाम से उसकी सेवा भी की थी। शिवाजी ने जून १६७६ ई० में इसे शुद्ध कर हिन्दू बना लिया। तैयारी हो जाने पर शिवाजी ने जनवरी १६७७ ई० मे रायगढ़ से हैदराबाद के लिए कूच किया। यहाँ के प्रधानमन्त्री मदन्ना ने कई मील पूर्व शिवाजी का स्वागत किया और नगर में उनका एक बड़ा भारी जुलूस निकाला। सुल्तान ने आगे बढ़कर शिवाजी को गले लगाया और शाही मसनद पर अपनी बगल मे बिठाया। दक्षिणी प्रदेशों पर आक्रमण करने का एक मसौदा तैयार हुआ, जिसकी शर्तें इस प्रकार थीं :

(१) सुल्तान को मराठा सेना के व्यय के लिए साढ़े चार लाख रुपये प्रति मास देना होगा।

(२) उसे हमले में शामिल होने के लिए मिर्जा मुहम्मद के नेतृत्व में ५,००० सैनिक रखने होंगे।

(३) जीते हुए प्रदेशों को दोनों पक्ष बराबर बाँट लेंगे।

(४) यदि मुगलों ने किसी पर भी हमला किया तो दोनों मिलकर उसका मुकाबला करेंगे।

(५) शिवाजी का एक राज-प्रतिनिधि हैदराबाद में स्थायी रूप से रहेगा।

(६) शिवाजी सुल्तान को एक लाख हून सलाना कर के रूप में देता रहेगा। शिवाजी ने बीजापुरी कर्नाटक पर अपनी सेना पहले से भेजकर मार्च के अन्त

में हैदराबाद से वहाँ के लिए कूच कर दिया। उसने मार्ग में अनेक तीर्थों के दर्शन किये और कुरनूल में चौथ वसूल की। बीजापुर के जिंजी किले पर अधिकार करने के लिए ५,००० सिपाहियों की एक फौजी टुकडी भेजी गयी। इस किले के किलेदार नासिर मुहम्मदखाँ ने शिवाजी से ५,००० रुपये की वार्षिक आय की जागीर लेकर किले को उनके सुपुर्द कर दिया। शिवाजी ने किले का निरीक्षण कर उसे अपनी कर्नाटक सरकार की राजधानी बना दिया। उन्होंने यहाँ की राज्य-कर प्रणाली मे भी सुधार किया। इसके बाद उन्होंने वेलूर किले का घेरा डाल दिया। वेलूर का किला जल्दी ही जीतने योग्य नहीं था। अतः शिवाजी ने इसकी विजय का भार तो अपने आदमियों पर छोड़ा और आप कर्नाटक के उस भाग के स्वामी शेरखाँ लोदी पर आक्रमण करने के लिए चले गये। शेरखाँ लोदी ने इसके लिए पाण्डुचेरी के फ्रांसीसियों की भी मदद माँगी थी किन्तु उसे हारकर शरण में आना पडा। उसने १५ जुलाई, १६७७ ई० को शिवाजी से मुलाकात कर २०,००० हून युद्ध के व्ययस्वरूप भेंट किये, अपने सारे प्रदेश को शिवाजी को सौप दिया और बाकी रुपये के न देने तक अपने पुत्र को जामिन के रूप मे रख दिया। उसने १ फरवरी, १६७८ ई० को अपना बाकी रुपया चुका दिया जिससे उसके पुत्र को उसके पास चले जाने की आज्ञा मिल गयी। इसी वर्ष की जुलाई के अन्त मे वेलूर दुर्ग भी जीत लिया गया और मदुरा का नायक कर के रूप में ६ लाख हून देने को राजी हो गया। तुंगभद्रा से लेकर कावेरी तक का कर्नाटक का समुद्री प्रदेश शिवाजी के अधिकार मे आ गया। शिवाजी ने फौजी एवं नागरिक शासन-प्रणाली को नियमित रूप से चलाने के लिए उसमें बड़ी शीघ्रता से सुधार किया और हाल के जीते हुए देशो की सुरक्षा के लिए रक्षक दलों की स्थापना की। यह सब करने के बाद शिवाजी शानदार विजय के साथ स्वदश लौट आये।

व्यंकोजी के साथ आखिरी निपटारा

जुलाई १६७८ ई० मे मैसूर और पूरबी कर्नाटक के अधिकारी तथा शिवाजी के सौतेले भाई व्यंकोजी शिवाजी से मिले और दोनों भाइयों ने एक सप्ताह साथ-साथ बिताया। किन्तु व्यंकोजी को शिवाजी की ओर से कुछ सन्देह हो गया अतः वह तंजौर को भाग गया। सम्भवतः स्वयं शिवाजी तो अपनी पैतृक सम्पत्ति में भाग माँगने के लिए उत्सुक न थे किन्तु व्यंकोजी के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री रघुनाथ पन्त हनुमन्ते के उकसाने पर उन्होंने व्यंकोजी से शाहजी के आधे प्रदेश उससे माँगे। व्यंकोजी ने ...पूर्ण भाषा में अपने आपको सुल्तान का आज्ञाकारी बताते हुए उसकी आज्ञा के अनुसार ही काम करने का मत प्रकट किया परन्तु इसके परिणामस्वरूप दोनों में मनमुटाव हो गया और व्यंकोजी ने अपनी रक्षा के लिए मदुरा और मैसूर के राजाओं की शरण माँगी। उसने बीजापुर से भी सहायता चाही किन्तु राज्य के पतनोन्मुख होने के कारण बीजापुर ने शिवाजी से लड़ाई मोल लेना उचित न समझकर उसकी सहायता नहीं की। शिवाजी ने अन्य उपाय न देखकर व्यंकोजी के कावेरी के उत्तरी प्रदेश के साथ-साथ उसके अर्नी, कोलार, होसकोटे, बंगलौर, बालापुर और शीरा जिलों

को छीन लिया और उनकी देखरेख के लिए सूबेदार नियुक्त कर दिया। शिवाजी के महाराष्ट्र लौट आने पर व्यकोजी ने शिवाजी के सूबेदार हम्मीरराव मोहिते पर धावा बोल दिया किन्तु वह हार गया। शिवाजी ने एक पत्र लिखकर उसे फटकारा और बीजापुर के मुसलमानो के हाथ न खेलने के लिए चेतावनी भी दी। अन्त मे रघुनाथ पन्त के सद्प्रयत्नो से दोनो भाइयो मे मित्रतापूर्ण समझौता हो गया। शिवाजी ने व्यकोजी के लगभग सभी प्रदेशो को लौटा दिया किन्तु शर्त यह लगा दी कि वह बीजापुर सुल्तान की राजभक्ति को छोडकर उनका आसामी होना स्वीकार कर लेगा। रघुनाथ पन्त को एक लाख हून की आय की जागीर वंश-परम्परागत उपयोग के लिए इनाम मे दी गयी। यद्यपि व्यकोजी को अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण बहुत खला किन्तु उसने तंजौर का शासन बडी उदारता और सफलता के साथ किया।

शिवाजी को कर्नाटक मे फँसा हुआ देख मुगल सूबेदार बहादुरखाँ ने बीजापुर पर आक्रमण किया किन्तु उसे हारकर भागना पडा। औरंगजेब ने उसे धिक्कारा और पदच्युत कर दिया तथा १ अगस्त, १६७७ ई० को दिलेरखाँ को दक्खिन का प्रधान सूबेदार नियुक्त किया। दिलेरखाँ ने गोलकुण्डा पर धावा बोल दिया क्योकि उसने शिवाजी के साथ समझौता कर लिया था। इस समाचार को सुनकर शिवाजी को अपने राज्य पर मुगलो के आक्रमण का भय हो गया अत वे कर्नाटक का प्रबन्ध अपने आदमियो के हाथ में सौपकर वहाँ से अपनी राजधानी को लौट आये। शिवाजी ने पन्हाला से तंजौर तक एक दृढ रक्षा-पंक्ति स्थापित की। मार्ग मे बेलगाँव से दक्षिण-पूरब मे स्थित छोटे बेलवाडी नामक गाँव की देसाई सावित्रीबाई ने उनका मुकाबला किया किन्तु शिवाजी ने इस गाँव को अपने अधिकार मे ले लिया।

शिवाजी जब तक कर्नाटक में रहे तब तक अन्नाजी दत्तो और मोरोपन्त पिंगले पश्चिमी समुद्रतट पर दक्षिण और उत्तर की ओर मराठा राज्य का विस्तार करते रहे। उन्होंने भड़ौच को भी लूट लिया।

शिवाजी और जंजीरा के सिद्दी लोग

शिवाजी की उत्कट इच्छा थी कि समुद्र की ओर राज्य की पश्चिमी सीमा का विस्तार किया जाय जिससे मजबूत जहाजी बेड़े द्वारा देश की सुरक्षा के साथ विदेशों से व्यापार भी हो सके। बम्बई के दक्षिण मे पश्चिमी समुद्रतट पर थाना से लेकर रत्नागिरि तक कोंकण प्रदेश फैला हुआ था। शिवाजी का प्रारम्भिक जीवन यहीं से आरम्भ हुआ था। १६७५ ई० में उन्होंने गोआ के दक्षिण में बीजापुर राज्य के पोंडा और कारवार के समुद्री अड्डों पर अधिकार कर लिया और पड़ोसी सोन्धा को भी अपने राज्य में मिला लिया। कोलाबा से मलवान तक का पश्चिमी समुद्रतट तथा कोलाबा, सुवर्ण दुर्ग, विजय दुर्ग और सिन्दु दुर्ग के सुरक्षित अड्डे तो उनके अधिकार में पहले ही आ गये थे। उन्होने अपने समुद्री प्रदेशों को दो गवर्नरों के अधिकार में रखा। राजपुरी से मलवान तक का प्रदेश एक हाकिम के अधिकार मे और मलवान से धारवार तक दूसरे के अधिकार में। किन्तु इन दोनों प्रदेशों के बीच में आये हुए

चौल और जंजीरा विदेशियो के ही अधिकार मे रहे। इसी प्रकार पुर्तगालियो के गोआ पर भी अधिकार नही किया जा सका।

बम्बई से ४५ मील दक्षिण में जंजीरा नाम का एक पथरीला द्वीप था। यह राजपुरी खाडी के मुहाने को घेरे हुए था। सिद्दी नाम के एक प्रसिद्ध हब्शी परिवार का इस पर अधिकार था। पहले यह अहमदनगर के सुल्तान के अधिकार में था किन्तु अहमदनगर राज्य के विभाजन के बाद १६३६ ई० मे यह बीजापुर को मिल गया था। सिद्दियो के अधिकार मे वर्तमान कोलाबा जिले का बहुत-सा भाग था। इनका प्रधान स्थान डाण्डा-राजपुरी कस्बा था और इनके पास एक शक्तिशाली जहाजी बेडा था। जब शिवाजी ने कोकण प्रदेश के बहुत बडे भाग पर विजय कर ली तब उनकी इन सिद्दियो से मुठभेड हुई। इस मुठभेड का होना आवश्यक ही था क्योंकि कोकण प्रदेश का कोई भी शासक तब तक सुरक्षित नही रह सकता था जब तक वह पश्चिमी समुद्रतट पर और जजीरा द्वीप पर अधिकार न कर ले। सिद्दियो के लिए भी इस समुद्रतट की भूमि पर अधिकार रखना जीवन-मरण का प्रश्न था, क्योकि यही भूमि उनके भोजन और आय का साधन थी। सिद्दी समुद्र के वीर थे और शिवाजी स्थल-युद्ध मे अजेय थे। उन्होने सिद्दियो को हराकर डाण्डा-राजपुरी पर अधिकार कर लिया। शिवाजी ने जजीरा के महत्त्व को समझकर उस पर आक्रमण किया और सात सौ जहाजों का एक मजबूत जहाजी बेड़ा बनवाया जिसमे सब तरह के छोटे-बड़े जहाज थे और चार सौ तो केवल जगी जहाज थे। यह बेडा दो भागो में विभक्त था और दरिया सारग नाम के समुद्री सेनानायक के अधिकार मे था। १६६९ ई० में शिवाजी ने सिद्दियों पर जो हमला किया उससे वे तिलमिला गये। उनका नेता फतेहखाँ तो इतना निराश हो गया कि उसने मराठा ---- से सन्धि करने का निश्चय कर लिया। उसने उसे जजीरा सौंपकर उससे समुद्रतट की जागीर लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। किन्तु उसके दो साथियों ने १६७१ ई० में औरंगजेब की राजभक्ति स्वीकार कर फतेहखाँ का विरोध किया। औरंगजेब ने सिद्दी सम्बल को समुद्री सेनानायक (एडमिरल) नियुक्त किया और उसे तीन लाख रुपये की वार्षिक आय की जागीर प्रदान की। उसने सिद्दी कासिम को जंजीरा का अधिकारी बनाया परन्तु इसने फरवरी १६७१ ई० में अचानक हमला कर डाण्डा दुर्ग तथा कोलाबा जिले के कई किले वापस छीन लिये। शिवाजी ने डाण्डा के लेने के अनेक प्रयत्न किये किन्तु सदा असफल रहे। यद्यपि ---होंने १६७५ ई० तक कोंकण प्रदेश के सारे समुद्री तट पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया और सिद्दी तथा मराठो मे निरन्तर युद्ध भी होता रहा किन्तु न तो शिवाजी जीवन के अन्त तक जंजीरा पर विजय पा सके और न ही उनका पुत्र शम्भाजी।

शम्भाजी का परित्याग

शिवाजी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र शम्भाजी का पालन-पोषण भलीभाँति किया था और उसको उचित सैनिक-शिक्षा भी दी थी किन्तु फिर भी वह दुराचारी हो गया

राजकुमार के चाल-चलन मे कोई अन्तर नही देखा तब वे उसे पन्हाला मे नजरबन्द कर स्वयं सन्त रामदास का सत्सग करने के लिए सज्जनगढ चले गये ।

शिवाजी की मृत्यु (अप्रैल १६८० ई०)

शिवाजी के अन्तिम दिन चिन्ता में बीते । शम्भाजी के परित्याग की उनके दिल पर गहरी चोट लगी थी और उन्हे अपने राज्य के भविष्य के सम्बन्ध मे घोर निराशा हो गयी, क्योंकि राज्य का उत्तराधिकारी दुराचारी हो गया था और दूसरा राजकुमार राजाराम अभी दस वर्ष का बच्चा ही था । उसकी पटरानी सोयराबाई शम्भाजी को अधिकार से वचित कर अपने पुत्र राजाराम को उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी । मोरोपन्त पिंगले और अन्नाजी दत्तो दोनो मराठा मन्त्री आपस मे झगड़ रहे थे । इन परिस्थितियो मे शिवाजी को मराठा राज्य के भविष्य के सम्बन्ध मे घोर निराशा हुई । उन्होने गुरु रामदास से इस विषय मे सलाह ली किन्तु कोई हल न निकला । फिर उन्होने १४ फरवरी, १६८० ई० को रायगढ जाकर राजाराम का यज्ञोपवीत और विवाह किया । वे २ अप्रैल को बीमार पडे और १३ अप्रैल को स्वर्गवासी हो गये ।

शिवाजी का राज्य-विस्तार

शिवाजी का राज्य उनकी मृत्यु के समय पुर्तगाली प्रदेश को छोड़कर उत्तर में रामनगर (वर्तमान धर्मपुर) से दक्षिण मे कारवार तक फैला हुआ था । पूरब मे इसमे बगलाना, आधा नासिक, पूना के जिले, सारा सतारा और कोल्हापुर का बहुत-सा भाग शामिल था । ये सब प्रदेश उसके स्वराज्य के रूप मे थे । उक्त प्रदेश के अतिरिक्त बेलारी जिले के दूसरी ओर बेलगाँव से तुंगभद्रा नदी के किनारे पश्चिमी कर्नाटक को भी उन्होने जीत लिया था । यह सारा प्रदेश तीन भागो में बँटा हुआ था और तीन सूबेदारों के अधिकार में था । इसके अतिरिक्त शिवाजी ने तुंगभद्रा नदी के तटवर्ती कोपल से लेकर वेलूर और जिंजी तक के प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था । इसमें वर्तमान मैसूर राज्य के उत्तरी, मध्यवर्ती और पूरबी भाग बेलारी जिले के कुछ भाग; चित्तौर और अर्काट भी सम्मिलित थे । इनके अतिरिक्त उन्होने अस्थायी रूप से कनारा प्रदेश को भी जीता जिसमें सोन्धा, बेदनौर और धारवार का दक्षिणी भाग शामिल था ।

इन प्रदेशों के अतिरिक्त दक्खिन का बहुत बड़ा क्षेत्र उनके प्रभाव में था यद्यपि वह उनके राज्य में शामिल नहीं था । इस क्षेत्र में मुगलों का दक्षिणी प्रदेश शामिल था जहाँ शिवाजी ने मालगुजारी के चौथे हिस्से के रूप मे चौथ लगा रखी थी ।

शिवाजी के राज्य मे २४० किले थे और सात करोड़ की मालगुजारी की आय थी किन्तु वास्तव में वसूली लगभग एक करोड की ही होती थी ।

शासन-प्रबन्ध

मध्यकालीन रीति के अनुसार शिवाजी एक निरंकुश शासक थे और सारी शक्ति अपने ही हाथ में रखते थे । किन्तु वे प्रजा का कल्याण चाहते थे अतः उन्हें हम

दयालु निरकुश शासक कह सकते हैं। उन्होने शासन-प्रबन्ध मे सहायता देने के लिए आठ मन्त्री रख छोडे थे। इन मन्त्रियो की आजकल जैसी समिति तो नही थी क्योंकि वे केवल शिवाजी के प्रति ही उत्तरदायी थे। शिवाजी उन्हे रखते या निकालने को पूर्ण स्वतन्त्र थे। किन्तु उन्होने मन्त्रियो के हाथ में बहुत-सा काम सौप रखा था और केवल राज्य की नीति-निर्धारण को छोडकर वे उनके काम मे बहुत कम दखल देते थे। किन्तु मन्त्रियो का काम केवल सलाह देना मात्र था। मन्त्रियो मे पेशवा का अधिक मान था और वह राजा का अधिक विश्वासपात्र था किन्तु अपने साथियो मे उसकी प्रमुखता न थी।

ये मन्त्री अष्टप्रधान कहलाते थे। वे इस प्रकार थे—(१) प्रधानमन्त्री अथवा पेशवा—यह मुख्य प्रधान कहलाता था। उस पर राज्य के सभी मामलो की देखभाल और प्रजा के हित का उत्तरदायित्व था। अतः सब अफसरो पर नियन्त्रण रखना और राजकाज को सुविधापूर्वक चलाना उसका मुख्य कर्तव्य था। राजा की अनुपस्थिति में वह राजा की ओर से काम करता था और तमाम राजकीय-पत्रो एव सन्देशो पर राजा की मुहर के नीचे अपनी मुहर लगाता था।

(२) हिसाब जाँचने वाला (ऑडीटर) मजमुआदार या अमात्य—इसका काम आय-व्यय के सब लेखों की जाँच कर उन पर हस्ताक्षर करना था, चाहे वे सारे राज्य से सम्बन्ध रखते हो अथवा किसी विशेष जिले के हो।

(३) मन्त्री का वाकयानवीस—यह राजा के दैनिक-कार्यो को लिखता था। गुप्त रूप से कोई राजा की हत्या न कर दे इसलिए उसके मिलने वालो की सूची तैयार करता था और उसके खाने-पीने की चीजों पर सतर्क दृष्टि रखता था।

(४) शुरू नवीस या सचिव—इसका काम तमाम राजकीय-पत्रों को पढ़कर उसकी भाषा-शैली को देखना था। परगनों के हिसाब की जाँच भी इसी के जिम्मे थी।

(५) विदेश-मन्त्री, दबीर या सुमन्त—यह विदेशों से सम्बन्ध रखने वाले मसलों और सन्धि-विग्रह के प्रश्नो पर राजा को सलाह देता था। यह विदेशी राजदूत और प्रतिनिधियों की देखरेख करता था और गुप्तचरों द्वारा दूसरे राज्यों की गुप्त खबरें मँगवाता था।

(६) सरे-नौबत या सेनापति—इसका काम सेना की भरती, संगठन और अनुशासन रखना था। युद्ध क्षेत्र मे सेना की तैनाती करना भी इसी का काम था।

(७) सदर मुहतसिब या पण्डित राव या दानाध्यक्ष—इसका मुख्य काम धार्मिक कृत्यों की तिथि निश्चित करना, पापाचार और धर्म-भ्रष्टता के लिए दण्ड देना तथा ब्राह्मणों में दान बँटवाना था। धर्म एवं जाति सम्बन्धी झगडों को निपटाना और प्रजा के आचरण को सुधारना भी इसी का काम था।

(८) न्यायाधीश—यह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था। सैनिक व असैनिक न्याय करना और भूमि-अधिकार तथा गाँव की मुखियागीरी आदि के निर्णयों पर अमल करना इसका काम था।

दानाध्यक्ष और न्यायाधीश को छोड़कर अन्य सब मन्त्रियों को समय-समय पर फौज का नेता बनकर लड़ाई मे जाना पडता था। तमाम राजकीय-पत्रो, फरमानो और सन्धिपत्रो पर पहले राजा की और फिर पेशवा की मोहर लगती थी और सबसे नीचे अमात्य, मन्त्री, सचिव और सुमन्त इन चार प्रधानो के हस्ताक्षर होते थे।

स्थानीय शासन

शिवाजी का राज्य चार प्रान्तो मे बँटा हुआ था। प्रत्येक प्रान्त एक वाइसराय के अधिकार मे था। उत्तरी प्रान्त—जिनमें डाँग, बगलाना, कोली प्रदेश, दक्षिणी सूरत, कोकण, उत्तरी बम्बई और पूना की ओर का दक्षिणी पठार (देश) शामिल था, मोरो त्रिम्बक पिंगले के अधिकार मे था। दूसरा दक्षिणी प्रान्त जिसमे कोंकण, दक्षिणी बम्बई, सावन्तवाडी और उत्तरी कनारा का समुद्रतट सम्मिलित था अन्नाजी दत्तो के शासन मे था। तीसरा दक्षिणी-पूरबी प्रान्त जिसमे दक्षिणी पठार के सतारा और कोल्हापुर जिले और कर्नाटक मे तुगभद्रा के पश्चिम मे बेलगाँव, धारवार और कोपल जिले थे, दत्तोजी पन्त के अधिकार मे था। चौथे प्रान्त मे हाल के जीते हुए देश थे जिनमे तुगभद्रा की दूसरी ओर कोपल से वेलूर और जिंजी अर्थात वर्तमान मैसूर राज्य का उत्तरी, मध्यवर्ती और पूरबी भाग, बेलारी के मद्रासी जिले, चित्तूर और अर्काट सम्मिलित थे। इसको हम अव्यवस्थित प्रान्त कह सकते हैं क्योकि यह नया-नया जीता गया था और पेशेवर सेना के अधिकार मे था।

इन प्रान्तों के अतिरिक्त शिवाजी ने कनारा का पहाडी प्रदेश, दक्षिणी धारवार जिला और सोन्धा तथा वेदनौर राज्यों को भी लगभग जीत लिया था। शिवाजी की मृत्यु के समय यह प्रदेश वास्तव में शिवाजी के अधिकार में नहीं था किन्तु उनके आधिपत्य में रहने के कारण उन्हें कर देता था। प्रत्येक प्रान्त कई परगनों में विभक्त था। हर परगना एक फौजी अफसर के अधिकार में रहा होगा किन्तु हमारे पास इसे जानने का कोई साधन नही है।

सेना

शिवाजी की सेना का संगठन और अनुशासन बहुत अच्छा था। उनकी मृत्यु के समय उनकी सेना में ४५,००० पागा और ६०,००० सिलेदार घुड़सवार और एक लाख मावले सिपाही थे। उन्होने अपनी घुड़सालो में ३२,००० घोड़े छोड़े थे। इनके अतिरिक्त ५,००० घोड़े और भी थे जो बरगीरों को दे दिये गये थे। उनके हाथियों की संख्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई १,२६० बताता है, कोई १२५ और कोई ३००। इनमें से अन्तिम संख्या ही ठीक प्रतीत होती है।

सेना का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग राजकीय घुड़सवारों का प्रसिद्ध पागा होता था। पच्चीस साधारण सैनिकों (बरगीर) के ऊपर एक हवलदार होता था। हर पाँच हवलदारों पर एक जमादार होता था और हर दस जमादरों पर अर्थात १,२५० सिपाहियों पर एकहजारी होता था। पागा में सबसे बड़ा पद पाँचहजारी होता

था और सारी पागा अश्व सेना पर सरेनौबत (कमाण्डर-इन-चीफ) होता था। हर पच्चीस घुड़सवारो के लिए एक भिश्ती और एक नालबन्द दिया जाता था।

सिलेदार घुड़सवारो की एक और सेना थी। सिलेदार अपने घोड़े और हथियार अपने पास से खरीदते थे। ये घुडसवार पागा घुड़सवारों से हीन श्रेणी के होते थे किन्तु ये भी अश्व सेना के सेनापति के अधीन रहते थे।

सेना में पैदल सिपाहियों का विशेष महत्त्व था। पैदल सिपाहियों के विभाग में नौ सिपाहियों अथवा पाइक के ऊपर एक अधिकारी होता था जो नायक कहलाता था। हर दस नायको के ऊपर एक हवलदार होता था। दो या तीन हवलदारो के ऊपर एक जुमलादार और दस जुमलादारो के ऊपर एकहजारी होता था। इससे बड़ा पद सातहजारी था। सातहजारियो के ऊपर सरेनौबत अथवा सेनापति होता था। शिवाजी के शरीर-रक्षक दो हजार चुने हुए मावले प्यादा थे। इनके चमक-दमक वाले वस्त्रो और अच्छे-अच्छे हथियारो पर राज्य का बहुत अधिक रुपया व्यय होता था।

शिवाजी की यह सेना नीति थी कि वह विदेशी राज्यों पर आक्रमण करने और रसद लाने के लिए सेना को आठ महीनों के लिए बाहर रखते थे। सेना बरसात के चार महीने छावनी मे ही बिताती थी और दशहरा के बाद राजा द्वारा चुने गये देश पर आक्रमण करने के लिए जाती थी। कूच के समय सिपाही और अफसरो के अधिकार मे रहने वाली वस्तुओं की सूची बना ली जाती थी और लौटने पर उनकी तलाशी ली जाती थी। इस तलाशी में जो वस्तुएँ अधिक होती थी वे राज्यकोष में जमा हो जाती थी।

शिवाजी की सेना बहुत ही सगठित और अनुशासित थी और अपने साथ बहुत कम सामान रखती थी। स्त्रियाँ फौज के साथ नही जा सकती थी। राजा भी यथासम्भव कम सामान ही रखता था। संगठन, अनुशासन और साधारणता के कारण ही शिवाजी की सेना सत्रहवीं शताब्दी मे अजेय थी।

भूमि-कर व्यवस्था और शासन-प्रणाली

शिवाजी की भूमि-कर व्यवस्था क्षेत्रमिति के निश्चित सिद्धान्तों के द्वारा किये गये बन्दोबस्त पर निर्भर थी। प्रत्येक गाँव का क्षेत्रफल ब्यौरेवार रखा जाता था और प्रत्येक बीघे की उपज का अनुमान लगाया जाता था। उपज का $\frac{2}{5}$ भाग राज्य ले लेता था और शेष किसान के पास रह जाता था। नये किसानो को बीज और पशुओं की सहायता दी जाती थी जिसका मूल्य सरकार कुछ किश्तों में वसूल कर लेती थी। भूमि-कर नकद अथवा अन्न के रूप में सरकारी हाकिम वसूल करते थे।

शिवाजी की भूमि-कर प्रणाली रैय्यतवाड़ी थी। वे जागीरदारों अथवा जमींदारों की प्रथा के विरुद्ध थे। वे नहीं चाहते थे कि जमींदार, देशमुख और देसाई किसानों पर राजनीनिक प्रभुत्व रख सकें। जहाँ तक हो सकता था वे अपने हाकिमों को वेतन के बदले जागीर देने के विरुद्ध ही रहते थे। वे जब कभी जागीर देते भी थे तो इस

बात का ध्यान रखते थे कि जागीरदार अपनी जागीर मे कोई राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित न कर सके।

भूमि-कर के अतिरिक्त कौन-कौनसे कर किस हिसाब से लिये जाते थे इसकी जानकारी का कोई साधन नही है। किन्तु आयात-कर, निर्यात-कर तथा चुंगी-कर अवश्य रहे होंगे।

शिवाजी की आय का मुख्य साधन चौथ था। यह पड़ोसी राज्यों की आय का चौथा भाग होता था जिसे वसूल करने के लिए शिवाजी उन पर आक्रमण करते थे। चौथ हर साल वसूल करते थे। शिवाजी की आय का दूसरा मुख्य साधन सरदेशमुखी थी। यह राज्यो की आय का $\frac{1}{10}$ भाग होता था।

धार्मिक नीति

कट्टर हिन्दू होते हुए भी शिवाजी दूसरे धर्मों का मान करते थे। उन्होने मुसलमानों को धार्मिक विचार और नमाज की पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी। वे उनके पीरों और मस्जिदों का आदर करते थे। हिन्दू-मन्दिरों के साथ-साथ मुसलमान फकीरों और पीरो की भी आर्थिक सहायता करते थे। उन्होंने केलोशी के बाबा याकूत के लिए आश्रम बनवा दिया था। वे कुरान का समान रूप से आदर करते थे। यदि उनके आक्रमण के समय उनके आदमियों के हाथ मे कुरान की पुस्तके पड़ जाती थीं तो वे उन्हें अपने मुसलमान साथियो को पढ़ने के लिए दे देते थे। वे मुस्लिम महिलाओं का आदर करते थे और अपने सैनिकों को उन्हे अपमानित करने की कभी भी आज्ञा नहीं देते थे। इतिहासकार खाफीखाँ जो शिवाजी से मैत्री-भाव नहीं रखता था, उसने भी शिवाजी की धर्म-सहिष्णुता तथा हमले मे मिली हुई मुस्लिम महिलाओं और बच्चों के प्रति किये गये सम्मानपूर्ण व्यवहार की प्रशंसा की है। राज्य-कर्मचारियों की नियुक्ति के समय वे मुसलमानों के साथ कोई भेदभाव नही रखते थे और उन्हें सेना तथा जहाजी बेडे मे विश्वसनीय पदों पर नियुक्त कर देते थे।

शिवाजी भक्त हिन्दू थे और वेदाध्ययन के लिए प्रोत्साहन देते थे। उन्होंने विद्वान ब्राह्मणों को प्रोत्साहन देने के लिए एक बड़ी धनराशि अलग निकाल रखी थी। उनके गुरु प्रसिद्ध सन्त रामदास थे और उन्ही से उन्होने धार्मिक चेतना प्राप्त की थी। किन्तु इस सन्त का शिवाजी की राज्य-नीति या शासन-प्रणाली पर कोई प्रभाव नहीं था। यह कहा जाता है कि रामदास को प्रतिदिन भिक्षा माँगने के लिए जाता देखकर शिवाजी ने अपना सारा राज्य उनको भेंट कर दिया था। गुरुजी ने भेंट को स्वीकार कर अपने प्रतिनिधि के रूप में शासन करने के लिए वह राज्य शिवाजी को ही लौटा दिया था और आदेश दिया था कि वह अपने स्वशासन का उत्तरदायी सर्वशक्तिमान भगवान को माने। शिवाजी ने इसे स्वीकार कर रामदास के वस्त्रों के गेरुआ रंग को राजकीय झण्डे का रंग (भगवा झण्डा) अपना लिया था। यह इस बात का प्रतीक था कि उन्होंने अपने सर्वशक्तिमान सन्यासी महाप्रभु के आदेशानुसार ही युद्ध एवं शासन किया है।

शिवाजी का चरित्र

शिवाजी आज्ञाकारी पुत्र, पत्नी-परायण पति, पिता के भक्त और मित्रो पर दयालु थे। वे अपनी माता की भक्ति करते थे, पिता का आदर करते थे और अपनी स्त्री तथा बच्चों से प्रेम करते थे। वे दीन-दलितो के मित्र थे। यद्यपि उन्होने नियमानुसार शिक्षा प्राप्त नही की थी किन्तु फिर भी वे बहुत बडे विद्वान थे और अच्छी जानकारी रखते थे। उनमे असाधारण प्रतिभा थी, अत्यधिक व्यावहारिक ज्ञान था और सूक्ष्म विवेक-शक्ति थी। वे पक्के धर्मात्मा, संयमी और सदाचारी थे। यद्यपि वे कट्टर हिन्दू थे किन्तु औरगजेब की तरह धर्मान्ध नहीं थे। वे प्रत्येक धर्म में सच्चाई ढूंढा करते थे और हिन्दू-मुसलमान सन्तो का आदर करते थे। वे सेना के कार्य में अत्यन्त दक्ष थे। उन्होने अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से ही युद्ध की गुरिल्ला-नीति को अपनाया था। उनकी यह नीति उनके जातीयतावादी सैनिकों के लिए, देश की परिस्थितियों के लिए, उस युग के अस्त्र-शस्त्रो के लिए और उनके शत्रुओ की भीतरी दशा के लिए सर्वथा अनुकूल थी। उसकी सेना की भरती बहुत अच्छी थी और वह ऐसी सुगठित, शिक्षित एव अनुशासित थी कि वह १७वी सदी मे अजेय हो गयी थी। शिवाजी मे अद्भुत सगठन शक्ति थी और वे युद्ध की प्रत्येक बात को पहले से ही सोच लेते थे। वे अपने सैनिको के लिए आदर्श थे और युद्ध मे उनके साथ कठिन परिश्रम करते थे। मध्य-युग में वे ही सर्वप्रथम शासक थे जिन्होने जहाजी बेडे की आवश्यकता पर ध्यान दिया था। उन्होने व्यापार और सुरक्षा के लिए जहाज-निर्माणशालाएँ तथा जहाज बनवाये थे।

शासक और प्रबन्धक के रूप में शिवाजी को उत्कृष्ट सफलता मिली। उन्होने एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया। उसमे अच्छी शासन-व्यवस्था के द्वारा उन्होने उस युग के अनुकूल प्रजा की भौतिक और नैतिक उन्नति करने का यथासम्भव प्रयत्न किया। वे जनता और सेना पर पूरा नियन्त्रण रखते थे और शासन-व्यवस्था के ब्यौरों को बड़ी सूक्ष्मता से देखते थे। वे इतने चतुर थे कि अपने सेवको पर दैनिक-कार्य छोड़कर उन्हें दैनिक कर्तव्य के सम्बन्ध मे उचित निर्णय दे सकते थे। उनकी शासन-व्यवस्था की सबसे बडी विशेषता यह थी कि उन्होने अपनी स्थानीय और केन्द्रीय सरकार का ऐसा संगठन कर रखा था कि वह उनकी अनुपस्थिति में भी सुचारु रूप से काम करती रहती थी। इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने कहा कि उपरोक्त गुण शिवाजी मे तो विद्यमान था किन्तु अन्य पूरबी राजाओं मे यह गुण नहीं पाया जाता है। शासक के रूप मे शिवाजी ने अपनी प्रजा को केवल शान्ति तथा सार्वभौमिक सहनशीलता ही प्रदान नहीं की अपितु बिना किसी भेदभाव के सबको समान रूप से उन्नति करने का अवसर भी दिया और सभी योग्य व्यक्तियो के लिए सरकारी सेवा का द्वार खोल दिया। उनकी शासन-व्यवस्था हितकारी थी और भ्रष्टाचार एवं पक्षपात से रहित थी। शिवाजी की प्रेरणा से फारसी के स्थान पर मराठी राजभाषा बनी और एक राज्य-व्यावहारिक सस्कृत-कोष का निर्माण हुआ। इन दोनो कारणो से मराठो को

अपनी राष्ट्रभाषा के विकास का अच्छा अवसर मिल गया। शिवाजी ने शासक के रूप मे राजनीतिक आदर्श ही अपने सामने नही रखा अपितु सार्वजनिक हित के लिए सफलतापूर्वक प्रयत्न भी किया।

शिवाजी एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ थे। वे आत्मप्रेरणा से अपने समय की सब सम्भावनाओ पर विचार कर उन सर्वोत्तम तत्त्वो का निर्माण कर सके जिन्होने उनकी उत्कट इच्छा पूरी करने मे अर्थात महाराष्ट्र मे 'हिन्दू-स्वराज्य' की स्थापना मे योग दिया था। उन्होने मराठों मे नवजीवन का संचार कर राष्ट्र को संगठित कर दिया। शिवाजी ने जिस समय राजनीतिक क्षेत्र मे प्रवेश किया उस समय मुगल साम्राज्य अपने चरम विकास पर था। इसके अतिरिक्त उन्हे बीजापुर और गोलकुण्डा के सुल्तान, जंजीरा के सिद्दी और पश्चिमी समुद्रतट के पुर्तगाली जैसे शत्रुओ से भी मुकाबला करना था और उन्होने कड़े विरोध के बावजूद इन शक्तियो का मुकाबला कर इन पर विजय प्राप्त की। राजनीति के रूप मे मराठा जाति को उनकी सबसे बड़ी देन उसमे नवजीवन डालना था। वे एक रचनात्मक कार्यकर्ता और सच्चे वीर थे। राजा के रूप मे वे अपनी सन्तानो और समकालीनों को स्फूर्ति देने वाले थे। उनके सम्बन्ध में सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है, "उन्होने हिन्दुओं को अधिक से अधिक उन्नति करने की शिक्षा दी। शिवाजी ने बताया कि हिन्दुत्व का वृक्ष वास्तव में मरा नही है किन्तु सदियो की राजनीतिक पराधीनता के कारण मरा-सा दिखायी देता है। यह फिर बढ सकता है और इसमे नयी-नयी पत्तियाँ और शाखाएँ आ सकती हैं। यह अपना सिर आकाश तक फिर उठा सकता है।"

क्या शिवाजी सम्पूर्ण भारत में 'हिन्दू-स्वराज्य' स्थापित करना चाहते थे ?

इतिहासकार सरदेसाई की सम्मति है कि शिवाजी अपने स्वप्न को महाराष्ट्र तक ही सीमित न रखकर सारे भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे। वे अपने कथन की पुष्टि में निम्न प्रमाण देते हैं—(१) शिवाजी का मुख्य उद्देश्य धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था, देश प्राप्त करना नहीं। १६४५ ई० के आरम्भ मे उन्होंने दादाजी नरसप्रभु को 'हिन्दवी स्वराज्य' की योजना के सम्बन्ध में लिखा था, जिससे उनका अभिप्राय सम्पूर्ण भारत के हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता दिलाना था। विचारशील एवं क्रियाशील मराठो ने उनके बाद उनके आदर्श और इच्छाओ को इसी रूप में समझा था। (२) शिवाजी द्वारा चौथ और सरदेशमुखी कर की वसूली भी सम्पूर्ण भारत मे राज्य-विस्तार का साधन समझी गयी है। (३) एक समकालीन जयपुरी कवि का विश्वास है कि शिवाजी दिल्ली के साम्राज्य को लेना चाहता था। उस कवि ने जयसिंह की इसीलिए प्रशंसा की है कि उसने शिवाजी जैसे बलवती इच्छा रखने वाले को भी वश मे कर लिया था। (४) शिवाजी का आगरा जाने का उद्देश्य अपनी आँखो से उत्तरी भारत की दशा देखकर यह जानना था कि क्या उत्तरी भारत मुगल साम्राज्य के पंजे से मुक्त होने को तैयार है ? (५) वे अपने राज्य की सुरक्षा जल-थल सेना से करते थे। समुद्र-यात्रा के विषय में उनका दृष्टिकोण उदार था।

वे हिन्दू से मुसलमान हुए युवकों को शुद्ध कर पुनः समाज में मिला लेते थे। इससे स्पष्ट है कि उनके सामने समस्त हिन्दू जाति को राजनीतिक एवं नैतिक चरित्र-निर्माण के नवीन ढांचे में ढालने का उच्च आदर्श था। (६) दक्खिन के सुल्तानों और मुगलों से युद्ध करते हुए भी शिवाजी राजपूत राजाओं से न लड़कर उनसे मेल करने का प्रयत्न करते थे।

उपर्युक्त दलीलें इतनी लचर हैं कि उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके लिए किसी अकाट्य दलील की आवश्यकता नही है कि मुगल-साम्राज्य में हिन्दू धर्म की स्वतन्त्रता सर्वथा असम्भव थी। इसका अभिप्राय राज्य के अन्दर दूसरा राज्य स्थापित करना होता और जिसे औरंगजेब जैसा सम्राट सहन नही कर सकता था। यह स्वीकार किया जा सकता है कि शिवाजी के 'स्वराज्य' की योजना ऐसी थी कि जिसमें सारा भारत आ सकता था, किन्तु इसमे सन्देह है कि उन्होने कभी ऐसी इच्छा रखी थी। वे कल्पना के पंखों पर न उडकर क्रियात्मक कार्य करने वाले थे। हमारे पास इसका कोई पुष्ट प्रमाण नही है कि शिवाजी सम्पूर्ण भारत पर अधिकार करना चाहते थे। यह सर्वसम्मति से सिद्ध हो चुका है कि शिवाजी को रायगढ़ से आगरा आने-जाने में २५ दिन लगे थे। इन दिनो में उत्तरी भारत की परिस्थिति का पता लगाने का न तो समय था और न अवसर ही। वास्तव मे उनके आगरा आने का उद्देश्य उत्तर भारत की परिस्थिति का ज्ञान करना नही था। यह भी कहना ठीक नहीं कि उन्होंने राजपूतों से युद्ध नही किया। हाँ, उन्होंने केवल उन्ही राजपूतों से युद्ध किया जो मुगल सम्राट की ओर से लड़ते थे। जहाँ तक शिवाजी का सम्बन्ध है, उनका अन्य राजपूतो से युद्ध करने का प्रश्न ही नही उठता।

सच बात तो यह है कि शिवाजी ने देश को मुगलों के विरुद्ध उभाड़ने का कभी कदम ही नही उठाया। उन्होने तो केवल जजिया कर के दुबारा लगाये जाने का विरोध किया था। उन्होंने उत्तरी भारत के जाट, सतनामी, सिक्ख इत्यादि शक्तिशाली विरोधी तत्त्वों से कभी सम्बन्ध स्थापित नही किया। हाँ, उन्होने एक चतुर सेनापति के रूप मे जसवन्तसिंह और जयसिंह की हिन्दुत्व भावना को अवश्य प्रभावित किया था। उन्होंने उनसे (जसवन्तसिंह और जयसिंह) मिलकर मुगलों का तख्ता उलट देने की कोई ठोस योजना नही बनायी थी। उन्होने तो छत्रसाल जैसे उत्साही राजा की सेवाओं को भी स्वीकार नही किया था और न उसे कोई सहायता ही दी थी। उन्होंने तो उसे केवल यह सलाह दी थी कि औरंगजेब जैसे शक्तिशाली सम्राट के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए वैसे ही तैयारी करो। ये वे तथ्य हैं जो बताते हैं कि शिवाजी ने अखिल भारतीय हिन्दू साम्राज्य स्थापना की कभी इच्छा नही की थी।

शिवाजी के राज्य के चिरस्थायी न होने के कारण

शिवाजी के राज्य के चिरस्थायी न होने के कारण हैं। पहला कारण यह है कि उनके राज्य को स्थापित हुए केवल दस वर्ष ही हुए थे और इन दस वर्षों में भी उन्हें अपने शत्रुओं से निरन्तर युद्ध करते रहना पड़ा था, जिसके कारण उन्हें

राज्य का दृढ़ बनाने का बहुत कम समय मिल पाया था। दूसरे, सत्रहवीं शताब्दी में मराठा समाज की ऐसी दशा थी कि उसे सुधारने में धैर्यपूर्वक निरन्तर काम करने वाले स्वार्थरहित व्यक्तियो को भी कई पीढ़ियाँ लग जाती। वह अस्थिरता का युग था और प्रत्येक व्यक्ति अपने वेतन अथवा बाप-दादे की जायदाद से ही प्रेम करता था। एक भूमि खण्ड के अनेक इच्छुक थे। इसका कारण परिवार के लोगो का बढ़ जाना अथवा भूमि का बँट जाना अथवा सूबेदार या सुल्तानों द्वारा एक की भूमि को दूसरे को दे देना था। अतः महाराष्ट्र की जनता मे निरन्तर झगड़े होते रहते थे। शिवाजी के प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर उन्होने उन विवादपूर्ण प्रान्तों के विषय मे अपना निर्णय दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हारे हुए व्यक्ति उनके विरुद्ध होकर उनके शत्रु बीजापुर या गोलकुण्डा के सुल्तानो या मुगलो से मिल गये। अतः शिवाजी को आजीवन केवल अपने शत्रुओं से ही युद्ध नही करना पडा अपितु अपनी प्रजा से भी मोर्चा लेना पडा। तीसरे, सत्रहवीं शताब्दी मे भारत के अन्य भागों की तरह महाराष्ट्र की जनता भी जाति और उपजातियो मे बँटी हुई थी और एक-दूसरे के प्रति बहुत अधिक द्वैष-भाव रखती थी। ब्राह्मण अब्राह्मण से घृणा करते थे और वे स्वयं भी देश-ब्राह्मण, कोकण-ब्राह्मण, चितपावन, कटहाडे इत्यादि उपजातियो मे बँटे हुए थे। वे एक-दूसरे से घृणा करते थे और इतने अधिक गर्वमूढ थे कि उन्होने अपने उद्धारक शिवाजी के राज्याभिषेक के अवसर पर भी उन्हे क्षत्रिय न मानकर वेद-मन्त्रो का उच्चारण नही करने दिया था। यह जातिगत पक्षपात दिनोदिन बढ़ता गया, जिससे राष्ट्र की वास्तविक और स्थायी उन्नति एवं दृढता कठिन और असम्भव हो गयी। चौथे, शिवाजी की राजनीतिक सफलता की जो प्रतिक्रिया हुई उससे हिन्दुओ के कट्टरपन को प्रोत्साहन मिला। महाराष्ट्र के उच्च श्रेणी के लोगों को मराठा राज्य मे प्रमुखता प्राप्त हो गयी थी। वे आडम्बरपूर्ण जीवन बिताने लगे थे जो देश के साधारण निर्धन लोगों के जीवन के विरुद्ध था। इसके परिणामस्वरूप मराठा समाज की दो प्रमुख श्रेणियो मे भेदभाव की खाई चौड़ी होती गयी। इस विषय में सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं, "शिवाजी की राजनीतिक सफलता ही अपने विनाश का कारण बन गयी थी। शिवाजी का हिन्दू स्वराज्य का आदर्श जिस अनुपात से हिन्दू कट्टरपन पर निर्भर था उसके विनाश के बीज उतने ही उसमे सन्निहित थे।" पाँचवाँ कारण यह था कि शिवाजी के नेतृत्व में महाराष्ट्र को जो राजनीतिक सफलता मिली उससे उसकी समृद्धि तो बहुत बढ़ गयी किन्तु प्रजा की शिक्षा और चरित्र के सुधार का कोई ठोस कदम नही उठाया गया। साधारण जनता पहले की तरह अशिक्षित रही और उसने जाति की समृद्धि मे कोई दिलचस्पी नही ली। इस बुनियादी भूल का परिणाम यह हुआ कि जिस मराठा राज्य की स्थापना शिवाजी ने बड़े परिश्रम और बुद्धिमानी से की थी, उसका पतन उसकी मृत्यु के दस वर्ष बाद ही हो गया।

शम्भाजी (१६८०-१६८९ ई०)

शिवाजी का द्वितीय पुत्र राजाराम था जो कि उनकी मृत्यु के समय केवल

दस वर्ष का था । शिवाजी की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी सोयराबाई ने अप्रैल १६८० ई० में रायगढ़ में उसका राज्याभिषेक कर दिया। किन्तु न्हाला किले में बन्द शम्भाजी के किलेदार की हत्या कर किले पर अधिकार कर लिया और प्रधान सेनापति हम्मीरराव मोहिते को अपनी तरफ मिला लिया। इसके बाद उसने रायगढ़ किले पर अधिकार कर राजाराम तथा सोयराबाई को जेल मे डाल दिया। ३० जुलाई को वह सिंहासन पर बैठा और मोरोपन्त पिंगले के पुत्र नीलोपन्त को अपना पेशवा बनाया तथा अपने दूसरे अनुयायियो को भिन्न-भिन्न पुरस्कारो से पुरस्कृत किया। ३० जनवरी, १६८१ ई० को राज्याभिषेक-महोत्सव विधिपूर्वक मनाया गया किन्तु चरित्रहीन होने के कारण वह जनता में अप्रिय हो गया जिससे उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा गया। इसकी गन्ध मिलने पर उसने अपनी सौतेली माँ तथा बहुत-से सामन्तो को मरवा डाला। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके सामन्त और अफसर उसके विरुद्ध हो गये जिन्हें दबाने के लिए शम्भाजी को कड़ा कदम उठाना पड़ा। अपने पिता के सेवकों पर से उसका विश्वास उठ गया था अतः उसने कन्नौज निवासी कवि कलश नाम के एक ब्राह्मण को, जो संस्कृत और हिन्दी का विद्वान और कवि था, अपना सलाहकार नियुक्त किया तथा उसे पेशवा से भी अधिक ऊँचा पद प्रदान किया। विदेशी होने के कारण मराठे इससे बहुत अधिक घृणा करने लगे और उसे 'भेदिये' की उपाधि देकर 'कलुष' नाम से पुकारने लगे। उस पर शम्भाजी को बिगाड़ने का मिथ्या आरोप भी लगाया गया। इस परिस्थितियो मे शम्भाजी के शासनकाल मे असन्तोष और अशान्ति रही। अब मराठो का प्रताप तो घटने लगा किन्तु शिवाजी ने इसमें जो जान डाल दी थी उसी के बल से शासन-प्रबन्ध किसी तरह चलता रहा।

शम्भाजी ने राज्य पर अपना अधिकार अच्छी तरह जमाया भी नहीं था कि उसे औरंगजेब ने चतुर्थ पुत्र राजकुमार अकबर का दक्खिन को भागने का समाचार मिला। अकबर शम्भाजी का सहयोग प्राप्त कर अपने पिता से भारत का सिंहासन छीनना चाहता था, अतः वह अपने अपनाये गये साधनों के सम्बन्ध से उससे सलाह लेना चाहता था। अकबर को किन परिस्थितियों में औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह करना पडा और महाराष्ट्र मे आना पड़ा, इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है, अत. यहाँ उसका दुहराना अनावश्यक है। उसने नर्वदा पार कर १० मई, १६८१ ई० को शम्भाजी को सूचना दी कि वह मराठा राजा के सहयोग से औरंगजेब को गद्दी से उतार कर स्वयं बादशाह बनना चाहता है। राजकुमार पहले खानदेश और फिर बगलाना पहुँचा और वहाँ से नासिक और त्रियम्बक होता हुआ उत्तरी कोंकण गया और ११ जून, १६८१ ई० को नोगथना के पास पाली पहुँचा जो रायगढ़ से २५ मील उत्तर में था। युवराज को यहीं ठहराकर उसकी सुख-सुविधा का प्रबन्ध किया गया। इस काम के लिए शम्भाजी ने नेताजी पालकर को नियुक्त किया जो दस वर्ष तक उत्तर भारत में रह आया था और शाही दरबारों के जीवन से परिचित था। शम्भाजी २३ नम्बर को उससे मिला किन्तु दोनों मे कोई समझौता नहीं हुआ।

शम्भाजी को राजकुमार की सच्चाई मे सन्देह था और उसे यह भी डर था कि कहीं उसका आना औरगजेब का षड्यन्त्र न हो। मराठा राजा अपने चरित्र की दुर्बलता एवं घरेलू कठिनाइयो के कारण भी दिल्ली के विरुद्ध धन और समय नही लगा सकता था। यद्यपि मराठा राजा ने अकबर की सुख-सुविधा का पूरा-पूरा प्रबन्ध कर दिया था किन्तु फिर भी वह राजकुमार को असुखकर ही प्रतीत हुआ। उसे पाली मे छप्पर से छाये हुए एक साधारण भवन मे ठहराया गया और उत्तरी भारत के युवराजों के विलासमय और शान-शौकत के जीवन से अपरिचित होने के कारण भोजन भी साधारण ही दिया गया। इन परिस्थितियों के कारण अकबर का ६ वर्ष का महाराष्ट्र प्रवास निष्फल ही रहा। औरगजेब को गद्दी से उतारने की योजना केवल कागज पर ही लिखी रह गयी।

इसी बीच मे औरंगजेब ने अपने पुत्र का दक्खिन में पीछा किया और औरंगाबाद मे अपना निवास-स्थान बनाकर २६ वर्ष तक उसी के आसपास अपना जीवन बिताता रहा। उसने शम्भाजी और अकबर के अनुयायियो मे भेदभाव के बीज बोकर उनमे से बहुतो को घूस और पुरस्कारों द्वारा अपने पक्ष मे कर लिया। उसने शहाबुद्दीनखाँ को नासिक के पास के मराठो के मुख्य-मुख्य किले छीनने के लिए भेज जिससे उत्तर मे अकबर का मार्ग रुक जाय। खान ने नासिक से सात मील उत्तर में स्थित रामसेज किले का घेरा डाल दिया किन्तु समय पर मराठा सेना के आ जाने के कारण उसे घेरा उठा लेना पड़ा। अकबर ने अब शम्भाजी को सलाह दी कि दोनों मिलकर या तो औरंगजेब के प्रधान स्थान पर धावा बोल दें अथवा गुजरात होते हुए राजपूताना पर आक्रमण करें। किन्तु शम्भाजी परिस्थितियों से विवश होकर इस साहसिक काम में योग न दे सका। दोनों राजकुमारों की हिचकिचाहट के कारण औरंगजेब को बीजापुर और गोलकुण्डा राज्य पर आक्रमण कर उन्हें अपने साम्राज्य मे मिलाने का अवसर मिल गया। १६८६ ई० में बीजापुर का पतन हो गया और १६८७ ई० में गोलकुण्डा का। अब अकबर को शम्भाजी की सहायता की कोई आशा न रही। अतः उसने निराश होकर फरवरी १६८७ ई० में राजापुर से अंग्रेजी जहाज द्वारा ईरान जाकर वहीं शरण ली।

शम्भाजी का जंजीरा और चोल पर आक्रमण (१६८१-८३ ई०)

जिस सयय औरंगजेब दक्खिन की यात्रा कर रहा था उसी समय शम्भाजी ने जंजीरा के सिद्दियो और चोल के पुर्तगालियों पर आक्रमण कर दिया क्योंकि औरगजेब ने इनसे मराठा राजा के विरुद्ध लड़ाई छेडने के लिए कहा था और सिद्दियो ने १६८१ ई० के अन्त मे रायगढ़ किले के पास तक के मराठा प्रदेश पर आक्रमण कर दिया था। अतः शम्भाजी ने जल और थल से जंजीरा का घेरा डालकर और बहुत-सी हानि पहुँचाकर इसका जवाब दिया था। किन्तु इसी समय औरगजेब दक्खिन में आ गया और शम्भाजी को जंजीरा का घेरा उठाना पड़ा १६८३ ई० में शम्भाजी ने चोल और गोआ के पुर्तगाली बन्दरगाहों पर आक्रमण कर उनको बड़ी मुसीबत में डाल

दिया। मराठों ने फोंद पर पुर्तगालियो को हराकर वहाँ का किला भी छीन लिया। गोआ भी आत्मसमर्पण करने वाला था कि पुर्तगालियो के भाग्य से शम्भाजी को घेरा उठा लेना पड़ा क्योंकि उसे शाहआलम के नेतृत्व मे आने वाली मुगल सेना का मुकाबला करना था जो नवम्बर १६८३ ई० मे उसकी सेना के पिछले भाग को आतंकित कर रही थी।

शम्भाजी की पराजय और गिरफ्तारी (१६८६ ई०)

१६८४ ई० के आरम्भ से शम्भाजी बचाव मे लगा हुआ था। इसी बीच में औरंगजेब ने मराठा राजा को गिरफ्तार करने के लिए अपनी सेना भेज दी। शहाबुद्दीन फीरोजजंग और उसके पुत्र (भावी निजामुल्मुल्क) चिनकिलिचखाँ को उत्तरी कोंकण और बगलाना को जीतने के लिए भेजा गया। परिणाम यह हुआ कि मुगल और मराठों के बीच भीषण युद्ध हुआ और मराठो ने मुगलो के औरंगाबाद से लेकर बुरहानपुर तक के प्रदेश को उजाड़ दिया। किन्तु मराठों के भाग्य ने उनका साथ नही दिया। औरंगजेब बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यो को अपने साम्राज्य मे मिला लेने के बाद शम्भाजी के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगाने के लिए स्वतन्त्र हो गया था और उसने बीजापुरी सेना के पिछले सेनापति को सतारा जिले पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस समय जो युद्ध हुआ उसमें शम्भाजी का प्रधान सेनापति हम्मीरराव मोहिते मारा गया। इसके बाद मुगलो ने मराठो को घेरना आरम्भ कर दिया। यह देखकर शम्भाजी के बहुत-से साथी उसे छोड़कर भाग गये और वह स्वयं भी पन्हाला और रायगढ़ के बीच शरण के लिए भागता फिरा। शिर्के शम्भाजी के विरुद्ध होकर मुगलों से जा मिले और उन्होंने नवम्बर १६८८ ई० में कवि कलश को परास्त किया। वह विवश होकर विशालगढ़ मे शरण लेने के लिए भाग गया। यह सुनकर शम्भाजी ने शिर्के को हराया और विशालगढ़ में कवि कलश से जा मिला। शिर्के ने मराठा राजा का पता औरंगजेब के भेदियो को दे दिया। मुकर्रबखाँ नाम के एक मुगल सेनापति को शम्भाजी का पता लग गया। अतः उसने संगमेश्वर के डेरे पर पहुँचकर मराठा राजा पर अचानक आक्रमण कर दिया। फरवरी १६८६ ई० को हल्की-सी मुठभेड़ के बाद शम्भाजी और कवि कलश बन्दी बनाकर औरंगजेब के डेरे पर ले जाये गये।

शम्भाजी की निर्मम हत्या (१६८६ ई०)

बहादुरगढ़ में सम्राट औरंगजेब का डेरा लगा हुआ था, वही पर ये दोनो कैदी लाये गये। जिस समय मराठा राजा और कवि कलश शाही डेरे पर लाये गये उस समय वे विदूषकों के कपड़े पहने हुए थे और सिर पर मूर्खों की-सी लम्बी टोपी लगाये हुए थे जिनके पीछे घण्टियाँ लटक रही थीं। वे ऊँटों पर चढ़े हुए थे और उनके आगे ढोल पीटे जा रहे थे और तुरई बजायी जा रही थी। जिस समय कैदी निकट पहुँचे उस समय औरंगजेब ने सिंहासन से नीचे उतर घुटने टेककर ईश्वर को धन्यवाद दिया। सम्राट के निगाह डाल लेने के बाद कैदी कोठरियो में बन्द कर दिये गये। दूसरे दिन उसने शम्भाजी से कहलवाया कि निम्न शर्तों के साथ उसको जीवन-दान दिया जा

सकता है—(१) वह अपने सारे किले सौंप दे। (२) अपना छिपा हुआ खजाना बता दे। (३) उन मुगल अफसरों के नाम बता दे जो उससे मिले हुए थे। शम्भाजी ने बड़े अनादर के साथ इस प्रस्ताव का ठुकरा दिया। औरगजेब के सताने पर उसे बड़ा कष्ट हुआ अत. उसने सम्राट और उसके पैगम्बरो को धिक्कारा तथा औरगजेब को कहलवाया कि वह मित्रता के पुरस्कार मे अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर दे। रुहुल्लाखाँ ने सम्राट का सन्देश शम्भाजी के पास पहुँचाया था। उसने उसके उत्तर को ब्यौरेवार न बताकर केवल उसकी दुर्भावना का इशारा-मात्र ही सम्राट से कर दिया था। उदारता और क्षमा में औरंगजेब का बिलकुल भी विश्वास नही था अतः उसने शम्भाजी और उसके मन्त्री कवि कलश को सता-सताकर मार डालने की आज्ञा दे दी। उसी रात को शम्भाजी की आँखे फोड़ दी गयी। दूसरे दिन कवि कलश की जीभ काट दी गयी और पन्द्रह दिन तक रोजाना उन्हे हर तरह सताया गया। इसके बाद कैदियों को पोरेगाँव भेजा गया, जहाँ उन्हे २१ मार्च को बड़ी निर्दयता के साथ मार डाला गया और उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके कुत्तो को डाल दिये गये। उनके सिरों में भूसा भरकर दक्खिन के मुख्य-मुख्य नगरों में ढोल पीट-पीटकर घुमाया गया।

शम्भाजी का चरित्र

इस प्रकार दूसरा मराठा राजा केवल नौ वर्ष के अल्प-शासनकाल के पूर्व ही समाप्त हो गया। शम्भाजी एक वीर सैनिक तो था किन्तु एक अच्छा राजा अथवा राजनीतिज्ञ नही था। उसमें न तो अपने पिता जैसी सगठन शक्ति थी और न अवसर से लाभ उठाने की उस जैसी योग्यता। इसके अतिरिक्त उसमें विरोध को शान्त करना, मनुष्य के गुणों को पहचानना और साथियों को निभा लेने के गुण भी नहीं थे। उसने अपनी चरित्रहीनता के कारण अपने पिता के मन्त्रियों तथा अफसरों के साथ झगड़ना शुरू कर दिया था जिसका परिणाम यह हुआ कि वह उन्हीं पर सन्देह करने लगा जिन्होने उसके पिता के राज्य को समृद्धिशाली बनाया था। औरंगजेब का पुत्र अकबर दक्खिन में आ गया था किन्तु वह उससे मिलकर औरंगजेब अथवा उसकी राजधानी पर हमला करने मे चूक गया। शम्भाजी वीर और उत्साही होते हुए भी अपने जीवन में बिलकुल असफल रहा किन्तु उसकी क्रूरतापूर्ण मृत्यु से उसके पापों का प्रायश्चित्त हो गया। उसके बन्दी जीवन तथा मृत्यु ने मराठा जाति को एकता के सूत्र में पिरोकर उसमें वह शक्ति और साहस भर दिया कि वह मुगल सम्राट को हराने के लिए कटिबद्ध हो गयी।

राजाराम (१६८९-१७०० ई०)

शम्भाजी की गिरफ्तारी के समय शिवाजी का द्वितीय पुत्र राजाराम उन्नीस वर्ष का नवयुवक था अतः १९ फरवरी, १६८९ ई० को वह राजा घोषित कर दिया गया। उसने प्रहलाद नीराजी तथा उन सभी बड़े-बड़े अफसरों को मुक्त कर दिया जिन्हें शम्भाजी ने अन्यायपूर्वक गिरफ्तार कर लिया था। इसके बाद उसने राजधानी की रक्षा की तैयारियाँ कीं जिस पर जुल्फिकारखाँ ने घेरा डाल रखा था। शम्भाजी

की विधवा येसूबाई राजाराम को सुरक्षा के लिए विशालगढ़ में चले जाने की सलाह देकर स्वयं निर्भीकतापूर्वक रायगढ़ के घेरे का मुकाबला करने के लिए डट गयी। इस वीरांगना से उत्साह पाकर प्रहलाद नीराजी और शंकरजी मल्हार ने मुगलों के प्रदेश पर अभूतपूर्व धावा बोलकर उसे लूटना और जलाना आरम्भ कर दिया। उन्होंने मुगलो के दक्षिणी प्रदेश के प्रत्येक भाग में शत्रु की गतिविधि का पता लगाने के लिए गुप्तचर भेज दिये। उन्होने रायगढ़ पर जुल्फिकारखाँ की नयी कुमुक का आना रोक दिया किन्तु उन्ही के एक अफसर के विश्वासघात से राजधानी का पतन हो गया। सूर्यजी पिसाल बहुत दिन से वाई की देशमुखी जमीदारी (वतन) चाहता था। जुल्फिकारखाँ ने उसे उसको देने की प्रतिज्ञा करली, जिसके लालच मे आकर उसने १३ नवम्बर, १६८९ ई० को जुल्फिकारखाँ की फौज के लिए किले का दरवाजा खोल दिया। जुल्फिकारखाँ येसूबाई, उसके छोटे पुत्र शाहू तथा दूसरे प्रतिष्ठित सज्जनों को गिरफ्तार कर मुगलो के शिविर मे ले आया और औरंगजेब ने अन्य बहुत-से किलों पर अधिकार कर लिया। किन्तु उसकी यह सफलता अल्पकालीन ही रही क्योंकि अब मराठों के स्वतन्त्रता युद्ध ने लोक-युद्ध का रूप ले लिया था।

राष्ट्र के विनाश को देखकर मराठों में ऐसा उत्साह आया कि वे सारी शक्ति बटोरकर देश की रक्षा मे सन्नद्ध हो गये। यद्यपि राजाराम में अपने पिता जैसी संगठन-शक्ति नही थी तो भी उसके नेतृत्व मे अनेक वीर युवकों ने मुगलो के तूफानी धावे को रोकने का पूरा प्रयत्न किया। इनमें सबसे प्रमुख प्रहलाद नीराजी था जो अपने समय में महाराष्ट्र मे सबसे अधिक चतुर समझा जाता था। राजाराम का दूसरा प्रमुख सलाहकार रामचन्द्र नीलकण्ठ था। इसमें मनुष्यों के गुण को पहचानकर उन्हें राष्ट्र रक्षा के काम में लगा देने की अद्भुत क्षमता थी। वह अपने विशालगढ के प्रधान कार्यालय से उत्तर में बुरहानपुर से लेकर दक्षिण में जिंजी तक के विशाल युद्धक्षेत्र पर सतर्क दृष्टि रखता था। इन दो मनुष्यों के नीचे अलौकिक योग्यता के चार लेफ्टिनेण्ट और थे जिनके नाम थे : (१) परसराम त्रियम्बक प्रतिनिधि, (2) शंकरजी नारायन सचिव, (३) शान्ताजी घोरपड़े, और (४) धनाजी जादव। इन चारों ने आश्चर्यजनक कार्यों से औरंगजेब के सारे मंसूबों पर पानी फेरकर मराठों को उस खोई हुई स्वतन्त्रता को बचा लिया जो शम्भाजी की गिरफ्तारी और रायगढ की राजधानी के पतन से नष्ट हो गयी थी।

राजाराम अपने परिवार और दरबार के साथ जिंजी भाग गया। किन्तु कुछ दिन बाद जिंजी ही मराठों की राजधानी बन गयी। यहीं से उत्साही और साहसी मराठों की टुकड़ियाँ महाराष्ट्र में मुगलों पर हमला करने के लिए भेजी गयी। ये उन्हें हर सम्भव तरीके से परेशान कर देश में सामूहिक रूप से एक जगह इकट्ठा नहीं होने देती थीं।

इसी बीच में औरंगजेब की सेना ने जुल्फिकारखाँ के नेतृत्व में जिंजी का घेरा डाल दिया। यह घेरा तो आठ साल तक पड़ा रहा किन्तु राजाराम निकलकर महाराष्ट्र

मे भाग गया । लड़ाई जारी रही और शान्ताजी घोरपड़े तथा धनाजी जादव ने मुगलो की बड़ी दुर्दशा कर दी । उन्होने औरंगजेब के शिविर को घेरकर उसे अनेक बार लूटा । इसका परिणाम यह हुआ कि महाराष्ट्र का घेरा डालकर उसे जीतने की इच्छा रखने वाला औरंगजेब मराठो से स्वयं घिर गया । किन्तु हठी औरंगजेब ने समझौते की चिन्ता न करके जीतने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया और अन्त में बुरी तरह हार गया।

राजाराम मार्ग मे मुगलो से बचता हुआ मार्च १६६८ ई० के प्रारम्भ मे ही विशालगढ़ मे आ गया था । उसने सतारा मे अपना दरबार स्थापित किया । हालाँकि सतारा कुछ दिन बाद ही छिन गया किन्तु मराठो ने इसे १७०४ ई० मे फिर वापस ले लिया । राजाराम ने देश का भ्रमण कर अपने किलो के किलेदारों को प्रोत्साहन दिया । फिर उसने कुछ सेना को खानदेश तथा बरार को लूटने तथा चौथ वसूल करने के लिए भेजा । १६६६ ई० मे उसने सूरत को लूटने का बहाना कर सिंहगढ़ के लिए प्रस्थान किया परन्तु एक मुगल सेना ने उसे पीछे लौटने के लिए विवश कर दिया । इस समय मराठो मे जोश था और उन्होने उन्नति भी कर ली थी, अत. उन्हे विश्वास हो गया था कि वे तूफान की तरह बढ़ने वाले मुगलो को खदेड़ देंगे । किन्तु राजाराम बीमार पड़ गया और सतारा का घेरा पड़ा होने के कारण वह पालकी मे सिंहगढ़ ले जाया गया, जहाँ तीस वर्ष की अवस्था मे १२ मार्च, १७०० ई० को उसकी मृत्यु हो गयी ।

राजाराम मे अपने पिता जैसी सैनिक योग्यता और आक्रमण की कुशलता नही थी । शिवाजी की मृत्यु के समय वह केवल दस वर्ष का बच्चा था और फिर उसे शम्भाजी की कैद में भी रहना पड़ा था, अत: उसे उचित शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नही मिला । शम्भाजी की गिरफ्तारी और मृत्यु के कारण ही वह सिंहासन पर बैठ सका था । किन्तु वह बड़ा भाग्यशाली था कि उसे रामचन्द्र पन्त और प्रहलाद नीराजी जैसे आलौकिक योग्यता के सलाहकार तथा शान्ताजी और धनाजी जैसे वीर योद्धा उसकी योजना एवं नीति को कार्यान्वित करने के लिए मिल गये थे । यही कारण था कि राजाराम के राज्य को इस बात का गर्व था कि जहाँ तक मराठा हितो का सम्बन्ध था उसने विषम स्थिति को बदल दिया था । किन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि राजाराम दुर्बल राजा, अफीमची और चरित्रहीन था । उसमें सबसे बड़ा गुण यह था कि वह अपने मन्त्रियों का पूरा-पूरा विश्वास करता था । वह शायद ही कभी उनके काम मे हस्तक्षेप करता था और यही उसकी सफलता का मुख्य कारण था ।

ताराबाई का प्रभुत्व (१७००-१७०७ ई०)

राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी बिधवा रानी सरकार की वास्तविक अध्यक्षा हुई । वह अपने चार वर्ष के पुत्र शिवाजी द्वितीय का राज्याभिषेक कर स्वयं उसकी संरक्षिका बन गयी । यद्यपि नयी मराठा राजधानी सतारा का पतन राजाराम की मृत्यु के एक महीने बाद ही हो गया था किन्तु इस वीरागना ने इसके लिए आँसू बहाने में एक क्षण भी नष्ट नहीं किया । उसने जनता में उत्साह का संचार कर

औरंगजेब के विरुद्ध कड़ा मोर्चा बनाया। उसने विलक्षण सगठन-शक्ति का परिचय देकर मराठो मे देशभक्ति का सचार कर दिया। इस समय पन्हाला और विशालगढ़ के दृढ किले मराठो की राजधानी बने हुए थे, अतः औरंगजेब ने पन्हाला को जीतने के लिए अपनी सेना को आज्ञा दी। मराठे औरगजेब के शिविर को निरन्तर घेरकर यथासम्भव उसकी प्रत्येक वस्तु लूट ले गये। सम्राट ने मराठो के अनेक किलो पर अधिकार कर लिया किन्तु वे सब एक-एक करके उसके हाथ से निकल गये। ताराबाई के नेतृत्व मे मराठो की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढती गयी जिससे विवश होकर औरंगजेब को अपने बचाव मे लगना पड़ा। वृद्ध सम्राट के अन्तिम वर्ष मे तो मराठों ने महाराष्ट्र पारकर मालवा और गुजरात तक लम्बे-लम्बे छापे मारे। उन्होंने पश्चिमी समुद्रतट के बुरहानपुर, सूरत, भड़ौच और दूसरे समृद्ध नगरो को लूटा और दक्षिणी कर्नाटक में अपना राज्य स्थापित किया। इन्ही विपत्तियो मे २ मार्च, १७०७ ई० को औरंगजेब का देहान्त हो गया।

ताराबाई बड़ी योग्यता और कुशलता से अपने पुत्र के नाम पर महाराष्ट्र का कामकाज चलाती रही। किन्तु रामचन्द्र पन्त शाहू को राजा बनाना चाहता था अतः वह इस सर्वाधिकारिणी रानी का विरोधी बन जाने के कारण अपने अधिकारो से वंचित कर दिया गया था। ताराबाई के मुख्य समर्थक परसराम त्रियम्बक, धनाजी जादव और शंकरजी नारायन थे जिनकी सहायता से वह उत्साह के साथ युद्ध करती रही। वह सेना का संचालन करने के लिए एक किले से दूसरे किले में निरन्तर घूमती रही। मराठो को अपने स्वातन्त्र्य-युद्ध में जो सफलता मिली वह इसी रानी के व्यक्तित्व पर निर्भर थी।

BOOKS FOR FURTHER READING

Marathi Language :

1. Sabhasad, Krishnaji Anant : *Shiva Chhatrapati-chen Charitra* (Edited by K. N. Sane).
2. Wakaskar, V. S. : *Ninety-one Qalmi Bakhar.*
3. *Shiva-kalin Patra-sar Sangraha,* 3 vols.
4. *The Jedha Shakavali.*

Persian Language :

1. Kazim, Mirza Muhammad : *Alamgir Nama.*
2. Khan, Khwafi : *Muntakhab-ul-Lubab.*
3. Burhanpuri, Bhim Sain : *Nuskha-i Dilkhusha.*
4. Zahur, Muhammad : *Muhummad Nama* (History of Muhammad Ali Shah).
5. Nurullah, Sayyid : *Tarikh-i-Adil Shah II.*
6. *Khatut-i-Shivaji* (MS).
7. *Parasnis* (MS).

European Languages :

1. *Records of Fort St. George : Diary and Consultation Book for 1672-78 and 1678-79.*
2. *Factory Records of Rajapur, Surat, Bombay, Fort St. George, Madras, etc.*
3. Yule : *Diary of W. Hedges.*
4. Paranjpe, B. C. : *English Records on Shivaji (1659-1682).*
5. *Dutch Factory Records* (Preserved at the India Office, London. Most of these are translated into English.)
6. Manucci : *Storia do Mogor* (Translated into English by W. Irvine, 4 Vols.)
7. Constable : *Travels of Bernier.*
8. Ball : *Travels of Tavernier*, 3 Vols.
9. Crooke, *W.* : *J. Fyer's New Account of East India*, 3 Vols.

Modern Works :

1. Duff, Grant : *History of Marathas*, 3 Vols.
2. Sen, S. N. : *Shivaji Chhatrapati.*
3. Sarkar, J. N. : *Shivaji and His Times* (4th edition).
4. Sarkar, J. N. : *The House of Shivaji.*
5. Kincaid & Parasnis : *History of The Marathas*, 3 Vols.
6. Sardesai, G. S. : *A New History of the Marathas*, 3 Vols.
7. Bal Krishna : *Shivaji the Great.*
8. Vaidya, C. V. : *Shivaji, the Founder of Hindu Swaraj.*

अध्याय १०

उत्तरकालीन मुगल सम्राट

बहादुरशाह (१७०७-१७१२ ई०)

औरंगजेब का तात्कालिक उत्तराधिकारी उसका तिरेसठ वर्षीय द्वितीय पुत्र मुअज्जम (शाहआलम) था। मई १७०७ ई० मे लाहौर से २४ मील उत्तर में शाहदौला नामक पुल पर इसने बहादुरशाह नाम से अपने आपको सम्राट घोषित किया। जब वह अफगानिस्तान के जमरूद नामक स्थान मे था तब उसे २२ मार्च को अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला। समाचार मिलते ही वह उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए द्रुतगति से दिल्ली के लिए रवाना हुआ। इस काम में उसके साथी मुनीमखाँ ने उसकी बड़ी सहायता की। उसका द्वितीय पुत्र अजीम-उश-शान दक्खिन की यात्रा करता हुआ कोरा मे ठहरा हुआ था। वह भी पिता की सहायता के लिए आगरा के लिए चल पडा। उसने नगर पर अधिकार कर किले का घेरा डाल दिया। १२ जून को बहादुरशाह ने स्वयं आगरा जाकर किले तथा २४ करोड़ रुपये के खजाने पर अधिकार कर लिया। औरंगजेब की मृत्यु के समय मुअज्जम का छोटा भाई आजमशाह अहमदनगर से कुछ ही मील दूर था। उसने भी २४ मार्च को अपने सम्राट होने की घोषणा कर दी और कुछ दिनो वही रुकने के बाद आगरे के लिए रवाना हुआ। यदि वह अपने योग्य पुत्र बीदरबख्त को आगरा जाने की आज्ञा दे देता तो सम्भवतः वह अजीम-उश-शान के आने से पहले किले तथा खजाने पर अधिकार कर लेता। किन्तु आजमशाह मूर्ख और चरित्रहीन था तथा अपने पुत्र से द्वेष रखता था। उसने अपने कितने ही अमूल्य दिन व्यर्थ खो दिये और आगरा के आसपास पहुँचने पर शाही नगर को बहादुरशाह के अधिकार में पाया। बहादुरशाह ने उससे साम्राज्य को बाँट लेने का अनुरोध किया किन्तु उसने इस अनुरोध को ठुकराकर समोगढ़ के निकट जाजऊ मे उससे युद्ध किया और १८ जून, १७०७ ई० को युद्ध में मारा गया।

दिल्ली की गद्दी पर निष्कण्टक बैठने से पूर्व बहादुरशाह को अपने छोटे भाई कामबख्श से और मुठभेड़ लेनी पड़ी। यह बीजापुर का सूबेदार था किन्तु मूर्ख और हठी था। पिता की मृत्यु का समाचार सुनते ही उसने अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया और हिन्दुस्तान के साम्राज्य के लिए युद्ध की तैयारी करने लग गया। बहादुरशाह नर्वदा पार करके १७ मई, १७०८ ई० को कामबख्श से मिला और उसने शान्तिपूर्वक समझौता करने का अनुरोध किया। कामबख्श ने उसके इस अनुरोध को

ठुकराकर १३ जनवरी, १७०९ ई० को हैदराबाद के समीप युद्ध छेड़ दिया, जिसमें कामबख्श बुरी तरह से पराजित हुआ। घावों के कारण रात को उसकी मृत्यु हो गयी। अब बहादुरशाह साम्राज्य का निष्कण्टक स्वामी बन गया।

आजमशाह पर विजय प्राप्त करने के बाद बहादुरशाह को राजपूताना जाना पड़ा। यहाँ जोधपुर का अजीतसिंह अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर अजमेर के मुगल प्रदेश पर हमले कर रहा था। सम्राट जनवरी १७०८ ई० मे आमेर पहुँचा। इस समय वहाँ उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर झगड़ा हो रहा था। बहादुरशाह ने इसमें हस्तक्षेप कर विजयसिंह को कछवाहा राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। इसके बाद वह जोधपुर गया। उसने मेरटा मे अजीतसिंह को हराकर उसे क्षमा कर दिया और ३,५०० की मनसबदारी देकर महाराजा की उपाधि दी। इसके बाद वह कामबख्श से युद्ध करने के लिए अजमेर होता हुआ दक्खिन की ओर रवाना हुआ। जब वह दक्खिन की यात्रा कर रहा था तब अजीतसिंह, दुर्गादास और जयसिंह कछवाहा इत्यादि राजपूत राजा ३० अप्रैल, १७०८ ई० को उसके शिविर से भागकर मेवाड के महाराजा अमरसिंह से जा मिले। उन्होने मिलकर मुगलो का मुकाबला करने की प्रतिज्ञा की और जोधपुर के मुगल किलेदार को निकाल दिया। इसके बाद उन्होने हिण्डौन और बयाना के फौजदार को हराकर आमेर को छीन लिया और उस पर राजा जयसिंह कछवाहा का अधिकार हो गया। उन्होने मेवात के किलेदार सैय्यद हुसैनखाँ बारहा पर भी हमला कर सितम्बर १७०८ ई० मे उसे मार डाला। इन सब कारणों से बहादुरशाह को मई १७१० ई० में राजपूताना लौटना पड़ा। किन्तु अपनी दुर्बलता एवं पंजाब में सिक्खो के उपद्रव के कारण उसने राजपूत राजाओं से सन्धि करने का निश्चय कर लिया। उसने उन्हें क्षमा प्रदान कर २१ जून, १७१० ई० को उपहारों सहित अपनी-अपनी रियासतों को भेज दिया।

मारवाड़ के राजपूतो की तरह पंजाब के सिक्ख भी औरंगजेब की मृत्यु का लाभ उठाकर विद्रोही बन गये थे। नवम्बर १७०८ ई० गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु हो जाने पर उनके अनुयायियो ने दक्खिन में एक ऐसे आदमी को उपस्थित किया जो गुरुजी से आकृति मे मिलता था। उन्होंने उसे पंजाब भेजा और यह घोषणा कर दी कि गुरुजी सिक्खों को मुसलमानों से मुक्ति दिलाने के लिए पुनः जीवित हो गये हैं। बन्दा नाम का यह व्यक्ति दिल्ली के उत्तर-पश्चिम में अकस्मात प्रकट हुआ। उसने अपनी उपाधि 'सच्चा बादशाह' रखी और मुगलों के विरुद्ध सिक्खों को धर्म-युद्ध के लिए आह्वान किया। उसने सोनीपत के फौजदार को हराया, अम्बाला से २६ मील पूरब में स्थित सधौरा नामक नगर को लूटा और २२ मई, १७१० ई० को सरहिन्द के फौजदार वजीरखाँ को हराकर मार डाला। उसने सरहिन्द को चार दिन तक लूटकर मुसलमानों का कत्लेआम किया और मस्जिदों को भ्रष्ट कर अन्त में उस पर अधिकार कर लिया। इस हमले और लूट में उसे १ करोड़ रुपये मिले और उसके अनुयायियों की संख्या बढ़कर ४०,००० हो गयी। बन्दा ने सरहिन्द को अपनी प्रधान

छावनी बनाकर वही से मुगलो के पंजाब और आधुनिक उत्तर प्रदेश पर लूटमार मचाना आरम्भ कर दिया। कुछ सिक्खो ने अमृतसर से इकट्ठा होकर लाहौर पर हमला किया किन्तु वे हरा दिये गये। किन्तु फिर भी उन्होंने दिल्ली से लाहौर तक अपना अधिकार जमाकर इन दोनों नगरों के बीच के यातायात को रोक दिया।

राजपूतो से सन्धि कर लेने के बाद बहादुरशाह सिक्खों को दण्ड देने के लिए अजमेर से २६ जून, १७१० ई० को चलकर दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में सधौरा पहुँचा। किन्तु बन्दा के बहादुरशाह के आने के कुछ दिन पूर्व ही सधौरा को छोड़कर लोहगढ़ मे अपनी प्रधान छावनी बना ली थी। यह स्थान मुखीसपुर का एक किला था और सधौरा से १२ मील उत्तर-पूरब में था। उसने यहाँ राजा बनकर अपने नाम के सिक्के चलाये। सम्राट ने लोहगढ़ का घेरा डाला किन्तु सिक्खों ने कड़ा मुकाबला करके अपने साहस से किले को बचा लिया। अधिक वर्षा, शीत तथा रसद न पहुँचने के कारण साम्राज्यवादियों को यहाँ बड़ी हानि उठानी पड़ी। अन्त में उन्होने लोहगढ पर अधिकार कर लिया किन्तु बन्दा दुर्ग के पतन के पूर्व ही भाग गया। यहाँ बहुत-से कैदियों के साथ-साथ २ करोड़ रुपये मुगलो के हाथ लगे।

मुगलो ने जनवरी १७११ ई० में सरहिन्द पर पुन. अधिकार कर लिया किन्तु सिक्खों ने शाही प्रदेशों पर हमले जारी रखे। उन्होने पहाडियों से उतरकर उत्तरी पंजाब मे फिर से उपद्रव आरम्भ कर दिये। उनके उपद्रवो के मुख्य स्थान बारी और रचना के दोआब थे जिन्हें उन्होने बिलकुल उजाड़ दिया था। मुहम्मद अमीनखाँ और रुस्तमखाँ ने बन्दा को हराकर पसरूर के पास जम्बू की पहाड़ियो में खदेड़ दिया। किन्तु २७ फरवरी, १७१२ ई० को बहादुरशाह की मृत्यु के कारण बन्दा के विरुद्ध कोई कदम नही उठाया जा सका। गुरु ने सधौरा और लोहगढ पर पुनः अधिकार कर पहले की तरह फिर लूट-खसोट जारी कर दी।

मृत्यु के समय बहादुरशाह की अवस्था ६९ वर्ष की थी। वह औरंगजेब की मस्जिद के आँगन में दफनाया गया जो दिल्ली के बाहर कुतुबुद्दीन काकी के मकबरे के पास है। वह कोमल और उदार था। यद्यपि उसका व्यवहार बहुत उत्तम था किन्तु तो भी वह एक दुर्बल शासक था। वह किसी से 'न' कहना तो जानता ही नही था। कामो को इकट्ठा होते रहने देना और निर्णयों को स्थगित करते रहना ही उसकी नीति थी। उसे इस बात का डर सदैव रहता था कि कही उसके निर्णय से दरबार में कोई अप्रसन्न न हो जाय। महत्त्वपूर्ण राजनीतिक एवं शासन सम्बन्धी विषयों में भी उसे समझौता ही पसन्द था। उसने अपने अत्यन्त स्वामिभक्त और योग्य साथी मुनीमखाँ को प्रधानमन्त्री बनाने का वचन दिया था किन्तु उसके पिता के प्रधानमन्त्री असदखाँ ने इस पद पर अपना अधिकार बताया। बहादुरशाह ने मुनीमखाँ को वजीर या अर्थमन्त्री बनाकर और असदखाँ को अपने पद पर ही रखकर दोनो को प्रसन्न करने का उद्योग किया। इस प्रकार अधिकारो के बँट जाने से शासन के कार्य में बड़ी गड़बड़ी मच गयी और दोनों सरदारों में से कोई भी सन्तुष्ट नही हुआ। बहादुरशाह

उपाधियाँ और इनाम तो खूब देता था, किन्तु शासन पर पूरा नियन्त्रण रखने मे असमर्थ था। अतः वह आमतौर से असावधान राजा या 'शाह् बेखबर' कहा जाता था। वह अपने पिता की तरह धार्मिक असहिष्णु था। उसने भी जजिया जारी रखा और हिन्दुओं को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त नही किया। परम्परा से मुगल-साम्राज्य की जो प्रतिष्ठा चली आ रही थी उसी के बलबूते पर शासन का कार्य किसी तरह चलता रहा। किन्तु बहादुरशाह में एक गुण था कि उसने अपने पिता के समय के अनुभवी अफसरों को उनके पदो से न तो हटाया और न उनके काम में हस्तक्षेप ही किया, अत: उसका शासनकाल बहुत कुछ सफल रहा।

जहाँदारशाह (१७१२-१७१३ ई०)

बहादुरशाह की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए उसके पुत्रो में तीन युद्ध हुए। उसके पुत्रो के नाम जहाँदारशाह, अजीम-उश-शान, रफी-उश-शान और जहान-शाह थे। ये चारों ही उस समय लाहौर मे थे। प्रधानमन्त्री असदखाँ के पुत्र जुल्फि-कारखाँ ने अजीम-उश-शान के विरुद्ध गुप्तरूप से षड्यन्त्र रचकर अन्य तीनों भाइयों में मेल करा दिया ताकि वे तीनों मिलकर उस पर हमला कर दें। अजीम-उश-शान लड़ाई में मारा गया और उसका सारा धन तथा समृद्धि विजेताओं के हाथ लग गयी। फिर तीनों भाइयों मे आपस मे झगड़ा शुरू हो गया और जुल्फिकारखाँ की सहायता से रफी उश-शान और जहानशाह युद्ध करते हुए मारे गये। अत. २९ मार्च, १७१२ ई० को जहाँदारशाह गद्दी पर बैठा। इस समय इसकी आयु ५१ वर्ष की थी। इसने जुल्फिकारखाँ को अपना प्रधानमन्त्री बनाया।

नया सम्राट २२ जून, १७१२ ई० को दिल्ली पहुँचा। यह अत्यन्त विलासी था अतएव राजकाज छोडकर भोग-विलास में फँसा रहता था। हालाँकि यह ५१ वर्ष का था और बेटे-पोते वाला था तो भी वह अपना सारा समय लालकुमारी नाम की वेश्या के साथ बिताता था। उसने इसे रानियो से भी अधिक सम्मान दे रखा था। इस वेश्या को वस्त्र और आभूषणों के अतिरिक्त १ करोड़ सालाना भत्ता मिलता था और उसके सम्बधियो को राज्यों में ऊँचे-ऊँचे पद मिले हुए थे। जहाँदारशाह अपने दिन हँसी-दिल्लगी में और रातें शराब की मस्ती में बिताता था। उसने असभ्यों को और विशेषकर लालकुमारी के रिश्तेदारो को बड़े-बड़े सरदारों को अपमानित करने तथा राजकाज में हस्तक्षेप करने की पूरी छूट दे रखी थी। सम्राट का धात्री भाई अलीमुराद, जो अमीर-उल-उमरा के नाम से प्रसिद्ध था, वजीर जुल्फिकारखाँ के शासन-कार्य में बुरी तरह दखल देता था। अतएव जहाँदारशाह के दस महीने के अल्प शासनकाल में सारा राजकाज अस्तव्यस्त हो गया था।

अजीम-उस-शान के द्वितीय पुत्र फर्रुखसियर ने जहाँदारशाह के विरुद्ध गद्दी का दावा किया। इस राजकुमार की आयु उस समय तीस वर्ष की थी और यह बंगाल का सहायक सूबेदार था। अपने पिता की मृत्यु के बाद इसने अप्रैल १७१२ ई० में अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया। इसने पटना के सहायक सूबेदार सैय्यद

हुसैनअलीखाँ और उसके बड़े भाई व इलाहाबाद के सहायक सूबेदार अब्दुल्लाखाँ से सहायता ली। ये दोनों भाई 'सैय्यद भाई' नाम से विख्यात थे और बाद में भारतीय इतिहास में 'शासक-निर्माता' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। फर्रुखसियर २५,००० आदमियो को अपने साथ लेकर १८ अक्टूबर, १७१२ ई० को पटना से रवाना हुआ। पहले यह खजुहा गया। यहाँ उसने युवराज अजउद्दीन को हराया जिसे जहाँदारशाह ने उस पर चढाई करने के लिए भेजा था। अजउद्दीन अपने खजाने तथा शिविर को छोड़कर आगरे को भागा। दूसरे दिन उसके खजाने और शिविर पर फर्रुखसियर का अधिकार हो गया। पुत्र की हार के कारण जहाँदारशाह को आगरे स्वयं आना पड़ा। उसकी सरकार बिलकुल अस्तव्यस्त और कंगाल हो गयी थी और उसे अपनी सेना को धन से सन्तुष्ट करना था, अतः शाही भण्डार से वे वस्तुएँ देकर उन्हें सन्तुष्ट किया गया जिन्हें बाबर से समय से अब तक छुआ भी नहीं गया था। वह २९ दिसम्बर, १७१२ ई० को आगरा गया और १० जनवरी, १७१३ ई० को फर्रुखसियर द्वारा बुरी तरह से पराजित हुआ। वह दाढी-मूँछ मुडाकर एक निर्धन ग्रमीण का वेश धारण कर लालकुमारी के साथ एक बैलगाडी में बैठकर दिल्ली भाग गया। मार्ग में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सहने से बाद वह २५ जनवरी की रात में चुपके से दिल्ली पहुँचा और शरण के लिए सीधा असदखाँ के पास पहुँचा। इस चालाक बूढे मन्त्री ने इस भूतपूर्व सम्राट को फर्रुखसियर को सौंप देने के लिए गिरफ्तार कर लिया, जिससे वह और उसका बेटा जुल्फिकारखाँ नये सम्राट के कोप से बच जायें और नये सम्राट फर्रुखसियर के दिल्ली आने से एक दिन पूर्व उसकी आज्ञा से ११ फरवरी, १७१३ ई० को उसे मार डाला गया।

मुगल-वंश मे जहाँदारशाह ही पहला शासक था जो राजकाज करने में अयोग्य सिद्ध हुआ। यद्यपि वह अपने प्रारम्भिक जीवन में फुर्तीला सिपाही था किन्तु जवानी में वह आलसी और विषयी बन गया था। प्राचीन और शक्तिशाली राजघराने मे पैदा होने पर भी उसने ऐसा व्यवहार किया जैसे कि वह एक साधारण नवोत्थान वाला हो, जिसे भाग्यवश शक्ति और ऐश्वर्य यकायक अपने जीवन में मिले हो। उसने सारे सरकारी कामकाजों को ऐसे नीच, दुराचारी और मूर्खों के हाथ में सौप दिया था जिन्होने राजकाज की थोड़ी-सी भी शिक्षा या योग्यता प्राप्त नहीं की थी। इस असावधानी का बदला उसे दस महीने के अल्प शासनकाल में उचित ही मिल गया।

फर्रुखसियर (१७१३-१६१९ ई०)

११ जनवरी को फर्रुखसियर गद्दी पर बैठा। इस समय इसकी अवस्था ३० वर्ष की थी। यह परम सुन्दर था, किन्तु अत्यन्त कायर, अविवेकी और चरित्रहीन था। दुर्बल व अविवेकी होने के कारण उसे कोई भी सलाहकार बहका देता था और वह किसी बात का निश्चय करके भी उसे पूरा नहीं कर पाता था। न वह अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रख सकता था और न दूसरों पर। वह योग्य से योग्य मन्त्रियों पर भी विश्वास नहीं करता था, अपितु बच्चों की तरह अपने मन्त्रियों पर सन्देह कर

उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगता था। उसके मन्त्री सैय्यद अब्दुल्लाखाँ और मीरबख्शी हुसैनअलीखाँ (सैय्यदखाँ भाई) ने ही उसे गद्दी पर बिठाया था किन्तु उसने उन्ही के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने का प्रयत्न किया। मार्च १७१३ ई० के आरम्भ में सम्राट तथा उसके मन्त्रियों में कलह का सूत्रपात हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि मन्त्री (सैय्यद अब्दुल्लाखाँ) ने दरबार में आना छोड़ दिया और निरुपाय सम्राट को उसके घर जाकर उससे सुलह करनी पड़ी। महीनो तक सम्राट इन दो सलाहकारो की सहायता से वजीर और मीरबख्शी के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता रहा, (१) मीरजुमला जो शाही, चोबदारो का दरोगा था, और (२) ख्वाजा आफिस जिसको खान दौरान समसामुद्दौला की उपाधि प्राप्त थी और जो शाही दीवाने आम का दरोगा था। किन्तु ये दोनो नये सरदार घर के ही सूर थे और वास्तव मे साहस एवं योग्यता से हीन थे, अत. ये सैय्यद भाइयों का मुकाबला करने मे असमर्थ रहे और उनके षड्यन्त्र सफल न हो सके। यह षड्यन्त्र दीर्घकाल तक चलते रहे और इसका मुख्य परिणाम यह हुआ कि मन्त्रियों तथा सम्राट का पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और राजकाज अव्यवस्थित हो गया।

फर्रुखसियर ने गद्दी पर बैठने के बाद सबके पहला काम यह किया कि उसने १३ फरवरी, १७१३ ई० को जुल्फिकारखाँ को मारकर असदखाँ को जेल में डाल दिया तथा उन दोनो की सम्पत्ति जब्त कर ली। इस समय ऊँचे-ऊँचे पदो पर जो लोग प्रतिष्ठित थे उनमे से 'निजाम-उल-मुल्क' नाम से प्रसिद्ध चिनकिलिचखाँ भी था। वह दक्खिन के ६ सूबो का सूबेदार बनाया गया था। यह तूरानी पार्टी का नेता था। फर्रुखसियर के शासनकाल में मारवाड़ के राजा अजीतसिंह पर आक्रमण किया गया। अजीतसिंह ने बहादुरशाह की मृत्यु के बाद शाही अफसरों को जोधपुर से निकालकर अपने राज्य मे गौ-हत्या तथा मुसलमानों की अजाँ बन्द करवा दी थी। इसने अजमेर पर भी अधिकार जमा लिया था। हुसैनअलीखाँ को राठौर राजा का दमन करने की आज्ञा दी गयी। अजीतसिंह ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसने अपने पुत्र अभयसिंह को सेवा के लिए दरबार में भेजना तथा अपनी एक पुत्री का सम्राट के साथ विवाह कर लेना स्वीकार कर लिया (मई १७१४ ई०)। हुसैनअलीखाँ को शीघ्र ही लौटना पड़ा क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में कायर सम्राट ने अब्दुल्लाखाँ के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रच लिया था। मन्त्री परेशान होकर इस्तीफा देने को तैयार हो गया। फर्रुखसियर इस घटना से भयभीत हो गया और उसने सैय्यद भाइयों को प्रसन्न करने के लिए अपने प्रधान सलाहकार मीरजुमला को दरबार से हटाकर बिहार का सूबेदार (गवर्नर) बनाकर वहाँ भेज दिया। इसके बदले मे हुसैनअलीखाँ ने दक्खिन की सूबेदारी स्वीकार कर ली और वह अप्रैल १७१५ ई० मे वहाँ का चार्ज लेने के लिए रवाना हो गया।

सिक्खों के गुरु बन्दा ने सधौरा के निकट एक बड़ा दुर्ग बनाकर आसपास के प्रदेश पर शासन करना आरम्भ कर दिया था, अतः फर्रुखसियर ने उस पर भीषण हमला करने का आदेश दिया। लाहौर के सूबेदार अब्दुलसमदखाँ ने किले का घेर डाल दिया। सिक्खों ने बड़ी वीरता से युद्ध किया, किन्तु फिर भी उन्हें किला छोड़कर

लोहगढ मे शरण लेनी पडी । यहीं उनके गुरूजी रहा करते थे । अब्दुलसमदखाँ ने अब लोहगढ का घेरा डाल दिया । विवश होकर गुरु (बन्दा) को अक्तूबर १७१३ ई० में इसे भी खाली कर पहाड़ियों में चला जाना पडा । अब उन्होने वही से पजाब में लूट-मार जारी रखी । अप्रैल १७१५ ई० को बन्दा को गुरुदासपुर मे पुन: घेरा गया । लम्बी और भयकर लडाई के बाद १७ दिसम्बर, १७१५ ई० को उसे आत्मसमर्पण कर देना पडा । वह ७४० अनुयायियो के साथ कैद कर लिया गया और इन सबकी दिल्ली मे लाकर निर्मम हत्या कर दी गयी । "इस समय सिक्खो ने अद्भुत धैर्य और आत्मशक्ति का परिचय देकर मृत्यु का मुक्ति के रूप मे स्वागत किया । प्राणदण्ड से वचने के लिए किसी ने भी इस्लाम धर्म स्वीकार नही किया । स्वयं बन्दा तथा उसके तीन-वर्षीय मासूम बच्चे की १९ जून, १७१६ ई० को निर्दयतापूर्वक हत्या की गयी ।"

चूरामन जाट के दमन करने के भी प्रयत्न किये गये । यद्यपि बहादुरशाह ने इसे साम्राज्य में उच्चपद देकर अपने पक्ष मे कर लिया था तो भी यह आगरा के आस-पास बड़े-बड़े डाके डालता रहता था । आमेर के राजा जयसिंह ने उसके थून नामक नये दुर्ग का घेरा डाला किन्तु नयी शाही सेना के आने पर भी वह इस पर अधिकार करने मे असफल रहा । यह घेरा बीस महीने तक पड़ा रहा । अन्त में सैय्यद भाइयों के बीच में पडने से चूरामन को किले पर अधिकार बनाये रखने की आज्ञा दे दी गयी, किन्तु शर्त यह लगा दी गयी कि उसे सम्राट के अधीन रहना पड़ेगा । जयसिंह को घेरा उठा लेने की आज्ञा दी गयी और अप्रैल १७१८ ई० में चूरामन स्वयं दिल्ली गया ।

इस बीच में फर्रुखसियर सैय्यद भाइयों के विरुद्ध निरन्तर षड्यन्त्र रचता रहा । इस काम में वह निजाम-उल-मुल्क की सहायता चाहता था जिसे सैय्यद हुसैन-अलीखाँ ने दक्खिन की सूबेदारी से हटा दिया था । किन्तु निजाम-उल-मुल्क को सम्राट के अस्थिर भाव से घृणा हो गयी थी, अत: वह दो वर्ष बाद दरबार छोडकर चला गया । अब सम्राट ने इनायतउल्ला काश्मीरी को चारहजारी का ओहदा देकर माल-मन्त्री बना दिया । यद्यपि उसने शासन में सुधार करने के प्रयत्न किये और हिन्दुओं पर जजिया लगाया, किन्तु सैय्यद भाइयों के निकालने मे वह भी असफल रहा । तब फर्रुखसियर ने मुहम्मद मुराद नाम के दूसरे काश्मीरी सरदार को सैय्यद भाइयों के हटाने के लिए सातहजारी ओहदे पर नियुक्त किया, किन्तु वह भी असफल रहा । इसके बाद सर बुलन्दखाँ को सातहजारी की पदवी दी गयी किन्तु वह सैय्यद भाइयो के निकालने के षड्यन्त्र में ही शामिल नहीं हुआ । अब सम्राट ने ईद की नमाज में अब्दुल्लाखाँ को घेरने का षड्यन्त्र रचा किन्तु बाद को उसे इस विचार को त्याग देना पडा । इस बीच मे मीरजुमला और समसामुद्दौला जैसे सम्राट के परम मित्र भी सैय्यद भाइयों के पक्ष मे हो गये थे । फिर भी मूर्ख फर्रुखसियर ने अपने कायरतापूर्ण कृत्यों को बन्द नही किया और वह वजीर अब्दुल्लाखाँ को परेशान करता रहा जिससे विवश होकर उसे अपने भाई हुसैनअलीखाँ को दक्खिन से दिल्ली बुलाना पड़ा । हुसैनअलीखाँ ने शाहू से सन्धि करके मराठों की सहायता प्राप्त कर ली । इस सन्धि की शर्तें ये

थीं—(१) शाहू को दक्षिण प्रान्त की मालगुजारी पर चौथ और सरदेशमुखी अर्थात दशांश वसूल करने का अधिकार दे दिया जाय। (२) शाहू का पैतृक राज्याधिकार स्वीकार कर लिया जाय। (३) दिल्ली जेल में पड़ी हुई शाहू की माता तथा उसका धात्री भाई छोड़ दिया जाय। वह उन ११,००० मराठा सैनिकों के वेतन देने के लिए भी राजी हो गया जिन्हे वह पेशवा बालाजी विश्वनाथ के नेतृत्व में दिल्ली ले जा रहा था। मीरबख्शी १४ दिसम्बर, १७१८ ई० को बुरहानपुर से चलकर १६ फरवरी, १७१९ ई० को दिल्ली पहुँचा और उसने यह बहाना किया कि वह औरंगजेब के चतुर्थ पुत्र अकबर को लेकर दिल्ली जा रहा है। यद्यपि इस बीच में फर्रुखसियर ने सैय्यद अब्दुल्लाखाँ से माफी माँगकर उसे और उसके भाई को अच्छी-अच्छी बख्शीशें दीं और उनकी पार्टी के सरदारों को भी प्रसन्न करने की चेष्टा की, तो भी उसे गद्दी से उतारने का ही निश्चय पक्का रहा, जिससे उसकी मक्कारियों का सदा के लिए अन्त हो जाय। हुसैनअलीखाँ २३ फरवरी को सम्राट से मिला। सम्राट ने बड़ी दीनतापूर्वक उससे क्षमा माँगकर उसके सिर पर अपनी पगडी रख दी। पहले तो सैय्यद भाइयों ने दरबार को अपने नामजद आदमियों से भरा और फिर २७ फरवरी, १७१९ ई० को उन्होंने अजीतसिंह तथा उसके साथियों के साथ महल मे घुसकर किले के फाटक, दफ्तर और शयनागारों पर अधिकार कर लिया। हुसैनअलीखाँ ने अपने आदमियों को नगर में तथा मराठों को इसकी चहारदीवारी पर नियुक्त कर दिया था। किले के भीतर सम्राट और वजीर के बीच एक तूफान खड़ा हो गया था और फर्रुखसियर ने भयभीत होकर जनानखाने में शरण ली थी। नगर में दंगा-फ़साद होने के कारण फर्रुखसियर को गद्दी से तुरन्त ही उतार देना ही उचित समझा गया। अतः २८ फरवरी १७१९ ई० को रफी-उश-शान का पुत्र रफी-उद-दरजात लाया गया और मयूर सिंहासन पर बिठाकर उसे सम्राट घोषित कर दिया गया। फर्रुखसियर को घसीटकर बाहर लाने के लिए कुछ अफगान जनानखाने में भेजे गये जिन्होंने सम्राट को गद्दी से उतारकर और उसे अन्धा बनाकर जेल में डाल दिया। २७-२८ अप्रैल १७१९ ई० को वह गला घोंटकर मार डाला गया और हुमायूँ के मकबरे पर दफना दिया गया। इस भाँति दिल्ली के सिंहासन पर बाबर-वंश के जितने भी सम्राट अब तक बैठे उनमे यह सबसे अधिक निकम्मा साबित हुआ।

रफी-उद-दरजात (२८ फरवरी–४ जून, १७१९ ई०)

रफी-उद-दरजात रफी-उश-शान का पुत्र था और २८ फरवरी को सिंहासन पर बैठने के समय २० वर्ष का नवयुवक था। किन्तु यह क्षय रोग से बुरी तरह पीड़ित था। वह सैय्यद भाइयों के हाथ की कठपुतली-मात्र था। वास्तव में उसके नाम पर वे ही शासन करते थे। अकबर के पुत्र निकू-सियर ने राजविद्रोह किया और नागर ब्राह्मण मित्रसेन को मन्त्री बनाकर आगरा के किले में सम्राट बन बैठा। ४ जून, १७१९ ई० को रफी-उद-दरजात गद्दी से उतार दिया गया क्योंकि वह रोग के कारण मरणासन्न हो गया था और इसके एक सप्ताह बाद ही वह मर गया।

रफीउद्दौला उर्फ शाहजहाँ द्वितीय (६ जून–१७ सितम्बर, १७१६ ई०)

रफीउद्दौला गद्दी से उतारे हुए राजा रफी-उद-दरजात का बड़ा भाई था। वह ६ जून, १७१६ ई० को शाहजहाँ द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बिठाया गया। यह भी क्षय रोग से पीड़ित था और सैय्यद भाइयो के हाथ की कठपुतली ही रहा। इसके शासनकाल मे हुसैनअलीखाँ ने आगरा जाकर निकू-सियर के विद्रोह को शान्त किया। निकू-सियर गिरफ्तार कर जेल मे डाल दिया गया और मित्रसेन ने आत्महत्या कर ली। रफीउद्दौला जवान तो था किन्तु सदा बीमार रहता था, अतः १७ सितम्बर, १७१६ ई० को उसकी मृत्यु हो गयी।

मुहम्मदशाह (१७१६-१७४८ ई०)

सैय्यद भाइयों ने अब जहानशाह के पुत्र रोशन अख्तर को मुहम्मदशाह नाम से २८ सितम्बर, १७१६ ई० को गद्दी पर बिठाया। यह राजकुमार दुर्बल और अनुभवहीन था, अतः सारी शक्ति सैय्यद भाइयो ने अपने ही हाथ में रखी। निजाम-उल-मुल्क मालवा का सूबेदार नियुक्त हुआ और वह ३ मार्च, १७२० ई० को वहाँ का काम संभालने के लिए चला गया था। गिरधर बहादुर अपने चाचा छबेलाराय की जगह इलाहाबाद का सूबेदार नियुक्त हुआ। वह भी सन्धि करके अवध के सूबे का काम सँभालने के लिए अप्रैल १७२० ई० को इलाहाबाद से चल दिया। निजाम-उल-मुल्क और सैय्यद भाइयों में चल गयी, अत. मई १७२० ई० मे निजाम-उल-मुल्क ने खानदेश पर आक्रमण कर दिया जो सैय्यद हुसैनअलीखाँ के वायसरायी अधिकार में था। सैय्यद भाइयो का भतीजा दिलावरअलीखाँ निजाम को दण्ड देकर खदेड़ने के लिए भेजा गया। इसी बीच में निजाम ने पहले असीरगढ़ और फिर बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। उसने बुरहानपुर में रहने वाली सैय्यद भाइयों की माता के साथ अच्छा व्यवहार किया और खानदेश मे दिलावरअलीखाँ को हराकर मार डाला। इसके बाद उसने हुसैनअलीखाँ के भतीजे और उसके नायब आलमअलीखाँ के साथ युद्ध किया और उसे भी हराकर १० अगस्त को मारा डाला। इस समाचार से सैय्यद भाई बहुत घबराये और उन्होने बड़े वाद-विवाद के बाद निजाम-उल-मुल्क को दबाने के लिए हुसैनअलीखाँ को सम्राट के साथ दक्खिन भेजने तथा अब्दुल्लाखाँ को शासन-प्रबन्ध के लिए दिल्ली में छोड़ने का निश्चय किया। सम्राट दक्खिन के रास्ते में ही था कि हुसैनअलीखाँ के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा गया। इन षड्यन्त्रकारियो में तूरानी पार्टी का नेता मुहम्मद अमीनखाँ मुख्य था। इसके सहायकों में ईरानी साहसी योद्धा मुहम्मद अमीनखाँ और शाही तोपखाने का सुपरिण्टेण्डेण्ट हैदरकुलीखाँ इत्यादि थे। प्रातःकाल ६ अक्तूबर, १७२० ई० को सम्राट हुसैनअलीखाँ का अभिवादन स्वीकार कर ज्योंही टोडा भीम के पास के अपने शिविर मे घुसा और हुसैनअलीखाँ अपने शिविर के लिए रवाना हुआ, त्योंही मुहम्मद अमीनखाँ की टुकड़ी के एक हैदरबेग नामक सैनिक ने हुसैनअलीखाँ को एक प्रार्थनापत्र दिया और जब वह उसे पढ़ने लगा तब उसे बगल में छुरा भोंककर मार डाला। उसकी सम्पत्ति तथा सामान को लोगों ने लूट लिया।

अब सम्राट को सैन्य-संचालन के लिए शिविर से बुलाया गया। हुसैनअलीखाँ के स्थान पर मुहम्मद अमीनखाँ मन्त्री नियुक्त हुआ। उसे आठहजारी का ओहदा तथा इतिमाद-उद-दौला का खिताब दिया गया। सम्राट ने दिल्ली जाकर १५ नवम्बर को बिल्लोचपुरा के पास सैय्यद अब्दुल्लाखाँ से युद्ध किया और उसे हराकर कैद कर लिया गया। हुसैनअलीखाँ के मर जाने का समाचार सुनकर सैय्यद अब्दुल्लाखाँ ने राजकुमार इब्राहीम को सिंहासन पर बिठा दिया था। अब यह राजकुमार मुहम्मदशाह के सामने लाया गया और क्षमा करके दिल्ली की जेल मे बन्दी बना दिया गया।

मुहम्मदशाह ने विजयोल्लास के साथ २३ नवम्बर, १७२० ई० को दिल्ली में प्रवेश किया। ३० जनवरी, १७२१ ई० को नये मन्त्री मुहम्मद अमीनखाँ की मृत्यु हो गयी। अब मन्त्री का पद निजाम-उल-मुल्क को दिया गया और उसके दक्खिन से आने तक इनायतउल्ला काश्मीरी उसकी जगह काम करता रहा। निजाम-उल-मुल्क १६ जनवरी, १७२२ ई० को दिल्ली पहुँचा और २१ फरवरी को उसकी मन्त्री पद पर विधिवत नियुक्ति हुई किन्तु यह सम्राट और उसके नौजवान सरदारो के साथ काम नहीं कर सका क्योंकि यह औरंगजेब के समय का अन्तिम अवशेष था और दिल्ली दरबार में कठिन अनुशासन रखना चाहता था जिसे ये लोग पसन्द नहीं करते थे। ये तो उसकी वेशभूषा तथा व्यवहार तक की मजाक उड़ाया करते थे। इसके अतिरिक्त यह बड़ा महत्त्वाकांक्षी था और दक्खिन के ६ सूबों के अतिरिक्त मालवा को भी अपने अधिकार में रखना चाहता था। उसने नवयुवक सम्राट को राजकाज मे और अधिक ध्यान देने की, खालसा भूमि में खेती रोक देने की तथा हिन्दुओं पर जजिया लगाने की सलाह दी। पर यह सलाह ठुकरा दी गयी, अतः वह १८ दिसम्बर, १७२३ ई० को शिकार के बहाने दिल्ली छोड़कर दक्खिन वापस चला गया। अब मुहम्मद अमीनखाँ का पुत्र कमरुद्दीन वजीर नियुक्त हुआ।

निजाम-उल-मुल्क मुबारिजखाँ हैदराबाद की सूबेदारी से हटकर दक्खिन के ६ सूबों का वास्तविक एवं स्वतन्त्र शासक बन गया। बादशाह ने मुबारिजखाँ को विरोध करने के लिए बहुत उकसाया परन्तु मुबारिजखाँ शकर खेलदा के मैदान में हारकर ११ अक्तूबर, १७२४ ई० को मारा गया। निजाम-उल-मुल्क ने हैदराबाद को अपनी राजधानी बनाया और दुर्बल सम्राट ने अब उसे आसफजाह की उपाधि देकर शान्त करने का प्रयत्न किया किन्तु उसने गुजरात की सूबेदारी हथिया ली थी। उसे उससे छीन लिया। मराठों के आक्रमण के कारण निजाम को अपने वायसराय काल में बड़ी कठिनाइयाँ सहनी पड़ीं। बाजीराव ने उसे अनेक बार हराया। इसीलिए निजाम ने अपने सूबों को मराठो से बचाने के लिए कूटनीति से काम लिया और पेशवा के सामने यह प्रस्ताव रखा कि वह उत्तरी भारत मे मराठा राज्य स्थापित करने के लिए मुगल सम्राट के प्रदेश पर आक्रमण करे।

बाजीराव ने इस सुझाव का स्वागत किया और १७३१ ई० से उत्तर भारत मे मुगल प्रदेशों पर आक्रमण शुरू कर दिये। फरवरी १७३४ ई० मे मराठो ने आगरा

से ७० मील दक्षिण में स्थित हिण्डौन पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में ले लिया। यद्यपि ये आगामी मार्च मे वहाँ से खदेड़ दिये गये किन्तु उन्होने फिर सांभर पर हमला कर दिया। सम्राट ने बाजीराव को प्रसन्न करने के लिए उसे मालवा का सूबेदार मान लिया, किन्तु पेशवा इससे सन्तुष्ट नही हुआ और उसने सम्पूर्ण मालवा, चम्बल के समस्त दक्षिणी प्रदेश तथा प्रयाग, काशी, गया और मथुरा जैसे हिन्दू-तीर्थ-स्थानों पर अपने पूरे अधिकार की माँग की। उसने दक्खिन के ६ सूबो से चौथ तथा सरदेशमुखी कर की उघाई चाही और पचास लाख की आय की एक जागीर की माँग की। पेशवा की ये अन्धाधुन्ध माँगें ठुकरा दी गयी और उसकी प्रगति को रोकने के लिए शाही सेना भेज दी गयी परन्तु बाजीराव मार्च १७३७ ई० मे बुरहान-उल-मुल्क और खान दौरान को चकमा देकर दिल्ली के निकट जा धमका और उसने राजधानी के आसपास के गाँवो को जला दिया। सम्राट ने निजाम-उल-मुल्क को मराठों को दबाने का आदेश दिया। निजाम-उल-मुल्क हार गया और उसे विवश होकर १७ जनवरी, १७३८ ई० को सिरौंज के निकट एक समझौते पर हस्ताक्षर करने पड़े जिसके अनुसार उसे बाजीराव को पूरा मालवा देकर नर्वदा से चम्बल तक उसका पूर्ण आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा तथा पचास लाख रुपये की आर्थिक सहायता भी देनी पड़ी।

मुहम्मदशाह के शासनकाल मे मुगल-साम्राज्य के दो और प्रान्त अर्थात अवध और बंगाल भी स्वतन्त्र हो गये। ९ सितम्बर, १७२२ ई० को सआदतखाँ बुरहान-उल-मुल्क नाम का एक ईरानी साहसी योद्धा अवध का सूबेदार नियुक्त हुआ। इसने इस प्रान्त में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और दिल्ली से केवल नाममात्र का सम्बन्ध रखा। १७०७ से १७१२ ई० तक बहादुरशाह के शासनकाल में बंगाल, बिहार और उड़ीसा एक सूबा थे और बहादुरशाह के द्वितीय पुत्र अजीम-उश-शान के अधिकार में थे। बंगाल में राजकुमार अजीम-उश-शान का एक प्रतिनिधि (डिप्टी) जाफरखाँ था। जब फर्रुखसियर ने १७१२ ई० में सिंहासनाधिकार के युद्ध के लिए आगरा को प्रस्थान किया तब जाफरखाँ ही तीनों सूबों का अधिकारी बना दिया गया और वह १७२६ ई० तक आजीवन इन प्रान्तों का सूबेदार रहा। इसकी मृत्यु के बाद ये प्रान्त इसके दामाद शुजाउद्दीन मुहम्मद के हाथ आ गये, यद्यपि खान दौरान नाममात्र का सूबेदार बना रहा। २४ मार्च, १७३९ ई० को शुजाउद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र सरफराजखाँ सूबेदार हुआ। सरफराजखाँ का प्रबन्ध ठीक नहीं था और १२ मई, १७४० ई० को बिहार के सहायक सूबेदार अलीवर्दीखाँ ने उसे हराकर मार दिया। अब अलीवर्दीखाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा का सूबेदार बन गया और मुहम्मदशाह ने इसे सूबेदार मान लिया परन्तु वास्तव में इस तारीख से बंगाल, बिहार और उड़ीसा दिल्ली की अधीनता से मुक्त हो गये।

केन्द्रीय सरकार अब इतनी कमजोर हो गयी थी कि १७३७ ई० में एक ईरानी साहसी योद्धा नादिरशाह ने देश पर हमला कर दिया जो एक विजेता तुर्की सिपाही था। अफगानी आक्रमणकारियों से अपने देश को स्वतन्त्र करने के बाद यह उन

अफगानियों को दण्ड देने के लिए अफगानिस्तान गया जो भागकर भारत में आ रहे थे। उसने एक के बाद एक करके दो दूत मुहम्मदशाह के पास दिल्ली भेजे और बादशाह से प्रार्थना की कि वह अफगानी शरणार्थियो को अपने देश में प्रवेश न करने दे। इसके बाद उसने २४ मार्च, १७३८ ई० को कन्धार पर अधिकार कर लिया और ११ जून को गजनी में प्रवेश किया। मुहम्मदशाह इसके तीसरे दूत को एक साल तक रोके रहा और इसकी बार-बार की प्रार्थनाओ के उत्तर देने की तनिक भी चिन्ता नही की। फलत. नादिरशाह ने २९ जून को काबुल पर घेरा डालकर उस पर अधिकार कर लिया और फिर जमरूद तथा पेशावर पर नियुक्त मुगल सेना का विनाश करता हुआ पजाब पर हमला करने के लिए आगे बढ़ चला। २७ दिसम्बर को उसने अटक के पास सिन्धु को पार कर लाहौर के सूबेदार को हराया। जब वह दक्षिण की ओर बढ़ रहा था तब उसे मालूम हुआ कि मुहम्मदशाह उसका विरोध करने के लिए आ रहा है, अतः उसने करनाल के पास अपना शिविर डाल दिया। इसी बीच में मुहम्मदशाह के दरबार को नादिरशाह के आक्रमण का समाचार प्राप्त हुआ। उसने पहले तो इसे हँसी मे उड़ा दिया और देश पर आने वाली विपत्तियों का उसे होश तब आया जब उसे ज्ञात हुआ कि नादिरशाह काबुल पर अधिकार कर लाहौर की ओर बढ़ रहा है। अब यह निश्चय हुआ कि बादशाह स्वयं जाकर इस आक्रमणकारी को खदेड दे। अतः वह एक बड़ी सेना लेकर करनाल पहुँचा और अलीमरदानखाँ की नहर के किनारे उसने सुरक्षा के लिए अपने शिविर के आसपास खाई का घेरा बना लिया। नादिरशाह कुछ दिन बाद करनाल के पास आया और उसने नगर के पश्चिम में ६ मील दूर अपना शिविर डाल दिया। अवध के सूबेदार सआदतखाँ बुरहान-उल-मुल्क २४ फरवरी को सम्राट की सहायता के लिए करनाल आया, किन्तु उसके पीछे आने वाली सामान की गाड़ी पर ईरानियो ने हमला कर दिया, जिसकी खोज खबर के लिए उसे पीछे लौटना पड़ा। परिणामस्वरूप २४ फरवरी, १७३९ ई० को करनाल की लड़ाई हुई। खान दौरान ने बुरहान-उल-मुल्क की सहायता की किन्तु निजाम-उल-मुल्क और सम्राट युद्ध-पंक्ति से कुछ दूर रहे और आक्रमणकारी सेना के सम्पर्क से बच गये। बुरहान-उल-मुल्क घायल होकर कैद कर लिया गया। खान दौरान के घातक घाव लगे जिससे वह अपने शिविर में दूसरे दिन मर गया। नादिरशाह की विजय हुई और दोनों सेनाएँ सन्ध्या के समय अपने-अपने शिविरों को लौट गयी।

बुरहान-उल-मुल्क ने आक्रमणकारी नादिरशाह से सम्राट की शक्ति की बड़ी डींग मारी और उसे २ करोड़ को क्षतिपूर्ति स्वीकार कर फारस लौट जाने की सलाह दी। निजाम उल-मुल्क ने नादिरशाह से दो बार भेंट की और सम्राट उसके द्वारा नादिरशाह को २ करोड़ की भेंट देने को तैयार हो गया। किन्तु जब बुरहान-उल-मुल्क को मालूम हुआ कि खान दौरान की मृत्यु के कारण खाली हुआ मीरबख्शी का पद निजाम-उल-मुल्क को पुरस्कार में इसलिए दिया जा रहा है कि वह बातचीत में सफल रहा है तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। वह इस पद का स्वयं इच्छुक था चूँकि

निजाम-उल-मुल्क ने अपने षड्यन्त्र से उसे इससे वंचित कर दिया, अतः उसने अब नादिरशाह को २ करोड़ की जगह २० करोड़ की माँग करने की सलाह दी। नादिरशाह की धन-लालसा बढ गयी। उसने निजाम को बुलाकर गिरफ्तार कर लिया और मुहम्मदशाह के शिविर के चारो ओर अपनी सेना बिठा दी। मुहम्मदशाह नादिरशाह से दो बार मिला और यह निश्चय हुआ कि नादिरशाह अपनी क्षतिपूर्ति के धन को लेने के लिए दिल्ली चले।

नादिरशाह मुहम्मदशाह के साथ दिल्ली रवाना हुआ। उसने नगर के ६ मील दूर शालामार बाग मे अपना डेरा डाला और मुहम्मदशाह को अपने स्वागत की तैयारी के लिए दिल्ली भेज दिया। २० मार्च को नादिरशाह का नगर मे जुलूस निकला। दूसरे दिन ईद तथा ईरानी नया साल था। इस उपलक्ष मे दिल्ली की हर मस्जिद मे नादिरशाह ने नाम का खुतबा पढा गया। २२ मार्च को नगर मे दगा हो गया जिसमे कुछ ईरानी सिपाही मारे गये और यह अफवाह फैल गयी कि नादिरशाह मारा गया। इससे आगबबूला होकर नादिरशाह ने दूसरे दिन कत्लेआम की आज्ञा दे दी। यह कत्लेआम आठ घण्टे तक होता रहा और लगभग ३०,००० नागरिक मारे गये। सायंकाल के समय नादिरशाह ने मुहम्मदशाह की प्रार्थना पर कत्लेआम बन्द करवा दिया।

नादिरशाह दिल्ली मे १५ मई तक रहा। उसने शाही खजाने के मोती, हीरे, जवाहरात और प्रसिद्ध मयूर सिंहासन (तख्त ताऊस) को अपने अधिकार मे कर लिया। उसने सभी दरबारियो से नजराने लिये। बुरहान-उल-मुल्क को २० करोड रुपये न दे पाने के अपराध मे शारीरिक दण्ड देने की धमकी दी गयी जिसके करण वह विष खाकर मर गया। अब बुरहान-उल-मुल्क के स्थान पर सफदरखाँ की नियुक्ति हुई जिसने बुरहान-उल-मुल्क के हिस्से के दो करोड रुपये नादिरशाह को भेट किये। नादिरशाह मुहम्मदशाह को गद्दी पर बिठाकर १६ मई को दिल्ली से रवाना हुआ। जाते समय वह मुहम्मदशाह को निजाम से सचेत रहने की सलाह देता गया कि निजाम एक धोखे-बाज, धूर्त, स्वार्थी और अनुचित महत्त्वाकांक्षी युवक है। इस लूट में जवाहरात, सोना, चाँदी, बरतन, असबाब (फर्नीचर) और दूसरे कीमती सामान के अलावा १० करोड़ रुपये नकद नादिरशाह के हाथ लगे। इसके अतिरिक्त वह एक हजार हाथी, सात हजार घोड़े, दस हजार ऊँट, सौ खोजे, एक सौ तीस लेखक (क्लर्क), दो सो संगतराश, सौ राज और दो सौ बढ़ई भी अपने साथ ले गया। साथ ही उसने काबुल का प्रान्त भी ईरान में मिला दिया।

नादिरशाह के आक्रमण से मुहम्मदशाह और उसके दरबार पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा और देश तबाह हो गया। किन्तु बादशाह की आखें अब भी नहीं खुलीं। यद्यपि उसे निजाम-उल-मुल्क की ओर से सन्देह तो हो गया था किन्तु फिर भी उसे न तो कमरुद्दीन को वजीर के पद से हटाने की हिम्मत ही हुई और न वह शासन-प्रबन्ध में ही कोई सुधार कर सका। शासन-प्रबन्ध दिन पर दिन खराब होता ही गया। मराठों के आक्रमण मालवा, गुजरात और बुन्देलखण्ड पर ही नहीं अपितु उन प्रान्तों

के उत्तरी प्रदेश पर भी पहले की तरह होते रहे। रघुजी भोंसले ने चौथ वसूल करने के लिए बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर हमला किया। सम्राट उसे दबाने मे बिलकुल असमर्थ रहा और केवल नये पेशवा बालाजी बाजीराव से ही उसे दबाने की प्रार्थना करता रहा। अब पेशवा मालवा प्रान्त का विधिवत सूबेदार नियुक्त किया गया। कतेहर का प्रान्त अलीमुहम्मदखाँ रुहेला के हाथ में चला गया और इसी नाम पर इस प्रान्त का नाम रुहेलखण्ड पड़ गया। मुहम्मदशाह ने बदायूँ के १४ मील उत्तर-पूरब में स्थित रुहेला के सुदृढ़ गढ बानगढ पर आक्रमण कर दिया। अलीमुहम्मद को हराकर कैद कर लिया गया किन्तु कमरुद्दीनखाँ ने बीच मे पडकर उसे छुड़वा दिया और उसने लौटकर रुहेलखण्ड पर पुनः अधिकर जमा लिया।

१७४८ ई० के आरम्भ मे अहमदशाह अब्दाली ने पजाब पर हमला किया। यह अफगान जाति के अब्दाली अथवा दुर्रानी फिरके के सदोजई नामक वश का अफगान था और १७४७ ई० के अन्त मे नादिरशाह के कत्ल होने पर अफगानिस्तान का बादशाह बन बैठा था। इधर शाहनवाजखाँ पंजाब का सूबेदार बन बैठा था और उसने अहमदशाह अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। अब्दाली लाहौर पर अधिकार कर दिल्ली की ओर बढ़ा किन्तु सम्राट मुहम्मदशाह के पुत्र शाहजादे अहमद ने उसे मच्छीवाडा के पास मनूपुर में हराकर काबुल लौट जाने के लिए विवश कर दिया (मार्च १७४८ ई०)।

२६ अप्रैल, १७४८ ई० को मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र अहमद सम्राट अहमदशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। मुहम्मदशाह जो 'मुहम्मद रंगीला' के नाम से प्रसिद्ध है, एक दुर्बल शासक था तथा राजकाज को मन्त्रियो के हाथ मे छोड़कर अपना सारा समय भोग-विलास मे ही बिताता था। उसके शासनकाल में केन्द्रीय सरकार की प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी, सेना का अनुशासन तथा चरित्र गिर गया और साम्राज्य का विस्तार बहुत कम हो गया। दक्खिन के ६ सूबे तथा वायसराय से अधिकार में रहने वाले अवध, बंगाल, बिहार और उड़ीसा भी स्वतन्त्र हो गये। मालवा, बुन्देलखण्ड और गुजरात पर मराठों का अधिकार हो गया, राजपूताना दिल्ली की सत्ता से बिलकुल मुक्त हो गया और यूरोपियन व्यापारी दक्षिण भारत में पहले-पहल साम्राज्य स्थापना के स्वप्न देखने लगे।

अहमदशाह (१७४८-१७५४ ई०)

शाहजादा अहमद २८ अप्रैल, १७४८ ई० को दिल्ली के उत्तर में शालीमार बाग में अहमदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। वह इस समय २३ वर्ष का नवयुवक था। उसे न तो राजकाज का अनुभव था और न उसमें नेता होने की योग्यता ही थी। वह नीच, दुराचारी और व्यभिचारी था तथा शासक के गुणों से सर्वथा हीन था। उसने बुरहान-उल-मुल्क के भतीजे तथा दामाद और अवध के सूबेदार सफदरजंग को अपना वजीर तथा कमरुद्दीन खाँ के लड़के मुइन-उल-मुल्क को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया। समावतखाँ जुल्फिकारजंग मीरबख्शी बना। हिजड़ों के सरदार जावेदखाँ

को बहुत ऊँची-ऊँची उपाधियाँ दी गयी, वह 'नवाब बहादुर' के नाम से प्रसिद्ध हो गया और दरबार की उस पार्टी का नेता बना दिया गया जो वास्तव मे औरतो और हिजडो की महफिल थी परन्तु जिसका शासन-प्रबन्ध मे प्रभुत्व था और जो साम्राज्य के बड़े-बडे सरदारो और अफसरो के विरुद्ध जाल रचा करती थी।

अहमदशाह अपने शासनकाल के आरम्भ से ही नवाब बहादुर की पार्टी के हाथ मे खिलौना बन गया। यह पार्टी सफदरजग के विरुद्ध षड्यन्त्र रचती रहती थी। नवम्बर १७४८ ई० के अन्त मे नवाब बहादुर ने वजीर की हत्या का असफल प्रयत्न किया जिसके कारण वजीर का हृदय सम्राट की ओर से खट्टा हो गया। वजीर ने दरबार मे आना छोड दिया, किन्तु उसे शीघ्र मना लिया गया। दूसरे वर्ष के आरम्भ मे पुन: वजीर को हटाने का षडयन्त्र रचा गया और सम्राट की सहायता के लिए निजाम-उल-मुल्क के द्वितीय पुत्र नासिरजग को दक्खिन से बुलाया गया। किन्तु ये मसूबे पूरे नही हुए। इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि सफरदजग और हिजड़े नवाब बहादुर की दरबारी पार्टी तथा राजमाता मलका ए-जमानी मे भेदभाव हो गया जिससे शासन-प्रबन्ध बिलकुल अस्तव्यस्त हो गया।

सफदरजग अवध का सूबेदार था जो रुहेलखण्ड की सीमा से लगा हुआ था। रुहेलखण्ड दो कबीलो के अधिकार में था। उनमे एक कबीला था रुहेलों का, जो रुहेलखण्ड खास पर अधिकार जमाये हुए था और दूसरा कबीला था बगाश पठानों का, जो फर्रुखाबाद और कन्नौज पर राज्य करता था। फर्रुखाबाद के मुहम्मदखाँ बंगाश की १७४३ ई० मे मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसका पुत्र कायमखाँ गद्दी पर बैठा। सफदरजग अपने प्रान्त के पास-पड़ोस में अफगानों की शक्ति कमजोर करना चाहता था अत: उसने कायमखाँ को रुहेलो पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। उसकी योजना के अनुसार कायमखाँ ने बदायूँ में रुहेलों का घेरा डाल दिया। किन्तु अलीमुहम्मदखाँ रुहेला के बड़े लड़के सादुल्लाखाँ ने उसे हराकर मार डाला। इसका लाभ उठाकर सफदरजंग ने सम्राट को साथ लेकर दिसम्बर १७४८ ई० में फर्रुखाबाद को कूच किया और बंगाश प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त उसने साठ लाख रुपये भी हथियाये तथा इलाहाबाद के किले में कायमखाँ के पाँच भाइयों को कैद कर लिया। उसने बंगाश परिवार को वे ही जिले दिये जो बादशाह की तरफ से मुहम्मदखाँ को दिये गये थे और बाकी के जिले साम्राज्य में मिलाकर उनका अधिकार राजा नवलराय को सौंपा और वह दिल्ली लौट आया। उसकी अनुपस्थिति में अफगानों ने विद्रोह कर १३ अगस्त, १७५० ई० को नवलराय को मार दिया। वजीर बड़ी शीघ्रता से नवलराय की सहायता के लिए गया, किन्तु अहमदखाँ बंगाश ने सहावर और पटियाली के बीच रामचतौनी में २३ दिसम्बर, १७५० ई० को उसे हराकर घायल कर दिया। वजीर ने दिल्ली पहुँचकर देखा कि सम्राट और उसकी माता नवाब बहादुर और इन्तिजामुद्दौला के सहयोग से उसे हटाने का प्रबल षड्यन्त्र रच रहे हैं। वजीर के समय पर आ जाने से षड्यन्त्रकारी डर गये और उन्होने अपनी योजना को

ठप्प कर दिया। अहमदखाँ बंगाश ने अवध तथा इलाहाबाद के अनेक प्रान्तो पर बडी तेजी के साथ अधिकार कर लिया, अत. वजीर के लिए बडा गम्भीर खतरा पैदा हो गया। भाग्यवश और नागा सन्यासियो ने सफदरजग का पक्ष लेकर राजेन्द्रगिरि गुसाई के नेतृत्व मे इलाहाबाद किले के सामने बंगाश सरदार का बडा मुकाबला किया और आक्रमणकारी पठानों को खदेड़ दिया। इस बीच मे सफदरजंग ने तैयारी कर ली और मराठो की सहायता से उसने मार्च १७५१ ई० के अन्तिम सप्ताह मे कायमगंज के निकट अहमदखाँ बंगाश को हरा दिया। इसके बाद वजीर ने फतेहगढ के किले का घेरा डाल दिया और २८ अप्रैल, १७५१ ई० को उस पर अधिकार कर लिया। अब अहमदखाँ तथा उसका मित्र सादुल्लाखाँ रुहेला पहाडियो मे भागे किन्तु गढवाल मे काशीपुर से २२ मील उत्तर-पूरब मे स्थित चिलकिया नामक स्थल पर घेर लिये गये। यद्यपि पठान हार गये परन्तु मराठे सादुल्लाखाँ के विनाश के विरुद्ध होकर युद्ध मे तटस्थ हो गये, अत. वजीर को सन्धि के लिए राजी होना पडा। उसने अहमदशाह बगाश को इस शर्त पर क्षमा किया कि वह जुर्मान मे ३० लाख (कुछ इतिहासकारो के अनुसार ८० लाख) रुपया दे और जब तक इसे न चुकाये तब तक के लिए अपने राज्य का आधा प्रदेश जमानत के रूप मे वजीर को दे दे। वजीर ने बगाश का आधा राज्य अर्थात १६½ परगने अहमदखाँ को दिये और १६½ परगने युद्ध मे सहायता देने वाले मराठा मित्रो को ३० लाख रुपयो की एवज मे दे दिये गये। मराठों को जो प्रदेश दिया गया उसका विस्तार उत्तर में अलीगढ से लेकर दक्षिण-पूरब मे कोरा जहानाबाद तक था। अब रुहेले अपने देश को लौट आये। यह सन्धि फरवरी १७५२ ई० के आरम्भ मे हुई थी।

वजीर के राजधानी मे न रहने के कारण अहमदशाह अब्दाली ने पजाब पर आक्रमण कर दिया। यह उसका तीसरा हमला था। उसका पहला हमला मुहम्मदशाह के अन्तिम दिनों मे अर्थात जनवरी-मार्च १७४८ ई० में हुआ था। दूसरा हमला १७४८ ई० में आरम्भ हुआ था। जिसमे उसने पजाब के सूबेदार मुइन-उल-मुल्क को हराकर उसे १४ हजार रुपया सालाना देने के लिए विवश किया था। मुइन-उल-मुल्क हर साल अपना कर नहीं भेज सका था, अत. अहमदशाह ने तीसरी बार सिन्ध पारकर उसे लाहौर मे घेर लिया और आक्रमणकारी (अहमदशाह) को अपना अधिपति मानने के लिए विवश कर दिया। भारतीय पठानों को जीत लेने के बाद सफदरजंग इसी समय बनारस के राजा बलबन्तसिंह को दण्ड देने के लिए चला परन्तु सम्राट ने घबराकर वजीर को बुलाने के लिए प्रमाद-पूर्ण आज्ञा दी। उसने उसे लिखा कि वह आक्रमणकारी से युद्ध करने के लिए मराठों को भी अपने साथ ले आये, अतः सफदरजंग ने २ अप्रैल, १७५२ ई० को मल्हारराव होल्कर तथा जयप्पा सिन्धिया से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार ये दोनों पेशवा की ओर से अब्दाली इत्यादि शत्रुओं से लड़खड़ाते हुए साम्राज्य की रक्षा करने के लिए वचनबद्ध हो गये और सम्राट ने प्रतिज्ञा की कि वह बदले में उन्हें पचास लाख रुपया नकद, पंजाब तथा सिन्ध में चौथ उघाने का अधिकार, अजमेर और आगरा में पेशवा

को सूबेदारी तथा उसे नागौर और मथुरा की फौजदारी दे देगा। वजीर ५ मई, १७५२ ई० को ५०,००० मराठा सेना के साथ दिल्ली लौटा। वहाँ जाकर उसने देखा कि सम्राट ने आक्रमणकारी अब्दाली को पंजाब और मुल्तान के सूबे पहले ही दे दिये हैं और वह काबुल को लौट भी गया है। वजीर को बहुत दुख हुआ। चूँकि उसके साथ आयी हुई मराठा सेना ने दिल्ली के आसपास के गाँवो को लूटना आरम्भ कर दिया, अतएव उसने विवश होकर मल्हारराव को कुछ लाख रुपये दिये और उससे अनुरोध किया कि वह निजाम-उल-मुल्क के ज्येष्ठ पुत्र गाजीउद्दीनखाँ को, जो इस समय दक्खिन के ६ सूबो का सूबेदार नियुक्त किया गया था, कार्य सँभालने मे सहायता दे। मराठो को तो इस प्रकार शान्त कर दिया गया किन्तु वजीर तथा नवाब बहादुर में अब पूर्णत. मतभेद हो गया। जावेदखाँ ने सारी शक्ति अपने हाथ मे ले ली थी, अत. सफदरजग नाममात्र का ही वजीर रह गया था। अत. वजीर ने ६ सितम्बर, १७५२ ई० के दिन उसे दावत के बहाने बुलाकर मरवा दिया जिससे सम्राट और मन्त्री का सम्बन्ध पूर्णतः विच्छेद हो गया और गृहयुद्ध आरम्भ हो गया। ४ मई से १६ नवम्बर, १७५३ ई० तक दिल्ली की गलियो मे लम्बी और भीषण लड़ाई होती रही। गाजीउद्दीनखाँ का पुत्र इमाद-उल-मुल्क अमीर-उल-उमरा के पद पर नियुक्त हुआ। उसने युद्ध मे अपूर्व साहस दिखाया और साम्राज्य की रक्षा के लिए सफदरजग की लगभग सभी सुन्नी सेना को अपने पक्ष मे कर लिया। वजीर ने अपनी सहायता के लिए भरतपुर के जाट राजा सूरजमल को बुलाया। परन्तु अन्त में सफदरजंग की हार हुई और सम्राट से सन्धि हो गयी। उसे अवध तथा इलाहाबाद का वायसराय बहाल रखा गया और वह ७ नवम्बर, १७५३ ई० को दिल्ली से फैजाबाद के लिए रवाना हो गया। गृहयुद्ध के काल मे कमरुद्दीनखाँ का पुत्र तथा इमाद-उल-मुल्क का चाचा, इन्तिजामुद्दौला प्रधानमन्त्री बना दिया गया था, अत. सफदरजग के स्थान पर उसी को स्थायी कर दिया गया।

जब सफदरजंग के साथ लड़ाई चल रही थी, तब इमाद-उल-मुल्क ने मराठों को बुलाया था किन्तु वे दिल्ली उस समय आये जब सन्धि हो गयी थी और भूतपूर्व वजीर जा चुका था। अतः महत्त्वाकांक्षी मीरबख्शी ने उन्हे सूरजमल को दण्ड देने की आज्ञा दी क्योंकि सूरजमल सफदरजंग से मिल गया था। इमाद-उल-मुल्क जाटो के डीग और कुम्भेर के किलों का घेरा डालने के लिए मल्हारराव के साथ स्वयं गया। उसने सम्राट से बड़ी-बड़ी तोपें देने के लिए अनुरोध किया क्योंकि उनके बिना किलों पर अधिकार करना असम्भव था। चूँकि साम्राज्य को इमाद-उल-मुल्क की बातों का विश्वास नहीं हुआ, अतः उसने नये वजीर की सलाह से उसकी इस माँग को ठुकरा दिया। इससे क्रुद्ध होकर मीरबख्शी ने वजीर के घर हमला कर दिया किन्तु वह उसे वहाँ से निकाल न सका। सम्राट और वजीर ने अब सूरजमल से बातचीत आरम्भ की। सूरजमल ने सफदरजंग को अवध से वापस बुलाने की सलाह दी और वे एक बड़ी सेना के साथ दिल्ली से चलकर इमाद-उल-मुल्क की गतिविधि जानने के लिए

सिकन्दराबाद आये। इमाद-उल-मुल्क ने मल्हारराव होलकर को सम्राट के शिविर को आतंकित करने के लिए उभाड़ा। सम्राट ने जब शिविर के आसपास मल्हारराव के आने का समाचार सुना तो वह सेना को वहीं छोड़कर अपनी माता तथा वजीर के साथ दिल्ली की ओर भागा और प्रात.काल मराठों ने उसकी सेना को लूट लिया। मराठो ने भी डीग का घेरा उठा दिया और इमाद-उल-मुल्क तथा मल्हारराव दोनों ने दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया। मल्हारराव ने सम्राट को इन्तिज़ामुद्दौला के स्थान पर इमाद-उल-मुल्क को वजीर बनाने के लिए विवश कर दिया। नये वजीर ने २ जून, १७५४ ई० को अहमदशाह को सिंहासन से उतारकर जहाँदारशाह के द्वितीय पुत्र अजीजुद्दीन को आलमगीर द्वितीय के नाम से गद्दी पर बिठा दिया और एक सप्ताह बाद ही भूतपूर्व सम्राट तथा उसकी माता को अन्धा कर दिया गया।

आलमगीर द्वितीय (१७५४-१७५९ ई०)

सिंहासन पर बैठने के समय आलमगीर द्वितीय की अवस्था ५५ वर्ष की थी। उसका सारा जीवन जेल मे बीता था, अतः उसे न तो युद्ध का अनुभव था और न शासन-प्रबन्ध का ही। वह इतिहास की पुस्तकों को पढ़ने का शौकीन था, पाँचों वक्त नमाज पढता था परन्तु अत्यन्त दुर्बल, चरित्र का अस्थिर और नेतृत्व के गुणों से हीन था। अपने पाँच वर्ष के स्वल्प शासनकाल में वह अपने वजीर इमाद-उल-मुल्क के हाथ का खिलौना बना रहा। यह वजीर अत्यन्त सिद्धान्तहीन और स्वार्थी था तथा राज-कोष का दुरुपयोग करता था। इसने शाही परिवारों को भूखो मार दिया और सम्राट के बड़े लड़के अलीगोहर (शाहआलम) को दिल्ली छोड़कर उत्तरी प्रान्तों में शरण लेने के लिए बाध्य कर दिया। इस वजीर ने मूर्खतावश मराठों को उत्तरी भारत से निकालेने के लिए उनके विरुद्ध मिली-जुली पार्टी बनायी। इसका परिणाम यह हुआ कि मराठों की शक्ति पहले से और अधिक बढ़ गयी और वे अप्रैल-जून १७५९ ई० में लाहौर पर अपना शासन स्थापित कर उत्तरी दोआब में लूटमार करने लगे। इमाद-उल-मुल्क को अपने वजीरी-काल में प्रायः मराठों की संगीनों पर बराबर निर्भर रहना पड़ा।

वजीर ने सबसे पहले अब्दाली के शासन से पंजाब को मुक्त करने का प्रयत्न किया। पंजाब में काबुल के अहमदशाह अब्दाली की ओर से मुइन-उल-मुल्क सूबेदार था, जिसकी मृत्यु नवम्बर १७५३ ई० में हो गयी। अब्दाली ने उसके अबोध बालक को उस स्थान पर सूबेदार तथा उसकी माता मुगलानी बेगम को उसका संरक्षक मान लिया। इस अल्पायु सूबेदार की भी शीघ्र मृत्यु हो गयी और मुगलानी बेगम उसके स्थान पर स्थायी सूबेदार बना दी गयी। इसके शासनकाल में पंजाब की शासन-व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गयी और सारे प्रान्त में अराजकता फैल गयी। इमाद-उल-मुल्क ने इसका लाभ उठाकर एक बड़ी सेना लेकर सम्राट के साथ दिल्ली से पंजाब के लिए प्रस्थान कर दिया। किन्तु सेना में विद्रोह हो जाने के कारण उसे पानीपत से ही लौट आना पड़ा। कुछ ही महीनो बाद उसने लाहौर में लिए फिर कूच कर दिया।

और लुधियाना पहुँचकर मुगलानी बेगम को कैदी बना लाने के लिए एक शक्तिशाली सेना भेजी। बेगम गिरफ्तार कर ली गयी और अदीनाबेगखाँ को पंजाब का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। वास्तव में पंजाब के सारे उपद्रवों का उत्तरदायी यह विश्वासघाती अदीनाबेग ही था। अपनी नियुक्ति के लिए उसने वजीर को ३० लाख रुपयों की घूस दी थी। वजीर के पजाब मे हस्तक्षेप करने पर अहमदशाह अब्दाली ने चौथी बार भारत पर आक्रमण कर दिया क्योंकि वह इस प्रान्त को अपना ही प्रान्त समझता था। अफगान राजा ने लाहौर के लिए कूच कर दिया, इसे सुनकर ही अदीनाबेग भय से हिसार भाग गया। आक्रमणकारी बड़ी तेजी से दिल्ली की ओर रवाना हुआ। इमाद-उल-मुल्क ने भयभीत होकर अपनी सास मुगलानी बेगम से बीच-बिचाव कराने का अनुरोध किया और स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया। अतः अब्दाली ने उसे क्षमा कर स्थायी वजीर स्वीकार कर लिया।

आक्रमणकारी ने २८ फरवरी, १७५७ ई० को दिल्ली मे प्रवेश किया, आलमगीर द्वितीय से लिया और शाही नगर के लूटने की आज्ञा दे दी। उसने प्रत्येक सरदार, अफसर और नगरवासी को सेना के लिए चन्दा देने को बाध्य किया। बहुत-से लोग भाग गये और कुछ ने अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए आत्महत्या कर ली। यह आक्रमणकारी नगर में लगभग एक महीने ठहरा। इसने आलमगीर द्वितीय की पुत्री के साथ अपने पुत्र युवराज तिमूर का विवाह किया। अपनी सेना की एक टुकड़ी को जाट राजा सूरजमल को दण्ड देने के लिए भेजा क्योकि वह सफदरजंग से मिल गया था और कुछ दिन बाद वह आगरा के लिए स्वय रवाना हुआ। इमाद-उल-मुल्क की सलाह से अवध के शुजाउद्दौला तथा दूसरे अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों से कर वसूल करने के लिए उसने दोआब मे अपनी एक फौजी टुकडी भेजी। शुजाउद्दौला बिलग्राम के पास साण्डी मे आक्रमणकारियों से मिला और सादुल्लाखाँ रुहेला की सहायता से (जो थोड़े दिन पहले उसका एक मित्र बन गया था) उसने सन्धि कर ली, जिससे दोनों पक्षों में बिना युद्ध के ही मेल हो गया। शुजाउद्दौला ने पाँच लाख रुपये दिये तथा और भी देने का गोलमोल वायदा कर लिया। अतएव आक्रमणकारी की सेना इमाद-उल-मुल्क के साथ फर्रुखाबाद को लौट गयी और अब्दाली ने उसे वापस बुला लिया। सूरजमल के विरुद्ध जो सेना गयी थी वह निराश होकर लौट आयी। जाट राजा बहुत दिन तक लम्बी बात चलाता रहा और अन्त मे उसने कुछ नही दिया।

अब्दाली ने अपनी दूसरी सेना मथुरा भेजी। इसने नगर को लूटा और बहुत-से निहत्थे यात्रियों का वध किया। भाग्यवश नगर मे महामारी फैल गयी जिसके कारण अफगान सेना में बहुत-सी मौतें हो गयीं और अहमदशाह को लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा। दिल्ली के पास आलमगीर द्वितीय उससे मिला और उससे वजीर के व्यवहार की शिकायत की। अब्दाली ने नजीबखाँ रुहेला को मीरबख्शी नियुक्त किया और उसे नजीबुद्दौला की उपाधि देकर सम्राट् की रक्षा का भार सौंपा। अब्दाली ने मुहम्मदशाह की कुमारी पुत्री के साथ विवाह किया और उसकी दो

विधवाओं तथा शाही वंश की अनेक अन्य स्त्रियों को भी अपने साथ ले गया। इस हमले की लूटमार मे उसके हाथ कई करोड रुपये लगे।

१७५७ ई० में अब्दाली के चले जाने के बाद सम्राट ने राजधानी के आसपास के सारे जिलों को नजीबुद्दौला के अधिकार में दे दिया। इसने राजकोष का अधिकांश धन अपने काम में लगाया और शाही वंश को भूखों मार दिया। आलमगीर ने नजीबुद्दौला को इमाद-उल-मुल्क से भी बुरा पाया। नया रईस होने के कारण नजीबुद्दौला ने सम्राट के साथ ऐसा बुरा व्यवहार किया जैसा कोई खानदानी वजीर नहीं कर सकता। इसी समय इमाद-उल-मुल्क ने मराठों से सन्धि करके उनको सहायता से ११ अगस्त, १७५७ ई० को नजीबुद्दौला के मकान का घेरा डाल दिया। वह नजीबुद्दौला को दरबार से हटाकर उसके स्थान पर अहमदखाँ बंगाश को मीरबख्शी बनाना चाहता था। ४५ दिन के घेरे के बाद नजीबुद्दौला ने आत्मसमर्पण कर दिया और अपनी जागीर सहारनपुर तथा नजीबाबाद को चला गया। इमाद-उल-मुल्क द्वारा शासन-प्रबन्ध सँभालते ही राजधानी पर मराठों का प्रभाव पुनः कायम हो गया।

मराठों का नेता रघुनाथराव अब पंजाब में स्वेच्छापूर्वक प्रवेश कर अहमदशाह अब्दाली के पुत्र तथा एजेण्ट युवराज तिमूर को वहाँ से मार भगाने को पूर्ण स्वतन्त्र हो गया (अप्रैल १७५८ ई०)। वह अदीनाबेगखाँ को पंजाब प्रान्त का सूबेदार नियुक्त कर दिल्ली होता हुआ दक्खिन लौट गया। जाते समय वह अपना एक एजेण्ट और एक छोटी-सी सेना को छोड़ गया। अदीनाबेग की मृत्यु के बाद साबाजी सिन्धिया पंजाब का सूबेदार नियुक्त हुआ।

मराठो की सहायता से अपना पद प्राप्त कर लेने के बाद स्वार्थी वजीर इमाद-उल-मुल्क ने सम्राट आलमगीर द्वितीय पर पुन. प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया। उसने सम्राट को बाध्य किया कि वह अपने बड़े बेटे अलीगौहर को वापस बुला ले क्योंकि वह उसका (वजीर का) विरोध करने के लिए रोहतक और हिसार जिलों में सेना इकट्ठी करने को गया। युवराज के लौटने पर वजीर ने उसके घर का घेरा डाला किन्तु वह शत्रु सेना से बचता हुआ यमुना की दूसरी पार विट्ठलराव मराठा के शिविर मे चला गया। विट्ठलराव ने उसे अपने संरक्षण में फर्रुखाबाद पहुँचा दिया। यहाँ अहमदशाह बंगाश के आदमियों ने इसका स्वागत कर उसे आवश्यक वस्तुएँ दी। इसके बाद उसने सहारनपुर में नजीबुद्दौला के यहाँ शरण ली। नजीबुद्दौला ने आठ महीने तक उसका अतिथि सत्कार किया और उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा को पुनः जीतने की सलाह दी। इस सलाह को मानकर युवराज ने अवध के लिए कूच कर दिया। यहाँ शुजाउद्दौला ने लखनऊ के पास उसका स्वागत किया (जनवरी १७५८ ई०)। लखनऊ से वह इलाहाबाद गया और इस प्रान्त के नायक सूबेदार मुहम्मदकुलीखाँ ने पटना के आक्रमण मे उसका साथ दिया।

जब रघुनाथराव ने पंजाब को जीतकर लाहौर में छावनी डाल दी (अप्रैल १७५८ ई०) तब मराठा-शक्ति अपनी चरमसीमा को पहुँच गयी। उत्तरी भारत में

शाही राजधानी दिल्ली में जाकर अपने पूर्वजो के सिंहासन पर बैठने का प्रयत्न नहीं किया और १२ वर्ष तक पूरबी प्रान्तों मे बना रहा। इस बीच में लगभग अधिकाश काल दिल्ली का सिंहासन खाली पडा रहा।

पहले बताया जा चुका है कि अहमदशाह अब्दाली नजीबुद्दौला की प्रार्थना पर उसकी सहायता के लिए सिन्धु पार करके अगस्त १७५९ ई० मे पंजाब मे घुस आया था। वह पंजाब के मराठा सूबेदार साबाजी सिन्धिया को प्रान्त से निकालकर लाहौर से दिल्ली की ओर बढ़ा। मराठों के उत्पातो ने कारण यमुना के पश्चिमी प्रदेशों मे रसद नही मिल सकती थी, अतः अहमदशाह अब्दाली नदी को पार कर उत्तरी दोआब में गया और अपनी सेना की एक टुकड़ी को दत्ताजी सिन्धिया से लड़ने के लिए दक्षिचमी मार्ग से भेजा। दत्ताजी शूकरताल का घेरा उठाकर सरहिन्द की ओर बढ़ गया। नजीबुद्दौला, अहमदखाँ बगाश, सादुल्लाखाँ तथा रुहेलखण्ड के दूसरे सभी रुहेला सरदार इस आक्रमणकारी से आकर मिल गये। उसने दिल्ली से १० मील उत्तर मे बरारी घाट पर दत्ताजी पर बगल से आक्रमण किया। वीर मराठा ने अपने भतीजे जनकोजी को दक्खिन से सेना इकट्ठी करने को भेज दिया और घोड़े से उत्तर कर ९ जनवरी, १७६० ई० को बहादुरी के साथ युद्ध करते-करते मारा गया। इस विजय के बाद अब्दाली १४ जनवरी को राजधानी के दक्षिण मे खिज्राबाद पहुँचा। उसने सूरजमल जाट तथा राजपूताना के सभी राजाओ को कर देने तथा मराठों को कुचलने के लिए उसकी सेना मे सम्मिलित होने का आदेश दिया।

इसी बीच मल्हारराव होल्कर ने अफगानों को तग करने के लिए एक हमले की योजना बनायी। उसने दोआब मे जाकर उस रसद भण्डार और खजाने को लूट लिया जो अहमदखाँ बगाश द्वारा आक्रमणकारी अब्दाली के पास भेजा जा रहा था किन्तु शत्रु सेना ने उसे सिकन्दराबाद में खदेड़ दिया। अब्दाली ने दिल्ली पर अधिकार कर लेने के बाद बरसात सिकन्दराबाद में बितायी जिससे वह दोआब और रुहेलखण्ड के अफगानों के पास आसानी से पहुँच जाय।

अब्दाली के आक्रमण तथा बरारी घाट के विनाश का समाचार सुनकर पेशवा ने आक्रमणकारी को उत्तरी भारत से खदेड़कर मराठों का शासन फिर से स्थापित करने के लिए अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व मे एक मजबूत सेना भेजी। चम्बल पार कर लेने के बाद भरतपुर का सूरजमल भी अपने ३०,००० आदमियो के साथ भाऊ से जा मिला किन्तु राजस्थान के सरदारों ने आगा-पीछा सोचकर आगे बढ़ना उचित न समझा। अवध के शुजाउद्दौला को अपने पक्ष मे मिला लेने का भी मराठो का प्रयत्न विफल रहा क्योंकि नजीबुद्दौला ने अब्दाली के पक्ष को इस्लाम का पक्ष बताकर उससे उसी का पक्ष लेने का अनुरोध किया था। (१८ जुलाई, १७६० ई०) तो भी भाऊ बिना किसी रुकावट और भय के दिल्ली की ओर बढ़ता हुआ चला गया और शाही राजधानी पर अधिकार कर अब्दाली के प्रतिनिधि को खदेड़ दिया। युद्ध की सामान्य नीति तथा उसके ढंग के विषय में मतभेद हो जाने के कारण सूरजमल

तथा इमाद-उल-मुल्क मराठों का साथ छोड़कर जाटों के बल्लभगढ़ के किले में आ गये। भाऊ ने शाहजहाँ तृतीय को गद्दी से उतारकर शाहआलम को सम्राट घोषित कर दिया और उसकी अनुपस्थिति मे उसके पुत्र युवराज जवानबख्त को अपने पिता की जगह काम करने के लिए नामजद कर लिया। अब शुजाउद्दौला वजीर नियुक्त हुआ। बरसात के अन्त मे मराठों ने पंजाब पर अधिकार करने तथा पीछे हटती हुई अब्दाली की सेना को छिन्न-भिन्न करने के लिए बिना किसी सहायता के दिल्ली से सरहिन्द की ओर कूच कर दिया। १७ अक्टूबर को भाऊ करनाल से ६ मील उत्तर-पूरब में कुंजपुरा के दुर्ग पर अधिकार कर सरहिन्द की ओर बढ़ गया।

आक्रमणकारी अब्दाली ने १७६० ई० की बरसात सिकन्दराबाद मे बितायी। मराठो के पंजाब मे घुसने का समाचार सुनकर अब्दाली ने दिल्ली ने २५ मील उत्तर बागपत मे यमुना पार कर भाऊ का पीछा किया। यह सुनकर भाऊ ने पानीपत में अपनी छावनी डाल दी। तीन दिन बाद अब्दाली वहाँ आ गया। मराठो ने अपनी छावनी की मोर्चाबन्दी कर आमने-सामने की लड़ाई लड़ने का निश्चय किया।

दो महीने से भी अधिक दोनों सेनाएँ आमने-सामने डटी रही और एक-दूसरे के भेदियो पर छुट-पुट हमले करती रही। १ नवम्बर, १७६० ई० को पहली मुठभेड़ हुई और उसके बाद तीन बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुई। अन्तिम लड़ाई १४ जनवरी, १७६१ ई० को हुई जिसमें दो महीने से भूखों मरने वाली तथा साधनहीन मराठी सेना खदेड़ दी गयी। मराठा सेनापति सदाशिवराव अन्तिम दम तक वीरतापूर्वक युद्ध करता हुआ मारा गया। पेशवा का पुत्र विश्वासराव इस सेना का सेनापति था। वह भी अनेक अफसर और सरदारों के साथ लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। मुख्य-मुख्य व्यक्तियों में महादजी सिन्धिया तथा मल्हारराव होल्कर ही युद्धक्षेत्र से भाग पाये थे। इस युद्ध में बहुत-से कैदियों सहित छावनी का सारा सामान शत्रु के हाथ लग गया।

मराठे सम्पूर्ण भारत में साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे किन्तु पानीपत की तीसरी लड़ाई ने उनकी सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। मराठों का संगठन सदा के लिए छिन्न-भिन्न हो गया। यद्यपि ग्वालियर में महादजी सिन्धिया, नागपुर और बरार में रघुजी भोंसले, मालवा में मल्हारराव होल्कर और गुजरात में दमाजी गायकवाड़ ने मराठा साम्राज्य के भाग पा लिये, किन्तु पेशवा का अधिकार समाप्त हो गया और एकता की शृंखला नष्ट हो गयी और इस लड़ाई ने मराठों की कमर तोड़कर उत्तरी भारत में साम्राज्य स्थापित करने के लिए अंग्रेजों का मार्ग खोल दिया।

अहमदशाह अब्दाली न तो अधिक विजय चाहता था और न देश पर अधिकार कर शासन ही करना चाहता था। उसकी सेना को बड़ी शिकायत थी, वह अपने वेतन की चुकती चाहती थी और उसे काबुल लौटने के लिए आतुर कर रही थी। अतः उसने शाहआलम को सम्राट तथा इमाद-उल-मुल्क को वजीर बना दिया और

नजीबुद्दौला को अमीर-उल-उमरा की उपाधि देकर दिल्ली का अधिकार सौंप दिया। अब्दाली पेशवा तथा सूरजमल से भी सन्धि करना चाहता था किन्तु इस काम मे सफल न हो सका और २० मार्च, १७६१ ई० को वह दिल्ली से काबुल के लिए रवाना हो गया।

सम्राट शाहआलम के बिहार में रहने के कारण दिल्ली का सिंहासन १७६० से १७७१ ई० तक खाली पड़ा रहा। १७६१ से १७७१ ई० तक के समय में दिल्ली तथा लड़खड़ाते हुए साम्राज्य का शासन ज्यादातर नजीबुद्दौला के अधिकार में ही रहा। उसने तानाशाहों जैसा व्यवहार किया और जाट तथा सिक्खो से निरन्तर लड़ाइयाँ लड़ता रहा, किन्तु सदा के लिए किसी को भी न कुचल सका। १७६७ ई० [illegible] में अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर अन्तिम वार आक्रमण किया और नजीबुद्दौला को अपने पास बुलाया। किन्तु सिक्ख इतने शक्तिशाली हो गये थे कि वे किसी तरह भी न दबाये जा सके, अत: अब्दाली को अफगानिस्तान तथा नजीबुद्दौला को दिल्ली लौटना पड़ा (३० जुलाई, १७६७ ई०)। अब नजीबुद्दौला वृद्ध तथा दुर्बल हो गया था, अत: मार्च १७६८ ई० मे दिल्ली सरकार का भार अपने पुत्र जाबिताखाँ को सौंपकर वह नजीबाबाद चला गया। मराठे पानीपत में हारने के बाद १७७० ई० में उत्तरी भारत मे फिर आये और इन्होंने यहाँ आकर नजीबुद्दौला को तंग करना शुरू कर दिया। उनका यह पक्का विचार था कि 'अखिल भारतीय मराठा साम्राज्य' की योजना को नष्ट-भ्रष्ट करने का सारा उत्तरदायित्व नजीबुद्दौला पर ही है। उन्होने इस रुहेला सरदार को अपना जानी दुश्मन समझकर इसे सदा के लिए कुचल देने का निश्चय कर लिया। किन्तु नजीबुद्दौला के विरुद्ध कौन-सी युद्ध-नीति अपनायी जाय, इसके विषय में मराठों में मतभेद था। मराठा सेना का सेनानायक रामचन्द्र गनेश नजीबुद्दौला का सहयोग प्राप्त कर लेना चाहता था। तुकोजी नजीबुद्दौला का वंश-परम्परा का मित्र था, अत: उसने भी रामचन्द्र गनेश का ही समर्थन किया। इसके विपरीत महादजी सिन्धिया इस रुहेला सरदार को बिलकुल कुचल देना चाहता था। जब इस विषय में पेशवा से सलाह की गयी, तो वह भी राजनीतिक औचित्य की माँगों को तरजीह देकर रामचन्द्र गनेश से ही सहमत हो गया। मराठों में मतभेद होने के कारण नजीबुद्दौला के लिए यह कठिन काम नहीं था कि वह उनमें आपस में फूट डलवाकर स्वयं विपत्ति से बच जाय। उसने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अनुभव कर लिया था कि भारत में मराठों का प्रभुत्व शीघ्र ही स्थापित हो जायगा, अत: उसने जाबिताखाँ का हाथ तुकोजी के हाथ में सौंपकर उससे प्रार्थना की कि वह उस पर इसी प्रकार कृपालु बना रहे, जिस प्रकार उस पर (नजीबुद्दौला पर) मल्हारराव कृपा करता रहा था। इसके बाद उसने मराठा सरदारों को अपने पुत्र के संरक्षण में विदा कर दिया और स्वयं घर चला गया, जहाँ ३१ अक्तूबर, १७७० ई० को उसकी मृत्यु हो गयी।

दिल्ली में जब तक नजीबुद्दौला की तानाशाही रही, तब तक सम्राट शाह-

आलम निर्वासित रहा। अंग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का नवाब बना दिया था, अतः शाहआलम ने इन प्रान्तों को अंग्रेजों से छीनने के लिए तीन बार प्रयत्न किया, किन्तु असफल रहा। उसने पटना का पहला घेरा युवराज की हैसियत से डाला जो अप्रैल १७५९ ई० में समाप्त हुआ। उसने १७६० ई० में अपने को सम्राट घोषित करने के बाद बिहार का दुबारा घेरा डाला। उसने पटना में नायब-सूबेदार राजा रामनारायण का भी घेरा डाला, किन्तु नौक्स के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ठीक समय पर आ गयी, जिसने सम्राट को घेरा उठा लेने (३० अप्रैल, १७६० ई०) तथा यमुना के किनारे चला जाने के लिए बाध्य कर दिया। बरसात के बाद सम्राट ने फ्रांसीसी सेनापति जीन लॉ के साथ बिहार पर तीसरी बार अन्तिम हमला किया, किन्तु कारनेक ने उसे हरा दिया (१५ जनवरी, १७६१ ई०)। अंग्रेज उसे सान्त्वना देकर अन्याय के कलक को धोना चाहते थे, अतः उन्होंने उसे सम्मान और सुरक्षा के साथ पटना भेज दिया। अंग्रेजों ने मीरजाफर के स्थान पर मीरकासिम को नवाब बनाया, जिसने पटना में सम्राट को सम्मान के साथ भेंट दी (१२ मार्च)। सम्राट ने मीरकासिम को स्थायी नवाब बना दिया और अंग्रेजों ने बदले में सम्राट को १,८०० रु० प्रतिदिन उसके दैनिक व्यय के लिए दिये। सम्राट ने अपने पूर्वजों के सिंहासन पर बैठने के लिए पटना से दिल्ली को प्रस्थान किया। वजीर शुजाउद्दौला १९ जून को उससे सराय सईद राजी में मिला और सम्राट ने बरसात बिताने के लिए जाजऊ में छावनी डाली।

शाहआलम बरसात के बाद भी दिल्ली न जा सका क्योंकि वह समझता था कि वह नजीबुद्दौला के हाथ से शासन छीनने में असमर्थ है। इस समय दिल्ली में नजीबुद्दौला की तानाशाही चल रही थी। शुजाउद्दौला सम्राट की सहायता करना नहीं चाहता था, अतः वह उसे छत्रसाल बुन्देले के परपोते राजा हिन्दूपति से बुन्देलखण्ड को वापस लेने के लिए वहाँ लिवा ले गया, किन्तु यह हमला असफल रहा (१७६२ ई०)। सम्राट ने एक वर्ष और व्यर्थ खो दिया। अंग्रेजों ने मीरकासिम को बंगाल और बिहार से निकाल दिया, अतः सम्राट को अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में शुजाउद्दौला का साथ देना पड़ा। बक्सर की लड़ाई में इन तीनों मित्रों की हार हो गयी (२३ अक्टूबर, १७६४ ई०)। अब अंग्रेजों ने सम्राट से सन्धि की बातचीत शुरू कर दी। वजीर ने सम्राट का अपमान किया था, अतः वह विजेताओं से सन्धि कर लेना चाहता था। शुजाउद्दौला के भाग जाने के बाद अंग्रेजों ने सम्राट को इलाहाबाद में रखा और यहीं उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी सौंप दी। सम्राट १७६५ से १७७१ ई० तक अंग्रेजों की सुरक्षा में रहा। किन्तु वह दिल्ली जाने के लिए सदैव उत्सुक रहा। यद्यपि उसे बंगाल से कर के रूप में २६ लाख रुपये सालाना मिल जाते थे किन्तु वह फिर भी विदेशियों के अधीन रहने में अपना अपमान समझता था। उसके पास नियुक्त किया गया अंग्रेज रेजीडेण्ट सदैव उसका अपमान करता रहता था। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह थी कि नजीबुद्दौला की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जाबिताखाँ

उसका उत्तराधिकारी बन गया था, जो दिल्ली के किले में जनानखाने में घुसने का प्रयत्न करता रहता था और उसने शाहआलम की बहन ख़ैरुन्निसा इत्यादि रमणियों का अपमान भी कर दिया था। अतः शाही खानदान की इज्जत बचाने के लिए राजमाता उसे इलाहाबाद से दिल्ली बराबर बुला रही थी अतएव १७७० ई० के आरम्भ में जब मराठे उत्तरी भारत में लौटे, तब सम्राट ने उनसे बातचीत शुरू की, उनकी सहायता से वह इलाहाबाद से दिल्ली रवाना हुआ और ६ जनवरी, १७७२ ई० को वहाँ पहुंच गया।

शाहआलम के सामने बड़ी कठिन समस्या थी। दिल्ली का खजाना खाली हो गया था और शाही परिवार गरीब होकर भूखों मर रहा था। उसने सिंहासन का अधिकार दिलाने के लिए मराठों को चालीस लाख रुपये तथा मेरठ और दूसरे सात परगने तथा कोरा जहानाबाद और कड़ा मानिकपुर के जिले देने का वायदा कर दिया था। इसके अतिरिक्त उसे अपनी सेना को कई महीने का पिछला वेतन भी बाँटना था। इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसने जाबिताखाँ पर आक्रमण कर दिया और पथरगढ़ में उसका घेरा डाल दिया किन्तु उससे तथा और रुहेलों से जो धन मिला वह मराठों के देने के लिए पर्याप्त नहीं था, अतः मराठों ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। मराठों तथा मिर्जा नजफखाँ के नेतृत्व में सम्राट की सेना में युद्ध हुआ जिसमें मिर्जा हार गया (जनवरी १७७३ ई०)। सम्राट को आत्मसमर्पण करना पड़ा और उसे नजफखाँ को नौकरी से हटाकर मराठों के पिट्ठू जाबिताखाँ को मीरबख्शी बनाना पड़ा। उसने कोरा और इलाहाबाद भी मराठों को सौंप दिये। सम्राट ने खालसा और वह प्रान्त जो उसके जेब खर्च के लिए नियत थे, प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल रहा और दरबार में गरीबी सदा अड्डा जमाये रही। शाहआलम अपने मन्त्रियों तथा मराठों के हाथ की कठपुतली बना रहा। मिर्जा नजफखाँ नवम्बर १७७९ ई० में अपने सारे जीवन के अन्त तक (६ अप्रैल, १७८२ ई०) मन्त्री रहा। इसने जाटों का प्रभाव तो कम कर दिया किन्तु पतित सम्राट को उन्नत करने तथा उसकी आर्थिक दशा सुधारने में असफल रहा।

उसके उत्तराधिकारी मिर्जा शफी और अफरासियाब (१७८२-८४ ई०) तो उससे भी अधिक निकम्मे निकले और सर्वथा असफल रहे। नवम्बर १७८४ ई० में महादजी सिन्धिया वकील मुतलक (संरक्षक) नियुक्त हुआ। उसने जाटों से डीग और आगरा तथा अफरासियाब से अलीगढ़ जीता। उसे दोआब के गुसाइयों तथा दिल्ली के उत्तर-पश्चिम के सिक्खों से भी लड़ना पड़ा। इसके बाद वह राजस्थान में फँस गया और वहाँ से छुटकारा पाने के बाद कर-वसूली में लग गया। उसकी अनुपस्थिति में दिल्ली में उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जाने लगे, जिनके परिणामस्वरूप वह दरबार से हटा दिया गया। जाबिताखाँ का पुत्र तथा नजीबुद्दौला का प्रपौत्र गुलाम कादिर रुहेला उसका उत्तराधिकारी हुआ, जो सितम्बर १७८७ ई० में मीरबख्शी के पद पर नियुक्त हुआ। वह सम्राट के विरुद्ध हो गया और उसने राजमहल पर अधिकार कर

उसे गद्दी से उतार दिया (३० जुलाई, १७८८ ई०)। उसने अपने खंजर से वृद्ध सम्राट की आँखें निकालकर उसे अन्धा कर दिया (१७ अगस्त)। उसका तथा उसकी औरतों का अपमान किया और सारा का सारा धन पाने के लिए शाही भण्डार को खुदवा डाला। भारत के इतिहास में मुगल परिवार को जैसी कठिनाई और विपत्ति इस रुहेले गुण्डे अत्याचारी के हाथो सहनी पड़ी, वैसी पहले कभी नही सहनी पड़ी (जुलाई-अगस्त १७८८ ई०)। अन्धे सम्राट ने महादजी सिन्धिया से दिल्ली आकर गुलाम कादिर को उचित दण्ड देने की दर्द भरी अपील की। सिन्धिया ने अक्तूबर मे दिल्ली पर अधिकार कर लिया। गुलाम कादिर भाग गया किन्तु ३१ दिसम्बर, १७८८ ई० को पकड़ लिया गया। सम्राट ने सिन्धिया को लिखा कि कैदी की हत्या कर दी जाय अन्यथा वह राज्य छोड़कर मक्का भाग जायगा। अतः महादजी सिन्धिया की आज्ञा से गुलाम कादिर तथा उसके साथी धूर्त मंजूरअली ख्वाजा, जिसके द्वारा रुहेला ने महल में घुसने का प्रयत्न किया था, मरवा दिये गये (२-४ मार्च, १७८९ ई०) इस प्रकार शाहआलम ने अपना बदला लिया।

१७९२ ई० के प्रारम्भ में महादजी सिन्धिया उत्तरी भारत को छोड़कर पेशवा से मिलने के लिए पूना गया। वहाँ १२ फरवरी, १७९४ ई० को उसकी मृत्यु हो गयी। अब दिल्ली दरबार मे फिर निराशा छा गयी और षड्यन्त्र रचे जाने लगे। सितम्बर १८०३ ई० में लॉर्ड लेक ने महादजी सिन्धिया के उत्तराधिकारी दौलतराव सिन्धिया से दिल्ली छीन ली। शाहआलम को अब अंग्रेजों से पेंशन मिलने लगी और १८०६ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

शाहआलम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अकबर द्वितीय गद्दी पर बैठा। यह शाही वंश का प्रधान बना और नाममात्र का खानदानी सम्राट रहा। पिता के समान इसे भी अंग्रेजों से पेंशन मिलती रही। १८३७ ई० में इसकी मृत्यु हो गयी। इसका पुत्र बहादुरशाह भी नाममात्र का सम्राट बना रह सका। उसने १८५७ ई० के विद्रोह में भाग लिया, अत. अंग्रेजो ने उस पर मुकदमा चलाकर रंगून भेज दिया, जहाँ कुछ वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गयी।

BOOKS FOR FURTHER READING

Persian Language :

1. Khan, Danishmand : *Bahadur Shah-Nama* (MS).
2. Lahaur, Muhammad Qasim : *Ibrat-Nama* (MS).
3. Khan, Muhammad Hadi Kamwar : *Tazkirat-us-Salatin-i-Chaghtai.*
4. Kashmiri, Abdul Karim : *Bayan-i-Waqia* (MS).
5. Khan, Mustajab : *Gulistan-i-Rahmat* (MS).
6. *Tarikh-i-Ahmad Shah* (MS).
7. *Tarikh-i-Alamgir-i-Sani* (MS).
8. Husain, Sayyid Ghulam : *Sair-ul-Muta-Kherin* (Text).

9. Ansari, Muhammad Ali : *Tarikh-i Muzaffari* (MS).
10. Mahdi, Mirza Muhammad : *Tarikh-i-Jahan-Kusha-i-Nadiri.*
11. *Waqia Shah Alam Sani* (MS).
12. *Persian Akhbarat* (MS).

Hindi Language :

1. Sudan : *Sujan Charitra.*
2. Das, Kaviraj Shyamal : *Vir Vinod.*
3. Charan Surajmal : *Vansh Bhaskar.*

Modern Works :

1. Keene, H. G. : *The Fall of the Mughal Empire.*
2. Irvine, W. : *The Later Mughals.*
3. Sarkar, J. N. ; *Fall of the Mughal Empire*, Vols. I-II
4. Srivastava, A. L. : *The First Two Nawabs of Awadh.*
5. Srivastava, A. L. : *Shuja-ud-Daulah*, Vols. I-II.
6. Qanungo, K. R. : *History of the Jats.*
7. Haig, W. : *Cambridge History of India*, Vol. IV.

अध्याय ११

मराठों का अभ्युदय (१७०७-१७६१ ई०)

शाहू (१७०७-१७४८ ई०)

१३ नवम्बर, १६८९ ई० मे रायगढ का पतन हो गया और शिवाजी जो आगे चलकर शाहू के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसकी माता येसूबाई और मराठा राजवंश के कई अन्य सदस्य गिरफ्तार होकर औरंगजेब के शिविर मे नजरबन्द कर दिये गये। शाहू की अवस्था उस समय ७ वर्ष की थी और उसे १७½ वर्ष तक बन्दी जीवन व्यतीत करना पड़ा। यद्यपि औरंगजेब की सुपुत्री जीनतुन्निसा की दयापूर्ण देखरेख में उसकी साधारण सुख-सुविधा का प्रबन्ध कर दिया गया था। किन्तु उसे अब अपनी स्वतन्त्रता की बहुत कम आशा रह गयी थी। वास्तव मे उस समय उसका भाग्य बड़ा डाँवाडोल हो रहा था। ख्याल यह किया जाता था कि या तो वह मुसलमान बना लिया जायेगा अथवा उसका वध कर दिया जायगा। औरंगजेब की तीव्र इच्छा थी कि शाहू को मुसलमान बना लिया जाय परन्तु उसने अपने इस निश्चय को अपनी पुत्री जीनतुन्निसा की प्रार्थना पर त्याग दिया और शाहू के केवल दो सम्बन्धियो को मुसलमान बनाया। जब शाहू की चतुर माता येसूबाई ने राजाराम के प्रति अपना वैर-भाव प्रदर्शित कर यह घोषणा कर दी कि वे औरंगजेब की सुरक्षा मे पूर्णरूप से सुरक्षित हैं तब औरंगजेब का सन्देह दूर हो गया। शाहू कभी-कभी औरंगजेब के समक्ष अभिवादन के लिए लाया जाता था जिससे औरंगजेब उसके व्यवहार और राजभक्ति से सन्तुष्ट हो गया।

शाहू ने मुगल शिविर मे मराठी लिखना और पढना तथा हिन्दी बोलना सीख लिया। उसे शिविर के ही भीतर घोड़े पर चढना, शिकार खेलना और तलवार चलाना भी सिखाया गया। मुगल दरबार से घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण उसे इस्लाम धर्म का भी कुछ ज्ञान हो गया और उसकी उसमे श्रद्धा भी बढ गयी। १७०३ ई० में उसने दो स्त्रियों के साथ अपना विवाह किया। औरंगजेब के जीवन के अन्तिम दिनों में मुगलों को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा, अतः उनके साथ-साथ शाहू, उसकी माता तथा उसके अनेक साथियों को भी कठिनाइयाँ सहनी पड़ी और अपने दैनिक व्यय तक के लिए रुपया उधार लेना पडा।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसका पुत्र आजमशाह गद्दी पर बैठा। जुल्फिकारखाँ ने शाहू को उसके सामने उपस्थित किया और प्रार्थना की कि मराठा राजकुमार को मुक्ति देकर घर जाने की आज्ञा दे दी जाय, किन्तु यह शर्त लगा दी जाय कि वह मुगल सम्राट के प्रति वफादार रहेगा और समय पर सेना सहित सम्राट की

सहायता करेगा। उसका विश्वास था कि ऐसा करने से मराठो में परस्पर मतभेद हो जायगा, उनकी शक्ति क्षीण हो जायगी और वे किसी प्रकार का उपद्रव न कर सकेंगे। किन्तु आजमशाह अपने भाई बहादुरशाह से लड़ने की तैयारी में था, अतः वह कोई निश्चय न कर सका और शाहू तथा उसके परिवार के साथ नर्वदा पार करने के लिए चल पड़ा। शाहू अधीर हो उठा था अतः वह अपने मुगल मित्रों की सलाह से १८ मई, १७०७ ई० भोपाल से २० मील उत्तर-पश्चिम मे दोराहा में पड़े हुए मुगल शिविर को छोड़कर चला गया। आजमशाह उसके विरुद्ध कोई कदम न उठा सका क्योंकि वह बहादुरशाह के साथ जीवन-मरण के संघर्ष में फँसा हुआ था। वह जून १७०७ ई० में आगरा के निकट लगभग १७ मील दूर जाजऊ में हारा और मार दिया गया। अतः शाहू अपने साथियों के साथ निर्विघ्न यात्रा करता रहा।

शाहू अपने मुट्ठी भर साथियो के साथ नर्वदा पार कर बीजागढ़ और सुल्तान-पुर होता हुआ खानदेश के पश्चिमी भाग मे बढ़ता चला गया। बीजागढ़ में मोहनसिंह रावल ने उसका साथ दिया और सुल्तानपुर मे कुछ मराठा सरदार भी आकर उससे मिल गये। महाराष्ट्र मे उनका हार्दिक स्वागत हुआ। जिन लोगों ने उसका पक्ष लिया उनमें नागपुर के भावी शासकों के पूर्वज परसोजी भोंसले, भावी पेशवा बालाजी विश्वनाथ और नैमाजी सिन्धिया सर्वप्रथम थे। शाहू जून और जुलाई खानदेश मे बिताकर अगस्त में अहमदनगर पहुँचा और आगे बढ़ने की योजना बनाकर मराठों की तत्कालीन राजधानी सतारा का घेरा डाल दिया। ताराबाई ने घोषणा कर दी कि शाहू छली एवं कपटी है और उसका उस राज्य पर कोई अधिकार नहीं है जिसे उसके पिता शम्भाजी ने नष्ट कर दिया था। उसने कहा कि वर्तमान राज्य का निर्माण तो उसके पति राजाराम ने किया है, अतः उसका वास्तविक न्यायानुकूल शासक उसका छोटा पुत्र शिवाजी द्वितीय है। उसने शाहू की प्रगति को रोकने के लिए धनाजी जादव के नेतृत्व में सेना भेजी, अतः शाहू को अपनी चाची ताराबाई से भी युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा। नवम्बर १७०७ ई० में भीमा के किनारे खेद नामक स्थान पर लड़ाई हुई जिसमें ताराबाई का प्रतिनिधि परसराम पन्त हारकर भाग गया। ताराबाई के सेनापति धनाजी को युद्ध के समय शाहू ने अपने पक्ष में कर लिया, इसलिए उसने युद्ध मे भाग नहीं लिया। अब धनाजी शाहू से मिल गया और उसने उसे सेनापति बना दिया। शाहू ने खण्डू बल्लाल को तरक्की देकर चिटणीस का पद दे दिया। ताराबाई के अनेक प्रमुख अधिकारी शाहू से आ मिले और शाहू ने विजयो-ल्लास में सतारा की ओर प्रस्थान किया तथा २२ जनवरी, १७०८ ई० को वहाँ पर अपना राज्याभिषेक किया। ताराबाई और उसके पुत्र ने सतारा छोड़कर पन्हाला में पहले से ही शरण ले ली थी। शाहू ने उस किले पर भी अधिकार कर लिया, अतः ताराबाई को रंगना भागना पड़ा और फिर वहाँ से पश्चिम समुद्रतट पर स्थित मल-वान जाना पड़ा। किन्तु वह शीघ्र ही लौटकर पन्हाला में अन्तिम रूप से बस गयी। वहाँ उसे शाहू के सेनापति चन्द्रसेन तथा दूसरे प्रमुख सरदारों का सहारा मिल गया।

उसने मुगलों के दक्षिणी प्रदेश से चौथ एवं सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार की माँग की और उसकी गतिविधि तथा कूटनीति के कारण १७११ और १७१२ ई० में शाहू की स्थिति डाँवाडोल हो गयी। किन्तु शाहू के सौभाग्य से १७१४ ई० में महल षड्यन्त्र के फलस्वरूप ताराबाई के हाथ से शक्ति निकल गयी। राजाराम की दूसरी विधवा राजसबाई ने ताराबाई तथा उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय को जेल में डालकर अपने पुत्र शम्भाजी को सिंहासन पर बिठाकर स्वय उसकी संरक्षिका बनने का प्रयत्न किया। शम्भाजी कोल्हापुर मे बस गया और निजाम-उल-मुल्क के हाथों में खेलकर वह शाहू के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता रहा। शाहू ने उसे हराकर १७३१ ई० में बारना के स्थान पर एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। इसके अनुसार बारना नदी के दक्षिण प्रदेश शम्भाजी को मिल गये और उत्तरी प्रदेश शाहू को।

बालाजी विश्वनाथ की पेशवा पद पर नियुक्ति (१७१३ ई०)

उत्तरी महाराष्ट्र शाहू की पैतृक सम्पत्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था, अत: उसने ताराबाई के साथ युद्ध में फँसे रहने पर भी उसकी विजय और संगठन से अपना ध्यान नहीं हटाया। फलत: उसने बगलाना और खानदेश पर अपना पूर्ण अधिकार करने के लिए सेनाएँ भेज दी। उसके सेनापति धनाजी जादव की मृत्यु जून १७०८ ई० में हो गयी, अत. शाहू ने उसके स्थान पर उसके पुत्र चन्द्रसेन को नियुक्त कर दिया। किन्तु चन्द्रसेन ताराबाई की पार्टी की ओर झुका हुआ था, अत: शाहू ने विश्वासगात से बचने के लिए सेनाकर्ते (सेना-संगठनकर्ता) के नये पद का निर्माण कर बालाजी विश्वनाथ को उस पर प्रतिष्ठित कर दिया जिससे वह सेनापति पर कड़ी दृष्टि रख सके। बालाजी विश्वनाथ शाहू का योग्य और विश्वासपात्र सेवक था, अत: शाहू ने उसका विश्वास और भरोसा करके उसे १७१३ ई० में पेशवा अथवा प्रधानमन्त्री बना दिया।

बालाजी विश्वनाथ के पूर्वज श्रीवर्धन ग्राम के देशमुख थे। यह ग्राम पश्चिमी समुद्रतट पर बसा हुआ था और जजीरा के सिद्दियों के अधिकार में था। बालाजी चिपलूण के नमक विभाग में क्लर्क था और १६८० से १६९० ई० के बीच पश्चिमी घाट के उत्तरी प्रदेश मे आ बसा था। १६८९ ई० में वह रामचन्द्र अमात्य की अधीनता में माल विभाग मे क्लक था और उसके बाद पूना और दौलताबाद जिलों का सरसूबा हो गया था। चूँकि औरंगजेब ने १७०५ ई० में इसी प्रदेश में अपना शिविर डाला था और बालाजी विश्वनाथ इन्ही जिलों में मराठा राजा की सेवा में था, अत. उसे मुगल दरबार के निकट सम्पर्क में अवश्य आना पड़ा होगा। यह भी निश्चित है कि औरंगजेब के कुछ अफसरों से उसकी मित्रता हो गयी थी और मुगल शिविर में बन्दी शाहू से भी उसने सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी योग्यता राजभक्ति और चरित्र के सम्बन्ध मे शाहू की अच्छी सम्मति बन गयी थी। बालाजी उन प्रमुख व्यक्तियो में सर्वप्रथम था जिन्होने शाहू की मुक्ति के बाद उसके समस्त विरोधियों को शान्त कर महाराष्ट्र के समस्त महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को उसके पक्ष में कर

दिया था। इन्ही सब कारणो से वह सेनाकर्ते के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। शाहू के सेनापति चन्द्रसेन और बालाजी मे झगडा हुआ और चन्द्रसेन ने जोश मे आकर त्यागपत्र दे दिया। ताराबाई उस समय अपने खोये हुए अधिकारों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थी, अतः चन्द्रसेन उससे आकर मिल गया, किन्तु बालाजी ने अपनी योग्यता और स्वामिभक्ति से परिस्थिति को गम्भीर नही होने दिया। कान्होजी आग्रे ताराबाई का प्रबल सहायक था और शाहू का प्रबल शत्रु। वह पश्चिमी समुद्रतट का रक्षक और मराठा नौ-सेना का प्रधान था तथा शाहू के साथ भयंकर युद्ध करना चाहता था। किन्तु बालाजी ने अपनी योग्यता से उसे भी शाहू के पक्ष मे करके राजा के विरुद्ध युद्ध बन्द कर देने के लिए बाध्य कर दिया। शाहू ने बालाजी की इन सब सेवाओं से प्रभावित होकर उसकी तरक्की कर दी और २७ नवम्बर, १७१३ ई० को उसे पेशवा बना दिया।

मुगल सम्राट के साथ शाहू की सन्धि (१७१९ ई०)

शाहू की मुगलो के प्रति सच्ची वफादारी थी। यद्यपि उसने बहादुरशाह की सेनाओं मे रहना अस्वीकार कर दिया था तो भी उसने उसकी सेवा में भेटे भेजी थी और प्रार्थना की थी कि वह उसे सनदें देकर उसके चौथ और सरदेशमुखी कर की वसूली के अधिकार को चिरस्थायी बना दे। उस पर न तो बहादुरशाह की मृत्यु का प्रभाव पड़ा और न उसके पुत्रों के सिहासनाधिकार के युद्ध का। वह दिल्ली की उस प्रबल राजक्रान्ति से भी विचलित नहीं हुआ, जिसके कारण अनेक राजकुमारों की हत्याएँ तक हो गयी थी। सैय्यद भाई दिल्ली में राजनिर्माता थे और फर्रुखसियर उन्ही की कृपा से गद्दी पर बैठा था, किन्तु वह इतना कृतघ्न निकला कि वह उन्हें (सैय्यद भाइयों) को ही उखाड़ फेंकने के लिए षड्यन्त्र रचने लगा। अतः मीरबख्शी सैय्यद हुसैनअलीखाँ को दक्खिन की सूबेदारी का कार्यभार सँभालाना पड़ा जिससे वह वहाँ अपने पार्टी के हितों की रक्षा कर सके। जब वह दक्खिन में था तब उसने सुना कि दिल्ली दरबार में उसके बड़े भाई वजीर अब्दुल्लाखाँ के विरुद्ध एक नया षड्यन्त्र रचा जा रहा है। अतः उसने फर्रुखसियर पर घातक प्रहार करने का निश्चय कर लिया और इसके लिए उसने शाहू से प्रार्थना की कि वह एक सुदृढ़ मराठा सेना उसके अधिकार मे कर दे। बातचीत के बाद ये शर्तें तय हो गयीं—(१) सम्राट शाहू को वे सब प्रदेश और उनके अन्दर स्थित किले लौटा देगा जो शिवाजी के 'स्वराज' नाम से प्रसिद्ध हैं। (२) शाहू को वे प्रदेश भी लौटा दिये जायें जिन्हे मराठों ने खानदेश, बरार, गोंडवाना, हैदराबाद और कर्नाटक मे हाल ही मे जीता है। (३) मराठों को मुगल-दक्खिन के छहों प्रान्तों में चौथ और सरदेशमुखी करों की वसूली की आज्ञा दे दी जायगी। चौथ के बदले में शाहू १५,००० जवानों की एक सेना-टुकड़ी सम्राट की इच्छा पर निर्भर कर देगा और सरदेशमुखी के बदले वह दक्खिन में शान्ति और सुव्यवस्था का जिम्मा अपने ऊपर ले लेगा तथा डाके और विद्रोह को भी रोक देगा। (४) शाहू कोल्हापुर के शम्भाजी को तंग नहीं करेगा। (५) शाहू सम्राट को १० लाख का वार्षिक कर देगा। (६) सम्राट

दिल्ली मे नजरबन्द शाहू की माता येसूबाई, उसकी पत्नी, उसके भाई मदनसिंह तथा सेवकों सहित दूसरे मराठा राज्यपरिवार के सदस्यो को मुक्त कर वापस भेज देगा।

सैय्यद हुसैनअलीखाँ इन शर्तों से सहमत हो गया और उसने सम्राट को भी सहमत कर लेने की प्रतिज्ञा कर ली। अतः जब हुसैनअलीखाँ ने दिल्ली को प्रस्थान किया तब बालाजी विश्वनाथ तथा खण्डेराव धमादे के नेतृत्व में १५,००० मराठा जवानों ने उसका साथ दिया। सैय्यद भाइयों ने फर्रुखसियर को गद्दी से उतारकर रफी-उद-दरजात को गद्दी पर बिठा दिया, जिसने इस सन्धि का पालन किया। परिणामस्वरूप १३ मार्च को चौथ की और २५ मार्च, १७१९ ई० को सरदेशमुखी की सनदें तैयार कर पेशवा को देदी गयी और शाहू की माता येसूबाई तथा परिवार के दूसरे सदस्य छोड़ दिये गये। अब शाहू को मुगल-दक्खिन के ६ सूबो मे ३६ प्रतिशत कर उघाने का न्यायानुकूल अधिकार मिल गया; किन्तु वह सम्राट का अधीनस्थ राजा रहा।

बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु, उसका व्यक्तित्व और चरित्र

१२ अप्रैल, १७२० ई० को बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के समय उसके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। उस समय उसके सबसे बड़े पुत्र बाजीराव की अवस्था १९ वर्ष की थी, अतः पिता के पेशवा पद का वही उत्तराधिकारी हुआ।

बालाजी विश्वनाथ कोंकण के चितपावन-वंश का था और खास महाराष्ट्र (देश) मे आ बसा था। इसने स्वयं स्वाध्याय किया था और आत्म-निर्माण भी स्वयं ही किया था। वह साधारण पद से उन्नति करते-करते बहुत बड़े पद पर पहुँच गया था। मध्यकालीन भारत के इतिहास में वह थोड़े-से व्यक्तियों में से था जो बिना सैनिक बने ही इतने उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। कहा जाता है कि बालाजी घोड़े पर भी बड़ी कठिनाई से चढ़ पाता था और उसमें सैनिक बनने का कोई गुण नही था किन्तु वह एक अच्छा प्रबन्धक और चतुर राजनीतिज्ञ था। महाराष्ट्र के पुरन्दर, बौकिल और दूसरे मुख्य-मुख्य परिवारों तथा प्रमुख राजनीतिक तत्त्वो को शाहू के पक्ष मे मिला देना उसी का काम था। कुशल अर्थशास्त्री होने के कारण उसने शाहू की आर्थिक दशा को काफी उन्नत कर दिया और बड़े-बड़े सेठों की आर्थिक सहायता भी प्राप्त कर ली। अपनी युक्ति और कूटनीति से उसने चन्द्रसेन जादव और धनाजी थोरठ के विद्रोह को शान्त कर दिया और शाहू के प्रतिद्वन्द्वी कोल्हापुर के मराठा-राजपरिवार की प्रतिष्ठा को बहुत घटा दिया। तानाजी को अपने पक्ष मे मिला लेना और १७१९ ई० मे मुगल सम्राट के साथ सन्धि कर लेना उसकी सबसे बड़ी कूटनीतिक सफलताएँ थीं। इसी सन्धि के अनुसार मराठों को दक्खिन मे मुगलों के छह सूबो मे चौथ और सरदेशमुखी कर वसूल करने का अधिकार मिला था। चौथ और सरदेशमुखी अर्थात मालगुजारी के ३५ प्रतिशत के वसूल करने का उसका ढंग भी मौलिक था जो टोडरमल की भूमि-कर योजना पर आधारित था। उसने मुगल-दक्खिन के विभिन्न भागों मे अपने आदमी नियुक्त कर रखे थे जो कर वसूल करते थे। इसका चौथ एवं सरदेशमुखी कर वसूल करने का तरीका मराठा राज्य की उन्नति का सुरक्षित साधन बन गया था

और जो दरिद्र प्रदेश इन बड़े-बडे करों को नही दे सकते थे उनके घरेलू मामलो में हस्तक्षेप करने का यह सरल बहाना था। बालाजी ने इस आमदनी को मराठा सरदारों मे बाँट दिया था, जिससे प्रत्येक सरदार राज्य की आमदनी के बढाने में दिलचस्पी लेता रहे। किन्तु उसने बुद्धिमानी यह की कि वह किसी भी सरदार को किसी प्रदेश विशेष का अधिकारी नही बनाया जिससे कि वह सरकार के अंकुश से स्वतन्त्र हो जाये। सर रिचार्ड टेम्पल ने बालाजी के सम्बन्ध में लिखा है कि "वह अपने भावी उत्तराधिकारियों की अपेक्षा अधिक आदर्श ब्राह्मण था। उसका मस्तिष्क शान्त एवं क्रियाशील था। उसका प्रबन्ध कल्पनाशील एवं उत्साहवर्द्धक था। वह अपने चरित्र-बल से नीचों को वश में कर सकता था। वह एक अच्छा कूटनीतिज्ञ और कुशल अर्थशास्त्री था। राजनीतिक कार्यकर्ता होने के कारण उसे अनेक अपत्तियों का सामना करना पड़ा। उसे अनेक बार मौत की धमकी भी दी गयी किन्तु अवसर आने पर उसने इसका दृढ़ता से मुकाबला किया। उसके भय अथवा तर्क से मुगलों ने मराठों का छत्रपतित्व स्वीकार कर लिया। वह अपनी सभी कूटनीतिक चालो मे विजयी रहा। यद्यपि उसकी मृत्यु असमय हो गयी थी, किन्तु उसे इस बात का अभिमान था कि वह मुसलमानी शासन के खण्डहरों पर हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना कर सकता है और उस साम्राज्य में उसकी वंश-परम्परा का प्रधानमन्त्रित्व सुरक्षित हो गया है।" (Oriental Experience, pp. 389-90) उसको मराठा-साम्राज्य का द्वितीय संस्थापक कहना सर्वथा उचित है।

बाजीराव (१७२०-१७४० ई०)

शाहू ने अपने सरदार और सलाहकारों के प्रबल विरोध के बावजूद भी २७ अप्रैल, १७२० ई० को बालाजी विश्वनाथ के सबसे बड़े लड़के बाजीराव को ही पेशवा नियुक्त किया। बाजीराव उस समय बच्चा ही था। वह ४ माह कम २० वर्ष का था किन्तु उसका शरीर दृढ़ और गठा हुआ था। उसमें बहुत अधिक उत्साह तथा विलक्षण प्रतिभा थी और वह व्यवहार में बहुत कुशल था। कुशल घुड़सवार होने के साथ-साथ वह हिसाब-किताब का अच्छा ज्ञाता था और प्रबन्ध एवं कूटनीति मे अत्यन्त निपुण था। उसने मुगल-साम्राज्य की शोचनीय दशा का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लिया था और वह उसके अधिक से अधिक प्रदेश छीन लेना चाहता था। श्रीपतिराव प्रतिनिधि ने उसका विरोध किया और उसके विचार को अदूरदर्शितापूर्ण बताकर कोल्हापुर तथा कर्नाटक पर अधिकार कर लेने पर जोर दिया। किन्तु बाजीराव के तर्कपूर्ण व्याख्यान से सारा विरोध शान्त हो गया और शाहू उसके पक्ष में हो गया। उसने कहा, "हमारे लिए यही समय है कि हम विदेशियों को हिन्दू देश से निकालकर अक्षय कीर्ति प्राप्त कर लें। हमको सूखे वृक्ष की जड़ों पर प्रहार करना चाहिए, शाखाएँ तो आप से आप गिर जायेंगी। हमारे प्रयत्नों से हिन्दुस्तान में कृष्णा से अटक तक मराठों का झण्डा फहरायेगा।" शाहू पेशवा की नीति से प्रभावित हो गया और उसे स्वीकार करते हुए उल्लास के साथ बोला, "तुम मराठा पताका को हिमालय की चोटी

पर फहरा दोगे। तुम वास्तव मे योग्य पिता के योग्य पुत्र हो।" यह निश्चय हो जाने के बाद पेशवा मुगल-साम्राज्य का विरोध करने की तैयारी मे लग गया।

मालवा और गुजरात पर आक्रमण (१७२४-२८ ई०)

अपनी नीति के अनुसार बाजीराव ने नर्वदा पार कर १७२४ ई० मे मालवा जीत लिया। नवम्बर १६९९ ई० के आरम्भ मे मराठो ने उस प्रान्त मे सर्वप्रथम प्रवेश किया था। उस समय तक ये उस प्रान्त पर केवल लूटमार ही करते रहे थे। बाजीराव ने मालवा मे अपनी जड़ें जमानी चाही और उस समय की परिस्थिति उसके अनुकूल भी पड़ गयी। राजपूत सरदार, विशेषकर जयपुर का जयसिंह, मराठो के आदर्श से सहानुभूति रखते थे, अतः वे बाजीराव के मित्र बन गये। पेशवा को बहुत कम विरोध का सामना करना पडा। वह अपने सहायक ऊदाजी पवार, मल्हारराव होल्कर तथा रानोजी सिन्धिया को कर उघाने के लिए छोड़कर स्वय पूना चला गया। कुछ समय बाद ये ही धार, इन्दौर और ग्वालियर में राजकीय भवनो के संस्थापक हुए। इस समय मराठे गुजरात पर अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। वे मार्च १७०६ ई० मे धनाजी जादव के नेतृत्व में पहले-पहल यहाँ आये थे। इस प्रान्त में बगलाना की मालगुजारी सेनापति खाण्डेराव दाभाड़े के नाम कर दी थी। उसके सहायक धनाजी गायकवाड़ ने बड़ौदा में राजवंश की नीव डाली जिसके भतीजे पिलाजी गायकवाड़ ने गुजरात को जीतकर सोनागढ़ मे अपना किला बनाया जो सूरत से ५० मील पूरब मे था।

बाजीराव और निजाम (१७२१-२८ ई०)

नये पेशवा के लिए सबसे जटिल समस्या मराठा और निजाम-उल-मुल्क के सम्बन्ध को व्यवस्थित करना था। निजाम साम्राज्य में सबसे अधिक शक्तिशाली सरदार बन गया था। उसने अपने वायसरायी अधिकार को राज्य मे बदल देने का पक्का इरादा कर लिया था, अतः वह मराठों को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझने लगा। उसने १७१९ ई० की सन्धि को मानना अस्वीकार कर दिया और यह घोषणा करके कि वह शाहू और शम्भाजी में से उसी एक को चौथ और सरदेशमुखी देगा, जो महाराष्ट्र में निर्विरोध शासक होगा; शाहू और शम्भाजी मे विरोध का बीज बो दिया। बाजीराव ने चालाक निजाम की चालों को भलीभाँति समझकर खुले युद्ध का समर्थन किया किन्तु शान्तिप्रिय शाहू ने झगड़े को शान्तिपूर्वक निबटाने की ही सलाह दी। इसके परिणामस्वरूप बाजीराव निजाम से तीन बार मिला। पहली बार वह १४ जनवरी, १७२१ ई० को चिखलथान में और दूसरी बार २३ फरवरी, १७२३ ई० को केलशा में मिला जो दोहाद से २५ मील दक्षिण में था। तीसरी बार वह २८ मई, १७२४ ई० को धार के पास नाछला में मिला और उससे अनुरोध किया कि वह १७१९ ई० की सन्धि को मानकर शाहू को तंजौर का राज्य और शिवनेर, चकन, माहुली, करनाल, पाली और मिराज के किले तथा इन किलों से सम्बन्धित भूमि को लौटा दे। उसने और भी अनेक माँगें रखीं किन्तु इन सभाओं का कुछ भी परिणाम नही निकला। निजाम लगभग दो वर्ष (१७२२-२३ ई०) दिल्ली मे वजीर रहा और उसके

वायसरायी क्षेत्र का प्रबन्ध उसका नायब मुबारिजखाँ करता रहा। जब वह अपना कार्यकाल (फरवरी १७२२—दिसम्बर १७२३ ई०) समाप्त कर मन्त्री पद से असफल होकर लौटा तब उसे मुबारिजखाँ से युद्ध करना पड़ा। बाजीराव ने इस परिस्थिति का लाभ उठाकर बुरहानपुर जिले पर अधिकार कर लिया। निजाम ने मुबारिजखाँ को सखरखेलदा मे १० अक्तूबर, १७२४ ई० को हराकर मार डाला और अपने वायसरायी क्षेत्र पर पुनः अधिकार जमा लिया। बाजीराव इस युद्ध मे तटस्थ रहा और युद्ध के समाप्त होने पर उसने निजाम के सामने सम्मिलित रूप से कर्नाटक पर चढाई करने का सुझाव रखा।

१७२५ और १७२६ ई० में बाजीराव के नेतृत्व में मराठों के लगातार दो हमले कर्नाटक पर हुए। निजाम ने इनमे भाग नही लिया। अपितु अपने नायब एवाजखाँ को एक शक्तिशाली सेना के साथ कर्नाटक को निजी तौर पर विजय करने के लिए भेज दिया। मराठो ने चीतल दुर्ग मे पहुँचकर बकाया कर की वसूली की। किन्तु निजाम तो अपने को सारे दक्खिन का न्यायोचित स्वामी समझता था, उसने बाजीराव के कर्नाटक हमले से यह अभिप्राय निकाला कि बाजीराव उसके प्रदेश को हड़प जाना चाहता है, अतः वह बाजीराव के कर्नाटक मे रहने तक महाराष्ट्र में उपद्रव मचाता रहा। उसने शाहू के समर्थकों को फुसलाने का प्रयत्न किया और कोल्हापुर के शम्भाजी को सारे महाराष्ट्र की माँग के लिए भड़का दिया। शम्भाजी अपने मन्त्री नीलकण्ठ त्रिम्बक की सलाह से अक्तूबर १७२६ ई० के आरम्भ में निजाम-उल-मुल्क से जा मिला और दोनो ने मिलकर शाहू के प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। शाहू भयभीत होकर निजाम-उल-मुल्क से शान्तिपूर्ण बातचीत करने के लिए बाध्य हो गया। निजाम ने शाहू से प्रार्थना की कि वह चौथ का रुपया ले ले परन्तु कर वसूल करने वाले मराठा अफसरों को दक्खिन के प्रान्तों से हटा ले। शाहू इस प्रस्ताव को स्वीकार करने वाला ही था कि बाजीराव कर्नाटक से लौट आया। अब निजाम ने चौथ का रुपया देना भी अस्वीकार कर दिया और घोषणा कर दी कि वह शम्भाजी को मराठा राज्य का न्यायोचित प्रधान मानता है। शाहू निजाम की चाल ताड़ गया और निजाम-उल-मुल्क से युद्ध करने के लिए बाजीराव की राय मान ली। पेशवा ने ६ मार्च, १७२८ ई० को औरंगाबाद से लगभग २० मील पश्चिम में पालखेद स्थान पर निजाम को अपने जाल में फँसा लिया और उसकी रसद और पानी बन्द कर उसे सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य कर दिया (१६ मार्च)। यह सन्धि इतिहास में मुँगी शिवगाँव की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके द्वारा शाहू को कृष्णा नदी से उत्तर के महाराष्ट्र प्रदेश का एकमात्र छत्राधिपति स्वीकार कर लिया गया। इसकी शर्तें ये थीं: (१) निजाम ने शम्भाजी की सुरक्षा की जिम्मेदारी छोड़कर उसे पन्हाला भेज देना स्वीकार कर लिया। निजाम ने स्वीकार कर लिया कि वह कृष्णा से उत्तर के जिलों में तथा दूसरी जागीर में शम्भाजी के कर-वसूली अधिकार को नहीं मानेगा किन्तु केवल उन्हीं प्रदेशों में मानेगा जिन्हें शाहू ने कृष्णा और तुंगभद्रा के बीच उसे दिया है।

(३) उसने मराठो के छीने हुए प्रदेशो तथा मराठा कैदियो को छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर ली। (४) उसने १७१९ ई० की सन्धि के अनुसार शाहू के चौथ तथा सरदेशमुखी कर की वसूली के अधिकार को मान लिया। १६ मार्च, १७२८ ई० को यह सन्धि इतिहास मे अपना महत्त्व रखती है क्योकि इसके अनुसार निजाम ने १७१९ ई० की सन्धि मे दिये हुए मराठो के अधिकार को विधिवत स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त निजाम ने शम्भाजी की सुरक्षा न करने की प्रतिज्ञा कर ली, जिससे शाहू के प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति क्षीण हो गयी। इस सन्धि के कारण बाजीराव युद्ध-विद्या-विशारद और कूटनीति-कुशल प्रसिद्ध हो गया। निजाम 'मुगी शिवगाँव' की सन्धि करके प्रसन्न नहीं हुआ। उसने त्रिम्बकराव दाभाड़े के साथ एक षड्यन्त्र रचा किन्तु त्रिम्बक को पेशवा द्वारा कत्ल कर दिया गया (अप्रैल १७३१ ई०)। फिर उसने मालवा के मुहम्मदशाह बगाश के साथ मित्रता करके बाजीराव का पीछा किया किन्तु हरा दिया गया। लड़ाई से घबराकर निजाम ने बाजीराव से एक गुप्त सन्धि कर ली जिसके अनुसार चौथ और सरदेशमुखी के बदले पेशवा ने प्रतिज्ञा कर ली कि वह निजाम के प्रदेश पर आक्रमण नही करेगा और चालाक निजाम ने मराठो के उत्तरी भारत के आक्रमण मे तटस्थ रहना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार उसने मराठों का ध्यान उत्तरी भारत की ओर लगाकर अपने प्रदेश को उनके हमले से बचा लिया।

मालवा और बुन्देलखण्ड की वास्तविक विजय (१७२८ ई०)

दूसरी ओर बाजीराव ने बुन्देलखण्ड और मालवा के प्रान्तो पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। अक्टूबर १७२८ ई० में उसने अपने भाई चिमनाजी अप्पा को मालवा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। मालवा का सूबेदार गिरधर बहादुर योग्य और परीक्षित अफसर था और उसने प्रान्त की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लिया, किन्तु ९ दिसम्बर को वह धार के निकट अमझेरा के भयकर युद्ध में मारा गया। उसका चचेरा भाई दयाबहादुर भी इसी लड़ाई में मारा गया। अब मालवा पर मराठों का दृढ़ अधिकार हो गया। लगभग इसी समय प्रसिद्ध बुन्देला राजा छत्रसाल के निमन्त्रण पर बाजीराव ने बुन्देलखण्ड पर स्वयं आक्रमण किया। उस समय इलाहाबाद के मुगल सूबेदार मुहम्मदखाँ बंगाश ने जैतपुर में उसका घेरा डाल रखा था क्योंकि बुन्देलखण्ड इलाहाबाद सूबे का ही एक भाग था। पेशवा ने देवगढ़ से महोबा के लिए द्रुत गति से कूच किया और २२ मार्च को वहाँ पहुँच गया। बंगाश के छत्रसाल को हराकर उसे कैद कर रखा था। यह जेल से भागकर महोबा में बाजीराव से जा मिला। मुहम्मदखाँ बंगाश का पुत्र कायमखाँ अपने पिता की सैन्य-शक्ति बढ़ाने के लिए आ रहा था किन्तु इन मित्रों, छत्रसाल और बाजीराव, ने जैतपुर के निकट उसे खदेड़ दिया। इसके बाद उन्होंने स्वयं मुहम्मदखाँ पर आक्रमण किया और उसे हरा दिया। इस युद्ध मे बहुत अधिक हत्याएँ हुई। जब मुहम्मदखाँ ने इस बात का लिखित वचन दे दिया कि वह बुन्देलखण्ड जाकर छत्रसाल को फिर कभी तंग नहीं करेगा, तब उसे फर्रुखाबाद जाने की आज्ञा दे दी गयी। छत्रसाल ने खुला दरबार किया और अपने दोनों

पुत्र ह्रिदेशाह और जगतराज को बाजीराव के संरक्षण में सौंप दिया। उसने बाजीराव को अपने राज्य का एक बड़ा भाग भी दिया किन्तु शर्त यह लगा दी कि वह (बाजीराव) उसके पुत्रों के साथ अपने छोटे भाइयों जैसा व्यवहार करेगा और सदैव उनकी रक्षा करता रहेगा। शायद इसी समय छत्रसाल ने बाजीराव को सुन्दरी मस्तानी भी भेंट की। बाजीराव जून १७२६ ई० के आरम्भ मे जैतपुर से पूना आ गया। बाजीराव को जो प्रदेश मिला उसमे कालपी, भाटा, सागर, झांसी, सिरोज, कूंच, गरखोटा और ह्रिदेनगर शामिल थे। बाजीराव ने इनको गोविन्दपन्त खेर के प्रबन्ध में सौप दिया और गोविन्दपन्त इसके बाद गोविन्दपन्त बुन्देला नाम से प्रसिद्ध हो गया। जयपुर का राजा जयसिंह उस समय मालवा का मुगल सूबेदार था। उसने पेशवा को इस शर्त पर नायब-सूबेदार बनने के लिए राजी कर लिया कि वह मुगल प्रदेशों पर आक्रमण नही करेगा। सम्राट ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया किन्तु फिर भी मालवा और बुन्देलखण्ड मराठो के वास्तविक अधिकार मे आ गये।

गुजरात पर अधिकार और दाभाड़ों का पतन

इसके बाद बाजीराव ने गुजरात पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया और फरवरी १७३१ ई० मे उसने अहमदाबाद जाकर प्रान्त के नये सूबेदार मारवाड़ के राजा अभयसिंह के साथ सन्धि कर ली। इस बीच मे पेशवा और त्रिम्बकराव दाभाड़े में कलह हो गयी। त्रिम्बक शाहू का सेनापति था तथा बाजीराव की योग्यता और शक्ति से द्वेष रखता था और निजाम से मिला हुआ था। इस कारण इन दोनो का वैमनस्य चरमसीमा तक पहुँच गया। दोनो दल दभोय के पास भीलापुर के मैदान में डट गये। शस्त्र द्वारा निपटारा करने का निश्चय कर लिया। सेनापति हराकर मार दिया गया। उसकी मृत्यु से बाजीराव का अन्तिम शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी नष्ट हो गया। अब शाहू नाममात्र का राजा रह गया और वास्तविक राजा बाजीराव हो गया। शाहू ने त्रिम्बकराव के छोटे भाई यशवन्तराव को अपना सेनापति नियुक्त किया किन्तु दाभाड़े परिवार फिर कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका। अब गुजरात पिलाजी गायकवाड़ के हाथ में चला गया और दाभाड़े परिवार का प्रभुत्व वहाँ से हट गया। अभयसिंह ने १७३८ ई० में पिलाजी गायकवाड़ को कत्ल कर दिया। उसके बाद उसके स्थान पर दाभाजी द्वितीय उसका उत्तराधिकारी हुआ।

दिल्ली पर आक्रमण (१७३७ ई०) और निजाम की अन्तिम पराजय

१७३७ ई० में बाजीराव ने पहले-पहल यमुना पार की, दोआब को लूटा और उत्तरी भारत पर-सबसे बड़ा हमला करने की योजना बनायी। उसने मल्हारराव होल्कर के नेतृत्व में एक सेना भेजी जिसे अवध के सूबेदार सआदतखाँ ने मार्च १७३७ ई० में हरा दिया। सआदतखाँ ने इसकी सूचना दिल्ली भेजी और साथ ही अपनी डींग मारते हुए लिखा कि उसने मराठों को चम्बल के पार खदेड़ दिया है। बाजीराव ने इस समाचार का खण्डन करने के लिए दिल्ली पर बड़ी तेजी से धावा बोल दिया और १४ दिन के सफर को दो दिन में ही तय करके उस वर्ष मार्च के महीने में दिल्ली पर टूट

पड़ा। सम्राट भयभीत हो गया किन्तु बाजीराव ने उसके पास सन्देश भेजा कि वह किसी और इच्छा को न लेकर केवल यह दिखाने आया है कि वह अभी तक जीवित है। लौटते समय वह एक मुगल सेना को हराकर ग्वालियर लौट गया। सम्राट को अब निश्चय हो गया कि केवल निजाम ही उसके साम्राज्य को मराठो से बचा सकता है, अत उसने उसे दिल्ली बुलाया। निजाम इस निमन्त्रण को स्वीकार कर जुलाई १७३७ ई० मे दिल्ली गया और मराठो को नर्वदा के पार खदेड़ने का बीड़ा उठा लिया। सदा की भाँति बाजीराव उसका मुकाबला करने के लिए तैयार हो गया। उसने दिसम्बर १७३७ ई० मे भोपाल मे निजाम का घेरा डाला और १७ जनवरी, १७३८ ई० को 'दोराहा सराय' नामक स्थान पर सन्धि करने के लिए उसे बाध्य कर दिया। इसके अनुसार उसने सम्पूर्ण मालवा तथा नर्वदा से लेकर चम्बल तक के प्रदेश को पूर्ण अधिकार के साथ बाजीराव के आधिपत्य मे छोड दिया। उसने इस सन्धि को सम्राट से भी स्वीकार कराने की प्रतिज्ञा कर ली। निजाम मराठो को उत्तरी भारत से खदेड़ने के बजाय स्वय विपत्तियो में फँस गया और सम्राट को भी फंसा दिया।

१७३९ ई० के आरम्भ मे फारस के नादिरशाह ने उत्तरी-पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया और करनाल मे मुहम्मदशाह को हराकर दिल्ली को लूटा। बाजीराव ने सोचा कि यह आक्रमणकारी दक्षिण पर भी हमला करेगा, अत. वह मुगलों से विरोध-भाव को भुलाकर देश की रक्षा को तैयार हो गया। किन्तु नादिरशाह दिल्ली से ही लौट गया, अतः पेशवा को सम्राट के प्रति अपनी नीति बदलनी न पड़ी।

चिमनाजी का बसीन पर अधिकार (१७३९ ई०)

अब पेशवा का ध्यान कोंकण पर गया। यह पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच एक उपजाऊ और विस्तृत प्रदेश था। उसने इसे मराठों के अधिकार मे लाने के लिए अपने भाई चिमनाजी को भेजा। इस प्रदेश में तीन प्रतिद्वन्द्वी शक्तियाँ थी। कोलाबा के आंग्रे, जंजीरा के सिद्दी और गोआ के पुर्तगाली प्रभुता प्राप्त करने के लिए झगड़ रहे थे। यद्यपि कान्होजी आग्रे का शाहू से समझौता हो गया था, फिर भी उसने पेशवा के अधिकार को न मानकर जाने वाले जहाजों पर चौथ लगा दो। सिद्दी भी मराठों के समान ही शक्तिशाली थे और उनके सदा के शत्रु थे। पुर्तगालियों की राजधानी बसीन थी और वे धार्मिक एवं राजनीतिक मतभेद के कारण मराठों के विरुद्ध थे। बसीन के पुर्तगाली सूबेदार ने 'निगार' कहकर पेशवा का अनादर किया था, अतः पशवा ने उस विदेशी ढीठ को दण्ड देने के लिए अपने भाई चिमनाजी को भेजा। चिमनाजी ने अप्रैल १७३७ ई० में थाना पर अधिकार कर लिया और सालसट नगर को लूटकर उस द्वीप में स्थित किले को अपने अधीन कर लिया। बरसात के बाद उसने बसीन पर आक्रमण किया परन्तु असफल रहा। अतः उसने बसीन का घेरा डालकर किले की दीवारों की नींव मे ही सुरंग लगा दी और नगर के किनारे तोपखाना लगाकर कंगूरों से बड़े-बड़े पत्थरों को गिराना शुरू कर दिया। लम्बी और भयंकर लड़ाई के बाद पुर्तगालियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। चिमनाजी अप्पा ने बड़ी

उदारता के साथ किलेदारो को बाहर निकल जाने को सुविधा दे दी और गोआ तथा दमन में उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध कर दिया और वे वही बस गये। उनको पूर्णरूप मे धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। बम्बई के अंग्रेज इस घटना से घबरा गये, अत. उन्होने जुलाई १७३९ ई० मे मराठो से सन्धि कर ली और उन्हे दक्खिन में व्यापार करने की छूट दे दी गयी।

आंग्रे परिवार में मतभेद

जब चिमनाजी पुर्तगालियो पर असाधारण विजय प्राप्त करता चला आ रहा था तब आंग्रों ने मराठा राज्य के प्रति बडी घातक बेवफादारी का परिचय दिया। शेखोजी कान्होजी आंग्रे का उत्तराधिकारी हुआ। ये दोनो ही योग्य और स्वामिभक्त पदाधिकारी थे और मराठा नौ-सेना के सेनापति थे। शेखोजी की मृत्यु के बाद उसके दो भाई शम्भाजी और मानाजी मे उत्तराधिकार के प्रश्न पर परस्पर झगडा हो गया। बाजीराव ने कोलाबा जाकर देखा कि दोनो भाइयो के झगडे शान्तिपूर्ण तरीको से तय नही हो सकते हैं अतः उसने आंग्रे राज्य को दो भागों में बाँट दिया। उसने बड़े भाग को शम्भाजी को देकर उसे 'सरखेर' की उपाधि दी। यह भाग स्वर्ण दुर्ग से विजय दुर्ग तक फैला हुआ था। उत्तरी भाग मानाजी को दिया गया जिसका प्रधान कार्यालय कोलाबा मे रखा और उसे 'वरजाता-माव' की उपाधि दी गयी किन्तु दोनो भाइयों मे विद्वेष बढ़ता गया और वे दोनो आपस मे लड़ते-झगड़ते ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजो और पुर्तगालियो ने इसका लाभ उठाकर मराठा नौ-सेना को कमजोर बना दिया। २२ जनवरी, १७४२ ई० को शम्भाजी की मृत्यु हो गयी किन्तु आंग्रों का झगड़ा तय न हो सका।

१७४० ई० के आरम्भ मे बाजीराव ने निजाम-उल-मुल्क के द्वितीय पुत्र नासिरजंग को अपने जाल में फँसाकर औरंगाबाद के पास मुंगी शिवगाँव मे ८ मार्च, १७४० को सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य कर दिया। इसके अनुसार नासिरजंग ने हांडिया और खरगाँव के जिले मराठो को सौप दिये। यह बाजीराव की अन्तिम सफलता थी। ८ मई १७४० ई० (पुरानी गणना के अनुसार २८ अप्रैल) को नर्बदा के किनारे रावर नामक स्थान पर उसकी अचानक मृत्यु हो गयी।

बाजीराव का चरित्र

इतिहासकार इस विषय में एकमत हैं कि सैन्य-संचालन और कूटनीति मे शिवाजी के बाद बाजीराव का ही द्वितीय स्थान है। यद्यपि वह बीस वर्ष की अवस्था के पूर्व ही प्रधानमन्त्री के पद पर प्रतिष्ठित हो गया था, तो भी उसने मराठा राज्य की चौमुखी उन्नति की और उसके देशी-विदेशी शत्रुओ को हरा दिया। उसके कार्यों का परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक केन्द्र दिल्ली से हटकर पूना हो गया। बाजीराव का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रतिभाशाली था और वह अच्छा सैनिक और सफल राजनीतिज्ञ था। वह अपने समय का सबसे अच्छा घुड़सवार था और छापामार लड़ाई में अत्यन्त निपुण था। वह एक उदार मित्र और प्रभावशाली वक्ता था। उसमें आदमियों के

परखने की शक्ति थी और वह उन्हें बडे से बडे काम करने के लिए प्रोत्साहन दे सकता था। इतिहासकार सर रिचार्ड टेम्पल ने बाजीराव के चरित्र-चित्रण के उपसंहार में लिखा है, "बाजीराव सबसे अच्छा घुड़सवार था, काम में सबसे आगे रहता था और आवश्यकता पडने पर कठिनाइयों का सामना करने के लिए आग में कूद पडने को भी तैयार रहता था। वह सब प्रकार के कष्टों को सह सकता था और उसे इस बात का गौरव था कि वह अपने सैनिको के समान ही कष्टसहिष्णु है और उनके समान ही उनके रूखे-सूखे भोजन से सन्तुष्ट हो सकता है। उस समय राजनीतिक क्षितिज मे मराठों के दो शत्रु थे, एक मुसलमान और दूसरे यूरोपियन। बाजीराव ने हिन्दू देश-भक्ति से प्रेरित होकर राष्ट्र की रक्षा का सदा प्रयत्न किया। उसके जीवन का लक्ष्य मराठों का आतंक अरबसागर से बंगाल की खाडी तक विस्तृत देखना था। वह सदा शिविरों में रहा और वहीं अपने आदमियों के बीच मे मर गया। वह महाराष्ट्र में आज भी सैनिक पेशवा और हिन्दू शक्ति का अवतार माना जाता है। मृत्यु के समय उसकी अवस्था ४० वर्ष से भी कम थी।"

मस्तानी उपाख्यान

बाजीराव का घरेलू जीवन सुखमय नहीं था क्योंकि उसने मस्तानी नाम की एक मुसलमान नर्तकी से प्रेम कर लिया था। वह अपने समय मे भारतवर्ष की सबसे अधिक सुन्दर स्त्री थी और शायद छत्रसाल बुन्देला ने इसे बाजीराव को भेंट में दिया था। कहा जाता है कि उसकी माता मुसलमान थी और पिता हिन्दू। वह अत्यन्त गुणवती स्त्री थी और उसने अपने गुणों से बाजीराव के हृदय को ऐसा मोह लिया था कि वह उसे दिल से प्रेम करने लगा था। वह अच्छी गायिका थी और विवाहिता पत्नी की तरह बाजीराव की सुख-सुविधा का ध्यान रखती थी। वह अच्छी घुड़सवार थी और पेशवा की तरह ही सब प्रकार के कष्टों को सह सकती थी। मराठी पत्रों में उसके विषय में टीका-टिप्पणी तब आरम्भ हुई, जब बाजीराव के सबसे बड़े पुत्र एवं भावी पेशवा बालाजी बाजीराव का २१ जनवरी को विवाह हुआ। मस्तानी पूना के 'शनिवार' नामक राजमहल के एक भाग में रहती थी जिसका नाम उसी के नाम पर रख दिया गया था। ब्राह्मण पुरोहितों ने रघुनाथराव का यज्ञोपवीत तथा सदाशिवराव का विवाह-संस्कार करना तब तक स्वीकार नही किया जब तक कि मस्तानी बाजीराव के स्थान से न हटा दी गयी। बाजीराव जब युद्ध के मैदान में जाता था तब मस्तानी बालाजीराव और चिमनाजी की नजरबन्दी में रहती थी। कहा जाता है कि बाजीराव मे मांस और मदिरा का दुर्व्यसन मस्तानी के सम्पर्क से ही आया था। शायद पेशवा परिवार के सदस्यो ने यह निर्णय किया था कि मस्तानी को मार डाला जाय, जिससे बाजीराव का वंश-परम्परागत रहन-सहन बना रहे और उस पर कोई कलंक न लगे। जब बाजीराव ने सुना कि उसकी प्रेमिका को कारागार में डाल दिया गया तो वह अत्यन्त शोक के कारण बेवश हो गया, किन्तु जनमत का ध्यान रखकर उसने पूना जाकर उसे बलपूर्वक मुक्त कराना उचित नहीं समझा। इस

उदमे से ही उसकी अचानक मृत्यु हो गयी। इस समाचार को सुनकर मस्तानी भी पूना के महल मे मर गयी। यह कहना कठिन है कि उसने आत्महत्या की अथवा सदमे से मर गयी।

बालाजी बाजीराव (१७४०-१७६१ ई०)

पेशवा की मालवा के नायब-सूबेदार पद पर नियुक्ति (१७४१ ई०)

शाहू ने ४ जुलाई, १७४० ई० को स्वर्गीय बाजीराव के सबसे बड़े पुत्र बालाजी (नाना साहब) को पेशवा नियुक्त किया। नये पेशवा की अवस्था इस समय १८½ वर्ष की थी। बाबूजी नायक जोशी नाम का एक प्रसिद्ध महाजन भी इस उच्च पद का इच्छुक था, किन्तु शाहू ने उसकी प्रार्थना पर तनिक भी ध्यान न देकर बिना किसी हिचकिचाहट के बालाजी को ही पेशवा नियुक्त कर दिया। बालाजी ने अपने पिता की देखरेख में युद्धनीति और कूटनीति की अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी, किन्तु वह अपने पिता के समान सैन्य-संचालन मे निपुण नहीं था। वह कोमल तथा मधुर प्रकृति का था। निजाम-उल-मुल्क ने बाजीराव से मालवा देने की प्रतिज्ञा कर ली थी, अतः बालाजी ने अपनी नियुक्ति के बाद इसे नियमपूर्वक प्राप्त करने के लिए उत्तरी भारत पर हमला करने की योजना बनायी। वह अपने चाचा चिमनाजी के साथ मालवा गया। स्वास्थ्य के बिगड़ जाने से चिमनाजी को बीच से ही लौटना पड़ा और २७ दिसम्बर, १७४० ई० को पूना मे उनकी मृत्यु हो गयी। यद्यपि चिमनाजी में बाजीराव की-सी योग्यता तो नहीं थी, किन्तु वह एक सफल सैनिक और प्रसिद्ध प्रबन्धक था। उसमें किसी प्रकार की महत्वाकांक्षा नहीं थी। उसने बड़ी वफादारी से अपने भाई की सहायता की और उसकी सफलता में अच्छा सहयोग दिया। उसका पुत्र सदाशिवराव 'भाऊ साहब' नाम से प्रसिद्ध था। उसने भी अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की, किन्तु उसका भी दुखमय अन्त हुआ, बालाजी ने अपने स्वर्गीय चाचा के लिए पर्याप्त शोक मनाकर यात्रा आरम्भ की। धौलपुर पहुँचकर उसने मई १७४१ ई० के अन्तिम सप्ताह में जयपुर के राजा जयसिंह से बातचीत की। इस बातचीत के परिणामस्वरूप यह समझौता हुआ। (१) पेशवा और जयसिंह घनिष्ठ मित्रता रखकर एक-दूसरे की सहायता करेंगे, (२) मराठे मुगल सम्राट के पूर्ण स्वामिभक्त रहेगे। (३) छह महीने के अन्दर मालवा की सूबेदारी पेशवा को दे दी जायेगी। अपनी कूटनीतिक सफलता के बाद बालाजी १७ जुलाई को पूना लौट गया। अब जयसिंह ने सम्राट से अनुरोध किया और उसने १४ जुलाई, १७४१ ई० को फरमान निकालकर युवराज अहमद को मालवा का सूबेदार और बालाजीराव को उसका नायब नियुक्त कर दिया। अब बालाजी मालवा का सर्वेसर्वा हो गया। नवम्बर १७२८ ई० से यह प्रान्त मराठों के अधिकार में था। १४ जुलाई, १७४१ ई० की सनद के कारण उसका यह बलपूर्वक अधिकार न्यायानुकूल हो गया। मालवा प्रदान करने की निम्न शर्तें थीं: (१) मराठे किसी भी शाही प्रदेश में उपद्रव नहीं करेंगे। (२) पेशवा पाँच सौ सैनिक घुड़सवारों को शाही सेवा के लिए दिल्ली में रखेगा। (३) आवश्यकता पड़ने पर उसे ४,००० मराठा सैनिक बादशाह

की सेवा के लिए देने पड़ेगे किन्तु इसका व्यय सम्राट देगा। (४) सम्राट ने व्यक्ति विशेष और धार्मिक संस्थाओ को १७४१ ई० से पहले जो जागीर मालवा मे दी थी, पेशवा उन्हें जब्त नही करेगा और वह जनता पर कर नही बढ़ायेगा।

कर्नाटक की विजय (१७४०-४१ ई०)

बाजीराव की मृत्यु के समय बरार का रघुजी भोंसले कर्नाटक के हमले में फँसा हुआ था। इसे उसने तजौर के राजा प्रतापसिंह के निमन्त्रण पर स्वीकार किया था। यह प्रतापसिह शिवाजी महान के धात्री भाई व्यंकोजी का वंशज था और कर्नाटक के नवाब दोस्तअली ने उसकी स्वतन्त्रता के अपहरण करने की धमकी दे रखी थी। रघुजी ने दोस्तअली को हराकर मार डाला और उसके पुत्र सफदरअली से सन्धि कर ली। दिसम्बर १७४१ ई० में उसने दोस्तअली के दामाद चन्दा साहब को त्रिचनापल्ली में घेर लिया, उसको बन्दी बनाकर सतारा भेज दिया और त्रिचनापल्ली को मुरारराव घोरपड़े के अधिकार मे सौप दिया। अब रघुजी ने पाण्डिचेरी का घेरा डालने का विचार किया क्योंकि यह फ्रासीसियो के अधीन था और वे चन्दा साहब के मित्र थे किन्तु बाद मे वह इस विचार को छोड़कर पूना लौट आया।

रघुजी भोंसले का उड़ीसा पर अधिकार (१७५१ ई०)

रघुजी भोंसले के विरोध को शान्त करने के लिए पेशवा ने उडीसा, बगाल, बिहार और उड़ीसा मे पूरी छूट दे दी जो अलीवर्दीखाँ की अधीनता मे पूर्ण स्वतन्त्र थे। रघुजी भोसले ने इन प्रान्तों मे अपने चौथ के अधिकार को जारी करने के लिए अपने मालमन्त्री भास्करपन्त के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना भेजी। अलीवर्दीखाँ ने भास्करपन्त को एक उत्सव में बुलाया और विश्वासघात करके उसे तथा उसके प्रमुख अफसरों को मार डाला। उसे अपनी इस नीचता के लिए बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी। रघुजी ने उसके प्रदेश मे प्रवेश करके भारी मारकाट की, उसे उड़ीसा प्रान्त को सौप देने के लिए बाध्य कर दिया और बगाल और बिहार मे बारह लाख वार्षिक की चौथ लगा दी (१७५१ ई०), किन्तु मराठों ने उड़ीसा को लेकर सारा प्रबन्ध स्थानीय सामन्तों के हाथों में ही रखा और रघुजी भोंसले के घुडसवारो का आतक बंगाल और बिहार के सारे लोगों पर छा गया।

मराठों और राजपूतों के मतभेद का प्रभाव

आमेर के राजा सवाई जयसिह की, जिसने जयपुर की नयी राजधानी का निर्माण और विद्या का प्रचार कर अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, ६ अक्तूबर, १७४३ ई० को ५५ वर्ष की अवस्था मे मृत्यु हो गयी। ईश्वरीसिह उसका बड़ा पुत्र था और माधोसिह छोटा जो उदयपुर की राजकुमारी से पैदा हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद ये दोनो उत्तराधिकार के लिए झगड़ने लगे। उदयपुर के महाराना जगतसिह ने माधोसिह के अधिकार का समर्थन किया जिनके परिणामस्वरूप घोर युद्ध हुआ जो सात वर्ष तक चलता रहा। महाराना ने जयपुर को कुच कर माधोसिह के लिए

आधे राज्य की माँग की। ईश्वरीसिंह ने रानोजी सिन्धिया तथा मल्हारराव होल्कर की सहायता से १७४५ ई० में माधोसिंह को हरा दिया। किन्तु रानोजी की शीघ्र ही मृत्यु हो गयी और उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद ही उसके पुत्र जयप्पा और मल्हारराव में तीव्र मतभेद हो गया। मल्हारराव ने माधोसिंह का पक्ष लिया और सिन्धिया ने ईश्वरीसिंह का। १२ मार्च, १७४७ ई० को ठवेली के पास राजमहल में पुन: एक भयंकर युद्ध हुआ जिसमें माधोसिंह हार गया। महाराना ने पेशवा की सहायता प्राप्त करने के लिए अपना एक एजेण्ट पूना भेजा। सिन्धिया और होल्कर के प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण परिस्थिति ऐसी भयंकर हो गयी कि झगड़े को शान्त करने के लिए पेशवा का स्वयं आना पड़ा। ईश्वरीसिंह काबुल वाले अब्दाली के विरुद्ध युद्ध करके लौटा था और चूँकि उसकी और माधोसिंह की लड़ाई में मराठों ने स्वार्थ से काम लिया था, अत: वह असन्तुष्ट था और पेशवा से नहीं मिला। किन्तु माधोसिंह जयपुर से ४० मील दक्षिण में निवाई नामक स्थान पर पेशवा से मिला और निश्चय हुआ कि ईश्वरीसिंह अपने चार जिले माधोसिंह को दे दे परन्तु जून १७४८ ई० में पेशवा के लौट जाने पर ईश्वरीसिंह ने इन जिलों को देना अस्वीकार कर दिया, अत: मल्हारराव होल्कर को सेना के बल से उसे समझौता मानने को बाध्य करना पड़ा।

१७५० ई० की बरसात में पेशवा ने सिन्धिया और होल्कर को ईश्वरीसिंह से चौथ वसूल करने के लिए भेजा। कछवाहा सरदार के खजाने में बहुत थोड़ा धन था अत: मल्हारराव होल्कर ने सेना के साथ जयपुर को कूच किया। ईश्वरीसिंह को दो लाख रुपये देने की प्रतिज्ञा करने के लिए बाध्य होना पड़ा, किन्तु वह मराठों की माँग से इतना दुखी हो गया था कि वह विष खाकर और कोबरा साँप से अपने को कटवाकर मर गया। उसकी तीन स्त्रियों ने विष खा लिया और दूसरी २० स्त्रियाँ उसके साथ-साथ सती हो गयीं। जयपुर नगर में शोक और भय छा गया। मराठों के व्यवहार से माधोसिंह भी बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने ईश्वरीसिंह की मृत्यु का बदला लेने का निश्चय कर लिया। उसने जयप्पा और मल्हारराव को दावत में बुलाया और उनके सामने जहरीला भोजन परोसा किन्तु भोजन करने से पहले विष का पता चल गया जिससे सिन्धिया और होल्कर मृत्यु से बच गये। दूसरे दिन जयप्पा को अपने साथियों सहित नगर की शोभा देखने के लिए बुलाया गया और वे ज्योंही नगर में घुसे त्योंही नगर के फाटक बन्द कर दिये गये। २० जनवरी, १७५१ ई० को दोपहर से लेकर आधी रात तक मराठों का कत्लेआम होता रहा जिसमें लगभग ३ हजार मराठे मारे गये और १ हजार से अधिक घायल हुए। राजपूतों ने अपनी सम्पत्ति को भी लूट लिया। बचे हुए मराठे सैनिकों ने नगर से कुछ मील दूर अपना खेमा डाल लिया। भाग्यवश सिन्धिया और होल्कर वजीर सफदरजंग की जरूरी अपील पर रुहेलखण्ड तथा फर्रुखाबाद के पठानों के विरुद्ध उसकी सहायता करने के लिए जयपुर से दोआब चले गये थे किन्तु इस घटना ने मराठे और राजपूतों के बीच विरोध की खाई चौड़ी कर दी।

शाहू के अन्तिम दिन और उसका चरित्र

शाहू के अन्तिम दिन सुखमय नहीं रहे। उसकी रानियाँ परस्पर षड्यन्त्र रचने लगी और उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। ताराबाई शक्ति पाने के लिए आन्दोलन करने लगी और रघुजी भोसले, मुरारराव घोरपरे और आंग्रे भाई जैसे प्रमुख मराठा सरदार स्वार्थवश प्रतिद्वन्द्वी हो गये, जिससे शाहू बहुत दुखी हो गया। दरबार में एक गिरोह पेशवा बालाजीराव के कामों का विरोधी था। उसने उसके विरुद्ध शाहू से शिकायत भी की थी। मामला इतना बढ़ गया कि १७४७ ई० में पेशवा को त्यागपत्र देना पड़ा किन्तु उसका रहना इतना आवश्यक सिद्ध हो चुका था कि १७४७ ई० में ही उसकी पुनः नियुक्ति हो गयी। इन कठिनाइयों के साथ-साथ शाहू को अपने उत्तराधिकारी की भी चिन्ता थी। शाहू के कोई पुत्र नहीं था और वह कोल्हापुर के शम्भाजी को गोद लेना नहीं चाहता था। सतारा की जेल में पड़ी हुई ताराबाई ने एक बच्चा पेश किया जिसे उसने अपने पुत्र शिवाजी का पुत्र बताया और शाहू से उसे गोद लेने की प्रार्थना की। उसका नाम रामराजा था। शाहू की रानी सकवारीबाई ने इसका विरोध किया। कोल्हापुर के शम्भाजी ने सिंहासन पर भी अधिकार जमाने का प्रयत्न किया किन्तु वह असफल रहा। शाहू का स्वास्थ्य तो गिर ही रहा था, इन परिस्थितियों में वह और भी गिर गया और २५ दिसम्बर, १७४९ ई० को अपने ही महल में उसकी मृत्यु हो गयी। उस समय उसकी अवस्था ७६ वर्ष ७ महीने की थी। वह एक वसीयत कर गया जिसके अनुसार कोल्हापुर का शम्भाजी उत्तराधिकार से वंचित रह गया और रामराजा को प्राथमिकता दी गयी।

शाहू अन्तिम छत्रपति था जिसने सम्पूर्ण अधिकारों का भोग किया और उसके बाद मराठा छत्रपति नाम के ही राजा रह गये। वे सतारा में लगभग बन्दी की भाँति रहे और सारी शक्ति पेशवा के हाथ में चली गयी। इतिहासकार सरदेसाई ने लिखा है कि "व्यक्तिगत रूप से शाहू न तो चतुर राजनीतिज्ञ था और न योग्य सेनापति ही, किन्तु उसे लोक-व्यवहार का अच्छा ज्ञान था और सहानुभूतिपूर्ण हृदय प्राप्त था। इन कारणों से वह दूसरों को परखकर उनसे उचित सेवा ले लेता था। उसमें मनुष्य की योग्यता परखने की अच्छी शक्ति थी और वह उन्हें बिना किसी रुकावट के उन्नति करने का खुला अवसर देता था। वह रैय्यत के हितों का विशेष ध्यान रखता था अतः उसने ऊसर भूमि को उपजाऊ बना लिया और वृक्ष लगाने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया। वह गरीबों की विपत्ति को दूर करता था और असह्य टैक्सों को हटा देता था।" (New History of the Marathas, vol). II, p. 26) शाहू के चरित्र का सबसे अच्छा गुण यह था कि वह अपने मन्त्रियों की एक बार नियुक्ति करने के बाद उनका पूरा विश्वास करता था और उनका समर्थन करता था। वह उनके काम में बहुत कम हस्तक्षेप करता था जो उसकी सफलता का मुख्य रहस्य था।

शाहू अपने को मुगल सम्राट के अन्तर्गत एक वफादार राजा मानता था और

सतारा तथा दिल्ली के बीच किसी प्रकार का विरोध नही चाहता था। वह दयालु था और स्वतन्त्रतापूर्वक जनता के सामाजिक उत्सवो में भाग लेता था। वह मुसलमानी रहन-सहन को अधिक पसन्द करता था जो स्वाभाविक ही था क्योकि वह औरगजेब के शिविर मे पला था। वह शिकार और हुक्के का शौकीन था और अपना हरम रखता था। वह हिन्दू-मुसलमान मे भेदभाव न मानकर सब धर्मों का समान आदर करता था और अपनी उदारता के लिए आज तक प्रसिद्ध है।

शाहू की मृत्यु के बाद १४ जनवरी, १७५० ई० को रामराजा का छत्रपति के रूप मे अभिषेक हुआ। ताराबाई उसे अपने कठिन नियन्त्रण मे रखती थी और पेशवा से नहीं मिलने देती थी और जब रामराजा ने उसकी संरक्षकता का विरोध किया तो उसने उसे 'छलिया' घोषित कर दिया। इससे इन दोनो मे झगड़ा हो गया। पेशवा ने ताराबाई तथा उसके प्रमुख समर्थक पन्त सचिव को पूना बुलाया। उसने ताराबाई का तो आदर किया किन्तु पन्त सचिव को जेल मे डाल दिया। उसने छत्रपति रामराजा से भी पूना-कान्फ्रेंस मे सम्मिलित होने की प्रार्थना की और 'सगोला' समझौता नामक प्रतिवेदन पर हस्ताक्षर करने को बाध्य किया जिसके अनुसार राज्य के सभी प्रमुख विभाग छत्रपति ने पेशवा के हाथ मे सौप दिये और पेशवा मराठा राज्य का सर्वेसर्वा बन गया।

महाराष्ट्र में गृहयुद्ध और पेशवा की अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय

'सगोला' समझौता हो जाने के बाद पेशवा ने हैदराबाद के निजाम और मराठो के झगडों का अन्त करने के लिए निजाम की राजधानी पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उसने ज्योंही पीठ मोडी त्योही ताराबाई ने पेशवा के प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। अब शक्ति बड़ी तेजी के साथ छत्रपति के हाथ से ब्राह्मण पेशवा के हाथ मे जा रही थी, अत. मराठा सरदार उससे ईर्ष्या रखते थे और उसे किसी प्रकार का भी सहयोग नही दे रहे थे। वे 'सगोला' समझौते से नाराज थे क्योंकि इसी के द्वारा पेशवा ने अपने साथियों को राज्य के मुख्य-मुख्य पद दे रखे थे और ताराबाई का समर्थन करने के इच्छुक थे जिसने सतारा दुर्ग का घेरा डाल दिया था। ताराबाई ने रामराजा को दावत के बहाने बुलाकर जेल मे डाल दिया और खांडेराव दाभाडे की विधवा उमाबाई को अपने पक्ष मे कर लिया जिसने अपने पति के वृद्ध सेनापति दमाजी गायकवाड को गुजरात से दुर्जेय ताराबाई को शक्ति हथियाने मे सहायता करने के लिए बुलाया। दमाजी ने १५,००० सैनिक लेकर सतारा पर हमला किया किन्तु नाना पुरन्धरे और पेशवा के अन्य कुछ साथियों ने उसका विरोध किया। पेशवा ने जब दमाजी गायकवाड का सतारा पर आक्रमण सुना तो वह रायचूर के पास से सशस्त्र सेना सहित लौट आया। उसने दमाजी को हराकर आधा गुजरात और हर्जाने के पच्चीस लाख रुपये देने के लिए बाध्य किया। पेशवा इस समझौते से सन्तुष्ट नही हुआ और उसने अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर दमाजी पर फिर आक्रमण किया, उसको उसके पुत्र और उमाबाई दाभाड़े सहित बन्दी बना लिया।

पेशवा और गायकवाड मे पूर्ण विरोध हो गया और गायकवाड ने अब से पेशवा को सीधे हाथ से कभी सलाम नही किया। उसने यथासम्भव पेशवा के अधिकार का विरोध किया, किन्तु विवश होकर बाद मे आत्मसमर्पण कर दिया और उसे गुजरात जाने की आज्ञा मिल गयी। वहाँ जाकर उसने मुगल सूबेदार को अहमदाबाद से निकाल बाहर किया और प्रान्त का वास्तविक राजा बन गया।

दमाजी गायकवाड की पराजय और उसका आत्मसमर्पण ताराबाई को भयभीत करने मे असफल रहा और वह अब भी पेशवा को चुनौती देती हुई सतारा दुर्ग पर अपना अधिकार जमाये रही। जब पेशवा ने ताराबाई को प्रतिज्ञा के साथ स्वतन्त्रता का विश्वास दिला दिया, तब उसने उससे सन्धि कर ली। ताराबाई ने रामराजा को कपटी घोषित कर दिया था अत वह जेल मे ही रहा और १७७० ई० मे वही मर गया। उसने अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले छोटे शाहू नामक लडके को गोद ले लिया था; जिसने जीवनपर्यन्त राज्य किया और १८१० ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। इस भाँति शाहू प्रथम की मृत्यु के बाद (१७४९ ई०) मराठा राजा नाममात्र के राजा रह गये और पेशवा मराठा राज्य के वास्तविक राजा बन गये। इसके लिए छत्रपति और पेशवा दोनो ही दोषी ठहराये जा सकते है। शाहू प्रथम ने अपने अधिकार पेशवा को दे दिये थे और पेशवा भी उस समय राजा और राज्य के हितो का ध्यान रखता था। शाहू के उत्तराधिकारी बहुत ही निकम्मे थे और अपने अधिकार-प्राप्त साम्राज्य का उपभोग और अपने मन्त्रियो की वास्तविक शक्ति को नही समझते थे तथा ताराबाई राज्य के हितो की अपेक्षा अपने स्वार्थों का विशेष ध्यान रखती थी। अत बिगडती हुई परिस्थिति को सँभालने के लिए पेशवा ने अधिकार अपने हाथ मे ले लिये। यह परिवर्तन हानिकारक सिद्ध हुआ क्योकि इससे महाराष्ट्र के राजवश की केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो गयी।

निजाम के साथ विरोध (१७५१-१७६० ई०)

अपने घरेलू प्रतिद्वन्द्वियो पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद बालाजी १७५१ ई० के अन्त मे हैदराबाद पर आक्रमण करने मे समर्थ हो गया। जून १७४८ ई० में निजाम-उल-मुल्क की मृत्यु हो गयी थी। बालाजी ने निजाम के छोटे लडके सलावतजग के विरुद्ध निजाम के सबसे बडे लडके गाजीउद्दीनखाँ का समर्थन किया। सलावतजग किसी तरह फ्रासीसी जनरल के नेतृत्व मे पैदल सिपाहियो की एक सुसज्जित टुकडी युद्ध के मैदान मे ले आया जो पेशवा को अनेक बार हराकर पूना मे १६ मील तक घुस गयी। किन्तु हैदराबादी सेना ने वेतन न मिलने के कारण विद्रोह कर दिया जिससे उसे वापस बुला लेना पडा और इसी बीच १७५२ ई० मे पेशवा के उम्मीदवार गाजीउद्दीन को विष दे दिया गया जिससे लडाई समाप्त हो गयी। इसके बाद बालाजी ने कर्नाटक पर हमला किया और बहुत-सा धन लूटकर पूना वापस आ गया। उसने मैसूर को भी लूटा और निजाम से मित्रता करके सवानूर के नवाब पर हमला किया और उसे कर देने के लिए बाध्य कर दिया।

१७५८ ई० में निजाम और पेशवा मे फिर शत्रुता हो गयी। उसी साल फ्रांसीसी जनरल बुसी को, जो निजाम की नौकरी में था लैली ने वापस बुला लिया। अत: पेशवा ने निजाम पर हमला करने का अच्छा अवसर जानकर हैदराबाद पर आक्रमण कर दिया। उसने एक भी प्रहार किये बिना अहमदनगर पर अधिकार कर लिया और निजाम के तोपखाने के सेनापति इब्राहीम गर्दी को अपनी सेना मे नौकरी करने के लिए फुसला लिया। अब पेशवा ने निजाम के राज्य पर चढ़ाई करने के लिए अपने भतीजे चिमनाजी अप्पा के पुत्र सदाशिवराव भाऊ को ४०,००० सैनिकों का नेतृत्व देकर रवाना कर दिया। निजाम सलावतजंग ने अपने प्रदेश को बचाने का प्रयत्न किया किन्तु वह ३ फरवरी, १७६० ई० को पूना से २० मील पूर्व उदगीर की लड़ाई में हरा दिया गया। इस लड़ाई मे इब्राहीम गर्दी के तोपखाने ने अच्छा काम किया। निजाम की फौज मे भगदड़ मच गयी और वह भागकर औसा के किले में छिप गयी, किन्तु भाऊ ने उसका तुरन्त घेरा डाल दिया। निजाम को हार मानकर सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह सन्धि तुरन्त हो गयी जिसके अनुसार निजाम ने बीजापुर, बीदर और औरंगाबाद के आस-पास के प्रदेश जिनकी सालाना मालगुजारी ६० लाख थी, मराठों को सौंप दिये और दौलताबाद, असीरगढ़, बीजापुर, अहमदनगर और बुरहानपुर के किले भी विजेता को दे दिये। कुशल युद्ध-विद्या-विशारद के रूप में भाऊ की अक्षय कीर्ति सर्वत्र फैल गयी।

उत्तर में मराठों का आक्रमण और अप्रैल १७५२ ई० की सन्धि

जब बालाजीराव महाराष्ट्र के घरेलू मतभेदो को दूर करने में लगा हुआ था, तब उत्तरी भारत में घटनाएँ बड़ी तेजी से घट रही थीं। मुहम्मदशाह के शासनकाल के अन्तिम दिनों में अहमदशाह अब्दाली ने, जो जून १७४७ ई० में नादिरशाह को मारकर अफगानिस्तान का राजा बन बैठा था, पंजाब पर आक्रमण कर दिया। किन्तु मार्च १७४८ ई० वह मानूपुर मे हार गया। लेकिन इसी बीच में मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र अहमदशाह गद्दी पर बैठा। इसने अवध के सफदरजंग को अपना वजीर बनाया। फर्रुखाबाद और रुहेलखण्ड के पठान पड़ोसी इस नये वजीर के कटु विरोधी थे, अतः इसने पठानों के प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। जब यह पठानों के प्रदेश को नष्ट करने में लगा हुआ था तभी अहमदशाह अब्दाली १७४९ ई० के जाड़े में पंजाब में फिर घुस आया और प्रान्त के सूबेदार मुइन-उल-मुल्क को पंजाब के चार उत्तरी जिलों की मालगुजारी के रूप में दस लाख रुपये देने के लिए बाध्य किया। इसी बीच में पठानों ने वजीर को सितम्बर १७५० ई० में दोआब में हरा दिया। पठानों ने वजीर के अवध और इलाहाबाद के सूबों को जीत लिया और लखनऊ को लूटकर इलाहाबाद के किले का घेरा डाल दिया। दरबार के गुट ने राजमाता मलका-ए-जमानी तथा उसके मुँहलगे ख्वाजा जाविदखाँ के नेतृत्व में सफदरजंग का कड़ा विरोध किया जिससे विवश होकर वह मराठों की सहायता लेने के लिए बाध्य हुआ। उसने जयप्पा सिन्धिया और मल्हारराव होल्कर को २५,००० रु०

प्रतिदिन पर रख लिया तथा भरतपुर के सूरजमल जाट की सहायता प्राप्त कर ली। इन दो मित्रो की सहायता से वजीर ने अहमदखाँ बंगश को हराकर उसे कुमायूँ की पहाड़ियो मे शरण लेने को बाध्य कर दिया। भारत के पठानों ने अहमदशाह अब्दाली से सहायता की अपील की, अत अब्दाली ने १७५१ ई० के अन्त में पजाब में पुनः प्रवेश किया और सम्राट ने भयभीत होकर वजीर को कुमायूँ की पहाड़ियो के हमले से वपिस बुला लिया। वजीर ने सिन्धिया और होल्कर से एक समझौता किया और अब्दाली को मार भगाने के लिए दिल्ली की ओर कूच कर दिया। यह समझौता २२ अप्रैल, १७५२ ई० को हुआ था और उसकी निम्नलिखित शर्तें थी :

(१) पेशवा सम्राट की देशी तथा विदेशी शत्रुओं से रक्षा करेगा।

(२) सम्राट मराठों को उनकी सहायता के बदले ५० लाख रुपया देगा—३० लाख रुपया अब्दाली के आक्रमण को रोकने के लिए और २० लाख पठान जैसे देशी शत्रुओं को रोकने के लिए।

(३) पंजाब, सिन्ध और दोआब से पेशवा को चौथ वसूल करने का अधिकार दिया जाय।

(४) पेशवा को आगरा और अजमेर का सूबेदार नियुक्त कर दिया जाय।

सम्राट ने इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया और अब्दाली से सन्धि करके उसे पंजाब का प्रदेश दे दिया। सफदरजंग इससे अत्यन्त दुःखी हुआ क्योंकि सिन्धिया और होल्कर वायदा किया हुआ ५० लाख रुपया लिये बिना दिल्ली से टलने को तैयार न थे। अतः वजीर ने स्वर्गीय निजाम-उल-मुल्क के सबसे बड़े लड़के गाजीउद्दीन से अनुरोध किया कि वह दक्षिण में जाकर मराठों की सहायता से सूबेदारी का पद सँभाल ले। गाजीउद्दीन ने मराठों को ३० लाख रुपया देना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार वजीर मराठों की उलझन को सुलझाने मे सफल हो गया किन्तु दरबार के विरोधी दल के कारण वह वजीर के पद का काम ठीक-ठीक न सँभाल सका, और उसमें तथा सम्राट में गृहयुद्ध छिड़ गया। सफदरजंग की पराजय हुई और उसे मन्त्री पद से (नवम्बर १७५३ ई०) हटाकर अवध और इलाहाबाद के सूबों में जाने को बाध्य कर दिया गया।

मराठों द्वारा कुम्भेर का घेरा और जाटों से वैमनस्य (१७५४ ई०)

यद्यपि अप्रैल १७५२ ई० की सन्धि को सम्राट ने स्वीकार नहीं किया किन्तु मराठों में आगरा और अजमेर को हथियाने की प्रबल इच्छा हो गयी और इसके लिए उन्होने एक झूठा बहाना ढूंढ लिया। आगरे को भरतपुर का योग्य राजा सूरजमल तथा अजमेर को मारवाड़ का राठौर राजा हड़पना चाहता था। मराठों को दूसरा बहाना यह मिल गया कि इमाद-उल-मुल्क ने हाल ही मे उनसे भरतपुर पर आक्रमण करने को कहा था। यह अमीर निजाम-उल-मुल्क का पोता था और मीरबख्शी के पद पर नियुक्त किया गया था। सफदरजंग के साथ मित्रता रखने के कारण वह सूरजमल से शत्रुता रखता था। पेशवा ने पहले से ही अपने अठारहवर्षीय भाई रघुनाथराव

का १७५३ की बरसात मे उत्तर का अनुभव करने के लिए भेज दिया था। वह दिसम्बर मे जयपुर पहुँचा। पेशवा ने मल्हाराव होल्कर को सूरजमल के दृढ़ किले 'कुम्भेर' का घेरा डालने के लिए भेज दिया। जाट राजा ने युद्ध को टालने का बहुत प्रयत्न किया और अपने विश्वासपात्र दूत के द्वारा ४० लाख रुपये देकर सन्धि करनी चाही परन्तु रघुनाथराव ने बड़े अनादर के साथ इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया और कुम्भेर का घेरा डालने की आज्ञा द दी। घेरा ४ माह तक रहा (जनवरी-मई १७५४ ई०)। इस बीच मे मल्हारराव का लडका खांडेराव मारा गया। जाटो ने मराठो का इतनी बहादुरी से सामना किया कि मराठे केवल किले को जीतने मे ही असफल नही हुए बल्कि उन्हे तीन साल की किस्तों मे तीस लाख रुपया देना भी स्वीकार करना पड़ा और कुम्भेर का घेरा उठा लेना पड़ा। जिस समय जाटो से युद्ध हो रहा था उसी समय मल्हारराव ने इमाद-उल-मुल्क के साथ सिकन्दराबाद के पास सम्राट के शिविर पर आक्रमण किया और दिल्ली तक मीरबख्शी के साथ गया। वहाँ पर इमाद-उल-मुल्क ने सम्राट अहमदशाह को मारकर आलमगीर द्वितीय को गद्दी पर बिठा दिया (जून १७५४ ई०) और स्वय वजीर बन गया। रघुनाथराव और जयप्पा सिन्धिया शीघ्र ही दिल्ली पहुँचे। इमाद-उल-मुल्क ने उनको सहायता के रूप में ८२ लाख रुपये देने का वचन दिया और रघुनाथराव ५ माह तक नये सम्राट तथा वजीर से धन पाने की आशा मे दिल्ली के आसपास व्यर्थ ही चक्कर काटता रहा। इसके पश्चात वह यमुना पार करके कर वसूल करने क लिए राजस्थान गया जहाँ मल्हारराव होल्कर उससे जा मिला। इसी समय जयप्पा सिन्धिया मारवाड़ के राजा विजयसिंह से चौथ वसूल करने के लिए युद्ध कर रहा था। रघुनाथराव जयप्पा की सहायता करना चाहता था किन्तु जयप्पा ने मना कर दिया। इस कारण रघुनाथराव ग्वालियर होता हुआ पूना चला गया। इस भाँति रघुनाथराव अपने दो वर्ष (अक्टूबर १७५३ ई०—अगस्त १७५५ ई०) के हमलो के उद्देश्य मे असफल ही नही रहा बल्कि उसके कारण उत्तरी भारत मे मराठो के हितो को भी बहुत हानि पहुँची।

जयप्पा सिन्धिया का मारवाड़ आगमन तथा मराठा राजपूत शत्रुता का दूसरा कारण

मल्हारराव होल्कर ने जयपुर के घरेलू मामलो मे हस्तक्षेप कर उत्तराधिकार युद्ध मे भाग लिया जिससे मराठा और राजपूतो मे भारी मतभेद हो गया। जयप्पा सिन्धिया ने मारवाड को अपनी हलचल का केन्द्र बनाया और उसके हठी स्वभाव के कारण मराठो और राजपूत सरदारो मे तीव्र मतभेद हो गया, जो १७४१ ई० तक कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करते रहे थे। मारवाड़ का राजा अभयसिंह २० जून, १७४९ ई० को मर गया और उसके भाई बखतसिंह ने उसके पुत्र रामसिंह को अधिकार से वंचित कर दिया। रामसिंह ने जयप्पा से अपने पैतृक अधिकार प्राप्त करने के लिए सहायता माँगी परन्तु सितम्बर १७५२ ई० मे बखतसिंह की मृत्यु हो गयी और रामसिंह ने सिन्धिया की सहायता से उसके लड़के विजयसिंह को अजमेर में घेर लिया। विजयसिंह भागकर मेरटा गया जहाँ पर जयप्पा ने उसका पीछा किया। अन्त

में उसने नागौर के किले मे शरण ली जहाँ वह जयप्पा के द्वारा अच्छी तरह घेर लिया गया (अक्तूबर १७५५ ई०)। यह घेरा एक साल तक रहा और दोनों दलो को बड़ी कठिनाई उठानी पडी। यद्यपि इसी बीच मे जयप्पा ने मारवाड़ से अजमेर तथा अन्य अनेक स्थानों को फरवरी १७५५ ई० में जीत लिया था किन्तु विजयसिंह दृढ़ता से मुकाबला करता रहा और घेरा डालने वालों से सन्धि की बातचीत भी करता रहा। २५ जुलाई, १७५५ ई० को जबकि जयप्पा अपने शिविर मे खुले स्थान पर स्नान समाप्त करके उठा ही था और विजयसिंह के दूत उसके आदमियो से सन्धि की बातचीत कर रहे थे तभी दो भिखारियो ने जो दाना बीन रहे थे, अपनी कटारियाँ उसकी पाँजर में घुसेड़कर घातक प्रहार कर दिया, जिससे जयप्पा की मृत्यु हो गयी। आक्रमणकारियों को विजयसिंह का एजेण्ट समझकर कुछ मराठो ने विजयसिंह के दूत और उनके साथियो के टुकडे टुकड़े कर डाले जिससे दोनों दलो मे अत्यधिक कटुता उत्पन्न हो गयी। जयप्पा के भाई दत्ताजी ने घेरा जारी रखा। विजयसिंह ने भी जयपुर के माधोसिंह, रुहेला सरदार और सम्राट से दुख-भरी अपील की कि वे उत्तरी भारत से मराठों को बाहर निकालने में उसकी सहायता करे। फिर भी सिन्धिया सरदार क्षतिस्वरूप ५० लाख रुपये तथा अजमेर और जालौर का इलाका देने के लिए विजयसिंह को बाध्य करने मे सफल हो गया। उसे इस बात के लिए भी विवश किया गया कि वह अपने राज्य का आधा भाग अपने चचेरे भाई रामसिंह को दे दे। इस प्रकार दत्ताजी ने जयप्पा का बदला लेने के बाद नागौर का घेरा उठा लिया और अजमेर को अपने अधिकार में रखकर तथा जालौर को रामसिंह को देकर वह पूना चला गया।

रघुनाथराव की पंजाब विजय (१७५९-१७६० ई०)

यह पहले ही बताया जा चुका है कि सम्राट अहमदशाह ने अप्रैल १७५२ ई० में पंजाब और मुल्तान के प्रान्त आक्रमणकारी अब्दाली को दे दिये थे और उसने मुइन-उल-मुल्क को इन प्रान्तों का वाइसराय नियुक्त किया था। १७५३ ई० में मुइन-उल-मुल्क की मृत्यु हो गयी और उसकी विधवा मुगलानी बेगम प्रान्त की सूबेदार बन गयी। इससे प्रान्त के शासन-प्रबन्ध में गड़बड़ी मच गयी। इसका लाभ उठाकर वजीर इमाद-उल-मुल्क ने फरवरी १७५६ ई० में अदीनाबेगखाँ को प्रान्त का सूबेदार बना दिया और मुगलानी बेगम को दिल्ली लाकर नजरबन्द कर दिया। अब वजीर निडर होकर सम्राट और उसके परिवार को भूखों मारने लगा, अत: मलका-ए-जमानी तथा दूसरी मुगल महिलाओं ने मुगलानी बेगम तथा चतुर राजनीतिक रुहेल नजीबुद्दौला की सलाह से अहमदशाह अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने के लिए बुलाया, जिससे वह वजीर इमाद-उल-मुल्क और उसके हिमायती मराठों को दण्ड दे जो उत्तरी भारत में बड़ा भारी अत्याचार कर रहे थे। अब्दाली ने अदीनाबेगखाँ को हराकर पंजाब पर अधिकार कर लिया और जनवरी १७५७ ई० में दिल्ली की ओर बढ़ गया। उसने दिल्ली निवासियों पर बड़े-बड़े अत्याचार किये और फिर आगरा तथा मथुरा पर आक्रमण करने तथा सूरजमल जाट और दूसरे सरदारों से कर वसूल करने के

लिए अपनी सेना भेजी। अफगान इन प्रदेशों के निवासियों का कत्लेआम कर अब्दाली के पास आ गये क्योंकि अब वे महामारी तथा भारत की गर्मी से घबराकर यथासम्भव शीघ्र लौट जाने के लिए इच्छुक थे। अब्दाली ने नजीबुद्दौला को मीरबख्शी बनाकर सम्राट आलमगीर द्वितीय की रक्षा का भार उसे सौंपा, इमाद-उल-मुल्क को फिर वजीर बना दिया और लगभग बारह करोड की लूट का माल लादकर १ अक्टूबर, १७५७ ई० को काबुल रवाना हो गया। मुगलानी बेगम ने ही अब्दाली को बुलाया था, अतः उसने उसे सुरक्षा का विश्वास दिया था किन्तु जाते समय वह उसकी जीविका का कुछ भी प्रबन्ध नही कर गया, अत निरन्तर आर्थिक कठिनाइयाँ सहती हुई वह १७७९ ई० मे मर गयी।

अब्दाली के इन आक्रमणों के समय ही अक्टूबर १७५७ ई० मे रघुनाथराव ने भी पूना से दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया। परन्तु जब अब्दाली की सेना मथुरा में निहत्थे यात्रियों का कत्लेआम कर रही थी तब दूसरी ओर रघुनाथराव और मल्हारराव व्यर्थ के वाद-विवाद मे राजपूताने में अपना समय खोते रहे। वे आगरा तब आये जब अब्दाली यहाँ से चला गया था। इमाद-उद-मुल्क ने उनका स्वागत किया। नजीबुद्दौला को डर था कि मराठे उससे बदला लेंगे, अतः उसने मल्हारराव होलकर की शरण ली। मराठो ने बडी तेजी से दिल्ली की ओर कूच किया और दिल्ली पर तथा दोआब में सहारनपुर तक अधिकार कर लिया (अगस्त १७५७ ई०)। नजीबुद्दौला अपनी चाल में असफल रहा और विट्ठल शिवदेव ने उसे बन्दी बना लिया। रघुनाथराव मे पूर्ण शक्ति थी कि वह इस रुहेला सरदार को पकड़कर दक्खिन के किसी सुदूर किले में जीवन-बन्दी बना दे और उसके लिए यह दण्ड उचित था भी, क्योंकि वह बराबर मराठों का जानी दुश्मन रहा था। किन्तु रघुनाथराव के चंचल स्वभाव और सिन्धिया तथा होलकर में मतभेद होने के कारण वह बच गया। मल्हारराव ने नजीबुद्दौला से अच्छी-खासी रिश्वत लेकर उसे बन्दी-जीवन से मुक्त करने की सलाह यह कहकर दी कि नजीबुद्दौला की सहायता से उत्तरी भारत मे मराठों की शक्ति और बढ जायेगी। अदूरदर्शी रघुनाथराव ने मल्हारराव की सलाह मानकर उसे छोड दिया। मराठों ने आलमगीर द्वितीय को दिल्ली के सिंहासन पर फिर से बिठाकर इमाद-उल-मुल्क को वजीर और अहमदशाह बंगश को मीरबख्शी बना दिया। अब रघुनाथराव ने मार्ग में कुंजपुरा और सरहिन्द को जीतकर लाहौर के लिए प्रस्थान किया। अब्दाली १७५७ ई० से पंजाब में जाते समय प्रान्त का कार्यभार अपने पुत्र तैमूर तथा जनरल जहानखाँ पर छोड गया था। रघुनाथराव ने अदीनाबेग के सहयोग से उन्हें खदेड़ दिया और सरहिन्द मे हारे हुए कमाण्डर अब्दुस समदखाँ तथा अब्दुर्रहमान को एक बड़ी सेना देकर यह आदेश दिया कि वे अब्दाली से काबुल तथा कन्धार जीतने की पूरी-पूरी कोशिश करें। रघुनाथराव लाहौर में तुकोजी होलकर तथा साबाजी सिन्धिया के नेतृत्व मे एक सुदृढ़ दुर्गरक्षक सेना छोड़कर वह स्वयं मई १७५७ ई० में पूना चला गया। रघुनाथराव के चले जाने जाने के बाद तुकोजी और साबाजी ने

सीमाप्रान्त के लिए प्रस्थान किया और कटक पर अधिकार कर सिन्धु नदी तक कर-वसूली का प्रबन्ध किया। अदीनाबेग को पजाब की ७५ लाख की वार्षिक कर-वसूली का अधिकारी बना दिया गया। किन्तु १६ सितम्बर, १७५८ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी, जिससे पंजाब मे मराठों का शासन-प्रबन्ध अस्तव्यस्त हो गया।

दत्ताजी सिन्धिया द्वारा शूकरताल में नजीबुद्दौला का घेरा डालना

रघुनाथराव पंजाब का शासन-प्रबन्ध स्थायी रूप से करके दत्ताजी सिन्धिया को इस सीमाप्रान्त की रक्षा का स्थायी प्रबन्ध करने के लिए छोड़ गया था। रघुनाथ-राव के प्रबन्ध मे मुख्य दोष यह था कि उसने प्रान्त का भार दो मुसलमान सरदारो के हाथ मे सौंपा था। ये अब्दुस समदखाँ और अब्दुर्रहमान थे जो वफादारी के साथ मराठो के हितो की सुरक्षा तब तक नही कर सकते थे जब तक कि उन्हे उच्चकोटि के मराठे सरदारो का सहयोग प्राप्त न हो। दत्ताजी मई १७५८ ई० मे पूना से चला, जून मे रघुनाथराव से उज्जैन मे मिला और दिसम्बर मे दिल्ली आ गया। इसके बाद उसने लाहौर जाकर साबाजी सिन्धिया को सिन्धु नदी तक पजाब का सूबेदार बना दिया (फरवरी १७५९ ई०)। उसने जून मे दोआब लौटकर उस प्रदेश के प्रबन्ध के लिए नजीबुद्दौला से सलाह की। नजीबुद्दौला क्रुद्ध हो गया और यह कहते हुए कि 'उसका जीवन खतरे मे है' मराठा खेमे से बाहर चला गया। किन्तु वह मुजफ्फरनगर से १६ मील पूरब गंगा के पश्चिमी किनारे पर बसे हुए शूकरताल मे रहकर अपने दूतो द्वारा दत्ताजी से समझौता की बातचीत करता रहा। जब बरसात के कारण उस प्रदेश मे बाढ आयी तब दत्ताजी को फँसाने के लिए उसने जाल बिछाया। उसने अपने रुहेला सम्बन्धियो, हाफिज रहमतखाँ इत्यादि पठानों, अवध के शुजाउद्दौला और काबुल के अहमदशाह अब्दाली से तुरन्त सहायता देने की जोरदार अपील की। दत्ताजी ने इसकी रोकथाम के लिए १५ सितम्बर को नजीबुद्दौला के खेमे पर हमला कर दिया। किन्तु यह हमला असफल रहा और लडाई जारी रही। दत्ताजी ने नजीबुद्दौला की रसद को तथा उसकी फौज मे रुहेलो के आगमन को रोकने के लिए गोविन्दपन्त बुन्देले को गंगा पार भेजा (२१ अक्टूबर), किन्तु हाफिज रहमत और दुन्देखाँ ने गोविन्दपन्त को हरा दिया। इसी बीच मे अक्टूबर के अन्त मे शुजाउद्दौला की सेना अनूपगिरि गुसाईं के नेतृत्व मे पुल से नदी पारकर शूकरताल मे नजीबुद्दौला की सेना मे मिल गयी। अत. दत्ताजी ने तुरन्त ही नजीबुद्दौला के शिविर का घेरा डाल दिया।

जिस समय दत्ताजी शूकरताल का घेरा डाले पड़ा था तभी अहमदशाह अब्दाली ने नजीबुद्दौला की अपील पर पंजाब पर अधिकार करने के लिए जहानखाँ के नेतृत्व में सेना भेज दी। किन्तु साबाजी ने जहानखाँ को हराकर घायल कर दिया जिससे उसे पेशावर लौटना पड़ा। इससे अब्दाली ने क्रुद्ध होकर पंजाब पर स्वय आक्रमण कर दिया और साबाजी को हरा दिया। मराठो की छोटी-सी सेना को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी। साबाजी भयभीत होकर ८ नवम्बर को शूकरताल भाग गया और पंजाब मराठों के हाथ से निकल गया।

अब्दाली का भारत पर आक्रमण और दत्ताजी की पराजय तथा मृत्यु

प्रतिकूल घटना-चक्रो से भी न घबराकर दत्ताजी ने बड़े साहस के साथ शूकरताल का घेरा जारी रखा। वजीर इमाद-उल-मुल्क दिल्ली मे बहुत व्याकुल था और इस बात से डरकर कि कही सम्राट भी अब्दाली से न मिल जाय, उसने २९ नवम्बर, १७५९ ई० को उसे मार डाला और कुछ दिन बाद सूरजमल जाट की शरण में भरतपुर चला गया। अब्दाली सरहिन्द पहुँच गया था। जब उसने आलमगीर द्वितीय की हत्या का समाचार सुना तो उसने क्रुद्ध होकर वजीर तथा उसके मित्र मराठो को दण्ड देने के लिए दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया। दत्ताजी को शूकरताल का घेरा उठाने के लिए बाध्य होकर (११ दिसम्बर, १७५९ ई०) अब्दाली का मुकाबला करने के लिए दिल्ली की ओर जाना पडा। उसने १८ दिसम्बर को यमुना पारकर बडी निर्भीकता के साथ कुंजपुरा पर अधिकार कर लिया। यहाँ उसने सुना कि तैमूर के नेतृत्व में ४०,००० अफगान अम्बाला मे पहले से ही जमा हो गये हैं। अत: उसने भारी तोपखानो और उसकी सामग्री के साथ सेना की एक टुकड़ी गोविन्दपन्त बुन्देले के नेतृत्व में दिल्ली भेज दी और बचे हुए २५,००० सैनिकों को अपने साथ लेकर शत्रु का मुकाबला करने के लिए चल दिया। किन्तु अब्दाली खुली मुठभेड़ करना नहीं चाहता था अत: उसने यमुना पार करके दिल्ली से १० मील उत्तर मे लूनी के पास बरारीघाट मे अपना डेरा डाल दिया। यहाँ भयकर युद्ध हुआ (१० जनवरी, १७६० ई०), जिसमे दत्ताजी गोली से मारा गया और जनकोजी सिन्धिया घायल हो गया। दत्ताजी की मृत्यु से उसकी सेना मे आतक छा गया और वह भाग खड़ी हुई। अब्दाली ने दिल्ली पर अधिकार कर याकूबखाँ को इसका सूबेदार नियुक्त कर दिया और राजपूत सरदारों, सूरजमल जाट तथा शुजाउद्दौला के पास कर-वसूली के लिए अपने दूत भेजे किन्तु जाट राजा के सिवाय सभी ने गोलमोल जवाब दिये। जाट राजा ने अपना निर्भीक सन्देश इस प्रकार भेजा, "तुम पहले मराठों को दिल्ली से निकाल दो और हमें यह विश्वास दिला दो कि वहाँ के अधिकारी तुम ही हो, उसके बाद हम बड़ी खुशी से तुम्हारी अधीनता स्वीकार कर लेंगे।" अब्दाली आगे बढ़ना नहीं चाहता था किन्तु नजीबुद्दौला ने उससे कुछ दिन और ठहरकर मराठों को पूर्णत: कुचल देने की प्रार्थना की जिससे कि वे लौटकर उससे तथा दूसरे मुसलमानों से बदला न ले सकें।

भाऊ शाह का दिल्ली प्रस्थान

पेशवा को दत्ताजी की मृत्यु का समाचार १३ फरवरी, १७६० ई० को अहमदनगर में मिला। उसने अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ को दिल्ली भेजने का निश्चय कर लिया। जिससे वह दत्ताजी की हत्या का बदला लेकर अब्दाली को देश से बाहर खदेड़ दे। भाऊ योग्य और अनुभवी था अत: उसे परिस्थिति के अनुसार अच्छी से अच्छी सामग्री और सेना देकर भेजा गया। इब्राहीमखाँ गर्दी को अच्छे से अच्छा तोपखाना देकर भाऊ के साथ भेजा गया। वह लगभग २ लाख आदमी लेकर १४ मार्च को पतदूर से रवाना हुआ। इनमें से लगभग ३३,००० सेवक, क्लर्क, दुकान-

दार और हालों मवाली थे। ये सब ४ जून को ग्वालियर पहुँच गये। उसकी योजना थी कि वह यमुना पार कर अब्दाली के मित्र रुहेलो पर आक्रमण करे। अत उसने इस काम के लिए गोविन्दपन्त बुन्देले को बहुत-सी नावे तैयार रखने की आज्ञा दी। किन्तु यह योजना असफल रही क्योकि समय से पहले ही वर्षा एव बाढ आ जाने से मराठे बहुत दिन तक चम्बल पर ही पडे रहे और समय पर यमुना के आसपास न पहुँच सके। आगरे के पास मल्हारराव होल्कर और जनकोजी भी भाऊ से आ मिले। वह १६ जुलाई को मथुरा पहुँचकर सूरजमल जाट से मिला। सूरजमल ने अपनी १०,००० सेना के साथ उसका साथ देने को कहा और स्त्री तथा अयोद्धाओ को शरण देने का विश्वास दिला दिया, किन्तु शर्त यह लगा दी कि भाऊ न तो उससे चौथ माँगेगा और न उसकी प्रजा तथा फसल को किसी प्रकार की हानि पहुँचायेगा। भाऊ ने यह शर्त मान ली। यमुना मे बाढ आयी हुई थी, अत यह निश्चय किया गया कि दिल्ली जाकर राजधानी को अब्दाली के दूतो से मुक्त कराया जाय। यह काम आसानी से हो गया और भाऊ ने २ अगस्त, १७६० ई० को दिल्ली मे प्रवेश किया।

चम्बल पार करने से पूर्व भाऊ ने राजस्थान के सरदारो, अवध के शुजाउद्दौला तथा अन्य प्रमुख व्यक्तियो को पत्र लिखे थे कि वे इस लडाई को देश की लडाई समझकर विदेशी अब्दाली को सिन्धु के पार खदेडने मे उसकी सहायता करें। किन्तु मराठो की यह कूटनीति असफल रही। राजपूत सिन्धिया और होल्कर के अत्याचारो के कारण मराठो के शत्रु हो गये थे, अत: वे तटस्थ रहे परन्तु शुजाउद्दौला दोआब के अपने पडोसी रुहेलो को मराठो से अधिक शत्रु मानता था, अत. वह भाऊ का साथ देने को राजी हो गया। जब यह बात अब्दाली को मालूम हुई तो उसने शुजाउद्दौला को अपने पक्ष मे करने के लिए नजीबुद्दौला को लखनऊ भेजा। नजीबुद्दौला ने मेहदी-घाट स्थान पर नवाब-वजीर से मिलकर उसे स्वार्थ तथा धर्म के नाम पर अब्दाली का साथ देने के लिए राजी कर लिया। भाऊ की तरह उसने भी उसे वजीर का पद दे देने का विश्वास दिला दिया। शुजाउद्दौला नजीबुद्दौला के आग्रह से अनूपशहर के खेमे मे शाह से मिला और उसने उसका हार्दिक स्वागत किया (१८ जुलाई)। मराठों पर एक तो अब्दाली और शुजाउद्दौला के मिल जाने की चोट पडी और दूसरी सूरजमल जाट के रूठकर दिल्ली से भरतपुर चले जाने की भाऊ और जाट राजा मे सहसा मतभेद हो जाने के अनेक कारण बताये जाते है। कहा जाता है कि सूरजमल ने भाऊ को सलाह दी थी कि वह युद्ध-सामग्री तोपखाना और स्त्रियो को भरतपुर में सुरक्षित छोडकर मराठो की पुरानी छापामार नीति को अपनाये और अब्दाली की रसद रोक दे किन्तु भाऊ ने इस सलाह को ठुकराकर खुले मैदान मे डटकर लडाई लडना ही उचित समझा था। सूरजमल भाऊ की इस बात से भी क्रुद्ध हुआ कि उसने अपनी सेना का वेतन चुकाने के लिए दिल्ली के किले के दीवाने-आम की छत की चाँदी निकाल ली थी। इतिहासकार सर देसाई का कहना है कि सूरजमल अपने प्रदेश के बाहर मराठो का साथ देने के लिए राजी नहीं हुआ था और माँग की थी कि दिल्ली

उसके अधिकार मे सौंप दी जाय किन्तु ऐसा नही हुआ। अतः वह भरतपुर लौट गया। उन्होने लिखा है, "इतिहास का सूक्ष्म निरीक्षण करने से अन्य कारण असत्य प्रतीत होते है।" किन्तु प्रश्न उठ सकता है कि अगर वह अपने राज्य के बाहर मराठो का साथ देना ही नहीं चाहता था तो वह अपनी सेना सहित भाऊ के साथ दिल्ली क्यो गया था। विरोध भाव का कारण अधिक गम्भीर मालूम पडता है और हो सकता है कि सम्राट और अब्दाली के प्रति अपनायी गयी नीति ही परस्पर विरोध का कारण रही हो।

अगस्त से अक्टूबर तक भाऊ अपने १ लाख से अधिक सैनिको के साथ दिल्ली में डेरा डालकर दिल्ली तथा इसके आसपास उपलब्ध रसद को समाप्त करता रहा। थोड़े ही समय में उसके पास भोजन, धन और चारे की कमी पड़ गयी और पेशवा ने पूना से धन नही भेजा। अतः मराठा सेना अधीर होने लगी। झगडे को शान्ति-पूर्वक निपटाने के प्रयत्न अब तक जारी रहे। अब्दाली भी धन और रसद के सकट से बहुत तग आ गया था, अत. वह भी सम्मानपूर्ण सन्धि कर लेना चाहता था। किन्तु सन्धि के सब प्रयत्न विफल रहे, क्योकि नजीबुद्दौला तब तक सन्धि के लिए तैयार नहीं था जब तक कि मराठे चम्बल के पार न खदेड़ दिये जायँ। उसने झूठी अफवाह फैला दी कि भाऊ ने विश्वासराव को सम्राट बनाकर उसके नाम के सिक्के चला दिये हैं और वह सारे देश पर मराठा-साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। शायद अब्दाली और दूसरे मुसलमान इस प्रचार से ही बहककर मराठों से जोरदार लड़ाई लड़ने के लिए तैयार हो गये।

पानीपत में प्रतिद्वन्द्वी सेनाएँ

७ अक्टूबर, १७६० ई० को भाऊ कुंजपुरा पर अधिकर करने के लिए दिल्ली से चला जिससे कि वह अब्दाली को उत्तर में खदेड़कर दिल्ली से उसका दबाव हटा दे। उसने गोविन्दपन्त बुन्देले को आज्ञा दी कि वह दोआब मे जाकर रुहेलखण्ड को उजाड़ दे और स्वय १६ तारीख को कुजपुरा पर अधिकार कर किलेदार नजाबतखाँ को कैद कर लिया। नजाबतखाँ की तो घावों के कारण मृत्यु हो गयी और उसके प्रमुख साथियो को बुन्देलो ने मौत के घाट उतार दिया। कुजपुरा मे मिली हुई रसद और धन से मराठों का कुछ दिन के लिए संकट तो टल गया परन्तु कुजपुरा के पतन के समाचार से अब्दाली को बड़ा धक्का लगा। उसने तुरन्त आक्रमण करने का निश्चय कर लिया, २५ अक्टूबर को दिल्ली से २० मील उत्तर बागपत में यमुना को पार कर लिया और यमुना के सीधे किनारे-किनारे चलकर वह सोनीपत आ गया। जब भाऊ ने अब्दाली के तेज धावे का समाचार सुना तो वह उत्तर से मुड़कर पानीपत में आ गया और अब्दाली की सेना से पाँच मील की दूरी पर रुक गया। अक्टूबर के लगभग अन्त में दोनों की सेनाओं ने एक-दूसरे पर छुट-पुट हमले आरम्भ करे दिये। भाऊ ने देखा कि शत्रु युद्ध के लिए तैयार है, अतः उसने अचानक हमले का विचार छोड़ दिया और इब्राहीम गर्दी की सलाह से पानीपत्त से दक्षिण के मैदान में खाइयों में शरण लेकर बचाव करने

मे लग गया। उसने अब्दाली पर तब तक हमला करने का विचार नहीं किया जब तक कि वह भूखों मरकर दुर्बल न हो जाय। उसके साथ स्त्रियाँ, दूकानदार और नौकर-चाकर बहुत अधिक थे, अत. शत्रु की रक्षा-पंक्ति पर निर्भीक आक्रमण करके उसके दलो को काटकर निकल जाना असम्भव था। मराठों का शिविर पूरब से पश्चिम तक ६ मील लम्बा और उत्तर से दक्षिण तक २ मील चौडा था। इसके चारों ओर लगभग २५ गज चौडी और ६ गज गहरी एक खाई थी जिसकी सुरक्षा के लिए एक मिट्टी की दीवार पर बड़ी-बडी तोपें चढा दी गयी थी। अब्दाली का शिविर मराठो के शिविर से तीन मील दक्षिण मे था, उसके पीछे सोनीपत गाँव था और वह भी खाई तथा कटे हुए पेड़ो की डालियो से सुरक्षित था। पानीपत मे आने के बाद भाऊ मे कई दिन तक युद्ध के लिए बड़ा उत्साह था। उसने गोविन्दपत बुन्देले को आज्ञा दी थी कि वह रुहेलखण्ड पर हमला कर वहाँ से धन और रसद भेजे। किन्तु अब्दाली के अपना शिविर यमुना के बिलकुल किनारे ले जाने से परिस्थिति बिलकुल बदल गयी थी। अब उसे पर्याप्त जल मिल सकता था और दोआब से यातायात सम्बन्ध सुगम हो जाने के कारण नजीबुद्दौला उसे रसद और चारा लगातार भेज सकता था। यह ही नही, अब अब्दाली ने मराठा सेना के चारो ओर गारद बिठाकर दोआब, दिल्ली और राजपूताने से उसके रसद और यातायात को रोक दिया। मराठो के लिए केवल उत्तर का मार्ग खुला रह गया किन्तु अब्दाली ने शीघ्र ही कुजपुरा पर अधिकार करके मराठो का पंजाब से भी यातायात रोक दिया। इस परिस्थिति के कारण मराठा शिविर पर बडा भारी सकट छा गया। भाऊ को न तो कही से रसद ही मिल सकी और न वह दो महीने तक पानीपत से दक्खिन को ही कोई समाचार भेज सका।

लेकिन इन बड़ी कठिनाइयो के आने पर भी भाऊ ने साहस नही छोडा और १ नवम्बर, १७६० ई० से १४ जनवरी, १७६१ ई० तक शत्रु से कई मुठभेडे की, यद्यपि उनका आखिरी परिणाम कुछ भी नही निकला। १६ नवम्बर को रात मे अचानक इब्राहीम गर्दी के भाई फतेहखाँ ने अब्दाली के शिविर पर हमला किया किन्तु वह खदेड दिया गया। २२ नवम्बर को जनकोजी सिन्धिया ने अब्दाली के वजीर पर हमला कर उसके शिविर तक उसका पीछा किया किन्तु पेशवा की सेना की सहायता न मिलने के कारण उसे भी वापस लौटना पड़ा। ७ दिसम्बर को नजीबुद्दौला ने मराठा सेना पर हमला किया जिसमे ३०० से अधिक रुहेले मारे गये। १७ दिसम्बर को रुहेलो ने गोविन्दपन्त बुन्देले पर हमला कर उसे मार दिया जो गाजियाबाद के १० मील दक्षिण में जलालाबाद मे रसद इकट्ठी कर रहा था। इस समय मराठा सेना भूखों मरने लगी थी। अतः भाऊ ने अपने शिविर में टकसाल खोलकर सोने-चाँदी के गहनो को सिक्को से परिवर्तित करना शुरू कर दिया जिससे कि वह अनाज और चावल खरीद सके। किन्तु इस धन से भी दो हफ्ते तक ही काम चल सका। कठिन सकट मे पड़ो कर भाऊ अब युद्ध का हरजाना देने के लिए तैयार हो गया और उससे सन्धि की बातचीत का अन्तिम प्रयत्न किया किन्तु नजीबुद्दौला की सलाह से यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया।

पानीपत की लड़ाई (१४ जनवरी, १७६१)

अब भाऊ शत्रु से यथाशीघ्र अन्तिम युद्ध करने के लिए उतावला हो गया था किन्तु अब्दाली मराठों को अभी उत्तेजना देने के पक्ष मे नही था और उसने अपने उतावले मित्रों से साफ-साफ कह दिया था कि सैन्य-संचालन का सारा उत्तर-दायित्व उस पर छोड़कर उसे सन्धि-सम्बन्धी झगड़ों मे न डालें। मराठो के पास भोजन नही रहा था, अत: सरदारों ने भाऊ से तुरन्त युद्ध छेड़ देने की प्रार्थना की। उन्होंने, कहा 'हमने दो दिन से कुछ भी नही खाया है। भूखों मरने के बजाय तो शत्रु पर जोरदार हमला करके युद्ध मे बहादुरी से मर जाना कही अच्छा है। फिर भाग्य मे जो लिखा है वही होगा।" अत. भाऊ ने अब अन्तिम युद्ध का निश्चय कर लिया और इब्राहीम गर्दी की सलाह से सेना को वर्गाकार रूप मे धीरे-धीरे चलाने का विचार किया। सेना की सुरक्षा के लिए चारों ओर भारी तोपखाना रखा गया, स्त्रियो तथा नौकर-चाकरो को बीच मे रखा गया, उन सबको एक साथ इब्राहीम की तोपों की सुरक्षा में आगे बढ़ने का आदेश दिया गया और इस प्रकार की व्यूह-रचना के बाद मराठा सेना १४ जनवरी को प्रात.काल हमले के लिए चल पड़ी। भाऊ ने युद्ध के बचाने का अब भी एक अन्तिम प्रयत्न किया। उसने शुजाउद्दौला के मराठा अफसर काशीराज को लिखा, "प्याला लबालब भर गया है। इसमे अब एक बूंद भी नही समा सकती है। कृपया मुझे युद्ध के समझौते के विषय मे अन्तिम उत्तर दो।" चौदहवी तारीख के प्रात.काल यह सन्देश शाह को दिया गया जिस पर विचार करने लिए शाह ने एक दिन का समय चाहा। परन्तु एक दिन का समय अब असम्भव था क्योकि मराठा सेना मैदान मे पहुँच चुकी थी।

मराठा सेना में ४५,००० [illegible] योद्धा थे जिनके बीच मे नोकर-चाकर थे और ये सब धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। किन्तु वे अपनी पूर्व-योजना के अनुसार सामूहिक रूप में न चल सके। अत: अब भाऊ ने अपनी सेना को लम्बी पंक्ति मे खड़ा किया और वह स्वयं तथा विश्वासराव केन्द्र में युद्धोपयोगी उत्तम हाथियो पर सवार हुए। इन दोनों हाथियो पर भगवा झण्डा लहरा रहा था। उनको बायी ओर इब्राहीम गर्दी अपने सैनिको के साथ स्थित था, दमाजी गायकवाड़ उसके बिलकुल दाहिनी ओर था; और भाऊ के दायी ओर मल्हारराव होल्कर और जनकोजी सिन्धिया थे। भाऊ ने अपनी थोड़ी भी सेना सुरक्षित (कोतल) नही रखी थी। मराठे शत्रु की सेना-पंक्ति पर जोरदार हमला करके उस पर टूट पड़े। शत्रु की सेना में ६०,००० योद्धा थे जिनमें आधे विदेशी थे, लगभग सभी घुड़सवार थे और पैदल तो बहुत ही कम थे। शत्रु सेना के केन्द्र मे अब्दाली का वजीर शाहवलीखाँ था जिसके अधिकार में चुनी हुई दुर्रानी घुड़सवार सेना थी। शाह पसन्दखाँ और नजीबुद्दौला बायीं ओर रखे गये थे जो जनकोजी सिन्धिया और मल्हारराव होल्कर के बिलकुल सामने थे। शुजाउद्दौला अब्दाली के वजीर और नजीबुद्दौला के बीच में था। दायीं ओर बरखुरदारखाँ और अमीरबेग थे जिसके अधिकार में रुहेला और मुगल सेना की टुकड़ी थी। अब्दाली स्वयं

अफगानो ने उनके खेतो तक उनका पीछा किया, उन्हे शरण नही लेने दी और उन्हे जितने भी भगोड़े मिल सके उन सबको कत्ल कर दिया। यह कत्ल उस रात को तथा दूसरे दिन भी होता रहा और सारे मराठा-शिविर को लूटकर स्त्री तथा बच्चों को दास बना लिया गया।

दूसरे दिन १५ जनवरी को सूर्योदय होने पर संसार को मराठों के बडे भारी विनाश का पता लगा। "सारा युद्धक्षेत्र उस खेत के समान मालूम पड़ता था जिसमे लाल पोस्त के फूल खिल रहे हों। जहाँ तक दृष्टि जाती थी वहाँ तक लम्बे-लम्बे शरीरों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखायी देता था। ऐसा मालूम पड़ता था मानो या तो वे सोये हुए या कलापूर्ण ढग से सजाकर रखे गये है।" (सियार) मुर्दों के ३२ ढेर गिने गये थे जिसमे से प्रत्येक ढेर में ५०० से १,००० तक लाशें थी और कुल संख्या २८,००० हजार तक पहुँच गयी थी। लगभग इतनी ही लाशें खाई तथा खेमे के चारों ओर पड़ी हुई मिली थी। लगभग ६,००० मराठे पानीपत में जाकर छिप गये किन्तु वे भी बुरी तरह से मार दिये गये। काशीराज स्वयं मराठा था और उसने युद्ध का सारा हाल अपनी आँखों से देखा था। वह धर्मान्धता के इस महाकोप का वर्णन इस प्रकार करता है. "प्रत्येक दुर्रानी सिपाही सौ या दो सौ कैदियो को पकड़ लाता था और यह कहकर काट डालता था कि " जब मै देश से चला था तो मेरे माँ, बाप, बहन तथा स्त्री ने मुझसे कहा था कि तुम हमारी खातिर जितने भी काफिरों को काट सको उतनों को काट डालना।" हमने इस धर्म युद्ध में विजय पायी है, अतः हमारा धर्म यही है कि हम काफिरो को काटें जिससे हमारे सम्बन्धियों को पुण्य (सबाब) प्राप्त हो।" इस प्रकार हजारो सिपाही और कैदी काट डाले गये। शाह और उनके सरदारों के खेमों को छोडकर हर तम्बू के बाहर बहुत-से सिरों का ढेर लगा हुआ था। कहा जाता है कि यह मराठो का प्रलय दिन था। युद्धक्षेत्र में पड़े हुए व्यक्तियों में पेशवा का सबसे बड़ा बेटा विश्वासराव, भाऊ, जसवन्तराव पवार, तुकोजी सिन्धिया इत्यादि प्रमुख थे। जनकोजी सिन्धिया बुरी तरह घायल हुआ था और वह भी बाद में मार डाला गया। इब्राहीम गर्दी भी कैद करके मार दिया गया। मल्हारराव जनकोजी को उसके भाग्य के भरोसे छोडकर युद्धक्षेत्र से भाग खडा हुआ था और वह सुरक्षित दशा में पूना पहुँच गया। महादजी सिन्धिया घायल और लँगड़ा होकर भाग गया। अन्ताजी मनकेश्वर फर्रुखनगर के बलूचियों द्वारा मारा गया। संक्षेप में, लगभग ७५,००० मराठे हताहत हुए। 'महाराष्ट्र मे ऐसा कोई भी घर नही था जिसमें किसी न किसी आदमी के लिए शोक न मनाया गया हो। अनेक घर तो ऐसे थे जिनके घर के मालिक मारे गये थे और नेताओं की तो पीढ़ी की पीढ़ी तलवार के एक वार से ही मौत के घाट उतार दी गयी थी।" (Sarkar : Fall of the Mughul Empire, Vol, II, p. 257) लगभग २५,००० मराठों ने भागकर अपनी जान बचायी जिनमें ८,००० तो वे थे जिन्होंने शुजाउद्दौला के खेमे में जाकर शरण ली थी और उसने उदारता के साथ इनकी रक्षा कर उन्हें अपनी जेब से रास्ते का खर्च देकर सूरजमल

जाट के प्रदेश मे पहुँचा दिया था तथा सूरजमल ने होलकर और सिन्धिया के अपकारो को भुलाकर बडी तत्परता मे इन मराठा शरणार्थियो को शरण, भोजन, कपड़े और दवा-दारू की पूरी-पूरी सहायता दी थी।

मराठा-पराजय का परिणाम

पानीपत के युद्ध मे मराठा-पराजय के परिणाम के विषय मे इतिहासकारो के भिन्न-भिन्न मत हैं। महाराष्ट्र के सभी आधुनिक लेखक इस विषय मे एकमत है कि मराठो को केवल ७५,००० व्यक्तियो की हानि उठानी पडी किन्तु इससे उनके लक्ष्य को किसी प्रकार की हानि नही पहुँची। इतिहासकार सरदेसाई लिखते हैं कि "इस, युद्धक्षेत्र मे मराठा जनशक्ति का महाविनाश अवश्य हुआ, किन्तु यह विनाश उनकी शक्ति का अन्तिम निर्णायक नही था। वास्तव मे इस युद्ध ने लम्बे अरसे के बाद दो महान प्रसिद्ध पुरुष नाना फडनवीस और महादजी सिन्धिया चमका दिये जो उस प्रलयकारी दिन बड़ी आश्चर्यजनक रीति से मृत्यु से बचकर निकल गये थे और जिन्होंने मराठों के पूर्व-गौरव को फिर से जीवित कर दिया। पानीपत के युद्ध मे हुआ मराठों का विनाश दैवी-कोप के समान था। इसने मराठों की जीवन-शक्ति को नष्ट कर दिया किन्तु इससे उनके राजनैतिक जीवन का अन्त नही हो गया। यह मान लेना कि पानीपत के विनाश ने मराठों की सार्वभौमिकता के प्रिय स्वप्न को सदा के लिए नष्ट कर दिया था, परिस्थिति को ठीक-ठीक न समझना है, जैसा कि तत्कालीन लेखों से ज्ञात होता है।" (New History of the Marathas, Vol. II, p. 455) महान इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार का इस विषय मे भिन्न मत है। वे कहते हैं "इतिहास के पक्षपातरहित अध्ययन से ज्ञात होगा कि मराठों का यह जोरदार दावा कितना निर्मूल है। इसमें सन्देह नहीं कि मराठा सेना ने निर्वासित मुगल सम्राट को १७७२ ई० में इसके पूर्वजों के सिंहासन पर फिर से बिठा दिया था किन्तु वे उस समय न तो वास्तव में राज-निर्माता हुए थे और न मुगल साम्राज्य के वास्तविक शासक ही, वरन् उनकी स्थिति तो नाममात्र के मन्त्रियो और सेनापतियों जैसी ही थी। इस प्रकार का गौरवपूर्ण पद तो केवल १७८९ ई० मे महादजी सिन्धिया और १८०३ ई० में अंग्रेज ही प्राप्त कर पाये थे।" (Fall of the Mughul Empire, Vol. II, p. 260) यह दूसरा मत युक्तिपूर्ण और सत्य है। पहली बात तो यह है कि यह युद्ध पूर्णरूप से निर्णायक सिद्ध हुआ था। मराठा सेना तथा उसके नायको का सर्वनाश हो गया था और एक लाख से अधिक व्यक्तियो मे मे केवल कुछ हजार ही महाराष्ट्र पहुँच पाये थे। इनमे से भी कोई लुज-पुंज था तो किसी का दिमाग खराब था। ऐसे ही लोगों से मराठा राष्ट्र के विनाश का समाचार मिला था। मराठा सैन्य-शक्ति का इतना अधिक विनाश हुआ था कि तीन महीने तक तो पेशवा को हताहतों का वास्तविक ब्यौरा तथा भाऊ एव दूसरे नेताओ की मृत्यु तक का समाचार न मिल सका था। दूसरी बात यह है कि यद्यपि अब्दाली पानीपत की विजय के बाद भारत मे बस नहीं गया था किन्तु फिर भी उत्तरी भारत के पजाब, मुल्तान और

दिल्ली के प्रान्तो पर मुस्लिम-साम्राज्य का प्रभुत्व पुनः स्थापित हो गया था और इसके बाद मराठो ने पजाब को वापस लेने और सीमान्त प्रदेश की रक्षा करने का कोई भी प्रयत्न नही किया (यह बात स्मरण के योग्य है कि १७५४ से १७६० ई० तक पंजाब, मुल्तान और दिल्ली प्रदेशो का भाग्य डांवाडोल ही था। कभी ये मराठो के हाथ मे चले जाते थे और कभी मुसलमानो के)। सक्षेप मे कह सकते है कि पानीपत की हार के कारण सम्पूर्ण देश पर प्रभुत्व स्थापित करने का मराठो का मधुर स्वप्न नष्ट हो गया। अब्दाली ने पेशवा से सन्धि करने की इच्छा की थी और वह फरवरी १७६३ ई० मे पूरी भी हो गयी किन्तु इससे १७६१ ई० के निर्णय मे तनिक भी अन्तर नही आया और न उत्तरी भारत तथा दिल्ली पर पठान शासन के सम्बन्ध मे ही कोई सन्देह उत्पन्न हो सका। तीसरे, मराठा-पराजय का नैतिक प्रभाव और भी गहरा पड़ा। मराठा सेनाएं अब तक अजेय समझी जाती थी किन्तु अब उनका सैनिक और राजनीतिक सम्मान घट गया। अब भारत मे मराठो की मित्रता का कोई मूल्य नही रह गया था, "क्योंकि गत चार वर्षों मे मराठों ने प्रत्यक्ष दिखा दिया था कि जिस प्रकार वे अपनी रक्षा नही कर सके, उसी प्रकार अपने मित्रों की भी रक्षा नही कर सकेंगे।" चौथी बात यह है, और जैसा सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं कि इस युद्ध मे बालाजी सहित लगभग सभी बड़े-बड़े मराठा कप्तान और राजनीतिज्ञ मारे गये। अतः मराठा इतिहास के सबसे कलंकित रघुनाथ दादा की घृणित अभिलाषा की पूर्ति का सरल मार्ग बिलकुल खुल गया और हानियों की पूर्ति तो समय पर हो जाती किन्तु पानीपत के युद्ध ने यह सबसे बडी बुराई पैदा कर दी। सक्षेप मे, कह सकते हैं कि पानीपत में मराठों की हार ने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि पेशवा-परिवार में परस्पर वैमनस्य और कलह उत्पन्न हो गया जिसके कारण आगे चलकर मराठो का पतन हो गया। पाँचवीं बात यह है कि मराठो की सर्वनाशकारी पराजय और उसके बाद उनकी राजनीतिक शक्ति नष्ट हो जाने के फलस्वरूप अंग्रेज व्यापारियो को भारत मे अपने "धूर्त पड़ोसियो की दासता से मुक्ति पाकर बडी शीघ्रता से उन्नत होने का अवसर मिल गया।" अब भारत मे ब्रिटिश-साम्राज्य का द्वार खुल गया था। इतिहासकार सरदेसाई लिखते हैं कि "यह इस बात का प्रतीक है कि जब मराठे और मुसलमान कुरुक्षेत्र के प्राचीन मैदान मे घातक युद्ध मे फँसे हुए थे तब भारत मे ब्रिटिश-साम्राज्य का प्रथम सस्थापक क्लाइव इगलैण्ड जाकर प्रधानमन्त्री लार्ड चैथम से भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य की सम्भावना के स्वप्न की व्याख्या कर रहा था। पानीपत ने भारत साम्राज्य के युद्ध के लिए अप्रत्यक्ष रूप से एक और साझीदार पैदा कर दिया। वास्तव मे, यह उस राजनीतिक घटना का प्रत्यक्ष परिणाम था जो भारत के इतिहास का निर्णायक हो गया।" (New History of the Marathas, Vol II, p 455) पानीपत के युद्ध के दूसरे ही दिन मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय को अंग्रेजों ने कारनेक के नेतृत्व मे पराजित किया और उनकी शरण में जाना पडा। १६ फरवरी, १७६१ ई० को अंग्रेजो ने पाण्डुचेरी पर अधिकार कर भारत मे फ्रांसीसियो की शक्ति

को नष्ट कर दिया और अब भारत मे अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का सितारा चमक गया।

मराठा-पराजय के कारण

पानीपत मे मराठा-पराजय के अनेक कारण थे। पहला कारण तो यह था कि अब्दाली की सेना भाऊ की सेना से सख्या मे अधिक और युद्ध-कौशल मे अधिक निपुण थी। सर जदुनाथ सरकार ने तत्कालीन लेखो के आधार पर अनुमान लगाया है कि अब्दाली की सेना ६०,००० थी और मराठो के योद्धा ४५,००० से अधिक नही थे। दूसरा कारण यह था कि अब्दाली को दोआब और दिल्ली प्रदेश से रसद मिल सकती थी, अत. उसको सैनिको तथा उनके घोडो और लद्दू जानवरो के खाने से भी अधिक सामग्री उपलब्ध थी। इसके विपरीत मराठे दो महीने तक भूखो मरते रहे थे और उन्हे भूखे पेट ही लडना पडा था। इस प्रकार की भूखी-प्यासी सेना एक सुसज्जित और सन्तुष्ट शत्रु को नही जीत सकती थी। तीसरा कारण यह था कि अहमदशाह अब्दाली की सेना सुशिक्षित और अनुशासित थी, शाह बिना किसी हेर-फेर के खेमो तथा युद्धक्षेत्र मे पूर्ण व्यवस्था रखता था और अनुशासन एवं आज्ञा भग करने वाले को कठोर दण्ड देता था। शाह कैसा कठोर अनुशासन रखता था, इसके अनेक उदाहरण है। उनमे से एक के विषय मे काशीराज लिखता है कि "१७६० ई० मे कुछ अब्दाली सनिको ने शुजाउद्दौला के खेमे मे कुछ सैनिक नियमों की अवहेलना की। जब शाह ने यह सुना तो उसने उन २०० सैनिको को पकडवाकर तीरो से उनकी नाकें छिदवा दी और उनमे नकेल डलवा दी। इस प्रकार वे ऊँट की तरह शुजाउद्दौला के सामने उपस्थित किये गये और उन्हे क्षमा करने या प्राणदण्ड देने का उसे पूरा-पूरा अधिकार था।" इसके विपरीत मराठा सैनिक और अफसर व्यक्तिगत स्वतन्त्रतावादी तथा उद्दण्ड थे और "अनुशासन को उन नीच व्यक्तियो के समान घृणा करते थे जिनका पालन-पोषण अनियमित रूप से हुआ हो। ऐसे लोग अनुशासनहीन उद्दण्डता को स्वतन्त्रता मानते हैं और सुसगठित रूप से मिल-जुलकर सेना अथवा स्कूल मे काम करने को दास-मनोवृत्ति बताते हैं और कहते है कि ये बाते उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाली है।" अनुशासन एव सगठन की विजय होती है, केवल शरीर-बल की नही। इसमे कोई आश्चर्य की बात नही कि अनुशासनहीन मराठा सेना सुसगठित एव सु-अनुशासित शत्रु से हार गयी। चौथी बात यह है कि यद्यपि भाऊ के पास योग्य सेनापति इब्राहीम गर्दी की अधीनता मे बडा अच्छा तोपखाना था किन्तु सामूहिक दृष्टि से उसकी सेना अस्त्र-शस्त्रो तथा दूसरी सैनिक सामग्री मे अब्दाली की सेना से कही घटकर थी। अब्दाली के पास सैकडो कडाबीन बन्दूके थीं जो तेज दौडने वाले ऊँटो की पीठ पर से चलती थी। गर्दी का तोपखाना तो आमने-सामने की लडाई मे बेकार हो जाता था किन्तु अब्दाली की कडाबीन बन्दूके चारो ओर से निरन्तर चलती रहती थी। अब्दाली की सेना के पास बन्दूके थी और मराठो की सेना के पास भाले और तलवार। पाँचवाँ कारण यह है कि यद्यपि भाऊ निडर सैनिक था किन्तु वह सेनापति के रूप मे

अपने विरोधी अब्दाली से हीन था। उस समय एशिया के सेनापतियो मे अब्दाली ही सबसे अधिक योग्य माना जाता था। जन्मजात नेता जैसा उसका लम्बा शरीर, उसका युद्ध-कौशल और कूटनीति उसकी सफलता के मुख्य कारण थे। भाऊ योद्धाओं की देखभाल करने और प्रत्येक टुकड़ी से अपना सम्बन्ध बनाये रखने के बजाय वह स्वय युद्ध मे अन्धाधुन्ध कूद पड़ता था और विश्वासराव की मृत्यु के बाद तो वह साधारण सैनिक की भाँति काल के गाल मे ही कूद पडा था। छठा कारण यह है कि भाऊ दिल्ली के यातायात मार्ग को सुरक्षित नही रख सका। उसने यह बडी भारी भूल की कि दिल्ली पर अधिकार जमाये रखने के लिए कुछ हजार ही सैनिक छोड़कर शत्रु के जाल मे फँस गया। किन्तु अब्दाली ने अपने रुहेले मित्रों के प्रदेश दोआब से पूरा-पूरा सम्बन्ध स्थापित रखा। मराठा सेना का सम्बन्ध अपने प्रदेश से बिलकुल विच्छिन्न हो गया था और वह यहाँ सैकड़ों मील दूर आकर घिर गयी थी। मराठों की असफलता का सबसे बड़ा कारण यह है कि मराठों ने दस वर्ष से अधिक समय तक उत्तरी भारत की जनता, राजपूत सरदार और जाट राजा पर मनमाने आक्रमण कर हिन्दू और मुसलमानो की समान रूप से सहानुभूति खो दी थी। यही कारण था कि उत्तरी भारत की जनता ने उसकी विपत्ति मे तनिक भी सहायता नही की। सार्वजनिक सहानुभूति और सहायता भी सुरक्षा की दूसरी पक्ति बन जाती है। अतः पानीपत के युद्ध में मराठा-विनाश के अनेक कारणों से उनके प्रति जनता की दुर्भावना का होना भी एक अनिवार्य कारण था।

बालाजी बाजीराव की मृत्यु : उसका व्यक्तित्व और चरित्र

पेशवा को दो महीने तक पानीपत से कोई समाचार नही मिला था, अतः उसे अपनी सेना के विनाश का ज्ञान नहीं था। अब उसने भी उत्तरी भारत को कूच करने की योजना बनायी। कुछ दिन से उसका स्वास्थ्य गिर रहा था, अतः उत्तरी भारत से लायी गयी दास लड़कियों के गाने और नृत्य द्वारा उसके मन को अनेक चिन्ताओं से हटाने का प्रयत्न किया गया। २७ दिसम्बर, १७६० ई० को पैठान में एक जवान स्त्री के साथ उसका विवाह भी कर दिया गया। इस दशा में उत्तरी भारत के लिए प्रस्थान कर वह २४ जनवरी को भेलसा पहुँचा और वही उसे एक महाजन के पत्र से अपनी सेना के विनाश का समाचार मिला। कुछ दिन रुकने के बाद वह सिरोज से ३२ मील उत्तर पठार में पहुँचा जहाँ उसे पानीपत के विनाश का ठीक-ठीक समाचार मिला, जिसे सुनकर उसका दिमाग खराब हो गया। इस कारण वह पूना लौटने के लिए बाध्य हो गया और वहाँ २३ जून, १७६१ ई० को उसकी मृत्यु हो गयी।

बालाजी बाजीराव सुन्दर एवं मधुर भाषी था। अपने पूर्व-पेशवाओ के विपरीत वह कला का प्रेमी और विलासी था तथा उसक रहन-सहन का ढंग भी ऊँचे स्तर का था। यद्यपि वह सामान्य दृष्टि से सफल सैनिक और कूटनीतिज्ञ था किन्तु वह युद्ध-कौशल और राजनीतिज्ञता मे अपने पिता के समान नहीं था। उसके पेशवा-काल में

मराठा राज्य का बहुत अधिक विस्तार हुआ और "मराठा घोड़ों ने कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक के झरनो मे अपनी प्यास बुझायी।" पेशवा यद्यपि अच्छा प्रबन्धक था और उसने दक्खिन के मराठा प्रदेश में माल तथा न्याय के प्रबन्ध की उत्तम रीति भी निकाली थी किन्तु उसने तलवार के बल से बढाये हुए विस्तृत मराठा-साम्राज्य मे नियमित सरकार के स्थापित करने का कोई प्रयत्न नही किया। जहाँ तक मराठा-साम्राज्य का सम्बन्ध है उसने इसे पहले की तरह ही रहने दिया और नियमित प्रबन्ध करने के बजाय इसे लुटेरों का संगठन-मात्र ही बना दिया। किन्तु दक्खिन मे उसने कुछ लाभदायक सुधार भी किये। उसने महाराष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध अपने योग्य मन्त्री रामचन्द्र शेनवी के हाथो में सौपा और उसकी मृत्यु के बाद इसे अपने चचेरे भाई सदाशिव भाऊ के हाथो मे दे दिया। बल्लोवा माण्डुवगुनी नाम के एक माल कमिश्नर ने माल नियम और उपनियमो का सुधार किया और कर वसूल करने वालो को हिसाब देने के लिए बाध्य किया। उसने कर-वसूली की गड़बडियों को दूर कर अनुचित करों को समाप्त कर दिया। प्रजातन्त्रात्मक ग्रामों मे प्रजातन्त्र का भी ध्यान रखा, न्याय-प्रबन्ध को नियमित किया; बालकृष्ण गाडगिल नामके एक योग्य विधिज्ञाता को प्रधान न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया; ग्रामों और नगरों मे सुदृढ आधार पर पंचायतों का संगठन किया; पूना को सड़कों और सुन्दर भवनों से सुसज्जित कर वहाँ कार्यकुशल पुलिस की स्थापना की। उसने मन्दिर बनवाये और झीलें खुदवायी। इन सुधारों के कारण ही मराठा कृषक-समाज आज भी उसका कृतज्ञता के साथ स्मरण कर सकता है।

किन्तु होल्कर और सिन्धिया जैसे अपने अधीनस्थ सरदारों को बालाजी बाजीराव पूरी तौर से वश में न रख सका। ये बहुत दिन तक आपस में झगड़ते रहे जिसके कारण उत्तरी भारत में मराठा-हितों को बहुत हानि उठानी पड़ी। वह अपने भाई रघुनाथराव को सीधे मार्ग पर नहीं ला सका और उसने एक मूर्खता और की कि उसने अपने ही एक सरदार तुलाजी आंग्रे को दबाने के लिए अग्रेजो की सहायता ली। उसने उत्तरी भारत की राजनीति को अपने नियन्त्रण मे नही रखा और मल्हारराव होल्कर की मराठों के जानी दुश्मन नजीबुद्दौला से साठगाँठ की उपेक्षा कर दी। पेशवा ने होल्कर और सिन्धिया को राजपूत तथा जाटो पर अत्याचार करने की खुली छूट देकर उन्हें भी अपना शत्रु बना लिया। सक्षेप में, मराठा और जाट तथा राजपूतों की शत्रुता का उत्तरदायी पेशवा ही ठहराया जा सकता है। वास्तव में, उत्तरी भारत के हिन्दू उसी के कारण मराठों से वैमनस्य रखने लगे थे और सम्पूर्ण भारत पर हिन्दू राज्य की स्थापना की योजना भी उसी के कारण असफल रही।

BOOKS FOR FURTHER READING

Marathi Language :

1. Sardesai, G. S. and Others : *Aitihasik Patra-Vyawahar*, Vols. 1-2
2. Rajwade, V. K. : *Marathanchya Itihasanchi Sadhanen*, 22 Vols.

3. Sardesai, G. S. : *Selections from Peshwa Daftar*, 45 Vols.
4. Vad, G. & Others : *Selections from Satara Rajas' and Peshwas' Diaries.*
5. Parasnis . *Dilli-Yethil Mara—Rajkaranan, or Despatches of Hingane*, 2 Vols. Supplement followed by 2 Vols. of *Hingane Daftar*
6. *Purandare Daftar*, 3 Vols.
7. Thakur B. B. : *Holkarshahi Itihas Sadhanen*, 2 Vols.
8. Phalke, A. B. : *Sindhiashahi Itihasanchi Sadhanen*, 4 Vols.

Persian Language :

1. Husain, Sayyid Ghulam : *Siyar-ul-Mutakherin* (Text)
2. Ansari, Muhammad Ali : *Tarikh-i-Muzaffari* (MS).
3 Khan, Ali Muhammad . *Mirat-i-Ahmadi* (MS).
4. Nur-ud-din, Sayyid : *Tazkira Najib-ud-daulad* (MS). (Translated into English by Sir J. Sarkar in *Islamic Culture* (1933).
5. Pandit, Kashi Raj : *Karzar Shah Ahmad Abdali wa Sadashive Rao Bhau* (Translated into English by Sir Jadunath Sarkar *in Indian Historical Quarterly* (1934 & 1935).

Modern Works ·

1 Duff, Grant . *History of the Marathas*, 3 Vols.
2 Kincaid & Parasnis : *A History of the Maratha People*, 3 Vols.
3. Ranade, M. G. : *Rise of the Maratha People.*
4. Sardesai, G. S. : *New History of the Marathas*, 3 Vols.
5. Sardesai, G S. : *Main Currents of Maratha History* (2nd ed.)
6. Dighe, V. G. : *Peshwa Bajirao I and Maratha Expansion*
7. Sarkar, J. N *Fall of the Mughal Empire*, Vols. 1-2
8. Srivastava, A. L. *The First Two Nawabs of Awadh* (2nd ed.)
9. Srivastava, A. L. : *Shuja-ud-daulah*, Vol. 1.
10 Haig, M. *Cambridge History of India*, Vol. IV, Chap XIV.

अध्याय १२

शासन-व्यवस्था

सम्राट : उसके अधिकार और कर्तव्य

सल्तनत काल (१२०६-१५२६ ई०) के शासक सुल्तान और मुगल-साम्राज्य के शासक सम्राट कहलाते थे। बाबर ने सम्राट की पदवी धारण कर भारत मे मुगल-साम्राज्य की नीव डाली थी, अतः उसके वंश के सभी उत्तराधिकारी सम्राट ही कहलाते रहे। कुरान के सिद्धान्त के अनुसार मुगल सम्राट केवल मुसलमानों का ही शासक था अर्थात वह अमीर-उल-मुमनीन अथवा सच्चे धर्म (इस्लाम) के मानने वालों का प्रधान था और शासक के रूप मे मुस्लिम जनता (जमैयत) का नाममात्र का उत्तर-दायी था। वास्तव मे उसके दुहरे अधिकार थे अर्थात वह मुस्लिम जनता का शासक तथा धार्मिक नेता होता था और राज्य के गैर-मुसलमानों का केवल शासक होता था। उसकी शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नही था किन्तु क्रियात्मक रूप में विद्रोह के भय तथा देश के प्रचलित नियमों के कारण उसकी वह शक्ति सीमित हो जाती थी। यह सच है कि कुरान के नियमो के उल्लंघन पर उलेमा उसे गद्दी से उतार सकते थे, किन्तु उनका फतवा तब तक व्यर्थ रहता था जब तक सम्राट के हाथ मे शक्तिशाली सेना रहती थी। बाबर और हुमायूँ इस्लाम धर्म मे बताये गये राजा के कर्तव्यों पर विश्वास रखते थे और यथाशक्ति कुरान के नियमों का पालन करते थे। किन्तु अकबर स्वेच्छाचारी शासक था, अत· वह इस्लाम धर्म में बताये गये राजा के कर्तव्यो को मानकर मुसलमानो का अमीर-उल-मुमनीन न बना। अकबर में धर्म अथवा जाति का कोई पक्षपात नही था, अतः वह अपनी सारी प्रजा का ही शासक था। उसका विश्वास था कि हजारो गुणो के रहते हुए भी यदि शासक के हृदय मे धार्मिक सहिष्णुता नही है और वह सभी धर्म और जाति के मनुष्यों का समान रूप से आदर नहीं करता, तो वह शासक जैसे महान पद के लिए सर्वथा अयोग्य है। (**अकबरनामा, जिल्द** २, पृ० २८५) दूसरो मुगल शासको के समान अकबर का भी विश्वास था कि राजा सब मनुष्यों से श्रेष्ठ और ईश्वर की छाया अथवा उसका प्रतिनिधि है। अबुल फजल लिखता है "राजा ईश्वर का तेज और सूर्य की किरण है और वह सारे संसार को चमका देता है। वास्तव मे वह ईश्वर का प्रतीक और गुणों की खान है।" अकबर सम्राट इस वैभव और ऐश्वर्य को लेकर गद्दी पर बैठा और उसने अपनी मुसलमान और गैर-मुसलमान प्रजा का शासक होने का ही दावा नहीं किया अपितु आध्यात्मिक गुरु होने का भी दावा किया। उसका मत था कि राजा और धर्म गुरु के

अलग-अलग होने में राज्य पर विपत्ति आ सकती है और यही कारण था कि वह राज्य और धर्म दोनो का प्रधान था। मुसलमान मत मे भी बताया गया है कि राज्य और धर्म दोनो का प्रधान राजा अथवा खलीफा को ही होना चाहिए। मुस्लिम धर्म के अनुसार मुस्लिम सम्राट केवल अपनी मुसलमान जनता का आध्यात्मिक गुरु होता था और मुहम्मद के धर्म का प्रचार करना तथा मुस्लिम और गैर-मुस्लिम मे निरन्तर भेदभाव बनाये रखना उसका कर्तव्य होता था। किन्तु अकबर का विचार सब धर्मों और जातियो मे केवल शान्ति स्थापित करना ही नही था अपितु यह उस सार्वभौम धर्म का प्रचार करना चाहता था जो शास्त्र पर आधारित न होकर तर्क पर आधारित हो।

जहाँगीर ने कुछ सुधारो के साथ अकबर के राजधर्म का ही पालन किया। किन्तु जहाँगीर के शासनकाल मे इस्लामी सिद्धान्तो की ओर जाने की प्रवृत्ति पुन: प्रत्यक्ष दिखायी देने लगी। शाहजहाँ ने अकबर के सिद्धान्तों का बिलकुल ही त्याग कर दिया था और उसके पुत्र औरगजेब ने इस्लाम मे बताये गये राज-सिद्धान्तो का पूर्ण रूप से पालन किया। औरंगजेब के बाद जो मुगल सम्राट हुए, वे अत्यन्त दुर्बल स्वभाव के होने के कारण उसके पदचिह्नो पर न चल सके, किन्तु उन्होने भी इस्लामी राज-धर्म पर अपना विश्वास सदा बनाये रखा।

मुगल सम्राट असीम शक्तिसम्पन्न होता था। साम्राज्य का प्रधान होने के साथ-साथ वह सेना का प्रधान सेनापति तथा न्याय-व्यवस्था का प्रधान उद्गम भी होता था। वह इस्लाम का संरक्षक तथा मुस्लिम जनता का आध्यात्मिक नेता भी होता था। आध्यात्मिक नेता होने से कारण वह अपनी मुस्लिम जनता से जकात वसूल करता था और उसे मस्जिदें बनवाने तथा मुसलमान साधु-सन्तों एव दीनों की सहायता करने मे व्यय करता था। उसकी मन्त्रिपरिषद नियमित होती थी। यद्यपि मुगल सम्राट के ४ से ६ तक नियमित मन्त्री होते थे किन्तु उन्हें शासन-नीति के निर्माण करने का अधिकार नहीं होता था। वे केवल सलाह दे सकते थे। उनकी सलाह का मानना सम्राट के लिए अनिवार्य नही था, अतः मुगल सम्राट निरंकुश और स्वेच्छाचारी होता था। किन्तु अकबर से लेकर शाहजहाँ तक जितने भी सम्राट हुए उन्होने प्रजा के हित को अपना सर्वप्रधान कर्तव्य समझा, अत: हम उन्हें स्वेच्छा-चारी उदार शासक कह सकते हैं।

मन्त्री तथा उनके कर्तव्य

बाबर से अकबर तक शासन-व्यवस्था के चार मुख्य विभाग थे परन्तु औरगजेब के शासनकाल में मन्त्रियों की सख्या छह हो गयी। वे इस प्रकार थे :

(१) कोष तथा वित्त राजस्व विभाग (दीवानी के अधीन), (२) राजकीय गृह विभाग (खानसामा अथवा मीरसामा के अधीन), (३) सैनिकों का वेतन तथा जमा-खर्च विभाग (मीरबख्शी के अधीन), (४) न्याय-विभाग—दीवानी तथा फौजदारी (प्रधान काजी के अधीन), (५) धार्मिक धन-सम्पत्ति निर्धारण तथा दातव्य विभाग (प्रधान

सद्र ने अधीन), (६) जनता का सदाचार निरीक्षण विभाग (मुहतसिब के अधीन)। इसके अतिरिक्त दो और छोटे-छोटे विभाग थे जिन्हे उत्तरकालीन मुगल सम्राटो ने अन्य विभागो के समकक्ष ही बना दिया था। वे विभाग ये थे :

(७) तोपखाना विभाग (मीर आतिश अथवा दारोगा-ए-तोपखाना के अधीन),

(८) समाचार, सवाद तथा डाक विभाग (दारोगा-ए-डाक-चौकी के अधीन)।

प्रधानमन्त्री

अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल मे प्रधानमन्त्री की पदवी वकील अथवा वकील-ए-मुतलक थी। कभी-कभी वह वजीर अथवा वजीरेआला भी कहलाता था। बाद मे कुछ सम्राटो ने वकील की पदवी फिर से जारी कर दी। उदाहरण के लिए, जहाँदारशाह ने असदखाँ को वकील-ए-मुतलक नियुक्त किया और उसके पुत्र जुल्फिकारखाँ को वजीर बनाया। प्रधानमन्त्री के अधिकार मे प्राय वित्त विभाग रहता था किन्तु यह विभाग उसे दीवान की हैसियत से दिया जाता था। मुख्य रूप से वह नागरिक अफसर होता था और उसे सेनापति का काम बहुत कम दिया जाता था। राज्य की भलाई से सम्बन्ध रखने वाले सभी कामो मे उसे सम्राट को सलाह देनी होती थी। 'वह सम्राट के तथा दूसरे अफसरो के बीच मध्यवर्ती का काम करता था।' सम्राट के अनुपस्थित होने पर अथवा नाबालिग होने पर वह उसकी जगह काम करता था। साम्राज्य के विभिन्न भागो के वित्त सम्बन्धी सभी कागजात तथा प्रान्तो एव युद्धक्षेत्र के आय-व्यय के समस्त ब्यौरे उसके पास भेजे जाते थे। सब प्रकार के व्यय (भुगतान) की वही आज्ञा देता था। खजाना उसी के अधिकार मे रहता था और लगान एव कर-वसूली सम्बन्धी प्रश्नो का निर्णय वही देता था।

सेना के छोटे-छोटे नौकरो अथवा निजी नौकरों को छोड़कर अन्य सभी की नियुक्ति अथवा उन्नति वही करता था। उसके नीचे दो सहायक मन्त्री और होते थे। उनमे से एक दीवान खालसा कहलाता था जिसके अधिकार में सम्राट की भूमि रहती थी। दूसरा दीवानेतन अथवा तनखा होता था जिसके अधिकार मे जागीर की भूमि रहती थी।

मीरबख्शी

मीरबख्शी के अधिकार मे सैन्य विभाग रहता था। सभी मनसबों की नियुक्तियाँ उसी के विभाग द्वारा होती थी। वह सेना मे राजकीय नियमो को जारी करता था तथा घोडों के दाग लगाने का और मनसबदारो के अधिकार मे रहने वाले सैनिकों की निश्चित संख्या का निरीक्षण करता था। मीरबख्शी मनसबदारो का एक रजिस्टर रखता था जिसमे हर मनसबदार के अधीन रहने वाले सैनिको की निर्दिष्ट संख्या लिखी रहती थी। उसे मनसबदारो के वेतन के बिल पास कराकर अपने पास रखने होते थे इस कारण वह पे-मास्टर जनरल कहलाता था।

खानेसामान अथवा उच्च परिचारक

अकबर के शासनकाल मे खाने सामान मन्त्री नही कहलाता था, किन्तु उसके

उत्तराधिकारियो के समय मे यह पद पूर्णतया सुसगठित मन्त्री-विभागो की तरह ही महत्त्वपूर्ण हो गया था। खानेसामान सम्राट के घरेलू विभागो का प्रधान होता था ओर सम्राट के निजी नौकर एव दास तथा शाही भोजन-भण्डार उसी के अधिकार मे रहते थे। वह सम्राट के दैनिक व्यय, भोजन और भण्डार आदि का भी निरीक्षण करता था। सम्राट, उसके अन्त पुर (जनानखाना) तथा दरबार के लिए जिन वस्त्र, आभूषण तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओ की आवश्यकता होती थी, उन सब के विभाग इसी के अधीन रहते थे। इन सब कारणो से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता था। कभी-कभी तो खानेसामान वजीर भी बना दिया जाता था। उच्चकोटि का अफसर उसका उपमन्त्री होता था जो दीवाने-बयूतात या बयूतात कहलाता था। उसका प्रधान काम मृत व्यक्तियो की सम्पत्ति का हिसाब-किताब रखना होता था जिससे (१) राज्य को आय प्राप्त हो जाय, और (२) मृत व्यक्तियो के उत्तराधिकारियो के लिए सम्पत्ति सुरक्षित रख ली जाय।

प्रधान काजी

सम्राट 'अपने काल का खलीफा' माना जाता था, अत. वही सबसे बडा न्यायाधीश होता था और हर बुद्धवार को अपनी कचहरी करता था। उसका न्यायालय न्याय का सबसे बडा न्यायालय होता था। किन्तु सम्राट को सारी अपीलें सुनने का समय नही मिल पाता था, अत एक प्रधान काजी होता था जो प्रधान न्यायाधीश कहलाता था। वह 'धर्म' सम्बन्धी मुकदमो का फैसला करता था और मुस्लिम कानून के अनुसार ही उनका निर्णय करता था। प्रधान काजी प्रान्त, जिला तथा नगरो के काजियो की नियुक्ति करता था। कभी-कभी बडे-बडे गाँवों मे भी स्थानीय काजी नियुक्त कर दिये जाते थे। मुफ्ती काजियों के सहायक होते थे। ये अरबी न्याय-शास्त्र के विद्वान होते थे और सम्बन्धित मुकदमो के सम्बन्ध में इस्लामी कानून का मूलरूप काजी के सामने रखते थे। काजी के अधिकार बहुत होते थे और उसकी प्रतिष्ठा भी काफी थी, किन्तु वह अपने अधिकारों का प्रायः दुरुपयोग किया करता था। उसके विभाग में भ्रष्टाचार बहुत अधिक बढ गया था। इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार के अनुसार, "मुगल काल मे जितने भी काजी थे उनमे से कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियो को को छोडकर सभी घूसखोर थे।"

प्रधान सद्र (सद्रूस सद्र)

प्रधान सद्र धार्मिक धन-सम्पत्ति तथा दातव्य विभाग का प्रधान होता था। सम्राट एव शाही परिवार के दूसरे सदस्य धर्मात्मा, विद्वान, उलेमा और साधु-सन्तो की सहायता के लिए जागीर तथा अतुल धनराशि निकालकर अलग रख दिया करते थे। सद्र का काम योग्य व्यक्तियो के प्रार्थनापत्रों की जाँच कर उनकी सहायता की सिफारिश करना होता था। अत: वह दान की भूमि और सम्पत्ति का निर्णायक एवं निरीक्षक होता था। वह प्रान्तीय सद्रों की नियुक्ति करता था। कभी-कभी तो प्रधान सद्र प्रधान काजी का काम करता था। किन्तु अकबर और उसके उत्तराधिकारियों

के शासनकाल में इन दोनो बड़े बड़े पदो पर दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति प्रतिष्ठित होते थे। सद्र का पद बड़ा लाभदायक होता था, इस पर रहकर वह घूस और गबन से मालामाल हो सकता था। अकबर के शासनकाल मे सद्र घूस तथा निर्दयता के कारण कुख्यात हो गये थे।

जनता का सदाचार-निरीक्षक

जनता का सदाचार-निरीक्षक अथवा मुहतसिब मुसलमानों के मुहम्मद पैगम्बर की आज्ञाओं का पालन करवाता था और जनता को शरियत के विरुद्ध कार्य करने से रोकता था। "उसका काम खींची गयी शराब अथवा उत्तेजक जौ की शराब, भांग और मादक द्रवो का पीना, जुए का खेलना तथा कुछ विशेष प्रकार के मैथुनों का रोकना होता था। वह उन मुसलमानो को दण्ड देता था जो इस्लाम धर्म के विरुद्ध विचार करते थे या पैगम्बर मे अविश्वास करते थे और पाँचो नमाज तथा रोजों का त्याग कर देते थे।" औरंगजेब के शासनकाल मे मुहतसिब का काम नये मन्दिरो को नष्ट करना हो गया था। कभी-कभी वे बाजारो मे वस्तुओ का मूल्य निश्चित करते थे और बाट तथा गजो को ठीक करवाते थे।

तोपखाने के सुपरिण्टेण्डेण्ट

यह अफसर मूल रूप से मीरबख्शी का सहायक (मातहत) होता था किन्तु युद्धक्षेत्र मे तोपखाने का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण इस विभाग के प्रधान को भी मन्त्री का गौरव प्राप्त हो गया था। बाद के मुगल शासको के शासनकाल मे मीरआतिश अथवा तोपखाने के सुपरिण्टेण्डेण्ट का काम शाही गढ की रक्षा का प्रबन्ध करना भी होता था। इसके लिए कभी-कभी तो उसे वहीं रहना भी पड़ता था। इन कारणो से उसका सम्पर्क सम्राट से बना रहता था और इसीलिए उसका पद महत्त्व-पूर्ण हो गया था और उसकी गणना मन्त्रियो मे होने लगी थी। तोपखाने की गढ़ तोडने वाली तोपो से लेकर छोटी-छोटी बन्दूकें तक उसके अधिकार में रहती थीं।

समाचार एवं डाक का सुपरिण्टेण्डेण्ट

मुगल शासनकाल के अन्तिम दिनो मे इनका भी एक अलग विभाग था और यह उसका प्रधान था। इसके अधिकार मे समाचार-लेखक, गुप्तचर और संवाद-वाहक होते थे जो सारे साम्राज्य में नियुक्त किये जाते थे। ये लोग अपने-अपने क्षेत्रों की मुख्य-मुख्य घटनाओं की सूचना भेजा करते थे। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सुपरिण्टेण्डेण्ट भी होते थे जो शाही दारोगा-ए-डाक चौकी की आज्ञानुसार काम करते थे। ये लोग हर सप्ताह समाचारों का साराश राजधानी को भेजा करते थे।

प्रान्तीय शासन-व्यवस्था

सूबेदार तथा उसके कर्तव्य

मुगल साम्राज्य सूबो में बँटा हुआ था। अकबर के शासनकाल में १५ सूबे थे। औरंगजेब के काल में ये २० हो गये। प्रत्येक प्रान्त का प्रधान एक राज्यपाल होता था जो अकबर के शासनकाल में सिपहसालार और उसके उत्तराधिकारियों के

शासनकाल में सूबेदार अथवा नाजिम कहलाता था। उसका मुख्य काम प्रान्तो मे शान्ति व्यवस्था रखना, शाही आज्ञाओ का पालन करवाना तथा राज-करो की वसूली मे सहायता देना होता था। उसे न्याय का काम भी करना पडता था। जब वह प्रान्त का चार्ज लेने के लिए रवाना होता था तब वजीर उसे सलाह देता था कि वह प्रान्त के मुख्य-मुख्य व्यक्तियो से सम्बन्ध बनाये रखे, योग्य अफसरो की उन्नति की सिफारिश करता रहे और विद्रोही जमीदारो को दबाकर मुख्य-मुख्य घटनाओ की पाक्षिक सूचना दरबार मे भेजता रहे। उसको यह भी सलाह दी जाती थी कि वह सेना सुसज्जित रखे, चौकन्ना रहे, दीन तथा सन्तो की सहायता करे और किसानो की रक्षा करके खेतो की उन्नति मे योग दे। उसका मुख्य कार्य अपने क्षेत्र के पास के अधीनस्थ राजाओ से कर वसूल करना भी था।

प्रान्तीय दीवान

प्रान्त का दूसरा महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी दीवान होता था। मुगल शासनकाल के प्रारम्भिक दिनो मे उसका पद सूबेदार के समान ही समझा जाता था किन्तु उसका अधिकार सूबेदार के समान नही था। "वास्तव मे दोनो अफसर परस्पर ईर्ष्या रखते थे और एक-दूसरे की कड़ी निगरानी रखते थे। इस प्रकार की निगरानी प्रारम्भिक अरबो के शासन मे परम्परागत हो गयी थी।" दीवान के अधिकार मे कर-वसूली का प्रबन्ध था। वह प्रान्त में कर लगाता था, उसके उघाने का प्रबन्ध करता था और उघाने वालो की नियुक्ति करता था। वह दीवानी न्याय भी करता था और दीवान उसी की आज्ञानुसार काम करता था। उसे खेती की उन्नति पर विशेष ध्यान देना होता था, खजाने की देखभाल करनी होती थी और ईमानदार अमीन तथा आमिल नियुक्त करने होते थे। ... काम किसानों की उन्नति के लिए तकाबी बाँटना और अपने विभाग के सब कागजात वजीर के दफ्तर को भेजना होता था।

प्रान्त मे बख्शी, काजी, सद्र, वयूतात और मुहतसिब इत्यादि दूसरे अफसर भी होते थे। ये अपने काम अपने क्षेत्र मे उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार मन्त्री राजधानी में सारे साम्राज्य के काम करते थे।

जिले अथवा सरकारें

प्रान्त जिलों अथवा सरकारों में बँटे हुए थे। प्रत्येक जिले का एक अफसर होता था जो फौजदार कहलाता था, जो आजकल के जिला कलक्टर का काम करता ..। वह सूबेदार से अपना सम्पर्क निरन्तर बनाये रखता था और उसी की आज्ञानुसार काम करता था। वह एक प्रबन्धक अफसर होता था और उसके अधिकार में सेना की एक टुकड़ी रहती थी। शाही आज्ञा और नियमों के अनुसार जिले मे शान्ति एवं व्यवस्था रखना उसका मुख्य काम होता था। शक्तिशाली जमीदारो को नियन्त्रण मे रखना और सड़कों को चोर-डाकुओ से सुरक्षित रखना भी उसी का काम था। "सक्षेप मे, फौजदार, जैसा कि उसके नाम का अर्थ है; जिले की उस सेना का अधिकारी होता था जो छोटे-मोटे विद्रोहो को दबाने और डाकुओं के गिरोहों को खदेड़ने अथवा

गिरफ्तार करने के लिए रखी जाती थी। उसका काम सेना के प्रदर्शन द्वारा राजकर के अधिकारी, फौजदारी के जज अथवा चरित्र निरीक्षकों के विरोधियों को आतंकित करना भी होता था" (Sarkar, Mughal Administration, p. 57)

परगने अथवा महालें

जिले परगने अथवा महालो में बँटे हुए थे। हर परगने मे एक शिकदार, एक आमिल, एक अमीन, एक फोतदार (खजाची) और कुछ बितिक्ची (लेखक) होते थे। शिकदार परगने के पूरे प्रबन्ध का अधिकारी होता था और उसे अपने परगने मे शान्ति एव व्यवस्था रखनी होती थी। उसके अधिकार मे एक छोटी-सी फौज की टुकडी भी रहती थी। वह फौजदारी मजिस्ट्रेट का भी काम करता था किन्तु इस काम में उसके अधिकार सीमित रहते थे। आमिल का सीधा सम्बन्ध किसानो से होता था और उसका मुख्य काम राजकरो का लगाना तथा उनका उघाना होता था। उसे शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने एव गुण्डो को दबाने मे शिकदार की सहायता भी करनी होती थी। फोतदार परगने के खजाने का अधिकारी होता था। बितिक्ची लेखक या क्लर्क होते थे।

नगरों का प्रबन्ध

नगर का प्रधान प्रबन्धक कोतवाल होता था। वह नगर-पुलिस का प्रधान होता था और उसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी। उसके मुख्य काम थे—(१) नगर की रक्षा करना, (२) बाजार पर नियन्त्रण रखना, (३) लावारिसो की सम्पत्ति की देखभाल करना तथा उसे उचित वारिस को पहुँचाना, (४) जनता के चरित्र का निरीक्षण करना एव अपराधो को रोकना, (५) सामाजिक बुराइयों को दूर करना, (६) श्मशान, कब्रिस्तान अथवा बूचड़खानों की व्यवस्था रखना। इन कामो को पूरा करने के लिए उसके अधिकार मे घुड़सवार तथा पैदल फौज और बहुत बड़ी पुलिस रहती थी। वह नगर को वार्डों मे बाँटकर उन्हे ईमानदार सहायकों (मातहतों) के अधिकार मे सौप देता था और उन्हें एक रजिस्टर दे देता था जिनमें वे नागरिकों के चरित्र का ब्यौरा रखते थे। उसके अधिकार में गुप्तचर होते थे जो नगर मे आने-जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति की उसे सूचना देते थे और सरायों पर नियन्त्रण रखते थे। उसे आज्ञा थी कि वह किसी व्यक्ति को भी बेकार न रहने दे क्योंकि बेकार आदमी ही शैतानी करते हैं। उसे पेशेवर स्त्रियों, नर्तकियो तथा शराब एवं मादक पदार्थ बेचने वालों पर कड़ी निगाह रखनी पड़ती थी।

बड़े-बड़े नगर वार्ड अथवा मुहल्लो मे बँटे हुए थे। इनमें से प्रत्येक मुहल्ला स्वयं परिपूर्ण था और उसमे एक ही पेशे अथवा जाति के लोग रहते थे। यूरोप के मध्यकाल के व्यापारियो की तरह कारीगर और व्यापारी भिन्न-भिन्न वर्गों मे बँटे हुए थे। प्रत्येक व्यवसाय-वर्ग का एक चौधरी और एक दलाल होता था और व्यापार इन्ही के द्वारा होता था। बडे-बड़े नगरों के बाहर खुले मे बसे हुए नगर भाग भी होते थे। इनमें बड़े खानदानी परिवार रहते थे, उदाहरणार्थ पुरानी दिल्ली के

कुछ बाहरी नगर-भाग मुगलपुरा, जैसिहपुरा और जसवन्तसिंह पुरा थे और आगरा के बाहर बलोचपुरा और प्रतापपुरा थे। प्रायः हर नगर के कस्बे की चहारदीवारी होती थी, किन्तु नगर के बाहरी भाग चहारदीवारी के बाहर ही होते थे। नगर बसाने के समय सम्राट की आज्ञा से बड़ी-बड़ी सड़के बनायी जाती थी और एक सार्वजनिक गन्दा नाला खोदा जाता था। कभी-कभी नदी अथवा झील से पानी लाने के लिए सरकार पक्की नहर भी बनवा देती थी। किन्तु छोटी-छोटी गलियाँ नागरिक स्वय बनाते थे और कुएँ खोदकर पानी का प्रबन्ध भी स्वयं ही करते थे। सरकार देश के अन्तरतम भाग मे रहने वाले व्यक्तियो की केवल सुरक्षा की ही उत्तरदायी होती थी। वह बड़ी-बड़ी सड़को की सफाई करवाती थी, बाजारों पर नियन्त्रण रखती थी और तहबाजारी, कस्टम और चुंगी इत्यादि कर (टैक्स) वसूल करती थी। नगरवासियो से जो कर वसूल किये जाते थे उसमें अन्न-कर और नमक कर सबसे मुख्य होते थे। सरकार रोशनी, जल, चौकीदार, दवा-दारू अथवा शिक्षा का कोई प्रबन्ध नही करती थी। इसका प्रबन्ध जनता स्वयं करती थी।

ग्रामीण जनता

ग्रामीण शासन-प्रबन्ध हमारी जाति की सबसे बडी वैधानिक देन है। आदि-काल से ही भारत की ग्रामीण जनता सुसंगठित रहकर अपने सारे मामले पंचायत के द्वारा तय करती आयी है। प्रत्येक गाँव में प्रजातन्त्रात्मक पचायत होती थी जिसमें परिवारों के प्रधान रहते थे। यह पंचायत गाँव की चौकीदारी, सफाई, प्रारम्भिक शिक्षा, सिंचाई, दवा-दारू, सड़क, चरित्र-गठन और धार्मिक कृत्य इत्यादि के प्रबन्ध की उत्तरदायी होती थी। यह मनोरंजन संगीत और उत्सवो का प्रबन्ध भी करती थी। मुकदमों को तय करने के लिए पंचायत होती थी। गाँव की पंचायत की बहुत-सी छोटी-छोटी उपसमितियाँ होती थीं जिनके अलग-अलग काम होते थे। इन उप-समितियों के सदस्य एक प्रकार के चुनाव द्वारा ही चुने जाते थे। इसके अतिरिक्त विवाद-ग्रस्त झगड़ों के तय करने के लिए जातीय पंचायतें भी होती थीं। ग्राम पंचायत में ये लोग होते थे—एक या दो चौकीदार, एक पुरोहित, एक अध्यापक एक ज्योतिषी, एक बढ़ई, एक लुहार, एक कुम्हार, एक धोबी, एक नाई, एक वैद्य और एक पटवारी। ग्रामीण जनता ही हमारे समाज और संस्कृति की सदा से संरक्षिका रही है।

सेना

मुगलकालीन सेना-संगठन मनसबदारी प्रथा कहलाती थी। यह प्रथा देश के लिए नयी प्रथा नहीं थी क्योंकि दिल्ली के सल्तनत काल में भी हमें इस प्रथा के चिन्ह दिखायी देते हैं। शेरशाह और इस्लामशाह की सेना में भी कुछ इस प्रकार का श्रेणी-विभाजन था। उसकी सेना में भी एक हजार, दो हजार या इससे भी अधिक टुकड़ियों के सेनापति होते थे। किन्तु अकबर ने इस प्रथा का वैज्ञानिक ढग से यथाशक्ति संगठन कर दिया।

साधारणतः मनसब का अर्थ पद अथवा प्रतिष्ठा है। अतः मनसबदार शाही

सेवा मे पदवी धारण करने वाले व्यक्ति होते थे। अकबर के शासनकाल मे सबसे नीचा मनसब १० का और सबसे ऊँचा १०,००० का होता था। किन्तु शासन के अन्तिम दिनों मे यह १२,००० तक कर दिया गया था। ५,००० के ऊपर के मनसब शाहजादों के लिए ही सुरक्षित रहते थे किन्तु कुछ समय बाद कुछ सरदारो को ७,००० की मनसबदारी भी दे दी गयी थी। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में सरदारो को ८,००० तक की मनसबदारी मिल सकती थी किन्तु शाही परिवार के व्यक्ति को ४०,००० तक की मनसबदारी भी मिल सकती थी। उत्तरकालीन मुगलों के समय मे तो इसकी सीमा ५०,००० तक पहुँच गयी थी।

मनसबदारी तीन वर्गों मे बँटे हुए थे अर्थात १० से ४० तक मनसबदार केवल 'मनसबदार' कहलाते थे, ५०० से २,५०० के मनसबदार उमरा कहलाते थे और ३,००० अथवा उससे ऊपर के मनसबदार उमरा-ए-आजम अथवा बड़े सरदार कहलाते थे।

अकबर के शासन के प्रारम्भ मे मनसब का एक वर्ग अथवा एक श्रेणी ही होती थी। किन्तु उसने अपने शासन के अन्तिम दिनो मे हर मनसब की तीन श्रेणियाँ कर दी थीं। ५०० से ऊपर के मनसबदार 'सवार' कहलाते थे। मनसबदार के लिए यह आवश्यक नही था कि वे अपने मनसब के अनुसार निर्धारित सैनिको की सख्या रखें ही। ब्लोचमैन, इरविन तथा स्मिथ इत्यादि इतिहासकारो ने लिखा है कि १,००० का मनसबदार १,००० का सेनापति होता था, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। मनसबदारो को सेना की कुछ टुकड़ियाँ अवश्य रखनी पडती थी किन्तु यह उनकी पदवी मे निर्धारित सख्या का केवल एक अश ही होती थी। शाही अफसरों की पदवी तथा वेतन निश्चित करने के लिए मनसब प्रथा सुविधाजनक प्रणाली थी। मनसबदार की नियुक्ति, उन्नति और पृथक्करण का कोई नियम नही था। साधारणत जब कोई मनसबदार सैन्य-प्रदर्शन के समय अपने नियत सैनिको को ले आता था, तब उसके मनसब की उन्नति कर दी जाती थी।

जात और सवार के अभिप्राय के विषय मे विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। लेखक का मत है कि जब अकबर ने इस प्रथा को जारी किया, तब मनसबदारो को अपनी पदवी के अनुसार ही फौजी टुकडी मय घोडों और हाथी इत्यादि की वास्तविक संख्या के ही रखनी पडती थी। परन्तु बाद मे विभिन्न पदो के मनसबदार घोडों, हाथियो और ऊँटो इत्यादि की तो पूरी सख्या रखते रहे किन्तु घुड़सवारो की पूरी सख्या रखना और उन्हे सैन्य-प्रदर्शन मे लाना धीरे-धीरे बन्द-सा हो गया था, अतः अकबर ने यह अनुभव किया कि घुड़सवारो और लद्दू जानवरो इत्यादि को मनसबदरो के पदो मे एक साथ शामिल कर देने से बड़ी गड़बड़ी होती है और इस गड़बडी को दूर करने के लिए और प्रत्येक कोटि के मनसब के लिए नियत घुडसवारो को अपनी सेना में रखने हेतु 'सवार' और 'जात' मनसबो मे भेद कर दिया। अब 'जात' मनसबदार को घोड़े, हाथी आदि लद्दू जानवर तो निश्चित सख्या मे रखने पड़ते थे

किन्तु घुड़सवार नही। आधुनिक लेखकों का यह कहना ठीक नहीं कि जात पद व्यक्तिगत होता था। 'सवार' पद के मनसबदार को घुड़सवार नियत संख्या मे रखने पड़ते थे। उसके उत्तराधिकारियों के समय में इस नियम में कुछ शिथिलता आ गयी और घुड़सवारों की संख्या मनसबदार अपने पद से कम रखने लगे। अतः शाहजहाँ को यह नियम बनाना पडा कि प्रत्येक मनसबदार को अपने पद की निर्धारित सख्या की कम से कम एक-चौथाई फौजी टुकड़ियाँ अवश्य रखनी होगी किन्तु यदि उनकी नियुक्ति भारत के बाहर होती है तो एक-चौथाई के स्थान पर $\frac{1}{5}$ ही रख सकेगा। फिर भी सर जदुनाथ सरकार के अनुसार, "औरंगजेब के शासन के अन्तिम दस वर्षों मे सब अफसरों की सेना मिलकर निर्धारित सेना की केवल दशाश ही रह गयी थी।" औरंगजेब के उत्तराधिकारियो के समय में ये पद नाममात्र के रह गये थे और ७,००० के मनसबदार के लिए ७ घुड़सवारो का रखना भी आवश्यक नही था। उदाहरण के लिए, मुहम्मदशाह के समय (१७१९-१७४८ ई०) में ७,००० का मनसबदार लुत्फ उल्लाखाँ सादिक अपनी सेना में सात गधे भी नहीं रखता था, सात घुड़सवारों की तो बात ही क्या।

पाँचहजारी तथा उसके नीचे का प्रत्येक मनसबदार तीन श्रेणियों में विभक्त था अर्थात प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी। यदि किसी मनसबदार का 'सवार' पद 'जात' पद के समान होता था तो उसका पद प्रथम श्रेणी का होता था। यदि उसका सवार पद जाति पद से कम होता था किन्तु उसके आधे से कम नहीं होता था तो उसे पद मे द्वितीय श्रेणी मिलती थी। किन्तु यदि पद उसके आधे से कम होता था अथवा उसका सवार पद होता ही नहीं था तो वह तृतीय श्रेणी का मनसबदार होता था। उदाहरण के लिए, यदि किसी मनसबदार का 'सवार' पद और 'जात' पद दोनों ५,००० थे तो वह पाँचहजारी प्रथम श्रेणी का मनसबदार होता था। यदि उसका जात मनसब ५,००० का और उसका सवार मनसब २,५०० का होता था तो वह द्वितीय श्रेणी का मनसबदार होता था। यदि उसका जात मनसब, ५,००० का और सवार मनसब २,५०० से कम होता था तो वह तृतीय श्रेणी का मनसबदार होता था। यह नियम सभी मनसबों पर लागू होता था। दु-असपा और सेह-असपा के भेद के कारण इसमें और भी पेचीदगी आ गयी थी। दु-असपा मनसबदार वह था जिसे निर्धारित घुड़सवार के साथ उतने ही कोतल (extra) घोड़े और रखने पड़ते थे और सेह-असपा वह थे जिन्हे दुगने कोतल घोड़े रखने पडते थे। कोतल घोडों की संख्या के अनुसार ही मनसबदारी का वेतन नियत किया जाता था।

मनसबदार को अपनी जाति अथवा कबीले के लोगों को सेना में भरती करने का अधिकार था। अकबर के समय से लेकर मुहम्मदशाह के शासनकाल तक विदेशी तुर्क, ईरानी, अफगानी और देशी राजपूत ही अधिकतर मनसबदार थे। इसके अतिरिक्त कुछ अरब और दूसरे विदेशी भी मनसबदार थे। हिन्दुस्तानी मुसलमान अफसर तो बहुत ही कम थे। मनसबदारो को घोड़े तथा उनका साज-समान स्वयं खरीदना

पड़ता था, किन्तु कभी-कभी यह सरकार द्वारा भी दे दिया जाता था। मनसबदार के अधिकार मे जितने भी फौजी होते थे उनका वेतन उसे अनुमान पर आधारित कर एक बार मे ही दे दिया जाता था। अतः सिपाही सम्राट की सेवा मे रहते हुए भी केवल उन्ही सरदारो को जानते थे जिनसे केवल वेतन मिलता था।

मीरबख्शी के सामने सेना का प्रदर्शन होता था और उसमे मनसबदार जितने सशस्त्र सैनिक ला सकता था, उन्ही के अनुसार उसका वेतन निश्चित होता था। जिस समय सूची तैयार होती थी, और सेना का प्रथम प्रदर्शन होता था उस समय सैनिकों और घोडों का ब्यौरा लिखा जाता था और घोडो की दायी जांघ पर सरकारी तथा बायी जांघ पर मनसबदारी दाग दिया जाता था। मनसबदार को बहुत बड़ा वेतन मिलता था जो साज-सामान की कीमत निकाल देने पर भी बहुत काफी होता था।

सेना के विभाग

मुगल-सेना पांच भागो मे विभक्त थी अर्थात पैदल, घुड़सवार, तोपखाना, हाथी और जल-सेना।

(१) **पैदल**—पैदल सेना को बहुत कम वेतन मिलता था और उनका कोई महत्त्व नही था। यह दो प्रकार की होती थी अथात अहशाम और सेहबन्दी। दोनों प्रकार की सेनाओं के सैनिको के पास तलवार और छोटा भाला होता था। उनके युद्ध का महत्त्व नाममात्र का था। सेहबन्दी सैनिक बेकार लोगों मे से भरती कर लिये जाते थे और प्रायः मालगुजारी वसूल करने मे सहायता देते थे। वे फौजी सैनिको की अपेक्षा नागरिक पुलिस का काम अधिक करते थे।

(२) **घुड़सवार**—घुड़सवार दो प्रकार के होते थे। पहले प्रकार के घुड़सवारो को साज का सारा सामान सरकार से मिलता था। ये बरगीर कहलाते थे। दूसरे प्रकार के घुड़सवार सिलेदार कहलाते थे और वे अपने घोड़े तथा अस्त्र-शस्त्र स्वय लाते थे। इनको बरगीरो से अधिक वेतन मिलता था।

(३) **तोपखाना**—इस विभाग मे बन्दूकची या बन्दूक चलाने वाले सशस्त्र सैनिक होते थे। ये मीर आतिश अथवा तोपखाने के दारोगा की अधीनता मे रहते थे। मुगल तोपखाना जिन्सी तथा दस्ती नामक दो विभागों में बँटा हुआ था। जिन्सी तोपखाने के पास भारी तोपे होती थी और दस्ती के पास हल्की तोपें और कडाबीन बन्दूकें होती थी। इन दोनो के विभागो के शस्त्रागार तथा सेनापति अलग-अलग होते थे किन्तु दोनो मीरआतिश की अधीनता मे रहते थे।

(४) **हाथी**—हाथियो की नियुक्ति युद्ध-क्षेत्र के लिए होती थी। सेनापति हाथियों पर बैठकर सारी युद्धभूमि का निरीक्षण किया करते थे। हाथी शत्रु पर आक्रमण करने, पैदल रक्षा-पंक्ति को तोडने तथा किले के दरवाजे तोडने के काम आते थे। किन्तु धडाधड़ तोपो के चलने पर हाथी लाभदायक न होकर हानिकारक सिद्ध होते थे।

(५) **जल-सेना**—मुगल अपनी निजी जल सेना नही रखते थे। उन्होने पश्चिमी समुद्रतट की रक्षा का भार अबीसीनियनो तथा जजीरा के सिद्दियो को सौंप रखा था; किन्तु पूरबी बगाल की सरकार अनेक प्रकार की नावो का बेड़ा रखा करती थी। इन नावो पर तोपे चढी रहती थी और ये एक दारोगा के अधिकार में रहती थी। दारोगा के अतिरिक्त नावो का एक और अफसर होता था जो मीरबहार कहलाता था और जब शाही सेना को नदी पार करनी होती थी तब वह नावो का पुल बनवाता था। किन्तु सरकार के पास बहुत बडी सख्या मे निजी नाव नही रहती थीं।

मनसबदार तथा उनकी फौजी टुकडी के अतिरिक्त अहदी (सभ्य) घुडसवार तथा दाखिली (पूरक) घुडसवार भी होते थे। इनकी भरती मीरबख्शी स्वय करता था और उनका वेतन भी केन्द्रीय खजाने से सीधा ही मिल जाता था। यद्यपि मीर-बख्शी अहदी और दाखिली घुडसवारो की ही भरती करता था किन्तु सैन्य-प्रदर्शन और अनुशासन का वही अधिकारी होता था, चाहे वह भरती मनसबदारों ने की हो अथवा स्वय उसने। किन्तु मीरबख्शी सेना का प्रधान नही होता था, सारी सेना का प्रधान सेनापति सम्राट स्वयं होता था। मीरबख्शी का काम रंगरूट भरती करना, सेना का प्रदर्शन देखना और उसके वेतन का बिल पास करना था।

मुगल सेना आजकल की तरह रेजीमेण्टों मे विभक्त नही थी। इसमे न तो रेजीमेण्टो जैसी ड्रिल थी, न अनुशासन था और न ही ठीक सैनिक शिक्षा थी। सैनिकों की वास्तविक सख्या मीरबख्शी के रजिस्टर मे लिखी हुई संख्या से बहुत कम होती थी। मनसबदार की व्यक्तिगत फौजी टुकडी और प्रधान सेनापति में कोई सम्पर्क नहीं रहता था, क्योंकि वह मनसबदार को ही अपना तत्कालीन प्रधान समझती थी। सैनिको का वेतन प्रायः बकाया पड़ा रहता था। उत्तरकालीन मुगलों के समय में तो कभी-कभी तीन-तीन वर्ष का वेतन दिया भी नही जाता था। मुगलकाल के प्रारम्भिक काल में सेना की शक्ति मुगल घुडसवारों की तेजी पर निर्भर थी। किन्तु पहाड़ियों, राजपूताने के रेगिस्तानो और महाराष्ट्र मे यह तेजी व्यर्थ हो जाती थी। औरगजेब के शासनकाल मे तो "यह चालाक मराठों की बुरी तरह शिकार बन गयी थी और अठारहवी शताब्दी मे "अनुशासनपूर्ण यूरोपियन सेना के सामने तो यह बिलकुल निकम्मी साबित हो गयी थी।"

लगान-व्यवस्था

साम्राज्य की आय के दो मुख्य साधन थे—केन्द्रीय और स्थानीय। वाणिज्य, खान, भेंट, पैतृक सम्पति, नमक, चुंगी और भूमि पर केन्द्रीय-कर लगता था। इन सब में भूमि-कर सबसे अधिक लाभदायक और महत्त्वपूर्ण था। बाबर और हुमायूँ तीर्थयात्रा-कर लगाते थे। वे हिन्दुओं से जजिया और मुसलमानो से जकात कर वसूल करते थे। अकबर ने तीर्थयात्रा कर और जजिया हटा दिया था। किन्तु औरंगजेब ने १६७६ ई० के प्रारम्भ में उन्हे फिर लगा दिया था। सैय्यद भाइयों के प्रभुत्वकाल में वह फिर हटा दिया गया। मुहम्मदशाह ने इसे पुनः लगाया किन्तु बाद में उसे इसको हटाना पड़ा।

औरंगजेब के बाद मे मुगलो के अधिकार के अन्त तक हिन्दुओ पर तीर्थयात्रा-कर और शवों की हड्डियो को नदी मे फेकने का कर लगता ही रहा ।

भूमि-कर

बाबर और हुमायूँ के समय तक सल्तनत काल की ही मालगुजारी प्रथा जारी रही और मालगुजारी भूमि तथा उपज की जाँच-पड़ताल कराये बिना ही पुराने हिसाब से वसूल की जाती रही । किन्तु अकबर ने अनेक प्रयोगो के बाद मालगुजारी प्रथा में बिलकुल परिवर्तन कर दिया और 'टोडरमल के बन्दोबस्त' को जारी कर दिया । यह प्रथा १५८० ई० की आइने दहसाला के कुछ निश्चित सिद्धान्तो पर बनायी गयी थी । सबसे पहले क्षेत्रमिति की निश्चित प्रणाली के अनुसार भूमि की नाप-जोख हुई और हर गाँव के हर किसान की जोतने योग्य भूमि को नापकर सारे साम्राज्य की भूमि नाप ली गयी । इसके बाद उपजाऊ तथा अनुपजाऊ के अनुसार भूमि को चार भागों में बाँट दिया गया । ये भाग पोलज, परौती (परती), चच्चर और बजर थे । हर प्रकार की भूमि के हर बीघे की गति दस वर्षों की उपज की औसत के आधार पर हर परगने की उपज अलग-अलग निर्धारित की जाती थी । उपज का एक-तिहाई भाग लगान होता था । राज्य-कर रुपये में लिया जाता था । इसके लिए अकबर ने अपने सारे साम्राज्य को अन्न के समान भाव वाले अनेक दस्तूरों में बाँट रखा था । गत दस वर्षों के भावों के आधार पर हर दस्तूर का हर अन्न का औसत भाव निश्चित किया जाता था और इस भाव के आधार पर राज्य-कर रुपयों में निर्धारित किया जाता था । अतः अब यह आवश्यक नहीं था कि किसानों के राज्य-कर के निश्चित करने के लिए प्रति वर्ष की वास्तविक उपज अथवा अन्न के चालू मूल्य का अनुमान लगाया जाय । फिर भी सरकार करों को भविष्य में घटाने-बढाने के लिए उपज और फसल के मूल्य का ब्यौरा प्रति वर्ष रखा करती थी । प्रारम्भ में यह प्रथा केवल खालसा प्रदेश मे ही जारी की गयी थी, इसके बाद अकबर ने इसे जागीरी भूमि मे जारी कर दिया था । शेरशाह की तरह अकबर भी उपज का एक-तिहाई अन्न अथवा उसके मूल्य के रुपये लगान में लिया करता था । लगान का यह निर्णय किसानों से सीधा हुआ था, अतः यह रैयतवाड़ी प्रथा थी । हर किसान को पट्टा दिया जाता था और उसे कबूलियत पर हस्ताक्षर करने होते थे । यदि किसी गाँव या परगने पर कोई दैवी आपत्ति आ जाती थी तो अकबर लगान माफ कर दिया करता था, किन्तु यह माफी हानि के अनुपात के अनुसार होती थी । परगनों के सरकारी अफसर गाँव के पटवारी और मुखियाओं की सहायता से लगान वसूल किया करते थे । यह प्रथा वैज्ञानिक और न्यायानुकूल थी । सभी ऐंग्लो-इण्डियन लेखको ने इस प्रथा की प्रशंसा की है ।

अकबर के शासनकाल मे इस प्रथा के अनुसार ठीक-ठीक काम होता रहा किन्तु जहाँगीर के समय में इस प्रथा में दोष आने लगे । शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में सरकार ने अकबर के रैयतवाड़ी बन्दोबस्त के साथ-साथ ठेकेदारों को भी भूमि-कर वसूली को दे देना आरम्भ कर दिया जो अत्यन्त हानिकारक था । पहले तो

जागीरी भूमि मे रैयतवाड़ी प्रथा बन्द की गयी और फिर खालसा भूमि में ठेकेदारी की प्रथा जारी कर दी गयी। इस भाँति उत्तरकालीन मुगलों के समय मे टोडरमल का बन्दोबस्त बिलकुल समाप्त हो गया और ठेकेदारी की प्रथा जारी हो गयी।

सम्पूर्ण मध्यकाल मे किसान और लगान उघाने वालों के बीच खींचातानी बनी रही, चाहे वे ठेकेदार रहे हो अथवा सरकारी अफसर। अमीन सरकार की आज्ञा के विरुद्ध अनेक प्रकार के करों के बहाने वास्तविक लगान से बहुत अधिक उघाने का प्रयत्न किया करते थे। ये इतने प्रकार के होते थे कि इनकी गणना करना भी सम्भव नही है। मुगल सम्राट इनको दूर करने का बारम्बार प्रयत्न किया करते थे। किन्तु ये किसी न किसी रूप में पुनः जारी हो जाते थे। किसान भी यथासम्भव कर देना नही चाहते थे क्योंकि वे अनुचित थे और समय-असमय वसूल किये जाते थे। इसका एक कारण यह भी था कि सारी भूमि सम्राट की समझी जाती थी और उसका यह अधिकार समझा जाता था कि वह किसानो के पास केवल गुजारे लायक अन्न छोड़कर उनसे अधिक से अधिक ले ले। इसके अतिरिक्त एक बात और थी कि लगान वसूल करने वाले अफसर अपने लिये नजराना, भेंट इत्यादि जबर्दस्ती वसूल कर लिया करते थे। इन सब कारणो से किसानो के पास बहुत अधिक बकाया रहता था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि अकबर और जहाँगीर के शासनकाल को छोड़कर सारे मुगलकाल मे किसानो की दशा असन्तोषजनक ही बनी रही।

मुद्रा और टकसाल

अर्थ विभाग मुद्रा का प्रबन्ध करता था और टकसाल तथा खजाने पर नियन्त्रण रखता था। बाबर और हुमायूँ ने तो पुरानी मुद्रा-प्रणाली को ही जारी रखा और उसी के आधार पर अपने नाम के सिक्के चलाये। शेरशाह ने इस प्रणाली मे उन्नति की और १७५-१८० ग्रेन का रुपया तथा ताँबे का दाम चलाया। १५७७ ई० में अकबर ने मुद्रा में सुधार किया और शीराज के ख्वाजा अब्दुलसमद को दिल्ली की शाही टकसाल का अधिकारी बनाया। उसने सोने, चाँदी और ताँबे के अनेक प्रकार के और अनेक तौलों के भिन्न-भिन्न सिक्के चलाये। केवल सोने के सिक्को के ही २६ भेद थे। चाँदी का मुख्य सिक्का रुपया था जो तौल मे ७२½ ग्रेन था। रुपया गोल और चौकोर दोनो प्रकार का था। ताँबे की प्रधान मुद्रा दाम थी जिसे पैसा या फूलूस भी कहा जाता था। इसकी तौल ३२३·५ ग्रेन (१ तोला ८ मासा ७ सुर्ख) होती थी। चालीस दाम का १ रुपया होता था। अकबर ने सिक्कों पर अपनी मूर्ति नही खुदवायी थी। जहाँगीर पहला सम्राट था जिसने सिक्को पर अपनी मूर्ति खुदवायी और उसके एक सिक्के पर तो सीधे हाथ मे शराब का प्याला लिये हुए उसकी मूर्ति अंकित है। जहाँगीर के एक चाँदी के सिक्के पर राशिचक्र भी है। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनो ने ही अकबर की मुद्रा-प्रणाली को जारी रखा किन्तु उन्होने सिक्को पर अपना नाम अवश्य खुदवा दिया। औरंगजेब के शासनकाल में इसमे थोडा-सा परिवर्तन हुआ और रुपये मे ½% वृद्धि कर दी गयी। मुगल-साम्राज्य के पतन तक यही प्रणाली जारी रही।

सिक्कों के लिए सोना-चाँदी अधिकतर विदेशों से मंगाया जाता था और अधिकांश भाग पूरबी अफ्रीका से आता था। कोई भी व्यक्ति सोना-चाँदी का देश से निर्यात नहीं कर सकता था। विदेशो से जो सोना-चाँदी आता था वह सिक्को के ढालने, गहने अथवा दूसरी विलास-वस्तुओ के बनाने तथा खजाना जमा करने के काम आता था। राजपूताना, मध्य भारत तथा हिमालय पर्वतमाला में ताँबा बहुत पाया जाता था।

न्याय-व्यवस्था

सल्तनत काल में न्याय-व्यवस्था इस्लाम के कानूनों पर आधारित थी। इसके अनुसार जनता मुसलमान और गैर-मुसलमान दो वर्गों में बँटी हुई थी और गैर-मुसलमान राज्य के नागरिक नही समझे जाते थे। बादशाह इस्लाम के कानूनो के अनुसार ही सब मुकदमों का फैसला करता था चाहे वादी और प्रतिवादी मुसलमान हों या गैर-मुसलमान। बाबर और हुमायूँ तक यह प्रथा जारी रही। अकबर ने इस्लामी राज्य-प्रणाली को अस्वीकार कर दिया था किन्तु उसने भी न्याय-व्यवस्था मे कोई मौलिक परिवर्तन नही किया। इसने इसमे छोटे-छोटे सुधार कर इसे अधिक उपयोगी अवश्य बना दिया। अकबर ने महत्त्वपूर्ण सुधार यह किया कि उसने इस्लामी कानून के क्षेत्र सीमित कर देश के सामान्य एवं प्रचलित कानून को बढावा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिक से अधिक मुकदमों का निर्णय देश के सामान्य कानून के अनुसार होने लगा। उदाहरण के लिए, इस्लामी कानून यह था कि जो व्यक्ति इस्लाम धर्म छोड़ दे अथवा ईसाई या हिन्दू धर्म का प्रचार करे उसे प्राणदण्ड दिया जाय, किन्तु अकबर ने इस्लामी कानून को रद्द कर दिया और हिन्दुओं के मुकदमों का निर्णय करने के लिए हिन्दू न्यायाधीश ही नियुक्त किये। इन सुधारों को छोड़कर अकबर के शासनकाल में भी न्याय-व्यवस्था प्रायः वही रही जो सम्पूर्ण मुगल काल में प्रचलित थी।

सम्पूर्ण मुगल काल में सम्राट न्याय का उद्गम माना जाता था। उसने न्याय के लिए बुधवार निश्चित कर दिया था। इस दिन वही खुले न्यायालय में न्याय किया करता था। शाही अदालत में प्रधान काजी, दूसरे न्यायाधीश तथा धर्माचार्य उपस्थित रहते थे। सम्राट अपील की सबसे बडी अदालत होता था, किन्तु कभी-कभी वह प्रथम बार भी मुकदमे सुन लिया करता था। परन्तु न्याय के लिए सम्राट तक पहुँचना कठिन काम था और सम्राट के पास न्याय करने के लिए समय भी बहुत कम होता था।

सम्राट की अदालत से नीची अदालत प्रधान काजी की होती थी। काजी कुरान के कानून के अनुसार राजधानी मे मुकदमे किया करता था। उसकी अदालत मे भी अपीलें सुनी जाती थीं, किन्तु कभी-कभी वह भी प्रारम्भिक मुकदमों को सुन लिया करता था। प्रत्येक प्रान्त की राजधानी मे एक प्रान्तीय काजी रहता था जिसे साम्राज्य का प्रधान काजी नियुक्त करता था। प्रत्येक कस्बे मे एक काजी रहता था और जिस बड़े गाँव मे मुसलमानों की अधिकता होती थी वहाँ भी काजी नियुक्त कर

दिया जाता था। "प्रान्तीय काजी का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता था और उसे कोई स्थानीय सहायक भी नही मिलता था, अत: वह स्वय प्रान्त के बहुत कम मुकदमो का फैसला कर पाता था।" (Sarkar, Mughal Administration, pp 96-97) इस कारण गाँव, कस्बो एवं नगरो के मुकदमो का निर्णय अधिकांशत: पंचायतो द्वारा ही किया जाता था। मुगलों के शासन-प्रबन्ध मे न्याय विभाग के समान निकम्मा शायद कोई दूसरा विभाग नही था। केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण मे श्रेणीबद्ध न्यायालय नही थे। न तो सारी जनता के लिए एक कानून था और न कानून की व्याख्या करने वाला कोई सर्वोच्च न्यायालय ही था। मुगलो के शासनकाल मे तीन प्रकार के अलग-अलग अदालती विभाग थे, जो स्वतन्त्रतापूर्वक काम करते थे। इनमे से धार्मिक कानून की अदालतें काजी के अधीन, सर्वसाधारण के कानून की अदालते राज्यपाल तथा दूसरे अधिकारियो के अधीन तथा राजनीतिक अदालतें सम्राट अथवा उसके प्रतिनिधि के अधीन होती थी।

(१) **धार्मिक कानून की अदालतें**—प्रारम्भ मे तो काजी ही दीवानी और फौजदारी के सब मुकदमो का न्याय किया करता था किन्तु मुगलो के समय मे यह प्रथा बन्द कर दी गयी और काजी केवल धर्म सम्बन्धी मुकदमो का निर्णय ही करने लगा। इनमें से कुछ मुकदमे तो पारिवारिक अथवा पैतृक कानून से सम्बन्ध रखते थे और कुछ धार्मिक दान इत्यादि से। इनका निर्णय कुरान के कानून के अनुसार होता था। काजी अपने पहले के काजियों एवं मुफ्तियो की व्याख्या तथा नजीरो को मानने के लिए बाध्य होता था। मुफ्ती की मौलिक उपाधि वकीले-शरा अथवा कुरान-कानून-विशारद थी। यह आजकल के एडवोकेट जनरल से मिलता-जुलता था और काजी पर इसका बहुत अधिक प्रभाव रहता था। काजी का काम वक्फ तथा अनाथ एवं दीन-अपाहिजों के लिए लगी हुई रियासतों का प्रबन्ध करना भी होता था। जिन मुसलमान स्त्रियो के सम्बन्धी पुरुष नहीं होते थे उनके मेह्र (शादी के प्रमाणपत्र) भी काजी ही तैयार करता था। काजी के न्यायालय मे गैर-मुसलमानो की गवाही मान्य नही थी।

काजी मुस्लिम अथवा कुरानी कानून के अनुसार न्याय किया करता था क्योकि राज्य मे दूसरा कानून मान्य नहीं था। इस्लामी कानून का जन्म भारत के बाहर हुआ था और यह व्याख्या के आधार पर न बनकर ईश्वरीय देन के आधार पर बना था। इस कानून के दो और आधार थे अर्थात नजीरें और कानून-विशारदों की सम्मतियाँ। उल्लेखनीय बात यह है कि ये दोनो कुरानी कानून की केवल व्याख्या कर सकते थे, उसमे कुछ घटा-बढा नही सकते थे क्योकि कुरान ईश्वरीय ग्रन्थ समझा जाता है। एक बात और थी कि सभी इस्लामी कानूनों के आधार विदेशी होने के कारण बड़े से बडे विद्वान हिन्दुस्तानी काजी का निर्णय भी कानूनी सिद्धान्त बनाने के के लिए मान्य नही समझा जाता था। कुरान के गूढ़ रहस्यो की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए अथवा कुरानी कानून के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए वह उसमें कुछ घटा-बढा नहीं सकता था। "जिन कानूनो के विषय मे कुरान मे स्पष्टता न होती उसके

विषय मे भी वह अपना निजी मत नही दे सकता था ।" अत. हिन्दुस्तानी काजियो को मुस्लिम विचारधारा के चार प्रकार के कानूनशास्त्रियो के मत पर ही निर्भर रहना पडता था । ये चार मत के विद्वान थे : (१) हनफी, (२) मलकी, (३) शफी और (४) हमवली । मुगल सम्राट हनफी विचारधारा के मानने वाले थे जो सुन्नी कट्टर-पन्थी थी । औरगजेब ने दो लाख रुपये व्यय करके कानूनशास्त्रियों द्वारा हनफी कानूनो का सग्रह करवाया जो फतवा-ए आलमगीरी नाम से प्रसिद्ध हुआ । इन सब कारणों से भारत में न तो मुसलमानी कानून मे कोई वृद्धि हुई और न परिवर्तन ही हुआ । किन्तु कानूनशास्त्रियो ने जितना परिवर्तन अरब और ईरान के कानूनो में किया, उतना परिवर्तन यहाँ अवश्य हुआ ।" (Sarkar, Mughal Administartion p. 101)

अत हम देखते हैं कि मध्यकालीन भारत के सम्पूर्ण इतिहास मे गैर-मुसलमानी जनता को न्याय-व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़े । इसका कारण एक तो पहले बताये गये न्याय विभाग सम्बन्धी दोष थे, दूसरे मुसलमानी राज्य में धार्मिक कानून और दीवानी कानून अलग-अलग नही थे । अकबर ने शासन के अन्य अंगो में तो सुधार किया, किन्तु उसने फौजदारी कानून में कोई हस्तक्षेप नही किया, अतः यह इस्लामी कानून के आधार पर ही चलता रहा ।

(२) **सार्वजनिक न्यायालय**—सार्वजनिक न्यायालय के प्रधान राज्यपाल, दूसरे स्थानीय पदाधिकारी, फौजदार और कोतवाल होते थे । अकबर के शासनकाल मे हिन्दुओं के मुकदमो का निर्णय करने के लिए ब्राह्मण पण्डित नियुक्त किये गये थे । ग्राम-पंचायतें तथा जाति-पचायतें भी यह काम ही किया करती थीं । सार्वजनिक न्यायालयों में न्यायाधीश काजी के अधीन नही थे । काजी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था और वे शरियत अथवा कुरानी कानून के अनुसार न्याय न करके प्रचलित रीति-रिवाजो के अनुसार न्याय करते थे ।

(३) **राजनीतिक न्यायालय**—विद्रोह, गबन, सिक्कों में मिलावट, दगे, चोरी, डकैती, राज्य के पदाधिकारियों की हत्याएँ इत्यादि के मुकदमों का निर्णय सम्राट अथवा उसके प्रतिनिधि प्रान्तीय राज्यपाल, फौजदार या कोतवाल द्वारा किया जाता था । इनका निर्णय राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार होता था, कुरान के कानून के अनुसार नही । इसके अलावा काजी इसमे हस्तक्षेप नही कर सकता था ।

अपराधों के प्रकार

इस्लामी धर्मशास्त्र के अनुसार अपराध तीन प्रकार के थे अर्थात (१) ईश्वरीय अपराध, (२) राज्य अपराध, और (३) व्यक्तिगत अपराध ।

ईश्वरीय अपराध अक्षम्य समझे जाते थे और इनके अपराधी को दण्ड अवश्य मिलता था । इन अपराधों का सम्बन्ध ईश्वरीय नियमो के उल्लंघन से था, अतः इनको 'हक अल्लाह' कहा जाता था । दूसरे दोनो प्रकार के अपराध क्षम्य तथा अपराधी से सन्धि करने योग्य होते थे । कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य-हत्या न तो ईश्वरीय

अपराध समझा जाता था और न शान्ति भंग करने वाला, किन्तु मृत व्यक्ति के परिवार की हानि मात्र ही समझा जाता था। इसके लिए ही हत्यारा मृत व्यक्ति के निकटतम सम्बन्धी को क्षतिपूर्ति का रुपया (खून का मूल्य) देकर उससे समझौता कर सकता था। फिर राज्य का प्रधान प्रबन्धक अथवा जज इस पर कोई ध्यान नही देता था। किन्तु जब मृत व्यक्ति के सम्बन्धी धन लेना अस्वीकार कर देते थे और बदले की जोरदार मांग करते थे तब काजी को प्राणदण्ड की घोषणा करनी पडती थी और प्रबन्धक को प्राणदण्ड देना पड़ता था। (Sarkar, Mughal Administration, p 102)

मुस्लिम कानून में दण्ड-विधान

अपराधो के लिए चार प्रकार के दण्ड थे अर्थात (१) हद्द, (२) ताजिर-(३) किसास, और (४) तशहीर। इनके अतिरिक्त एक और अपराध था जो हाजत या हवालात कहलाता था।

(१) हद्द—यह ईश्वरीय अपराध का दण्ड था और इसे कोई भी क्षमा नहीं कर सकता था। हद्द के अन्तर्गत निम्नलिखित अपराध और उनके दण्ड निर्धारित थे :

अपराध	दण्ड
(१) पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष के साथ व्यभिचार	पत्थर मार-मारकर मार डालना
(२) कुमार अथवा कुमारी के साथ व्यभिचार	१०० कोडे
(३) विवाहिता स्त्री पर व्यभिचार का मिथ्या आरोप	८० कोड़े
(४) शराब और मादक पदार्थ का पीना	८० कोड़े
(५) चोरी	सीधे हाथ का काट देना
(६) खुले मार्ग मे डकैती	हाथ-पैरों को काट देना
(७) डकैती और हत्याएँ	तलवार अथवा फांसी से हत्या
(८) धर्म-त्याग (कुफ)	मृत्यु

(२) ताजिर—इसके अन्तर्गत वे अपराध थे जिनका उल्लेख हद्द के अन्दर विशेष रूप से नही किया गया था। ताजिर के अन्दर आये हुए अपराधों का दण्ड देना जज की इच्छा पर निर्भर था। यदि वह चाहता तो अपराधी को बिलकुल छोड़ सकता था क्योंकि ताजिर के अपराध 'हक अल्लाह' के अन्दर नहीं आते थे और केवल अपराधी को सुधारने के लिए दिये जाते थे। इस प्रकार के अपराधों के लिए निम्न प्रकार के दण्ड दिये जाते थे, जैसे लोक-निन्दा, अपराधी को न्यायालय के द्वार तक घसीटना, जनता से निन्दा कराना, कारावास, देश-निष्कासन, कान ऐंठना अथवा ३ से ७५ तक कोडे लगवाना। ये दण्ड अपराधी की प्रतिष्ठा के अनुसार दिये जाते थे। कभी-कभी जुरमाना भी कर दिया जाता था।

(३) **विकास अथवा बदला**—हत्या अथवा गहरी चोट के लिए प्राय: बदले का दण्ड ही दिया जाता था। चोट खाये हुए व्यक्ति का अथवा मृत व्यक्ति के निकटतम सम्बन्धी का यह व्यक्तिगत अधिकार था कि वह बदला अथवा क्षतिपूर्ति की माँग करे। दोनों पक्षों के राजी न होने पर मुकदमा काजी के पास भेजा जाता था। यदि मृत व्यक्ति के सम्बन्धी घातक द्वारा दिये गये धन से सन्तुष्ट हो जाते थे अथवा बिना क्षतिपूर्ति के ही घातक को क्षमा कर देते थे तो सम्राट कुछ भी ध्यान नही देता था। छोटे-छोटे अपराध के लिए तो मूसा के कानून के अनुसार 'दाँत के लिए दाँत और आँख के लिए आँख' का मुहावरा चरितार्थ होता था, किन्तु इसमे कुछ अपवाद भी रहते थे।

(४) **तशहीर अथवा सार्वजनिक निन्दा**—यह कानून इस्लामी कानून पुस्तकों मे मान्य था और इतिहास के सारे मध्यकाल मे मुगल सम्राट और काजी इसके अनुसार निर्णय किया करते थे। यह कानून हिन्दुओ के लिए भी मान्य था। तशहीर अपराध मे प्राय: अपराधी का सिर मुडवाना, गधे की पूँछ की तरफ अपराधी का मुँह करवाकर उस पर बिठाना, मुँह पर धूल पोत देना, कभी-कभी जूँतो का हार पहनाकर गाजे-बाजे के साथ नगर की मुख्य-मुख्य सडको मे घुमाना, इत्यादि थे। कभी-कभी अपराधी का मुँह काला कर दिया जाता था।

कुरान मे राज-विद्रोह, राज्य के धन दुरुपयोग और लगान न देना इत्यादि अपराधो के विषय मे कोई स्पष्ट कानून नही था, अत: इस प्रकार के अपराधो का दण्ड सम्राट अपनी इच्छा के अनुसार देता था। प्राणदण्ड अपराधी को हाथी से कुचलवाकर, जिन्दा जलाकर, कोबरा साँप से कटवाकर अथवा दबाकर दिया जाता था। अनेक प्रकार की अन्य यन्त्रणाएँ भी दण्ड के लिए सामान्य रूप से प्रचलित थी। मृत्युदण्ड निम्न अपराधो के लिए दिया जाता था :

(१) डाके मे की गयी हत्याएँ।

(२) हत्या, जबकि मृत व्यक्ति का निकटतम सम्बन्धी क्षतिपूर्ति का धन लेना अस्वीकार कर दे।

(३) पर-पुरुष अथवा पर-स्त्री से व्यभिचार।

(४) इस्लाम् धर्म का त्याग।

(५) नास्तिकता।

(६) पैगम्बर (साब्ब-अल रसूल) का अपमान।

इसके अतिरिक्त हनफी मुस्लिम कानून के अनुसार जिसका मुगल सम्राट पालन करते आये थे, निम्नलिखित तीन हत्याएँ कानून-सम्मत समझी जाती थी :

(१) उन सम्बन्धियो की हत्या जो इस्लाम मे विश्वास नही रखते थे और जिन्होने पैगम्बर अथवा अल्लाह का अपमान किया था।

(२) उस गैर-मुसलमान युद्धबन्दी की हत्या जिसकी मुक्ति और प्राणदण्ड के कारण समान हो।

(३) आत्मरक्षा, समृद्धि-रक्षा और सहायक-रक्षा मे किसी की हत्या करना ।

ऋण अथवा दूसरे छोटे-छोटे अपराधो के लिए प्राय कारावास का दण्ड दिया जाता था ।

धार्मिक नीति

कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि मुगलकाल मे पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता थी और उन्होने प्रत्येक जाति को धार्मिक स्वतन्त्रता दे रखी थी । किन्तु समकालीन लेखो के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि उनका यह विश्वास भ्रमपूर्ण है । २०० वर्ष से कुछ ही अधिक (१५२६-१७४८ ई०) के मुगलकाल मे केवल अकबर के शासन-काल के ४० वर्षों (१५५६-१६०५ ई०) मे ही हिन्दुओ को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता रही । जहाँगीर के शासनकाल (१६०५-१६२७ ई०) मे धार्मिक सहिष्णुता कुछ कम हो गयी; शाहजहाँ के शासनकाल (१६२८-१६५७ ई०) मे इनमे और कमी आ गयी और अकबर के पूर्व दिनों की धार्मिक नीति अपनाने की प्रवृत्ति दिखायी देने लगी । यह सर्वविदित तथ्य है कि औरंगजेब ने अकबर की धार्मिक नीति का त्याग कर गैर-मुसलमानो के प्रति किसी धार्मिक सहिष्णुता को सहन नहीं किया । उसके उत्तराधिकारी भी उसी के पदचिह्नो पर चले और मुगलकाल के पतन तक धार्मिक असहिष्णुता सिद्धान्त रूप मे विद्यमान रही । इन सब कारणो से स्पष्ट है कि मुगल-काल मे पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता नही रही थी । सच तो यह है कि यह युग दो शक्तियों के सघर्ष का युग था अर्थात यह युग धार्मिक सहिष्णुता और मुस्लिम धर्मान्धता का युग था जिसके अन्त से धर्मान्धता की विजय हुई ।

यद्यपि बाबर सल्तनत काल के शासकों की अपेक्षा अधिक सुसस्कृत और उदार था किन्तु उसने इस्लाम धर्म को पूर्ण महत्त्व देकर कुरान की नीति का ही अनुकरण किया और गैर-मुसलमानों को धार्मिक स्वतन्त्रता कभी भी नही दी । उसने अपने संस्मरण में हिन्दुओ को काफिर और उनके विरुद्ध किये गये युद्धो को धार्मिक युद्ध (जिहाद) कहा है । राणासाँगा को तो वह अभिशप्त काफिर समझता था । बाबर ने इस वीर योद्धा राजपूत सरदार और चन्देरी के मेदिनीराय के विरुद्ध जो युद्ध किये, उन्हें काफिरो के विरुद्ध इस्लाम की विजय कहकर पुकारा है । यह सुसस्कृत सम्राट भी हिन्दुओं की मृत्यु का वर्णन करते समय लिखता था कि अमुक काफिर जहन्नुम मे चला गया । उसने मुसलमानों को स्टाम्प-करो से मुक्त कर दिया और उन्हें केवल हिन्दुओं पर ही लगाया । उसने चन्देरी के हिन्दू मन्दिरों को ढाया और उसकी आज्ञा से उसके एक अफसर ने जिसका नाम बकी था, अयोध्या (फैजाबाद) के उस मन्दिर को गिरवा दिया जो श्रीरामचन्द्र के जन्म-स्थान में बना था । उसने इसके स्थान पर १५२८-२९ ई० में एक मस्जिद बनवा दी । मस्जिद के शिलालेख के लिए देखो, (Journal of the U.p Historical Society, 1936) उसके शासनकाल में दूसरे हिन्दू और जैन मन्दिर भी गिराये गये । प्रोफेसर श्रीराम शर्मा लिखते हैं कि "ऐसा कोई कारण

नहीं है जिससे यह विश्वास किया जा सके कि बाबर ने प्रचलित धार्मिक नीति की कडाई में किसी प्रकार की शिथिलता कर दी थी।"[1]

जहाँ तक हिन्दुओ के प्रति धार्मिक नीति अपनाने का सम्बन्ध है; हुमायूँ ने अपने पिता के पदचिह्नों का अनुसरण किया। उसने बहादुरशाह पर उस समय आक्रमण करना स्वीकार नही किया जबकि वहादुरशाह चित्तौड़ के राजपूतों के साथ युद्ध करने मे फँसा हुआ था, क्योकि वह अपने एक मुसलमान भाई पर उस समय हमला करके अपयश लेना नही चाहता था जबकि वह (मुसलमान भाई) काफिरों को हराकर धार्मिक यश प्राप्त कर रहा था। शिया-समुदाय को सहन करने के लिए भी हुमायूँ को कुछ परिस्थितियो ने ही विवश कर दिया था। हुमायूँ को भारत के बाहर खदेड़ने वाला अफगानी शासक शेरशाह भारत में इस्लाम के झण्डे को फहराने के लिए हुमायूँ से भी अधिक इच्छुक था। उसने जोधपुर ने प्रधान मन्दिर को तोडकर उसे मस्जिद बना दिया, जो प्रमाणस्वरूप आज भी खड़ी हुई है। उसने रायसीन के पूरनमल के विरुद्ध जिहाद इसीलिए बोला कि वह एक घोर नास्तिक (काफिर) को दबाकर धार्मिक यश प्राप्त कर सके। शेरशाह का उत्तराधिकारी इस्लामशाह तो मुस्लिम उलेमाओं के हाथ की कठपुतली मात्र था। उसकी धार्मिक नीति तो हिन्दू तथा मुसलमान काफिरों को सताने की ही रही थी।

अकबर महान ही ऐसा था जिसने साम्राज्य की धार्मिक नीति में पूर्ण परिवर्तन कर दिया। उसका विश्वास था कि 'सत्य सर्वव्यापी है' उसने सबसे पहले १५६३ ई० में उस तीर्थयात्रा-कर को हटाया जिसे केवल हिन्दुओ को ही देना पडता था। इसके बाद १५६४ ई० में उसने जजिया जैसे घृणित कर को हटाकर अपनी सारी प्रजा को समान नागरिक अधिकार दे दिये। इसके अनन्तर उसने उन सब धार्मिक प्रतिबन्धों को उठा लिया जो गैर-मुसलमानो पर लगे हुए थे, जिनमें मन्दिरो और गिरजाघरों को बनाना भी था। उसने अपने ही महल मे अपनी हिन्दू रानियो को मूर्तियों की स्थापना और पूजा की आज्ञा देकर इस मिथ्या धारणा का भी अन्त कर दिया था कि हिन्दुओं के सार्वजनिक उत्सवों में सम्मिलित होने से मुसलमानो के कान और नेत्र अपवित्र हो जाते हैं। उसने बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये हिन्दुओ की शुद्धि की भी आज्ञा दे दी।" **(बदायूंनी, जिल्द २, पृष्ठ ३६८)** ईसाइयों को भी १६०३ ई० मे उसने ईसाई बनने के इच्छुकों को ईसाई बना लेने की आज्ञा दे दी। उसने इस्लाम को राज्य का धर्म न रखकर सभी धर्मों को समानाधिकार दिया। साम्राज्य मे हिन्दुओ की संख्या अधिक होने के कारण उसने हिन्दुओ की धार्मिक भावनाओं के प्रति आदर प्रदर्शित करने के

---

[1] भोपाल का वह लेख जिसको बाबर का वसीयतनामा समझा जाता है और जिसमे बताया गया है कि बाबर ने हुमायूँ को यह आदेश दिया था कि तुम हिन्दुओं के साथ सहनशीलता का व्यवहार करना और गौ-हत्या बन्द करवा देना; केवल जाली लेख है और विश्वसनीय नही है।

लिए शाही रसोईघरों मे गौ-मांस का निषेध करा दिया और वर्ष मे कितने ही दिनों के लिए पशु-बध भी बन्द करा दिया। उसने मांस खाना छोड-सा दिया और हिन्दुओ की वेशभूषा तथा रहन-सहन को अपना लिया। वह रक्षाबन्धन, दीपावली, बसन्त और शिवरात्रि इत्यादि हिन्दू उत्सवा मे सम्मिलित होता था। उसने गैर-मुसलमानो के लिए भी बडी-बडी नौकरियो का द्वार खोल दिया था। इस प्रकार उसने पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता के नये युग को जन्म दिया।

अकबर इतने से ही सन्तुष्ट नही हुआ। उसने देश के विद्वानो की धार्मिक एकता का प्रबल प्रयत्न किया और अपने नाम से 'दीने इलाही' धर्म चलाया। इस धर्म के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो का वर्णन पिछले अध्याय मे किया जा चुका है, अतः उनकी पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नही है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दीने इलाही की स्थापना प्रशसनीय उद्देश्य को लेकर हुई थी और इसका अभिप्राय धार्मिक कटुता एव सघर्ष को दूर करना था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अकबर अपने इस उद्देश्य मे असफल रहा। उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनो ही इतने कट्टर थे कि वे अपने परम्परागत विश्वास और रीति-रिवाजों को छोड़ने की बात सोच भी नही सकते थे।

जब जहाँगीर गद्दी पर बैठा तब मुस्लिम उलेमाओं ने खोये हुए प्रभाव को प्राप्त करने का पुन. प्रयत्न किया और धार्मिक सहिष्णुता का अन्त करने के लिए नये सम्राट पर जोर डाला। इस प्रयत्न से वे असफल रहे क्योंकि जहाँगीर अपने पिता के मार्ग से नही हटना चाहता था। किन्तु वह अपने क्षेत्र मे इस्लाम के भविष्य के विषय मे अधिक रुचि लेने लगा। वह जब तब हिन्दू और ईसाइयो को मुसलमान बना लेता था और उन मुसलमान नवयुवकों को दण्ड देता था जो हिन्दू संन्यासियो के पास जाते थे या हिन्दू धर्म में अपनी आस्था रखते थे। उसने अपने शासन के पन्द्रहवें वर्ष मे काश्मीर में राजौरी के हिन्दुओं को मुसलमान लडकियो के साथ विवाह करने का निषेध कर दिया था। उसने सिक्खो के गुरु अर्जुन के साथ जो दुर्व्यवहार किया, उसका कारण कुछ अंश मे धार्मिक भी था और गुजरात के जैनियों के साथ भी उसने इसी कारण को लेकर कठोरता का व्यवहार किया। इन छोटी-मोटी भूलो को छोड़कर जहाँगीर ने अपने पिता की धार्मिक सहिष्णुता की नीति को ही अपनाया और मुसलमान तथा गैर-मुसलमानो में बहुत थोड़ा भेदभाव रखा। उसने जैनियों को छोड़कर अन्य मतावलम्बियों की धार्मिक भक्ति एव धार्मिक मेले और उत्सवो पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया। प्रो० श्रीराम शर्मा लिखते हैं, "इन सब बातो के साथ-साथ जहाँगीर कभी-कभी इस्लाम के रक्षक का रूप धारण कर लेता था और कभी-कभी अपने को बहुसख्यक गैर-मुसलमानो का राजा भी नही समझता था। इस प्रकार अकबर के उदार दृष्टिकोण का हल्का-सा पतन आरम्भ हो गया।" (Religious Policy of the Mughal Emperors, p. 90.)

जहाँगीर का उत्तराधिकारी शाहजहाँ कट्टरपन्थी मुसलमान था। उसने अपने

दरबार में इस्लामी वातावरण को पैदा करने का प्रयत्न किया। उसने सिजदा (अर्थात सम्राट के सम्मान में साष्टांग प्रणाम) करने का निषेध कर दिया और हिन्दुओं की तुलादान रीति तथा रक्षाबन्धन, दशहरा और बसन्त इत्यादि उत्सवों को, जो राजदरबारों में मनाये जाते थे, बन्द करवा दिया। उसने हिजरी सन् को फिर से जारी कर दिया। उसने ईद, शबे बरात, मिल्लद और बारावफात इत्यादि मुसलमानी त्यौहारों को दरबार में कट्टर मुसलमानी रीति से मनाना आरम्भ कर दिया। उसने एक नयी बात और की कि हिन्दू राजाओं के राज्याभिषेक के समय उनके मस्तक पर तिलक करने का काम अपने प्रधानमन्त्री को सौंप दिया, जिसे उसके पूर्वाधिकारी सम्राट स्वयं करते आये थे। उसने हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा-कर फिर लगा दिया और केवल अपने बनारसी दरबारी कवि कवीन्द्राचार्य को बहुत अधिक प्रार्थना करने पर इससे मुक्त किया। शाहजहाँ इन कामों से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ बल्कि उसने नये मन्दिरों का निर्माण और पुरानों का जीर्णोद्धार भी बन्द करवा दिया। उसने नये मन्दिरो के गिरवाने का काम भी आरम्भ करवा दिया। इसके परिणामस्वरूप गुजरात के ३, बनारस और उसके आसपास के ७२, इलाहाबाद, काश्मीर और दूसरे प्रान्तों के अनेक मन्दिर गिरवा दिये गये। सेना-यात्रा के मार्ग मे जितने भी मन्दिर पड़ते थे, सम्राट उन्हे बिना किसी सोच-विचार के गिरवा देता था। बुन्देलखण्ड में भी ऐसा ही किया गया था। उसके शासनकाल में औरंगजेब गुजरात का वायसराय था, उसने अनेक मन्दिर गिरवाये, जिनमे सरसपुर के निकट चिन्तामणि मन्दिर उल्लेखनीय है। शाहजहाँ हिन्दुओं के नये मन्दिरो के गिराने के साथ-साथ पुरानी रीति के अनुसार विद्रोही सरदार और शत्रुओं के तीर्थस्थानों को भी भ्रष्ट करने लगा। हिन्दू मन्दिरों के मलवे से उसने मस्जिद बनवायीं। शायद दारा के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उसका यह धर्मोन्माद रुक गया और उसने मन्दिरों का गिरवाना तो बन्द करवा दिया, किन्तु अपने सम्पूर्ण शासनकाल में धर्म-परिवर्तित हिन्दुओं को शुद्ध करने की निषेधाज्ञा जारी ही रखी। जम्मू के वधौरी और भीमवार में हिन्दू-मुसलमानो के अन्तर्जातीय विवाह प्रायः हुआ करते थे, किन्तु शाहजहाँ ने इस पर रोक लगा दी। इस क्षेत्र के हिन्दू मुसलमान लड़कियो सें विवाह कर उन्हें अपने धर्म में मिला लिया करते थे। शाहजहाँ ने आज्ञा दी कि धर्म-परिवर्तित मुस्लिम कन्याओं को उनके पिता के पास पहुँचाया जाय और उनसे विवाह करने वाले हिन्दू या तो जुरमाना दे अथवा मुसलमान हो जायँ। उसने दलपत नाम के एक हिन्दू को केवल इसलिए प्राणदण्ड दिया कि उसने एक मुस्लिम कन्या को हिन्दू बनाकर उसके साथ विवाह कर लिया था और एक मुसलमान लड़के तथा ६ लड़कियों का पालन-पोषण किया था। सम्राट ने युद्धबन्दियों को मुसलमान बनाने की पुरानी प्रथा को फिर जारी कर दिया। उसने यह भी फरमान निकाला कि मुसलमान युद्धबन्दियो को दास के रूप में हिन्दुओं के हाथ न बेचा जाय। उसने इस पुरानी इस्लामी प्रथा को भी जारी किया कि यदि अपराधी इस्लाम को अपनाना स्वीकार कर लें तो उन्हें क्षमा कर दिया जाय। उसने इस्लाम, पैगम्बर और कुरान

प्रयत्न नही किया। वह कर के विषय मे हिन्दुओं के साथ पक्षपात करता था। उसने मुसलमानो को तो चुगी से मुक्त कर दिया था, किन्तु हिन्दुओ पर ५ प्रतिशत की पुरानी चुगी पूर्ववत जारी रखी। हिन्दुओ के बगीचो की पैदावार पर २० प्रतिशत कर और मुसलमानों की पैदावार पर केवल १६.६ प्रतिशत ही कर लगाया। पशुओ की बिक्री पर हिन्दुओ को ५ प्रतिशत कर देना पडता था और मुसलमानो को केवल २ प्रतिशत। हिन्दुओ को आज्ञा थी कि वे मुसलमानो जैसे कपडे न पहनें और राजपूतों को छोडकर कोई भी हिन्दू इराकी अथवा तूरानी घोडे, हाथी और पालकी पर न चढे। उन्हें हथियार लेकर जनता मे घूमने की भी आज्ञा न थी।

मुसलमान बनने के लिए अनेक प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाता था। जो अपराधी मुसलमान बन जाता था, वह छोड दिया जाता था, इसके अतिरिक्त मुसलमान बनने वालों को सरकारी नौकरियाँ तथा अनेक प्रकार के इनाम दिये जाते थे। मुसलमान बनने के लिए हिन्दू जनता पर अनेक प्रकार के दबाव डाले जाते थे। न्याय सम्बन्धी मुसलमानी कानून को और कडा बना दिया गया था, जिससे हिन्दू अपने परम्परागत धर्म को छोड़कर मुसलमान बन जायें। इस प्रकार हम देखते हैं कि औरंगजेब के शासनकाल में साम्राज्य इस्लाम के प्रचार के हेतु बलवान संस्था बन गयी थी और राज-धन तथा शक्ति इस्लाम के प्रचार के काम में लगाया जा रहा था। अकबर ने सोलहवी शताब्दी मे धार्मिक सहिष्णुता की जिस नीति को अपनाया था, औरंगजेब ने सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उसका पूर्णतः त्याग कर दिया।

धार्मिक असहिष्णुता की नीति उत्तरकालीन मुगल सम्राटों के दिल्ली दरबार मे तब तक जारी रही जब तक वे अपने मन्त्रियो के हाथ की कठपुतली नही बन गये। बहादुरशाह की सरकार (१७०७-१७११ ई०) बडी कठोर थी और मुसलमानों के साथ पक्षपात करती थी। उसके काल में जजिया और तीर्थयात्रा-कर पहले की भाँति ही जारी रहे। उसका उत्तराधिकारी जहाँदारशाह उसी के पदचिन्हो पर चलता रहा। इन दोनों सम्राटों के शासनकाल में शाही दरबार में न तो कोई विशेष योग्य हिन्दू था न कोई उच्च पद पर ही कोई योग्य हिन्दू प्रतिष्ठित किया गया। किन्तु जब १७१३ ई० से फर्रुखसियर सम्राट हुआ और सैय्यद भाइयों ने राजनीति को अपने हाथ में ले लिया, तब जजिया जैसा घृणित कर उठा लिया गया था। किन्तु तीर्थयात्रा-कर अब से मुगल-साम्राज्य के अन्त समय तक जारी रहा। मुहम्मदशाह के बाद दिल्ली के जितने भी शासक हुए, वे मराठों से सदा डरते रहे और अपनी हिन्दू जनता के सताने का विचार स्वप्न में भी नही कर सके। अतः यह उत्तरकालीन मुगल सम्राटों की दुर्बलता के कारण ही था कि उनके समय मे औरंगजेब के समय के इस्लामी-साम्राज्य के सिद्धान्त अमान्य हो गये।

मुगलों की राजपूत नीति

बाबर और हुमायूँ आमेर तथा मेवाड़ के राजाओ के सम्पर्क में आये और उन्होंने उनके साथ युद्ध भी किये, किन्तु वे इन्हें अपनी अधीनता मे पूर्णतः न ला

सके। वे अच्छे राजनीतिज्ञ नही थे, अतः वे राजपूतो की सन्धि और मित्रता के लाभ को न जान पाये। यह अकबर ही था जिसने राजस्थान के राजाओं के साथ बरती जाने वाली मुगल-नीति मे परिवर्तन कर दिया। किन्तु अकबर ने भी राजपूतो के साथ जो व्यवहार किया, वह भी न तो अविवेकपूर्ण भावनाएँ ही थी और न राजपूतों की वीरता, उदारता और देशभक्ति का सम्मान-मात्र ही था। उसने इस नीति को खूब सोच-समझकर अपनाया था। इसमे विवेकपूर्ण स्वार्थ, गुणो का आदर, न्याय और बराबरी के व्यवहार की भावना निहित थी। इसका एक कारण तो यह था कि उसके मुसलमान सरदार और अफसर स्वामिभक्त नहीं थे और बार-बार विद्रोह करते थे तथा दूसरे, इस देश के अफगान इसके शाही परिवार के जानी दुश्मन थे। इन कारणों से प्रेरित होकर अकबर ने अपने स्वार्थी सरदार और अफसरो को अपने वश में रखने के लिए राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने का निश्चय किया। यही कारण था कि अकबर ने राजपूतों की स्वामिभक्ति की परीक्षा अच्छी तरह कर लेने के बाद जनवरी १५६२ ई० में कछवाहा राजपरिवार के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें राज्यपाल तथा सेनापति जैसी ऊँची-ऊँची शाही नौकरियाँ दी। इसका परिणाम यह हुआ कि राजपूत जिन्होंने ३५० से अधिक वर्ष तक दिल्ली के तुर्की तथा अफगानी सुल्तानों से युद्ध किया था केवल तटस्थ ही न हो गये बल्कि मुगल-साम्राज्य के वे अब पूर्ण भक्त बन गये। इतना ही नहीं, उन्होंने देश में मुगल-साम्राज्य का प्रबल समर्थन किया और उसके विस्तार मे योग दिया। उन्होने अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में युद्ध, राजनीति, कर व्यवस्था, सामाजिक शासन-व्यवस्था एवं आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और कला सम्बन्धी उन्नति में खुलकर योग दिया। उनके सहयोग से मुगल-शासन न केवल सुरक्षित और स्थायी ही हुआ, अपितु देश में अभूतपूर्व आर्थिक समृद्धि और सांस्कृतिक पुनरुत्थान भी हुआ। उनके सहयोग से हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की एकता हुई, जो मुगल-शासन की अमूल्य देन थी। जहाँगीर ने अकबर की नीति को अपनाकर राजपूतों के साथ मित्रता का व्यवहार जारी रखा। किन्तु इस विषय में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जहाँगीर के शासन काल में राजपूत सरकारी नौकरियों में इतने अधिक नहीं रहे जितने अकबर के शासनकाल में थे। जहाँगीर के २२ वर्ष के शासनकाल में केवल तीन हिन्दू प्रान्तों के राज्यपाल थे और वह भी बहुत थोड़े समय के लिए। जहाँगीर के शासनकाल में हिन्दू दीवान कितने थे। इसका कुछ पता नहीं है। कथाकारों ने केवल मोहनदास नामक हिन्दू दीवान का उल्लेख किया है। हाकिन्स के कथनानुसार जहाँगीर हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों को अधिक चाहता था। (हाकिन्स, पृष्ठ १०६-१०७)

यद्यपि शाहजहाँ ने गद्दी पर बैठने के बाद सरकारी नौकरियों में केवल मुसलमानों को ही भरती करने के लिए आज्ञा निकाली थी, किन्तु वह इस आज्ञा को कार्यान्वित करने के लिए कोई कदम न उठा सका, अतः राजपूत उसके शासनकाल में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे। प्रोफेसर श्रीराम शर्मा की गणनानुसार शाहजहाँ के

शासन के ३१वे वर्ष मे २४१ मनसबदारो मे केवल ५२ हिन्दू थे, जो १,००० से ७,००० तक के मनसबदार थे। । उसके गद्दी पर बैठने के समय भी बहुत कम हिन्दू ही बड़े-बड़े पदो पर थे। यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि शाहजहाँ के शासनकाल मे राजपूतो अथवा हिन्दुओ को सरकारी नौकरियो से नही हटाया गया था। राज्यपाल और सेनापति के अतिरिक्त बहुत-से राजपूत और हिन्दू माल विभाग मे भी ऊँचे-ऊँचे पदो पर प्रतिष्ठित थे। जोधपुर का जसवन्तसिंह साम्राज्य का प्रधान सरदार और सातहजारी मनसबदार था और राजा रघुनाथ शासन के अन्त तक शाही दीवान रहा।

किन्तु औरगजेब के गद्दी पर बैठने पर राजपूतो के साथ बरती जाने वाली मुगलो की नीति मे निश्चित परिवर्तन हो गया जो हानिकारक सिद्ध हुआ। औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। क्योकि राजपूत हिन्दुओ के नेता थे और साम्राज्य मे मुसलमानो जैसा ही आधिपत्य रखते थे, वह हिन्दुओं और विशेषकर राजपूतो से घृणा करता था। जब तक आमेर के राजा जयसिंह और मारवाड के राजा जसवन्तसिंह जीवित रहे, तब तक उसने हिन्दुओ के विरुद्ध कोई कदम नही उठाया। दिसम्बर १६७८ ई० मे जसवन्तसिंह की मृत्यु हो जाने पर सम्राट अपने नंगे रूप मे आ गया और उसने मारवाड़ को साम्राज्य मे मिलाने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। उसने हिन्दुओ पर जजिया फिर लगा दिया और विरोध को शान्त करने तथा उनकी शक्ति को कम करने हेतु राठौर और सिसोदियो से युद्ध भी किया। इस नीति के विरोध मे राजस्थान, बुन्देलखण्ड तथा दूसरे प्रान्तो में विद्रोह की आग भडक उठी और बहुत कम राजपूत स्वामिभक्ति एवं श्रद्धा से साम्राज्य के सेवक रह गये। अब औरंगजेब मुसलमानों को खुलकर तरजीह देने लगा और उसने अनेक हिन्दुओ को नौकरी से अलग कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो राजपूत पहले सम्राट के प्रबल समर्थक और राज्य-विस्तार के साधन थे, अब वे ही उसके कट्टर शत्रु बन गये। वे सहयोग देना छोडकर उससे युद्ध करने लगे और उसकी मृत्यु के बाद तक विद्रोही बने रहे।

औरंगजेब के तात्कालिक उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम, जहाँदारशाह और फर्रुखसियर को भी राजस्थान के कुछ राजाओं से युद्ध करना पड़ा। राजपूतों ने पुष्कर में सभा करके यह निश्चय कर लिया कि वे अब मुगलों से किसी प्रकार का वैवाहिक सम्बन्ध नही रखेंगे और उनकी दासता छोड़ देगे। औरंगजेब का मित्र जयपुर का राजा भी इस सभा में सम्मिलित हुआ था। औरंगजेब तथा बहादुरशाह प्रथम की घातक नीतियों का परिणाम यह हुआ कि जिस समय मराठों, सिक्खों, जाटों तथा विदेशी आक्रमणकारी नादिरशाह और अब्दाली के साथ मुगलों का युद्ध हुआ, तब किसी भी प्रमुख राजपूत राजा ने उसका साथ नहीं दिया। जयपुर का राजा कुछ समय के लिए शाही सेना में सम्मिलित हो गया था, किन्तु वह भी अब हृदय से साम्राज्य की रक्षा नहीं करना चाहता था। वास्तव में, राजा जयसिंह ने मुगलों और मराठों युद्ध होने पर बाजीराव से बराबर मैत्री सम्बन्ध बनाये रखा।

कुछ आधुनिक लेखको का मत है कि यदि अकबर राजपूतो को सरक्षण देकर ऊँची-ऊँची सरकारी नौकरियो पर प्रतिष्ठित न करता तो राजपूत-समस्या खडी न होती और औरंगजेब तथा उसके उत्तराधिकारियो को राजस्थान के राजाओ पर कडा नियन्त्रण रखने मे कोई कठिनाई न आती। यह विचार भूलो से भरा हुआ है। यदि अकबर अपनी उदार एव सहिष्णु नीति से राजपूत राजाओ का समर्थन प्राप्त न करता तो मुगल शाही परिवार का वही हाल होता जो सल्तनत काल के शासको का हुआ था। इसके अतिरिक्त एक बात और है। अब सल्तनत काल के दिन बीत चुके थे और सोलहवी शताब्दी चौदहवी तथा पन्द्रहवी शताब्दी के समान नही थी। राजपूत अपने खोये हुए भारतीय राजनीतिक महत्त्व को बडी तेजी से पुन. प्राप्त कर रहे थे। अत: सोलहवी शताब्दी मे दिल्ली के अत्यन्त शक्तिशाली शासक के लिए भी यह सम्भव नही था कि वह उनकी उपेक्षा कर सके। दूसरे राजनीति मे भी जनता को हर समय धोखा नहीं दिया जा सकता। मुगल भारतीय जनता के प्रमुख तत्त्वों के सहयोग के बिना अपनी शासन-व्यवस्था सफलतापूर्वक नहीं चला सकते थे। इस सिद्धान्त के प्रचारकों का विश्वास है कि परिस्थितियाँ कोई महत्त्व नही रखतीं, केवल पाशविक शक्ति के बल पर ही राजसत्ता सफलतापूर्वक चल सकती है। यह कथन उन लोगों को प्रभावित नही कर सकता, जिन्हे उन राजनीतिक एव सेना सम्बन्धी विचित्र कठिनाइयों का पूर्ण ज्ञान है, जिनके बीच अकबर ने शासन की बागडोर अपने हाथों में सँभाली थी।

मुगलों की दक्खिन नीति

पहले दो मुगलो सम्राटो को तो दक्षिण-विजय के सम्बन्ध में गम्भीरता से सोचने का समय ही नहीं मिल पाता था। बाबर की आत्मकथा से ज्ञात से होता है कि वह दक्षिणी भारत की हलचलों की ओर आकृष्ट अवश्य हुआ और वहाँ के राजनीतिक विकास को बड़े ध्यान से देखता था; किन्तु भारत मे उनका जीवनकाल इतना थोड़ा था कि वह सम्पूर्ण उत्तर भारत को भी नही जीत सका। हुमायूँ का संघर्षमय एवं अव्यवस्थित जीवन केवल उत्तरी भारत से ही सम्बन्धित रहा। अकबर ही वह पहला मुगल सम्राट था जिसने उत्तरी भारत पर पूर्ण अधिकार करने के बाद दक्षिण भारत विजय की ठोस योजना बनायी। इस विषय मे अकबर ने मौर्य, गुप्त, खलजी और तुगलक इत्यादि प्राचीन भारतीय नरेशों की परम्परागत नीति को अपनाया था। अकबर की दक्षिणी नीति दो उद्देश्यो पर अवलम्बित थी, अर्थात एक तो वह अपनी अधीनता में अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था और दूसरे, वह पुर्तगालियों को खदेड़ना चाहता था क्योंकि उनका राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। चन्द्रगुप्त मौर्य अथवा समुद्रगुप्त इत्यादि भारतीय नरेशो के समान अकबर भी साम्राज्यवादी था, अत. वह भारत के सब उपद्वीपों को अपने अधिकार मे रखने के लिए अत्यन्त सचेष्ट था और इसीलिए वह अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और खानदेश की दक्खिनी सल्तनतों को अपने अधिकार में रखना चाहता था। उसका दृष्टिकोण धर्म-प्रचार न होकर साम्राज्य-विस्तार था।

अकबर दक्खिनी रियासतो के सुल्तानो पर वैध अधिकार प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उत्सुक था, अत. उसने १५९१ ई० मे दक्खिन की चारो रियासतों के दरबारों मे अलग-अलग अपने राजदूत भेजे। खानदेश ने तो अकबर के प्रस्ताव को स्वीकार कर उसे अपना अधिपति मान लिया, किन्तु अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा ने उसे नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। अपनी कूटनीतिक चाल मे असफल होने पर अकबर ने शक्ति मे प्रयोग द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करने का विचार किया। उसने शाहजादा मुराद तथा अब्दुर्रहीम खानखाना के सेनापतित्व मे अहमदनगर के विरुद्ध एक बडी सेना भेजी जिसने अहमदनगर का घेरा डाल दिया। बीजापुर के स्वर्गीय सुल्तान की विधवा रानी अथवा अहमदनगर के सुल्तान की पुत्री चाँदबीबी ने बड़ी वीरता के साथ नगर की रक्षा की। किन्तु अन्त मे अहमदनगर के सुल्तान ने अकबर को अपना सम्राट मानकर बरार को साम्राज्य की भेंट कर दिया (१५९६ ई०)। इसके उपरान्त सुल्तान के सरदारो ने उससे आग्रह किया कि वह सन्धि की शर्तों को तोड़कर साम्राज्य के विरुद्ध फिर से लड़ाई छेड़ दे। इस समाचार से उत्तेजित होकर मुगलों ने अहमदनगर पर भयकर आक्रमण किया। इसमे चाँदबीबी या तो मारी गयी अथवा उसने आत्महत्या कर ली (१६०० ई०)। आधे से अधिक अहमदनगर सम्राट के हाथ मे चला गया, किन्तु सारा राज्य शाहजहाँ के शासन पूर्व साम्राज्य में नहीं मिलाया जा सका।

अकबर ने अहमदनगर के सुल्तान के साथ उलझे रहने पर खानदेश के सुल्तान ने अवसर पाकर अकबर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, अतः उसे दबाने के लिए अकबर को स्वयं दक्खिन जाना पड़ा। एक लम्बे घेरे के बाद अकबर बुरहानपुर पर कब्जा कर असीरगढ़ के सुदृढ़ किले पर अधिकार कर लिया और प्राप्त धन को उदारता के साथ किलेदारों मे बाँट दिया तब उसने जीते हुए प्रदेश को अहमदनगर बरार और खानदेश के तीन सूबों में बाँट दिया और उनको अपने पुत्र दानियाल के अधिकार में सौप दिया, जिसके अधिकार में मालवा तथा गुजरात पहले से ही विद्यमान थे (१६०१ ई०)। इस प्रकार मुगल-साम्राज्य की दक्षिणी सीमा नर्मदा से हटकर कृष्णा के उत्तरी घाट तक बढ गयी।

जहाँगीर ने अपने पिता की नीति को अपनाकर अहमदनगर राज्य के शेष भाग को जीतने का प्रबल प्रयत्न किया। जहाँगीर के शासन काल के अन्त तक दक्खिन में युद्ध होता रहा, किन्तु एक तो अहमदनगर का प्रधानमन्त्री हब्शी मलिक अम्बर अत्यन्त योग्य और कुशल राजनीतिज्ञ था तथा छापेमार नीति मे अत्यन्त निपुण था; दूसरे मुगल सेनापतियों में परस्पर मतभेद हो गया था जिसके कारण जहाँगीर अहमदनगर पर अधिकार न कर सका। सम्राट ने पहले अपने पुत्र परवेज और फिर शाहजादे खुर्रम को सेना का नेतृत्व करने की आज्ञा दी। किन्तु अब्दुर्रहीम खानखाना उस समय सेना का वास्तविक प्रधान सेनापति था। वह सेना के अफसरों को नियन्त्रण में न रख सका और उसने मुगल सेना की दुर्बलता का भण्डाफोड़ कर दिया। अतः मुगलों को

केवल आंशिक सफलता ही मिल सकी। १६१६ ई० मे खुर्रम ने अहमदनगर तथा कुछ दूसरे किलो पर अधिकार कर लिया। इसके उपलक्ष मे उसे शाहजहाँ की उपाधि दी गयी तथा ३०,००० के जात एवं २०,००० के सवार पद पर उसकी उन्नति कर दी गयी। किन्तु यह सफलता नाममात्र की थी और मुगलो की दक्खिनी सीमा १६०५ ई० के समान ही रह गयी।

शाहजहाँ ने भी सिंहासन पर बैठने के बाद अपने पूर्वजो की राज्य-विस्तार की नीति को अपनाया, किन्तु इसकी नीति धार्मिक भावना से परिपूर्ण थी। इसने अहमदनगर के स्वतन्त्र भागो को जीतने के लिए सेना भेजी। भाग्यवश १६२६ ई० में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गयी और मलिक अम्बर का पुत्र फतहखाँ नया मन्त्री नियुक्त हुआ जिसके साथ सुल्तान का मतभेद हो गया। किन्तु मुगल अहमदनगर के परेंदा नामक सुदृढ गढ़ को फिर भी न जीत सके। फतहखाँ ने मुगलो से बातचीत आरम्भ कर दी और शाहजहाँ के कहने से सुल्तान निजाम-उल-मुल्क का वध करवा दिया। उसने निजाम-उल-मुल्क के दसवर्षीय पुत्र को गद्दी पर बिठा दिया और साढ़े दस लाख की रिश्वत लेकर दौलताबाद का गढ मुगलो को सौंप दिया (१६३१ ई०)। १६३३ ई० में अहमदनगर अन्तिम रूप से साम्राज्य मे मिला लिया गया और इसके अन्तिम राजा हुसैनशाह को बन्दी बनाकर ग्वालियर के किले मे डाल दिया गया। फतहखाँ मुगल सेना में मनसबदार नियुक्त हुआ और उसको अच्छा वेतन दिया गया।

अब शाहजहाँ ने बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों को हड़प जाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। यह मुगल सम्राट धार्मिक जोश और साम्राज्यवाद से प्रभावित था। बीजापुर और गोलकुण्डा के शासक शिया थे, अतः इसने दक्खिन के बचे हुए दोनों स्वतन्त्र राज्यों का अन्त करने का विचार कर लिया। उसने १६३५ ई० मे दोनों राज्यों के सुल्तानों को आज्ञा दी कि वे उसे अपना अधिपति स्वीकार कर लें और शाहजी मराठा को सहायता देना बन्द कर दें क्योकि उसने निजामशाही-वंश के एक लड़के को सत्ताहीन अहमदनगर राज्य का नाममात्र का सुल्तान बना दिया था। शाहजहाँ अपनी माँग को बलपूर्वक मनवाना चाहता था, अतः गोलकुण्डा के सुल्तान ने उसे अपना अधिपति मानकर उसके नाम के सिक्के चलाना और उसके नाम का खुतबा पढ़ना स्वीकार कर लिया (१६३६ ई०)। किन्तु बीजापुर के सुल्तान ने इस आज्ञा का पालन करना अस्वीकार कर दिया, अतः उसकी राजधानी का घेरा डाला गया। परिणाम-स्वरूप सुल्तान ने विवश होकर शाहजहाँ को अपना अधिपति मानकर कर देना स्वीकार कर लिया (मई १६३६ ई०)। अब शहजादा औरंगजेब दक्खिन के चार प्रान्तों—खानदेश, बरार, तैलंगाना और दौलताबाद—का राज्यपाल नियुक्त हुआ। उसने शासन-व्यवस्था की उन्नति के प्रयत्न किये, किन्तु दारा की शत्रुता के कारण उसे १६४४ ई० में इस पद को छोड़ देना पड़ा। १६५३ ई० में उसकी दक्खिन में पुनः नियुक्ति हुई और उसने गोलकुण्डा राज्य को साम्राज्य में मिलाने के लिए मीर जुमला को अपने पक्ष में करके उस पर आक्रमण कर दिया। किन्तु शाहजहाँ ने हस्तक्षेप करके

घेरा उठा लेने की आज्ञा दे दी (मार्च १६५६ ई०)। गोलकुण्डा ने १० लाख का हरजाना और रंगीर जिले को साम्राज्य को भेंटकर अपने जीवन का पुनः पट्टा लिखा लिया। इसके बाद औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण किया। बीजापुर अधीनस्थ राज्य नहीं था, अत. उन्हे उसके भीतरी मामलों मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही था। शाहजादे ने बीदर और कल्यानी को अपने अधीन कर लिया, किन्तु शाहजहाँ ने हस्तक्षेप करके शाही सेना को वापस बुला लेने की आज्ञा दे दी। बीजापुर ने बहुत बड़ा हरजाना तथा बीदर, कल्यान और परेंदा सम्राट को देकर उससे सन्धि कर ली। शाहजहाँ के शासनकाल के अन्त तक मुगल दक्खिन मे और कोई स्थान साम्राज्य मे नही मिला सके।

औरंगजेब अपने पच्चीस वर्ष के शासनकाल मे उत्तरी भारत मे ही व्यस्त रहा, अतः उसने बीजापुर और गोलकुण्डा को अधीनता मे लाने का भार अपने सेनापतियो पर छोड दिया। शिवाजी के नेतृत्व मे मराठो के उत्थान के कारण समस्या और भी जटिल हो गयी। सम्राट के सेनापति इन दोनों मुस्लिम राज्यों और मराठो पर निश्चित विजय प्राप्त करने मे असफल रहे। मिर्जा राजा जेर्यासह ने शिवाजी को अपने तीन-चौथाई प्रदेश तथा किले मुगलो को दे देने तथा औरंगजेब से आगरे मे मिलने के लिए बाध्य किया (१६६५-६६ ई०)। किन्तु अन्त मे इसका परिणाम मुगलों के लिए हानिकारक ही हुआ।

शिवाजी की मृत्यु के बाद औरंगजेब ने अपने भगोड़े पुत्र अकबर तथा मराठों के राजा शम्भाजी की मित्रता को रोकने के लिए दक्खिन को प्रस्थान किया। सम्राट ने इस प्रयत्न में चार वर्ष व्यतीत किये, किन्तु न तो वह अकबर को ही पकड सका और न मराठों को ही दबा सका। अब औरंगजेब का ध्यान बीजापुर और गोलकुण्डा पर गया। औरंगजेब की नीति अपने पिता शाहजहाँ के समान धार्मिक एवं साम्राज्य-वादी भावना पर आधारित थी। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और दक्षिण में शिया धर्म को निर्मूल कर देना चाहता था। उसने बीजापुर का घेरा डाला और उसे १६८६ ई० मे आत्मसमर्पण कर देना पड़ा। बीजापुर को साम्राज्य मे मिला लिया गया और वहाँ का राजा सुल्तान सिकन्दर बन्दी बना लिया गया। इसके बाद गोलकुण्डा की बारी आयी और घनघोर युद्ध होने के बाद उसे भी आत्मसमर्पण कर देना पड़ा। अब्दुल्ला पन्नी नाम के एक अफगान ने सम्राट से अच्छी-खासी रिश्वत लेकर किले के मुख्य द्वार को खोल दिया जिससे मुगल उसमें घुस गये। गोलकुण्डा सितम्बर १६८६ ई० में साम्राज्य में मिला लिया गया और उसके अन्तिम शासक अबुलहसन को ५०,००० रुपये वार्षिक पेंशन देकर दौलताबाद में बन्दी बना लिया।

अब औरंगजेब ने अपना ध्यान मराठों पर दिया। पहले वह सफल हुआ और मराठा शासक शम्भाजी को पकड़कर मार्च १६८६ ई० में फाँसी दे दी गयी। मराठों की राजधानी राजगढ़ पर मुगलों का अधिकार हो गया और शम्भाजी के उत्तराधिकारी राजाराम को भागकर कर्नाटक मे शरण लेनी पड़ी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था

था, अतः वह अपने भार को छोडकर दिल्ली चला आया। सम्राट ने उसे धिक्कारा और वजीर सादुल्ला को स्थिति सँभालने के लिए बलख भेज दिया। उसके बाद उसने बडी भारी सेना के साथ औरंगजेब को वहाँ भेजा। उजबेगों ने अपनी जाति का सगठन कर उसका विरोध किया। इस समय तुर्किस्तानियों का नेता नजर मुहम्मद था। औरंगजेब की उसके साथ डटकर लड़ाई हुई, यद्यपि औरंगजेब ने नजर मुहम्मद को हरा दिया, किन्तु औरंगजेब को बलख छोड़कर पीछे हटना पड़ा। मुगल सेना को बड़ी भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। शाहजहाँ ने मध्य एशिया का विचार छोड़ दिया। इस आक्रमण के कारण मुगल-साम्राज्य को धन और जन की अपार हानि उठानी पड़ी। शाहजहाँ के मूर्खतापूर्ण युद्ध की इस प्रकार समाप्ति हुई। इस युद्ध में दो वर्षों मे ही भारतीय कोष के चार करोड़ रुपये खर्च हो गये जबकि विजित देश से केवल २२½ लाख रुपये ही वसूल हुए। न तो शत्रु-प्रदेश की एक इंच भूमि ही साम्राज्य मे मिलायी जा सकी, न बलख का राजवश ही बदला जा सका और न बलख का सिंहासन ही किसी ऐसे व्यक्ति को दिया जा सका जो मुगलो का मित्र हो सकता। बलख के किले मे पाँच लाख का अन्न इकट्ठा किया गया था। इसी प्रकार दूसरे किलों में भी सामग्री इकट्ठी की गयी थी, किन्तु यह सब बुखारावासियों के लिए ही छोड़ देना पड़ा। इसके अतिरिक्त नजर मुहम्मद के पोतों को ५०,००० रुपये और राज-प्रतिनिधियों को २२,५०० रुपये नकद देने पड़े, ५०,००० सिपाही युद्ध में मारे गये और इसके दस गुने (जिसमें नौकर-चाकर भी शामिल थे) पहाड़ों पर जाड़े और बर्फ से मर गये। मुगल-साम्राज्यवादियों ने उत्तर-पश्चिमी सीमा के पार जो पहला हमला किया उसका यह भयंकर परिणाम निकला कि भारत को उसका बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। [सरकार, औरंगजेब, जिल्द १ (तृतीय संस्करण), पृष्ठ ९९-१००]

इसके उपरान्त मुगल सम्राटों ने मध्य एशिया के विजय के स्वप्न को छोड़ दिया। औरंगजेब ने तो मध्य एशिया के विजय की कभी इच्छा नहीं की और उसके अत्यन्त दुर्बल उत्तराधिकारियों ने इस समस्या पर कभी बिचार ही नहीं किया।

उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति

सूर सुल्तानों के समय (१५४५-१५५४ ई०) को छोडकर देश में मुगल साम्राज्य के स्थापित होने के दिन से लेकर १७३९ ई० तक अफगानिस्तान भारत का ही भाग था। अतः अफगानिस्तान और भारत के बीच का यह कबाइली प्रदेश, जो आजकल उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त के नाम से प्रसिद्ध है, मुगल-साम्राज्य का एक भाग था। इस प्रदेश का सदा से ही भौगोलिक एवं आर्थिक महत्त्व रहा है। फलतः भारत के शासक युगों से इस पर अपना सुदृढ़ अधिकार रखते आये हैं। हिन्दुकुश पर्वतमाला मध्य एशिया को दक्षिणी अफगानिस्तान, बलोचिस्तान और भारत से अलग करती है और हिरात के उत्तर में उसकी ऊँचाई बहुत कम रह जाती है, अत. शत्रु फारस अथवा मध्य एशिया से आकर इस ओर से काबुल की घाटी और भारत पर हमला कर सकता है। मुगल सम्राट जानते थे कि मध्य एशिया अथवा फारस का शत्रु इस ओर से काबुल

और भारत पर हमला कर सकता है, अतः वे इस स्थान की रक्षा के लिए अत्यन्त सचेष्ट रहते थे। दूसरी बात यह थी कि कन्धार के सुदृढ़ गढ़ पर अधिकार रखना भी मुगलो के लिए अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि इसके अधिकार के बिना मुगल-साम्राज्य भारत मे सुरक्षित नही रह सकता था। कन्धार से शत्रु बडी सरलता से हमला कर सकता था, अतः उस युग मे यह भारत की रक्षा की प्रथम पंक्ति बना हुआ था। इसके अतिरिक्त एक बात यह थी कि यह व्यापार का बड़ा केन्द्र था और एशिया के भिन्न-भिन्न भागों के व्यापारी व्यापारिक वस्तुओ के विनिमय के लिए वहाँ जाते थे। तीसरी बात यह थी कि यद्यपि आधुनिक उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त प्रदेश मुगलो का नाममात्र के लिए अधीन था, किन्तु वास्तव मे वह स्वतन्त्र था और मुगलो के लिए युसुफजई खटक, मोहम्मद, उजबेग और दूसरे विद्रोही कबाइलियों को दबाकर रखना अत्यन्त आवश्यक हो गया था, क्योकि ये कबाइली स्वतन्त्रता के प्रेमी थे और उनका संगठन आपस की बराबरी पर स्थित था। इनके देश मे रक्षा के सुदृढ़ साधन थे और उनका सदा यह विचार रहता था कि उनका कोई पडौसी उन पर आक्रमण कर उनके देश को अपने देश में न मिला ले।

उत्तरी भारत पर अधिकार करने के पूर्व बाबर ने कन्धार के गढ़ पर अधिकार कर लिया और हिरात के दक्षिण में हिन्दुकुश पर्वतमाला के उस स्थान की सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया, जिधर से शत्रु हमला कर सकता था। इस प्रकार उसने अफगानिस्तान और हिन्दुस्तान दोनो को बाहरी आक्रमणो से सुरक्षित कर दिया। हुमायूँ के शासन-काल में भी यही प्रबन्ध जारी रहा, हालांकि अफगानिस्तान, पजाब और सीमाप्रान्त के प्रदेश कामरान को सौंप दिये गये थे। किन्तु बाबर और हुमायूँ दोनों में से किसी ने भी उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के कबाइलियों के प्रति वैधानिक नीति को नहीं अपनाया। फिर भी कबाइली इन दोनों के शासनकाल में दबे रहे और उन्होंने किसी प्रकार का भी विद्रोह नही किया। अकबर ने भी हिन्दुकुश पर्वतमाला की सुरक्षा के लिए उसी नीति को अपनाया और फारस के शाह से खोये कन्धार को वापस ले लिया। उसने उजबेगों के उपद्रवो को दबाने के लिए कदम उठाया और उनके नेता अब्दुल्लाखाँ को मुगल-साम्राज्य से मैत्री सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बाध्य किया। किन्तु उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के कबाइलियों मे भयानक अशान्ति पैदा हो गयी, जिसके फलस्वरूप एक आन्दोलन उठ खडा हुआ, जो रौशनिया आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। रौशनिया बयाजीद के अनुयायी थे। ये लोग इस्लाम के पक्षपाती थे और गैर-मुसलमान के साथ शत्रुता रखने का उपदेश देते थे। रौशनिया मुगल सम्राट की अधीनता के विरुद्ध थे। अकबर ने सीमाप्रान्त को सुरक्षित रखने के महत्त्व को अच्छी तरह समझकर रौशनियों के उपद्रवों को दबाने के लिए सेना भेजी। युसुफजई भी रौशनियों से मिल गये थे, अतः अकबर ने उन्हे दबाने के लिए राजा टोडरमल को भेजा। विद्रोही कबाइली हार गये और बहुत-से मारे गये। सीमाप्रान्त के स्वात, बजौर और बूनेर के विद्रोहियों को खदेड़ दिया गया। अकबर ने कबाइलियों के विद्रोह को देखकर उत्तर-पश्चिम सीमा-

प्रान्त को सुरक्षित करने के लिए दूसरा कदम उठाने का निश्चय किया। उसने काश्मीर, सिन्ध और बलोचिस्तान तथा कन्धार को जीतकर अपने साम्राज्य मे मिला लिया। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त सुरक्षित हो गया।

जहाँगीर के शासनकाल मे कन्धार के निकल जाने से सीमाप्रान्त की स्थिति दयनीय हो गयी। यह महत्त्वपूर्ण गढ और इससे लगा हुआ प्रदेश मुगल और फारसी लोगो के बीच लडाई की जड थे। शाह अब्बास (१५८७-१६२६ ई०) ने १६२१ ई० मे कन्धार का घेरा डालकर जून १६२२ ई० मे उस पर अधिकार कर लिया और जहाँगीर अपनी सेना की सारी शक्ति लगाकर भी इसे फिर वापस न ले सका।

शाहजहाँ समझ गया कि साम्राज्य से कन्धार के निकल जाने पर उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त मे मुगलो की स्थिति अवश्य ही बिगड जायगी, अतः उसने उसे पुनः प्राप्त करने के लिए कूटनीति का आश्रय लिया। कन्धार के फारसी गवर्नर (सूबेदार) अलीमर्दानखाँ ने यह महत्त्वपूर्ण गढ शाहजहाँ को सौप दिया, जिसके फलस्वरूप उसको बहुमूल्य उपहार और ऊँची-ऊँची उपाधियाँ मिली लेकिन ईरान के शाह अब्बास द्वितीय ने इस अपमान से दुखी होकर शीतकाल के अगस्त १६४८ ई० मे कन्धार पर आक्रमण कर दिया। बर्फ गिरने के कारण शाहजहाँ गढ के सूबेदार के पास नयी सेना नही भेज सका। मुगल किलेदार ने फरवरी १६४८ ई० मे आत्मसमर्पण कर दिया और कन्धार फिर शाह के हाथ मे चला गया। शाहजहाँ ने इसे प्राप्त करने के तीन असफल प्रयत्न किये। पहला प्रयत्न शाहजादा औरगजेब के नेतृत्व मे १६४६ ई० मे किया गया। कन्धार का दूसरा घेरा तीन वर्ष बाद औरगजेब तथा सादुल्लाखाँ के नेतृत्व मे डाला गया। इस बार सम्राट शाहजहाँ भी काबुल गया, जिससे उसके पास मे रहने से सेना पर दबाव पड़ता रहे। तीसरा प्रयत्न १६५३ ई० मे दारा के नेतृत्व मे किया गया, किन्तु यह भी असफल रहा। तीनों आक्रमणों में बारह करोड रुपये व्यय हुए और असख्य जनशक्ति की हानि हुई। इस पराजय से मुगल सम्राट की सैन्य-शक्ति तथा राजनीतिक प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा।

औरगजेब ने कन्धार के वापस लेने का प्रयत्न नही किया। वह कट्टर मुसलमान था और अपने मुसलमान भाइयो का खून नही बहाना चाहता था। तो भी उसे राजनीतिक और आर्थिक कारणो से विवश होकर उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के सम्बन्ध में अनुगामी नीति अपनानी पडी, क्योकि उस प्रदेश के विद्रोही मुसलमान कबाइली खुशी-खुशी मुगल-साम्राज्य के अधीन होने वाले नही थे और सरकार के लिए चिन्ता का कारण बने हुए थे। कबाइलियों का काम लूटमार करना था और ये उत्तर-पश्चिम पंजाब के धनी नगरो को लूट लिया करते थे। औरगजेब ने इन्हे आर्थिक सहायता देकर अपने पक्ष मे करने का प्रयत्न किया, जिससे उत्तर-पश्चिम मार्ग से आवागमन और व्यापार शान्तिपूर्वक हो सके। ये कबाइली अत्यन्त बलवान थे और इनकी सख्या

निरन्तर बढ़ती जा रही थी, अतः ये 'राजनीतिक पेंशन' से सन्तुष्ट नहीं थे। इनमें से युसुफजई फिरके ने अपने नेता भागू के नेतृत्व मे १६६६ में विद्रोह आरम्भ कर दिया। उन्होंने अटक के पास सिन्धु पार कर हजारा जिले को लूट लिया। युसुफजई के एक झुण्ड ने पहाड़ी इलाके से आगे बढ़कर उत्तरी पेशावर तथा अटक जिले को लूट लिया। किन्तु कुछ ही दिनों मे इस युसुफजई को दबा दिया गया। १६७२ ई० में अफरीदियों ने अपने नेता अकमलखाँ के नेतृत्व में हथियार उठाये। इस नेता ने शाह की उपाधि धारण कर मुगलों के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्ध मे सम्मिलित होने के लिए सारे पठानों से अपील की। अफरीदियों ने मुहम्मद अमीनखाँ के नेतृत्व मे अली मस्जिद नामक स्थान पर मुगल सेना को हरा दिया। इस युद्ध में बहुत अधिक मुगल सैनिक मारे गये और अफरीदियो के हाथ बहुत धन लगा। इस सफलता से अकमलखाँ की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। अब अकमलखाँ ने अटक से कन्धार तक ऊँचे पैमाने पर कबाइलियों के विद्रोह को फैलाने का विचार किया। इस युद्ध में खटक भी अफरीदियों से मिल गये। खटकों का नेता खुशालखाँ एक अच्छा कवि और वीर था। उसने लोगों मे "राष्ट्रीयता की भावना भरकर अपनी लेखनी और तलवार से कबाइलियो को समान रूप से उत्साहित करना आरम्भ कर दिया।" १६७४ ई० में कबाइलियों ने शुजातखाँ नाम के शाही अफसर को हराकर मार डाला और बची हुई मुगल सेना को जसवन्तसिंह राठौर बचाकर ले गया।

१६७४ ई० के मध्य मे स्थिति ऐसी भयप्रद हो गयी कि औरंगजेब को उसी वर्ष जुलाई में पेशावर के पास हसन अब्दुल नामक स्थान पर पठानों को आतंकित करने के लिए स्वयं जाना पड़ा। कूटनीतिक चाल और शक्ति से उसने प्रमुख-प्रमुख सरदारों को धन इत्यादि द्वारा अपने वश मे कर लिया। उसने उन्हे उपहार, पेंशन और जागीरें दी और जो हठी थे उसको अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। सम्राट ने अमीनखाँ को अफगानिस्तान का राज्यपाल नियुक्त किया और इस योग्य पदाधिकारी ने कबाइलियों के प्रति सान्त्वनापूर्ण नीति अपनाकर उन्हें अपने वश में कर लिया औरंगजेब ने अपने पूर्वाधिकारियों के समान इन क्षेत्रों के कबाइली सरदारों को आर्थिक सहायता देकर और एक जिरगे को दूसरे के विरुद्ध लड़ाकर उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त मे शान्ति रखने का प्रबन्ध किया, किन्तु खटक जिरगे का नेता खुशालखाँ उस समय तक विद्रोह करता रहा, जब तक कि उसके स्वयं के पुत्र ने उसके साथ विश्वासघात नहीं किया। उसको कारागार में डाल दिया गया, जहाँ उसको मृत्यु हो गयी। औरंगजेब के उत्तराधिकारियो ने दर्रों में शान्तिपूर्ण यातायात को खुला रखने के लिए कबाइली सरदारों को घूस देने की नीति तब तक जारी रखी, जब तक अफगानिस्तान मुगल-साम्राज्य का भाग बना रहा। १६३९ ई० में नादिरशाह ने अफगानिस्तान को अपने वश में करके भारतवर्ष की सीमा को सिन्धु नदी तक पीछे हटा दिया और भारत तथा अफगानिस्तान के बीच के प्रदेश के कबाइलियों को अपनी स्वाधीनता फिर से प्राप्त करने का अवसर दिया।

BOOKS FOR FURTHER READING

Persian Language :

See the Bibliography of Chapters V-VIII.

Modern Works

1 Sarkar, J N : *Mughal Administration* (4th ed.) (1952)
2 Sharma, S. R : *Mughal Government and Administration* (1951)
3. Hasan, Ibn. · *The Central Structure of the Mughal Empire* (1936)
4 Saran, P : *The Provincial Government of the Mughals.* (1941).
5. Irvine, W. : *The Army of the Indian Mughals* (1903).
6 Aziz, Abdul · *The Mansabdari System and the Army of the Mughals.*
7. Tripathi, R P. *Some Aspects of the Muslim Administration* (1936).
8. Sharma, S R. : *The Religious Policy of the Mughal Emperors.*
9. Edwards & Garret : *Mughal Rule in India.*